THE BOOK WAS DRENCHED

हिंदुस्तान की कहानी

[The Discovery of India का अनुवाद]

लेखक

पंडित जवाहरलाल नेहरू

हिंदी-अनुवादक व संपादक

श्री रामचंद्र टंडन

१९४७

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक

मार्तंड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली।

प्रथम संस्करण

१९४७

मूल्य

दस रुपये

मुद्रक

अमरचंद्र

राजहंस प्रेस

दिल्ली, १४-४७

अहमदनगर क़िला जेल के

९ अगस्त सन् १९४२ से २८ मार्च १९४५ तक के
साथी क़ैदियों और मित्रों को समर्पित

संपादक का निवेदन

इस पुस्तक के अंदर के मुख-पृष्ठ पर हिंदी-अनुवादक व संपादक के रूप में मेरा नाम जा रहा है। यह बता देना उचित है कि शुरू के छः अध्यायों का अनुवाद मेरा किया हुआ है। आख़िर के चार अध्यायों का अनुवाद आगरा के श्री सुरेश शर्मा ने किया है, जिसे मैंने देख लिया है। अनुवाद का काम उठाने के वक़्त जिस रफ़्तार से उसे पूरा करने की मैं उम्मीद करता था, बहुत कुछ काम की कठिनाइयों के कारण, वह रफ़्तार निभ न सकी। साथ ही प्रकाशक की यह उत्सुकता भी वाजिब थी कि पाठकों को पुस्तक के प्रकाशन की ओर ज्यादा राह न देखनी पड़े। इसलिए काम का यह बंटवारा तै पाया। अपने हिस्से का अनुवाद ज्यों-ज्यों मैं करता गया, प्रेस में देता गया। पूरा अनुवाद एक साथ देखने का भी मुझे अवसर नहीं मिला है।

हमारी भाषा की हिंदी और उर्दू शैलियां मंज चुकी हैं, लेकिन उस शली में, जिसे 'हिंदुस्तानी' शैली कहेंगे, और जिसे कि इस अनुवाद में अपनाने की कोशिश की गई है, निखार आना बाक़ी है। मेरी समझ में उसकी शब्दावली अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पाई है। हिंदी और उर्दू शैलियों के बीच का रास्ता निकालने में अड़चनें हैं। जिस तरह से कि आज हमारी राजनीतिक ज़िंदगी में दरारें पड़ गई हैं, भाषा के मैदान में भी दरारें मिलेंगी। इन्हें भरना जरूरी है। यह काम मेहनत और समझदारी का है, और उन लोगों के करने का है जिनकी नज़रें अपने छोटे गिरोहों तक महदूद नहीं हैं। उसूली तौर पर 'हिंदुस्तानी' शैली का तरफ़दार होते हुए भी मैं दूसरी ही लीक में पड़ा रहा हूं। इसलिए इस पुस्तक का अनुवाद ख़ुद मेरे लिए भी एक नया अभ्यास है।

हिंदुस्तानी शैली के विरोधियों का यह कहना रहा है कि यह शैली क़िस्से-कहानी की किताबों के लिए मौज़ूं हो सकती है; ऊंचे दर्जे के साहित्य की रचना के लिए या गहरे विचारों का प्रकट करने के लिए नहीं। इस बयान की परख के लिए मेरा ख़याल है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू की

पुस्तक का अनुवाद एक ख़ास कसौटी बन सकता है। मूल पुस्तक की अदबी हैसियत से इंकार नहीं किया जा सकता। इसमें गहरे विचार पेश किये गए हैं और अनेक विषयों का समावेश हुआ है। मझे इस अनुवाद में कहां तक सफलता मिली है, मैं नहीं जानता, और वह एक अलग बात है। लेकिन इस काम में लगकर मैं यह देख सका हूं कि यक़ीनी तौर पर एक ऐसी शैली का विकास किया जा सकता है जो किस्से-कहानियों से हटकर साहित्य के ऊंचे-से-ऊंचे विचारों के प्रकट करने में पूरी पड़े। मेरे लिए यह एक क़ीमती अनुभव रहा है।

अगले संस्करणों में इन बातों को ध्यान में रखकर भाषा को कसते रहने की कोशिश जारी रहेगी।

रामचंद्र टंडन

हिंदुस्तानी एकेडेमी, (संयुक्त प्रांत)
इलाहाबाद
मार्च १९४७

प्रस्तावना

यह किताब मैंने अहमदनगर क़िले के जेलख़ाने में, अप्रैल से सितंबर १९४४, के पांच महीनों में लिखी थी। मेरे कुछ जेल के साथियों ने इसका मसविदा पढ़ने की, और उसके बारे में कई क़ीमती सुझाव देने की कृपा की थी। जेलख़ाने में, किताब को दुहराते हुए, मैंने इन सुझावों से फ़ायदा उठाया और कुछ बातें और जोड़ दीं। यह बताने की ज़रूरत नहीं कि जो कुछ मैंने लिखा है उसके लिए कोई दूसरा ज़िम्मेदार नहीं, न यही लाज़िमी है कि दूसरा उससे इत्तिफ़ाक़ करे। लेकिन अहमदनगर क़िले के अपने संगी क़ैदियों का, मैं उन बहुत-सी बातचीत और आपस के बहस-मुबाहिसों के लिए बड़ा एहसानमंद हूं, जो हम लोगों के बीच हुए और जिनसे हिंदुस्तान के इतिहास और संस्कृति के बारे में अपने ख़याल को सुलझाने में मुझे बड़ी मदद मिली। थोड़ी मुद्दत तक भी रहने के लिए जेलख़ाना कोई ख़ुशगवार जगह नहीं है, न कि जब लंबे सालों तक वहां रहना पड़े। लेकिन यह मेरा सौभाग्य था कि आला क़ाबलियत और संस्कृति के, और वक़्ती जज़्बों से उठकर इंसानी मामलों पर वसीअ नज़र रखने वाले लोगों के बहुत नज़दीक रहने का मुझे मौक़ा मिला।

अहमदनगर क़िले के मेरे ग्यारह साथी हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ अंशों का एक दिलचस्प नमूना पेश करते थे; वह न महज़ राजनीति की नुमाइंदगी करते थे, बल्कि हिंदुस्तानी इल्म की—पुराने और नये इल्म की—और आजकल के हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ पहलुओं की भी नुमाइंदगी करते थे। क़रीब-क़रीब सभी ख़ास-ख़ास जीती-जागती हिंदुस्तानी भाषाओं के बोलने वाले वहां मौजूद थे, और उन पुरानी भाषाओं के जानने वाले भी थे, जिन्होंने कि हिंदुस्तान पर पुराने या नये ज़माने में असर डाला है और अकसर हमें ऊंचे दर्जे की क़ाबलियत मिलती थी। पुरानी भाषाओं में संस्कृत और पाली, अरबी और फ़ारसी थी; मौजूदा ज़बानों में हिंदी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तैलगू, सिंधी और उड़िया थीं। मेरे सामने इतनी दौलत थी जिससे मैं फ़ायदा उठा सकता था, और अगर कोई रुकावट थी तो वह मेरी ही इन सबसे फ़ायदा उठाने की क़ाबलियत की कमी थी। अगर्चे मैं अपने सभी साथियों का एहसानमंद हूं, फिर भी मैं ख़ास तौर पर नाम लेना चाहूंगा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का, जिनकी आला क़ाबलियत को देखकर हमेशा जी ख़ुश होता था और कभी-कभी तो हैरत होती थी। इसके अलावा मैं गोविंदवल्लभ पंत,

नरेंद्रदेव और आसफअली का खास तौर पर एहसानमंद हूं।

मुझे यह किताब लिखे हुए सवा साल हो चुके हैं और अभी ही इसके कुछ हिस्से पुराने पड़ गए हैं, और जब से यह लिखी गई है बहुत-सी बातें गुज़र चुकी हैं। इसमें कुछ जोड़ने की, और इसे दुहराने की अकसर ख्वाहिश हुई है, लेकिन मैंने इस ख्वाहिश को रोका है। सच तो यह है कि इसके अलावा कोई दूसरी सूरत न थी, क्योंकि कैदखाने से बाहर की ज़िंदगी का ताना-बाना ही कुछ दूसरा होता है और सोच-विचार करने और लिखने की फुरसत ही नहीं होती। शुरू में मैंने इसे पूरा-पूरा अपने हाथ से लिखा; मेरे कैद से छूटने के बाद यह टाइप किया गया। टाइप किया हुआ मसविदा देखने का मुझे वक्त नहीं मिल रहा था, और किताब की छपाई में देर हो रही थी। ऐसी हालत में मेरी बेटी इंदिरा ने हाथ बंटाया और मेरे कंधे से यह बोझ अपने ऊपर ले लिया। किताब उसी शक्ल में है जिस शक्ल में यह जेल में तैयार हुई थी, कुछ जोड़ा या घटाया नहीं गया है, सिवाय इसके कि अखीर में एक 'पोस्ट-स्क्रिप्ट' (ताज़ा कलम) जोड़ दिया गया है।

मैं नहीं जानता कि दूसरे लेखक अपनी रचनाओं के बारे में कैसा खयाल करते हैं, लेकिन जब मैं अपनी किसी पुरानी चीज़ को पढ़ता हूं तो हमेशा एक अजीब-सा एहसास मुझे होता है। इस एहसास में और भी अनोखा-पन उस वक्त आ जाता है जब कि रचना जेल के बंधे हुए और गैर-मामूली वातावरण में हुई हो, और पढ़ने का मौक़ा बाहर आने पर मिला हो। मैं उस रचना को पहचान ज़रूर लेता हूं, लेकिन पूरी-पूरी तरह नहीं; ऐसा जान पड़ता है कि किसी दूसरे की लिखी हुई लेकिन परिचित रचना पढ़ रहा हूं, ऐसे शख्स की जो मुझसे क़रीब ज़रूर है लेकिन है दूसरा ही। शायद यह फर्क उतना होता है जितना कि खुद मुझमें इस बीच आ गया होता है।

इसी तरह का खयाल इस किताब के बारे मे भी मुझमें पैदा हुआ है। यह मेरी है, लेकिन आज जो मेरी हालत है उसे देखते हुए बिलकुल मेरी नहीं है। बल्कि यह मेरे किसी पुराने व्यक्तित्व की नुमाइंदगी करती है, जो कि उन व्यक्तित्वों के लंबे सिलसिले में शामिल हो चुका है जो कुछ वक्त तक क़ायम रहकर मिट गए है, और अपनी महज़ एक याद छोड़ गए हैं।

जवाहरलाल नेहरू

आनंद भवन, इलाहाबाद
दिसंबर २९, १९४५

विषय सूची

१. अहमदनगर का क़िला

२. बेडनवाइलर : लोज़ान

३. खोज

४. हिंदुस्तान की खोज

५. युगों का दौर

६. नए मसले

७. आख़िरी पहलू (१) ब्रिटिश राज्य का मज़बूत पड़ना और राष्ट्रीय आंदोलन का आरंभ

८. आख़िरी पहलू (२) राष्ट्रीयता बनाम अंतर्राष्ट्रीयता

९. आख़िरी पहलू (३) दूसरा महायुद्ध

१०. फिर अहमदनगर का क़िला

"......जब कि मधुर मौन-विचार के अवसरों पर
मैं पुराने विचारों की सुधि जगाता हूं।"

हिंदुस्तान की कहानी

: १ :

अहमदनगर का क़िला

१ : बीस महीने

अहमदनगर का क़िला : तेरह अप्रैल : उन्नीस सौ चवालीस.

बीस महीने से ज़्यादा हो गए कि हम लोग यहां लाए गए : यह बीस महीने से ज़्यादा मेरी नवीं क़ैद की मुद्दत के हैं। हमारे यहां पहुँचने पर, अँधियाले आसमान में झिलमिलाते हुए दूज के नये चाँद ने हमारा स्वागत किया। बढ़ती हुई चंद्रकला के साथ उजाला पखवारा शुरू हो गया था। तब से बराबर नये चाँद का दर्शन मुझे इस बात की याद दिलाता रहा है कि मेरी क़ैद का एक महीना और बीता। यही बात मेरी पिछली जेल-यात्रा में हुई थी, जो कि दीवाली के दीपोत्सव से ठीक बाद वाले दूज के चाँद के साथ शुरू हुई थी। चाँद, जो कि जेल में हमेशा मेरा संगी रहा है, नज़दीकी परिचय के कारण मुझसे और भी हिल-मिल गया है। यह मुझे याद दिलाता है दुनिया के सौंदर्य की, ज़िंदगी के ज्वार-भाटे की, और इस बात की कि अँधेरे के बाद उजाला आता है; मृत्यु और पुनर्जीवन, एक-दूसरे के बाद, अनंत क्रम से चलते रहते हैं। सदा बदलते रहते और फिर भी सदा एक-से इस चाँद को मैंने अनेक अवस्थाओं में, अनेक कलाओं के साथ देखा है—संध्या के समय, रात के मौन घंटों में, जब कि छाया सघन हो जाती है, और उस वक़्त जब कि उषाकाल की मंद समीर और चहक आने वाले दिन की सूचना लाते हैं। दिन और महीनों के गिनने में चाँद कितना मददगार होता है, क्योंकि चाँद का रूप और आकार (वह दिखाई पड़ता हो तो), महीने की तिथि बहुत कुछ ठीक-ठीक बता देते हैं। वह एक आसान जंत्री है—अगर्चे इसे समय-समय पर सुधारते रहने की ज़रूरत है—और खेत में काम करने वाले किसान के लिए तो दिनों के जाने और क्रमशः रितुओं के बदलने की सूचना देनेवाली सब से ज़्यादा सुभीते की जंत्री है।

बाहरी दुनिया के सभी समाचारों से अलग, हमने यहां तीन हफ़्ते बिताये। उससे हमारा किसी तरह का संपर्क नहीं था। मुलाकातें बंद थीं, खत और अखबार नहीं मिलते थे, न रेडियो का प्रबंध था। यहां पर हमारी मौजूदगी भी एक राजकीय भेद की बात समझी जाती थी, जिसकी जानकारी उन अफ़सरों के सिवा, जिनके हवाले हम लोग थे, और किसी को न थी। यह एक निकम्मा राज़ था, क्योंकि सारा हिंदुस्तान जानता था कि हम कहां हैं। इसके बाद अखबार मिलने लगे, और कुछ हफ़्तों के बाद नज़दीकी रिश्तेदारों के खत भी, जो कि घरेलू बातों के बारे में होते। लेकिन इन बीस महीनों में कोई मुलाक़ातें न हुईं और न कोई दूसरे संपर्क हो पाए।

अख़बारों की ख़बरें बुरी तरह कटी-छँटी होती। फिर भी उनसे हमें युद्ध की रफ़्तार का, जो आधी दुनिया से ज्यादा हिस्से को भस्म कर रहा था कुछ अंदाज़ा लग जाता था, और इस बात का कि हिंदुस्तान में अपने लोगों पर कैसी बीत रही है। हां, अपने लोगों के बारे में हम इससे ज्यादा न जान पाते थे कि बीसियों हज़ार आदमी, बिना जाँच या मुक़दमे के, क़ैद में या नजरबंद हैं; हजारों गोली से मार डाले गए; दसियों हज़ार स्कूलों और कालिजों से निकाल दिये गए; 'मार्शल-लॉ' (जंगी क़ानून) जैसी हालत सारे देश में फैल रही है; आतंक और डर सब जगह छाया हुआ है। जो बीसियों हजार लोग बिना किसी तरह की जाँच के क़ैद कर लिए गए थे, उनकी हालत, हमारी हालत के मुक़ाबले में कहीं बुरी थी, क्योंकि न सिर्फ़ उनकी मुलाक़ातें बंद थीं, बल्कि उन्हें खत या अखबार भी नहीं मिलते थे, और पढ़ने के लिए किताबें भी बहुत कम मिल पाती थीं। बहुतेरे पुष्टिकर खाना न मिलने की वजह से बीमार पड़े; कुछ हमारे प्रियजन ठीक तीमारदारी और इलाज न हो सकने के कारण मर गए।

हिंदुस्तान में, इस वक्त, युद्ध के कई हजार क़ैदी—ज्यादातर इटली के—बस रहे थे। हम उनकी हालत का अपने देशवासियों की हालत से मुक़ाबला करते थे। हमें बताया जाता था कि जिनेवा के शर्तनामे के अनुसार उनके साथ बर्ताव होरहा है। लेकिन हिंदुस्तानी क़ैदियों और नज़रबंदों के लिए, कोई शर्तें या क़ानून-क़ायदा नहीं था, सिवा उन आर्डिनेंसों के, जो मनमाने ढंग से हमारे अंग्रेज़ी हाकिम समय-समय पर जारी करते रहते थे।

२ : अकाल

अकाल पड़ा—भीषण दहलाने वाला; ऐसा घोर कि बयान से बाहर! मलाबार में, बीजापुर में, उड़ीसा में, और सब से बढ़ कर बंगाल के हरे-भरे और उपजाऊ सूबे में, आदमी, औरतें, नन्हे बच्चे, हज़ारों की तादाद में, रोज़

खान। न ।मलन क कारण मरने लगे । कलकत्ते के महलों के सामने लोग मर कर गिर पड़ते । उनकी लाशें बंगाल के अनगिनत गाँवों की मिट्टी की झोंपड़ियों में, और देहातों में सड़कों पर और खेतों में पड़ी थीं। आदमी दुनिया में सभी जगह मर रहे थे, और जंग में एक-दूसरे को मार रहे थे । आमतौर से यह मौतें आनन-फ़ानन की मौतें होतीं, अक्सर बहादुरी की मौतें होतीं। किसी मक़सद, किसी दावे को लेकर ये मौतें होतीं और ऐसा जान पड़ता था कि इस पागल दुनिया में, ये मौतें, होने वाली घटनाओं का निष्ठुर परिणाम हैं; इनसे अंत है उस जीवन का, जिस पर हमारा बस नहीं, जिसे हम ढाल नहीं सकते। मौत सब जगह साधारण-सी बात हो रही थी।

लेकिन यहां, मौत के पीछे न कोई मक़सद था, न कोई हेतु, न उसकी कोई ज़रूरत ही थी। यह आदमी के निकम्मेपन और कठोरता का नतीजा थी। यह इंसान की पैदा की हुई थी। यह एक धीमी, भयानक, जूँ की चाल से रेंगकर आने वाली चीज़ थी, और इसमें परिशोध का कोई पहलू न था । बस ज़िंदगी का मौत में मिलना और उसमें समा जाना था। ऐसा था कि मौत धँसी हुई आँखों से और क्षीण कंकालों से, जीवन रहते-रहते झाँक रही थी। और इस लिए यह ठीक और उचित न समझा जाता था कि इसकी चर्चा की जाय। अप्रिय प्रसंगों के बारे में बातें करना या लिखना भला नहीं समझा जाता था । ऐसा करना एक अभागी परिस्थिति को 'नाटकीय ढंग से दिखाना' हो जाता। हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के हाकिमों की तरफ़ से झूठी खबरें निकलतीं। लेकिन लाशों की ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकती थीं; वह असली हालत उजागर कर रही थीं।

जब कि नरक की ज्वाला बंगाल के और दूसरी जगहों के लोगों को भस्म कर रही थी, उस वक़्त बड़े अधिकारियों ने हमें यह बताया कि जंग की वजह से हिंदुस्तान का किसान खुशहाल है और उसके यहां खाने की कमी नहीं है। बाद में यह कहा गया कि जो हालत पैदा हुई, उसमें प्रांतीय स्वराज का क़ुसूर है, और हिंदुस्तान की सरकार, या लंदन का इंडिया आफ़िस, विधान के अनुसार, सूबे के मामलों में दखल नहीं दे सकते। दरअसल यह विधान मौक़ूफ़ था, टूट चुका था, ठुकराया जा चुका था, या यों कहिए कि वायसराय के, बिना अंकुश के अधिकार से, जारी किये गए नित-नये आर्डिनेंसों के ज़रिये बदलता रहता था। यह विधान, आखिरकार, एक अकेले शख्स की बेलगाम हुकूमत बन गया था—ऐसे शख्स की जिसे कि दुनिया के किसी भी तानाशाह से ज्यादा अधिकार हासिल थे । इस विधान को स्थायी सर्विस के कर्मचारी, खास तौर पर सिविल सर्विस और पुलिस के लोग चला रहे थे और यह लोग ज़िम्मेदार होते गवर्नर को, जो कि वायसराय का मुख्तार था, और जो मिनिस्टरों को—जहां कहीं भी वह थे—नज़र-अंदाज़ कर सकता था। मिनिस्टर लोग, भले हों

या बुरे, मौन अनुमति के कारण अपने पदों पर बने हुए थे। ऊपर से आए हुए हुक्मों को टालने की उन में ताब न थी, और वह सर्विस के लोगों तक की आज़ादी में—जो दर-असल उनके मातहत होते थे—दख़ल देने का साहस न कर सकते थे।

आख़िरकार कुछ करना ही पड़ा। थोड़ी-बहुत मदद पहुँचाई गई। लेकिन इस बीच दस लाख, या बीस लाख, या तीस लाख आदमी मर चुके थे। कोई नहीं जानता कि उन भयानक महीनों में, भूख के मारे या रोग से कितने लोग मरे। कोई नहीं जानता कि कितने लाख लड़के और लड़कियां और नन्हे बच्चे, मौत से बच तो गए, लेकिन जिनकी बाढ़ मारी गई, और तन से और आत्मा से जो टूट गए। और अब भी व्यापक अकाल और रोग का भय देश पर मँडरा रहे हैं।

प्रेसिडेंट रूज़वेल्ट की चार आज़ादियां। अभाव से आज़ादी। फिर भी ख़ुशहाल इंगलिस्तान, और उससे भी ज़्यादा ख़ुशहाल अमरीका ने शरीर की उस भूख की तरफ़ ध्यान न दिया, जो हिंदुस्तान में करोड़ों आदमियों को मारे डाल रही थी—उसी तरह, जिस तरह कि उन्होंने आत्मा की उस प्यास का तिरस्कार किया, जोकि हिंदुस्तान के निवासियों को सता रही थी। बताया गया कि धन की ज़रूरत नहीं है, और खाना पहुँचाने वाले जहाज़ लड़ाई की ज़रूरतों के कारण मिल नहीं रहे हैं। लेकिन बावजूद सरकारी रोक के, और बंगाल की भयानक घटनाओं को कम करके दिखाने की इच्छा के, इंगलिस्तान और अमरीका और दूसरी जगहों के दिल रखने वाले और हमदर्द लोगों ने—मर्दों और औरतों ने—हमारी मदद की। सबसे ज्यादा मदद की चीन और आयर्लेंड की सरकारों ने; जिनके साधन थोड़े थे, जिनके सामने अपनी बड़ी कठिनाइयां थीं, लेकिन जो ख़ुद अकाल और दुख का तीखा अनुभव रखते थे और जिन्होंने पहचाना कि हिंदुस्तान के तन और आत्मा को क्या बात पीड़ित कर रही है। हिंदुस्तान की याददाश्त लंबी है, लेकिन और चाहे वह जो कुछ भूले या याद रक्खे, दोस्ती और हमदर्दी के इन सलूकों को वह कभी न भूलेगा।

३ : प्रजातंत्र के लिए लड़ाई

एशिया और यूरोप और अफ़्रीका में, और पैसिफ़िक, अटलांटिक, और भारतीय समुंदरों के बड़े हिस्सों पर, जंग अपनी पूरी भीषणता से जारी है। चीन में क़रीब सात साल से लड़ाई हो रही है, और साढ़े चार साल से ज्यादा हो गए, यूरोप और अफ़्रीक़ा में; और इस संसार-व्यापी युद्ध के भी दो वर्ष चार महीने बीत चुके। फ़ासिस्ट और नाज़ी मत के ख़िलाफ़ और दुनिया पर अधिकार हासिल करने की कोशिश के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ी जा रही है। लड़ाई

के इन सालों में से कोई तीन साल मैंने यहां पर, और हिंदुस्तान में, और जगहों पर, क़ैद में गुज़ारे हैं।

मुझे याद है कि फ़ासिस्ट और नात्सीमतों का, उनके शुरू के दिनों में मैंने क्या असर लिया था; और मैंने नहीं बल्कि हिंदुस्तान में बहुतों ने। चीन में होने वाली, जापान की ज़्यादतियों ने, हिंदुस्तान पर कितना गहरा प्रभाव डाला था, और चीन के प्रति युगों पुरानी दोस्ती के भाव जगा दिये थे; किस तरह इटली के अबीसीनिया पर किए गए बलात्कार ने हमें बेज़ार कर दिया था; चेकोस्लोवेकिया के साथ जो दग़ा की गई, किस तरह उसने हमें तकलीफ़ पहुँचाई थी; किस तरह प्रजातंत्रवादी स्पेन, जब अपने अस्तित्व की हिफ़ाज़त के लिए, साहस के साथ लड़ाई लड़ते हुए गिर गया था, तब मैंने और दूसरों ने उस बात का एक निजी दुःख की घटना के तौर पर अनुभव किया था।

यह नहीं कि हम पर सिर्फ़ उन बाहरी हमलों का असर पड़ा हो जो कि फ़ासिस्टों और नात्सियों ने किए थे, या उन बेहूदगियों और हैवानी हरकतों का जोकि इन हमलों के साथ-साथ हुई थीं। जिन उसूलों पर वह खड़े थे और जिनका वह बड़े ज़ोर-शोर से ऐलान करते थे, और ज़िंदगी के वह सिद्धांत जिनकी नींव पर वह अपनी इमारत खड़ी करने की कोशिश में थे, इन सभी बातों ने हमें सजग कर दिया था। क्योंकि यह उन सब यक़ीनों के ख़िलाफ़ पड़ती थीं, जिन पर हम इस वक़्त क़ायम थे और जिन्हें हमने मुद्दतों से अपनाया था, और अगर अपनी जातीय स्मृति ने हमारा साथ छोड़ भी दिया होता और हम अपना लंगर खो बैठते, तो भी हमारे अपने तजुरबे (अगर्चे वे दूसरी ही शकल में हमारे सामने आए थे, और भलमंसी के लेहाज़ से कुछ बदले हुए भेसमें थे), काफ़ी थे कि हमें बता दें कि यह नात्सी सिद्धांत और ज़िंदगी के उसूल क्या हैं और किस तरह के राज्य की ओर हमें आख़िरकार ले जायंगे। क्योंकि हमारे देशवासी बहुत दिनों से उन्हीं उसूलों के, और वैसे ही सरकारी तरीक़ों के, शिकार रह चुके हैं। इस-लिए हमारी प्रतिक्रिया फ़ौरन और ज़ोर के साथ फ़ासिस्ट और नात्सी उसूलों के ख़िलाफ़ हुई।

मुझे याद है कि किस तरह मैंने मार्च १६३६ के शुरू के दिनों में, सिन्योर मुसोलिनी का, इसरार के साथ भेजा गया, निमंत्रण अस्वीकार कर दिया था। इंगलिस्तान के बहुतेरे राजनीतिज्ञ, जिन्होंने कि बाद मे, जब इटली लड़ाई में शरीक हुआ, इस फ़ासिस्ट नेता के ख़िलाफ़ बहुत कड़ुई बातें कहीं, उन दिनों उसकी चर्चा तारीफ़ के साथ और मीठेपन से किया करते थे, और उसकी हुकू-मत और तरीक़ों के प्रशंसक थे।

दो वर्ष बाद, म्यूनिक के समझौते से पहले, गर्मी के दिनों में, नात्सी सरकार ने मुझे जर्मनी में आने की दावत दी थी। दावतनामे के साथ यह

लिखा था कि वह नात्सी मत के ख़िलाफ़ मेरे विचारों को जानती है। फिर भी वह चाहती है कि मैं जर्मनी की हालत ख़ुद आकर देखूं। मैं सरकार का मेहमान बनकर या निजी तौर पर जाने के लिए आज़ाद था, और खुले तौर पर या दूसरा नाम रखकर जहां मैं चाहता वहां बग़ैर रुकावट के जा सकता था, इस बात का यक़ीन दिलाया गया था। लेकिन मैंने धन्यवाद के साथ इस न्यौते को नामंजूर कर दिया। उलटे मैं चेकोस्लोवेकिया गया—उस 'दूर-देश' में जिसके बारे में उस वक़्त के, इंग्लिस्तान के प्रधान सचिव बहुत थोड़ी ही जानकारी रखते थे।

म्यूनिक के समझौते के पहले, मैं ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के कुछ लोगों और इंग्लिस्तान के दूसरे ख़ास-ख़ास राजनीतिज्ञों से मिला था, और मैंने उनके सामने फ़ासिस्ट और नात्सी मत के खिलाफ़ अपने विचारों को रखने का साहस किया था। मैंने देखा कि मेरी राय का स्वागत नहीं किया गया और मुझसे कहा गया कि बहुत-सी बातों का लेहाज़ रखना ज़रूरी है।

चेकोस्लोवेकिया के संकट के मौक़े पर, प्राहा और सुडेटनलैंड में; लंदन, पेरिस और जिनेवा में (जहां कि लीग-असेंबली की उन दिनों बैठक हो रही थी, फ़्रांसीसी और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का जो रुख मैंने देखा, उसे देख कर मैं अचंभे में रह गया और मुझे नफ़रत हुई। अगर यह कहा जाय कि दूसरे फ़रीक़ को राज़ी रखने की कोशिश की गई तो लफ़्ज असलियत को ठीक-ठीक अदा करने के लिए नाकाफ़ी होंगे। जो हुआ उसके पीछे सिर्फ़ हिटलर का डर था, बल्कि उसकी जानिब बुज़दिली की तारीफ़ का भाव था।

और अब, भाग्यचक्र का एक अजीब पलटा है कि मैं और मुझ जैसे लोग, जबकि फ़ासिस्टों और नात्सियों के खिलाफ़ जंग जारी हो, अपने दिन क़ैद में काटें; और उनमें से बहुत से लोग जो कि हिटलर और मुसोलिनी के यहां सलामियां बजाते थे, और जो कि चीन में होनेवाली जापान की ज़्यादतियों को पसंद करते थे, आज़ादी और प्रजातंत्र और फ़ासिस्ट-विरोध का झंडा उठाए हुए दिखाई पड़े।

हिंदुस्तान के भीतर भी एक हैरत-अंगेज़ तब्दीली आ गई है। और मुल्कों की तरह यहां भी ऐसे लोग हैं जिन्हें सरकार का 'पिट्ठू' कहना चाहिए, जो कि सरकार के घाघरे के इर्द-गिर्द चक्कर लगाया करते हैं, और उन विचारों को दुहराया करते हैं, जो कि उनकी समझ में, उन्हें अपने मालिकों का कृपा-पात्र बनाएंगे। बहुत दिन नहीं हुए, एक ऐसा ज़माना था, जब वह हिटलर और मुसोलिनी की तारीफ़ के पुल बाँधा करते थे, और उन्हें मिसाल की तरह पेश किया करते थे, और साथ ही रूसी सरकार को हर तरह की गालियां सुनाया करते थे। अब वह बात नहीं रही, क्योंकि मौसम बदल गया है। सरकार के और राज के वह ऊँचे हाकिम हैं और फ़ासिस्ट तथा नात्सी-विरोधी अपनी तानों

को ऊँचे स्वर से अलापते हैं, और प्रजातंत्रवाद तक की चर्चा करते हैं—अगचें दबी साँस से, मानो वह कोई वांछनीय लेकिन दूर की चीज़ हो। मुझे कभी-कभी यह कौतूहल होता है कि घटनाओं ने कोई दूसरा ही रुख़ लिया होता तो उस हालत में यह लोग क्या करते। लेकिन सच यह है कि क़यास की गुंजायश नहीं, क्योंकि जो भी वक़्ती हुकूमत हो, उसी की यह माला फेरते और उसीके आगे यह स्वागत-पत्र लेकर हाज़िर होते।

जंग से बरसों पहले से मेरे दिमाग़ में आने वाली कश-मकश की बातें फिर रही थीं। मैं उनके बारे में विचार करता, तक़रीरें करता और लिखता था, और मैंने अपने को, ज़ेहनी तौर से, इसके लिए तैयार कर लिया था। मैं चाहता था कि जोश के साथ हिंदुस्तान इस बड़े संघर्ष में अमली हिस्सा ले। मैं अनुभव करता था कि इसमें ऊँचे उसूलों की बाज़ी लगेगी और इस कश-मकश का नतीजा यह होगा कि हिंदुस्तान में और दुनिया में बड़ी और इन्क़लाबी तब्दीलियां होंगी। उस वक़्त मैं नहीं समझता था कि हिंदुस्तान को फ़ौरन कोई ख़तरा है, या उस पर हमले का इमकान है। फिर भी मैं चाहता था कि हिंदुस्तान उसमे पूरा-पूरा हिस्सा ले। लेकिन मुझे यक़ीन था कि सिर्फ़ एक आज़ाद मुल्क, बराबरी की हैसियत से, इस तरह शिरकत कर सकता था।

यही नज़रिया नेशनल कांग्रेस का भी था, जोकि हिंदुस्तान का अकेला ऐसा संगठन रहा है, जिसने फ़ासिस्ट और नात्सीमत का उसी तरह विरोध किया है जिस तरह कि साम्राज्यवाद का। इसने प्रजातंत्रवादी स्पेन, चेकोस्लोवेकिया और चीन का बराबर समर्थन किया था।

और अब क़रीब दो साल से कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई है। क़ानूनी हिमायत की वह हक़दार नहीं रही, और किसी सूरत में भी वह अपना काम नहीं कर पा रही है। कांग्रेस जेलख़ाने मे है। सूबों की धारा-सभाओं के सदस्य, इन सभाओं के स्पीकर, इनके पुराने वज़ीर, कांग्रेसी मेयर, इसकी म्यूनिसिपैल्टियों के सभापति—सब जेल में हैं।

इस बीच, जंग जारी है—प्रजातंत्र और अटलांटिक चार्टर और चार आज़ादियों के नाम पर।

४ : जेलख़ाने में वक़्त : काम के लिए उमंग

जान पड़ता है कि जेलख़ाने में वक़्त अपना स्वभाव बदल देता है। मौजूदा वक़्त का वजूद मुश्किल से कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसी भावना या एहसास रहता नहीं जो कि उसे गुज़रे वक़्त से जुदा कर सके। जेल से बाहर की, सरगर्म, जीती और मरती हुई दुनिया की ख़बरें ऐसी जान पड़ती हैं, मानो कुछ सपने-जैसी असार हों; उनमें गुज़रे वक़्त की-सी बे-हिसी और ग़ैर-तब्दीली

होती है। बाहरी, माद्दी, वक़्त रह नहीं जाता; भीतरी निजी, चेतना बनी रहती है, लेकिन वह भी मंद पड़ जाती है, सिवाय इसके कि जब उसे ख़याल, मौजूदा वक़्त से हटाकर, बीते हुए या आनेवाले वक़्त की किसी हक़ीक़त का अनुभव करने लगता है। जैसा कि आगस्ट काम्टे ने कहा है, हम अपने गुज़रे हुए ज़माने में लिपटे हुए, मरे हुए लोगों की ज़िंदगी बिताते हैं। लेकिन यह बात ख़ास तौर पर जेल में लागू होती है, जहां कि हम बीते वक़्त की याद, या आनेवाले वक़्त की कल्पना से, अपने बेदम और क़ैद जज़्बों के लिए कुछ ग़िज़ा हासिल करते हैं।

गुज़रे हुए वक़्त में एक शांति और सदा क़ायम रहनेवाली वस्तु की भावना है। वह बदलता नहीं, पायदार है; जैसे कि रँगी हुई तस्वीर या संग-मर्मर या काँसे की मूर्ति हो। मौजूदा वक़्त के तूफ़ानों और उलट-फेर से असर न लेते हुए वह अपनी शान और इतमीनान को बनाए रखता है, और दुखी आत्मा और सताए हुए मन को अपनी समाधि-गुफा की तरफ़ पनाह लेने के लिए खींचता रहता है। वहां शांति और इतमीनान है, और वहां आदमी को एक रूहानी कैफ़ियत का भी आभास मिल जायगा।

लेकिन जब तक हम उसमें और मौजूदा वक़्त में, जहां कि इतनी कश-मकश है और हल करन के लिए इतने मसले हैं, एक जीती-जागती कड़ी न क़ायम कर सकें, तब तक इस ज़िंदगी को हम ज़िंदगी नहीं कह सकते। यह 'कला, कला-के-लिए' जैसी एक चीज़ बन जाती है, जिसमें कोई उत्साह नहीं, काम करने की उमंग नहीं, जो कि ज़िंदगी का सार है। इस उत्साह और उमंग के बग़ैर, उम्मीद और ताक़त रफ़्ता-रफ़्ता जाती रहती है; हम ज़िंदगी की एक नीची सतह पर आकर ठहर जाते हैं, यहां तक कि चुपके-चुपके मिट जाते हैं। हम गुज़रे हुए ज़माने के हाथों क़ैदी बन जाते हैं और उसकी बे-हिसी का कुछ हिस्सा हम में चिमट कर रह जाता है। तबियत की यह हालत जेलख़ाने में आसानी से पैदा हो जाती है, क्योंकि वहां हमें काम करने की आज़ादी नहीं रहती, और हम जेल के क़ायदों और वहां की दिन-चर्या के ग़ुलाम बन जाते हैं।

फिर भी, गुज़रा हुआ ज़माना तो हमारे साथ ही रहता है—हम जो कुछ हैं, हमारे पास जो कुछ है, वह गुज़रे हुए ज़माने से ही हासिल हुआ है। हम उसके बनाए हुए हैं, और उसी में ग़र्क़ होकर जीते हैं। इस बात को न समझना, और यह ख़याल करना कि यह कोई ऐसी चीज़ है जो हमारे भीतर रहती है, मौजूदा ज़माने को न समझना है। उसे मौजूदा ज़माने से जोड़ना और आनेवाले ज़माने तक खींच ले जाना; जहां वह इस तरह जुट न सके वहां से अपने को अलग कर लेना; और इस सब को विचार और अमली दुनिया की धड़कती हुई, थरथराती हुई सामग्री बना लेना—यही ज़िंदगी है।

हर एक ज़ोरदार काम ज़िंदगी की गहराइयों से पैदा होता है। इस काम का मुहूर्त, व्यक्ति के सारे लंबे पिछले ज़माने ने, बल्कि नस्ल के गुज़रे हुए ज़माने ने, पेश किया है। नस्ल की याददाश्तें; पूर्वजों और इर्द-गिर्द के प्रभाव और शिक्षा, और दबी हुई चेतना के उकसाव; विचार और सपने; और लड़कपन से आगे के काम—सब एक अजीब ढंग से मिल-जुल कर हमें इस काम की तरफ़ मजबूर करके ढकेलते हैं, और यह काम खुद आनेवाले ज़माने को निश्चित करने में अपना असर डालता है। भविष्य के ऊपर असर डालना, उसे कुछ हद तक, या मुमकिन है बहुत हद तक निश्चित करना सही है—फ़िर भी, यह तै है, कि इसे हम निश्चयवाद नहीं कह सकते।

अरविंद घोष ने मौजूदा वक़्त के बारे में कहीं पर लिखा है कि यह "विशुद्ध और अछूता क्षण" है; समय और वजूद की वह पैनी छुरे की धार है जो गुज़रे हुए ज़माने को आनेवाले ज़माने से जुदा करता है; और यह है, और फ़ौरन नहीं भी है। यह बयान दिलचस्प है, लेकिन इसके मानी क्या हुए? आनेवाले ज़माने के परदे से, इस अछूते क्षण का, अपनी पूरी विशुद्धता के साथ प्रकट होना, हम से उसका लगाव होना, और फ़ौरन दाग़ी होकर उसका बासी और गुज़रा हुआ ज़माना बन जाना! क्या यह हम हैं, जो उस पर दाग़ लगाते हैं, और उसका अछूतापन बिगाड़ते हैं? या वह क्षण सचमुच उतना अछूता नहीं है, क्योंकि उसके साथ सारे बीते हुए ज़माने का कलंक लगा हुआ है।

फ़िलसफ़े की नज़र से इंसानी आज़ादी जैसी कोई चीज़ है या नहीं, या जो कुछ है वह खुद चलने वाला और पहले से निश्चित है—मैं नहीं जानता। जान पड़ता है कि बहुत-कुछ, यक़ीनी तौर पर, ऐसी पिछली घटनाओं के मेल-जोल से तै पाया है, जो कि शख़्स पर बीतती है; और अकसर उसे बेबस कर देती हैं। मुमकिन है कि जिस अंदरूनी उकसाव का वह अनुभव करता है, जो ज़ाहिर में उसकी अपनी इच्छा या ख़्वाहिश होती है, वह भी और बातों का नतीजा है। जैसा कि शोपेनहार कहता है: "आदमी इच्छा के मुताबिक़ काम कर सकता है; लेकिन इच्छा के मुताबिक़ इच्छा नहीं कर सकता।" इस निश्चयवाद में क़तई तौर पर यक़ीन रखना, हमें ला-मुहाला बेकार कर देता है, और ज़िंदगी के मुताल्लिक़ मेरा सारा यक़ीन इस ख़याल से बग़ावत करता है—अगर्चे हो सकता है कि यह बग़ावत भी खुद पिछली घटनाओं का नतीजा हो।

मैं अपने दिमाग़ पर, आमतौर से, ऐसे फिलसफ़ियाना और आधि-भौतिक मसलों का बोझ नहीं डालता, जिनका कि हल न हो। कभी-कभी, यह आप ही अनजाने में क़ैद के लंबे और मौन क्षणों में मेरे सामने आ जाते हैं;

रास्ता, मानो अनजान मे, दिखाई पड़ने लगा। यह रास्ता कुछ वेदांत के मार्ग जैसा था। जड़ और चेतन के भेद का ही यह मसला न था, बल्कि कुछ ऐसी चीज़ थी जो दिमाग़ से परे थी। फिर एक नैतिक पृष्ठभूमि का भी सवाल था। मैंने यह भी समझा कि इख़लाक़ यानी नीति का रास्ता एक बदलता हुआ रास्ता है और यह विकास पाते हुए दिमाग़ और तरक़्क़ी करती हुई सभ्यता पर निर्भर करता है। यह युग की मानसिक अवस्था का नतीजा है। लेकिन इसमें कुछ और बातें भी थीं; यानी कुछ बुनियादी प्रेरणाए, जो कि दोनों के मुक़ाबले में ज़्यादा पायेदार थीं। मैं कम्युनिस्टों और औरों के व्यवहार में, उनके कामों और इन बुनियादी प्रेरणाओं या सिद्धांतों की बीच जो अलगाव देखता था, उसे पसंद नही करता था। इसलिए मेरे दिमाग़ में कुछ ऐसा गड्ड-मड्ड हो गया कि मैं उसे बुद्धि द्वारा स्पष्ट या हल नही कर पाता था। एक आम प्रवृत्ति यह थी कि इन बुनियादी सवालों पर जो कि अपनी पहुँच के बाहर के जान पड़ते हैं सोचा-विचारा न जाय, बल्कि ज़िंदगी के उन प्रश्नों पर ध्यान दिया जाय जो कि हमारे सामने आते है और उनके बारे में क्या और किस तरह करना चाहिए यह सोचा जाय। आख़िर असलियत जो भी हो, और उसे पूरी तौर पर या कुछ अंशों में हम हासिल कर सकें या नही, यह बात तै है कि मनुष्य के ज्ञान को, चाहे वह आत्मगत ही क्यों न हो, बढ़ाने की और इंसानी रहन-सहन और सामाजिक संगठन के सुधारने और उसे आगे बढ़ाने की बड़ी संभावना फिर भी रह जाती है।

गुज़रे ज़माने के लोगों में और किसी हद तक इस ज़माने के लोगो में भी, विश्व की पहेली का उत्तर ढूँढ निकालने मे लगे रहने की प्रवृत्ति रही है। यह उन्हे आजकल के ज़ाती और सामाजिक मसलों से अलग ले जाती है। और जब वह इस पहेली का हल नही पाते तब वह मायूस हो जाते है और या तो हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहते हैं, या बहुत छोटी-छोटी बातों में अपना वक़्त ज़ाया करते है, या फिर किसी हठवादी मत में शरीक होकर अपनी तसकीन करते हैं। सामाजिक बुराइयों को, जो ज़्यादातर निश्चय ही दूर की जा सकती हैं, पुराने पाप का नतीजा बताया जाता है, या इस तरह कहा जाता है कि इंसान की प्रकृति या समाज का संगठन ही ऐसे हैं कि उन्हें बदला नही जा सकता, या (हिंदुस्तान में) इन्हें पूर्व जन्म के कर्मों पर मढ़ दिया जाता है। इस तरह आदमी अक़्ल और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने से दूर रहा, वह अविवेक, अंधविश्वास, बेजा हठ और व्यवहार की शरण लेता है। यह सही है कि अक़्ल और वैज्ञानिक विचार भी हमेशा वहां तक नहीं पहुँचाते जहां तक हम जाना चाहेंगे। घटनाओं के मूल में न जाने कितने कारण और संबंध हुआ करते हैं, और उन सब को समझ पाना मुमकिन नहीं, फिर भी उनके पीछे जो ख़ास-ख़ास

ताक़तें काम करती हैं, उन्हें हम चुन सकते हैं और बाहिरी भौतिक तथ्य पर ग़ौर करके, और प्रयोग और व्यवहार के ज़रिये तजुर्बे करते हुए और ग़लती करते हुए, टटोल-टटोल कर ज्ञान और सचाई का रास्ता पा सकते हैं।

इस काम के लिए और इन हदों के भीतर साधारण मार्क्सवादी रास्ता, चूँकि वह आज के विज्ञान की जानकारी के अनुकूल पड़ता था, मुझे बहुत सहायक जान पड़ा। लेकिन इस रास्ते को क़बूल करते हुए भी उससे जो नतीजे निकलते हैं वह, और गुज़रे ज़माने की और हाल की घटनाओं की उसकी व्याख्या, हमेशा साफ़ न हो पाती। मार्क्स का समाज का साधारण विश्लेषण अद्भुत रूप से सही जान पड़ता है, लेकिन बाद के विकास में जो सूरतें उसने अख़्तियार की वह वैसी नहीं हैं जैसा कि निकट भविष्य के लिए उसने अनुमान किया था। लेनिन ने मार्क्स की प्रतिपत्ति को इन बाद के विकासों पर कामयाबी से लागू किया लेकिन तब से और भी परिवर्तन हुए हैं—जैसे फ़ासिस्ट और नात्सी मतों का, और उनके साथ लगी हुई सभी बातों का, सामने आना। टेकनालजी या यंत्र-विज्ञान की तेज़ी से होने वाली तरक़्क़ी और विस्तार के साथ विज्ञान की नई जानकारी के प्रयोग दुनिया का नक़्शा ही बड़ी तेज़ी से बदल रहे हैं, और इसके साथ नए मसले खड़े हो रहे हैं।

इस लिए अगर्चे मैंने समाजवादी सिद्धांत की बुनियादी बातों को क़बूल कर लिया, फिर भी मैं उसके अनगिनत भीतरी मुबाहसों के फेर में नहीं पड़ा। हिंदुस्तान के गर्म दलों से, जो कि अपनी शक्ति का बहुत हिस्सा आपस के झगड़ों में, या बारीकियों को लेकर आपस के बुरा-भला कहने में सर्फ़ करते हैं, मेरी बिल्कुल न पट सकी। इन बातों में मेरी ज़रा भी दिलचस्पी नहीं है। ज़िंदगी इतनी जटिल है, और जहां तक हम अपने मौजूदा ज्ञान के आधार पर समझ सकते हैं इतनी तर्क-हीन है, कि हम उसे किसी बँधे हुए सिद्धांत की क़ैद में नहीं ला सकते।

मेरे सामने जो असली मसले रहे हैं वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के हैं—किस तरह शांति के साथ रहा जाय, व्यक्ति की बाहरी और भीतरी ज़िंदगी में कैसे संतुलन हो, व्यक्तियों और दलों के बीच के संबंध किस तरह स्थिर किये जायं, किस तरह निरंतर अच्छी और ऊँची स्थिति हासिल की जाय, किस तरह समाज का विकास किया जाय और आदमी के साहसी जीवन के लिए मौक़ा दिया जाय। इन मसलों के हल के लिए निरीक्षण, ठीक-ठीक ज्ञान, और विज्ञान के तरीक़ों के मुताबिक़ पूरी-पूरी दलील का सहारा लेना चाहिए। सत्य की खोज में यह तरीक़े मुमकिन है कि हमेशा कारगर न हों, क्योंकि कविता और कला और कुछ आत्मिक अनुभव, यह ऐसे विषय हैं जो एक दूसरे ही वर्ग के हैं और विज्ञान के तरीक़े से जो पदार्थों की जाँच पर

अवलंबित हैं, ग्रहण नहीं किये जा सकते। इसलिए सहज ज्ञान और सचाई और असलियत को खोजने के दूसरी तरीक़ों को अलग नहीं किया जा सकता। विज्ञान के मैदान में भी इनकी ज़रूरत पड़ती है; फिर भी हमें हमेशा पदार्थ-ज्ञान के लंगर को पकड़े रहना चाहिए, ऐसे ज्ञान के लंगर को जिसकी जाँच बुद्धि द्वारा और उससे भी बढ़कर अनुभव और व्यवहार द्वारा हो चुकी है; और हमें होशियार इस बात से रहना चाहिए कि हम ऐसी बातों के मनन के समुंदर में न खोजायं जिनका कि ताल्लुक़ हमारी रोज़मर्रा की जिंदगी और उसके मसलों और इंसान की ज़रूरतों से नही है। एक ज़िंदा फ़िलसफ़े को ऐसा होना चाहिए कि यह आज के मसलों का हल पेश कर सके।

यह हो सकता है कि हम लोग जो इस ज़माने के हैं, और जो अपने ज़माने के कारनामों पर इतना नाज़ करते हैं अपने युग के उसी तरह से ग़ुलाम हों जिस तरह कि पुराने और मध्ययुग के मर्द और औरत अपने युगों के ग़ुलाम थे। हम अपने आपको इस बात का धोखा दे सकते है, जिस तरह हमसे पहले के लोगों ने अपने को धोखा दे रखा था, कि दुनिया की बातों पर हमारा ही नजरिया सही और सचाई तक पहुँचाने वाला नज़रिया है। हम इस क़ैद से बच नहीं सकते, न इस माया-जाल से—अगर इसे माया-जाल कहें—छुटकारा पा सकते है।

फिर भी मुझे यक़ीन है कि इतिहास के लंबे दौर मे, और सब चीज़ों के मुकाबले में, विज्ञान के तरीक़ों और रास्ते ने, इंसानी ज़िंदगी में सबसे ज़्यादा इन्क़लाब पैदा किया है और आदमी की तरक़्क़ी के और भी बड़े-बड़े इन्क़लाबके रास्ते खोल दिये हैं; यहां तक कि जिसे अज्ञात समझा जाता रहा है उसके दरवाज़े तक हम पहुँच गए हैं। शिल्प और व्यवसाय के क्षेत्र में विज्ञान के कारनामे काफ़ी तौर पर ज़ाहिर हो चुके है; जहां क़हत की हालत थी वहां इसने उसे बहुतायत और खुशहाली में तब्दील कर दिया है, और अब तो बहुत से उन मसलों पर विज्ञान ने हमला करना शुरू कर दिया है, जो कि फ़िलसफ़े के मैदान के समझे जाते थे। देश-काल, और 'क्वांटम' सिद्धांत ने भौतिक जगत का नक़्शा ही पूरे तौर पर बदल दिया है। एटम या परमाणु की बनावट, तत्त्वों के परिवर्तन, विद्युत् और प्रकाश के एक-दूसरे मे बदले जाने आदि विषयों पर हाल की शोधों ने हमारी जानकारी को बहुत आगे बढ़ाया है। मनुष्य अब प्रकृति को अपने से जुदा और भिन्न रूप में नहीं देखता। मनुष्य का होनहार प्रकृति की लय-मयी शक्ति का एक अंग बन गया है।

विज्ञान की तरक़्क़ी के कारण, विचार-संबंधी इस उथल-पुथल ने वैज्ञानिकों को एक ऐसे प्रदेश तक पहुँचा दिया है जिसकी सीमाएं आधिभौतिक प्रदेश से मिली हुई हैं। वे मुख़्तलिफ़ और अकसर विरोधी परिमाणों पर पहुँचते

है। कुछ को इस परिस्थिति में एक नई एकता दिखाई देती है, जो कि इस सिद्धांत के बिल्कुल बरख़िलाफ़ पड़ती है। कुछ और लोग है, जैसे बट्रांड रसेल, जो कहते हैं: "पार्मनीडिस के समय से, एकेडेमिक वर्ग के फ़िलसफ़ी बराबर इस बात में यक़ीन रखते आये हैं कि दुनिया एकता के सिद्धांत पर बनी है; मेरे विश्वासों में से सबसे बुनियादी विश्वास यह है कि इस तरह ख़याल करना महज़ बेवक़ूफ़ी है।" या फिर लीजिए: "आदमी उन कारणों की उपज है, जिन्हें कि इस बात का कोई पूर्व-ज्ञान नहीं कि वह किस अंत की ओर जा रहे हैं; उसकी उत्पत्ति और वृद्धि, उसकी आशाएं और उसके भय, उसके प्रेम और विश्वास परमाणुओं के आकस्मिक मेल का नतीजा है।" लेकिन भौतिक-शास्त्र की नई से नई शोधों ने, बहुत हद तक प्रकृति की बुनियादी एकता साबित कर दी है। "यह यक़ीन कि सभी वस्तुएं, एक ही पदार्थ से बनी है बहुत पुराना है और तब का है जब से आदमी ने विचार करना शुरू किया है। लेकिन हमारी ही पीढ़ी एक ऐसी पीढ़ी है जिसने कि इतिहास में सब से पहले प्रकृति की एकता को देखा है—एक बे-बुनियाद अक़ीदे या नामुमकिन-सी आरज़ू की सूरत में नहीं, बल्कि विज्ञान के एक सिद्धांत के रूप में, जिसके सबूत इतने साफ़ और ज़ाहिर हैं जितने कि किसी जानी हुई चीज़ के हो सकते हैं।"[1]

इस तरह का विश्वास अगर्चे एशिया और यूरोप में बहुत पुराना है फिर भी विज्ञान के कुछ नये-से-नये नतीजों का उन बुनियादी विचारों से मुक़ाबला, जो कि अद्वैत वेदांत की तह में है, दिलचस्प होगा। वह विचार यह है कि विश्व एक ही द्रव्य से बना है, जिसका रूप निरंतर बदलता रहता है और यह कि शक्तियों का कुल-जोड़ सदा एक समान बना रहता है। यह भी कि 'वस्तुओं की व्याख्या उन्हीं की प्रकृति में निहित है, और इस विश्व में क्या हो रहा है, इसे समझाने के लिए बाहरी अस्तित्वों का सहारा लेना जरूरी नहीं, और इन विचारों का हासिल यह है कि विश्व स्वतः विकासशील है।

यह अस्पष्ट मनन आदमी को किस नतीजे पर पहुँचाते है, इसकी विज्ञान परवा नही करता। इस बीच में अपने ख़ास प्रयोगात्मक ढंग से जाँच करते हुए, ज्ञान के नक़्शे की हदों को बढ़ाते हुए और इस तरह इंसानी ज़िंदगी की रविश को बदलते हुए, वह आगे बढ़ रहा है। हो सकता है कि वह मूल रहस्यों को ढूँढ निकालने के नज़दीक पहुँच गया हो, और यह भी हो सकता है कि इन रहस्यों को वह न भी खोल पावे। फिर भी वह अपने निश्चित रास्ते पर आगे बढ़ता जायगा, क्योंकि इसकी यात्रा का अंत नहीं है। फ़िलसफ़े का प्रश्न है

---

[1] **कार्ल के डैरो: 'द रिनासां आव् फ़िज़िक्स' (न्यूयार्क, १९३६) पृ० ३०१**

'क्यों ?' इसे वह नज़र अंदाज़ करके 'कैसे ?' यह पूछता रहेगा, और ज्यों-ज्यों उस पर रहस्य का भेद खुलता रहेगा, उसके ज़रिये ज़िंदगी ज़्यादा मुकम्मिल और पुर-मानी बनती जायगी और शायद 'क्यों?', इस सवाल का जवाब देने में भी कुछ हद तक वह मददगार हो ।

या शायद हम इस दीवार को पार न कर सकें और रहस्यमय रहस्यमय बना रह जाय, और ज़िंदगी अपनी तमाम तब्दीलियों के साथ, अच्छाई और बुराई का एक बंडल, संघर्षों का एक ताँता, और बेमेल और परस्पर-विरोधी प्रेरणाओं का एक अजीब-व-ग़रीब मजमुआ बनी रहे ।

या फिर मुमकिन है कि विज्ञान की तरक़्क़ी ही, नैतिक संयमों को तोड़ कर, शक्ति और विनाश के उन भयानक साधनों को जिन्हें कि उसने तैयार किया है, बुरे और स्वार्थी लोगों के हाथों में केंद्रित कर दे—ऐसे लोगों के हाथों जो दूसरों पर अधिकार करने की कोशिश में रहते हैं—और इस तरह अपने बड़े कारनामों का खुद खातमा कर दे । इस तरह की कुछ बात हम आज-कल घटित होती हुई देखते हैं, और इस युद्ध के पीछे है मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष ।

मनुष्य की आत्मा भी कैसी अद्भुत है । अनगिनित कमज़ोरियों के बावजूद आदमी ने, सभी युगों में, अपने जीवन की और अपनी सभी प्रिय वस्तुओं की, एक आदर्श के लिए, सत्य और विश्वासों के लिए, देश और इज़्ज़त के लिए क़ुरबानी की है । यह आदर्श बदल सकता है लेकिन क़ुरबानी की यह भावना बनी हुई है और इसी की वजह से हम इंसान की बहुत-सी कमज़ोरियों को माफ़ कर सकते हैं और उसकी तरफ़ से मायूस नहीं होते । आफ़तों का सामना करते हुए भी उसने अपनी शान निभाई है, जिन चीज़ों की वह क़ीमत करता रहा है उनमें अपना विश्वास क़ायम रखा है । प्रकृति की महान् शक्तियों का कठपुतला, जिसकी हस्ती इस बड़े विश्व में धूल के एक कन से ज़्यादा नहीं, मनुष्य ने मौलिक शक्तियों को ललकारा है और अपनी अक़्ल के ज़रिये, जो इन्क़लाब का पालना रहा है, उन्हें अपने वश में करने की कोशिश की है । देवता लोग जैसे भी हों, मनुष्य में कोई बात देवता-जैसी जरूर है, उसी तरह जिस तरह कि उसमें कुछ शैतान-जैसी भी बात है ।

भविष्य अंधेरा है, अनिश्चित है । लेकिन उस तक पहुंचने वाले रास्ते का हम एक हिस्सा देख सकते हैं और यह याद रखते हुए कि चाहे जो बीते मनुष्य की आत्मा, जिसने इतने संकटों को पार किया है, दबाई नहीं जा सकती, हम उस पर साबित-क़दमी से चल सकते हैं । हमें यह भी याद रखना है कि ज़िंदगी में चाहे जितनी बुराइयां हों, आनंद और सौंदर्य भी है और हम सदा प्रकृति की मोहिनी वन-भूमि में सैर कर सकते हैं ।

ज्ञान इसके सिवा क्या है ? क्या है मनुष्य का प्रयास,
या ईश्वर की अनुकंपा जो इतनी सुंदर और विशाल है ?
भय से मुक्त होकर खड़े रहना; साँस लेना और प्रतीक्षा करना;
घृणा के विरुद्ध हाथ उठाये रहना :
फिर क्या सौंदर्य सदा प्यार करने की वस्तु नहीं है ?[1]

७ : गुज़रे हुए ज़माने का बोझ

मेरी क़ैद का इक्कीसवां महीना चल रहा है; चाँद बढ़ता और घटता रहता है और जल्द दो साल पूरे हो चुकेंगे। और यह याद दिलाने के लिए कि मेरी उम्र ढल रही है, एक नई सालगिरह आ जायगी। अपनी पिछली चार सालगिरहें मैंने जेल में बिताई हैं—यहां और देहरादून जेल में—और कई और इससे पहले की जेल की मुद्दतों में। उनका शुमार भूल गया हूं।

इन सभी महीनों में मैं बराबर कुछ लिखने का ख़याल करता रहा हूं। इसके लिए तबियत का तक़ाज़ा भी रहा है और एक हिचक भी रही है। मेरे दोस्तों ने समझ लिया था कि जैसा मैं पिछली क़ैद की मुद्दतों में करता रहा हूं, इस बार भी कोई नई किताब लिखूंगा। गोया यह बात मेरी आदत में दाख़िल हो गई है।

फिर भी मैंने कुछ लिखा नहीं। यह बात मुझे एक हद तक नापसंद थी कि कोई किताब बिना किसी ख़ास मक़सद के तैयार कर दी जाय। लिखना ख़ुद कुछ दुश्वार न था, लेकिन एक ऐसी चीज़ पेश करना जिसका कुछ महत्त्व हो और जो मेरे जेल में रहते हुए ही बासी न पड़ जाय जब कि दुनिया आगे बढ़ जाय, एक दूसरी ही बात थी। मैं आज के या कल के लिए न लिखूंगा बल्कि एक अनजाने भविष्य के लिए और संभवत: दूर भविष्य के लिए लिखूंगा। और कब के लिए ? शायद जो मैं लिखूं वह कभी प्रकाशित न हो; क्योंकि जो साल मैं क़ैद में बिताऊ, वह ऐसे हो सकते हैं कि उनमें दुनिया में और भी खलबली और संघर्ष हो, बनिस्बत लड़ाई के उन सालों के जो अब बीत चुके हैं। मुमकिन है हिंदुस्तान ख़ुद जंग का मैदान बने, या यहां खानाजंगी छिड़ जाय।

और अगर हम इन सभी इमकानों से बच भी जायं तो भी भविष्य की किसी तिथि के लिए लिखना एक जोखिम का काम होगा, क्योंकि आज के मसले मुमकिन है उस वक़्त तक ख़तम हो चुके हों और उनकी जगह नए ही मसले खड़े हो गए हों। सारी दुनिया में फैली हुई इस लड़ाई को मैं सिर्फ़ इस नज़र से नहीं देख सकता था कि यह एक लड़ाई है जो औरों से बड़ी और ज़्यादा दूर तक

---

१. यूरिपिडीज़ के 'बाक्की' के कोरस से। गिल्बर्ट मरे के अनुवाद के आधार पर।

फैली हुई है। जिस दिन से यह शुरू हुई, बल्कि उसके पहले से मुझे जान पड़ने लगा था कि बहुत बड़ी और उथल-पुथल मचा देने वाली तब्दीलियां आनेवाली हैं और उस वक़्त मेरी नाचीज़ रचनाएं पुरानी पड़ चुकी होंगी। और फिर वह किस काम आएंगीं ?

यह सब विचार मुझे परेशान करते रहे और लिखने से रोकते रहे और इनके पीछे, मेरे दिमाग़ के छुपे हुए कोने में और गहरे सवाल भी समाये हुए थे, जिनका मुझे कोई सहज उत्तर नहीं मिल रहा था।

इसी तरह के ख़याल और ऐसी ही दिक़्क़तें मेरे सामने पिछली यानी अक्तूबर १९४० से दिसंबर १९४१ तक की, क़ैद की मुद्दत में भी आई थीं, जिसे कि मैंने देहरादून जेल की अपनी पुरानी कोठरी मे, जहां छः साल पहले 'मेरी कहानी' लिखना शुरू किया था, काटा था। यहां पर १० महीने तक, कुछ भी लिखने का मेरा जी न चाहा और अपना वक़्त मैंने पढ़ने या ज़मीन खोदकर मिट्टी और फूलों के साथ खिलवाड़ करने में बिताया। आख़िरकार कुछ लिखा भी। जो कुछ लिखा वह 'मेरी कहानी' का सिलसिला ही था। कुछ हफ़्तों तक मैं तेज़ी से लगातार लिखता रहा। लेकिन मेरा काम पूरा न हुआ था कि अपने चार साल की क़ैद की मुद्दत के ख़तम होने से बहुत पहले मैं रिहा कर दिया गया।

यह अच्छी ही बात थी कि जो काम मैंने शुरू किया था, उसे ख़तम नहीं कर पाया था, क्योंकि अगर मैं उसे ख़तम कर चुका होता, तो उसे किसी प्रकाशक को दे देने की इच्छा हुई होती। उसे अब देखता हूं तो अनुभव करता हूं कि यह चीज़ कितने कम मूल्य की है; उसका बहुत-सा हिस्सा अब कितना बासी और नीरस जान पड़ता है। जिन घटनाओं का इसमें बयान है, उनका सारा महत्त्व जाता रहा है और अब वह एक अध-भूले अतीत के मलबे की तरह है, जिस पर बाद के ज्वालामुखी के उफानों का लावा फैला हुआ है। उनमें मेरी दिलचस्पी जाती रही है। जो चीज़ें कि मेरे दिमाग़ में बच रही हैं वे हैं निजी तजुर्बे, जिनकी छाप मुझ पर पड़ी हुई है, यानी हिंदुस्तान की जनता से—जो कि इतनी विविध है, फिर भी जिसमें इतनी अद्भुत एकता है—बड़ी संख्या में संपर्क में आना; दिमाग़ की कुछ उड़ानें; दुख की कुछ लहरें और उन पर क़ाबू पाने पर संतोष और ख़ुशी; काम में सर्फ़ किये गए वक़्त का आनंद। इनमें से ज़्यादातर बातें ऐसी हैं कि उनके बारे में कुछ लिखा नहीं जा सकता। आदमी की भीतरी ज़िंदगी, भावों और विचारों के बारे में कुछ ऐसा अपनापन है कि दूसरों तक उसका पहुंचाया जाना न वाजिब है और न मुमकिन। फिर भी इन निजी और ग़ैर-निजी संपर्कों की बड़ी क़ीमत है। वह व्यक्ति पर असर डालते हैं, बल्कि उसे ढालते हैं और ज़िंदगी और

मुल्क और दूसरी कौमों के बारे में उसके खयालों में तब्दीली पैदा करते हैं।

जैसे मैं और जेलों में किया करता था, वैसे ही अहमदनगर के क़िले में भी मैंने बाग़बानी शुरू की और रोज़ कई घंटे, यहां तक कि कड़ी धूप में भी, ज़मीन खोदकर क्यारियां तैयार किया करता था। ज़मीन बड़ी ख़राब और पथरीली थी और पिछली इमारतों के ईंट-रोड़ों से भरी हुई थी। यहां पुरानी इमारतों के अवशेष भी थे, क्योंकि यह एक तारीखी मुकाम है जहां कि गुज़िश्ता ज़माने में बहुतेरी लड़ाइयां हुई हैं, और महलों के षड्यंत्र चलते रहे हैं। अगर हिंदुस्तान के इतिहास का ख़याल किया जाय तो यह इतिहास बहुत पुराना नहीं है, और व्यापक दृष्टि डाली जाय तो इतना महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। लेकिन इससे संबंध रखने वाली एक घटना है जो कि मार्के की है, और जिसकी अब भी याद की जाती है, और वह है एक खूबसूरत औरत, चाँदबीबी, की बहादुरी, जिसने कि इस क़िले की रक्षा की थी और जिसने कि हाथ में तलवार लेकर अपने सिपाहियों के साथ अकबर की शाही फ़ौज का सामना किया था। अपने ही आदमियों में से एक के हाथों उसकी मौत हुई थी।

इस अभागी धरती को खोदते हुए हमें पुरानी दीवालों के हिस्से मिले हैं, और ज़मीन की सतह से बहुत नीचे दबी हुई इमारतों के गुंबदों के ऊपरी हिस्से भी। हम इस काम में ज़्यादा आगे नहीं बढ़ सके क्योंकि अधिकारियों ने यह पसंद नहीं किया कि गहरी खुदाई की जाय या पुरातत्त्व के बारे में खोज की जाय, और न हमारे पास इस काम के लिए ठीक साधन ही थे। एक बार हमें पत्थर में खुदा हुआ एक कमल मिला जो कि किसी दीवाल के किनारे पर शायद किसी दरवाज़े के ऊपर था।

मुझे याद आई एक दूसरी और कम खुशगवार खोज की, जो कि मैंने देहरादून जेल में की थी। तीन साल हुए, अपने छोटे से अहाते में, ज़मीन खोदते हुए मुझे बीते हुए ज़माने का एक अजीब निशान मिला। ज़मीन की सतह से काफ़ी गहराई पर, दो पुराने खंभों के बचे हुए हिस्से मिले, और हमने इन्हें किसी क़दर उत्तेजना के साथ देखा। वह पुरानी सूलियों के टुकड़े थे, जो कि वहां तीस-चालीस साल पहले काम में लाई जाती थीं। यह जेल अब बहुत दिनों से सूली चढ़ाने के काम में नहीं लाया जाता था, और पुरानी सूलियों के सब ज़ाहिरा निशान हटा दिये गए थे। हमने उसकी जड़ को पा लिया था और उखाड़ डाला था, और मेरे सभी जेल के साथी, जिन्होंने इस काम में हाथ बंटाया था, इस बात से खुश थे कि हम लोगों ने आख़िरकार इस मनहूस चीज़ को निकाल फेंका था।

अब मैंने अपनी कुदाल अलग रख दी है और क़लम उठा लिया है। इस वक़्त जो कुछ लिखूं उसका शायद वही हश्र हो जो कि मेरी देहरादून जेल की

अधूरी पांडुलिपि का हुआ था। मौजूदा वक़्त के बारे में, जब तक कि काम में लगकर उसका तजुर्बा हासिल करने के लिए आज़ाद नहीं हूं, मैं कुछ नहीं लिख सकता। यह तो मौजूदा वक़्त में काम करने की ज़रूरत है जो कि उसे सजीव ढंग से हमारे सामने लाती है। तब फिर उसके बारे में मैं सहज में और सुगमता के साथ लिख सकता हूं। जेल में रहते हुए यह वक़्त कुछ धुंधला-सा, परछाईं जैसा जान पड़ता है, उसे मज़बूती से पकड़ नहीं सकता, उसका ठीक अनुभव नहीं कर पाता। सही मानों में वह मेरे लिए मौजूदा वक़्त रह नहीं जाता, और न उसे हम गुज़रे हुए ज़माने जैसा समझ सकते हैं क्योंकि उसमें गुज़रे हुए ज़माने की गतिहीनता और मूर्त्तिमत्ता नहीं।

न मेरे लिए यही मुमकिन है कि मैं पैगंबर का जामा पहनूं और भविष्य के बारे में लिखूं। मेरा दिमाग़ कभी-कभी भविष्य के बारे में सोचता है और उसका परदा फाड़ने की और उसे अपनी पसंद के कपड़े पहनाने की कोशिश करता है। लेकिन यह सब व्यर्थ की कल्पनाएं हैं और भविष्य अनिश्चित और अनजाना बना रहता है और कोई नहीं कह सकता कि वह फिर हमारी उम्मीदों पर पानी न फेर देगा और इंसान के सपनों को झुठला न देगा।

अब अतीत या बीता हुआ ज़माना रह जाता है। लेकिन गुज़री हुई घटनाओं के बारे में मैं शास्त्रीय ढंग से, इतिहासकार या विद्वान् की तरह नहीं लिख सकता। न मुझ में इसकी लियाक़त है, न मेरे पास इसके लिए साधन है, और न ऐसी तालीम मिली है और न इस तरह के धंधे में लगने को इस वक़्त जी चाहता है। गुज़रा हुआ ज़माना मुझ पर भारी गुज़रता है या जब कभी उसका मौजूदा वक़्त से लगाव हुआ तो मुझमें सरगर्मी पैदा करता है और इस ज़िंदा वक़्त का एक पहलू बन जाता है। अगर ऐसा न हो तो फिर वह एक ठंडी, बनजर, बेजान और ग़ैर-दिलचस्प चीज़ है। उसके बारे में मैं महज़ उस हालत में लिख सकता हूं—जैसा मैंने पहले भी किया है—जब कि उसका अपने मौजूदा कामों और खयालों से ताल्लुक़ पैदा करा सकूं; और उस वक़्त इतिहास लिखने का धंधा गुज़रे हुए ज़माने के बोझ से कुछ पनाह दिलाता है। मैं समझता हूं कि मनोविश्लेषण का यह भी एक तरीक़ा है; फ़र्क़ इतना है कि यह व्यक्ति पर लागू न किया जाकर किसी जाति या मनुष्य मात्र पर लागू किया जाता है।

गुज़रे हुए ज़माने का—उसकी अच्छाई और बुराई दोनों का ही—बोझ एक दबा देने वाला और कभी-कभी दम घुटाने वाला बोझ है, ख़ासकर हम लोगों में से उनके लिए जो कि ऐसी पुरानी सभ्यता में पले हैं जैसी कि चीन या हिंदुस्तान की है। जैसा कि नीट्शे ने कहा है : "न केवल सदियों का ज्ञान

बल्कि सदियों का पागलपन भी हममें फूट निकलता है। वारिस होना खतरनाक है।"

मेरी विरासत क्या है ? मैं किस चीज़ का वारिस हूं ? उस सबका जिसे इंसान ने दसियों हज़ार साल में हासिल किया है; उस सबका जिस पर इसने विचार किया है, जिसका इसने अनुभव किया है या जिसे इसने सहा है या जिसमें इसने सुख पाया है; उसके विजय की घोषणाओं का और उसकी हारों की तीखी वेदना का; आदमी की उस अचरज-भरी जिंदगी का जो कि इतने पहले शुरू हुई और अब भी चल रही है और जो हमें अपनी तरफ़ इशारा करके बुला रही है। इन सबके, बल्कि इनसे भी ज़्यादा के, सभी इंसान की शिरकत में, हम वारिस हैं। लेकिन,हम, हिंदुस्तानियों की एक खास विरासत या दाय है। वह ऐसी नहीं कि दूसरे उससे वंचित हों, क्योंकि सभी विरासतें किसी एक जाति की न होकर सारी मनुष्य जाति की होती हैं। फिर भी वह ऐसी है जो हम पर खास तौर पर लागू है, जो हमारे मांस और रक्त में और हड्डियों में समाई हुई है, और जो कुछ हम हैं या हो सकेंगे उसमें उसका हाथ है।

यह खास दाय क्या है और इसका मौजूदा वक्त से क्या लगाव है, इसके बारे में मैं बहुत दिनों से ग़ौर करता रहा हूं और इसी के बारे में मैं लिखना चाहूँगा, अगर्चे विषय इतना जटिल और कठिन है कि मैं उससे डर जाता हूं। इसके अलावा मैं महज़ उसकी सतह को छू सकता हूं, उसके साथ न्याय नहीं कर सकता। लेकिन इसके प्रयत्न में लगकर मैं शायद अपने साथ न्याय कर सकूं और वह इस तरह कि अपने विचारों को सुलझा सकूं और उसे विचार और काम की आने वाली मंज़िलों के लिए तैयार कर सकूं।

इस विषय को देखने का मेरा ढंग लाज़िमीतौर पर अकसर एक निजी ढंग होगा; यानी किस तरह खयाल मेरे दिमाग़ में उपजा, क्या शक्लें उसने अख़्तियार कीं, किस तरह उसने मुझ पर असर डाला और किस तरह उसने मेरे काम को प्रभावित किया। कुछ ऐसे अनुभवों का बयान ज़रूरी होगा जो कि बिल्कुल निजी हैं और जिनका कि ताल्लुक़ इस मज़मून के विस्तृत पहलुओं से न होगा, बल्कि जो ऐसे हैं जिनका मुझ पर रंग पड़ा है और जिन्होंने इस सारे प्रश्न पर जो मेरा रुख है उस पर असर डाला है। मुल्कों और लोगों के बारे में हमारी रायें कई बातों पर निर्भर करती हैं और अगर हमारे निजी संपर्क रहे हैं तो यह उन बातों में से ही हैं। अगर हम किसी मुल्क के लोगों को निजी तौर पर नहीं जानते तो हम अक्सर उनके बारे में और भी ग़लत रायें क़ायम कर लेते हैं और उन्हें अपने से बिल्कुल जुदा और अजनबी समझने लगते हैं।

जहां तक अपने देश का संबंध है, हमारे निजी संपर्क अनगिनित हैं और

ऐसे संपर्कों के ज़रिये हमारे सामने अपने देशवासियों की बहुत-सी अलग-अलग तस्वीरें आती हैं, या एक मिली-जुली तस्वीर हमारे दिमाग़ में बनती है। इस तरह अपने दिमाग़ की चित्रशाला को हमने तस्वीरों से भरा है। उनमें से कुछ सूरतें साफ़, जीती-जागती और ऐसी हैं जो मानो ऊपर से मेरी तरफ़ झांक रही हों और ज़िंदगी के ऊँचे उद्देश्यों की याद दिलाती हों। फिर भी यह बहुत पुरानी-सी चीज़ें, किसी पढ़े हुए क़िस्से जैसी जान पड़ती हैं। और बहुत-सी दूसरी तस्वीरें भी हैं, जिनके गिर्द पुराने दिनों के साथ की और दोस्ती की ऐसी याद लगी हुई है, जो ज़िंदगी में मिठास पैदा करती है। और फिर जनता की अनगिनित तस्वीरें हैं—हिंदुस्तान के मर्दों, औरतों और बच्चों की, जिनकी एक भीड़ लगी हुई है, और जो सभी मेरी तरफ़ देख रहे हैं और मैं इस बात के समझने की कोशिश में हूं कि उन हज़ारों आँखों के पीछे क्या है।

मैं इस कहानी का आरंभ एक ऐसे अध्याय से करूँगा जो कि बिल्कुल निजी है, क्योंकि यह मेरी उस वक़्त की मानसिक क़ैफ़ियत का पता देता है जो मेरे आत्म-चरित 'मेरी कहानी' के आख़िर में दिये गए वक़्त से बाद की है। लेकिन मैं एक दूसरी आत्म-कथा लिखने नहीं बैठा हूं, अगर्चे अंदेशा मुझे इस बात का है कि इस बयान में ज़ाती टुकड़े अक्सर मौजूद रहेंगे।

संसार-व्यापी युद्ध चल रहा है। यहां अहमदनगर के क़िले में बैठा हुआ, क़ैद की मजबूरी के कारण, मैं ऐसे वक़्त में बेकार हूं जब कि एक भयानक सरगर्मी सारी दुनिया को जला रही है। मैं कभी-कभी इस बेकारी से ऊब जाता हूं और उन बड़ी बातों और बहादुरी के बारे में सोचता हूं जो कि मेरे दिमाग़ में बहुत दिनों से भर रही हैं। मैं इस लड़ाई को एक अलहदगी के साथ देखने की कोशिश करता हूं, इस तरह, जैसे कोई क़ुदरती आफ़त को, किसी दैवी दुर्घटना को, बड़े भूकंप या बाढ़ को देखता है। ज़ाहिर है कि मैं अपने को बहुत ज़्यादा चोट या ग़ुस्से या बेक़रारी से बचाना चाहूं तो इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं। और बर्बर और विनाश करने वाली प्रकृति की इस विभीषिका में मेरी अपनी तकलीफ़ें नाचीज़ बन जाती हैं।

मुझे गांधीजी के वे लफ़्ज़ याद हैं जो कि उन्होंने ८ अगस्त, १९४२ की भविष्य-सूचक शाम को कहे थे—"दुनिया की आँखें अगर्चे आज ख़ून से लाल हैं, फिर भी हमें दुनिया का सामना शांत और साफ़ नज़रों से करना चाहिए।"

: २ :

बेडेनवाइलर : लोज़ान

१ : कमला

४ सितंबर, १९३५ को मैं अलमोड़ा के पहाड़ी जेल से यकायक रिहा कर दिया गया, क्योंकि समाचार आया था कि मेरी स्त्री की हालत नाज़ुक है। वह बहुत दूर—जर्मनी के ब्लैक फ़ॉरेस्ट में—बेडेनवाइलर के एक स्वास्थ्य-गृह में थी । मोटर और रेल के ज़रिये मैं फ़ौरन इलाहाबाद के लिए रवाना हुआ, और वहां मैं दूसरे दिन पहुँच गया। उसी दिन तीसरे पहर, हवाई जहाज़ से, यूरोप के लिए चल पड़ा। हवाई जहाज़ ने मुझे कराची, बग़दाद और क़ाहिरा पहुँचाया और सिकंदरिया से एक सी-प्लेन मुझे ब्रिंडिसी ले गया। ब्रिंडिसी से मैं रेलगाड़ी से बैसले पहुंचा, जो स्विट्ज़रलेंड में है । ९ सितम्बर की शाम को, यानी इलाहाबाद से चलने के ४ दिन और अलमोड़ा से छूटने के ५ दिन बाद मैं बेडेनवाइलर पहुँच गया।

कमला के चेहरे पर मैंने वही पुरानी साहस-भरी मुस्कराहट देखी। लेकिन वह बहुत कमज़ोर हो गई थी, और दर्द से उसे इतनी तकलीफ़ थी कि ज्यादा बात नहीं कर पाती थी । शायद मेरे पहुँच जाने से कुछ अंतर हुआ, क्योंकि दूसरे दिन वह कुछ अच्छी रही और यह सुधार कुछ दिनों तक जारी रहा। लेकिन संकट की हालत बनी रही और रफ़्ता-रफ़्ता उसकी ताक़त घट रही थी। उसकी मौत का ख़याल जी में बैठ न पाता था और मैं ख़याल करने लगा कि उसकी हालत सुधर रही है और अगर सामने आया हुआ संकट टल जाय तो वह अच्छी हो जायगी। डाक्टर लोग, जैसा कि उनका क़ायदा है, मुझे उम्मीद दिलाते रहे। उस वक़्त संकट टलता दिखाई भी दिया और वह सँभली रही। पर इतनी अच्छी तो कभी न जान पड़ी कि देर तक बातें कर सके। हम लोग थोड़ी-थोड़ी बातें करते, और जब मैं देखता कि उसे थकान मालूम पड़ रही है तब मैं चुप हो जाया करता। कभी-कभी मैं उसे कोई किताब पढ़कर सुनाता। उन किताबों में से जो मैंने उसे पढ़कर सुनाई, एक की याद है,

और वह थी पर्लबक की 'दि गुड अर्थ' (धरती माता)। उसे मेरा इस तरह किताब पढ़ना अच्छा लगा, लेकिन हमारी रफ़्तार बहुत धीमी होती।

इस छोटे से क़स्बे में, अपने पेंशन या ठहरने की जगह से, मैं सवेरे और तीसरे पहर पैदल ही स्वास्थ्य-गृह जाया करता था और उसके साथ चंद घंटे बिताया करता था। जी में न जाने कितनी बातें भरी हुई थीं, जिन्हें कि मैं उससे कहना चाहता था। लेकिन मुझे अपने को रोकना पड़ता। कभी-कभी हम पुराने दिनों की बातें करते—पुरानी स्मृतियों की, और हिंदुस्तान के आपस के लोगों की। कभी-कभी, ज़रा लालसा से, आने वाले दिनों की, और उस वक़्त हम लोग क्या करेंगे, यह सोचते। उसकी हालत नाज़ुक थी, लेकिन उसे जीने की आशा बनी रही। उसकी आँखों में चमक और ताक़त क़ायम थी और उसका चेहरा आम तौर पर ख़ुश रहता। इक्के-दुक्के मित्र, जो उससे मिलने आते, उन्हें कुछ ताज्जुब होता, क्योंकि जैसा उन्होंने समझ रखा था, उससे वह अच्छी दिखती। वह लोग उन चमकीली आँखों और मुसकराते हुए चेहरे से धोखे में आ जाते।

शरद ऋतु की लंबी शामें मैं अपने पेंशन के कमरे में अकेले बैठ कर बिताता, या कभी-कभी खेतों से होता हुआ मैं जंगल की तरफ़ टहलने निकल जाता। एक-एक करके, कमला के सैकड़ों चित्र और उसके गहरे और अनमोल व्यक्तित्व के सैकड़ों पहलू मेरे दिमाग़ में फिरते रहते। हमारे ब्याह के लगभग २० वर्ष बीत चुके थे, फिर भी न जाने कितनी बार मैं उसके मन और आत्मा के नए रूपों को देखकर अचंभे में आया था। मैंने उसे कितनी ही तरह से जाना था और बाद के दिनों में तो मैंने उसे समझ पाने की पूरी कोशिश भी की थी। यह बात नहीं कि मैं उसे बिलकुल पहचान न सका हूँ। हां, मुझे अकसर संदेह होता था कि मैंने उसे पहचाना भी या नहीं। उसमें परियों-जैसी कुछ भेद भरी बात थी, जो सच्ची होते हुए भी ऐसी थी कि उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता था।

कुछ थोड़ी-सी स्कूली तालीम के अलावा उसे क़ायदे से शिक्षा नहीं मिली थी। उसका दिमाग़ शिक्षा की पगडंडियों में से होकर नहीं गुज़रा था। हमारे यहां वह एक भोली लड़की की तरह आई और ज़ाहिरा उसमें कोई ऐसी जटिलताएं नहीं थीं जो आजकल आम तौर से मिलती हैं। चेहरा तो उसका लड़कियों जैसा बराबर बना रहा, लेकिन जब वह सयानी होकर औरत हुई तब उसकी आँखों में एक गहराई, एक ज्योति, आ गई और यह इस बात की सूचक थी कि इन शांत सरोवरों के पीछे तूफ़ान चल रहा है। वह नई रोशनी की लड़कियों जैसी न थी, न तो उसमें वह आदतें थीं, न वह चंचलता थी। फिर भी नए तरीक़ों में वह काफ़ी आसानी से घुल-मिल जाती थीं। दर अस्ल

वह एक हिंदुस्तानी और ख़ासतौर पर कश्मीरी लड़की थी—चैतन्य और गर्वीली, बच्चों जैसी और बड़ों जैसी, बेवक़ूफ और चतुर। अजनवी लोगों से, और उनसे जिन्हें वह पसंद नहीं करती थी, वह संकोच करती; लेकिन जिन्हें वह जानती और पसंद करती थी उनसे वह जी खोलकर मिलती और उनके सामने उसकी ख़ुशी फूटी पड़ती थी। चाहे जो शख्स हो, उसके बारे में वह झट अपनी राय क़ायम कर लेती। यह राय उसकी हमेशा सही न होती, और न हमेशा वह इंसाफ़ की नींव पर बनी होती, लेकिन अपनी इस सहज पसंद या विरोध पर वह दृढ़ रहती। उसमें कपट नाम को न था। अगर वह किसी व्यक्ति को नापसंद करती और यह बात ज़ाहिर हो जाती, तो वह उसे छिपाने की कोशिश न करती। कोशिश भी करती तो शायद वह इसमें कामयाब न होती। मुझे ऐसे इंसान कम मिले हैं, जिन्होंने मुझ पर अपनी साफ़-दिली का वैसा प्रभाव डाला हो जैसा कि उसने डाला था।

२ : हमारा ब्याह और उसके बाद

मैंने अपने ब्याह के शुरू के सालों का ख़याल किया जब कि बावजूद इस बात के कि मैं उसे हद से ज़्यादा चाहता था, मैं क़रीब-क़रीब उसे भूल गया था, और बहुत तरह से उसे उस संग से वंचित रखता था जिसका कि उसे हक़ था। क्योंकि उस वक़्त मेरी हालत एक ऐसे शख्स की-सी थी जिस पर कि भूत सवार हो। मैं अपना सारा वक़्त उस मक़सद को पूरा करने में लगा रहा था जिसे कि मैंने अपनाया था। अपनी एक अलग सपने की दुनिया में रहा करता था और अपने गिर्द के चलते-फिरते लोगों को असार छाया की तरह समझा करता था, अपनी शक्तिभर मैं काम में लगा रहता था; मेरा दिमाग़ उन बातों से लबरेज़ रहता जिनमें मैं लगा हुआ था। मैंने उस मक़सद में अपनी सारी ताक़त लगा दी थी और उसके अलावा किसी और काम के लिए ताक़त बाकी न थी।

लेकिन उसे भूलना बहुत दूर रहा, जब-जब और धंधों से निपट कर उसके पास आता तो मुझे ऐसा अनुभव होता कि किसी सुरक्षित बंदरगाह में पहुंच गया हूं। अगर घर से कई दिनों के लिए बाहर रहता तो उसका ध्यान करके मेरे मन को शांति मिलती और मैं बेचैनी के साथ घर लौटने की राह देखता। अगर वह मुझे ढाढ़स और शक्ति देने के लिए न होती और मेरे थके मन और शरीर को नया जीवन न देती रहती तो भला मैं कर ही क्या पाता ?

वह जो कुछ मुझे दे सकती थी उसे मैंने उससे ले लिया था। इसके बदले में इन शुरू के दिनों में मैंने उसे क्या दिया ? ज़ाहिर तौर पर मैं नाकामयाब रहा, और मुमकिन है कि उन दिनों की गहरी छाप उस पर हमेशा

बनी रही हो। वह इतनी गर्वीली और संवेदनशील थी कि मुझसे मदद माँगना नहीं चाहती थी, अगर्चे जो मदद में उसे दे सकता था वह दूसरा नहीं दे सकता था। वह क़ौमी लड़ाई में अपना अलग हिस्सा लेना चाहती थी, महज़ दूसरे के आसरे रहकर या अपने पति की परछाई बनकर वह नहीं रहना चाहती थी। वह चाहती थी कि दुनिया की निगाहों में ही नहीं, बल्कि अपनी निगाहों में वह खरी उतरे। मुझे इससे ज़्यादा किसी दूसरी बात से ख़ुशी नहीं हो सकती थी, लेकिन मैं और कामों में इतना फँसा हुआ था कि सतह से नीचे देख ही नहीं पाता था, और जो वह चाहती थी, जिसकी उसे इतनी गहरी लालसा थी, उसकी तरफ़ से मैं अंधा था। और फिर मुझे इतनी बार जेल जाना पड़ा कि मैं उससे अलग भी रहा, या वह बीमार रही। रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटक की चित्रा की तरह वह मुझसे यह कहती जान पड़ती थी : "मैं चित्रा हूं, देवी नहीं हूं कि मेरी पूजा की जाय। अगर तुम ख़तरे और साहस के रास्ते में मुझे अपने साथ रखना मंजूर करते हो, अगर तुम अपनी ज़िंदगी के बड़े कामों में मुझे हिस्सा लेने की इजाज़त देते हो, तो तुम मेरे असली आत्मा को पहचानोगे।" लेकिन उसने यह बात मुझसे शब्दों में नहीं कही। धीरे-धीरे यह संदेसा मैं उसकी आँखों में पढ़ पाया।

सन् १९३० के शुरू के महीनों में मुझे उसकी इस इच्छा की झलक मिली। फिर हम लोग साथ-साथ काम करते रहे और इस अनुभव में मुझे एक नया आनंद मिला। कुछ वक़्त तक हम लोग मानों ज़िंदगी की तेज़ धार पर साथ-साथ बहते रहे, लेकिन बादल मँडरा रहे थे और एक क़ौमी हंगामा सामने था। हमारे लिए यह सुख के महीने थे. लेकिन वह बहुत जल्द ख़तम हो गए और अप्रैल के शुरू में मुल्क असहयोग और फिर सरकारी दमन के चंगुल में पड़ गया और मैं फिर जेल चला गया।

हम सब मर्द लोग ज़्यादातर जेल में थे। उस वक़्त एक हैरत-अंगेज घटना घटी। हमारी औरतें मैदान में आईं और उन्होंने लड़ाई को सँभाला। यह सही है कि कुछ औरतें सदा से इस काम में लगी रही हैं, लेकिन अब तो उनके दल के दल उमड़ पड़े, जिसकी वजह से न सिर्फ़ अंग्रेजी सरकार को, बल्कि खुद उनके मर्दों को अचरज हुआ। और हमारे सामने जो नज़्ज़ारा था वह यह था कि ऊँचे और बीच के वर्ग की औरतें जो अपने घरों में महफ़ूज़ ज़िंदगियां बिता रही थीं, किसान औरतें, मजदूर औरतें, अमीर औरतें, ग़रीब औरतें, दसियों हज़ार की तादाद में सरकारी हुक्म को तोड़ने और पुलिस की लाठियों का सामना करने के लिए तैयार थीं। साहस और बहादुरी का यह दिखावा भर नहीं था। इससे भी बड़ी जो बात थी वह यह थी कि उन्होंने संगठन की शक्ति दिखाई।

जब यह ख़बरें हम तक नैनी जेल में पहुंचीं, उस वक़्त हम में जो पुलक

पैदा हुई उसे मैं कभी भूल नहीं सकता। हमारे दिल, हिंदुस्तान की औरतों का ख़याल करके, गर्व से भर गए। हम लोग इस घटना के बारे में आपस मे मुश्किल से बातें कर पाते थे, क्योंकि हमारे दिल भरे हुए थे और हमारी आँखें आँसुओं से धुँधली हो रही थीं।

मेरे पिता बाद में आकर नैनी जेल में हम लोगों में शरीक हुए। उन्होंने बहुत-सी बातें बताईं जिन्हें हम पहले से नहीं जानते थे। जेल से बाहर रहते हुए वह असहयोग आंदोलन के अगुआ थे, लेकिन सारे हिंदुस्तान में औरतों मे जो आग भड़क उठी थी उसे उन्होंने उकसाया न था। सच बात यह है कि पुराने ढंग के बड़ों की तरह वह इस बात को पसंद नहीं करते थे कि नौजवान और बूढ़ी औरतें गर्मी की धूप में सड़कों पर घूमती फिरें और पुलिस से मोर्चा लें लेकिन उन्होंने जनता का रुख देख लिया था और किसी के, यहां तक कि अपनी स्त्री, बेटियों और बहू के उत्साह को रोका नहीं। उनसे मालूम हुआ कि सारे मुल्क में हमारी औरतों ने जो उत्साह, हिम्मत और क़ाबिलियत दिखाई, उससे उन्हें कितनी ख़ुशी और हैरत हुई। अपने घर की लड़कियों के बारे में वह मुहब्बत भरे गर्व के साथ बातें करते थे।

मेरे पिता के कहने से, २६ जनवरी १९३१ को, सारे हिंदुस्तान में आज़ादी के दिन की साल गिरह मनाई गई और हज़ारों आम जलसों में 'यादगार के प्रस्ताव पास हुए। इन जलसों पर पुलिस की रोक लगी हुई थी, और इनमें से बहुतों को बल-पूर्वक तितर-बितर किया गया। पिताजी ने इन जलसों का संगठन अपनी बीमारी के बिस्तर से किया था और यह सचमुच संगठन की विजय थी। क्योंकि हम अख़बारों, या डाक या तार या टेलीफ़ोन का इस्तेमाल नहीं कर सकते थे और न किसी क़ानूनी तौर पर क़ायम किये हुए छापेख़ाने का ही फिर भी एक मुक़र्रर किये गए दिन और वक्त पर इस बड़े मुल्क में, सब जगह दूर-दूर के गांवों तक में, यह प्रस्ताव हर एक सूबे की भाषा में पढ़ा गया और मंज़ूर किया गया। इस प्रस्ताव के मंज़ूर होने के १० दिन बाद मेरे पिता की मृत्यु हुई।

यह प्रस्ताव लंबा था, लेकिन उसका एक हिस्सा हिंदुस्तान की औरतों के बारे में था—"हम हिंदुस्तान की औरतों के प्रति अपनी श्रद्धा और तारीफ़ के गहरे भावों को ज़ाहिर करते हैं, जिन्होंने कि मातृभूमि के इस संकट के मौक़े पर अपने घरों की हिफ़ाज़त को छोड़कर, अचूक हिम्मत और बर्दाश्त की ताक़त दिखाई है और जो अपने मर्दों के साथ कंधे-से-कंधा लगाकर हिंदुस्तान की क़ौमी फ़ौज के सामने की क़तार में शामिल रही हैं, और जिन्होंने जंग की क़ुरबानियों और विजयों में उनके साथ हिस्सा बँटाया है···"

इस उथल-पुथल में, कमला ने भी, हिम्मत के साथ एक ख़ास हिस्सा

लिया और उसके ना-तजुर्बेकार कंधों पर, इलाहाबाद में, हमारे काम के संगठन की जिम्मेदारी उस वक़्त आई, जब कि हरएक जानाहुआ काम करने वाला जेल में था। तजुर्बे की कमी को उसने अपने जोश और उत्साह से पूरा किया और कुछ ही महीनों के भीतर वह इलाहाबाद के गर्व की चीज़ बन गई।

मेरे पिता की आखिरी बीमारी और मौत की छाया में हम फिर मिले। यह मुलाक़ात दोस्ती और आपस की समझदारी के एक नए ही आधार पर थी। कुछ महीनों बाद, अपनी बेटी के साथ जब हम लोग कुछ दिनों के लिए लंका, अपनी पहली सैर के लिए गए,—और यह आखिरी भी थी—तो ऐसा जान पड़ता था कि हमने एक-दूसरे को एक नए रूप में देखा है। ऐसा जान पड़ता था कि हमने जितने पिछले साल साथ में बिताये थे, वह इस नए और गहरे संबंध की तैयारी में बिताए थे।

हम लोग जल्द ही लौट आए, और मैं काम में लग गया, और बाद में जेल चला गया। साथ-साथ छुट्टी मनाने का और मिलकर काम करने का यहां तक कि मिलकर रहने का भी मौक़ा न हासिल हुआ, सिवाय इसके कि दो लंबी क़ैदों की मुद्दत के बीच के वक़्त में मुलाक़ात हो गई। दूसरी क़ैद की मुद्दत खतम न होने पाई थी कि कमला मौत की बीमारी से बिस्तर पर लग गई थी।

जब मैं फरवरी सन् १९४३ में, कलकत्ते के एक वारंट पर गिरफ़्तार किया गया, उस वक़्त कमला घर में मेरे कुछ कपड़े लाने के लिए गई। मैं भी उससे रुखसत होने के खयाल से उसके पीछे हो लिया। यकायक वह मुझसे लिपट गई और ग़श खाकर गिर पड़ी। उसके लिए यह ग़ैर-मामूली बात थी, क्योंकि हम लोगों ने अपने को एक तरह से तालीम दे रखी थी कि जेल खुशी-खुशी और हलके दिल से जाना चाहिए और इसके बारे में जहां तक मुमकिन हो कोई ग़ुल न होने देना चाहिए। क्या उसके दिल ने उसे पहले से बता दिया था कि हमारी साधारण मुलाकात का यह आखिरी मौक़ा है?

दो-दो साल की दो लंबी जेलों की मुद्दतों ने हम लोगों को एक-दूसरे से उस वक़्त जुदा रखा था जब कि हमें एक-दूसरे की सबसे ज्यादा ज़रूरत थी। मैं जेल के लंबे दिनों में इस पर ग़ौर करता रहा, लेकिन मैं उम्मीद करता रहा कि वह वक़्त ज़रूर आवेगा जब कि हम दोनों एक साथ होंगे। इन सालों में उस पर क्या गुज़री? मैं इसका अनुमान कर सकता हूं, अगर्चे मैं भी इसे ठीक-ठीक नहीं जानता। क्योंकि जेल की और जेल से बाहर थोड़े वक्त की मुलाक़ातों में ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि इसका सहज में अंदाज़ हो सके। हम लोगों को हमेशा अपने को सँभाले रखना पड़ता था, जिसमें अपनी तकलीफ़ को ज़ाहिर करके हम एक-दूसरे को तकलीफ़ न पहुंचावें। लेकिन यह साफ़ था कि बहुतेरी बातों की वजह से वह बहुत परेशान और दुखी थी और उसका मन

शांत न था। मैं उसकी कुछ मदद कर सकता, लेकिन जेल में रहते हुए यह मुमकिन न था।

३ : इन्सानी रिश्तों का सवाल

यह सब और बहुत से और ख़याल, मेरे दिमाग़ में, बेडेनवाइलर के तनहाई के लंबे घंटों में आते। मैं जेल का वातावरण सहज में दूर न कर पाता था। बहुत दिनों से मैं इसका आदी हो गया था, और इस नई फ़िज़ा ने कुछ ज्यादा तबदीली न पैदा की। नात्सी इलाक़े में, उसकी तमाम अनोखी घटनाओं के बीच, जिसे कि मैं बेहद नापसंद करता था, मैं रह रहा था। लेकिन नात्सियों ने मुझसे छेड़ न की। ब्लैक फॉरेस्ट के एक कोने के इस छोटे-से गाँव में नात्सी-पन के कोई चिन्ह नहीं मिलते थे।

पर शायद ऐसा हो कि मेरे दिमाग़ में और ही बातें भर रही थीं। मेरे सामने अपनी बीती हुई ज़िंदगी की तस्वीरें फिर रही थीं, और उनमें हमेशा कमला साथ दिखाई देती थी। मेरे लिए वह हिंदुस्तान की महिलाओं, बल्कि स्त्री-मात्र की प्रतीक बन गई। कभी-कभी हिंदुस्तान के बारे में मेरी कल्पना में वह एक अजीब तरह से मिल-जुल जाती, उस हिंदुस्तान की कल्पना में जो कि अपनी सब कमज़ोरियों के बावजूद हमारा प्यारा देश है, और जो इतना रहस्यमय और भेद-भरा है। कमला क्या थी? क्या मैं उसे जान सका था, उसकी असली आत्मा को पहचान सका था? क्या उसने मुझे पहचाना और समझा था? क्योंकि मै भी एक अनोखा आदमी रहा हूं और मुझमें भी ऐसा रहस्य रहा है, ऐसी गहराइयां रही हैं जिनकी थाह मै खुद नहीं लगा सका हूं। कभी-कभी मैंने ख़याल किया है कि वह मुझसे इसी वजहसे ज़रा सहमी रहती था। शादी के मामले में मै ख़ातिर-ख़ाह आदमी न रहा हूं न उस वक़्त था। कमला और मैं, एक-दूसरे से कुछ बातों में बिल्कुल जुदा थे, और फिर भी कुछ बातों में हम एक-जैसे थे। हम एक-दूसरे की कमियों को पूरा नहीं करते थे। हमारी जुदा-जुदा ताक़त ही आपस के व्यवहार में कमज़ोरी बन गई। या तो आपस में पूरा समझौता हो, विचारों का पूरा मेल हो, नहीं तो कठिनाइयां होंगी ही। हम में कोई भी साधारण गृहस्थी की ज़िंदगी, जैसे भी गुजरे उसे क़बूल करते हुए, नहीं बिता सकते थे।

हिंदुस्तान के बाज़ारों में जो बहुत सी तस्वीरें देखने में आतीं, उनमें एक ऐसी थी जिसमें कमला की और मेरी तस्वीरें साथ-साथ लगाई गई थीं और जिसके ऊपर लिखा हुआ था : 'आदर्श जोड़ी'। बहुत से लोग इसी रूप में हमारी कल्पना करते रहे हैं, लेकिन आदर्श को पा लेना और उसे पकड़े रहना बड़ा कठिन है। फिर भी मुझे याद है कि अपने लंका के सफ़र में मैं

कमला से यह कहा करता था कि बहुत दिक्क़तों और आपस के भेदों के रहते हुए, और ज़िंदगी ने हमारे साथ जो चालें चली हैं उनके बावजूद, हम कितने खुशक़िस्मत हैं। ब्याह एक अनोखी घटना होती है और अगर्चे ब्याह का हमें हज़ारों साल का तजुर्बा हासिल है, यह बात आज भी उतनी ही सच है। हमने अपने गिर्द बहुत-सी शादियों की बरबादी देखी, या जिसे हम इससे बेहतर न कहेंगे, यह देखा कि जो चीज़ सुनहली और आबदार थी वह मंद और फीकी पड़ गई है। मैं उससे कहा करता कि हम लोग कितने खुशक़िस्मत हैं, और इसे वह क़बूल करती। क्योंकि आपस में हम लड़े भले ही हों, एक-दूसरे से नाराज़ भले ही हुए हों, फिर भी हमने उस ज़िंदा ज्योति को बुझने न दिया, और ज़िंदगी हम दोनों को नए-नए करिश्मे दिखाती रही और एक-दूसरे की नई झलक देती रही।

इंसानी रिश्तों का मसला कितना बुनियादी है, फिर भी राजनीति और अर्थ-शास्त्र की बहसों में पड़कर हम उसे कितना नज़र-अंदाज़ कर देते हैं। चीन और हिंदुस्तान की पुरानी और अक़्लमंद तहज़ीबों में इसे नज़र-अंदाज़ नहीं किया गया था। वहां सामाजिक व्यवहार के आदर्शों का विकास हुआ था, जिसमें और जो भी ख़ामियां रही हों, यह खूबी थी कि व्यक्ति को एक संतु-लन, एक हम-वज़नी हासिल होती थी। यह संतुलन आज हिंदुस्तान में नहीं दिखाई पड़ रहा है, लेकिन पश्चिम के देशों में ही, जहां और दिशाओं में इतनी तरक़्क़ी हुई है, यह कहां दिखाई पड़ता है? या यह संतुलन ही दरअस्ल गतिहीनता है और उन्नतिशील तब्दीली का विरोधी है? क्या एक का दूसरे के लिए बलिदान करना ज़रूरी है? यक़ीनी तौर पर इसे मुमकिन होना चाहिए कि भीतरी संतुलन का बाहरी तरक़्क़ी से, पुराने ज़माने के ज्ञान का नए ज़माने की शक्ति और विज्ञान से मेल क़ायम हो। सच देखा जाय तो हम लोग दुनिया के इतिहास की एक ऐसी मंज़िल पर पहुँच गए हैं कि अगर यह मेल न क़ायम हो सका तो दोनों ही का अंत और नाश रखा हुआ है।

४ : १९३५ का बड़ा दिन

कमला की हालत कुछ सुधरी। सुधार कुछ बहुत ज़ाहिर तो नहीं था, लेकिन पिछले हफ़्तों की चिंता के बाद हम लोगों ने कुछ आराम महसूस किया। वह अपना नाज़ुक वक़्त पार कर ले गई थी, और उसकी हालत ठहरी हुई थी। यह खुद एक फ़ायदा था। उसकी यह हालत एक महीने तक जारी रही, और इससे लाभ उठा कर, अपनी बेटी इंदिरा के साथ मैं कुछ दिनों के लिए इंग्लिस्तान हो आया। वहां मैं आठ साल से नहीं गया था और कई दोस्तों का इसरार था कि मैं उनसे मिलूं।

मैं बेडेनवाइलर वापस आया और पुरानी दिनचर्या फिर से शुरू हुई। जाड़ा आगया था। ज़मीन बर्फ़ से ढँककर सफ़ेद हो रही थी। ज्यों ही बड़ा दिन क़रीब आया कमला की हालत साफ़ तौर पर गिरने लगी। ऐसा जान पड़ता था कि नाज़ुक वक़्त लौट आया है और उसकी ज़िंदगी एक धागे से लटक रही है। १९३५ के उन अंतिम दिनों में मैं बर्फ़ और बर्फ़ानी कीचड़ के बीच रास्ता काटता रहा, और यह नहीं जानता था कि वह कितने दिन या घंटों की मेहमान है। जाड़े का शांत दृश्य, जिस पर बर्फ़ की सफ़ेद चादर पड़ी हुई थी मुझे ठंडी मौत की शांति जैसा लगा और मैं अपना पिछला आशावाद खो बैठा।

लेकिन कमला इस संकट-काल से भी लड़ी और अचरज-भरी शक्ति से उसे पार कर ले गई। वह अच्छी होने लगी और ज़्यादा ख़ुश दिखाई देती। उसने चाहा कि हम लोग उसे बेडेनवाइलर से हटाकर दूसरी जगह ले चलें। वह उस जगह से ऊब गई थी। एक दूसरी वजह जिससे उसे अब वह जगह अच्छी नहीं लगती थी यह थी कि स्वास्थ्य-गृह का एक दूसरा मरीज़ जाता रहा। वह कमला के पास कभी-कभी फूल भेज दिया करता था और उससे मिलने भी आया करता था। यह मरीज़, जो एक आइरिश लड़का था, कमला के मुक़ाबले में कहीं अच्छी हालत में था; यहां तक कि उसे टहलने की इजाज़त मिल गई थी। उसकी अचानक मौत की ख़बर मैंने कमला तक पहुँचने से रोकनी चाही, लेकिन इसमें हम कामयाब न रहे। मरीज़ों को, ख़ासकर उन्हें जिन्हें कि स्वास्थ्य-गृहों में ठहरने का दुर्भाग्य होता है, जान पड़ता है एक ग़ैबी जानकारी हासिल हो जाती है, और यह उन्हें बहुत-कुछ वह बातें जता देती हैं जो कि उनसे छिपाई जाती हैं।

जनवरी में मैं कुछ दिनों के लिए पेरिस गया और थोड़े वक़्त के लिए लंदन भी हो आया। ज़िंदगी मुझे अपनी तरफ़ फिर खींच रही थी और लंदन में मुझे ख़बर मिली कि मैं हमारी कांग्रेस का दूसरी बार सभापति चुना गया हूं और यह कांग्रेस अप्रैल में होने वाली है। दोस्तों ने मुझे पहले से आगाह कर दिया था, इस लिए यह फ़ैसला एक तरह से जाना हुआ था और इसके बारे में मैंने कमला से बातचीत की थी। मेरे सामने एक दुविधा आकर खड़ी हो गई : उसे इस हालत में छोड़ कर जाऊँ या सभापति के पद से इस्तीफ़ा दे दूं। वह नहीं चाहती थी कि मैं इस्तीफ़ा दूं। उसकी हालत ज़रा सुधरी हुई थी और लोगों ने समझा कि मैं बाद में फिर उसके पास आ सकता हूं।

१९३६ की जनवरी के अंत में कमला ने बेडेनवाइलर छोड़ा और स्विट्ज़रलैंड में, लोज़ान के स्वास्थ्य-गृह में वह पहुँचाई गई।

५ : मृत्यु

हम दोनों ने ही स्विट्ज़रलैंड में आने से जो तब्दीली हुई, उसे पसंद किया। कमला अब ज़्यादा खुश रहती और स्विट्ज़रलैंड के इस हिस्से से पहले से अच्छी तरह परिचित होने के कारण मैंने यहां अपने को उतना अजनबी न महसूस किया। उसकी हालत में कोई ज़ाहिरा तब्दीली न पैदा हुई थी और ऐसा मालूम देता था कि कोई संकट सामने नहीं है। शायद सुधार की रफ़्तार धीमी होती, लेकिन जान पड़ता था कि काफ़ी वक़्त तक यह हालत रहेगी।

इस बीच में हिंदुस्तान का बुलावा बराबर आ रहा था और वहां मित्र-लोग मुझे लौटने के लिए ज़ोर दे रहे थे। मेरा जी बेचैन रहने लगा और हिंदुस्तान के मसलों में उलझा रहने लगा। कुछ सालों से, जेल में रहने की वजह से या और वजहों से, सार्वजनिक कामों में मैं सरगर्मी से हिस्सा न ले सका था और अब में बागडोर तुड़ा रहा था। लंदन और पेरिस के मेरे सफ़र ने और हिंदुस्तान से आने वाली खबरों ने मुझे जगाया और अब चुपचाप रहना मुमकिन न था।

मैंने कमला के साथ इसके बारे में विचार किया और डाक्टर से भी सलाह ली। दोनों इस बात पर राज़ी हुए कि मुझे हिंदुस्तान लौटना चाहिए और मैंने डच के० एल्०एम० कंपनी के हवाई जहाज़ से लौटने के लिए जगह पक्की कर ली। २८ फ़रवरी को मैं लोज़ान छोड़ने वाला था। यह सब तै हो चुकने के बाद मैंने देखा कि कमला को मेरे उसे छोड़ने का विचार पसंद न आया। फिर भी वह मुझसे अपना कार्यक्रम बदलने के लिए कहना न चाहती थी। मैंने तो उससे कहा कि हिंदुस्तान में ज़्यादा दिन न ठहरूँगा। दो-तीन महीनों में लौट आने की उम्मीद करता हूं। वह चाहे तो मैं पहले भी आ सकता हू; तार से ख़बर मिलने के एक हफ़्ते के भीतर मैं वापस आ सकूंगा।

चलने की तारीख़ के चार-पाँच दिन रह गए थे। इंदिरा, जो कि पास के ही एक जगह, बेक्स, के स्कूल में, भरती हो गई थी, यह आखिरी दिन हम लोगों के साथ बिताने के लिए आने वाली थी। डाक्टर मेरे पास आए और उन्होंने सलाह दी कि मैं अपना जाना हफ़्ता दस दिन के लिए मुल्तवी कर दूं। इससे ज्यादा वह कहना नहीं चाहते थे। मैं फ़ौरन राज़ी हो गया और बाद में चलने वाले एक के० एल० एम० हवाई जहाज़ में जगह ठीक कर ली।

ज्यों-ज्यों यह आख़िरी दिन बीतने लगे कमला में अचानक तब्दीली आती जान पड़ी। उसके जिस्म की हालत, जहां तक हम देख सकते थे वैसी ही थी, लेकिन उसका दिमाग़ अपने इर्द-गिर्द की चीज़ों पर कम ठहरता। वह मुझसे कहती कि कोई उसे बुला रहा है या यह कि उसने किसी शक्ल या आदमी को

कमरे में आते देखा, जब कि मैं कुछ न देख पाता था।

२८ फ़रवरी को, बहुत सवेरे उसने अपनी आख़िरी साँस ली। इंदरा वहां मौजूद थी, और हमारे सच्चे दोस्त और इन महीनों के निरंतर साथी डाक्टर अटल भी मौजूद थे।

कुछ और मित्र स्विट्ज़रलैंड के पास के शहरों से आ पहुँचे और हम उसे लोज़ान के दाह-घर में ले गए। चन्द मिनटों में वह सुन्दर शरीर और प्यारा मुखड़ा जिस पर अक्सर मुसकराहट छाई रहती थी, जलकर खाक हो गया। और अब हमारे पास सिर्फ एक बरतन रहा जिसमें उस सतेज, आबदार और जीवन से लहलहाते व्यक्ति की अस्थियां हमने भर ली थीं।

६ : मुसोलिनी : वापसी

जिस लगाव ने मुझे लोज़ान और यूरोप में रोक रखा था, वह टूट गया और अब वहां ज़्यादा ठहरने की ज़रूरत न थी। दर असल मेरे भीतर की कोई और चीज़ भी टूट गई थी, जिसका ज्ञान मुझे धीरे-धीरे हुआ, क्योंकि वह मेरे अँधियाले दिन थे और मेरी बुद्धि ठीक-ठीक काम नहीं कर रही थी। कुछ समय एकांत में बिताने के लिए मैं इंदिरा के साथ मांट्रे चला गया।

जिन दिनों मैं मांट्रे में ठहरा हुआ था, लोज़ॉन मे रहने वाला इटली का सफ़ीर मुझसे आकर मिला। यह सिन्योर मुसोलिनी की तरफ़ से,ख़ास तौर पर मेरे दुःख में सहानुभूति प्रकट करने आया था। मुझे ज़रा ताज्जुब हुआ, क्योंकि मैं सिन्योर मुसोलिनी से कभी मिला न था, और न मुझसे उसका किसी और ही तरह से संपर्क था। मैंने सफ़ीर से कहा कि वह मुसोलिनी को बता दे कि इस सहानुभूति के लिए मैं उनका एहसानमंद हूं।

कुछ हफ़्ते पहले, रोम से एक मित्र ने मुझे लिखा था कि सिन्योर मुसोलिनी मुझसे मिलना चाहेंगे। उस वक़्त मेरे रोम जाने का कोई सवाल न था और मैंने उन्हें यह लिख दिया था। बाद में, हवाई रास्ते से, हिंदुस्तान लौटने की जब मैं सोच रहा था, उस वक़्त संदेशा दुहराया गया और इसमें ख़ास तौर पर इसरार और उत्सुकता थी। मैं इस मुलाक़ात से बचना चाहता था; साथ ही रुखाई दिखाने की भी मेरी कोई इच्छा न थी। आम तौर पर मैं मुलाक़ात से बचने की इस ख़्वाहिश पर क़ाबू पा जाता, क्योंकि मुझे भी यह जानने का कुतूहल था कि मुसोलिनी किस तरह का आदमी है। लेकिन उस वक़्त अबीसीनिया की मुहिम चल रही थी, और मेरे उससे मिलने पर, हो न हो, तरह-तरह के नतीजे निकाले जाते और इस मुलाक़ात का इस्तेमाल फ़ासिस्टों के प्रचार के लिए किया जाता। मेरी इनकारी का ज़्यादा असर न पड़ता। हाल की कई मिसालें मेरे सामने थीं। हिंदुस्तानी विद्यार्थी और दूसरे लोग जो

इटली सैर के लिए गये थे, उनसे उनकी इच्छा के खिलाफ़ और कभी-कभी बिना उनकी जानकारी के, इस प्रचार के काम में फ़ायदा उठाया गया और फिर १९३१ में, 'जायर्नेल डि इटाली' में गांधीजी से 'मुलाक़ात' का जो गढ़ा हुआ हाल छपा था, उसका भी सबक़ भूला न था।

मैंने अपने दोस्त से अफ़सोस ज़ाहिर किया और इस खयाल से किसी तरह की ग़लत-फ़हमी बाक़ी न रहे, मैंने दुबारा खत डाला और टेलीफ़ोन से भी सूचना दे दी। यह सब बातें कमला की मृत्यु से पहले की हैं। उसकी मृत्यु के बाद मैंने दूसरा संदेशा भेजा और दूसरी वजहों के साथ यह वजह भी दी कि इस वक़्त किसी से भी मुलाक़ात करने के लिए जी नहीं रह गया है।

मेरी तरफ़ से इतने इसरार की यों ज़रूरत हुई कि मैं जिस के० एल० एम० हवाई जहाज़ से सफ़र करने वाला था उसे रोम में होकर जाना था और मुझे एक शाम और रात वहीं बितानी थी। इस सफ़र और थोड़े वक़्त के क़याम से मैं बच नहीं सकता था।

कुछ दिन मांट्रे में रहकर मैं जिनेवा और मार्साई गया और वहां मैंने पूरब जाने वाले के० एल० एम० हवाई जहाज़ को पकड़ा। तीसरे पहर के खतम होते-होते मैं रोम पहुँचा। वहां पहुँचने पर मुझसे एक बड़ा अफ़सर आकर मिला और उसने मुझे सिन्योर मुसोलिनी के 'चीफ़ ऑफ कैबिनट' का एक खत दिया। इसमें लिखा था; डूचे मुझसे मिलकर खुश होंगे और उन्होंने छः बजे का वक़्त मुलाक़ात के लिए मुक़र्रर किया है। मुझे ताज्जुब हुआ और मैंने उससे अपने पहले के संदेशों का हवाला दिया। लेकिन उसने ज़ोर दिया कि सब कुछ तै हो चुका है और यह इंतज़ाम बदला नहीं जा सकता। उसने बताया कि सच तो यह है कि अगर मुलाक़ात न हो पाई तो इसका पूरा अंदेशा है कि वह अपने पद से बर्खास्त कर दिया जाय। मुझे इस बात का इतमीनान दिलाया गया कि अखबारों में इसके बारे में कुछ न निकलेगा और डूचे से कुछ मिनटों के लिए मिल लेना काफ़ी होगा। वह महज़ मुझसे हाथ मिलाना और मेरी स्त्री की मृत्यु पर अफ़सोस ज़ाहिर करना चाहते थे। इस तरह हम में आपस में एक घंटे तक बहस चलती रही। दोनों तरफ़ से विनय का पूरा दिखावा था। लेकिन साथ ही बढ़ता हुआ खिंचाव भी था। यह घंटा मेरे लिए हद दर्जे का थकाने वाला घंटा था और शायद दूसरे फ़रीक के हक़ में यह और भी भारी गुज़रा हो। मुलाक़ात के लिए मुक़र्रर किया हुआ वक़्त आखिरकार आ पहुँचा, और मैं अपनी वाली करके रहा। डूचे के महल में टेलीफ़ोन से इत्तिला भेज दी गई कि मैं न आ सकूंगा।

उसी दिन शाम को मैंने सिन्योर मुसोलिनी के पास खत भेजा, जिसमें मैंने इस बात का अफ़सोस ज़ाहिर किया कि मैं उनके न्योते का फ़ायदा न उठा

सका और मैंने उनके सहानुभूति के संदेसे के लिए धन्यवाद दिया।

अपना सफ़र मैंने जारी रखा। क़ाहिरा में कुछ पुराने मित्र मुझसे मिलने आये और इसके बाद और पूरब आने पर पच्छिमी एशिया का रेगिस्तान मिला। बहुतेरी घटनाओं के कारण और सफ़र के इंतज़ाम में लगे रहने की वजह से अभी तक मेरा दिमाग़ किसी न किसी काम में लगा हुआ था। लेकिन क़ाहिरा छोड़ने के बाद, इस सुनसान रेगिस्तान प्रदेश के ऊपर से उड़ते हुए, मुझ पर एक भयानक अकेलापन छा गया। मैंने ऐसा महसूस किया कि मुझमें कुछ रह नहीं गया है और मैं बिना किसी मक़सद का हो गया हूं। मैं अपने घर की तरफ़ अकेला लौट रहा था, उस घर की तरफ़ जो अब घर नहीं रह गया था, और मेरे साथ एक टोकरी थी जिसमें राख का एक बर्तन था। कमला का जो कुछ बच रहा था यही था। और हमारे सब सुखके सपने मर चुके थे और राख हो चुके थे। वह अब नहीं रही, कमला अब नहीं रही—मेरा दिमाग़ यही दुहराता रहा।

मैंने अपने 'आत्म-चरित'[१] अपनी ज़िदगी की कहानी, का विचार किया, जिसके बारे में मैंने उससे भुवाली के स्वास्थ्य-गृह में सलाह की थी। जब मैं उसे लिख रहा था तब कभी एक-दो अध्याय उसे पढ़कर सुनाता भी था। उसने इसका सिर्फ़ एक हिस्सा देखा या सुना था। वह अब बाक़ी हिस्सा न देख पावेगी और न अब हम लोग मिलकर ज़िंदगी की किताब में कुछ और अध्याय लिखने पावेंगे।

बग़दाद पहुँच कर मैंने अपने प्रकाशकों के पास जो कि लंदन से मेरा 'आत्म-चरित' निकालने जा रहे थे एक तार भेजा और उसमें मैंने किताब के 'समर्पण' का निर्देश किया—"कमला को, जो अब नहीं रही।"

कराची आया और परिचित चेहरों के झुंड के झुंड दिखाई दिए। इसके बाद इलाहाबाद आया और हम लोगों ने राख के उस बर्तन को वेग से बहने वाली गंगा तक पहुँचाया और फिर इस पवित्र नदी की गोद में उसे प्रवाहित कर दिया। हमारे कितने पुरखों को उसने इस तरह समुंदर तक पहुँचाया है; हमारे बाद आने वाले कितने अपनी अंतिम यात्रा इसके जल के आलिंगन के साथ करेंगे।

---

१ 'मेरी कहानी' के नाम से यह सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित है—अनु०

: ३ :

खोज

१ : हिंदुस्तान के अतीत का विशाल दृश्य

इन वर्षों में, जब कि मैं विचार और काम में लगा था, मेरे दिमाग़ में हिंदुस्तान समाया हुआ था, और मैं बराबर उसे समझ पाने की कोशिश में लगा था; साथ ही उसकी तरफ़ अपनी निजी प्रतिक्रिया की जाँच भी कर रहा था। मैंने अपने बचपन के दिनों का ध्यान किया और यह याद करने की कोशिश की कि उस वक़्त मेरे क्या भाव थे, इसके ख़याल ने उस वक़्त मेरे दिमाग़ में कैसी अस्पष्ट शक्लें पैदा की थीं, और नए अनुभवों ने उनमें क्या तब्दी-लियां की थीं। इसका ख़याल कभी-कभी दिमाग़ के पिछले हिस्से में चला जाता, लेकिन यह मौजूद हमेशा रहता। यह धीरे-धीरे बदलता रहा और पुराने क़िस्से-कहानियों ने और मौजूदा ज़माने की असलियत ने मिलकर इसे एक अजीब घोल बना दिया था। इसने मुझ में गर्व भी पैदा किया और लज्जा भी, क्योंकि अपने गिर्द जो कुछ देखता था—यानी अंधविश्वास, दक़यानूसी विचार और सबसे बढ़कर अपनी ग़ुलामी और ग़रीबी की हालत—उससे मुझे शर्म आती थी।

ज्यों-ज्यों मैं बड़ा हुआ और उन कामों में लगा जिनसे हिंदुस्तान की आज़ादी की उम्मीद की जा सकती थी, मैं हिंदुस्तान के ख़याल में खोया रहने लगा। यह हिंदुस्तान क्या है, जो मुझ पर छाया हुआ है और मुझे बराबर अपनी तरफ़ बुला रहा है, और अपने दिल की किसी अस्पष्ट और गहराई के साथ अनुभव की हुई इच्छा को हासिल करने के लिए काम करने का उत्साह दिला रहा है। मैं ख़याल करता हूं कि शुरू में यह प्रेरणा ज़ाती और क़ौमी गर्व के कारण पैदा हुई, और ऐसी ख़ाहिश का नतीजा थी जो कि सब लोगों में होती है कि दूसरों की हुकूमत का सामना किया जाय और अपनी पसंद के अनुसार ज़िंदगी बिताने की आज़ादी हासिल की जाय। यह बात मुझे बड़ी भीषण जान पड़ी कि हिंदुस्तान जैसा बड़ा मुल्क, जिसका इतना पुराना और

शानदार इतिहास है, हाथ-पैर से जकड़ा हुआ, एक दूर-देश टापू के बस में हो और वह उस पर अपनी मनमानी कर रहा हो। इससे भी ज़्यादा भीषण यह बात थी कि इस ज़बर्दस्ती के मेल का नतीजा हमारी ग़रीबी और गिरी हुई हालत हो। यह काफ़ी वजह थी कि मैं और दूसरे लोग काम में लगें।

लेकिन जो सवाल मेरे मन में उठ रहे थे उनकी तसकीन के लिए इतना काफ़ी न था। अगर हम उसके भौतिक और भौगोलिक पहलुओं को छोड़ दें तो आखिर यह हिंदुस्तान है क्या? गुज़रे हुए ज़माने में इसके सामने क्या मक़सद थे; कौन-सी ऐसी चीज़ थी जिससे इसे ताक़त हासिल होती थी? किस तरह वह अपनी पुरानी ताक़त खो बैठा? और क्या उसने यह ताक़त पूरी तौर पर खो दी है? और अलावा इसके कि बहुत बड़ी शुमार में लोग यहां बसते हैं, क्या कोई ऐसी ज़िंदा चीज़ है जिसकी वह नुमाइंदिगी करता है? आज की दुनिया में उसकी ठीक जगह क्या है?

ज्यों-ज्यों मैंने इस बात का अनुभव किया कि हिंदुस्तान का और मुल्कों से अलग-थलग होकर रहना ना-मुनासिब है और ग़ैर-मुमकिन भी, मेरा ध्यान इस मामले के अंतर्जातीय पहलू की ओर बराबर जाता रहा। आने वाले ज़माने की जो शक्ल मेरे सामने बनती वह ऐसी होती जिसमें हिंदुस्तान और दूसरे मुल्कों के बीच राजनीति, व्यवसाय और संस्कृति का गहरा मेल और रिश्ता होता। लेकिन आने वाले ज़माने की बात तो बाद में उठती थी, पहले तो हमारे सामने मौजूदा ज़माना था, और इस मौजूदा ज़माने के पीछे एक लंबा और उलझा हुआ अतीत था, जिसने कि मौजूदा ज़माने की रूपरेखा बनाई थी। इसलिए, बातों को समझ पाने की ग़रज़ से मैंने अतीत का सहारा लिया।

हिंदुस्तान मेरे ख़ून में समाया हुआ था और उसमें बहुत कुछ ऐसी बात थी जो स्वभाव से मुझे उकसाती थी। फिर भी, मौजूदा ज़माने की और पुराने ज़माने की बहुत सी बची हुई चीज़ों को नफ़रत की निगाह से देखता हुआ, मैं एक विदेशी नुक्ताचीन की हैसियत से उस तक पहुँचा। अगर कहा जाय कि पच्छिम के रास्ते मैं उस तक पहुँचा, और उसे मैंने इस तरह देखा जिस तरह कि कोई पच्छिम वाला दोस्त देखता है तो बेजा न होगा। मैं इस बात के लिए उत्सुक और फ़िक्रमंद था। कि उसके नज़रिये को और उसकी रूपरेखा को बदल दूं और उसे हाल के ज़माने का जामा पहनाऊं। फिर भी जी में संदेह उठते थे। मैं जो उसके अतीत की देन को मिटाने का साहस करने जा रहा था, क्या मैं हिंदुस्तान को ठीक-ठीक समझ सका था? यह सही है कि हमारे सामने बहुत कुछ ऐसा था जिसे कि मिटा देना ही मुनासिब था, लेकिन अगर हिंदुस्तान में कोई ऐसी चीज़ न होती जो कि क़ायम रहने के क़ाबिल और ज़िंदा थी, और जिसकी सचमुच क़ीमत थी, तो यह यक़ीनी है कि हज़ारों साल तक वह

अपनी तहज़ीब और वजूद को क़ायम न रख सकता था। यह चीज़ क्या थी ?

उत्तर पच्छिमी हिंदुस्तान की सिंध-घाटी में, मोहेनजोदड़ो के एक टीले पर मैं खड़ा हुआ। मेरे गिर्द इस क़दीम शहर के मकान थे और गलियां थीं। कहा जाता है कि यह शहर पाँच हज़ार साल पहले मौजूद था और उस वक़्त भी यहां एक पुरानी और विकसित सभ्यता क़ायम थी। प्रोफ़ैसर चाइल्ड लिखते हैं:—"सिंध सभ्यता, एक ख़ास वातावरण में आदमी की ज़िंदगी का पूरा संगठन ज़ाहिर करती है, और यह सालहा-साल की कोशिशों का ही नतीजा हो सकती है। यह एक टिकाऊ सभ्यता थी; उस वक़्त भी उस पर हिंदुस्तान की अपनी छाप पड़ चुकी थी और यह आज की हिंदुस्तानी संस्कृति का आधार है।" यह एक बड़े अचरज की बात है कि किसी भी तहज़ीब का, इस तरह पाँच या छः हज़ार बरसों का अटूट सिलसिला बना हो और वह भी इस रूप में नहीं कि वह स्थिर और गतिहीन हो, क्योंकि हिंदुस्तान बराबर बदलता और तरक़्क़ी करता रहा है। ईरानियों, मिस्रियों, यूनानियों चीनियों, अरबों, मध्य-एशियायियों और भूमध्यसागर के लोगों से इसका गहरा ताल्लुक़ रहा है। लेकिन बावजूद इस बात के कि उसने इन पर असर डाला और इनसे असर लिया, उसकी तहज़ीबी बुनियाद इतनी मज़बूत थी कि क़ायम रह सकी। इस मज़बूती का रहस्य क्या है ? यह आई कहां से ?

मैंने हिंदुस्तान का इतिहास पढ़ा और उसके विशाल प्राचीन साहित्य का एक अंश भी देखा। उस विचार-शक्ति का, साफ़-सुथरी भाषा का, और ऊँचे दिमाग़ का, जो कि इस साहित्य के पीछे था, मुझ पर बड़ा गहरा असर हुआ। चीन के और पश्चिमी और मध्य एशिया के उन महान् यात्रियों के साथ जो बहुत पुराने ज़माने में यहां आये और जिन्होंने अपने सफ़रनामे लिखे हैं, मैंने हिन्दुस्तान की सैर की। पूर्वी एशिया, अंकोर, बोरोबुदुर और बहुत सी जगहों में हिन्दुस्तान ने जो कर दिखाया था उस पर मैंने ग़ौर किया; मैं हिमालय में भी घूमा, जिसका कि हमारी उन पुरानी कथाओं और उपाख्यानों से संबंध रहा है जिन्होंने कि हमारे विचार और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला है। पहाड़ों की मुहब्बत और काश्मीर से अपने संबंध ने मुझे ख़ास तौर पर पहाड़ों की तरफ़ खींचा और वहां मैंने न महज़ आज की ज़िंदगी और उसकी शक्ति और सौंदर्य को देखा, बल्कि गुज़रे हुए युगों की यादगारें भी देखीं। उन पुर-ज़ोर नदियों ने, जो कि इस पहाड़ी सिलसिले से निकलकर हिंदुस्तान के मैदानों में बहती हैं, मुझे अपनी तरफ़ खींचा और अपने इतिहास के अनगिनित पहलुओं की याद दिलाई; सिंधु, जिससे कि हमारे देश का नाम हिंदुस्तान पड़ा, और जिसे पार करके हज़ारों बरसों से न जाने कितनी जातियां फ़िरक़े, क़ाफ़िले और फ़ौजें आती रही हैं; ब्रह्मपुत्रा, जो कि इतिहास की धारा

से ज़रा अलग रही है, लेकिन जो पुरानी कथाओं में जीवित है और पूर्वोत्तर पहाड़ों के गहरे दरारों के बीच से रास्ता बनाकर हिंदुस्तान में आती है और फिर शांति-पूर्वक और मनोहारी प्रवाह के साथ पहाड़ों और जंगलों के बीच के भाग से बहती है; जमुना, जिसके नाम के साथ रास-नृत्य और क्रीड़ा की अनेक दंत-कथायें जुड़ी हुई हैं; और गंगा जिससे बढ़कर कि हिंदुस्तान की कोई दूसरी नदी नहीं; जिसने हिंदुस्तान के हृदय को मोह लिया है, और जो इतिहास के आरंभ से न जाने कितने करोड़ लोगों को अपने तट पर बुला चुकी है। गंगा की, उसके उद्गम से लेकर सागर में मिलने तक की कहानी, पुराने ज़माने से लेकर आज तक की हिंदुस्तान की संस्कृति और तहज़ीब की, साम्राज्यों के उठने और नाश होने की, विशाल और शानदार नगरों की, आदमी के साहस और साधना की, ज़िंदगी की पूर्णता की और साथ-ही-साथ त्याग और वैराग्य की, अच्छे और बुरे दिनों की, विकास और ह्रास की, जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैंने अजंता, एलोरा, एलिफेंटा और और जगहों के स्मारकों, खंडहरों, पुरानी मूर्तियों और दीवारों पर बनी चित्रकारी को देखा, और आगरा और दिल्ली की, बाद के ज़माने की, इमारतें भी देखीं, जिनके एक-एक पत्थर हिंदुस्तान के गुज़रे हुए वक़्त की कहानी कहते हैं।

अपने ही शहर, इलाहाबाद में, या हरिद्वार के स्नानों में, या कुंभ मेले में मैं जाता और देखता कि वहां लाखों आदमी गंगा में नहाने के लिए आते हैं, उसी तरह, जिस तरह कि उनके पुरखे सारे हिंदुस्तान से हज़ारों बरस पहले से आते रहे हैं। चीनी यात्रियों के और औरों के, तेरह सौ साल पहले के, इन मेलों के वृत्तांतों की याद करता। उस समय भी यह मेले बड़े प्राचीन माने जाते थे और कब से इनका आरंभ हुआ यह कहा नहीं जा सकता। मैंने सोचा, यह भी कितना गहरा विश्वास है, जो हमारे देश के लोगों को अनगिनत पीढ़ियों से इस मशहूर नदी की ओर खींचता रहा है।

मेरी इन यात्राओं ने, और इनके साथ वह सभी बातें थीं, जिन्हें कि मैंने पढ़ रखा था, मुझे बीते हुए युग की झाँकी दिखाई। अब तक जो एक कोरी दिमाग़ी जानकारी थी, उसमें दिली क़द्र-दानी शामिल हुई और रफ़्ता-रफ़्ता हिंदुस्तान की मेरी दिमाग़ी तस्वीर में असलियत की जान पड़ने लगी और मुझे अपने पुरखों की भूमि जीते-जागते लोगों से बसी हुई दिखाई पड़ी, ऐसे लोगों से बसी हुई, जो हँसते भी थे और रोते भी, जो मुहब्बत करना जानते थे और दुःख सहना भी; और उनमें ऐसे थे जो कि ज़िंदगी का अनुभव रखने वाले, और उसे समझने वाले थे, और उन्होंने अपनी बुद्धि के ज़रिये एक ऐसी इमारत तैयार की थी जिसने कि हिंदुस्तान को एक तहज़ीबी पायदारी दी और

वह हजारों साल तक क़ायम रही। इस गुज़रे हुए ज़माने की सैकड़ों जीती-जागती तस्वीरें मेरे दिमाग़ में फिर रही थीं और जब मैं किसी ख़ास जगह जाता, जिससे कि उनका ताल्लुक़ होता तो वह मेरे सामने आ जातीं। बनारस के पास, सारनाथ में, मैं बुद्ध को अपना पहला उपदेश देते हुए क़रीब-क़रीब देख सका, और उनके वह शब्द जो कि लिखे जा चुके हैं, ढाई हज़ार साल बाद, एक दूर की बाज़गश्त की तरह सुनाई दिए। अशोक की लाटें, जिन पर लेख खुदे हुए हैं, अपनी शानदार भाषा में, एक ऐसे आदमी का हाल बताती हैं जो कि, अगर्चे वह बादशाह था, फिर भी किसी भी राजा या बादशाह से ऊँची हैसियत रखता था। फ़तहपुर-सीकरी में, अकबर, अपनी सल्तनत की शान को भूल कर, सभी मज़हबों के आलिमों से कुछ नई बात सीखने और इंसान की हमेशा-हमेशा की पहेली का हल पाने की ग़रज़ से बहस करने बैठता।

इस तरह रफ़्ता-रफ़्ता, हिंदुस्तान के इतिहास का शानदार नज़्ज़ारा सामने आता था, और इसमें अच्छे दिन और बुरे दिन, जीत और हार दोनों ही दिखाई देते थे। पाँच हज़ार साल के इतिहास, हमलों और उथल-पुथल के बीच क़ायम रहने वाली इस संस्कृति की परंपरा में मुझे कुछ अनोखापन जान पड़ा—उस परंपरा में जो कि आम लोगों में फैली हुई थी और उन पर गहरा असर डाल रही थी। सिर्फ़ चीन ऐसा मुल्क है जहां कि ऐसी अटूट परंपरा और तहज़ीबी ज़िंदगी दिखाई देती है। फिर गुज़रे हुए ज़माने की यह विशाल तस्वीर धीरे-धीरे मौजूदा ज़माने की बदनसीबी में बदल जाती है, जब कि हिंदुस्तान अपने बीते दिनों के बड़प्पन के बावजूद एक ग़ुलाम मुल्क है, और इंग्लिस्तान का पुछल्ला बना हुआ है, और सारी दुनिया एक भयानक और विध्वंसकारी लड़ाई के शिकंजे में है, और इंसान को वहशी बनाए हुए है। लेकिन पाँच हज़ार वर्षों की इस कल्पना ने मुझे एक नई निगाह दी और हाल के ज़माने का बोझ कुछ हल्का जान पड़ने लगा। अंग्रेज़ी सरकार की एक सौ अस्सी साल की हुकूमत हिंदुस्तान की लंबी कहानी की महज़ एक दुःखदायी घटना जान पड़ी। वह फिर सँभलने लगा है, इस अध्याय के आख़िरी सफ़े का लिखा जाना शुरू हो गया है। दुनिया भी इस दहशतनाक हालत को पार करेगी और एक नई नींव पर अपना निर्माण करेगी।

२ : जातीयता और अंतर्जातीयता

इस तरह हिंदुस्तान के प्रति मेरी प्रतिक्रिया अक्सर एक भावुक प्रतिक्रिया थी, और इसके साथ भी बहुत सी शर्तें और सीमाएं थीं। यह एक ऐसी प्रतिक्रिया थी जो जातीयता की शक्ल अख़्तियार करती है, अगर्चे जहां तक और लोगों का वास्ता था, यह पाबंद करने वाली शर्तें और सीमाएं

ग़ैर-हाजिर थीं। मेरे ज़माने में, हिंदुस्तान में, जातीयता की भावना का होना एक ला-मुहाला चीज़ थी, और है। क्योंकि हर एक ग़ुलाम मुल्क के लिए आज़ादी की ख्वाहिश पहली और सबसे बड़ी ख्वाहिश होती है; और हिंदुस्तान में, जहां कि अपनी विशेषता और गुज़रे हुए बड़प्पन पर लोगों को इतना नाज़ है, यह बात दुगनी सही है।

सारी दुनिया में होने वाली हाल की घटनाओं ने इसे साबित कर दिया है कि यह खयाल ग़लत है कि अंतर्जातीयता और जनता के आंदोलनों के आगे जातीयता ख़तम हो रही है। सच यह है कि जातीयता की भावना लोगों में अब भी एक ज़ोरदार भावना है और इसके साथ परंपरा, मिल-जुलकर रहने और बाहमी मक़सद की भावनाएं जुड़ी हुई हैं। जब कि बीच के वर्ग के विचार-शील लोग, रफ़्ता-रफ़्ता जातीयता की भावना से अलग हट रहे हैं, या कम-से-कम समझते हैं कि हट रहे हैं, मज़दूर पेशा लोगों के और जनता के आंदोलन, जो कि जान-बूझकर अंतर्जातीयता की नींव पर क़ायम हुए थे, अब जातीयता की तरफ़ झुकते आ रहे हैं। और इस युद्ध के जारी होने ने तो सब जगह और सभी को जातीयता के जाल में ढकेल दिया है। जातीयता की इस अचरज-भरी उठान ने, या यों कहिए कि एक नई ही शकल में उसे देखने और उसकी अह-मियत को जान लेने के कारण ने, नए-नए मसले खड़े कर दिये हैं या पुराने मसलों की शक्ल बदल दी है। पुरानी और जमी हुई परंपराएं आसानी से हटाई या मिटाई नहीं जा सकतीं, नाज़ुक वक़्तों में वह उठ खड़ी होती हैं, और लोगों के दिमाग़ों पर छा जाती हैं। और अकसर, जैसा कि हमने देखा है, जान-बूझकर इस बात की कोशिश होती है कि उनके ज़रिये लोगों को काम में लगाने के लिए या क़ुरबानियों के लिए उकसाया जाय। पुरानी परंपराओं को बहुत हद तक क़ूबूल करना पड़ता है और उन्हें नए विचारों और नई हालतों के मुताबिक़ लाने के लिए उनमें हेर-फेर करना पड़ता है। साथ ही नई परंपराओं का क़ायम करना भी ज़रूरी है। जातीयता का आदर्श एक गहरा और मज़बूत आदर्श है और यह बात नहीं कि इसका ज़माना बीत चुका हो और आगे के लिए इसका महत्त्व न रह गया हो। लेकिन और भी आदर्श, जैसे अंतर्जातीयता और श्रमजीवी वर्ग के आदर्श, जो कि मौजूदा ज़माने की असलियतों की बुनियाद पर ज़्यादा क़ायम हैं, उठ खड़े हुए हैं, और अगर हम दुनिया की कशमकश को बंद कर अमन कायम करना चाहते हैं तो हमें इन जुदा-जुदा आदर्शों के बीच एक समझौता क़ायम करना होगा, आदमी की आत्मा के लिए जातीयता का जो आकर्षण है, इसका लिहाज़ करना पड़ेगा, चाहे उसके दायरे को कुछ महदूद ही करना पड़े।

अगर उन देशों में भी, जहां कि नए विचारों और अंतर्जातीय ताक़तों का ज़ोरदार असर पड़ा है, जातीयता की भावना इतनी आम है तो हिंदुस्तान के

लोगों के दिमाग़ों पर उसका कितना ज़्यादा असर होना लाज़िमी है । कभी-कभी हमसे कहा जाता है कि हमारी जातीयता इस बात की निशानी है कि हम लोग पिछड़े हुए लोग हैं और हमारे दिल संकुचित हैं । जो लोग हमसे इस तरह की बातें करते हैं, शायद उनका ख़याल है कि अगर हम अंग्रेज़ी सल्तनत या कामनवेल्थ के भीतर एक छोटे हिस्सेदार की हैसियत क़ुबूल कर लें तो सच्ची अंतर्जातीयता की भावना की जीत होगी । वह यह समझते नहीं दिखाई पड़ते कि इस ख़ास क़िस्म की, और महज़ नाम की अंतर्जातीयता, एक संकुचित अंग्रेज़ी जातीयता का फैलाव भर है, और अगर हमने हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य के वह नतीजे न भी देखे होते, जो कि हमने देख लिये हैं, तो भी यह हमें पसंद नहीं आ सकती थी । फिर भी, यहां जातीयता की भावना चाहे जितनी गहरी हो, सच्ची अंतर्जातीयता को क़ुबूल करने में, और संसार-व्यापी संगठन और राष्ट्रीय संगठन के बीच मेल कराने, बल्कि राष्ट्रीय संगठन को संसार-व्यापी संगठन के मातहत रखने के मामले में, हिंदुस्तान बहुत-सी और क़ौमों के मुक़ाबले में आगे बढ़ गया है ।

३ : हिंदुस्तान की ताक़त और कमज़ोरी

हिंदुस्तान की ताक़त और उसके ह्रास या ज़वाल के कारणों की खोज एक लंबी और टेढ़ी खोज है । फिर भी इस ज़वाल के कारण काफ़ी ज़ाहिर हैं । यंत्र-कला की दौड़ में वह पीछे पड़ गया, और यूरोप, जो कि बहुत ज़माने से कई बातों में पिछड़ा हुआ था, यंत्रों की तरक़्क़ी में नेता बन बैठा । यंत्रों की इस तरक़्क़ी के पीछे विज्ञान की भावना थी और थी एक खुदबुदाती हुई ज़िंदगी, जिसने अपने को बहुत से क्षेत्रों में और खोज की साहसी यात्राओं में ज़ाहिर किया था । नए-नए यंत्रों की जानकारी ने यूरोप के देशों की फ़ौजी ताक़त को बहुत बढ़ाया और उनके लिए यह मुमकिन हो गया कि पूरब में फैलकर वह, वहां के मुल्कों पर क़ब्ज़ा कर सकें । यह सिर्फ़ हिंदुस्तान की नहीं बल्कि सारे एशिया की कहानी है ।

ऐसा हुआ कैसे, इसका बता सकना ज़रा मुश्किल है, क्योंकि दिमाग़ी फ़ुर्ती में और यंत्रों के हुनर में, पुराने ज़माने में, हिंदुस्तानी पिछड़े न थे । ज्यों-ज्यों सदियां गुज़रती हैं हम इस हुनर का रफ़्ता-रफ़्ता ज़वाल देखते हैं । ज़िंदगी और बड़े-बड़े कारनामों के लिए उमंग घट जाती है; रचनात्मक शक्ति का लोप होता है और उसकी जगह पर नक़्क़ाली आ जाती है । जहां कि विजयी और इन्क़लाबी विचारों ने क़ुदरत और जहान के राज़ों को भेदने की कोशिशें की थीं, वहां अब लफ़्फ़ाज़ टीकाकार अपनी टीकाओं और शरहों को लेकर आते हैं । शानदार कला और मूर्तियों की जगह पर अब हमें मिलते हैं पेचीदा खुदाई के काम जिनमें

विस्तार तो बहुत है लेकिन कल्पना या दस्तकारी की शान नहीं दिखाई देती है। भाषा की शक्ति, संपन्नता, और पुर-ज़ोर सादगी जाती रहती है और उनकी जगह बहुत सँवारी हुई और जटिल साहित्यिक रचनाएं ले लेती हैं। वह जोशीली ज़िंदगी और साहस के लिए उमंग, जिसके बूते पर लोग दूर-दराज़ के मुल्कों में हिंदुस्तानी संस्कृति के क़ायम करने की योजना किया करते थे, एक संकीर्ण कट्टरता बनकर रह जाती है जो कि समुंदर की यात्रा तक की मनाही कर देती है। जिज्ञासा की तर्क-पूर्ण भावना, जिसे हम पुराने ज़माने में बराबर पाते हैं, और जिसकी वजह से विज्ञान की और भी तरक्क़ी हो सकती थी, तर्क-हीनता और अंध-विश्वास में बदल जाती है। हिंदुस्तानी ज़िंदगी की धार मंद पड़ जाती है, मुर्दा सदियों के बोझ को जैसे-तैसे ढोते हुए लोग मानों गुज़रे हुए ज़माने में ही रहते हैं। गुज़रे हुए ज़माने का भारी बोझ उसे कुचल देता है और उस पर एक तरह की बेहोशी छा जाती है। मानसिक मूढ़ता और शारीरिक थकान की ऐसी हालत में हिंदुस्तान का ज़वाल हुआ, यह कोई अचरज की बात नहीं। और इस तरह वह जहां-का-तहां रह गया, जब कि दुनिया के और हिस्से आगे बढ़ गए।

फिर भी यह मुकम्मल या सोलह आने सच्चा नक़्शा नहीं है। अगर बीच में कोई ऐसा लंबा ज़माना आया होता जब कि घोर जड़ता या गतिहीनता छा गई होती, तो बहुत मुमकिन है कि इसका नतीजा यह होता कि गुज़रे हुए ज़माने से हमारा ताल्लुक़ बिलकुल टूट गया होता, एक युग का अंत होजाता और उसके खंडहरों पर कोई नई चीज़ तामीर होगई होती। इस तरह का बिलगाव कभी नहीं हुआ और यक़ीनी तौर पर एक सिलसिला जारी है। साथ ही समय-समय पर पुनर्जागृति की कौंधें उठी हैं और इनमें से कुछ बड़ी चमकदार और देर तक बनी रहने वाली रही हैं। सदा इस बात की कोशिश दिखाई दी है कि नए का समन्वय पुराने से किया जाय, कम-से-कम पुराने के उन हिस्सों से जो कि इस लायक़ हैं कि उनकी हिफ़ाज़त की जाय। अकसर वह जो पुराना दिखता है महज़ बाहरी रूपरेखा में पुराना है, एक तरह का प्रतीक है, और भीतरी वस्तु बदल गई है। लेकिन कोई शक्तिशाली और ज़िंदा चीज़ ऐसी है जो क़ायम रही है, कोई प्रेरणा ऐसी बनी रही है जो कि लोगों को ऐसी वस्तु के पीछे ले जाती रही है, जिसे कि हासिल करना बाक़ी है और जो हमेशा नए और पुराने के बीच समन्वय क़ायम करने की कोशिश में रही है। यही प्रेरणा और ख़्वाहिश थी, जो उन्हें आगे बढ़ाती रही, और उन्हे इस काबिल बनाती रही कि पुराने विचारों को न छोड़ते हुए भी नए विचारोंको अपना सकें। जीते-जागते और ज़िंदगी से भरे-पूरे, या कभी-कभी परेशान नींद की बड़बड़ाहट जैसे, इन युगों में, क्या कोई ऐसी चीज़ रही है जिसे हिंदुस्तान का स्वप्न कहा जा सके, मैं नहीं जानता।

हर एक जाति और हर एक क़ौम के लोगों का अपने होनहार के मुताल्लिक कोई विश्वास या कल्पना रही है, और शायद हर-एक में यह विश्वास कुछ हद तक उसके हक़ में सच्चा भी है। हिंदुस्तानी होने के नाते खुद मुझ पर इस कल्पना या असलियत का प्रभाव रहा है कि हिंदुस्तान को किसी एक मक़सद को पूरा करना है। मैं समझता हूं कि जिस वस्तु में सैकड़ों पीढ़ियों को निरंतर ढालने की शक्ति रही है, उसने अपनी यह क़ायम रहने वाली शक्ति, शक्ति के किसी गहरे कुएं से हासिल की होगी और उसमें यह सामर्थ्य होगी कि इसे हर युग में नई कर ले।

क्या शक्ति का कोई ऐसा कुआं है ? और अगर है, तो क्या वह सूख चुका है, या उसमें ऐसे छिपे हुए सोते हैं जिनसे वह अपने को बराबर भरता रहता है ? आज का क्या हाल है ? क्या कोई सोते अब भी जारी हैं जिनसे अपने को तरो-ताज़ा किया जा सके और नई ताकत हासिल की जा सके ? हमारी क़ौम एक पुरानी क़ौम है, या यों कहिये कि बहुत-सी क़ौमों का एक अजीब मजमुआ है और हमारी क़ौमी यादें हमें उस ज़माने तक पहुँचाती हैं जब कि इतिहास का आरंभ हुआ था। क्या हमारा वक़्त पूरा हो चुका और हम अपने वजूद की शाम तक पहुँच गए हैं और किसी तरह चैन और नींद हासिल हो इस ख्वाहिश में बुड्ढों, अपाहिजों और रचना-शक्ति हीन लोगों की तरह वक़्त टेरते जा रहे हैं ?

कोई क़ौम, कोई जाति ऐसी नहीं जो तब्दील न होती रहती हो। बराबर वह औरों में घुलती-मिलती और बदलती रहती है। ऐसा हो सकता है कि वह क़रीब-क़रीब मुर्दा दिखाई दे और फिर इस तरह उठ खड़ी हो जैसे कि कोई नई जाति, या पुरानी का नया रूप हो। पुराने और नए लोगों में बिलकुल ताल्लुक़ टूट सकता है या यह भी हो सकता है कि विचार और आदर्शों की नई और मज़बूत कड़ियां उन्हें जोड़ती रहें।

इतिहास में न जाने कितनी ऐसी मिसालें हैं कि पुरानी और अच्छी तरह से क़ायम तहज़ीबें रफ़्ता-रफ़्ता या यकायक मिट गई हैं, और उनकी जगह नई और शक्तिशाली संस्कृतियों ने ले ली है। या यह कोई जीवनी-शक्ति है, ताक़त का कोई भीतरी सोता है, जो किसी तहज़ीब या क़ौम को ज़िंदगी देता रहता है, और जिसके बग़ैर सारी कोशिशें बेकार हैं और ऐसी हैं जैसे कि कोई बुड्ढा आदमी किसी युवक का अभिनय कर रहा हो ?

आज की दुनिया के लोगों में, मैंने तीन में इस जीवनी शक्ति का अनुमान किया है—अमरीकन, रूसी और चीनी लोगों में, और इनका एक अजीब मेल है। अमरीका के लोग, बावजूद इसके कि उनकी जड़ें पुरानी दुनिया में मिलती हैं, नए लोग हैं और उनकी नई क़ौम है, और इसमें शक नहीं कि वे

पुरानी क़ौमों के बोझों और जटिल विचारों से बचे हुए हैं और उनका हद दर्जे का उत्साह आसानी से समझ में आ जाता है। कैनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के लोगों की यही दशा है। यह सभी बहुत कुछ पुरानी दुनिया से अलग-थलग हैं और एक नई ज़िंदगी उनके सामने है।

रूसी नए लाग नहीं हैं, फिर भी उन्होंने बीते हुए युग से पूरी तरह से अपना नाता तोड़ लिया है, उस तरह से जैसे कि मौत नाता तोड़ देती है। उनका नया जन्म हुआ है—इस रूप में कि उसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं। वह फिर जवान हो गए हैं, और उनमें एक अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति आ गई है। वह अपनी कुछ पुरानी जड़ों को खोजने लगे हैं, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से वह नए लोग हैं और उनको एक नई क़ौम और नई तहज़ीब है।

रूस की मिसाल यह दिखाती है कि अगर कोई क़ौम पूरी-पूरी क़ीमत चुकाने के लिए और जनता की दबी हुई ताक़त को उकसाने के लिए तैयार हो, तो वह किस तरह फिर से अपने में नई शक्ति पैदा कर सकती है। बावजूद उसकी भयानकता और डरावनेपन के, शायद इस युद्ध का यह नतीजा हो कि जो जातियां विनाश से बच सकें, वह नई ज़िंदगी हासिल कर लें।

चीनी लोग इन सबसे अलग हैं। उनकी कोई नई क़ौम नहीं, न उन्हें ऊपर से लेकर नीचे तक परिवर्तन का धक्का सहना पड़ा है। यह सही है कि सात साल की खूंखार लड़ाई ने उन्हें बदल दिया है। कहां तक यह इस युद्ध का नतीजा है या दूसरे स्थायी कारणों का या दोनों का मिला-जुला हुआ, मैं नहीं जानता। लेकिन चीनी लोगों की जीवनी-शक्ति मुझे हैरत में डाल देती है। मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि कोई क़ौम, जिसकी नींव इतनी मज़बूत हो, मर सकती है।

जो जीवनी-शक्ति मैंने चीन में देखी वैसी ही कुछ मैंने कभी-कभी हिंदुस्तान के लोगों में महसूस की है। ऐसा हमेशा नहीं हुआ है; और हर हालत में मेरे लिए तटस्थ होकर विचार करना मुश्किल है। शायद मेरी ख्वाहिशें मेरे विचारों को टेढ़ी-मेढ़ी शक्ल दे देती हैं, लेकिन हिंदुस्तान के लोगों के बीच घूमते-फिरते हुए, मैं बराबर इस चीज़ की तलाश में रहा हूं। अगर हिंदुस्तानियों में यह जीवनी-शक्ति है तो उनका कुछ नहीं बिगड़ा है; वह अपना काम पूरा करके रहेंगे। अगर उनमें इसकी कमी है तो हमारी सारी राजनैतिक कोशिशें और हंगामे महज़ अपने को भुलावे में डालने वाली चीज़ें हैं, और यह हमें बहुत दूर न ले जा सकेंगी। मेरी दिलचस्पी इस बात में नहीं है कि हम कोई ऐसी राजनैतिक व्यवस्था पैदा करें जिससे कि हम लोग अपना काम कमोबेश पहले जैसा, महज़ कुछ ज्यादा अच्छी तरह चला सकें। मैंने

अनुभव किया है कि हमारे लोगों में एक दबी हुई शक्ति और योग्यता का बड़ा भंडार है, और मैं चाहता हूं कि यह खुल जावे और हिंदुस्तानी अपने में नए जोश और नई फुर्ती का अनुभव करें। हिंदुस्तान ऐसा मुल्क है कि वह दुनिया में दूसरे दर्जे का काम नहीं कर सकता। या तो वह बहुत बड़ा काम करेगा या उसकी कोई पूछ न होगी। बीच की कोई हालत मेरे लिए कोशिश नहीं रखती। न मैं यही समझता हूं कि बीच की कोई हालत अमली सूरत रख सकती है।

हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए पिछली चौथाई सदी की लड़ाई और अंग्रेज़ी सरकार से मोर्चा लेने में, मेरे मन में, और बहुत से और लोगों के मन में जो ख्वाहिश रही है, वह इसकी जीवनी-शक्ति को फिर से जगाने की ख्वाहिश रही है। हमने समझा कि कोशिशों और खुशी-खुशी उठाई गई तकलीफ़ों और क़ुरबानियों के ज़रिये, ख़तरे और जोखिम का सामना करते हुए, जिस बात को हम बुरी और बेजा समझते हैं उसे बर्दाश्त करने से इन्कार करके, हम हिंदुस्तान में उत्साह पैदा करेंगे और उसे लंबी नींद से जगाएंगे। अगर्चे हम हिंदुस्तान की अंग्रेज़ी हुकूमत से बराबर मोर्चा लेते रहे, हमारी आँखें हमेशा अपने लोगों की तरफ़ रही हैं। सियासी नफ़े की क़ीमत इससे ज्यादा न थी कि वह हमारे इस खास मक़सद को पूरा करे। चूंकि यह मक़सद हमारे सामने रहा, हम अकसर सियासी मैदान में इस तरह पेश आते रहे, जिस तरह कि कोई भी कूटनीति तक अपने को महदूद रखने वाला राजनीतिज्ञ पेश नहीं आ सकता। और विदेशी और हिंदुस्तानी नुक्ताचीन हमारी ज़िद और हमारे बेवक़ूफ़ी के तरीक़ों पर ताज्जुब करते रहे। हम लोगों ने बेवक़ूफ़ी की या नहीं, यह तो आगे का इतिहास ही बता सकेगा। हमने अपने मक़सदों को ऊँचा रखा और हमारी निगाह दूर की चीज़ों पर बनी रही। अगर मौक़े से फ़ायदा उठाने वाली कूटनीति की नज़र से देखा जाय तो शायद हमने अकसर बेवक़ूफ़ियां कीं, लेकिन हमने अपनी आंखों के आगे से अपने खास मक़सद को ओझल न होने दिया और हमारा वह मक़सद सारे हिंदुस्तान के लोगों को उनकी चेतना और आत्मा को, जगाना था और यक़ीनी तौर पर उन्हें अपनी गुलामी और ग़रीबी की हालत से आगाह करना था। दरअस्ल हमारा मक़सद उनमें एक अंदरूनी ताक़त पैदा करना था— यह जानते हुए कि और बातें खुद-ब-खुद आ जायंगी। हमें पीढ़ियों की गुलामी और एक मग़रूर विदेशी ताक़त की अधीनता को मिटा देना था।

४ : हिंदुस्तान की खोज

अगर्चे किताबों और पुराने स्मारकों और गुज़रे हुए ज़माने के सांस्कृतिक कारनामों ने हिंदुस्तान की कुछ जानकारी मुझमें पैदा की, फिर भी उनसे

मेरा संतोष न हुआ और जिस बात की मुझे तलाश थी उसका पता न चला। और उनसे मिल भी कैसे सकता था, क्योंकि उनका ताल्लुक़ गुज़रे हुए ज़माने से था और मैं यह जानने की कोशिश में था कि आया उस गुज़रे हुए ज़माने का हाल के ज़माने से कोई सच्चा ताल्लुक़ है भी या नहीं। मेरे लिए और मेरे जैसे बहुतों के लिए ज़माना हाल कुछ ऐसा था, जिसमें मध्य युग की बातों का, हद दर्जे की ग़रीबी और दुःख का और बीच के वर्गों की कुछ हद तक सतही आधुनिकता की एक अजीब खिचड़ी थी। मैं अपने जैसे या अपने वर्ग के लोगों का सराहने वाला नहीं था, लेकिन मुझे उम्मीद थी कि हो-न-हो वही हिंदुस्तान के हिफ़ाजत की लड़ाई में आगे आवेंगे। बीच का वर्ग अपने को क़ैद और जकड़ा हुआ पाता था। और खुद बढ़ना और तरक़्क़ी करना चाहता था, और चूँकि अँग्रेज़ी हुकूमत के चौखटे में गिरफ़्तार रहते हुए उसके लिए ऐसा मुमकिन न था, इस हुकूमत के ख़िलाफ़ उसमें एक बग़ावत का जज़्बा पैदा हो गया। फिर भी यह जज़्बा उस ढड्ढे के खिलाफ़ नहीं था जो कि हमें पीसे डाल रहा था। दरअस्ल यह महज़ अंग्रेज़ी बागडोर को बदलकर, उसे क़ायम रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढाँचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यह मुमकिन न था कि उसे ललकारे और उखाड़कर फेंक दे।

नई शक्तियों ने सिर उठाया और इन्होंने हमें गाँवों की जनता की तरफ़ ढकेला और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखों के सामने, एक नए और दूसरे ही हिंदुस्तान की तस्वीर आई, जिसके वजूद को वह क़रीब-क़रीब भुला चुके थे, या जिसे वह ज़्यादा अहमियत नहीं देते थे। यह एक परेशान कर देने वाला नज़्ज़ारा था, न महज़ इस ख़याल से कि हमें हद दर्जे की ग़रीबी और उसके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था, बल्कि इसलिए भी उसने हमारे मूल्यांकन को और उन नतीजों को, जिन पर हम अब तक पहुँचे थे, बिल्कुल पलट दिया था। इस तरह हमारे लिए असली हिंदुस्तान की खोज शुरू हुई, और इसने जहां एक तरफ़ हमें बहुत-सी जानकारी हासिल कराई, दूसरी तरफ़ हमारे अंदर एक कशमकश भी पैदा कर दी। अपनी पुरानी रहन-सहन और तजुर्बों के मुताबिक़ हमारी प्रतिक्रियाएं जुदा-जुदा थीं। कुछ लोग तो गाँवों की इस बड़ी जनता से पहले से काफ़ी परिचित थे, इसलिए उनमें कोई नई सनसनी नहीं पैदा हुई, उन्होंने जैसी भी हालत थी पहले से ही मान रक्खी थी। लेकिन मेरे लिए यह सचमुच एक खोज की यात्रा साबित हुई, और जहां मैं अपने लोगों की कमियों और कमज़ोरियों को दुख के साथ समझता था, वहीं मुझे हिंदुस्तान के गाँवों में रहने वालों में कुछ ऐसी विशेषता मिली, जिसका लफ़्जों में बताना कठिन था, और जिसने मुझे अपनी तरफ़ खींचा। यह विशेषता ऐसी थी जिसका मैंने अपने यहां के बीच के वर्ग में बिल्कुल अभाव पाया था।

आम जनता की मैं आदर्शवादी कल्पना नहीं करता हूं, और जहां तक हो सकता है अमूर्त रूप में उसका ख़याल करने से बचता हूं। हिंदुस्तान की जनता इतनी विविध और विशाल होते हुए भी मेरे लिए बड़ी वास्तविक है। मैं उसका ख़याल अस्पष्ट गुट्टों की शकल में नहीं बल्कि व्यक्तियों के रूप में करना चाहता हूं। यह हो सकता है कि चूंकि उनसे मैं बड़ी उम्मीदें नहीं रखता था इसलिए मुझे कोई मायूसी नहीं हुई। जितनी मैंने आशा कर रखी थी, उससे मैंने उन्हें बढ़कर पाया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उनमें जो मज़बूती और अंदरूनी ताक़त है उसकी वजह यह है कि वह अपनी पुरानी परंपरा अब भी अपनाए हुए हैं। पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो चोटें खाई हैं उसमें इस परंपरा का बहुत कुछ तो जा चुका है; फिर भी कुछ बच रहा है, जिसकी क़ीमत है; साथ ही बहुत कुछ ऐसा है जो कि बुरा और निकम्मा है।

उन्नीस सौ बीस के बाद के कुछ सालों में मेरा काम ज़्यादातर अपने ही सूबे तक महदूद रहा, और मैंने संयुक्त-प्रांत (यू० पी०) के ४८ ज़िलों में—गाँवों और शहरों में—लंबी यात्राएं कीं, और मैं काफ़ी घूमा। यह सूबा बहुत ज़माने से हिंदुस्तान का दिल समझा जाता रहा है और क़दीम और बीच के, दोनों ही ज़मानों की तहज़ीबों का मरकज़ रहा है। यहां कितनी ही संस्कृतियां और क़ौमें आपस में मिली-जुली हैं। यह वह खित्ता है जहां कि १८५७ में बग़ावत की आग भड़की थी और जिसका कि बाद में बड़ी बेरहमी से दमन हुआ था। रफ़्ता-रफ़्ता मेरा परिचय उत्तरी और पच्छिमी ज़िलों के जाटों से हुआ जो कि धरती के सच्चे बेटे हैं, जो बहादुर और आज़ाद दिखाई देते हैं और औरों के मुक़ाबले में खुशहाल हैं। राजपूत किसानों और छोटे ज़मींदारों से मेरी जान-पहचान हुई और मैंने जाना कि उन्हें अब भी अपनी जाति का और पुरखों का गुमान है—उन्हें भी जिन्होंने कि इस्लाम मज़हब अख़्तियार कर लिया है। मैंने गुनी कारीगरों और घरेलू धंधों में लगे हुए लोगों से, हिंदुओं और मुसलमानों से परिचय किया, और बड़ी तादाद में जानकारी हासिल की उन ग़रीब रियाया और किसानों से, खासकर अवध में और पूर्वी ज़िलों में, जो कि पीढ़ियों के ज़ुल्म और ग़रीबी से पिस रहे थे और जिन्हें यह उम्मीद करने की हिम्मत नहीं होती थी कि उनके दिन फिरेंगे, लेकिन फिर भी जो आशा लगाए बैठे थे और जिनके मन में विश्वास था।

उन्नीस सौ तीस के बाद के कई सालों में, जब-जब मैं जेल से बाहर रहा और खास तौर से १९३६–३७ के चुनाव के दौरे में मैं हिंदुस्तान में और भी दूर-दूर के हिस्सों में, शहरों, क़स्बों और गाँवों में घूमा। बंगाल के देहातों को छोड़कर, जहां बदक़िस्मती से मुझे जाने का बहुत कम मौक़ा मिला, मैंने हर-एक सूबे का दौरा किया और मैं गांवों में पैठा। राजनैतिक और आर्थिक

मामलों के मुताल्लिक़ में बोलता और मेरी तक़रीरों को देखा जाय तो उनमे यह और चुनाव की बातें भरी हुई हैं। लेकिन मेरे दिमाग़ के किसी कोने में कुछ दूसरी ही गहरी और अहम बातें थीं और उनका चुनाव और दूसरी वक़्ती सरगर्मियों से ताल्लुक़ न था। एक दूसरी ही और इससे बड़ी, बेक़रारी मुझमें पैदा हो गई थी, और हिंदुस्तान की ज़मीन और उसके लोग मेरे सामने फैले हुए थे, और मैं एक बड़ी खोज की यात्रा पर था। हिंदुस्तान, जिसमें इतनी विविधता और मोहिनी शक्ति है, मुझ पर एक धुन की तरह सवार था, और यह धुन बढ़ती ही गई। जितना ही मैं उसे देखता था उतना ही मुझे इस बात का अनुभव होता था कि मेरे लिए या किसी के लिए भी, जिन विचारों का वह प्रतीक था, उन्हें समझ पाना कितना कठिन था। उसके बड़े विस्तार से या उसकी विविधता से मैं नहीं घबड़ाता था, लेकिन उसकी आत्मा की गहराई ऐसी थी जिसकी थाह मैं न पा सकता था—अगर्चे कभी-कभी उसकी झलक मुझे मिल जाती थी। यह किसी क़दीम ताल-पत्र जैसा था, जिस पर विचार और चिंतन की तहें, एक-पर-एक जमी हुई थीं, और फिर भी किसी बाद की तह ने पहले से आँके हुए लेख को पूरी तरह से मिटाया न था। उनका हमें भान हो चाहे न हो, यह सब एक साथ हमारे चेतन और अचेतन दिमाग़ में मौजूद हैं और यह सब मिलकर हिंदुस्तान के पेचीदा और भेद-भरे व्यक्तित्व का निर्माण करती है। वह स्फिक्स जैसा चेहरा, अपनी भेद-भरी और कभी-कभी व्यंगभरी मुस-कराहट के साथ सारे हिंदुस्तान में दिखाई देता था। अगर्चे ऊपरी ढंग से हमारे देश के लोगों में विविधता और विभिन्नता दिखाई देती थी, लेकिन सभी जगह वह समानता और एकरूपता भी, मिलती थी जिसने कि हमारे दिन चाहे जैसे बीते हों, हमें एक साथ रखा। हिंदुस्तान की एकता, मेरे लिए अब एक ख़याली बात न रह गई। यह एक अंदरूनी एहसास था और मैं इसके बस में आ गया। यह एकता ऐसी मज़बूत थी कि किसी राजनैतिक बिलगाव ने, किसी संकट या आफ़त ने, इस में फ़र्क़ न आने दिया।

हिंदुस्तान या किसी भी मुल्क का ख़याल आदमी के रूप में करना एक फ़िज़ूल-सी बात थी। मैंने ऐसा नहीं किया। मैं यह भी जानता था कि हिंदु-स्तान की ज़िंदगी में कितनी विविधता है, और उस में कितने वर्ग, क़ौमें, धर्म और वंश हैं, और सांस्कृतिक विकास की कितनी अलग-अलग सीढ़ियां हैं। फिर भी मैं समझता हूं किसी देश में जिसके पीछे इतना लंबा इतिहास हो, और ज़िंदगी की जानिब जहां एक आम नज़रिया हो, वहां एक ऐसी भावना पैदा हो जाती है जो और भेदों के रहते हुए भी समान रूप से वहां रहने वालों पर अपनी छाप लगा देती है। इस तरह की बात क्या चीन में किसी से छिप सकती है, वह चाहे किसी दक़ियानूसी कंडारिन से मिले चाहे एक

कम्यूनिस्ट से, जिसने कि गुज़रे ज़माने से अपना ताल्लुक़ तोड़ रक्खा है। हिंदुस्तान की इस आत्मा की खोज में मैं लगा रहा--कुतूहलवश नहीं, अगर्चे कुतूहल यक़ीनी तौर पर मौजूद था--बल्कि इसलिए कि मैं समझता था कि इसके ज़रिये मुझे अपने मुल्क और मुल्क के लोगों को समझने की कोई कुंजी मिल जायगी और विचार और काम के लिए कोई धागा हाथ लग जायगा। राजनीति और चुनाव की रोज़मर्रा की बातें ऐसी हैं जिनमें हम ज़रा-ज़रा से मामलों पर उत्तेजित हो जाते हैं। लेकिन अगर हम हिंदुस्तान के भविष्य की इमारत तैयार करना चाहते हैं, जो मज़बूत और ख़ूबसूरत हो, तो हमें गहरी नींव खोदनी पड़ेगी।

५ : भारतमाता

अकसर जब मैं एक जलसे से दूसरे जलसे में जाने में लगा होता और इस तरह चक्कर काटता रहता, तो इन जलसों में मैं अपने सुनने वालों से अपने इस हिंदुस्तान या भारत की चर्चा करता। भारत एक संस्कृत शब्द है और इस जाति के परंपरागत संस्थापक के नाम से निकला हुआ है। मैं शहरों में ऐसा बहुत कम करता क्योंकि वहां के सुनने वाले कुछ ज्यादा सयाने थे और उन्हें दूसरे ही क़िस्म की ग़िज़ा की ज़रूरत थी। लेकिन किसानों से, जिनका कि नज़रिया महदूद था, मैं इस बड़े देश की चर्चा करता, जिसकी आज़ादी के लिए हम लोग कोशिश कर रहे थे, और बताता कि किस तरह देश का एक हिस्सा दूसरे से जुदा होते हुए भी हिंदुस्तान एक था। मैं उन मसलों का ज़िक्र करता जो कि उत्तर से लेकर दक्खिन तक, और पूरब से लेकर पच्छिम तक किसानों के लिए यकसाँ थे, और स्वराज्य का भी ज़िक्र करता जो थोड़े लोगों के लिए नहीं बल्कि सभी के फ़ायदे के लिए हो सकता था। मैं उत्तरपच्छिम में ख़ैबर के दर्रे से लेकर धुर दक्खिन मे कन्याकुमारी तक की अपनी यात्रा का हाल बताता और यह कहता कि सभी जगह किसान मुझसे एक-से सवाल करते, क्योंकि उनकी तकलीफ़ें एक-सी थीं--यानी ग़रीबी, क़र्ज़, पूँजीवादियों के शिकंजे, ज़मींदार, महाजन, कड़े लगान और सूद, पुलिस के ज़ुल्म, और यह सभी बातें गुँथी हुई थीं उस ढड्ढे के साथ जिसे कि एक विदेशी सरकार ने हम पर लाद रखा था, और इनसे छुटकारा भी सभी को हासिल करना था। मैंने इस बात की कोशिश की कि लोग सारे हिंदुस्तान के बारे में सोचे और कुछ हद तक इस बड़ी दुनिया के बारे में भी जिसके कि हम एक जुज़ हैं। मै अपनी बातचीत में चीन, स्पेन, एबीसीनिया, मध्य यूरोप, मिस्र और पच्छिमी एशिया में होने वाली कशमकशों का जिक्र भी ले आता। मैं उन्हें सोवियत यूनियन में होने वाली अचरज-भरी तब्दीलियों का हाल भी बताता और कहता कि अमरीका ने

कैसी तरक़्क़ी की है। यह काम आसान न था, लेकिन जैसा मैंने समझ रखा था वैसा मुश्किल भी न था। इस की वजह यह थी कि हमारे पुरानें महाकाव्यों ने और पुराणों की कथा-कहानियों ने जिन्हें कि वह ख़ूब जानते थे, उन्हें इस देश की कल्पना करा दी थी, और हमेशा कुछ लोग ऐसे मिल जाते थे जिन्होंने हमारे बड़े-बड़े तीर्थों की यात्रा कर रक्खी थी, जो कि हिंदुस्तान के चारों कोनों पर हैं। या हमें पुराने सिपाही मिल जाते जिन्होंने कि पिछली बड़ी जंग में या और धावों के सिलसिले में विदेशों में नौकरियां की थीं। सन् तीस के बाद जो आर्थिक मंदी पैदा हुई थी उसकी वजह से दूसरे मुल्कों के बारे में मेरे हवाले उनकी समझ में आ जाते थे।

कभी ऐसा भी होता कि जब मैं किसी जलसे में पहुँचता तो मेरा स्वागत "भारतमाता की जय!" इस ज़ोर के नारे से किया जाता। मैं लोगों से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब है, यह भारतमाता कौन है जिसकी वह जय चाहते हैं? मेरे सवाल से उन्हें कुतूहल और ताज्जुब होता और फिर कुछ जवाब न बन पड़ने पर वह एक-दूसरे की तरफ़ या मेरी तरफ़ देखने लग जाते। मैं सवाल करता ही रहता। आखिर एक हट्टे-कट्टे जाट ने, जो कि अनगिनत पीढ़ियों से किसानी करता आया था, जवाब दिया कि भारतमाता से उनका मतलब धरती से है। कौन सी धरती? ख़ास उनके गाँव की धरती, या ज़िले की, या सूबे की, या सारे हिंदुस्तान की धरती से उनका मतलब है? इस तरह सवाल-जवाब चलते रहते, यहां तक कि वह ऊब कर मुझसे कहने लगते कि मैं ही बताऊं। मैं इसकी कोशिश करता, और बताता कि हिंदुस्तान वह सब कुछ है जिसे कि उन्होंने समझ रखा है, लेकिन वह इससे भी बहुत ज़्यादा है। हिंदुस्तान के नदी और पहाड़, जंगल और खेत जो हमें अन्न देते हैं, यह सभी हमें अजीज़ हैं। लेकिन आख़िरकार जिनकी गिनती है वह हैं हिंदुस्तान के लोग, उनके और मेरे जैसे लोग, जो कि इस सारे देश में फैले हुए हैं। भारत माता दर-असल यही करोड़ों लोग हैं, और "भारतमाता की जय!" से मतलब हुआ इन लोगों की जय का। मैं उनसे कहता, कि तुम इस भारत माता के अंश हो, एक तरह से तुम ही भारत माता हो, और जैसे-जैसे यह विचार उनके मन में बैठते, उनकी आँखों में चमक आ जाती, इस तरह मानो उन्होंने कोई बड़ी खोज कर ली हो।

६ : हिंदुस्तान की विविधता और एकता

हिंदुस्तान में अपार विविधता है; यह ज़ाहिर-सी चीज़ है; यह इस तरह सतह पर है कि कोई भी इसे देख सकता है। इसका ताल्लुक़ उन भौतिक चीज़ों से भी है जिन्हें हम ऊपर-ऊपर देखते हैं और कुछ दिमाग़ी आदतों और

स्वभाव से भी है। बाहरी ढंग से देखें तो उत्तरपच्छिम के पठान में और धुर दक्खिन के तमिल में बहुत कम ऐसी बातें हैं जो आपस में समान कही जायँगी। नस्ल के लिहाज़ से यह जुदा-जुदा हैं, अगर्चे हो सकता है कि दोनों के दरम्यान कुछ ऐसे धागे हों जो एक-दूसरे को जोड़ रहे हों; सूरत-शक्ल में, खाने-पीने और पोशाक में यह जुदा-जुदा हैं और भाषा में तो हैं ही । उत्तरपच्छिम के सरहदी सूबे में मध्य एशिया की हवा पहुँची हुई है और यहां के रीति-रिवाज हमें हिमालय के परली तरफ़ के मुल्कों की याद दिलाते हैं। पठानों के देहाती नाचों में और रूस के कज़्ज़ाकों के नाचों में अद्भुत समानता है। लेकिन इन भेदों के रहते हुए भी इस बात में शक नहीं हो सकता कि पठान पर हिंदुस्तान की छाप है, उसी तरह जिस तरह कि हम तमिल पर यह छाप साफ़ तौर पर देखते हैं। इसमें अचरज की कोई बात नहीं, क्योंकि यह सरहदी देस और सच पूछिए तो अफ़ग़ानिस्तान भी, हज़ारों बरस तक हिंदुस्तान से मिले रहे हैं। अफ़ग़ानिस्तान में बसने वाली पुरानी तुर्की क़ौमें, इस्लाम के आने से पहले ज्यादातर बौद्ध थीं, और उससे भी क़ब्ल रामायण और महाभारत के ज़माने में हिंदू थीं। सरहदी प्रदेश पुरानी हिंदुस्तानी तहज़ीब का एक मरकज़ था और आज भी न जाने कितने मठों और इमारतों के खंडहर हमें वहां दिखाई देते हैं, खास तौर से तक्षशिला के विश्व-विद्यालय के, जो कि दो हज़ार बरस पहले मशहूर हो चुका था और जहां कि हिंदुस्तान भर से और मध्य एशिया से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। धर्म की तब्दीली ने फ़र्क़ ज़रूर पैदा किया था, लेकिन उस हिस्से के लोगों की जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, उसे बदलने में यह नाकामयाब रही।

पठान और तमिल, दो अलग-अलग सिरों की मिसालें हैं; और लोग इनके बीच में आते हैं। सभी के रूप जुदा हैं, लेकिन जो बात सबसे बढ़कर है वह यह है कि सभी पर हिंदुस्तान की अपनी छाप है। यह एक दिलचस्प बात है कि बंगाली, मराठा, गुजराती, तमिल, आंध्र, उड़िया, असमी, कन्नड, मलयाली, सिंधी, पंजाबी, पठान, कश्मीरी, राजपूत और बीच के लोगों का एक बड़ा टुकड़ा जो कि हिंदुस्तानी भाषा बोलता है—इन सबने, सैकड़ों वर्षों से, अपनी ख़ासियतें क़ायम रक्खी हैं, और अब भी उनमें वही गुण या दोष मिलते हैं जिनका कि पता परंपरा और पुराने लेखों से चलता है। फिर भी इन युगों में वह बराबर हिंदुस्तानी बने रहे हैं, क़ौमी बपौती के रूप में उन्हें जो कुछ हासिल है और उनके आचार-विचार के आदर्श एक-से हैं। इस बपौती में कुछ ऐसी जीती-जागती बात है, जिसका पता हमें ज़िंदगी के मसलों की तरफ़ उनके फ़िलसफ़े से लगता है। पुराने चीन की तरह, पुराना हिंदुस्तान, एक अलग दुनिया थी, वहां की संस्कृति और तहज़ीब हर चीज़ को एक ख़ास शकल दे देती

थी। विदेशी प्रभाव आते और अकसर इस तहज़ीब पर अपना असर डालते थे, और बाद म उसी में समा जाते थे। जहां फूट की प्रवृत्तियां दिखाई दीं वहां समन्वय की कोशिश होने लगती थी। सभ्यता के उषा-काल से लेकर आज तक, हिंदुस्तान के दिमाग़ में, एकता का एक स्वप्न बराबर रहा है। इस एकता की कल्पना इस तरह से नहीं की गई कि मानो वह बाहर से लागू की गई चीज़ हो, या बाहरी बातों या विश्वासों तक में एक-रूपता आजाय। यह कुछ और ही गहरी चीज़ थी;—इसके दायरे के भीतर रीति-रिवाजों और विश्वासों की तरफ़ ज़्यादा-से-ज़्यादा सहिष्णुता बरती गई है और उनके सभी अलग-अलग रूपों को क़बूल किया गया है और उन्हें बढ़ावा दिया गया है।

एक क़ौम के लोगों के अंदर भी, वह आपस में चाहे जितने नज़दीक क्यों न हों, छोटे या बड़े भेद हमेशा देखने को मिल सकते हैं। किसी गिरोह की एकता का अंदाज़ तब होता है जब हम उसका मुकाबला दूसरे क़ौमी गिरोह से करते हैं। अगर दो गिरोह पास-पास के देशों के हुए तो सरहदी हिस्सों में उनके भेद-भाव कम और नहीं के बराबर मालूम देते हैं। यों भी इस ज़माने में, क़ौमियत का यह ख़याल जिससे हम परिचित हैं, मौजूद न था। जागीरदारी धर्म, जाति और संस्कृति के रिश्तों को ज़्यादा महत्त्व दिया जाता था। फिर भी मै समझता हूं कि हिंदुस्तान के किसी भी ज़माने में, जिसका कि इतिहास क़लम-बंद हो चुका है, एक हिंदुस्तानी अपने को हिंदुस्तान के किसी भी हिस्से में अजनबी न समझता, और वही हिंदुस्तानी किसी भी दूसरे मुल्क में अपने को अजनबी और विदेशी महसूस करता, हां, यक़ीनी तौर पर वह अपने को उन मुल्कों में कम अजनबी पाता, जिन्होंने कि उसकी तहज़ीब और धर्म को अपना लिया था। हिंदुस्तान से बाहर के मुल्कों में शुरू होने वाले मज़हबों के पैरो, हिंदुस्तान में आने और यहां पर बसने के कुछ ही पीढ़ियों के भीतर साफ़ तौर पर हिंदुस्तानी बन जाते थे, जैसे ईसाई, यहूदी, पारसी और मुसलमान। ऐसे हिंदुस्तानी, जिन्होंने इनमें से किसी एक मज़हब को क़बूल कर लिया, एक क्षण के लिए भी इस धर्म-परिवर्त्तन के कारण ग़ैर-हिंदुस्तानी न हो गए। दूसरे मुल्कों में इन्हें हिंदुस्तानी और विदेशी समझा जाता रहा, चाहे इनका धर्म वही रहा हो जो कि इन दूसरे मुल्क वालों का था।

आज भी, जब कि क़ौमियत का ख़याल बहुत बदल गया और तरक़्क़ी कर गया है, विदेशों में हिंदुस्तानियों का गिरोह एक अलग गिरोह समझा जाता है, और अपने भीतरी भेदों के बावजूद उन्हें एक गिना जाता है। हिंदुस्तानी ईसाई चाहे जहां जाय हिंदुस्तानी ही समझा जाता है, और हिंदुस्तानी मुसलमान चाहे टर्की में हो, चाहे ईरान और अरब में, सभी मुसलमानी मुल्कों में वह हिंदुस्तानी ही समझा जाता है।

मैं समझता हूं कि हम में से सभी ने, अपनी जन्मभूमि की अलग-अलग तस्वीर बना रखी होगी, और कोई दो आदमी एक-सा विचार न रखते होंगे। जब मैं हिंदुस्तान के बारे में सोचता हूं तो कई बातों का ध्यान आता है—दूर तक फैले हुए मैदानों का, जिन पर अनगिनित छोटे-छोटे गाँव बसे हुए हैं; उन शहरों और क़स्बों का, जहां मैं हो आया हूं; बरसात के मौसम के जादू का, जो कि सूखे और जले हुए मैदानों में ज़िंदगी बिखेरता है और उन्हें अचानक हरियाली और सौंदर्य का और बड़ी, और ज़ोर-शोर से बहने वाली नदियों का प्रदेश बना देता है; ख़ैबर के सुनसान दर्रे का; हिंदुस्तान के दक्खिनी छोर का; और सब से बढ़कर, बर्फ़ से ढँके हुए हिमालय का; या कश्मीर में, बसंत रितु में, किसी पहाड़ी घाटी का, जिसमें कि नए-नए फूल फूल रहे हैं, और जिसमें पानी के सोते फूटकर गुनगुना रहे हैं। हम लोग अपने पसंद की तस्वीरें बनाते हैं और उनकी हिफ़ाज़त करते हैं। इसलिए बजाय गर्म मैदानी हिस्सों के जो ज़्यादा आम हैं, मैंने पहाड़ी मंज़र पसंद किया है। दोनों तस्वीरें ठीक हैं, क्योंकि हिंदुस्तान उष्ण-कटि-बन्ध से लेकर सम-शीतोष्ण कटि-बन्ध तक और भूमध्य-रेखा से लेकर एशिया के ठंडे प्रदेश तक फैला है।

७ : हिंदुस्तान की यात्रा

सन् १९३६ के आख़िर और १९३७ के शुरू के महीनों में, मेरी यात्रा की गति बढ़ी ही नहीं, बल्कि प्रचंड हो गई। इस बड़े मुल्क में, रात-दिन सफ़र करते हुए, मैंने तूफ़ान की तरह चक्कर लगाया। बराबर चलता ही रहता था; मुश्किल से कहीं ठहरता, मुश्किल से दम मारता। सभी तरफ़ से ज़रूरी बुलावे थे, और वक़्त थोड़ा था, क्योंकि आम चुनाव के दिन सिर पर थे और मैं दूसरों के चुनावों को जिता देने वाला ख़याल किया जाता था। मैंने ज़्यादातर मोटर से और कभी-कभी हवाई जहाज़ और रेल से सफ़र किया। कभी-कभी थोड़ा रास्ता तै करने के लिए मैंने हाथी, ऊँट, या घोड़े की भी सवारी की, या अगिनबोट, नाव या डोंगी की मदद ली या बाइसिकिल पर सवार हुआ या पैदल भी चल पड़ा। यात्रा के यह जुदा-जुदा और अनोखे साधन, बड़े यात्रा-मार्गों से हटकर, देश में पैठने के लिए अकसर ज़रूरी हो जाते हैं। मैं माइक्रोफ़ोन और लाउड-स्पीकर, इन यंत्रों के दोहरे सैट साथ में रखता था। उनके बिना बड़े-बड़े मजमों में बोलना, या अपनी आवाज़ की हिफ़ाज़त कर सकना ग़ैर-मुमकिन हो जाता। यह माइक्रोफ़ोन मेरे साथ-साथ न जाने कितनी अनोखी जगहों में घूमे हैं—तिब्बत की सीमा से लेकर बलूचिस्तान की सीमा तक—जहां कि इस तरह की कोई चीज़ इससे पहले देखी या सुनी नहीं गई थी।

सवेरे से लेकर रात में देर तक, एक जगह से दूसरी जगह तक, मेरी यात्रा का सिलसिला चलता रहता और बड़े-बड़े मजमे मेरे इंतजार में इकट्ठा होते, और इन मजमों के बीच में भी मुझे रुकना पड़ता, क्योंकि मेरा स्वागत करने के लिए किसान लोग देर से आसरा लगाए खड़े होते थे। चूंकि मुझे इनकी पहले से ख़बर न होती, इसलिए मेरा सारा प्रोग्राम अस्त-व्यस्त हो जाता, और बाद को, जहां सभाओं का निश्चय हुआ होता वहां मैं देर से पहुँच पाता। फिर भी यह मेरे लिए कैसे मुमकिन था कि इन ग़रीबों की परवा न करके मैं आगे बढ़ जाऊं? देर पर देर होती रहती। खुले मैदानों में जो सभाएं होतीं, उनमें बीच तक पहुँचने में कई मिनट लग जाया करते। एक-एक मिनट की गिनती करना ज़रूरी था, और यह मिनट इकट्ठा होकर घंटों ले लेते। इस तरह जब शाम होने को आती तो मैं घंटों पिछड़ा हुआ होता। लेकिन भीड़ सब्र के साथ इंतज़ार करती होती, गोकि जाड़े के दिन थे और बिना काफ़ी कपड़ों के, लोग खुले मैदानों में इंतज़ार करते हुए काँप जाते थे। इस तरह से हमारा दिन का प्रोग्राम कभी-कभी १८ घंटों का हो जाता, और दिन का सफ़र अकसर आधी रात या इसके बाद ख़तम होता। एक बार कर्नाटक में, बीच फ़रवरी में यह हालत अपने हद को पार कर गई। हमने अपना रेकार्ड तोड़ दिया। दिन का प्रोग्राम भारी था, और हमें एक बड़े रमणीक पहाड़ी जंगल से हो कर गुज़रना था। वहां की सड़कें बहुत अच्छी न थीं, और उन पर तेज़ी से सफ़र कर सकना मुमकिन न था। आधी दर्जन तो बड़ी-बड़ी सभाओं में जाना था और बहुतेरी छोटी-छोटी सभाएं थीं। आठ बजे सवेरे से हमारा कार्यक्रम शुरू हुआ। हमारी आख़िरी सभा चार बजे सवेरे हो पाई। इसे सात घंटे पहले ख़तम हो जाना चाहिए था और इसके बाद हमें ७० मील की यात्रा कर के उस जगह पहुँचना था जहां कि हमारे आराम करने का इंतज़ाम था। हम ७ बजे वहां पहुँच पाए। रात-दिन में, न ज़ाने कितनी सभाएं करने के अलावा हमने ४१५ मील तै किए थे। दिन के काम में २३ घंटे लग गए। एक घंटे के बाद दूसरे दिन का कार्यक्रम शुरू कर देना था।

किसी ने यह अंदाज़ लगानें की तकलीफ़ की थी कि इन महीनों में कोई एक करोड़ आदमी उन जलसों में आए, जिनमें मैंने व्याख्यान दिए, और सड़कों से गुजरते हुए और कई लाख आदमी मुझसे किसी-न-किसी रूप में संपर्क में आए। सब से बड़े मजमों में एक लाख आदमी तक मौजूद होते। बीस-बीस हज़ार के जलसे तो काफी आम थे। कभी-कभी छोटे क़स्बों से होकर गुज़रते हुए देखता, और यह देखकर ताज्जुब होता कि सारी दूकानें बंद हैं और क़स्बा क़रीब-क़रीब सुनसान है। इसका भेद तब खुलता जब मैं खुली सभा में पहुँचता,

जहां कि क़स्बे की सारी आबादी, मर्द, औरतें, बच्चे तक, सभी मौजूद होते और मेरे पहुँचने का इंतज़ार करते होते।

अपने जिस्म को क़ायम रखते हुए मैं यह सब कैसे कर पाया, यह अब समझ में नहीं आता। जिस्म की बर्दाश्त करने की ताक़त की यह ग़ैर-मामूली मिसाल थी। मैं समझता हूं कि रफ़्ता-रफ़्ता जिस्म इस सैलानी ज़िंदगी का आदी हो गया था। दो सभाओं के बीच के वक़्त में मैं चलती मोटर में ऐसी गहरी नींद में सो जाता कि जगाना मुश्किल होता, लेकिन मुझे उठना ही पड़ता और एक बड़े, स्वागत करते हुए, मजमे का सामना करना पड़ता। मैंने अपना खाना घटाकर, कम-से-कम जितना हो सकता था कर दिया था। कभी-कभी एक वक़्त का खाना टाल ही जाता था—ख़ासकर शाम का, और इसकी वजह से तबियत हल्की रहती थी। लेकिन जिस बात ने मुझे क़ायम रक्खा और शक्ति दी, वह थी वह मुहब्बत और उमंग जिसे मैंने सब जगह पाया। मैं इसका आदी हो गया था, फिर भी पूरी तरह आदी न हो पाता, क्योंकि रोज़ किसी-न-किसी नई अचरज की बात का अनुभव होता था।

८ : आम चुनाव

मेरी यात्रा ख़ास तौर पर उस आम चुनाव के सिलसिले में थी जो सारे हिंदुस्तान में होने वाला था और जिसका वक़्त नज़दीक़ आ रहा था। लेकिन चुनावों के साथ-साथ आम तौर पर चलने वाले तरीक़ों और हथकंडों को मैं नहीं पसंद करता था। जन-सत्ता वाली या जमहूरी हुकूमत के लिए चुनाव ज़रूरी और लाज़िमी होता है, इसलिए इससे बचत नहीं हो सकती। फिर भी चुनाव बहुत अकसर इंसान के बुरे पहलू को सामने लाते है और यह बात नहीं कि हमेशा ज्यादा अच्छे उम्मीदवार की जीत होती हो। संवेदनशील लोग और वह लोग जो अपने को आगे बढ़ाने के लिए बहुत से रायज हथकंडे नहीं अख़्तियार कर सकते, घाटे में रहते हैं; इसलिए वह इस झगड़े से बचना चाहते हैं। तो क्या प्रजा-सत्ता या जमहूरियत उन्हीं का मैदान है जिनकी जिल्दें मोटी और आवाज़ें ऊँची होती हैं और जिनका ईमान लचीला होता है?

चुनाव की यह बुराइयां ख़ास तौर पर वहां ज्यादा फैली होती हैं, जहां कि निर्वाचकों का दल छोटा होता है। जहां निर्वाचक दल बड़ा हुआ, इनमें से बहुत-सी बुराइयां दूर हो जाती हैं, या कम-से-कम उतनी ज़ाहिर नहीं होतीं। किसी ग़लत बात को उठाकर या धर्म के नाम पर (जैसा हमने बाद में देखा) बड़े-से-बड़े निर्वाचक दल के बहक जाने की संभावना होती है; लेकिन बड़े निर्वाचन-क्षेत्र में बहुत-सी संतुलन करने वाली बातें होती हैं, जिनकी वजह से भद्दे ढंग की बुराइयां कम हो जाती है। मेरे तजुर्बे ने मेरे इस यक़ीन को मज़बूत कर दिया है कि निर्वाचन-क्षेत्र बड़ा-से-बड़ा होना अच्छा होता है। इस

बड़े निर्वाचक दल में, मेरा उस महदूद निर्वाचक-दल के मुक़ाबले में ज्यादा यक़ीन है, जो कि हैसियत या शिक्षा की बुनियाद पर तैयार किया जाता है। हैसियत का आधार हर हालत में बुरा है। जहां तक तालीम का आधार है, यह ज़ाहिर है कि तालीम अच्छी और ज़रूरी चीज़ है। लेकिन हरूफ पहिचान लेने वाले या थोड़े पढ़े आदमी में मैंने कोई ऐसी बात नहीं पाई है जिससे उसकी राय को, एक अनपढ़ मगर आम समझ रखने वाले किसान की राय पर तरजीह दी जाय। हर हालत में, जब कि खास सवाल किसानों से ताल्लुक़ रखते हैं, तब उसकी राय ज्यादा महत्त्व की होगी। मेरा यक़ीन है कि सभी बालिगों को, वह मर्द हों या औरत, चुनने के अख्तियार होंने चाहिएं और अगर्चे मैं समझता हूं कि इस रास्ते में दिक्क़तें हैं, फिर भी मुझे यक़ीन है कि इसके खिलाफ़ हिंदुस्तान में जो आवाज बुलंद की जाती है, उसमें ज्यादा दम नहीं और इसके पीछे उन लोगों का खौफ़ है जिन्हें कि खास हक़ हासिल हैं।

१९३७ का, सूबे की असेम्बलियों के लिए चुनाव, इस महदूद निर्वाचन-क्षेत्र की बिना पर हुआ था और आम जनता के कुल १२ फीसदी लोगों को चुनाव का अधिकार मिला था। लेकिन इसे भी पिछले चुनावों के मुक़ाबले में बड़ी तरक्की समझना चाहिए और रियासतों को अलग कर दिया जाय, तो ३ करोड़ लोगों को मत देने का हक़ हासिल था। इन चुनावों का क्षेत्र बहुत बड़ा था और रियासतों को छोड़कर सारे हिंदुस्तान में फैला था। हर एक सूबे को अपनी असेम्बली या धारा-सभा के लिए चुनाव करना था और ज्यादातर सूबों में दो धारा-सभाएं थीं, इसलिए दोहरे चुनाव होते थे। उम्मीदवारों की तादाद कई हज़ार तक पहुंच गई थी।

इन चुनावों की तरफ़ मेरा और कुछ हद तक ज्यादातर कांग्रेस वालों का नज़रिया आम नज़रिये से जुदा था। मैं शख़्सी तौर पर उम्मीदवारों की फ़िक्र नहीं करता था, बल्कि सारे मुल्क में ऐसी फ़िज़ा करना चाहता था जो कि हमारे आज़ादी के इस कौमी आंदोलन के माफ़िक़ हो, जिसकी कि कांग्रेस प्रतिनिधि थी और उस कार्यक्रम की तरफ़दारी में हो जिसको कि हमारे चुनाव के ऐलानों में बताया गया था। मैंने अनुभव किया कि अगर हम इस काम में कामयाब हुए तो सभी बातें खुद-ब-खुद ठीक होकर रहेंगी और अगर नाकामयाब हुए तो इससे कुछ खास फ़र्क़ नहीं पैदा होता कि कोई खास उम्मीदवार हारा या जीता।

मेरा मक़सद लोगों में एक खास तरह के विचार पैदा करना था। उम्मीदवारों का मैं शायद ही चर्चा करता रहा हूं, सिवाय इस रूप में कि वह हमारे उद्देश्यों के अलमबरदार हैं। उनमें से मैं बहुतों को जानता था, लेकिन बहुतों को मैं ज़ाती तौर पर बिलकुल नहीं जानता था और इसकी ज़रूरत नहीं

समझता था अपने दिमाग़ पर हज़ारों नामों का बोझ डाला जाय। मैं कांग्रेस के नाम पर, हिन्दुस्तान की आज़ादी के नाम पर और आज़ादी की लड़ाई के नाम पर वोट मांगता था। मैं कोई वादे नहीं करता था, सिवाय इसके कि जब तक आज़ादी न हासिल हो जायगी तब तक लड़ाई बराबर जारी रहेगी। मैं लोगों से कहता था कि हमारे लिए उसी हालत में वोट दो, जब कि तुम हमारे मक़सद और प्रोग्राम को समझ लो, और उसके मुताबिक़ अमल करने को तैयार हो, नहीं तो हमें वोट न दो। हमें झूठे वोटों की ज़रूरत नहीं थी और न महज़ इस वजह से किसी के लिए वोट चाहते थे कि जनता उन्हें पसंद करती है। वोट और चुनाव के बल पर हम बहुत आगे न बढ़ सकेंगे। एक लम्बी यात्रा के यह केवल छोटे-छोटे डग थे और हमने बताया कि बिना समझे-बूझे और वोट का महत्त्व जाने हुए और बाद को भी काम के लिए तैयार हुए, वोट देना हमें धोखा देना होगा और मुल्क की जानिब एक झूठा अमल करना होगा। अगर्चे हम चाहते थे कि अच्छे और सच्चे लोग हमारे नुमाइंदे बनें, फिर भी व्यक्तियों का खास महत्त्व न था; महत्त्व था हमारे मक़सद का, उस संगठन का जिसने कि इस मक़सद को अपनाया था और उस कौम का जिसकी आज़ादी का हमने बीड़ा उठाया था। मैं इस आज़ादी की व्याख्या करता और बताता कि मुल्क के करोड़ों लोगों पर इसका क्या असर होगा। हम गोरे रंग के मालिकों की जगह पर गेहुआं रंग के मालिकों को नहीं लाकर बिठाना चाहते थे। हम जनता की सच्ची हुकूमत चाहते थे, ऐसी जो जनता द्वारा और जनता के हक़ में हो और जिससे हमारी ग़रीबी और मुसीबतें दूर हो जायं।

मेरे व्याख्यानों की यही टेक होती थी, इसी ग़ैर-शख्सी तरीके पर मैं अपने को चुनाव के दौरे में ठीक-ठीक बिठा पाता था। खास उम्मीदवारों की हार-जीत की मुझे ज्यादा फ़िक्र न थी। मुझे तो इससे बड़े मामलों की फ़िक्र थी। सच बात तो यह है कि यह तरीक़ा ख़ास उम्मीदवारों की कामयाबी के महदूद नजरिये से भी ज़्यादा कारगर था। क्योंकि इस तरह उनके चुनाव का मसला मुल्क की आज़ादी की लड़ाई की ऊँची सतह तक उठकर आ जाता था, उस लड़ाई की सतह पर जिसमें कि करोड़ों ग़रीबी के मारे हुए लोग अपनी युग-युग की ग़रीबी का शाप मिटाने की कोशिश में लगे थे। यह विचार बीसियों कांग्रेस वालों ने प्रकट किए और यह आम लोगों तक इस तरह पहुँचे जैसे कि समुंदर की जोरदार हवा आकर हममें ताज़गी पैदा करती है। इन विचारों ने न जाने कितने चुनाव के गोरखधंधों को उखाड़कर फेंक दिया। मैंने अपने देशवासियों को पहचाना, मुझे वह भले मालूम दिए, और लाखों निगाहों ने मिलकर मुझे जनता की मनोवृत्ति बताई।

मैं रोज़ ही चुनाव के बारे में तक़रीर करता था, लेकिन दरअस्ल

चुनाव की बातें मेरे दिमाग़ में शायद ही जगह पाती रही हों। वह ऊपर-ऊपर सतह पर तैरती रहती थीं। न मेरा ख़याल सिर्फ़ वोट देने वालों तक ही सीमित था। मैं तो उससे कहीं बड़ी चीज़ के यानी करोड़ों की तादाद में हिन्दुस्तान के लोगों के संपर्क में आ रहा था। मेरे पास देने के लिए जो संदेशा था, वह क्या मर्द या औरत या बच्चा सभी के लिए था—चाहे वह मत-दाता हों चाहे न हों। बहुत बड़ी संख्या में जनता से जो शारीरिक और भावों का संपर्क हो रहा था, उस अनुभव का जोश मुझ पर ग़ालिब था। यह भावना नहीं होती थी कि हम मानो भीड़ में जा पड़े हैं, बहुत लोगों के बीच में अकेले हैं, या भीड़ के ज़ज्बों के बस में हैं। मेरी आंखें इन हज़ारों आंखों से मिलती थीं। हम एक-दूसरे को इस तरह नहीं देखते थे मानो अजनबी हों और पहली बार मिल रहे हों। हम एक दूसरे को पहचान रहे थे, अगर्चे मैं कह नहीं सकता कि यह पहचान किस बात की थी। जब मैं नमस्कार करता था और मेरे सामने मेरी दो हथेलियां जुटतीं तो हाथों का एक जंगल-सा नमस्कार की क्रिया में उठ खड़ा होता था और निजी मित्रता की मुस्कराहट उनके चेहरों पर खेल जाती थी और एकत्रित जनता के कण्ठ से अभिवादन का एक स्वर उठकर मानो मुझे भावुकता से अपने गले लगा लेता था। मैं उनसे बातें करता था। मेरी आवाज़ उन तक वह संदेशा पहुँचाती थी जो मैं उनके लिए लाया था। मुझे यह जानने का कुतूहल होता था कि मेरे लफ़्जों और उनके पीछे जो ख़याल हैं उन्हें वह कहां तक समझ सके हैं। मैं नहीं कह सकता कि जो कुछ मैं कहता था उसे वह समझते थे कि नहीं; लेकिन उनकी आँखों में एक गहरी समझदारी का प्रकाश होता था, जो मुंह से कहे गए शब्दों से कहीं बढ़कर था।

९ : जनता की संस्कृति

इस तरह मैं आज की हिंदुस्तान की जनता का मार्मिक नाटक देखता था, और अक्सर मैं उन धागों का पता लगा पाता था जो कि उनकी जिन्दगी को गुज़रे हुए ज़माने से जोड़ रहे थे, जब कि उनकी निगाहें आने वाले ज़माने की तरफ लगी हुई थीं। मैं पाता था कि तहज़ीब की एक पृष्ठ-भूमि है जो उनकी जिन्दगी पर गहरा असर डाल रही है। यह पृष्ठभूमि साधारण फ़िलसफ़े, परंपरा, इतिहास, पुराण की और कल्पित कथाओं के मेल-जोल से तैयार हुई थी और इन विविध अंगों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। जो लोग बिलकुल अनपढ़ और अशिक्षित थे, उनकी भी यही पृष्ठभूमि थी। अपने पुराने महाकाव्यों, रामायण और महाभारत से, और दूसरी किताबों से, सुगम अनुवादों या संक्षेपों के ज़रिये जनता अच्छी तरह परिचित थी। एक-एक घटना और उपदेश उनके मन में टँके हुए थे

और इस तरह उनके दिमाग़ भरे-पूरे थे । अनपढ़ देहातियों को भी सैकड़ों पद्य ज़बानी याद थे और उनकी बातचीत में इनके या किसी प्राचीन कथा या उपदेश के हवाले आते रहते थे। मुझे इस बात पर अचरज होता था कि गांव के लोग आजकल की साधारण बातों को साहित्यिक पैराया दे देते थे। अगर मेरे दिमाग में लिखे हुए इतिहास और कमोबेश जाने हुए वाक्यों के चित्र भरे हुए थे, तो मैंने अनुभव किया कि अनपढ़ किसान के दिमाग़ में भी एक चित्र-शाला थी; हां, इसका आधार परंपरा, पुराण की कथाएं, और महा-काव्य के नायकों और नायिकाओं के चरित्र थे। इसमें इतिहास कम था, फिर भी चित्र काफ़ी सजीव थे।

मैं उनके जिस्मों और उनकी सूरतों की तरफ देखता और उनके रहने-सहने के ढंग पर ग़ौर करता। उनमें बहुत-सी सूरतें ऐसी थी जो बातों का जल्द असर लेने वाली थीं, उनमें हट्टे-कट्टे, सीधे और साफ अंग वाले लोग मिलते, और औरतों में अदा और लोच तथा शान और सम-तौल होती और बहुत अकसर उनके चेहरों पर उदासी दिखाई पड़ती । आम तौर पर ऊँची जात के लोगों में, जिनकी माली हालत दूसरों के मुक़ाबले मे कुछ अच्छी होती, अच्छे शरीर वाले मिलते। कभी-कभी जब मैं किसी देहाती सड़क या गांव से होकर गुज़रता तो मुझे किसी अच्छे बदन के आदमी को देखकर या रूप वाली स्त्री को देखकर अचरज होता और मुझे पुराने ज़माने के दीवाल पर बने चित्रों की याद हो आती। युगों की कुलफ़त और मुसीबत के बाद भी हिंदुस्तान में आज ऐसे नमूने किस तरह मिल जाते हैं, इस बात पर मुझे हैरत होती। अच्छी हालत में, और अच्छे अवसर मिलने पर यह लोग क्या न कर सकते थे?

ग़रीबी और ग़रीबी से उपजी हुई अनगिनित बातें सभी जगह दिखाई पड़ती थीं, और इसके हैवानी पंजे के निशान हर एक माथे पर लगे हुए थे। ज़िंदगी इस तरह कुचल और मरोड़ दी गई थी कि एक पाप बन गई थी, और दमन और ग़ैर-हिफ़ाज़त की हालत ने बहुतेरी बुराइयाँ पैदा कर दी थीं। यह बातें, देखने में खुशगवार नहीं हो सकती थीं फिर भी हिंदुस्तान में बुनियादी हक़ीक़त यही थी। लोग ज़रूरत से ज़्यादा भाग्य पर भरोसा करते थे और जैसी भी बीतती उसे कुबूल करते थे। साथ ही उनमें एक नर्मी और भलमनसी थी, जो कि हज़ारों साल की तहज़ीब का नतीजा थी, और जिसे सख़्त-से-सख़्त बद-क़िस्मती भी नहीं मिटा पाई थी।

१० : दो जीवन

इस तरह और दूसरे तरीकों से से भी, मैंने क़दीम और आज के हिंदुस्तान के तलाश की कोशिश की। ज़िंदा और गुज़री हुई हस्तियां मुझ में ख़याल और जज़्बे की लहरें पैदा करतीं। उनसे मैं अपने को असर लेने देता। इस न ख़तम

होने वाले जुलूस में मिलकर उससे एक हो जाने की मैंने कोशिश की, गोया कुछ वक्त के लिए मैं भी इस जुलूस के बिलकुल पीछे हो लिया। और उसके साथ-साथ चलता रहा। इसके बाद मैं अपने को अलग कर लेता और जिस तरह कि कोई पहाड़ की चोटी पर खड़ा होकर तलहटी की तरफ झांकता है, उस तरह अलग-अलग होकर मैं इसे देखता।

इस लम्बी यात्रा का मकसद क्या है ? यह न खतम होने वाला जुलूस आखिर हमें कहां तक पहुंचावेगा। कभी-कभी मुझ पर थकान छा जाती और मोह का जादू दूर-सा हो जाता। तब मैं अपने में एक अलहदगी पैदा करके अपनी बचत करता। रफ्ता-रफ्ता मैंने अपने को इसके लिए तैयार कर लिया था और जो भी अपने ऊपर बीते उसे अहमियत देना छोड़ दिया था। या कम-से-कम मैंने ऐसी कोशिश की, और कुछ हद तक उसमें कामयाब भी रहा––गो कि मुझे ज्यादा कामयाबी नहीं मिली। क्योंकि मेरे अन्दर जो एक ज्वालामुखी है, वह सचमुच मुझे अलहदा रहने नहीं दे सकता। अचानक मेरे सब रोक-थाम टूट जाते और मेरी अलहदगी खतम हो जाती।

लेकिन जो अधूरी कामयाबी भी मुझे मिली वह बड़ी मददगार साबित हुई। काम में लगे रहते हुए, बीच-बीच में मैं अपने को उससे अलग करके उस पर ग़ौर करता। कभी-कभी मैं घंटा-दो-घंटा वक्त चुराकर और अपने धंधों को भूलकर दिमाग़ी चुप्पी हासिल करता और एक क्षण के लिए दूसरी ही ज़िन्दगी बिताने लगता। और इस तरह, एक ढंग से, यह दो ज़िन्दगियां साथ-साथ चलतीं, एक दूसरे से जुड़ी हुई और अलग भी।

: ४ :

हिंदुस्तान की खोज

१ : सिंध घाटी की सभ्यता

हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने की सबसे पहली तस्वीर हमें सिंध घाटी की सभ्यता में मिलती है, जिसके पुर-असर खँडहर सिंध मे, मोहन-जो-दड़ो में और पच्छिमी पंजाब में हड़प्पा में मिले हैं। यहां पर जो खुदाइयां हुई है उन्होंने प्राचीन इतिहास के बारे में, हमारे खयालों में इन्क़लाब पैदा कर दिया है। बदक़िस्मती से इन जगहों में खुदाई का काम शुरू होने के चंद साल बाद ही, वह बंद कर दिया गया और पिछले १३-१४ सालों से यहां कोई मार्के का काम नही हुआ। काम बंद किए जाने की वजह शुरू में तो यह थी कि सन् ३० के बाद के कुछ सालों में बड़ी आर्थिक मंदी फैल गई थी। बताया गया कि पैसे की कमी है अगर्चे सल्तनत की शान-शौकत और दिखावे में कभी इस कमी ने रुकावट न डाली। दूसरे लोक-व्यापी युद्ध ने सारा काम ही बंद कर दिया, यहां तक कि जो खुदाई हो चुकी थी उसकी ठीक-ठीक हिफ़ाज़त का भी ध्यान न रखा गया। मैं मोहन-जो-दड़ो दो बार गया हूं—१९३१ में और १९३६ में। अपनी दूसरी यात्रा में मैंने देखा कि बरसात ने और खुश्क रेगिस्तानी हवा ने, बहुत-सी इमारतों को, जिनकी कि खुदाई हो चुकी है, अभी ही नुक़सान पहुँचा दिया है। बालू और मिट्टी के अन्दर पाँच हज़ार बरसों तक हिफ़ाज़त से पड़े रहने के बाद, खुली हवा के असर से वह बड़ी तेज़ी से ज़ाया हो रही थीं, और क़दीम ज़माने के इन मूल्यवान खँडहरों के बचाने की कोई कोशिश नहीं हो रही थी! पुरातत्त्व विभाग के अफ़सर ने, जिसके सिपुर्द यहां की देखरेख थी, शिकायत की कि खुदाई में निकली इमारतों की हिफ़ाज़त के लिए, उसे न मदद या सामान दिया जाता है न पैसे दिए जाते हैं। इन पिछले आठ बरसों में क्या हुआ है, इसकी मुझे जानकारी नहीं लेकिन मेरा खयाल है कि बरबादी जारी रही है और कुछ और सालों में मोहन-जो-दड़ो को अपना रंग-रूप देखने को न मिलेगा।

यह एक ऐसी दुर्घटना है जिसके लिए कोई बहाना नहीं सुना जासकता

और कुछ ऐसी चीजें, जो फिर कभी देखने में आ नहीं सकतीं, मिट गई होंगी। और सिर्फ़ तस्वीरों या बयानों के आधार पर हम जान सकेंगे कि वह क्या थीं।

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं। इन दो जगहों के खँडहरों की खोज एक इत्तिफ़ाक की बात थी। इसमें शक नहीं कि बहुत से ऐसे, मिट्टी में दबे हुए शहर और पुराने ज़माने के आदमियों के कारनामे इन दो जगहों के बीच पड़े होंगे, और यह कि तहज़ीब हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों में, और यक़ीनी तौर पर उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थी। ऐसा वक्त आ सकता है जब कि हिंदुस्तान के क़दीम ज़माने के ऊपर से परदा उठाने का काम फिर हाथ में लिया जाय और मार्के की खोजें हों। अभी ही इस सभ्यता के निशान हमें इतनी दूर फैली हुई जगहों में मिले हैं जैसे पच्छिम में काठियावाड़ और पंजाब में अंबाला ज़िला और ऐसा यक़ीन करने की वजहें हैं कि यह सभ्यता गंगा की चोटी तक फैली हुई थी। इस तरह यह सभ्यता सिंध घाटी की सभ्यता से बढ़कर थी। मोहन-जो-दड़ो में मिले हुए लेख अभी तक ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सके हैं।

लेकिन जो भी हम अब तक जान सके हैं, वह बड़े महत्त्व की बातें हैं। सिंध घाटी की सभ्यता, जैसा भी हम उसे जान सके हैं, एक बड़ी तरक्कीयाफ़्ता थी और उसे इस दर्जे तक पहुँचाने में हज़ारों साल लगे होंगे। यह काफ़ी अचरज की बात है कि यह सभ्यता लौकिक और दुनियवी सभ्यता है और अगर्चे इसमें मज़हबी अंश भी मौजूद थे, वह इस पर हावी न थे। यह भी ज़ाहिर है कि यह सभ्यता हिंदुस्तान के और तहज़ीबी ज़मानों की पूर्व-सूचक थी।

सर जान मार्शल हमे बताते हैं: "मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा इन दोनों जगहों में, एक चीज को साफ़ तौर पर ज़ाहिर होती है और जिसके बारे में कोई धोखा नहीं हो सकता, वह यह है कि इन दोनों जगहों में जो सभ्यता हमारे सामने आई है वह कोई इब्तदाई सभ्यता नहीं है, बल्कि ऐसी है जो उस समय ही युगों पुरानी पड़ चुकी थी, हिंदुस्तान की ज़मीन पर मज़बूत हो चुकी थी और उसके पीछे आदमी का कई हज़ार वर्ष पुराना कारनामा था। इस तरह अब से मानना पड़ेगा कि ईरानी, मेसोपोटामिया और मिश्र की तरह हिंदुस्तान उन सबसे प्रमुख प्रदेशों में एक है, "जहां कि सभ्यता का आरंभ और विकास हुआ था।" और फिर वह कहते हैं कि "पंजाब और सिंध में, अगर हम हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों में भी न मानें, एक बहुत तरक्क़ीयाफ़्ता, और अद्भुत रूप से आपस में मिलती-जुलती हुई सभ्यता का प्रचार था, जो कि उसी ज़माने की मेसोपोटामिया और मिश्र की सभ्यताओं से जुदे होते हुए भी, कुछ बातों में उससे ज़्यादा तरक्को पर थी।"

सिंध घाटी के इन लोगों के, उस ज़माने की सुमेर सभ्यता से बहुत से

संपर्क थे, और इस बात का भी सबूत मिलता है कि अक्काद में हिंदुस्तानियों की, संभवतः व्यापारियों की एक बस्ती थी। "सिंध घाटी के शहरों की बनी हुई चीजें दजला और फरात के बाज़ारों में बिकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ तरीक़े, मेसोपोटामिया के सिंगार के सामान, और एक बेलन के आकार की मुहर की नकल सिंध वालों ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल और विलास की चीज़ों तक महदूद न था। अरब सागर के किनारों से लाई गई मछलियां, मोहन-जो-दड़ो की खाने की चीज़ों में शामिल थीं।"[1]

इतने पुराने ज़माने में भी हिंदुस्तान में रुई कपड़ा बनाने के काम में लाई जाती थी। मार्शल सिंध घाटी की सभ्यता का, समकालीन मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यता से मिलान और मुक़ाबला करते हैं:—"इस तरह, कुछ ख़ास-ख़ास बातें यह हैं कि इस ज़माने में रुई का कपड़ा बनाने के काम में इस्तैमाल, सिर्फ़ हिंदुस्तान में होता था और पच्छिमी दुनिया में २००० या ३००० साल बाद तक यह नहीं फैला। इसके अलावा मिस्र या मेसोपोटामिया या पच्छिमी एशिया में कहीं भी हमें वैसे अच्छे बने हुए हम्माम या कुशादा घर नहीं मिलते, जैसे कि मोहन-जो-दड़ो के शहरी अपने इस्तैमाल में लाते थे। उन मुल्कों में देवताओं के शानदार मंदिरों और राजाओं के लिए महलों और मक़बरों के वनाने पर ज्यादा ध्यान दिया जाता था और धन ख़र्च किया जाता था। लेकिन जान पड़ता है कि जनता को मिट्टी की छोटी झोंपड़ियों से संतोष करना पड़ता था। सिंध घाटी में इससे उल्टी ही तस्वीर दिखाई देती है और अच्छी-से-अच्छी इमारतें वह मिलती हैं जिनमें नागरिक रहा करते थे।" निजी या आम लोगों के लिए खुले हम्मामों का और नालियों के ज़रिये गंदगी निकालने का जो इंतज़ाम हम मोहन-जो-दड़ो में पाते हैं वह अपने ढंग का पहला है जो कहीं भी मिलता है। हमें रहने के दोमंजिले घर भी मिलते हैं जो कि पकी हुई मिट्टी के बने होते थे और जिनमें हम्माम, चौकीदार के घर, और अलग-अलग घरानों के रहने के लिए हिस्से होते थे।

मार्शल से, जो कि सिंध घाटी की सभ्यता के माने हुए विशेषज्ञ हैं और जिन्होंने खुद खुदाई कराई थी, एक और उद्धरण दूंगा। वह कहते हैं—"सिंध घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं, और उन पर एक अपनी ख़ास छाप है। इस ज़माने के दूसरे मुल्कों की हम कोई ऐसी चीज़ नहीं जानते जो शैली के ख़याल से यहां की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या और जानवरों की मूर्त्तियों से मिलती हो, या उन खुदी हुई मुहरों से, ख़ास तौर से जिन पर छोटी सींगों के कूबड़ वाले बैलों की नक़्क़ाशी है, और जो बनाने के कौशल और

---

[1]गार्डन चाइल्ड, "ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्टरी' (पेलिकन बुक्स) पृ. ११२

सुडौलपन की दृष्टि से बेमिसाल हैं। न यही मुमकिन होगा कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी मूर्तियों का मुक़ाबला, बनावट की सुघराई के ख़याल से किन्हीं और मूर्तियों से कर सकें सिवाय इसके कि जब यूनान की सभ्यता के प्रौढ़-काल के कारनामे देखें। ·· सिंध घाटी के लोगों के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती हुई बातें हमें और मुल्कों में मिल सकती हैं, और यह बात सभी पूर्व-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के बारे में सच ठहरेगी। लेकिन सब कुछ लेकर, उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ हिंदुस्तानी है कि आजकल के प्रचलित हिंदू धर्म से उसका भेद मुश्किल से किया जा सकता है।"

इस तरह से हम देखते हैं कि सिंध घाटी की सभ्यता, ईरान, मेसोपोटामिया और मिश्र की उस ज़माने की सभ्यताओं के संपर्क में रही है, इसके और उनके लोगों में आपस में व्यापार होता रहा है और कुछ बातों में यह उनसे बढ़कर रही है। यह एक शहरी सभ्यता थी, जहां के व्यापारी मालदार और असर रखने वाले लोग थे। सड़कों पर दूकानों की क़तारें होतीं, और ऐसी इमारतें, जो कि शायद छोटी-छोटी-दुकानें थीं, आजकल के हिंदुस्तानी बाज़ार जैसी लगती हैं। प्रोफ़ेसर चाइल्ड कहते हैं—"इससे ज़ाहिरा तौर पर यह नतीजा निकलता है कि सिंध के शहरों के कारीगर बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने कोई सिक्कों का चलन और क़ीमतों की माप स्वीकार की थी या नहीं, और अगर की थी तो वह क्या थी, इसका ठीक पता नहीं। बहुत से बड़े और कुशादा मकानों के साथ लगे हुए सुरक्षित गोदामों से पता लगता है कि इन घरों के मालिक लोग सौदागर थे। इन घरों की गिनती और आकार यह बताते हैं कि यहां पर मज़बूत और खुशहाल व्यापारियों की बस्ती थी।" 'इन खंडहरों में सोने, चाँदी, कीमती पत्थरों और चीनी मिट्टी के ज़ेवर, पिटे हुए ताँबे के बरतन, धात के बने औज़ार और हथियार इतनी बहुतायत से मिले हैं कि अचरज होता है।' चाइल्ड साहब यह भी कहते हैं कि 'गलियों की सुंदर तरतीब और नालियों की बहुत बढ़िया व्यवस्था, और उनकी बराबर सफ़ाई इस बात का संकेत देते हैं कि यहां कोई नियमित शहरी हुकूमत थी और वह अपना काम मुस्तैदी से करती थी। इसकी अमलदारी इतनी काफ़ी मज़बूत थी कि बाढ़ों की वजह से बार-बार बनी इमारतों की तैयारी के वक़्त भी नगर-निर्माण के और सड़कों की क़तारों के क़ायम रखने के नियमों का पालन होता था।"[१]

सिंध घाटी की सभ्यता और आज के हिंदुस्तान के बीच की बहुत-सी कड़ियां ग़ायब हैं और ऐसे ज़माने गुज़रे हैं जिनके बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। एक ज़माने को दूसरे ज़माने से जोड़ने वाली कड़ियां अक-

---

[१]गार्डन चाइल्ड, 'ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्टरी", पृ० ११३–११४

सर ज़ाहिर भी नहीं हैं और इस बाबत जाने कितनी घटनाएं घटी हैं और कितनी तब्दीलियां हुई हैं। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि एक सिलसिला क़ायम रहा है और एक साबित ज़ंजीर है जो आज के हिंदुस्तान को उस छः-सात हज़ार साल पुराने ज़माने से, जब कि सिंध घाटी की सभ्यता शायद शुरू हुई थी, बाँध रही है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की कितनी चीज़ें हमें चली आती हुई परंपरा की, रहन-सहन की, लोगों के पूजा-पाठ, कारीगर, यहां तक कि पोशाक के ढंगों की याद दिलाती रहती हैं, इस पर अचरज होता है। इन में से बहुत-सी बातों ने पच्छिमी एशिया पर प्रभाव डाला था।

यह एक दिलचस्प बात है कि हिंदुस्तान की कहानी के इस उषा-काल मे हम उसे एक नन्हे बच्चे के रूप में नहीं देखते हैं, बल्कि इस वक़्त भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था। वह ज़िंदगी के तरीक़ों से अनजान नही है, वह किसी धुंधली और न हासिल होने वाली दूसरी दुनिया के सपनों में खोया हुआ नहीं है; बल्कि उसने ज़िंदगी की कला में, रहन-सहन के साधनों में काफ़ी तरक़्क़ी कर ली है, और न महज़ सुंदर चीजों की रचना की है, बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगी और ख़ास चिह्नों—अच्छे हम्मामों और नालियों—को भी तैयार किया है।

२ : आर्यों का आना

सिंध घाटी की सभ्यता वाले यह लोग कौन थे और कहां से आए थे, इसका हमें अब तक पता नहीं है। यह बहुत मुमकिन, बल्कि संभावित है कि इनकी संस्कृति इसी देश की संस्कृति थी, और उसकी जड़ें और शाखाएं दक्खिन हिंदुस्तान तक में मिलती हैं। कुछ विद्वान् इन लोगों में और दक्खिन हिंदुस्तान के द्राविड़ों में, क़ौम और संस्कृति की ख़ास तौर पर समानता पाते हैं। और अगर बहुत क़दीम वक़्त में हिंदुस्तान में बाहरी लोग आए थे तो इसकी तारीख़ मोहन-जो-दड़ो से हज़ारों बरस पुरानी है। व्यवहार के विचार से हम उन्हें हिंदुस्तान के ही निवासी मान सकते हैं।

सिंध घाटी की सभ्यता का क्या हुआ और वह कैसे ख़तम हो गई? कुछ लोगों का कहना है (और इनमें गार्डन चाइल्ड भी हैं) कि इसका अंत अचानक और किसी ऐसी दुर्घटना के कारण हुआ जिसको बताया नहीं जा सकता। सिंध नदी अपनी बहुत बड़ी बाढ़ों के लिए मशहूर है, जो शहरों और गांवों को बहा ले जाती रही हैं। या बदलती हुई आब-व-हवा के कारण धीरे-धीरे ज़मीन ख़ुश्क हो गई हो और खेतों के ऊपर बालू छा गया हो। मोहन-जो-दड़ो के खंडहर ख़ुद इस बात का सबूत हैं कि शहर पर तह-की-तह बालू जमता रहा है, जिसकी वजह से शहरियों को मजबूर होकर पुरानी नीवों पर और

ऊँची सतहों पर इमारतें बनवानी पड़ी हैं। जिन मकानों की खुदाइयां हुई हैं उनमें से कुछ ऐसे हैं कि दुमंज़ले या तिमंज़ले जान पड़ते हैं, असलियत यह है कि ज़मीन की सतह ज्यों-ज्यों ऊपर उठती गई त्यों-त्यों वह अपनी दीवारें उठाते गए। हम जानते हैं कि क़दीम ज़माने में सिंध का सूबा बड़ा उपजाऊ और हरा-भरा था, लेकिन मध्य-काल के बाद से यह ज़्यादातर रेगिस्तान ही रहा है।

इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि मौसमी तब्दीलियों का उस प्रदेश के लोगों और उनके रहन-सहन पर गहरा असर पड़ा हो। लेकिन यह असर रफ़्ता-रफ़्ता ही पड़ा होगा, अचानक दुर्घटना के रूप में नहीं और हर हालत में इस दूर तक फैली हुई शहरी सभ्यता के एक टुकड़े पर ही मौसम का यह असर पड़ा होगा, क्योंकि हमारे पास इस बात के विश्वास करने के कारण हैं कि यह सभ्यता बराबर गंगा की घाटी तक, और संभवतः उससे भी आगे तक फैली हुई थी। सच बात तो यह है कि ठीक-ठीक फ़ैसला करने के लिए हमारे पास काफ़ी सबूत नहीं हैं। इन क़दीम शहरों में से कुछ तो शायद बालू से घिरकर उसी में दब गए और बालू ने उनको मिटने से बचाया; और दूसरे शहर और सभ्यता के चिह्न धीरे-धीरे नष्ट होते रहे और ज़माने के साथ ज़ाया हो गये। शायद आगे की पुरातत्त्व की खोजों से ऐसी कड़ियों का पता चले जो इस युग को बाद के युगों से जोड़ती हों।

जहां एक तरफ़ इस बात का आभास होता है कि सिंध की सभ्यता का अटूट सिलसिला बाद के वक़्तों से बना रहा, वहां दूसरी तरफ़ इस सिलसिले के टूटने और बीच में खाई पड़ जाने का अनुमान होता है और यह खाई न केवल समय का अंतर बताती है बल्कि यह भी कि जो सभ्यता बाद में आई वह एक दूसरे प्रकार की थी। पहली बात तो यह है कि अगर्चे शहर तब भी थे और किसी-न-किसी प्रकार का शहरी जीवन भी था फिर भी यह बाद की सभ्यता पहले के मुकाबले में ज़्यादा ज़राअती, खेतिहरों की सभ्यता थी। हो सकता है कि खेती पर खास तौर पर जोर डाला हो उन लोगों ने जो बाद में आए, यानी आर्यों ने, जो कई गिरोहों में पच्छिमोत्तर से हिंदुस्तान में उतरे।

यह खयाल किया जाता है कि आर्यों का यहां आना, सिंध घाटी की सभ्यता के एक हज़ार साल बाद हुआ, लेकिन यह भी मुमकिन है कि वक़्त की इतनी बड़ी खाई दोनों के बीच न रही हो और जातियां और क़बीले पच्छिमोत्तर से बराबर थोड़े-थोड़े समय बाद आकर रहे हों, जैसा कि वह बाद में आए, और आने पर हिंदुस्तान में घुल-मिल जाते रहे हों। हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों का पहला बड़ा समन्वय और मेल-जोल आने वाले आर्यों और द्राविड़ों में, जो कि संभवतः सिंध घाटी की सभ्यता के प्रतिनिधि थे, हुआ। इस समन्वय

और मेल-जोल से हिंदुस्तान की जातियां बनीं और एक बुनियादी हिंदुस्तानी संस्कृति तैयार हुई जिसमें दोनों के अंश थे। बाद के युगों में और बहुत-सी जातियां आती रहीं, जैसे ईरानी, यूनानी, पार्थियन, बैक्ट्रियन, सिदियन, हूण, तुर्क, (इस्लाम से पहले के), क़दीम ईसाई, यहूदी, और पारसी। यह सभी लोग आए, इन्होंने अपना प्रभाव डाला और बाद में यहां के लोगों में घुल-मिल गए। डाडवेल के कहने के अनुसार, हिंदुस्तान में 'समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति थी।' यह कुछ अजब-सी बात जान पड़ती है कि हिंदुस्तान में, जहां कि ऐसी वर्ण-व्यवस्था है और अलग बने रहने की भावना है, विदेशी जातियों और संस्कृतियों को जज़्ब कर लेने की इतनी समाई रही हो। शायद यही वजह है कि उसने अपनी जीवनी-शक्ति क़ायम रखी है और समय-समय पर वह अपना काया-कल्प करता रहा है। जब मुसलमान यहां आए तो उन पर भी उसका असर पड़ा। विंसेंट स्मिथ का कहना है कि "विदेशी (मुसलमान तुर्क) अपने पूर्वजों, शकों और युई-ची, की तरह हिंदू धर्म की समोख लेने की अद्भुत शक्ति के वश में हुए और तेज़ी के साथ उनमें 'हिंदूपन' आगया।"

३ : हिंदूधर्म क्या है ?

इस उद्धरण में विंसेंट स्मिथ ने "हिंदूधर्म" और "हिंदूपन" शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी समझ में इन शब्दों का इस तरह इस्तैमाल करना ठीक नहीं। अगर इनका इस्तैमाल हिंदुस्तानी तहज़ीब के विस्तृत मानी में किया जाय तो दूसरी बात है। आज इन शब्दों का इस्तैमाल, जब कि यह बहुत संकुचित अर्थ में लिए जाते हैं और इनसे एक ख़ास मज़हब का ख़याल होता है, ग़लत-फ़हमी पैदा कर सकता है। हमारे पुराने साहित्य में तो हिंदू शब्द कहीं आता ही नहीं। मुझे बताया गया है कि इस शब्द का हवाला हमें जो किसी हिंदुस्तानी पुस्तक में मिलता है वह है आठवीं सदी ईस्वी के एक तांत्रिक ग्रंथ में, और वहां हिंदू का मतलब किसी ख़ास धर्म से नहीं बल्कि ख़ास लोगों से है। लेकिन यह ज़ाहिर है कि यह लफ़्ज़ बहुत पुराना है और अवेस्ता में और पुरानी फ़ारसी में आता है। उस समय, और उस समय से हज़ार साल बाद तक पच्छिमी और मध्य एशिया के लोग इस लफ़्ज़ का इस्तैमाल हिंदुस्तान के लिए, बल्कि सिंधु नदी के इस पार बसने वाले लोगों के लिए करते थे। यह लफ़्ज़ साफ़-साफ़ 'सिंधु' से निकला है और यह 'इंडस' का पुराना और नया नाम है। इस 'सिंधु' शब्द से हिंदू और हिंदुस्तान बने हैं और 'इंडोस' और 'इंडिया' भी। मशहूर चीनी यात्री इत्-सिग ने, जो कि हिंदुस्तान में सातवीं सदी ईस्वी में आया था, अपनी यात्रा के बयान में लिखा है कि 'उत्तर की जातियां', यानी मध्य एशिया के लोग हिंदुस्तान को हिंदू (सीन्-तु) कहते हैं, लेकिन उसने यह भी लिखा है कि "यह आम नाम नहीं है...हिंदुस्तान का सबसे मुनासिब नाम

आर्य देश है।" एक खास मज़हब के माने में 'हिंदू' शब्द का इस्तैमाल बहुत बाद का है।

हिंदुस्तान में मज़हब के लिए पुराना व्यापक शब्द 'आर्य धर्म' था। दर-अस्ल धर्म का अर्थ मज़हब या 'रेलिजन' से ज़्यादा विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई है उसके मानी हैं एक साथ पकड़ना। यह किसी वस्तु की भीतरी प्रकृति, उसके आंतरिक जीवन के विधान के अर्थ में आता है। इसके अंदर नैतिक विधान, सदाचार और आदमी की सारी ज़िम्मेदारियां और कर्त्तव्य आजाते हैं। आर्यधर्म के भीतर वह सभी मत आजाते हैं जिनका आरंभ हिंदुस्तान में हुआ है, वह मत चाहे वैदिक हों चाहे अ-वैदिक। इसका व्यवहार बौद्धों और जैनों ने भी किया है और उन लोगों ने भी जो वेदों को मानते हैं। बुद्ध अपने बनाए मोक्ष के मार्ग को हमेशा 'आर्य मार्ग' कहते थे।

पुराने ज़माने में 'वैदिक धर्म' शब्दों का इस्तैमाल खास तौर पर उन दर्शनों, नैतिक शिक्षाओं, कर्म-कांड और व्यवहारों के लिए होता था, जिनके बारे में समझा जाता था कि वे वेद पर अवलंबित हैं। इस तरह से, वह सभी लोग जो कि वेदों को आम तौर पर प्रमाण मानते थे, वैदिक धर्म वाले कहलाए।

सभी क़दीम हिंदुस्तानी मतों के लिए—और इनमें बुद्धमत और जैन-मत भी शामिल हैं—'सनातन धर्म' यानी प्राचीन धर्म का प्रयोग हो सकता है, लेकिन इस पर आजकल हिंदुओं के कुछ कट्टर दलों ने एकाधिकार कर रखा है, जिनका दावा है कि वह इस प्राचीन मत के अनुयायी हैं।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म यक़ीनी तौर पर हिंदू धर्म नहीं है और न वैदिक धर्म ही हैं। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिंदुस्तान में ही हुई और यह हिंदुस्तानी ज़िंदगी, तहज़ीब और फ़िलसफ़े के अंग हैं। हिंदुस्तान में बौद्ध और जैनी, हिंदुस्तानी विचार-धारा और संस्कृति की सौ फ़ी सदी उपज हैं, फिर भी इनमें से कोई भी मत के ख़याल से हिंदू नहीं है। इसलिए हिंदुस्तानी संस्कृति को हिंदू संस्कृति कहना एक सरासर ग़लतफ़हमी फैलाने वाली बात है। बाद के वक़्तों में, इस संस्कृति पर इस्लाम के संपर्क का बड़ा असर पड़ा, लेकिन यह फिर भी बुनियादी तौर पर और साफ़-साफ़ हिंदुस्तानी ही बनी रही। आज यह सैकड़ों तरीकों पर पच्छिम की व्यावसायिक सभ्यता के ज़ोरदार असर का अनुभव कर रही है, और यह ठीक-ठीक बता सकना मुश्किल है कि इसका क्या नतीजा होकर रहेगा।

हिंदू धर्म जहां तक कि वह एक मत है, अस्पष्ट है, इसकी कोई निश्चित रूपरेखा नहीं; इसके कई पहलू हैं और ऐसा है कि जो चाहे इसे जिस तरह का मान ले। इसकी परिभाषा दे सकना या निश्चित रूप में कह सकना कि साधारण अर्थ में यह एक मत है, कठिन है। अपनी मौजूदा शक्ल में, बल्कि

बीते हुए जमाने में भी इसके भीतर बहुत से विश्वास और कर्मकांड आ मिले हैं, ऊँचे-से-ऊँचे और गिरे-से-गिरे, और अकसर इनमें आपस का विरोध भी मिलता है। इसकी मुख्य भावना यह जान पड़ती है कि, अपने को ज़िंदा रखो और दूसरों को भी जीने दो। महात्मा गांधी ने इसकी परिभाषा देने की कोशिश की है : "अगर मुझ से हिंदूमत की परिभाषा देने को कहा जाय तो मैं सिर्फ़ यह कहूंगा कि 'यह अहिंसात्मक साधनों से सत्य की खोज है ।' आदमी चाहे ईश्वर में विश्वास न रक्खे फिर भी वह अपने को हिंदू कह सकता है। हिंदूधर्म सत्य की अनथक खोज है...हिंदूधर्म सत्य को मानने वाला धर्म है । सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।" गांधी जी इसे सत्य और अहिंसा बताते हैं, लेकिन बहुत से प्रमुख लोग, जिनके हिंदू होने में कोई संदेह नहीं, यह कहते हैं कि अहिंसा जैसा उसे गांधी जी समझते हैं—हिंदूमत का आवश्यक अंग नहीं हैं। तो फिर हिंदूमत का अकेला सूचक चिह्न सत्य रह जाता है। जाहिर है यह कोई परिभाषा न हुई।

इसलिए 'हिंदू' और 'हिंदू धर्म' शब्दों का हिंदुस्तानी संस्कृति के लिए इस्तेमाल किया जाना न तो शुद्ध है और न मुनासिब ही है चाहे इन्हें हम बहुत पुराने ज़माने के हवाले में ही क्यों न इस्तेमाल कर रहे हों, अगर्चे बहुत से विचार, जो कि प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित हैं इस संस्कृति के उद्‌गार हैं। और आज तो इन शब्दों का इस अर्थ में इस्तेमाल किया जाना और भी ग़लत है। जब तक कि पुराने विश्वास और फ़िलसफ़े सिर्फ़ ज़िंदगी के एक मार्ग और संसार को देखने के एक रुख़ के रूप में थे तब तक तो वह अधिकतर हिंदुस्तानी संस्कृति का पर्याय हो सकते थे। लेकिन जब एक ज्यादा पाबंदी वाले मज़हब का विकास हुआ, जिसके साथ न जाने कितने विधि-विधान और कर्म-कांड लगे हुए थे तब यह उससे कुछ आगे बढ़ी हुई चीज़ थी और साथ ही उस मिली-जुली संस्कृति के मुक़ाबले में घटकर भी थी। एक ईसाई या मुसलमान अपने का हिंदुस्तानी ज़िंदगी और संस्कृति के मुताबिक ढाल सकता था और अकसर ढाल लेता था, और साथ ही जहां तक मज़हब का ताल्लुक़ है वह कट्टर ईसाई या मुसलमान बना रहता था। उसने अपने को हिंदुस्तानी बना लिया था और बिना अपना मज़हब बदले हुए हिंदुस्तानी बन गया था।

'हिंदुस्तानी' के लिए ठीक शब्द 'हिन्दी' होगा, चाहे हम उसे मुल्क के लिए, चाहे संस्कृति के लिए और चाहे अपनी भिन्न परंपराओं के तारीख़ी सिलसिले के लिए इस्तेमाल करें। यह लफ़्ज़ हिंद से बना है, जो कि हिंदुस्तान का छोटा रूप है। अब भी हिंदुस्तान के लिए हिंद शब्द का आम तौर पर प्रयोग होता है। पच्छिमी एशिया के मुल्कों में, ईरान और टर्की में, ईराक़, अफ़ग़ा-

निस्तान, मिस्र और दूसरी जगहों में हिंदुस्तान के लिए बराबर हिंद शब्द का इस्तेमाल किया जाता है और इन सभी जगहों में हिंदुस्तानी को 'हिंदी' कहते हैं। 'हिंदी' का मजहब से कोई संबंध नहीं और हिंदुस्तानी मुसलमान और ईसाई उसी तरह से 'हिंदी' हैं जिस तरह कि एक हिंदू मत का मानने वाला। अमरीका के लोग, जो कि सभी हिंदुस्तानियों को हिंदू कहते हैं, बहुत गलती नहीं करते। अगर वह 'हिंदी' शब्द का प्रयोग करें तो उनका प्रयोग बिल्कुल ठीक होगा। दुर्भाग्य से 'हिंदी' शब्द, हिंदुस्तान में, एक खास लिपि के लिए इस्तेमाल होने लगा है—यह भी संस्कृत की देवनागरी लिपि के लिए—इसलिए इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थ में इस्तेमाल करना कठिन हो गया है। शायद जब आजकल के मुबाहसे खतम हो लें तो हम फिर इस शब्द का इस्तेमाल उसके मौलिक अर्थ में कर सकें और वह ज्यादा संतोषजनक होगा। आज हिंदुस्तान के रहने वाले के लिए 'हिंदुस्तानी' शब्द का इस्तेमाल होता है और जाहिर है कि वह हिंदुस्तान से बनाया गया है, लेकिन बोलने में यह बड़ा है और इसके साथ वह ऐतिहासिक और सांस्कृतिक खयाल नहीं जुड़े हुए हैं जो कि 'हिंदी' के साथ जुड़े हैं। निश्चय ही, प्राचीन काल की हिंदुस्तान की संस्कृति के लिए 'हिंदुस्तानी' लफ़्ज का इस्तेमाल अटपटा जान पड़ेगा।

अपनी सांस्कृतिक परंपरा के लिए हम हिन्दी या हिन्दुस्तानी जो भी इस्तेमाल करें, हम यह देखेंगे कि पुराने ज़माने में समन्वय के लिए यहां एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी तहज़ीब और कौम के विकास का आधार, खास कर हिंदुस्तान का, फ़िलसफ़ियाना रुख रहा है। विदेशी तत्त्वों के हमले इस संस्कृति पर हुए हैं और वह इनके लिए चुनौती की तरह रहे हैं। उनका सामना इसने हरबार एक नए समन्वय के ज़रिये, उन्हें अपने में जज्ब करके किया है। इस तरीके से उसका काया-कल्प भी होता रहा है और अगर्चे पृष्ठ-भूमि वही रही है और बुनियादी बातों में कोई खास तब्दीली नहीं हुई है, इस समन्वय के कारण संस्कृति के नए-नए फूल खिले हैं। सी० ई० एम्० जोड ने इसके बारे में लिखा है:—"इसकी वजह जो कुछ भी हो, वाक़या यह है कि हिंदुस्तान की दुनिया को खास देन यह रही है कि उसने विचारों और कौमों के जुदा-जुदा तत्त्वों के समन्वय की ओर विभिन्नता से एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।"

४ : सब से पुराने लेख : धर्म ग्रंथ और पुराण

सिन्ध घाटी की सभ्यता की खोज से पहले यह खयाल किया जाता था कि हिंदुस्तानी संस्कृति के सब से पुराने प्रमाण-लेख जो हमें मिले हैं, वह वेद हैं। वेदों के काल-निर्णय के बारे में बड़ा मत-भेद रहा है, यूरोपीय विद्वान इसे इधर खींचते रहे हैं और हिंदुस्तानी विद्वान और पीछे ले जाते रहे हैं। यह

एक विचित्र बात है कि अपनी पुरानी संस्कृति को महत्त्व देने के लिए हिंदुस्तानी उसे ज्यादा-से-ज्यादा पुरानी साबित करने की कोशिश में रहे हैं। प्रोफेसर विंटरनीज़ का ख़याल है कि वैदिक साहित्य का आरंभ ईसा से २०००, बल्कि २५०० वर्ष पहले होता है। यह हमें मोहन-जो-दड़ो के ज़माने के बहुत नज़दीक पहुंचा देता है।

आज के ज़्यादातर विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के सम्बन्ध में जो प्रमाण माने हैं वह उसे ईसा से १५०० वर्ष पुराना बताते हैं, लेकिन मोहन-जो-दड़ो की खुदाई के बाद इन धर्म-ग्रंथों को और पुराना साबित करने की तरफ रुझान रहा है। इस साहित्य की ठीक तिथि जो भी हो, यह संभावित है कि यह यूनान या इसराइल के इतिहास से पुराना है और सच बात तो यह है कि मनुष्य-मात्र के दिमाग़ की सब से पुरानी कृतियों में है। मैक्समूलर ने कहा है कि "आर्य जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया यह पहला शब्द है।"

वेद आर्यों के उस समय के भावोद्गार हैं जब कि वह हिंदुस्तान की हरी-भरी भूमि पर आए। वह अपने कुल के विचारों को अपने साथ लाए, उस कुल के जिसने कि ईरान में "अवेस्ता" की रचना की, और हिंदुस्तान की ज़मीन पर उन्होंने अपने विचारों को विस्तार दिया। वेदों की भाषा भी अवेस्ता की भाषा से अद्भुत रूप में मिलती-जुलती है और यह बताया जाता है कि वेद अवेस्ता के जितना नज़दीक हैं उतना ख़ुद इस देश के महाकाव्यों की संस्कृत के नज़दीक नहीं हैं।

हम मुख़्तलिफ़ मज़हबों की मज़हबी किताबों को किस नज़र से देखें, जब कि इन मज़हब वालों का यह ख़याल है कि इनका ज्यादातर हिस्सा दैवी-प्रेरणा से प्राप्त हुआ है या नाज़िल हुआ है? अगर हम उनकी जाँच-पड़ताल या नुक्ताचीनी करते हैं और उन्हें आदमियों की रची हुई चीज़ें बताते हैं तो कट्टर मज़हबी लोग अकसर इससे बुरा मानते हैं। फिर भी, उन पर विचार करने का कोई दूसरा तरीक़ा नहीं है।

मैंने मज़हबी किताबों के पढ़ने में हमेशा संकोच किया है। उनके बारे में जो इस तरह के दावे किए जाते हैं कि इनमें आख़िरी बातें लिख दी गई हैं मुझे पसंद नहीं आते। इन मज़हबों को लोग जैसा बरतते हैं, इसके बारे में जो ऊपरी शहादतें मेरे सामने आई हैं, उन्होंने मुझे उनके मूल आधारों तक पहुंचने का उत्साह नहीं दिलाया है। ताहम मुझे इन किताबों तक भटक कर पहुँचना पड़ा है, इसलिए कि ग़ैरजानकारी ख़ुद कोई गुण नहीं है और अकसर एक ख़ामी साबित होती है। मैं जानता रहा हूँ कि इनमें से कुछ ने इंसान पर गहरा असर डाला है, और जिस चीज़ का ऐसा असर पड़ सकता है उस में कोई भीतरी गुण और शक्ति, ताक़त का कोई ज़िंदा सर-चश्मा ज़रूर है। उनके बहुत

से अंशों को पढ़ने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई है, क्योंकि बारहा कोशिश करने पर भी मैं अपने में काफ़ी दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका हूँ; साथ ही ऐसे टुकड़े भी मिले हैं जिनकी निपट सुंदरता ने मुझे मोह लिया है। और उस वक़्त ऐसा हुआ है किसी जुम्ले ने या जुम्ले के एक टुकड़े ने अचानक मुझ में बिजली पैदा कर दी है कि और मुझे यह अनुभव हुआ है कि मेरे सामने सचमुच बहुत ही बड़ी चीज़ है। बुद्ध या मसीह के कुछ शब्द अपने गहरे अर्थ के साथ मुझ पर रोशन हो गए हैं और मुझे ऐसा जान पड़ा है कि आज भी वह उसी तरह लागू हैं जिस तरह कि वह २००० या उससे ज़्यादा साल पहले लागू थे। उनमें एक बेबस कर देने वाली सचाई है, एव ऐसी टिकाऊ बात है जिसे कि देश और काल छू नहीं सकते। ऐसा ही ख़याल मुझे सुक़रात का हाल या चीनी फ़िल-सूफ़ों की रचनाओं को पढ़ कर हुआ है और उपनिषदों और भगवद्गीता को पढ़-कर भी। मुझे अध्यात्म और कर्मकांड की व्याख्या और बहुत-सी और बातों में, जिनका कि उन मसलों से कोई ताल्लुक़ नहीं जो कि मेरे सामने हैं, दिलचस्पी नहीं रही है। मैंने जो कुछ पढ़ा, शायद उसके बहुत ज़्यादा हिस्सों का भीतरी अभिप्राय में समझ नहीं सका और कभी-कभी दोबारा पढ़ने पर ज़्यादा प्रकाश मिला है। गूढ़ अंशों को समझने की दर असल मैंने ख़ास कोशिश नहीं की और जिन हिस्सों की मैं अपने लिए कोई अहमियत नहीं समझता था उन्हें छोड़ जाता रहा हूं। न मुझे लंबी टीकाओं और शरहों में दिलचस्पी रही है। मैं इन किताबों को, या किन्हीं किताबों को ईश्वर-वाक्य की तरह नहीं मान सका हूं, ऐसा कि बिना चूं-चरा के उनके एक-एक लफ़्ज़ को क़बूल कर लिया जाय। दर-अस्ल उनके मुताल्लिक़ ईश्वर वाक्य होने के दावे का आमतौर पर यह नतीजा हुआ कि उनमें लिखी बातों के ख़िलाफ़ मेरे दिमाग़ ने ज़िद पकड़ ली है। उनकी तरफ़ मेरा ज़्यादा खिचाव तब होता है और उनसे मैं ज़्यादा फ़ायदा तब हासिल कर सकता हूं जब कि मैं उन्हें आदमियों की रचनाएं समझूं, ऐसे आद-मियों की, जो बड़े ज्ञानी और दूरदर्शी हो गए हैं, लेकिन जो हैं साधारण नश्वर मनुष्य, न कि अवतार या ईश्वर की तरफ़ से बोलने वाले लोग, क्योंकि ईश्वर की कोई जानकारी या उसके बारे में निश्चय मुझे नहीं है।

मुझे इस बात में हमेशा ज़्यादा शान और भव्यता जान पड़ी है कि एक इंसान, दिमाग़ी और रूहानी हैसियत से बलंदी पर पहुँचे और दूसरों को भी उठाने की कोशिश करे, न कि इसमें कि वह किसी बड़ी शक्ति या ईश्वर की तरफ़ से बोलने वाला बने। धर्मों के कुछ संस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गए हैं—लेकिन अगर उनका ख़याल आदमियों की शक़ल में न करूं तो उनकी सारी शान मेरी नज़र में जाती रहती है। जिस बात का मुझ पर असर होता है और जिससे मेरे दिल में उम्मीद बँधती है, वह यह है कि आदमी के दिमाग़

और उसकी रूह ने तरक़्क़ी हासिल करली है न यह कि वह एक पैग़ाम लाने वाला एलची बन गया है।

पुराण की गाथाओं का भी मुझ पर कुछ ऐसा ही असर पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं तो यह बिल्कुल बेतुकी और हँसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो वह एक नई ही रोशनी में दिखाई पड़ने लगती हैं, उनमें एक नया सौंदर्य जान पड़ता है, ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊँची कल्पना ने अचरज भरे फूल खिलाए हैं और इनमें आदमी के शिक्षा लेने की बहुत-सी बातें हैं। यूनान के देवी-देवताओं की कहानियों में अब कोई विश्वास नहीं करता, इसलिए बिना किसी कठिनाई के हम उनकी तारीफ़ कर सकते हैं, वह हमारे मानसिक दाय का अंग बन गई हैं। लेकिन अगर हमें उनमें यक़ीन करना पड़े तो हम पर कितना बोझ आ पड़ेगा, और विश्वास के इस बोझ से दब कर हम अकसर उनका सौंदर्य खो देंगे। हिंदुस्तान की पुराण-गाथाएं कहीं ज़्यादा और भरी-पूरी हैं, और बड़ी ही सुंदर और अर्थ-भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बात पर अचरज किया है कि वे आदमी और औरतें, जिन्होंने कि ऐसे सजीव सपनों और सुंदर कल्पनाओं को रूप दिया है, कैसे रहे होंगे, और विचार और कल्पना की किस सोने की खान में से उन्होंने खोद कर ऐसी चीज़ें निकाली होंगी।

धर्म-ग्रंथों को आदमी के दिमाग़ की उपज मानते हुए हमें याद रखना चाहिए कि किस युग में वह रचे गए हैं, किस फ़िज़ा और मानसिक वातावरण ने उन्हें जन्म दिया है, और समय और विचार और अनुभव का कितना अंतर उनमें और हम में है। हमें कर्मकांड और धर्म-संबंधी रस्मों की भूल को भुला देना चाहिए और उस सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए जिसमें उनका विकास हुआ है। इंसानी ज़िंदगी के बहुत से मसले एक दायमी हैसियत रखते हैं, उनमें नित्यता की एक पुट है और यही कारण है कि इन प्राचीन पुस्तकों में हमारी दिलचस्पी बनी हुई है। लेकिन और भी मसले रहे हैं, जो किसी ख़ास युग तक महदूद रहे हैं और उनमें हमारे लिए ज़िंदा दिलचस्पी की कोई बात नहीं रही है।

५ : वेद

बहुत से हिंदू वेदों को श्रुति ग्रंथ मानते हैं। यह मुझे ख़ास तौर पर एक दुर्भाग्य की बात मालूम पड़ती है, क्योंकि इस तरह हम उनके सच्चे महत्त्व को खो बैठते हैं। वह यह है कि विचार की शुरू की अवस्था में, आदमी के दिमाग़ ने अपने को किस रूप में प्रकट किया था। और वह कैसा अद्भुत दिमाग़ था। वेद शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से है जिसका अर्थ जानना है, और वेदों

का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उनमें बहुत सी चीज़ें मिली-जुली हैं : स्तुतियां हैं, प्रार्थनाएं हैं, यज्ञ की विधि है, जादू टोना है, और बड़ी-ऊँची प्रकृति संबंधी कविता है। उनमें मूर्ति पूजा नहीं है, देवताओं के मंदिरों की चर्चा नहीं है। जो जीवनी शक्ति और ज़िंदगी के लिए इकरार उनमें समाया हुआ है, वह ग़ैर-मामूली है। शुरू के वैदिक आर्य लोगों में ज़िंदगी के लिए इतनी उमंग थी कि वह आत्मा के सवाल पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते थे। एक अस्पष्ट तरीक़े से उन्हें इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।

रफ़्ता-रफ़्ता ईश्वर की कल्पना पैदा होती है; उस तरह के देवता लोग मिलते हैं जैसे कि ओलंपिया (यूनान) में होते थे। उसके अनंतर एकेश्वरवाद आता है और फिर इसी से मिला-जुला हुआ अद्वैतवाद। विचार उन्हें अद्भुत प्रदेशों में पहुँचाता है और प्रकृति के रहस्यों पर ग़ौर किया जाता है और इस तरह जांच करने की भावना उठती है। इस तरह के विकास में सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं और जब हम वेद के अंत, वेदांत तक पहुँचते हैं तब हमें उपनिषदों का दर्शन या फ़िलसफ़ा मिलता है।

पहला वेद, ऋग्वेद, शायद मनुष्य मात्र की पहली पुस्तक है। इसमें हमें इंसानी दिमाग़ के सब से पहले उद्गार मिलते हैं, काव्य की छटा मिलती है और मिलती है प्रकृति की सुंदरता और रहस्य पर आनंद की भावना। इन प्राचीन ऋचाओं में, जैसा कि डाक्टर मैकनिकोल कहते हैं, हमें शुरुआत मिलती है "उन लोगों के साहसी कारनामों की, जिन्होंने कि हमारी दुनिया के, और उसमें रहने वाले मनुष्य के, जीवन के महत्त्व की खोज करने की कोशिशें कीं, और जो इतने दिन हुए की गईं और यहां अंकित हैं—यहां से हिंदुस्तान एक खोज पर निकला है और उसकी यह खोज अब तक जारी है।"

लेकिन ख़ुद ऋग्वेद के पीछे विचार और सभ्यता के जीवन के कई युग रहे हैं जिनमें कि सिंध घाटी की, मेसोपोटामिया की और दूसरी तहज़ीबें पनपीं थीं। इसलिए यह मुनासिब ही है कि ऋग्वेद में "अपने पूर्वजों, ऋषियों और पहले के मार्ग प्रदर्शकों" के नाम पर किया गया समर्पण मिलता है।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने इन ऋचाओं के बारे में कहा है कि "ज़िंदगी के अचरज और भय की तरफ़, एक जन-समाज की मिली-जुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरंभ में ही एक ज़ोरदार और अछूती कल्पना वाले लोग जीवन के अपार रहस्य को भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास द्वारा उन्होंने हरेक तत्त्व में, प्रकृति की हर एक शक्ति में देवत्व देखा। उनका जीवन आनंदमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनकी ज़िंदगी में एक टोना पैदा कर दिया था। मन में एक जाति-

गत विश्वास था जिस पर विश्व की द्वंद्वमयी विविधता के चिंतन का बोझ नहीं पड़ा था, यद्यपि उस पर जब-तब सहज अनुभव का प्रकाश इस रूप में पड़ा था कि "सत्य एक है, (यद्यपि) विप्र उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।"

लेकिन चिंतन की यह भावना धीरे-धीरे आती गई; यहां तक कि वेद का रचयिता यही पुकार उठा कि, "हे धर्म, हमें विश्वास प्रदान करो" और उसने "सृष्टि का गीत" नामक ऋचा में, जिसे कि मैक्समूलर ने "अज्ञात ईश्वर के प्रति" शीर्षक दिया है, गहरे सवाल उठाए हैं :

१. तब न सत् था न असत् : न वायु मंडल था और न उसके परे आकाश था। क्या और कहां व्याप्त था ? और किसने आश्रय दिया ? क्या वहां जल था, अथाह जल ?

२. तब न मृत्यु थी न कोई अमर था : न दिन और रात को विभाजित करने का कोई निशान था।
वही एक श्वास-रहित, अपनी प्रकृति द्वारा सांस लेता था : उसको छोड़ कर और कुछ नहीं था।

३. वहां अंधकार था : पहले अंधकार में छिपी हुई घोर अस्तव्यस्तता थी। उस समय जो कुछ था वह शून्य और निराकार था : तेज की शक्ति से उस इकाई का जन्म हुआ।

४. उसके बाद आरंभ में इच्छा उत्पन्न हुई, इच्छा जो कि आत्मा का बीज है।
ऋषियों ने अपने हृदय में विचारा तो पाया कि सत् का संबंध असत् से है।

५. अलग करने वाली रेखा आरपार फैली : उसके ऊपर क्या था, और क्या उसके नीचे था ?
जन्म देने वाले थे, महान शक्तियां थीं; स्वतंत्र कर्म था यहां, और उधर क्रिया-शक्ति थी।

६. कौन वास्तव में जानता है और कौन कह सकता है कि इसका जन्म कहां हुआ और यह सृष्टि कहां से आई ?
इस पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद देवता हुए, इसलिए कौन कह सकता है कि कब इसकी सृष्टि हुई ?

७. वह इस सृष्टि का आदि पुरुष है, चाहे उसने इस सब को बनाया हो चाहे नहीं।
जिसकी दृष्टि इस पृथ्वी पर सब से ऊँचे आकाश से शासन करती है; वही वास्तव में जानता है, या शायद वह भी नहीं जानता।[1]

[1]'एव्रीमैन लाइब्रेरी में प्रकाशित 'हिंदू स्क्रिप्चर्स' में प्रकाशित अनुवाद के आधार पर।

६ : ज़िंदगी से इक़रार और इन्कार

इन धुंधली शुरुआतों से हिंदुस्तानी विचार और फ़िलसफ़े, हिंदुस्तानी जीवन और संस्कृति और साहित्य की नदियां निकलती हैं, और फैलती और गहरी होती हुई, कभी-कभी सैलाबों से धरती पर उपजाऊ मिट्टी बिखेरती हुई, आगे बढ़ती हैं। इन सालहो-साल में उन्होंने कभी अपने रास्ते पलटे हैं, कभी सिकुड़ कर पतली भी पड़ गई हैं, लेकिन उन्होंने अपने ख़ास निशान क़ायम रक्खे हैं। अगर उनमें ज़िंदगी की एक मज़बूत तहरीक न रही होती तो वह ऐसा न कर पातीं। इस क़ायम रहने की शक्ति को हमेशा एक बरकत न समझना चाहिए; इसके यह भी मानी हो सकते हैं, जैसा कि हिंदुस्तान में मेरी समझ में बहुत दिनों से होता रहा है, कि उनमें गतिहीनता आगई है और सड़ांध पैदा हो गई है। लेकिन यह एक बड़ा वाक़या है जिसे कि हम नज़र-अंदाज़ नहीं कर सकते, ख़ासकर इन दिनों में, जब कि हम निरंतर लड़ाइयों और संकटों के कारण एक ख़ुद-दार और तरक़्क़ी-याफ़्ता तहज़ीब की जड़ खुदती हुई देखते हैं। हम उम्मीद करते हैं कि लड़ाई की इस कुठाली से, जिसमें न जाने कितनी चीज़ें पिघल रही हैं, क्या पच्छिम में और क्या पूरब में, कुछ उम्दा वस्तु तैयार होकर निकलेगी, जो बड़े इंसानी हासिलातों को क़ायम रखते हुए, उनमें उन तत्त्वों को भी जोड़ेगी, जिनकी कि कमी रही है। लेकिन न महज़ माली पूंजी और इंसानी ज़िंदगी बल्कि उन ख़ास मूल्यों का, जो कि इस ज़िंदगी को सार्थक करती हैं, बारबार और इतने बड़े पैमाने पर नाश होना ऐसी बात है जो ध्यान देने की है। बावजूद उस तरक़्क़ी के जो मुख़्तलिफ़ दिशाओं में हुई है, और उसकी वजह से जो ऊंचे मान क़ायम हुए हैं, जिनकी कि पिछले युगों में कल्पना भी नहीं हुई थी, क्या हमारी मौजूदा तिजारती तहज़ीब में कोई सार-भूत तत्त्व नहीं रहे हैं, और उसके अपने विनाश के बीज उसके भीतर मौजूद रहे हैं ?

जब कोई मुल्क विदेशी हुकूमत में रहता है तो वह अपनी मौजूदा हालत के ख़याल से बचने के लिए गुज़रे हुए ज़माने के सपनों से अपने को बहलाता है, और उसे अपनी पुरानी बड़ाई की कल्पना से शांति मिलती है। यह एक बेवक़ूफ़ी का और ख़तरनाक दिल-बहलाव है जिसमें हम में से ज़्यादातर लोग लगे रहते हैं। इतनी ही क़ाबिल-एतराज़ आदत हम लोगों की हिंदुस्तान में यह है कि हम ख़याल करते हैं कि अगर्चे दुनियावी बातों में हम पस्ती पर पहुँच चुके हैं, रूहानी तौर पर हम अब भी बड़े हैं। आज़ादी और तरक़्क़ी के मौक़ों को खोकर और फ़ाक़ाकशी और दुख की नींव पर हम रूहानी या किसी तरह की इमारत नहीं खड़ी कर सकते। बहुत से पच्छिमी मुल्कों के लिखने वालों ने इस ख़याल को बढ़ावा दिया है कि हिंदुस्तान के लोग ग़ैर-दुनियावी हैं। मैं

समझता हूं कि सभी मुल्कों में ग़रीब और बदक़िस्मत लोग ग़ैर-दुनियावी होते हैं –यह दूसरी बात है कि वह बग़ावती बन बैठें—क्योंकि यह दुनिया उनके लिए नहीं है। यही हालत ग़ुलाम मुल्क के लोगों की होती है।

ज्यों-ज्यों आदमी बड़ा होकर सयाना होता है त्यों-त्यों माद्दी दुनिया या वस्तु जगत से उसका संतोष हटता जाता है और वह उसमें पूरी तरह उलझने से बचता है। वह दिमाग़ी और रूहानी तसकीन चाहता है, उसे भीतरी अर्थ की तलाश होती है। यही बात सभ्यताओं और लोगों पर भी लागू होती हैं। ज्यों-ज्यों वह बढ़कर सयाने होते हैं, हर एक सभ्यता में और हर एक जाति में, अंदरूनी ज़िंदगी और बाहरी ज़िंदगी की यह साथ-साथ चलने वाली धाराएं मिलेंगी। जब यह धाराएं एक-दूसरे से मिल जाती हैं या नजदीक रहती हैं तब सम-तौल और पायदारी रहती है, जब यह एक-दूसरे से दूर होजाती हैं तब कशमकश पैदा होती है और ऐसे संकट सामने आते हैं जो दिमाग़ और रूह को तकलीफ़ पहुँचाते हैं।

ऋग्वेद की ऋचाओं के ज़माने से हम ज़िंदगी और विचार की दोनों धाराओं का विकास बराबर देखते है। शुरू की ऋचाओं में बाहरी दुनिया की बातें भरी पड़ी हैं; प्रकृति की सुंदरता और रहस्य, और जीवन के आनंद का वर्णन है और जीवन-बल भर-पूर देखने को मिलता है। देवी-देवता, ऑलिंपस (यूनान) के देवी-देवताओं की तरह मनुष्यों जैसे हैं; ऐसा ख़याल किया जाता है कि वह अपनी जगहों से उतर कर आदमियों और औरतों के बीच हिलते-मिलते हैं और दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। इसके बाद विचार आता है और खोज की भावना उपजती है और इस लोक से परे जो लोक है, उसका रहस्य गहराई पकड़ता है। ज़िंदगी अब भी भरी-पूरी बनी रहती है, लेकिन बाहरी रूपों की तरफ़ से मुड़ने की प्रवृत्ति भी आ जाती है, और ज्यों-ज्यों आंखें अदृश्य चीज़ों की तरफ़ टिकती हैं—उन चीज़ों की तरफ़ जिन्हें कि साधारण तरीक़े से देखा या सुना या अनुभव नहीं किया जा सकता, त्यों-त्यों इन सबसे अलहदगी का भाव बढ़ता जाता है। इन सबका मकसद क्या हैं? क्या इस विश्व का कोई उद्देश्य है? और अगर है, तो आदमी की ज़िंदगी की इससे हमाहंगी कैसे हो सकती है? क्या हम देखी और अनदेखी दुनिया के बीच एक मधुर संबंध पैदा कर सकते हैं और इस तरह ज़िंदगी में इख़लाक का सही ढंग ढूंढ़ निकाल सकते हैं?

इसलिए हम पाते हैं कि हिंदुस्तान में, इसी तरह जिस तरह कि और जगहों में, विचार और काम की यह दो धाराएं—एक जो कि ज़िंदगी से इक़रार करती है, और दूसरी जो उससे बच निकलना चाहती है—साथ-ही-साथ विकसित होती है; हां, मुख़्तलिफ़ जमानों में, कभी एक और कभी दूसरेपर ज़्यादा

ज़ोर दिया गया है। ताहम इस संस्कृति की बुनियाद पृष्ठभूमि ग़ैर-दुनियावी या इस दुनिया को हेच समझने वाली नहीं थी। उस वक़्त भी, जबकि फ़िलसफ़े की भाषा में, यह इस विषय पर बहस करती थी कि दुनिया माया है, यह खयाल कोई क़तई खयाल न होता था, बल्कि आखिरी असलियत के रिश्ते में इसे ऐसा समझा जाता था (यह अफ़लातून की बताई हुई असलियत की परछाईं जैसी चीज़ थी); और यह संस्कृति दुनिया को उसकी मौजूदा सूरत में ग्रहण करती था और ज़िंदगी और उसकी बहुतेरी सुंदरताओं का लुत्फ़ लेना चाहती थी। शायद सेमटिक संस्कृति,—अगर हम उससे निकलने वाले अनेक मज़हबों की मिसालें लें, (और खास तौर पर पुराने ईसाई मत की)—कहीं ज़्यादा ग़ैर-दुनियावी रही है। टी० ई० लारेंस का कहना है कि "सेमेटिक मज़हबों की आम बुनियाद में (इन मज़हबों की चाहे हार हुई हो चाहे जीत) हमेशा इस बात का खयाल रहा है कि दुनिया हेच है।" और इसका नतीजा यह हुआ है कि कभी तो लोग मौज उड़ाने की तरफ़ झुके हैं और कभी आत्म-त्याग की तरफ़।

हम पाते हैं कि हिंदुस्तान में, हर ज़माने में जब कि उसकी संस्कृति ने फूल खिलाए हैं, लोगों ने ज़िंदगी और प्रकृति में गहरा रस लिया है, जीने की क्रिया में ही उन्होंने आनंद का अनुभव किया है, साहित्य, संगीत और कला का विकास हुआ है, गाने, नाचने, चित्रकला और नाटकों में उनकी दिलचस्पी रही है; यहां तक कि यौनिक संबंधों के बारे में बड़ी पेचीदा क़िस्म की जांचें हुई हैं। इस बात का क़यास नहीं किया जा सकता कि एक ऐसी तहज़ीब या ज़िंदगी का ऐसा नज़रिया जिसकी बुनियाद में ग़ैर-दुनियादारी हो या जो ज़िंदगी को हेच समझता हो, इस तरह के त्रिविध और ज़ोरदार विकास का बानी होगा। दर-असल, इसे ज़ाहिर होना चाहिए कि कोई भी तहज़ीब जो बुनियादी तौरपर ग़ैर-दुनियावी हो हज़ारों साल तक अपने को क़ायम नहीं रख सकती।

फिर भी कुछ लोगों का खयाल है कि हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति, ज़िंदगी से इन्कार करने के सिद्धांत के सूचक हैं, ज़िंदगी से इक़रार के सिद्धांत के नहीं। मेरा खयाल है कि दोनों ही सिद्धांत, कमोबेश, सभी पुरानी संस्कृतियों और पुराने धर्मों में मौजूद हैं। लेकिन मैं तो इस नतीजे पर पहुंचूंगा कि सब-कुछ देखते हुए, हिंदुस्तानी संस्कृति ने ज़िंदगी से इन्कार करने पर कभी ज़ोर नहीं दिया है, अगर्चे यहां के कुछ फ़िलसफ़ों ने ऐसा ज़रूर किया है। बल्कि ईसाई मज़हब के मुकाबले में इसने ज़िंदगी से जो इन्कार किया है, वह बहुत कम है। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म ने अलबत्ता ज़िंदगी से अलग रहने पर कुछ ज़ोर दिया है, और हिंदुस्तान के इतिहास के कुछ ज़मानों में एक बड़े पैमाने पर ज़िंदगी से दूर रहने की प्रवृत्ति रही है, मिसाल के लिए उस वक्त जब कि बहुत ज़्यादा शुमार में लोग बौद्ध विहारों या मठों में शामिल हुए हैं। इसकी क्या वजह

थी, मैं नहीं जानता। इसी तरह की, बल्कि इससे भी बढ़ी हुई मिसालें हमें यूरोप के मध्य युग में मिल सकती हैं, जब कि इस तरह का यक़ीन फैला हुआ था कि दुनिया का ख़ात्मा होने वाला है। शायद त्याग के और ज़िंदगी से इंकार करने के ख़याल लोगों में उस वक़्त पैदा होते हैं जब कि राजनैतिक या आर्थिक मायूसी का उन्हें सामना करना पड़ता है।

बौद्ध धर्म, बावजूद अपने उसूली नज़रिये के—बल्कि नज़रियों के, क्योंकि कई नज़रिये हैं—दरअस्ल इंतिहाई सूरतों से अपने को बचाता है; यह तो बीच के रास्ते के सिद्धांत का माननेवाला है। यहां तक कि 'निर्वाण' के बारे में जो ख़याल है वह भी ऐसा नहीं कि उसे एक तरह की शून्यता समझे, जैसा कि कभी-कभी समझा जाता है। यह एक निश्चित स्थिति है, लेकिन चूंकि यह इंसान के विचारों से परे की वस्तु है इसलिए इसके वर्णन में नकारात्मक शब्द इस्तेमाल किए गए हैं। अगर बौद्ध धर्म, जो कि हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति का उपज का एक नमूना है, एक नकारात्मक या ज़िंदगी से इन्कार करने वाला सिद्धांत होता, तो ज़रूर ही उसका इस तरह का असर उन करोड़ों लोगों पर पड़ा होता, जो कि उसके मानने वाले हैं। लेकिन, दरअसल, बौद्ध मज़हब वाले मुल्कों में हमें इसके ख़िलाफ़ सबूत मिलते हैं, और चीनी लोग इस बात की जीती-जागती मिसाल हैं कि ज़िंदगी से इक़रार करना किसे कहते हैं।

जान पड़ता है कि यह ग़लतफ़हमी भी इस वजह से पैदा हुई है कि हिंदुस्तानी विचार-धारा हमेशा ज़िंदगी के आख़िरी मक़सद पर ज़ोर देती रही है। इसकी बनावट में जो आधिभौतिक अंश रहा है, उसे यह कभी नहीं भुला सकी है। और इसलिए, ज़िंदगी से पूरी तौर पर इक़रार करते हुए भी, इसने ज़िंदगी का शिकार या गुलाम बनने से इन्कार किया है। इसने कहा है कि सही कामों में अपनी पूरी ताक़त और शक्ति के साथ ज़रूर लगिए, लेकिन अपने को उससे ऊपर रखिए और अपने कामों के नतीजों के बारे में ज़्यादा चिंता न कीजिए। इस तरह पर इसने ज़िंदगी और काम में लगे रहते हुए भी एक अलहदगी अख़्तियार करना सिखाया है। इसने काम से मुंह मोड़ना नहीं सिखाया। अलहदगी या विरक्त रहने का ख़याल हिंदुस्तानी विचार और फ़िलसफ़े में समाया हुआ है, उसी तरह जैसा कि और बहुत से दूसरे फ़िलसफ़ों में यह मिलता है। यह इस बात के कहने का सिर्फ़ एक दूसरा तरीक़ा है कि दृश्य और अदृश्य जगत के बीच एक सम-तौल और तवाज़ुन क़ायम रखना चाहिए, क्योंकि दृश्य जगत के कामों में अगर बहुत मोह पैदा हो जाता है तो दूसरी दुनिया भुला दी जाती है या ओझल हो जाती है और तब ख़ुद कामों के पीछे कोई आख़िरी मक़सद नहीं रह जाता।

हिंदुस्तानी दिमाग़ की इन शुरू की उड़ानों में सचाई पर ज़ोर दिया

गया है, उस पर भरोसा और उसके लिए उत्साह दिखाया गया है। हठवाद या इलहाम को उन लोगों के लिए छोड़ दिया गया है जो, मुक़ाबले में, छोटा दिमाग़ रखनेवाले हैं, और जो इनसे ऊपर उठ नहीं सकते। वह प्रयोग के ज़रिये, जिसकी नींव निजी अनुभव पर होती, सत्य की खोज करना चाहते थे। यह अनुभव, जब कि इसका ताल्लुक़ अदृश्य जगत् से होता, तो सभी भावुक या आत्मिक अनुभवों की तरह, दृश्य जगत् के अनुभवों से मुख़्तलिफ़ होता। तीन परिणामों की इस दुनिया से परे, किसी दूसरी ही और बड़ी दुनिया में यह जा पहुंचता और उसे तीन परिणाम वाले शब्दों में बता सकना कठिन होता। यह अनुभव क्या था, कोई दिव्य-दर्शन था, या सत्य और अस्लियत के किसी पहलू को पहचान लेना था, या महज़ ख़्वाब व ख़याल था, मैं कह नहीं सकता। संभव है कि अकसर यह आत्म-मोह रहा हो। जिस बात में मुझे दिलचस्पी है, वह यह है कि इस खोज का तरीक़ा कैसा था। यह हठवादी या कही हुई बात को मान लेने का ढंग नहीं था, बल्कि ज़िंदगी के बाहरी दिखावों के पीछे जो अस्लियत है, उसे खोज निकालने की ज़ाती कोशिश थी।

इसे याद रखना चाहिए कि हिंदुस्तान में फ़िलसफ़ा कुछ इने-गिने फ़िलसूफ़ों या विचारकों का मैदान नहीं था। आम लोगों के मज़हब का यह एक लाज़िमी अंश था, और चाहे जितने घुले हुए रूप में क्यों न हो यह भिदकर उन तक पहुंचता था और इसने उनमें एक फ़िलसफ़िआना नज़रिया पैदा कर दिया था, जो कि हिंदुस्तान में क़रीब-क़रीब उतना ही आम था जितना कि यह चान में है। कुछ लोगों के लिए तो इस फ़िलसफ़े ने एक गहरी और पेचीदा कोशिश की शकल अख़्तियार कर ली थी, जो कि यह जानना चाहती थी कि सभी दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं के पीछे कौन से कारण और नियम काम कर रहे हैं, ज़िंदगी का आख़िरी मक़सद क्या है, ज़िंदगी में जो बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातें दिखाई पड़ती हैं उनमें कोई भीतरी एकता है या नहीं। लेकिन आम लोगों के लिए यह एक ज़्यादा सादा मामला था। फिर भी इसने उन्हें ज़िंदगी के मक़सद का, कार्य-कारण का, कुछ ज्ञान दिया और उनमें ऐसी हिम्मत पैदा की कि वह कठिनाइयों और बदनसीबियों का सामना कर सकें और अपना शांति और ख़ुशी को न खो बैठें। टैगौर ने डाक्टर ताई-ची-ताओ को लिखा था कि चीन और हिंदुस्तान का पुराना ज्ञान, 'ताओ' यानी सच्चा रास्ता, पूर्णता की खोज है और ज़िंदगी के अनेक कामों का जीवन के आनंद से मेल है। इस ज्ञान के कुछ हिस्से ने अनपढ़ और मूर्ख जनता पर भी अपनी छाप डाली है और हमने देखा है कि सात साल के भयानक युद्ध के बाद भी चीनी लोगों ने अपने विश्वास के लंगर को खोया नहीं है और न अपने दिमाग़ की ख़ुशी में फ़रक आने दिया है। हिंदुस्तान में हमारी मुसीबतें और भी

लंबी रही हैं और ग़रीबी और हद दर्जे की विपत्ति हमारे यहां के लोगों के अभिन्न साथी रही हैं। फिर भी वह हँस लेते हैं और गाते हैं और नाचते हैं और उम्मीद नहीं खो बैठे हैं।

७ : समन्वय और समझौता : वर्ण-व्यवस्था का आरंभ

आर्यों के हिंदुस्तान में आने ने नए मसले खड़े किए, जो क़ौमी और राजनीति के, दोनों ही थे। हारी हुई जाति, यानी द्रविडों के पीछे सभ्यता की एक लंबी पृष्ठभूमि थी, लेकिन इसमें ज़रा भी शक नहीं कि आर्य लोग अपने को उनसे बहुत ही ऊँचा समझते थे, और दोनों के बीच एक चौड़ी खाई थी। फिर कुछ पिछड़ी हुई क़दीम जातियां भी थीं जो कि या तो जंगलों में रहा करती थीं या खाना-बदोश थीं। जातियों के इस कशमकश और आपस की प्रतिक्रिया से ही वर्ण-व्यवस्था की शुरुआत हुई और बाद की सदियों में इसने हिंदुस्तानियों की ज़िंदगी पर बड़ा गहरा असर डाला। शायद यह न आर्यों की चीज़ थी न द्रविडों की। यह जुदा-जुदा जातियों को एक सामाजिक संगठन के अंदर ले आने की कोशिश थी; उस वक्त के जो भी हालात थे उन्हें एक संगत रूप देने का प्रयास था। बाद में इसकी वजह से बड़ी पस्ती आई और आज भी यह एक बोझ और शाप के रूप में मौजूद है। लेकिन बाद की कसौटियों और विकास के आधार पर इसके बारे में फ़ैसला करना मुनासिब न होगा। यह व्यवस्था उस ज़माने के विचारों के अनुरूप थी और कुछ इस तरह के दर्जे सभी क़दीम तहज़ीबों में हम पावेंगे, सिवाय चीन के जो ज़ाहिर तौर पर इससे बचा हुआ था। आर्यों की दूसरी शाख में, यानी ईरानियों के यहां, सासानी ज़माने में चार दर्जे किए गए थे लेकिन इन्होंने बिगड़ कर जातों की शकल नहीं ली। बहुत-सी पुरानी तहज़ीबें—जिनमें यूनानी भी एक है—आम लोगों की ग़ुलामी के बल पर बनी थीं। हिंदुस्तान में मज़दूर की ग़ुलामी इतने बड़े पैमाने पर नहीं थी, अगर्चे एक थोड़ी तादाद में घरेलू ग़ुलाम यहां भी थे। अफलातून ने अपनी 'रिपब्लिक' पुस्तक में चार ख़ास वर्णों के ढंग के दर्जों का चर्चा किया है। मध्य युग के कैथलिक देशों में भी इस तरह का भेद मौजूद था।

जात या वर्ण का आरंभ आर्यों और अनार्यों के भेद से हुआ। अनार्यों में भी दो भेद थे, एक तो द्रविड़ जातियां थीं; दूसरे यहां की कदीम जातियाँ थीं। शुरू में आर्यों में सिर्फ़ एक वर्ग था और धंधों का शायद ही बटवारा रहा हो। आर्य शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी धातु से है जिसका अर्थ 'धरती का जोतना' है। और सभी आर्य खेतिहर थे, खेती एक क़ाबिल-क़द्र पेशा समझा जाता था। धरती के जोतने वाले पुरोहित, सिपाही, व्यापारी सभी होते, और पुरोहितों को कोई विशेष हक़ नहीं हासिल थे। वर्ण-भेद, जिसका मक़सद आर्यों को अनार्यों से जुदा करना था, अब अपना यह असर लाया कि ख़ुद आर्यों ने, ज्यों-ज्यों धंधे

बढ़े और इनका आपस में बटवारा हुआ, त्यों-त्यों नए वर्गों ने वर्ण या जात की शकल ले ली।

इस तरह, ऐसे ज़माने में जब कि फ़तह करने वालों का यह क़ायदा था कि हारे हुए लोगों को या तो ग़ुलाम बना लेते थे, या उन्हें बिल्कुल मिटा देते थे, वर्ण-व्यवस्था ने एक शांति वाला हल पेश किया और बढ़ते हुए धंधों के बटवारे की ज़रूरत ने इसमें मदद पहुँचाई। समाज में दर्जे क़ायम हो गए; किसान जनता में से वैश्य बने, जिनमें, किसान, कारीगर और व्यापारी लोग थे; क्षत्रिय हुए, जो कि हुकूमत करते थे या युद्ध करते थे; ब्राह्मण बने, जो कि पुरोहिती करते थे, विचारक थे जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वह जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्णों से नीचे शूद्र थे जो कि मज़दूरी करते थे और ऐसे धंधे करते थे जिनमें खास जानकारी की ज़रूरत नहीं होती और जो कि किसानों से अलग थे। क़दीम बाशिंदों में से भी बहुत से इस समाज में मिला लिए गए और उन्हें शूद्रों के साथ इस समाजी व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया। यह मिला लेने का काम बराबर जारी रहा। इस वर्ण-विभाजन में अदला-बदली होती रही और सख्ती के साथ तो भेद बाद में क़ायम हुए। शायद हुकूमत करने वाले वर्ण को हमेशा बड़ी आज़ादी रही, और कोई भी शख्स, जो लड़कर या दूसरी तरह ताक़त अपने हाथ में कर लेता था, वह अगर चाहे तो क्षत्रियों में शरीक हो सकता था, और पुरोहितों के ज़रिये अपनी वंशावली तैयार करा सकता था जिसमें कि उसका ताल्लुक़ किसी प्राचीन आर्य शूर-वीर से दिखा दिया जाता।

आर्य शब्द का रफ़्ता-रफ़्ता कोई जातीय अभिप्राय न रह गया और इसके मानी 'कुलीन' के हो गए। इसी तरह अनार्य के मानी यह हुए कि जो कुलीन न हो, और यह शब्द आम तौर पर जंगल में रहने वालों और खानाबदोश जातियों के लिए इस्तेमाल में आता।

हिंदुस्तानियों में विश्लेषण करने की एक अद्भुत बुद्धि रही है और इसने न केवल विचारों बल्कि ज़िंदगी के कामों को अलग-अलग टुकड़ों में बाँटने के लिए उत्साह दिखाया है। आर्यों ने समाज को तो चार ख़ास हिस्सों में बाँटा ही, शख्सी ज़िंदगी का भी इसने चार टुकड़ों या अवस्थाओं में बटवारा किया है: पहली अवस्था ब्रह्मचर्य की है, जब कि आदमी बढ़ कर युवा होता है, विद्या सीखता है, ज्ञान हासिल करता है और आत्म-संयम का अभ्यास करता है; दूसरी अवस्था गृहस्थ की है, जब कि वह दुनियादारी में लगता है। तीसरी अवस्था बड़े-बूढ़े व्यवहार-कुशल वानप्रस्थ की है, जिसमें कि उसने तटस्थता और सम-तौल हासिल कर लिया है और अपने को समाज-सेवा के कामों में, बिना निजी लाभ की इच्छा के, लगा सकता है; आखिरी अवस्था संन्यास की

है, जिसमें वह दुनिया से बिलकुल अलग-थलग हो जाता है और दुनिया के धंधों को छोड़ देता है। इस तरह से आर्यों ने, आदमी में साथ-साथ रहने वाली दो विरोधी प्रवृत्तियों में भी समझौता क़ायम किया—यानी उस प्रवृत्ति में जो कि ज़िंदगी से इक़रार करती है और उसमें जो ज़िंदगी से इन्कार करती है।

जिस तरह चीन में हुआ है, उसी तरह हिंदुस्तान में विद्या और क़ाबलियत की हमेशा लोगों ने बड़ी क़द्र की है, और विद्या का अभिप्राय ऊँचे क़िस्म के ज्ञान के साथ-साथ सदाचार से रहा है। विद्वानों के सामने हुकूमत करने वालों और योद्धाओं ने सदा सिर झुकाया है। पुराना हिंदुस्तानी सिद्धांत यह रहा है कि जिनके हाथ में ताक़त है वह पूरे-पूरे ढंग से कभी तटस्थ नहीं हो सकते। उनकी निजी दिलचस्पियों और प्रवृत्तियों का आम लोगों की जानिब जो उनके फ़र्ज़ हैं उनसे संघर्ष पैदा होगा। इससे मूल्यों के ठीक-ठीक आँकने के लिए और नीति के आदर्शों की रक्षा के लिए विचारकों के एक वर्ग को जो कि आर्थिक चिंताओं और जहां तक हो सके तरफ़दारी से दूर रहें और ज़िंदगी के मसलों पर अलहदगी के साथ ग़ौर कर सकें, चुना गया। इस प्रकार विचारकों और फ़िलसूफ़ों के वर्ग ने समाज के संगठन में सब से ऊँचा दर्जा पाया और सब लोग इसका आदर और मान करते थे। इसके बाद काम के मैदान के लोग थे। यानी हुकूमत करने वाले और लड़ाइयों में हिस्सा लेने वाले, लेकिन इनकी चाहे जैसी ताक़त रही हो इन्हें वह इज़्ज़त नहीं हासिल थी जो कि पहले वर्ग के लोगों को थी। इससे भी कम क़द्र थी दौलतमंदों की। युद्ध करने वाले वर्ग को बहुत ऊँचा रुतबा मिला था; अगर्चे यह सब से ऊपर का वर्ग नहीं था। इस बात में हमारी स्थिति चीन से जुदा थी, जहां कि इस वर्ग को हिक़ारत से देखा जाता था।

यह एक उसूली बात थी, और कुछ हद तक, यह और जगहों में भी मिलती है। मिसाल के लिए मध्य युग के यूरोप की ईसाई रियासतों को ले लीजिए, जब कि रोम के पादरियों के हाथ में सभी रूहानी, इखलाकी और नैतिक मामलों की नकेल थी, यहां तक कि रियासत के कार-बार के बुनियादी आम उसूलों की भी। अमली तौर पर रोम के पादरियों की गहरी दिलचस्पी दुनियवी ताक़त में पैदा हो गई थी और मज़हब के खास पुरोहित लोग खुद हाकिम बने हुए थे। हिंदुस्तान में, ब्राह्मण वर्ग ने, विचारकों और फ़िलसूफ़ों का पेश करने के अलावा खुद ताक़त हासिल कर ली थी, इस तरह अपने को सुरक्षित करके, पुरोहितों ने अपनी जायदादों की हिफ़ाज़त की ठान ली थी। लेकिन यह सिद्धांत, मुख्तलिफ़ हद तक हिंदुस्तानी ज़िंदगी पर गहरा असर डालता रहा और आदर्श हमेशा यह रहा कि विद्वान् और दयावान्, भले और

संयमी, और दूसरों के लिए आत्म-त्याग करने वालों की इज़्ज़त की जाय। ब्राह्मण वर्ग में, गुज़रे ज़माने में, अधिकारी जमाअत की सभी बुराइयां रही हैं और इसमें से बहुतेरे न क़ाबिल हुए हैं न नेक। फिर भी आम लोगों में उनकी इज़्ज़त बनी रही है, इसलिए नहीं कि उनके पास दौलत इकट्ठा हो गई थी, बल्कि इसलिए कि उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहुत से क़ाबिल लोगों को पैदा किया था, जिन्होंने अपने त्याग द्वारा आम लोगों की और समाज की सेवाएं की थीं। अपने ख़ास-ख़ास लोगों के कारनामों से पूरे वर्ग ने हर युग में फ़ायदा उठाया है, लेकिन आम लोगों ने इज़्ज़त की है गुणों की न कि पदों की। परंपरा यह रही है कि भलाई और विद्या की इज़्ज़त हो, वह चाहे जिस शख्स में हों। बहुत-सी मिसालें हैं इस बात की कि ग़ैर-ब्राह्मणों की, यहां तक कि दलित वर्ग के लोगों की इतनी इज़्ज़त की गई है कि उन्हें संतों का रुतबा तक दिया गया है। सरकारी पद और फ़ौजी शक्ति की उतनी इज़्ज़त नहीं की गई है, इनका भय चाहे लोगों ने माना हो।

आज भी, इस पैसों के युग में, इस परंपरा का असर साफ़ तौर पर दिखाई देता है, और इसी की वजह से गांधीजी (जो कि ब्राह्मण नहीं हैं) आज हिंदुस्तान के सब से बड़े नेता बन गये हैं और बिना किसी सरकारी पद के या धन के ज़ोर के, आज करोड़ों दिलों पर उनका सिक्का जमा हुआ है। शायद एक क़ौम की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और चेतन या अचेतन उद्देश्य की यह एक अच्छी कसौटी है, यानी किस तरह के नेता को वह क़बूल करती है।

पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता, या भारतीय आर्य-संस्कृति में धर्म का ख़याल एक मरकज़ी ख़याल था। और धर्म के मानी मत या मज़हब से कुछ ज़्यादा थे। इसमें दूसरों के जानिब अपने फ़र्ज़ की अदायगी का भी विचार रहा है। यह धर्म खुद 'ऋत' का अंग था, यानी उस बुनियादी नैतिक क़ानून का, जिसके अंतर्गत सारा विश्व, और उसकी सभी चीज़ें हैं। अगर इस तरह रहना-सहना चाहिए कि उसकी इससे हमाहंगी क़ायम रहे। अगर आदमी अपने फ़र्ज़ों को अदा करता है और सदाचार की दृष्टि से उसके काम ठीक हैं तो लाज़िमी तौर पर नतीजे उनके ठीक होंगे। हक़ों पर ज़ोर नहीं दिया जाता था। यह कुछ हद तक सभी जगह पुराना नज़रिया रहा है। इस ज़माने मे जो शख्शी गिरोहों और क़ौमों के हक़ों पर ज़ोर दिया जाता है वह इससे ज़ाहिर तौर पर बहुत ख़िलाफ़ जान पड़ता है।

८ : हिंदुस्तानी संस्कृति का अटूट सिलसिला

इस तरह, शुरू-शुरू के दिनों में, हम एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का आरंभ देखते हैं, जो बाद के युगों में बहुत फली-फूली और पनपी और जो बावजूद बहुत-सी तब्दीलियों के बराबर क़ायम रही। बुनियादी आदर्श और

मुख्य विचार अपना रूप ग्रहण करते हैं और साहित्य और फ़िलसफ़ा, कला और नाटक और ज़िंदगी के और धंधे इन आदर्शों से और लोकमत से प्रभावित होते हैं जो बाद में उगकर बढ़ते ही रहे और आजकल की वर्ण व्यवस्था के रूप में उन्होंने सारे समाज और सभी चीज़ों को जकड़ लिया। यह व्यवस्था एक ख़ास युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें सम-तौल पैदा करना था, लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और इंसानी दिमाग़ के लिए क़ैदघर बन गई। आख़िरकार तरक़्क़ी के दामों हिफ़ाज़त ख़रीदी गई।

फिर भी बहुत दिनों तक यह व्यवस्था क़ायम रही, और सभी दिशाओं में तरक़्क़ी करने की प्रेरणा इतनी ज़ोरदार थी कि उस व्यवस्था के चौखटे के भीतर भी यह सारे हिंदुस्तान में और पूर्वी समुद्रों तक फैली और इसकी पाय-दारी ऐसी थी कि यह हमलों के धक्के बार-बार सहकर भी ज़िंदा रही। प्रोफ़ेसर मैकडानेल अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में हमें बताते हैं कि "हिंदुस्तानी साहित्य का महत्त्व, समग्र रूप से, उसकी मौलिकता में है। जब कि यूनानियों ने, ईसा से पहले की चौथी सदी के अंत मे पच्छिमोत्तर में हमला किया, उस वक़्त हिंदुस्तानी अपनी क़ौमी संस्कृति क़ायम कर चुके थे और इस पर विदेशी प्रभाव नहीं पड़े थे। और बावजूद इसके कि ईरानियों, यूनानियों, सिदियनों और मुसलमानों के हमलों की लहरें एक के बाद एक आती रहीं और यह लोग विजय पाते रहे, भारतीय आर्य जाति की ज़िंदगी और साहित्य का कौमी विकास, अंग्रेज़ों के अधिकार के वक़्त तक बिना रुकावट और अटूट क्रम से चलता रहा। इंडो-यूरोपियन जाति की किसी शाखा ने, अलग रहते हुए, ऐसे विकास का अनुभव नहीं किया। चीन को छोड़कर कोई ऐसा मुल्क नहीं जो कि अपनी भाषा और साहित्य, अपने धार्मिक विश्वास और कर्म-कांड, और अपने सामाजिक रीति-रिवाजों का तीन हज़ार वर्षों से ज़्यादा का अटूट विकास पेश कर सके।"

लेकिन इतिहास के इस लंबे ज़माने में हिंदुस्तान बिल्कुल अलग-थलग नहीं रहा है और उसका निरतर और जीता-जागता संपर्क ईरानियों, यूनानियों चीनियों, मध्य एशियायिओं और औरों से रहा है। अगर उसकी बुनियादी संस्कृति इन संपर्कों के बाद भी क़ायम रही तो ज़रूर ख़ुद इस संस्कृति में कोई बात—कोई भीतरी ताक़त और ज़िंदगी की समझ-बूझ रही है जिसने कि इसे इस तरीक़े पर ज़िंदा रक्खा है। क्योंकि यह तीन चार हज़ार वर्षों का, संस्कृति का विकास और अटूट सिलसिला एक अद्भुत बात है। मशहूर विद्वान् और प्राच्यविद् मैक्समूलर ने इस पर ज़ोर दिया है और लिखा है" दरअस्ल हिंदू विचार के सबसे हाल के और सबसे पुराने रूपों में एक अटूट क्रम मिलता

है और यह तीन हज़ार साल से ज़्यादा तक बना रहा है।" बहुत जोश के साथ उन्होंने (इंग्लिस्तान की कैंब्रिज यूनिवर्सिटी में दिए गए व्याख्यानों में, सन् १८८२ में) कहा है : "अगर हम सारी दुनिया की खोज करें, ऐसे मुल्क का पता लगाने के लिए जिसे कि प्रकृति ने सब से संपन्न, शक्ति वाला और सुंदर बनाया है—जो कुछ हिस्सों में धरती पर स्वर्ग की तरह है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूँगा। अगर मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले, इंसान के दिमाग़ ने अपने कुछ सब से चुने हुए गुणों का विकास किया है, ज़िंदगी के सब से अहम मसलों पर सब से ज़्यादा गहराई के साथ सोच-विचार किया है, और उनमें से कुछ के ऐसे हल हासिल किए हैं जिन पर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए जिन्होंने कि अफ़लातून और कांट को पढ़ा है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूँगा। और अगर मैं अपने से पूछूं कि कौनसा ऐसा साहित्य है जिससे हम यूरोप वाले, जो कि बहुत कुछ महज़ यूनानियों और रोमनों और एक सेमेटिक जाति के, यानी यहूदियों के, विचारों के साथ-साथ पले हैं, वह इसलाह हासिल कर सकते हैं जिसकी कि हमें अपनी ज़िंदगी को ज़्यादा मुकम्मल, ज़्यादा विस्तृत और ज़्यादा व्यापक बनाने के लिए ज़रूरत है, न महज़ इस ज़िंदगी के लेहाज़ से, बल्कि एक एकदम बदली हुई और सदा क़ायम रहने वाली ज़िंदगी के लिहाज से—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूँगा।"

क़रीब-क़रीब आधी सदी बाद, रोम्यां रोलां ने उसी लहज़े में लिखा है : "अगर दुनिया की सतह पर कोई एक मुल्क है जहां कि ज़िंदा लोगों के सभी सपनों को, उस क़दीम वक़्त से जगह मिली है जब से कि इंसान ने अस्तित्व का सपना शुरू किया, तो वह हिंदुस्तान है।"

६ : उपनिषद्

उपनिषद्, जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले से लेकर है, हमें भारतीय-आर्यों के विचार के विकास में एक क़दम आगे ले जाते हैं, और यह बड़ा लंबा क़दम है। आर्य लोगों को बसे हुए अब काफ़ी समय बीत चुका है और एक पायदार और ख़ुशहाल सभ्यता, जिसमें कि पुराने और नए का मेल हो चुका है, बन गई है। इसमें आर्यों के विचार और आदर्श प्रभाव रखते हैं, लेकिन इनकी पृष्ठभूमि में पूजा के जो रूप हैं वह और भी पहले के और आदिम हैं।

वेदों का नाम आदर से, लेकिन एक मीठे व्यंग के भाव से लिया जाता है। वैदिक देवताओं से अब संतोष नहीं रह जाता और पुरोहितों के कर्म-कांड का मज़ाक उड़ाया जाता है। लेकिन अतीत से नाता तोड़ लेने की कोशिश

नहीं होती; उसे वह मुक़ाम समझा जाता है जहां से तरक़्क़ी की मंजिल शुरू होती है।

उपनिषद् छान-बीन की, मानसिक साहस की और सत्य की खोज के उत्साह की भावना से भर-पूर हैं। यह सही है कि यह सत्य की खोज मौजूदा ज़माने के विज्ञान के प्रयोग के तरीकों से नहीं हुई है, फिर भी जो तरीक़ा अख़्तियार किया गया है उसमें वैज्ञानिक तरीक़े का एक अंश है। हठवाद को दूर कर दिया गया है। उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो कि साधारण है और जिसका कि आजकल हम लोगों के लिए कोई अर्थ या प्रसंग नहीं। ख़ास ज़ोर आत्म-बोध या आत्मा और परमात्मा के ज्ञान पर दिया गया है और इन दोनों को मूल में एक ही बताया गया है। बाहरी दुनिया या वस्तु-जगत् को असत् नहीं बताया गया है, बल्कि निस्बती तौर पर सत् और भीतरी सत्य का एक पहलू बताया गया है।

उपनिषदों में बहुत-सी अस्पष्ट बातें हैं और उनकी मुख़्तलिफ़ शरहें हुई हैं। लेकिन यह फ़िलसूफ़ों और विद्वानों के जाँच करने की चीज़ें हैं। आम सुझाव अद्वैतवाद की तरफ़ है और इस सारे नज़रिये का ज़ाहिरा मक़सद यह मालूम पड़ता है कि उस ज़माने की जो आपस की कड़ी बहसें रही हैं, और भेद-भाव रहे हैं उन्हें कम किया जाय। यह समन्वय का रास्ता रहा है। जादू-टोने में दिलचस्पी को, और इसी तरह दैवी बातों के ज्ञान को बढ़ावा देने से रोका गया है, और बिना सच्चे ज्ञान के पूजा-पाठ और कर्म-कांड को फ़िज़ूल बताया गया है। कहा गया है, "इनमें लगे हुए लोग, अपने को समझदार और विद्वान् मानते हुए, इस तरह भटकते रहते हैं जैसे कि अंधे को अंधा रास्ता दिखा रहा हो, और यह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते।" वेदों तक को नीचे दर्जे का ज्ञान बताया गया है; भीतरी मन के प्रकाश को ऊँचा ज्ञान कहा है। बिना संयम के, फ़िलसफ़े के ज्ञान की तरफ़ से होशियार किया गया है। और समाज के धंधों और रूहानी बातों में सामंजस्य पैदा करने की बराबर कोशिश की गई है। ज़िंदगी ने जो कर्तव्य और फ़र्ज़ ऊपर डाले हैं उनका पालन होना ही चाहिए, लेकिन अलहदगी का भाव रखते हुए, ऐसा कहा गया है।

व्यक्तिगत पूर्णता की नीति पर शायद इतना ज़्यादा ज़ोर दिया गया कि सामाजिक दृष्टिकोण को नुक़सान पहुँचा। उपनिषदों में कहा गया है कि "आत्मा से बढ़कर कोई चीज़ नहीं।" यह समझा गया होगा कि समाज में पायदारी आगई है, इसलिए आदमी का दिमाग़ व्यक्तिगत पूर्णता का बराबर ध्यान किया करता था और इसकी खोज में उसने आसमान और दिल के सबसे अंदरूनी कोनों को छान डाला। यह पुराना हिंदुस्तानी नज़रिया कोई संकुचित

बहता रहता है और एक क्षण नहीं ठहरता ?" आदमी बराबर एक साहसपूर्ण यात्रा में लगा हुआ है, उसके लिए न कहीं दम लेना है और न उसकी यात्रा का अंत है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में हमारी इस अनंत यात्रा के बारे में एक मंत्र है और इसके हर श्लोक के आखिर में है, "चरैवेति, चरैवेति"—'इसलिए, हे यात्री, चलते रहो, चलते रहो।'

इस खोज के बारे में कोई विनय की भावना नहीं हैं, वैसा विनय जैसा कि धर्मों में एक सर्व-शक्तिमान् परमात्मा के प्रति दिखाया जाता है। यहां हमें मन की परिस्थिति के ऊपर विजय मिलती है। "मेरा शरीर राख हो जायगा और मेरी साँस इस चंचल और अमर वायु में मिल जायगी, लेकिन मैं और मेरे कर्मों का यह अंत नहीं। हे मन, इस बात का सदा ध्यान रख !" सवेरे की एक प्रार्थना में सूर्य को इस तरह संबोधन किया गया है : "हे देदीप्यमान सूर्य, मैं वही पुरुष हूं जो तुझे ऐसा बनाता हूं !" कितना ऊँचा आत्म-विश्वास है !

आत्मा क्या है ? इसका बयान या इसकी परिभाषा सिर्फ़ नकारात्मक ढंग से हो सकती है : "वह यह नहीं है, यह नहीं है ।" या, एक प्रकार से स्वीकारात्मक ढंग से : "तू वह है !" व्यक्तिगत आत्मा परमात्मा के महत् ज्वाल की एक चिनगारी है जो कि उससे निकल उसी में समा जाती है। "जिस तरह से अग्नि अखंड होते हुए भी, दुनिया में आकर, जिन चीज़ों को जलाती है उन्हीं के अनुसार अलग-अलग रूप ले लेती है, इसी तरह से अंतरात्मा जिस चीज़ में प्रवेश करती है उसी के अनुसार अलग रूप ग्रहण कर लेती है, लेकिन वह ख़ुद बिना किसी रूप के है ।" यह अनुभूति कि सब चीज़ों के भीतर एक ही तत्त्व है, हमारे और उनके बीच के भेद ही हटा देती है और हम में यह भावना पैदा करती है कि इंसान और प्रकृति के बीच एकता है, और यह एकता बाहरी दुनिया की विविधता और अनेक रूपता की तह में है। "जा जानता है कि सभी चीज़ें आत्मरूप हैं, उसके लिए क्या शोक, क्या भ्रम रह जाते हैं, जब कि वह इस एकता को देखता है ?" "हां, जो सभी वस्तुएं उस आत्मा में देखता है और सभी चीज़ो में आत्मा को देखता है; उससे (आत्मा) वह फिर न छिपेगा।"

भारतीय आर्यों के इस गहरे व्यक्तिवाद और अलहदगी की भावना का इस व्यापक नज़रिये के साथ जो कि जाति, वर्ग और दूसरे बाहरी और भीतरी भेदों की रुकावटें लांघ जाती हैं, मिलान और मुक़ाबला करना दिलचस्प है। यह दूसरी चीज़ तो एक तरह की आधिभौतिक जनसत्ता है। "वह जो कि आत्मा को सब चीजों में और सब चीज़ों में आत्मा को देखता है, फिर किसी जीव को हिक़ारत से देख ही नहीं सकता।" अगर्चे यह महज़ सिद्धांत की बात थी, फिर भी इसमें शक नहीं कि इसने ज़िंदगी पर असर डाला होगा और उस रवादारी

और माक़ूलपसंदी, मज़हबी मामलों में उस आज़ाद-ख़याली, जीने और जीने देने की उस भावना का वातावरण पैदा किया होगा जो कि हिंदुस्तानी और चीनी संस्कृति के ख़ास लक्षण हैं। मज़हब और संस्कृति के बारे में कोई दबाव नहीं था, और इससे एक ऐसी पुरानी और अक़्लमंद तहज़ीब का पता चलता है जिसके पास दिमाग़ी शक्ति का अक्षय ख़ज़ाना है।

उपनिषदों में एक सवाल है जिसका कि बहुत अनोखा लेकिन मार्के का जवाब दिया गया है। सवाल है कि 'यह विश्व क्या है? यह कहां से उत्पन्न होता है और कहां जाता है?' और उत्तर है, 'स्वतंत्रता से इसका जन्म है, स्वतंत्रता में ही वह टिका है और स्वतंत्रता में ही वह लय हो जाता है।' इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है, मैं नहीं समझ सकता, सिवाय इसके कि उपनिषदों की रचना करने वालों में स्वतंत्रता के ख़याल के लिए बड़ा जोश था और वह सब कुछ उसी के पैराये में देखना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद इस पहलू पर हमेशा ज़ोर दिया करते थे।

हमारे लिए यह सहज नहीं कि कल्पना में भी हम अपने को इतने पुराने ज़माने में जा बिठावें और उस ज़माने के दिमाग़ी वातावरण में दाख़िल हो सकें। लिख़ने का ढंग ही कुछ ऐसा है कि हम उसके आदी नहीं। यह देखने में अटपटा और तर्जुमे के ख़याल से मुश्किल है, और इसकी पृष्ठभूमि में जो ज़िंदगी है वह अब से बिल्कुल जुदा है। आज बहुत-सी चीज़ें हैं जिन के हम आदी हो गए हैं, इस लिए उन्हें मान कर चलते हैं, अगर्चे यह विचित्र है और काफ़ी ग़ैर-माक़ूल है। लेकिन जिन चीज़ों के हम आदी नहीं हैं, उनका समझना और पसंद करना कहीं ज़्यादा कठिन है। लेकिन इन सब मुश्किलों और क़रीब-क़रीब दूर हो सकने वाली रुकावटों के, उपनिषदों के संदेशों को चाव और उत्सुकता से सुनने वाले हिंदुस्तान के इतिहास में बराबर मिलते हैं और इन संदेसों ने क़ौमी दिमाग़ और चरित्र पर ज़ोरदार असर डाला है। ब्लूमफ़ील्ड का कहना है कि "विरोधी बौद्धमत को लिए-दिए, हिंदू विचार का कोई ऐसा ख़ास रूप नहीं है जिसकी जड़ उपनिषदों में न हो।"

क़दीम हिंदुस्तानी ख़याल ईरान के रास्ते यूनान तक पहुंचा था और इसने वहाँ के कुछ विचारकों और फ़िलसूफ़ों पर असर डाला था। बहुत बाद में, प्लोटिनस, ईरानी और हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े को पढ़ने के लिए पूरब में आया और उस पर ख़ास तौर पर उपनिषदों के रहस्यवाद का प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि इन विचारों में से बहुत से प्लोटिनस से संत अगस्टाइन तक पहुंचे थे, और उसकी मारफ़त इन्होंने आज के ईसाई धर्म पर असर डाला है।"[1]

---

१ रोम्यां रोलां ने विवेकानंद संबंधी अपनी किताब के परिशिष्ट में, 'शरू

पिछली डेढ़ सदी में हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े को जो यूरोप ने फिर से खोज निकाला, उसका नतीजा यह हुआ कि यूरोप के फ़िलसूफ़ों और विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस सिलसिले में, निराशावादी शोपेनहार का कहना अक्सर उद्धृत किया जाता है : "(उपनिषदों के) हर एक शब्द से गहरे, मौलिक और ऊंचे विचार उठते हैं, और इन सब पर एक ऊँची, पवित्र और उत्सुक भावना छाई हुई है........सारे संसार में कोई ऐसी रचना नहीं जिसका पढ़ना.... इतना उपयोगी, इतना ऊँचा उठानेवाला हो जितना कि उपनिषदों का....(यह) सबसे ऊँचे ज्ञान की उपज हैं....एक-न-एक दिन सारी दुनिया का इन पर विश्वास होकर रहेगा।" और फिर वह लिखता है: "उपनिषदों के पढ़ने से मेरी ज़िंदगी को शांति मिली है; यही मेरी मौत के समय की तसकीन बनेगा।" इस पर लिखते हुए मैक्समूलर कहते हैं: "शोपेनहार हर्गिज़ ऐसा आदमी न था कि बहकी हुई बातें लिखे, या तथा-कथित रहस्यवादी या अधकचरे विचारों पर वाहवाह करने लगे। और यह कहते हुए न मुझे शर्म या डर मालूम पड़ता है कि वेदांत के बारे में उसका जो उत्साह था उसमें मैं शरीक हूं और अपनी ज़िंदगी में बहुत कुछ मुझे इससे मदद मिली है और मैं इसका ऋणी हूं।"

एक दूसरी जगह मैक्समूलर लिखते है: "उपनिषद् वेदांत के फ़िलसफ़े का सोता है जिसमें कि इंसानी सोच-विचार अपनी चोटी पर पहुँच गया जान पड़ता है।" "मेरी सबसे खुशी की घड़ियाँ वेदांत की किताबों के पढ़ने में बीतती हैं। मेरे लिए वह सवेरे की रोशनी जैसी, पहाड़ों की साफ़ हवा जैसी हैं—एक बार समझ में आ जाने पर उनमें कितनी सादगी, कितनी सचाई मिलती है!"

लेकिन शायद उपनिषदों की और उसके बाद की पुस्तक भगवद्गीता की मुक्तकंठ से जैसी तारीफ़ आइरिश कवि ए० ई० (जी० डब्ल्यू० रसेल) ने की है वैसी दूसरे ने नहीं : "इस ज़माने के लोगों में, गेटे, वर्ड्सवर्थ, इमर्सन और थोरो में यह ज्ञान और जीवनी शक्ति कुछ अंशों में मिलेगी, लेकिन जो कुछ भी इन्होंने कहा है, और उससे बहुत ज़्यादा हमें पूरब के महान और पवित्र ग्रंथों में मिलेगा। भगवद्गीता और उपनिषदों में, सभी बातों के बारे में, ज्ञान की ऐसी दिव्य पूर्णता मिलती है कि मुझे खयाल होता है कि उनके रचने वालों ने हजारों भावभरे पुराने जन्मों में पैठ कर ही, उन जन्मों में जिनमें कि छाया के लिए और छाया के साथ संघर्ष होता रहा है—इतने अधिकार के साथ उन

की सदियों में यूनानी-ईसाई रहस्यवाद और उसका हिंदू रहस्यवाद से संबंध', इस विषय पर एक लंबा नोट दिया है। वह बताते हैं कि "सैकड़ों बातों से इसका सबूत मिलता है कि हमारे युग की दूसरी सदी में, यूनानी विचार-धारा में पूर्वी असर मिल-जुल गया था।"

बातों को लिखा है जिन्हें आत्मा निश्चित समझती है।"'

१० : व्यक्तिवादी फ़िलसफ़े के फ़ायदे और नुक़सान

कारगर तरक़्क़ी हासिल करने के लिए, उपनिषदों में तन की चुस्ती और मन की पवित्रता और तन-मन दोनों के संयम पर बराबर ज़ोर दिया गया है। चाहे ज्ञान सीखना हो, चाहे दूसरी ही कामयाबी हासिल करना हो, संयम, तप और कुरबानी ज़रूरी होती है। किसी-न-किसी तरह की तपस्या का ख़याल हिंदुस्तानी विचार-धारा का एक अंग है, और ऐसा ख़याल न सिर्फ चोटी के विचारकों के यहां है, बल्कि साधारण अनपढ़ जनता में फैला हुआ है। हज़ार बरस पहले यह बात रही है, और आज भी यह बात है, और अगर गांधीजी की रहनुमाई में हिंदुस्तान को हिला देने वाले जनता के आन्दोलनों के पीछे जो मनोवृत्ति काम करती है उसे हम समझना चाहते हैं, तो ज़रूरी है कि हम इस ख़याल को समझ लें।

यह ज़ाहिर है कि उपनिषदों की रचना करनेवालों के विचार, और वह ऊंचे दर्जे का मानसिक वातावरण जिसमें कि वह रहते थे, एक छोटे, चुने हुए लोगों के दायरे तक महदूद थे। आम जनता की समझ से यह बिल्कुल बाहर थे। ऐसे लोगों की तादाद, जो रचनात्मक काम करते हैं, हमेशा थोड़ी ही होती है। लेकिन अगर बड़ी संख्या के लोगों से उनके विचार मिलते रहे और यह छोटा दल बड़े दल को ऊपर उठाने और उसे बढ़ाने की कोशिश में लगा रहा, इस तरह कि दोनों के बीच की खाई कम हो जाय, तो एक पायदार और तरक्की करने वाली संस्कृति पैदा होती है। बिना इस रचनात्मक छोटे दल के तहज़ीब का ज़वाल होने लगता है। लेकिन इसका ज़वाल उस वक़्त भी हो सकता है जब कि एक रचनात्मक छोटे दल का बड़े दल से संबंध टूट जाय और कुल मिलाकर समाज की एकता बाकी न रह जाय। ऐसी हालत में छोटा दल अपनी रचना-शक्ति खो बैठता है और बांझ हो जाता है। नहीं तो इसकी जगह पर

'एक उपनिषद् (छांदोग्य) में एक विचित्र और दिलचस्प टुकड़ा है: "सूर्य कभी डूबता नहीं, न उदय होता है। जब लोग समझते हैं कि सूर्य डूब रहा है तब होता यह है कि वह दिन के अंत तक पहुंचकर महज बदल जाता है, और यहां नीचे रात कर देता है और जो कुछ दूसरी तरफ है उसके लिए दिन कर देता है। जब लोग समझते हैं कि वह सवेरे उगता है तब वह रात के छोर तक पहुंच कर पलट जाता है और यहां नीचे दिन कर देता है और जो कुछ कि दूसरी तरफ है उसके लिए रात कर देता है। सच बात तो यह है कि वह कभी डूबता नहीं।"

कोई दूसरी रचनात्मक या जीवनी-शक्ति, जिसे कि समाज पैदा करे, आ जाती है।

मेरे लिए, और ज़्यादातर औरों के लिए भी, उपनिषदों के ज़माने की तस्वीर सामने लाना, और उस वक़्त क्या-क्या ताक़तें काम कर रही थीं, इनकी जांच-पड़ताल करना, मुश्किल है। फिर भी मैं ख़याल करता हूं कि मुट्ठी भर विचारकों और आंख मूंद कर चलनेवाली बहुत बड़ी जनता के बीच गहरे मानसिक भेद के बावजूद, उन दोनों के बीच एक लगाव था, कम-से-कम कोई दिखने वाली खाई नहीं थी। जिस तरह से उस वक्त के समाज में अलग-अलग दर्जे थे उसी तरह मानसिक दर्जे भी थे और इन्हें स्वीकार कर लिया गया था और उसका इंतज़ाम भी कर दिया गया था। इससे समाज में कुछ मेल पैदा हो गया था और झगड़े-फ़िसाद से बचत हो गई थी। उपनिषदों के नए विचार को भी, आम लोगों के लिए इस तरह से समझाया जाता था कि वह रायज ख़यालों से और अंध-विश्वासों से मिल-जुल जाता था, और इस तरह वह अपने खास मानी को बहुत कुछ खो बैठता था। समाज में जो दर्जे क़ायम हो चुके थे उन्हें नहीं छेड़ा जाता था। बल्कि उनकी हिफ़ाज़त की जाती थी। अद्वैतवाद ने, मज़हबी मामलों में एकेश्वरवाद की शक़्ल ले ली थी, और इससे भी नीची सतह के अक़ीदों और पूजा के तरीकों को, न सिर्फ़ गवारा किया जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि विकास की एक ख़ास सीढ़ी के लिए यह मुनासिब भी हैं।

इस तरह उपनिषदों की विचारधारा, आम लोगों में बहुत ज़्यादा फैली नहा और चंद विचारकों और आम लोगों के बीच मानसिक भेद और भी ज़ाहिर हो गया। वक़्त पाकर इसने नई तहरीक़ें पैदा कीं। जड़वादी फ़िलसफ़े की, बुद्धिवाद की और अनीश्वरवाद की ज़बर्दस्त लहरें उठीं। और फिर इसके भीतर से बौद्धधर्म और जैनधर्म पैदा हुए, और 'रामायण' और 'महाभारत', जैसे प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य रचे गए, और इनमे एक बार फिर इस बात की कोशिश की गई कि विरोधी मतों और विचार के तरीक़ों में समन्वय किया जाय। लोगों की सृजन-शक्ति, बल्कि सृजन बुद्धि वाले थोड़े से लोगों की सृजन-शक्ति, इन ज़मानों में, बहुत साफ़ ढंग से सामने आती है, और फिर इन थोड़े से लोगों में और बड़ी जनता के बीच एक लगाव क़ायम होगया जान पड़ता है। कुल मिला कर, दोनों मिल-जुलकर आगे बढ़ते हैं।

इस तरह से, एक-एक करके कई ज़माने आते हैं जबकि विचारों और काम के मैदान में, साहित्य में, नाटक में, मूर्तिकला में, इमारतों के तैयार करने में, और हिंदुस्तान की सीमा से दूर संस्कृति, धर्म और उपनिवेशों के फैलाने के साहसी कामों में, रचनात्मक कोशिशें फूट पड़ती हैं। इन ज़मानों में झगड़े-

फ़िसाद के वक़्त आते हैं और इनकी वजह कुछ भीतरी बातें होती हैं और कुछ बाहर से होने वाली छेड़-छाड़ भी। लेकिन आख़िर में यह हालत क़ाबू में आती है और रचनात्मक स्फूर्ति का ज़माना फिर लौटता है। ऐसा आख़िरी ज़माना, जिसमें कि बहुत तरह के काम हुए, वह शानदार ज़माना था जो ईसा से बाद की चौथी सदी में शुरू हुआ। ईसा के १००० वर्ष बाद तक, या पहले ही, हिंदुस्तान में भीतरी ज़वाल के निशान ज़ाहिर हो जाते हैं, अगर्चे पुरानी कलात्मक लहर जारी रहती है और बहुत सुंदर चीज़ें तैयार होती रहती हैं। नई जातियां आती हैं, जिनकी भूमिका दूसरी ही होती है, और यह हिंदुस्तान के थके हुए दिल और दिमाग़ के लिए एक नया शौक़ ले आती हैं; और इस टक्कर का नतीजा यह भी होता है कि नए मसले उठते हैं और उनके हल की तदबीरें की जाती हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय-आर्यों के गहरे व्यक्तिवाद ने, आख़िर-कार, अच्छे और बुरे दोनों ही नतीजे दिखाए, जो उनकी संस्कृति से उपजे। इसने बहुत ऊंचे टप्पे के लोग पैदा किए, और यह बात इतिहास के किसी एक ख़ास ज़माने तक महदूद न रही, बल्कि हर एक युग में और बार-बार ऐसा होता रहा। इसने पूरी संस्कृति की एक आदर्शवादी और इख़लाक़ी पृष्ठभूमि दी, जो क़ायम रही और और अभी कायम है, चाहे हमारे व्यवहार पर ज़्यादा असर न डाल रही हो। इस पृष्ठभूमि की मदद से, और ऊंचे लोगों की मिसालों के ज़ोर पर उन्होंने समाज की बनावट को क़ायम रक्खा, और जब-जब उसके टूटने का अंदेशा हुआ तब-तब उसे संभाला। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के अचरज पैदा करने वाले फूल खिलाए, और अगर्चे वह ऊंचे दायरों तक महदूद थे, फिर भी, हो-न-हो, वह कुछ हद तक जनता में भी फैले। दूसरे मतों और रास्तों के लिए हद दर्जे की रवादारी दिखाकर वह उन झगड़ों को बचाते रहे, जिन्होंने अक्सर समाज को टूक-टूक कर डाला है, और इस तरह उन्होंने, बराबर किसी-न-किसी तरह का सम-तौल बनाए रक्खा है। एक बड़े संगठन के भीतर, लोगों को अपने पसंद की ज़िंदगी बसर करने की आज़ादी देकर, उन्होंने एक प्राचीन और तजुर्बेकार जाति के लोगों की बुद्धिमानी दिखाई है। यह सभी कारनामे बड़े मार्के के रहे हैं।

लेकिन इसी व्यक्तिवाद का यह नतीजा हुआ कि इंसान के समाजी पहलू पर, और समाज की जानिब इंसान के फ़र्ज़ पर, कम ध्यान दिया जाने लगा। हर शख़्श की ज़िंदगी बंट और बंध गई थी और दर्जों में बंटे हुए समाज में अपने तंग दायरे के अंदर वह फ़र्ज़ों और ज़िम्मेदारियों की एक गठड़ी बन कर रह गया था। पूरे समाज की न उसे कल्पना थी, न इस समाज के प्रति उस का कोई फ़र्ज़ बाक़ी रहा था, और इस बात की कोई कोशिश न की गई कि

वह समाज से अपनी मज़बूती समझे। इस खयाल का शायद मौजूदा ज़माने में विकास हुआ है और यह किसी क़दीम समाज में नहीं मिलता। इसलिए क़दीम हिंदुस्तान में इसकी उम्मीद करना मुनासिब नहीं। फिर भी व्यक्तिवाद, अलह-दगी और दर्जेवार ज़ातें हिंदुस्तान में बहुत ज़्यादा नुमायाँ रही हैं। बाद के ज़मानों में तो यह हमारे लोगों के दिमाग़ के लिए एक पूरा क़ैदखाना बन गए हैं—न सिर्फ नीची ज़ात के लोगों के लिए, जिन्हें कि इससे सबसे ज़्यादा तक-लीफ़ पहुंची, बल्कि ऊँची ज़ात के लोगों के लिए भी। हमारे इतिहास के पूरे दौर में, यह हमें एक कमज़ोर करने वाली बात रही है, और शायद यह भी कहना बेजा न होगा कि ज्यों-ज्यों जात-पाँत की सख्ती बढ़ी है, त्यों-त्यों हमारे दिमाग़ भी गुट्ठल होते गए हैं और हमारी जाति की रचनात्मक शक्ति मिटती गई है।

एक और अजीब बात सामने आती है। सभी तरह के अक़ीदों और व्यवहारों, अंध-विश्वासों और बेवक़ूफ़ियों की जानिब जो रवादारी दिखाई गई थी, उसके नुक़सानदेह पहलू भी थे, क्योंकि इसने बहुत-सी बुरी रस्मों को जड़ पकड़ लेने दी और परंपरा के उस बोझ को उखाड़ कर फेंकने से रोका जो कि हमारी बाढ़ को रोक रहा था। पुरोहितों के बढ़ते हुए दल ने इस हालत से अपना अलग ही फ़ायदा उठाया और आम लोगों के अंध-विश्वास की नींव पर अपने स्वार्थों के गढ़ बना लिए। इस पुरोहित-वर्ग की शायद उतनी ताक़त कभी नहीं रही जितनी कि ईसाई मजहब की कुछ शाखों के पुरोहित-वर्ग की रही, क्योंकि यहां हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसे विचारवान नेता रहे हैं जिन्होंने इन व्यवहारों की निंदा की है। इसके अलावा इतने अलग-अलग मत रहे हैं कि लोग अपना मत बदल सकते थे। फिर भी यह पुरोहित वर्ग इतना मजबूत था कि जनता को अपने वश में रख सके और उसके अंध-विश्वासों से लाभ उठाता रह सके।

इस तरह से, आज़ाद खयाल और कट्टरपन, यह साथ-साथ बने रहे और उनमें से नुक्ताचीनी करने वाले मज़हबी फ़िलसफ़े और आचार-विचार वाले कर्मकांड पैदा हुए। पुराने धर्म ग्रंथों के प्रमाण की दुहाई बराबर दी जाती थी, लेकिन उनकी सचाइयों को बदलते हुए ज़माने के लिहाज से पेश करने की कोई कोशिश नहीं की जाती थी। रचनात्मक और रूहानी शक्तियां कमज़ोर पड़ने लगीं, और उस चीज़ का, जिसमें इतनी जान थी, इतना अर्थ था, केवल छिलका बाकी रह गया। अरविंद घोष ने लिखा है: "अगर उपनिषदों या बुद्ध के ज़माने का, या बाद के संस्कृत युग का कोई पुराना हिंदुस्तानी आज के हिंदु-स्तान में ला बिठाया जाय...तो वह देखेगा कि उसकी जाति पुराने वक़्त के बाहरी रूपों, छिलकों और चीथड़ों से चिपटी हुई है, और उसके ऊँचे मतलब के

दस हिस्सों में से नौ को खो बैठी है...उसे अचरज होगा कि यहां इतना दिमाग़ी लचरपन, इतनी जड़ता है, बातों का इस तरह दोहराते रहना है जो हमें आगे नहीं बढ़ाता, विज्ञान का ख़ातमा हो गया है, कला बहुत दिनों से बाँझ हो रही है, और रचनात्मक बुद्धि कितनी कमज़ोर हो गई है।"

११ : जड़वाद

हमारी बड़ी बदक़िस्मतियों में एक यह है कि हम यूनान में, हिंदुस्तान में, और सभी जगह, दुनिया के पुराने साहित्य का एक बड़ा हिस्सा खो बैठे हैं। शायद इससे बचत न थी, क्योंकि शुरू में किताबें ताड़ पत्रों पर या भोज पत्र पर, जो भूर्ज वृक्ष की छाल होता था—लिखी जाती थीं और इनके छिलके बहुत आसानी से उचड़ जाते थे, और काग़ज़ पर लिखने का रिवाज बाद में हुआ। किसी भी किताब की चंद प्रतियों से ज़्यादा न होतीं, और अगर वह ज़ाया जातीं तो वह रचना ही गुम हो जाती, और उसका पता हमें महज़ उन हवालों या उद्धरणों से मिलता जो कि उनके बारे में और पुस्तकों में होते। फिर भी पचास-साठ हज़ार संस्कृत की हाथ की लिखी पुस्तकों या उनके रूपांतरों का पता लग चुका है और उनकी सूची बन चुकी है, और नए-नए ग्रंथ बराबर मिलते जा रहे हैं। हिंदुस्तान की बहुत सी पुरानी पुस्तकें अब तक हिंदुस्तान में मिली ही नहीं हैं, लेकिन उनके अनुवाद चीनी या तिब्बती भाषा में मिले हैं। हाथ की लिखी पुरानी पुस्तकों की, धार्मिक संस्थाओं के भंडारों में, मठों में और निजी संग्रहों में अगर संगठित रूप में खोज की जाय, तो शायद बहुत अच्छा नतीजा निकले। यह काम, और हाथ की लिखी इन किताबों की छान-बीन करने का काम, और अगर जरूरी समझा जाय तो इनके छपाने और अनुवाद का काम, ऐसी बातें हैं, जिन्हें और बातों के साथ-साथ उस वक़्त हाथ में लेना है, जब कि हम अपनी मौजूदा बेड़ियों को तोड़ने में कामयाब हो जायँ। इस तरह का अध्ययन यक़ीनी तौर पर हिंदुस्तान के इतिहास के बहुतेरे पहलुओं पर रोशनी डालेगा, खास कर तारीखी घटनाओं और बदलते रहने वाले विचारों की सामाजिक पृष्ठभूमि पर। बार-बार के नुक़सान और बरबादी के बावजूद और बग़ैर किसी खास संगठित कोशिश के पचास हज़ार से ज़्यादा हाथ की लिखी पुस्तकों का पता लग जाना इस बात को बताता है कि साहित्य, नाटक, फ़िलसफ़े और और विषयों में पुराने ज़माने में कितनी अद्भुत बहुतायत से रचनाएं हुईं थीं। बहुत-सी पांडुलिपियों की, जिनका कि पता लगा है अभी, ठीक तरह से जाँच तक नहीं हुई है।

उन किताबों में जो बिल्कुल खो गई हैं, जड़वाद का पूरा साहित्य है, जो कि शुरू के उपनिषदों के ज़माने से ठीक बाद रचा गया था। इस साहित्य

के जो हवाले अब मिलते हैं, वह सिर्फ़ उन किताबों में हैं जिनमें कि उनपर टीका टिप्पणी की गई है और जिनमें जड़वादी सिद्धांतों के खंडन की लंबी कोशिश की गई है। इसमें तो कोई शक ही नहीं है कि जड़वादी फ़िलसफ़े का हिंदुस्तान में सदियों तक चलन रहा है, और अपने ज़माने में इसका लोगों पर गहरा असर रहा है। ईसा से पहले की चौथी सदी में राजनैतिक और आर्थिक संगठन के बारे में कौटिल्य की जो मशहूर पुस्तक, अर्थशास्त्र है, उसमें इसका ज़िक्र हिंदुस्तान के ख़ास फ़िलसफ़ों में किया गया है।

इसलिए इस फ़िलसफ़े के बारे में जानने के लिए हमें उन आलोचकों और व्यक्तियों पर भरोसा करना पड़ता है जिनकी दिलचस्पी इसे गिराने में रही है, और उन्होंने इसकी हंसी उड़ाई है और बताया है कि यह कैसी बेतुकी चीज़ है। यह फ़िलसफ़ा था क्या, इसे जानने का यह बड़ा ग़ैर-वाजिब तरीक़ा है। फिर भी इसके खंडन में जो उत्साह और जोश इन नुक्ताचीनों ने दिखाया है, उसीसे पता चलता है कि उन लोगों की नज़रों में इसकी कितनी अहमियत थी। संभव जान पड़ता है कि जड़वाद के साहित्य का ज़्यादा हिस्सा, बाद के ज़मानों में, पुरोहितों ने या कट्टर मज़हब के मानने वालों ने नष्ट कर दिया हो।

जड़वादियों ने विचार, मज़हब और अध्यात्म में, प्रमाण का और सभी स्थापित स्वार्थ का विरोध किया। उन्होंने वेदों की, पुरोहिताई की, परंपरा से आए हुए यक़ीनों की, निंदा की और यह ऐलान किया कि अक़ीदे को आज़ाद होना चाहिए और उसे पहले से मान ली गई बातों या सिर्फ़ पुराने ज़माने के प्रमाण का भरोसा न कर लेना चाहिए। सभी तरह के मंत्र-तंत्र और अंधविश्वास की उन्होंने बुराई की। उनका आम रवैया बहुत-कुछ आज के जड़वादियों जैसा था: यह अपने को गुज़रे हुए ज़माने की ज़ंजीरों और बोझ से, जो चीज़ें नहीं दिखाई देतीं उनकी कल्पना से, और ख़याली देवताओं की पूजा से आज़ाद करना चाहते थे। सिर्फ उसका वजूद तो माना जा सकता था, जिसे कि सीधे-सीधे देखा जा सके। इसके अलावा और सभी अनुमानों या क़यासों के सच होने की उतनी ही संभावना थी जितनी कि झूठ होने की। इसलिए अपने मुख़्तलिफ़ रूपों में पदार्थ के, और दुनिया के ही वजूद को माना जा सकता था। मन और बुद्धि और और सभी चीज़ इन्हीं बुनियादी तत्वों से बनी हैं। प्रकृति के व्यापार आदमी के ज़रिये क़ायम की गई कीमतों की परवा नहीं करते, और अच्छे या बुरे से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। नैतिक मान, आदमियों के क़ायम किये गए रिवाज हैं।

इन सब विचारों को हम समझते हैं; यह दो हज़ार वर्ष पुराने नहीं, बल्कि कुछ अजीब तौर पर हमारे ज़माने के विचार जान पड़ते हैं। इस तरह

के शक-व-शुबहे के विचार, ऐसी कशमकश, इंसानी दिमाग़ की परंपरा के खिलाफ़ यह बग़ावत, आखिर आई कहां से ? हम उस ज़माने के सामाजिक और राजनैतिक हालात ठीक तौर पर नहीं जानते, लेकिन यह बात काफ़ी ज़ाहिर है कि यह ज़माना राजनीतिक संघर्ष और समाजी उथल-पुथल का रहा है, जिसका नतीजा यह हुआ है कि मज़हब से यक़ीन उठ गया है और लोग दिमाग़ी जांच-पड़ताल में लगे हैं और खोज किसी ऐसे रास्ते से की हुई है जिससे मन को संतोष मिले। इसी दिमाग़ी उथल-पुथल और समाजी अबतरी से नए रास्ते निकले हैं और नए फ़िलसफ़ों ने शक्लें अख्तियार की हैं। उपनिषदों के सहज-ज्ञान से जुदा, बाक़ायदा फ़िलसफ़ों का दिखाई पड़ना शुरू होता है, और यह अनेक रूपों में जैन, बौद्ध, और जिसे हम दूसरे शब्द के अभाव से हिंदू कहेंगे—सामने आते हैं। इसी ज़माने के महाकाव्य हैं और भगवद्गीता भी इसी ज़माने की चीज़ है। इस ज़माने का काल-क्रम ठीक-ठीक मुक़र्रर कर सकना मुश्किल है, चूंकि विचार और सिद्धांत एक-दूसरे पर छाये हुए थे और आपस में उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती थी। बुद्ध, ईसा से पहले की छठी सदी में हुए हैं। इनमें कुछ का विकास उनसे क़ब्ल हुआ, कुछ का बाद में, या अक्सर इन दोनों के विकास साथ-साथ चलते रहे।

बौद्ध-धर्म के उदय के लगभग, फ़ारसी साम्राज्य सिंध नदी तक फैला हुआ था। एक बड़ी ताक़त के, हिंदुस्तान की ठीक सीमा तक आ जाने ने लोगों के विचारों पर असर डाला होगा। ईसा से पहले की चौथी सदी में, सिकंदर का, उत्तर-पच्छिम हिंदुस्तान पर थोड़े वक़्त का धावा हुआ। यह बज़ात-खुद तो कुछ ऐसी अहमियत नहीं रखता, लेकिन यह बड़े मार्के की तब्दीलियों का पेश-रौ था। सिकंदर की मौत के क़रीब-क़रीब ठीक बाद, चंद्रगुप्त ने आली-शान मौर्य सल्तनत बना कर खड़ी की। इतिहास की नज़र से हिंदुस्तान में यह पहला, दूर-दूर तक फैला हुआ, केंद्रीय राज्य था। परंपरा इस तरह के बहुत से हाकिमों और अधिपतियों की चर्चा करती है, और एक महाकाव्य में हिंदु-स्तान के आधिपत्य के लिए युद्ध होने का हाल दिया है। यहां मक़सद शायद उत्तरी हिंदुस्तान से है। लेकिन, ज़्यादा इमकान यह है कि क़दीम हिंदुस्तान, क़दीम यूनान की तरह छोटी रियासतों का एक गिरोह था। बहुत से गणतंत्र थे, और इनमें से कुछ का बड़ा विस्तार था; छोटी-छोटी रियासतें भी थीं, इनके अलावा, यूनान की तरह यहां शहरी रियासतें भी थीं और इनमें सौदा-गरों के ज़बर्दस्त संघ थे। बुद्ध के ज़माने में बहुत से गणतंत्र थे, और मध्य और उत्तरी हिंदुस्तान में (जिसमें अफ़ग़ानिस्तान का एक भाग, गांधार, भी था।) चार बड़े राज्य थे। संगठन जैसा भी रहा हो, शहरी या गाँव की खुद-अख्ति-यारी की परंपरा बड़ी मज़बूत थी, और उस हालत में भी जब कि किसी का

आधिपत्य मान लिया जाता था, रियासत के अंदरूनी इंतज़ाम में कोई बाहरी दख़ल न देता था। यहां एक क़िस्म की आदिम जनसत्ता थी, अगर्चे यूनान का तरह यहां भी यह ऊँचे वर्ग के लोगों तक महदूद थी।

क़दीम हिंदुस्तान और क़दीम यूनान, बहुत-सी बातों में एक-दूसरे से बहुत मुख़्तलिफ़ रहे हैं, फिर भी इनमें इतनी ज्यादा बातें ऐसी हैं जो आपस में एक-सी हैं, कि मेरा ख़याल होता है कि इनकी ज़िंदगी की पृष्ठभूमि बहुत मिलती-जुलती रही होगी। पेलोपोनीसियन युद्ध का, जिसने कि एथेन्स की जनसत्ता का ख़ात्मा किया, कुछ बातों में क़दीम हिंदुस्तान के बड़े युद्ध, महाभारत से मुक़ाबला हो सकता है। यूनानी सभ्यता और आज़ाद शहरी रियासतों की नाकामयाबी ने संदेह और निराशा के भाव पैदा किए, और इससे लोग रहस्यों और करिश्मों के पीछे पड़े और जाति के आदर्श गिरने लगे। बाद में फ़िलसफ़े के नए मतों—स्टोइक[1] और एपिक्यूरियन[2]—का विकास हुआ।

ज़रा-सी और कभी-कभी परस्पर-विरोधी सामग्री की बिना पर ऐतिहासिक तुलनाएं करना ख़तरनाक और भुलावे में डालने वाली बात हो सकती है। लेकिन हिंदुस्तान में, महाभारत की लड़ाई के बाद का ज़माना, जब कि मानसिक वातावरण बड़ा अस्त-व्यस्त हो गया था, हमें यूनान के उस ज़माने की याद दिलाता है जब कि यूनानी संस्कृति का अंत हो गया था। आदर्शों में पस्ती आ गई थी, और नए फ़िलसफ़ों की तलाश थी। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भीतरी तब्दीलियां होती रही होंगी, जैसे कि गणतंत्रों और शहरी रियासतों का कमज़ोर हो जाना, और केंद्रीय राज्यों की तरफ रुझान होना।

लेकिन यह मुक़ाबला हमें बहुत दूर नहीं ले जाता। दर-अस्ल यूनान इन धक्कों से कभी सँभला नहीं, अगर्चे यूनानी सभ्यता कुछ और सदियों तक मेडिटेरेनियन प्रदेश में बनी रही और उसने रोम और यूरोप पर अपना असर डाला। हिंदुस्तान अद्‌भुत रूप से सँभला और महाकाव्यों और बुद्ध के ज़माने से बाद के एक हज़ार वर्षों में रचनात्मक शक्ति की हम बहुतायत पाते हैं। फ़िलसफ़ा, साहित्य, नाटक, गणित, और कलाओं में हमें अनगिनित बड़े-बड़े नाम मिलते हैं। ईसवी काल की शुरू की सदियों में मानो स्फूर्ति फूटी पड़ती है और इसका नतीजा यह होता है कि उपनिवेशों में साहसी संगठन होते हैं, और यह हिंदुस्तान के लोगों और उनकी संस्कृति को पूर्वी समुद्र के दूर-दूर देशों तक पहुँचाते हैं।

---

[1]इस मत का कायम करने वाला जेनो नाम का फ़िलसूफ़ था। इस मत के लोग अपने आवेगों को क़ाबू में रखने पर ज़ोर देते थे।

[2]इस मत का संस्थापक एपीक्यूरस नाम का फ़िलसूफ़ था। दुनिया की चीज़ों का आनंद लेने के पक्ष में इसकी शिक्षा थी।

१२ : महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और कहानी-क़िस्से

क़दीम हिंदुस्तान के दो बड़े महाकाव्य—रामायण और महाभारत—शायद कई सदियों में तैयार हुए, और बाद में भी उनमें नए टुकड़े जोड़े जाते रहे। उनमें भारतीय आर्यों के शुरू के दिनों का हाल है—उनकी विजयों का, उनकी आपस की उस वक़्त की लड़ाइयों का जब कि वह फैल रहे थे और अपनी ताक़त को मज़बूत कर रहे थे—लेकिन इन महाकाव्यों की रचना और संग्रह बाद की बातें हैं। मैं कहीं की, किसी ऐसी पुस्तक को नहीं जानता हूं, जिसने कि आम जनता के दिमाग़ पर इतना लगातार और व्यापक असर डाला हो, जितना कि इन दो पुस्तकों ने डाला है। इतने क़दीम वक़्त में तैयार की गई होती हुई भी, वह हिंदुस्तानियों की ज़िंदगी में आज भी अपना जीता-जागता असर रखती हैं। मूल संस्कृत में तो थोड़े-बहुत क़ाबिल लोगों तक ही यह पहुँचती है, लेकिन तर्जुमों और बहुत से और तरीकों से जिनसे कि परंपरा और किस्से कहानियां फैलती हैं और आम लोगों की ज़िंदगी का ताना-बाना बन जाती है, यह जनता तक पहुँची हुई हैं।

इनमें हमें वह ख़ास हिंदुस्तानी ढंग मिलता है, जिसमें कि जुदा-जुदा सांस्कृतिक विकास के लोगों के लिए एक साथ सामग्री पेश की जाती है, यानी ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे के विद्वानों से लेकर अनपढ़ और अशिक्षित देहाती तक के लिए। इनके ज़रिए हमें क़दीम हिंदुस्तानियों का वह गुर कुछ-कुछ समझ में आ जाता है, जिससे वह एक पंचमेल और जात-पांत में बँटे हुए समाज को इकट्ठा बनाए रखने में, उनके झगड़ों को सुलझाते रहने में, उन्हें वीर परंपरा और नैतिक रहन-सहन की समान भूमिका देने में कामयाब हुए हैं। उन्होंने कोशिश करके लोगों में एक आम नज़रिया क़ायम किया और यह सब भेद-भावों से ऊपर था और बना रहा।

मेरे बचपन की सब से पहली यादों में इन महाकाव्यों की उन कहानियों की यादें हैं जिन्हें कि मैंने अपनी मां से और और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों से उसी तरह सुना था जिस तरह कि यूरोप या अमरीका में बच्चे परियों की या दूसरी साहस की कहानियां सुनते हैं। इन कहानियों में मेरे लिए, परियों की कहानियों, और साहस की कहानियों, दोनों ही के तत्त्व मौजूद थे और फिर हर साल खुले मैदान में होने वाले उन लोकप्रिय नाटकों में ले जाया जाता था, जहां कि रामायण की कथा का अभिनय होता था और बहुत बड़े मजमे उसे देखने के लिए इकट्ठा होते थे। यह सब बातें बड़े भद्दे ढंग से हुआ करती थीं, लेकिन इससे कोई फरक़ न पड़ता था, क्योंकि कहानी तो सभी लोगों की जानी हुई थी, और त्योहार के आनंद के दिन होते थे।

इस तरीके पर हिंदुस्तान की क़िस्से-कहानियां और पुरानी परंपरा मेरे दिमाग़ में घर करती रहीं, और यह बहुत-सी और दूसरी ख़याली बातों से मिलती-जुलती रहीं। मुझे ऐसा ख़याल नहीं कि मैंने इन कहानियों को हूबहू सच समझकर, उन पर कभी ज़्यादा अहमियत दी हो; बल्कि उनमें जादू-टोने या अलौकिकता के जो अंश होते, उनकी मैंने आलोचना भी की है। लेकिन कल्पना में, मेरे लिए वह काफ़ी सच्ची रही हैं, उसी तरह जिस तरह कि अलिफ़लैला या पंचतंत्र की कहानियां, जो कि जानवरों के क़िस्सों का भंडार हैं और जिनसे पच्छिमी एशिया और यूरोप ने बहुत कुछ हासिल किया है।[1] जब मैं बड़ा हुआ तो और तस्वीरें मेरे दिमाग़ में इकट्ठा हुईं: हिंदुस्तान और यूरोप की परियों की कहानियां, यूनानी दंत कथाएं, जॉन आव् आर्क की कहानी 'ऐलिस इन वंडरलैंड' की कहानी, अकबर और बीरबल की बहुत-सी कहानियां, शरलाक होम्स के क़िस्से, राजा आर्थर और उसके सरदारों की कथाएं, हिंदुस्तानी ग़दर की नायिका झांसी की रानी की कथा और राजपूती बहादुरी और जौहर की कहानियां। यह, और बहुत-सी और कहानियां, कुछ अजीब तरह के उलझाव के साथ मेरे दिमाग़ में भरी हुई थीं, लेकिन हमेशा इन के पीछे, एक भूमिका की तरह, वह हिंदुस्तानी दंत-कथाएं थीं जिन्हें कि मैंने अपने शुरू—बचपन के दिनों में सीखा था।

अगर मेरा यह हाल था, जिसके दिमाग़ पर तरह-तरह के असर पड़े थे, तो मैंने अनुभव किया कि इन पुरानी दंत-कथाओं और परंपरा का औरों

---

[1]पंचतंत्र के एशियायी और यूरोपीय भाषाओं में अनगिनित अनुवादों और नक़ल की कहानी लंबी, पेचीदा और दिलचस्प है। पहला तर्जुमा, जिसका कि पता चलता है, संस्कृत से पहलवी में ईसा की छठी सदी के मध्य में ईरान के बादशाह ख़ुसरो अनुशेरवां के कहने से हुआ था। उसके बहुत जल्द बाद (लगभग ५७० ई० में), सीरियन भाषा में एक तर्जुमा निकला, और उसके बाद एक तर्जुमा अरबी में हुआ। ग्यारहवीं सदी में सीरियन, अरबी और फ़ारसी में नए तर्जुमे हुए, इनमें से आख़िरी 'कलेला दमन' की कहानी के नाम से मशहूर हुआ। इन तर्जुमों के ज़रिये से 'पंचतंत्र' यूरोप में पहुँचा। ग्यारहवीं सदी के अंत में सीरियन से यूनानी भाषा में तर्जुमा हुआ, और कुछ बाद में इब्रानी भाषा में। पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों में इसके कई तर्जुमे या नक़लें लातीनी, इटालियन, स्पैनिश, जर्मन, स्वीडिश, डैनिश, डच, आइसलैंडिश, फ़रांसीसी, अंग्रेज़ी, हंगेरियन और कई स्लैव भाषाओं में हुईं। इस तरह से 'पंचतंत्र' की कहानियां एशियायी और यूरोपीय साहित्यों में मिल-जुल गईं।

के दिमाग़ पर, खा़स तौर पर हमारी अनपढ़ जनता के दिमाग़ पर कितना ज़्यादा पड़ा होगा। यह असर, संस्कृति और नीति, दोनों ही के लिहाज़ से अच्छा असर रहा है, और इन कहानियों या रूपकों की सुंदरता और खयाली संकेत को बरबाद करना या फेंक देना मैं हरगिज़ पसंद न करूंगा।

हिंदुस्तान की दंत-कथाएं महाकाव्योंतक महदूद नहीं हैं, वह वैदिक काल तक पहुंचती हैं और अनेक रूपों और पोशाकों में संस्कृत साहित्य में आती हैं। कवि और नाटककार इन से पूरा फा़यदा उठाते हैं और अपनी कथाएं और सुंदर कल्पनाएं इनके आधार पर बनाते हैं। कहा जाता है कि अशोक का वृक्ष एक सुंदरी स्त्री के पैरों से छुआ जाकर फूल उठता है। हम कामदेव की और उसकी स्त्री रति की कथाएं पढ़ते हैं, और उनके मित्र वसंत की। काम दुस्साहस करके अपना पुष्पवाण स्वयं शिव पर चलाता है और शिव के तीसरे नेत्र से निकली हुई ज्वाला में भस्म हो जाता है। लेकिन वह अनंग याना बिना शरीर का होकर ज़िंदा रहता है।

इन पुराणों की कथाओं और वीरगाथाओं मे सचाई पर अड़े रहने और चाहे जैसा जोखिम होने पर अपने वचन का पालन करने, मृत्यु तक और उसके बाद भी वफा़दारी न छोड़ने, साहसी और अच्छे काम करने, और लोकहित के लिए त्याग करने की शिक्षाएं दी गई हैं। कभी-कभी तो यह कहानियां बिलकुल खयाली होती हैं, कभी उनमें घटनाओं और कल्पनाओं का मेल-जोल रहता है, किसी ऐसी घटना का, जिसे परंपरा ने महफ़ूज़ रक्खा है, बढ़ा-चढ़ा बयान होता है। सच्ची घटनाएं और गढ़े हुए किस्से इस तरह एक में मिल गए हैं कि दोनों अंशो को अलग करना ग़ैर-मुमकिन है, और इस तरह का गड्ड-मड्ड खयाली इतिहास की जगह ले लेता है, जो चाहे हमें यह न बता सके कि दर-असल हुआ क्या, लेकिन जो हमें उतनी ही महत्त्व की दूसरी सूचना देता है, यानी लोग क्या हुआ समझते रहे हैं। उनकी समझ में उनके वीर पूर्वज कैसे-कैसे काम कर सकते थे, और उनके क्या आदर्श थे। इस तरह यह चाहे सच्ची घटनाएं हों चाहे गढ़े हुए किस्से, यहाँ के रहने वालों की ज़िंदगियों के यह जीते-जागते जुज़ बन जाते हैं, और उन्हें अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की नीरसता और कुरूपता से बचाकर ऊंची दुनिया की तरफ़ खींचते रहे हैं और आदर्श तक पहुंचना चाहे जितना भी कठिन रहा हो, हमेशा कर्त्तव्य और सही जीवन का रास्ता दिखाते रहे हैं।

कहा जाता है कि गेटे ने उन लोगों की मलामत की है जिन्होंने कि लूक्रिशिया की और दूसरी पुरानी रोमन वीर-गाथाओं को गढ़ंत और झूठी बताया है। उसने कहा है कि जो चीज़ दरअस्ल जाली और झूठी होगी, वह भद्दी और निकम्मी भी होगी, कभी सुंदर और रूह फूंकने वाली नहीं हो सकती,

और यह कि "अगर रोमन लोग इतने काफ़ी बड़े थे कि इस तरह की चीज़ें गढ़ सके, तो हमें कम-से कम इतना बड़ा होना चाहिए कि उनमें यकीन कर सकें।"

इसलिए यह कल्पित इतिहास, जो कि घटनाओं और गढ़ंत का मेल है, या जो कि कभी-कभी बिलकुल गढ़ंत है, एक प्रतीक के रूप में सत्य बन जाता है और हमें उस ख़ास ज़माने के लोगों के दिल और दिमाग़ और मक़सदों के बारे में बताता है। एक और मानी में यह सच है कि यह विचार और काम की बुनियाद में पहुंचता है जहां तक आने वाले इतिहास का ताल्लुक है। क़दीम हिंदुस्तान में, इतिहास की समूची धारणा पर फ़िलसफ़े और मज़हब के सोच-विचार का और इख़लाकी रुझानों का असर पड़ा है। तारीख़वार इतिहास लिखने की या घटनाओं का कोरा हाल इकट्ठा कर लेने की कोई ख़ास अहमियत नहीं रही है। जिस बात की उन्हें ज़्यादा फ़िक्र रही है वह यह है कि इंसानी घटनाओं का इंसानी आचरण पर क्या प्रभाव और असर रहा है। यूनानियों की तरह यह लोग बड़े कल्पनाशील और कला-विषय में गुणी थे और गुज़री हुई घटनाओं के बारे में भी उन्होंने कल्पना और कला से काम लिया है, क्योंकि उनका ध्यान इस बात पर रहा है कि आगे के आचरण के लिए कुछ सबक़ लिया जाय।

यूनानियों, चीनियों और अरब वालों की तरह क़दीम हिंदुस्तानी इतिहासकार नहीं थे। यह एक दुर्भाग्य की बात है और इसके कारण आज हमारे लिए तिथियां या काल-क्रम निश्चित करना मुश्किल हो गया है। घटनाएं एक-दूसरी से गुंथ जाती हैं और बड़ा उलझाव पैदा हो जाता है। बहुत धीरज के साथ मेहनत करके ही विद्वानों ने हिंदुस्तानी इतिहास की भूल-भुलैयां के बीच से कुछ अता-पता लगाया है। सच पूछा जाय तो सिर्फ़ एक किताब है, यानी कल्हण की 'राजतरंगिणी', जो कि ईसा की बारहवीं सदी में लिखा हुआ कश्मीर का इतिहास है, जिसे हम इतिहास कह सकते हैं। बाक़ी इतिहास के लिए हमें महाकाव्यों के कल्पित इतिहास की, या पुस्तकों की मदद लेनी पड़ती है, या शिलालेखों, कला के कारनामों या इमारतों के खंडहरों, सिक्कों, या विस्तृत संस्कृत साहित्य से जहां-तहां इशारे मिल जाते हैं। हां, विदेशी यात्रियों के सफ़रनामों से भी मदद मिलती है, ख़ासकर यूनानियों, चीनियों और, बाद के ज़माने के लिए, अरबों के सफ़रनामों से।

ऐतिहासिक बुद्धि की इस कमी से जनता का कोई नुकसान नहीं हुआ था; क्योंकि जैसा और जगह होता है, बल्कि और जगह से ज़्यादा, यहां जनता ने अतीत के बारे में अपने विचार परंपरागत बयानों, पुराण की कहानियों और गाथाओं की नींव पर जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती हैं, बनाए थे। यह क़यासी

तारीख या वाक़यों और कहानियोंकी मिलावट एसी थी जिससे लोग खूब परिचित हो गए थे और इस तरह जनता की एक पक्की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। लेकिन इतिहास की तरफ़ से लापरवाही के बुरे नतीजे भी हुए और यह अब तक हमारा पीछा कर रहे हैं। इसने हमारा नज़रिया धुंधला कर दिया, ज़िंदगी से एक तरह का बिलगाव पैदा किया, हमें झट विश्वास कर लेने वाला बना दिया और जहाँ तक वाक़ये का ताल्लुक़ था, हमारे दिमाग़ में उलझाव डाल दिया। फ़िलसफ़े के मैदान में, जो कि कहीं मुश्किल अगर्चे लाज़मी तौर पर अस्पष्ट और अनिश्चित होता है, हमें यह दिमाग़ी उलझाव नहीं मिलता; हम इस मैदान में हिंदुस्तानी दिमाग़ में विश्लेषण और समन्वय दोनों की क़ाबलियत पाते हैं, अकसर इसे हम बहुत नुक्ताचीन और शक व शुबहे करने वाला देखते हैं। लेकिन जहां तक वाक़ये का ताल्लुक़ है, यह ग़ैर-नुक्ताचीन रहा है, शायद इसलिए कि यह ख़ुद वाक़ये पर ज़्यादा अहमियत नहीं देता रहा है।

विज्ञान और आजकल की दुनिया से वास्ता पड़ने की वजह से अब वाक़यों की समझ-बूझ पैदा हुई है, जांच-पड़ताल की और प्रमाणों के तौलने की बुद्धि उपजी है, और परंपरा को ज्यों-का-त्यों क़बूल करने से इन्कार भी हुआ है। बहुत से क़ाबिल तारीख़-दाँ आजकल काम में लगे हुए हैं, लेकिन वह अकसर उलटी ही ग़लती करते हैं, यानी घटनाओं के काल-क्रम की तो बहुत छान-बीन करते हैं लेकिन ज़िंदा इतिहास को छोड़ देते हैं। लेकिन आजकल भी हम पर परंपरा का कितना असर होता है, यह एक ताज्जुब की बात ह, और बुद्धिमान् आदमी की विवेचना-बुद्धि भी जाती रहती है। मुमकिन है, यह इस वजह से हो कि हम अपनी मौजूदा हालत में जातीयता के ख़याल में ग़र्क़ हैं। जब हमें राजनीतिक और आर्थिक आज़ादी हासिल हो जायगी तभी हमारा दिमाग़ बाक़ायदा और सही अंदाज में काम करेगा।

जाँच-पड़ताल के नज़रिए क़ौमी परंपरा के बीच टक्कर की एक बहुत हाल की, अहमियत रखनेवाली और भेद प्रकट करने वाली, मिसाल हैं। हिंदुस्तान के बहुत बड़े हिस्से में विक्रम संवत् चलता है। इसका आधार सौर गिनती पर है, लेकिन महीने चाँद के अनुसार गिने जाते हैं। पिछले महीने में यानी, अप्रैल १९४४ में, इस संवत् के बमूजिब, दो हज़ार साल पूरे हुए, और एक नई सहस्राब्दी शुरू हुई। इस मौक़े पर सारे हिंदुस्तान में उत्सव मनाये गए, और यह उत्सव मनाया जाना वाजिब था, क्योंकि एक तो काल-गणना के ख़याल से यह बहुत बड़ा मौक़ा था, दूसरे विक्रम या विक्रमादित्य, जिसके नाम से यह संवत् चलता है, बहुत पुराने वक़्त से लोक-परंपरा का एक प्रधान पुरुष रहा है। उसके नाम के साथ अनगिनित कहानियाँ गुंथी हुई हैं और उनमें से बहुत-सी, मध्य युग में, जुदा-जुदा पोशाकों में, एशिया

के जुदा-जुदा हिस्सों में पहुची हैं और बाद में यूरोप में भी।

विक्रम, बहुत ज़माने से एक कौमी सूरमा और आदर्श राजा समझा जाता रहा है। उसकी याद एक ऐसे शासक के रूप में की जाती है जिसने कि विदेशी हमला करने वालों को मार भगाया। लेकिन उसकी कीर्ति की ख़ास वजह उसके दरबार की साहित्यिक और सांस्कृतिक चमक-दमक है, जहां कि उसने कुछ बहुत मशहूर कवियों, कलावंतों और गवैयों को इकट्ठा किया था और यह उसके दरबार के "नवरत्न" कहलाते थे। उसके बारे में जो कथाएं हैं, ज्यादातर ऐसी हैं जिनसे उसकी, अपनी प्रजा की भलाई करने की, ख्वाहिश ज़ाहिर होती है, और यह कि वह ज़रा-सी ज़रूरत पड़ने पर दूसरे को लाभ पहुंचाने के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करता था। वह अपनी उदारता, दूसरों की सेवा, साहस और निरभिमान के लिए मशहूर है। वह ख़ासकर इस वजह से लोकप्रिय है कि वह एक अच्छा आदमी, कलाओं का हामी और सरपरस्त समझा जाता था। वह सफल योद्धा या विजेता था, यह बात कहानियों में नहीं प्रकट की गई है। भलाई और आत्म-त्याग पर यह ज़ोर, हिंदुस्तानी दिमाग़ और हिंदुस्तानी आदर्शों की विशेषता है। सीज़र की तरह विक्रमादित्य का नाम, एक तरह की पदवी और प्रतीक बन गया और बाद के बहुत से शासकों ने इसे अपने नामों के साथ जोड़ लिया। इस वजह से गड़बड़ी पैदा हो गई, क्योंकि बहुत से विक्रमादित्यों का बयान इतिहास में आता है।

लेकिन यह विक्रम था कौन ? और वह कब हुआ ? इतिहास की दृष्टि से यह बात बिल्कुल अस्पष्ट है। ईसा से ५७ वर्ष पहले जब कि इस संवत् का आरंभ होता है, इस तरह के किसी शासक का पता नहीं है। हां, उत्तर हिंदुस्तान में, चौथी सदी ईस्वी में एक विक्रमादित्य था, जो हूणों के साथ लड़ा था और जिसने उन्हें मार भगाया था। यही वह व्यक्ति है जिसके दरबार में 'नवरत्नों' का होना समझ जाता है, और जिसके गिर्द यह कहानियाँ बनी हैं। अब सवाल यह होता है कि चौथी सदी ईस्वी के इस विक्रमादित्य का ताल्लुक़ उस संवत् से कैसे हो सकता है जिसका आरंभ इससे ५७ वर्ष पहले होता है ? शायद इसकी व्याख्या इस तरह है कि मध्य भारत की मालवा रियासत मे ५७ ई० से शुरू होने वाला एक संवत् चला आ रहा था, विक्रम के बहुत बाद यह संवत् उसके नाम के साथ किसी तरह जुड़ गया और उसका नया नामकरण हुआ। लेकिन यह सभी बातें अस्पष्ट और अनिश्चित हैं।

जो सबसे अचरज की बात है वह यह है कि काफ़ी समझ-बूझ के हिंदुस्तानियों ने, परंपरा के इस वीर पुरुष विक्रम के नाम के साथ जैसे भी हो, २००० वर्ष

पुराने इस संवत् को जोड़ने के लिए इतिहास के साथ किस तरीके पर खिलवाड़ किया है। यह बात भी दिलचस्प है कि विदेशी के ख़िलाफ़ लड़ाई करने पर और एक क़ौमी राज्य के अंतर्गत हिंदुस्तान की एकता क़ायम करने की इच्छा पर ज़ोर दिया गया है। दर-असल विक्रम का राज्य उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान तक महदूद था।

हिंदुस्तानी ही अकेले नहीं है, जिन पर इतिहास के लिखने या उस पर विचार करने में, क़ौमी भावनाओं और क़ौमी समझी गई दिलचस्पियों का असर पड़ता हो। हर क़ौम और सभी लोगों में, गुज़रे हुए ज़माने को ज़्यादा अच्छा करके दिखलाने और चमकाने तथा अपने पक्ष में तोड़ने-मरोड़ने की ख़्वाहिश रहती है। हिंदुस्तान के जिन इतिहासों को हममें से बहुतों को पढ़ना पड़ा है, वह ज़्यादातर अंग्रेजों के लिखे हुए हैं और जो आमतौर पर ब्रिटिश हुकूमत की तरफ़दारी में या तो सफ़ाइयां पेश करते हैं या उसके गुण गाते हैं। और उसके साथ-साथ यहां की हज़ारों वर्ष पहले होने वाली घटनाओं का, मुश्किल से छिपा हुई हिक़ारत के साथ बयान है। दर-असल, उनके लिए मतलब का इतिहास तो हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के आने के साथ शुरू होता है; उसके पहले जो कुछ हुआ वह किसी भेदभरे ढंग से, इस दैवी उत्कर्ष की तैयारी में हुआ है। ब्रिटिश ज़माने के इतिहास का भी, अंग्रेजों के गुणों और अंग्रेजी हुकूमत का बड़प्पन ज़ाहिर करने के लिए, तोड़-मरोड़ किया गया है। बहुत धीरे-धीरे एक ज़्यादा सही नज़रिया अब बन रहा है। लेकिन इतिहास में अपने मतलब के मुताबिक उलट-फेर करने की मिसाल के लिए गुज़रे ज़माने के इतिहास में पैठने की जरूरत नहीं। आज का ज़माना ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है, और अगर मौजूदा ज़माने की, जिसे हम देख रहे हैं और जिसका अनुभव कर रहे हैं, इस तरह तोड़-मरोड़ हो सकती है तो गुज़रे हुए ज़माने के बारे में क्या कहा जाय?

फिर भी यह सच है कि हिंदुस्तान के लोगों में परंपरा और चली आई बात को, बग़ैर पूरी-पूरी जांच-परख के, इतिहास के रूप में मान लेने की आदत है। उन्हें इस तरह के शिथिल विचारों से, और नतीजों पर पहुंचने के सहज तरीक़ों से अपने को छुड़ाना पड़ेगा।

लेकिन मैं देवताओं और देवियों की, और उन दिनों की चर्चा कर रहा था जब कि पुराण के क़िस्सों और कथाओं का आरंभ हुआ था, और इस चर्चा से बहुत दूर हट आया। वह ऐसे दिन थे, जब कि ज़िंदगी भरी-पूरी थी और प्रकृति के साथ उसका तार-तार मिला हुआ था, जब आदमी का दिमाग़ विश्व के रहस्यों पर अचरज और आनंद से निगाह डालता था, जब स्वर्ग और धरती एक-दूसरे के बहुत क़रीब जान पड़ते थे, और देवता लोग तथा देवियां कैलाश

से, या हिमालय में स्थित अपने धामों से, ओलिंपस के देवताओं की तरह, आदमियों और औरतों के बीच खेल करने या कभी-कभी उन्हें दंड देने के लिए उतर आते थे। इस भरी-पूरी ज़िंदगी और शानदार कल्पना से, कथा-कहानियों का, और बली तथा सुंदर देवताओं एवं देवियों का, जन्म हुआ, क्योंकि यूनानियों की तरह हिंदुस्तानी भी ज़िंदगी और सौंदर्य के प्रेमी थे। प्रोफ़ेसर गिल्बर्ट मरे हमें ओलिंपियन देवी-देवताओं की अपार सुंदरता बताते हैं। उनका बयान हिंदुस्तानी दिमाग़ की शुरू की सृष्टियों के बारे में भी ठीक उतरता है। "वह कलावंतों के सपने आदर्श और रूपक हैं; वह किसी ऐसी वस्तु के प्रतीक हैं जो हमसे बाहर की है, वह देवता हैं ऐसी परंपरा के जो आधी तर्क की जा चुकी है; अनजान में जिनकी कल्पना कर ली गई है; जिन तक हमारी आकांक्षाएं पहुँचती हैं। वह ऐसे देवता हैं, जिनकी उचित सावधानी के साथ, अधकचरे फ़िलसूफ़, अनेक उज्ज्वल और दिल को मथने वाले अनुमानों के प्रसंग में प्रार्थना कर सकते हैं। वह ऐसे देवता नहीं हैं, जिनमें कोई वाक़ये के तौर पर यक़ीन करता हो।"[1] इसके बाद जो प्रोफ़ेसर मरे कहते हैं वह भी हिंदुस्तान पर उतना ही लागू है: "जिस तरह कि आदमी की गढ़ी हुई सुंदर-से-सुंदर मूर्ति देवता नहीं होती, बल्कि एक प्रतीक होती है जिसके ज़रिये देवता की कल्पना हो सके; उसी तरह से ख़ुद देवता, जब उनकी कल्पना की जाती है तो, यथार्थ नहीं बन जाते, बल्कि यथार्थ की कल्पना में मदद करने वाले केवल एक प्रतीक होते हैं ··· इस बीच उन्होंने कोई ऐसा मत नही चलाया जो ज्ञान के ख़िलाफ़ पड़ता हो, कोई ऐसे हुक्म नहीं जारी किए जिनके कारण कि इंसान अपना अंदरूनी रोशनी के ख़िलाफ़ पाप करता।"

रफ़्ता-रफ़्ता वैदिक और दूसरे देवी देवताओं के दिन हटकर पीछे पहुँच गए और उसकी जगह कठिन फ़िलसफ़े ने ले ली। लेकिन लोगों के दिमाग़ों में सुख के संगियों और दुख के साथियों की तरह उनकी अपनी आकांक्षाओं और अस्पष्ट रूप से अनुभव किये गए आदर्शों के रूप में वह मूरतें फिर भी तिरती रहीं। और इनके गिर्द कवियों ने अपनी कल्पनाएं लपेटीं, और अपने सपनों के घर बनाए और उन्हें अच्छी तरह सजाया। इनमें से बहुत-सी कथाओं और कवियों की कल्पनाओं को एफ़० डब्ल्यू० बेन ने सुन्दर ढंग से, हिन्दुस्तानी कथाओं संबंधी अपनी किताबों में उतारा है। इनमें से एक

---

[1]यह और इसके बाद का उद्धरण दानों गिल्बर्ट मरे की पुस्तक 'फ़ाइव स्टजज़ आव् ग्रीक रेलिजन' ('थिंकर्स लाइब्रेरी') पृ० ७६ और बाद के पृष्ठ से, लिये गए हैं।

'डिजिट आव् दि मून' में हमें यह बताया गया है कि औरत की सृष्टि कैसे हुई। "शुरू में जब त्वश्त्रि (विश्वकर्मा,) स्त्री की रचना पर आया तो उसने पाया कि वह अपनी सारी सामग्री आदमी की बनावट में खर्च कर चुका है और ठोस तत्त्व बच नहीं रहा है। इस पशो-पेश में उसने गहरा सोच-विचार किया और जो किया वह यह था : उसने चांद की गोलाई, लताओं का खम, लता-तंतुओं का चिपटना, दूब का कंपना, नरकुल की नज़ाकत, फूलों का खिलाव, पत्तियों का हल्कापन, हाथी के सूँड का सुडौलपन, हिरनों की नज़र, मक्खियों का एकत्र होना, सूरज की किरनों की खुशी, बादलों का रोना, हवा की चंचलता, खरगोश का डर, और मोरों का घमंड लिया, फिर सुग्गे की छाती से कोमलता और बज्र से कठोरता, शहद की मिठास, चीते की निर्दयता, आग की धधक और बर्फ की ठंड, चिटचिटे की चहचहान, और कोयल की कूक, सारस का छल, और चकवे की वफ़ादारी ली और इन सबको मिला कर स्त्री को रचा और फिर उसे मनुष्य को दे दिया।"

१३ : महाभारत

महाकाव्यों का समय बताना कठिन है। इनमें उस क़दीम ज़माने का हाल है जब कि आर्य हिंदुस्तान में बस रहे थे और अपनी जड़ जमा रहे थे। ज़ाहिरा तौर पर इन्हें बहुत से लेखकों ने लिखा है या इनमें मुख़्तलिफ़ वक़्तों में इज़ाफ़ा किया है। रामायण ऐसा महाकाव्य है, जिसमें बयान में थोड़ी-बहुत एकता है; महाभारत प्राचीन ज्ञान का एक बड़ा और फुटकर संग्रह है। दोनों ही बौद्ध-काल से पहले बन गए होंगे, अगर्चे इसमें शक नहीं कि इनमें बाद में भी हिस्से जोड़े गए हैं।

फ्रांसीसी इतिहासकार मिशले, १८६४ में, ख़ासतौर पर रामायण के हवाले में लिखते हुए कहता है : "जिस किसी ने भी बड़े काम किए हैं या बड़ी आकांक्षाएं की हैं; उसे इस गहरे प्याले से ज़िंदगी और जवानी की एक लंबी घूट पीनी चाहिए...पश्चिम मे सभी चीज़ें संकरी और तंग हैं—यूनान एक छोटी जगह है और उसका विचार करके मेरा दम घुटता है; जूडिया खुश्क जगह है और मैं हॅफ जाता हूं। मुझे विशाल एशिया और गहन पूर्व की तरफ़ ज़रा देर को देखने दो। वहाँ मिलता है मेरे मन का महाकाव्य—हिंदुस्तान-सागर जैसा विस्तृत, मंगलमय, सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ, जिसमें दैवी संगीत है, और जहां कोई बेसुरापन नहीं। वहां एक गहरी शांति का राज्य है, और कशमकश के बीच भी वहां बेहद मिठास और इंतहा दर्जे का भाई-चारा है, जो कि सभी ज़िंदा चीज़ों पर छाया हुआ है; मुहब्बत, दया, क्षमा का अपार और अथाह समुंदर है।"

महाकाव्य की हैसियत से रामायण एक बहुत बड़ा ग्रंथ ज़रूर है और

उससे लोगों को बहुत चाव है लेकिन यह महाभारत है जो कि, दर-असल, दुनिया की सबसे खास पुस्तकों में से एक है। यह एक विराट् कृति है, परंपरा और कथाओं का, और हिंदुस्तान की क़दीम राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं का यह एक विश्व-कोष है। दस साल से ज़्यादा से, बहुत से अधिकारी हिंदुस्तानी विद्वान मिलकर, उन पाठों की जांच-पड़ताल में लगे हुए हैं, जो कि अब तक हासिल हुए हैं, जिसमें कि एक मुस्तनद संस्करण छपाया जा सके। कुछ हिस्से उन्होंने छापकर प्रकाशित भी कर दिए हैं, लेकिन काम अब भी अधूरा है और चल रहा है। यह एक दिलचस्प बात है कि इस भयानक और व्यापक युद्ध के दिनों में भी, रूस के पूर्वी विद्याओं के जानने वाले विद्वानों ने, महाभारत का रूसी तर्जुमा पेश किया है।

शायद यह वह ज़माना था, जबकि विदेशी लोग हिंदुस्तान में आरहे थे और अपने साथ अपने रीति-रिवाजों को ला रहे थे। इनमें से बहुत से रीति-रिवाज आर्यों के रीति-रिवाजों से मुख्तलिफ़ थे, और इस तरह विरोधी विचारों और रीति-रिवाजों की एक अजीब खिचड़ी हमें देखने में आती है। आर्यों में एक स्त्री के कई पति होने का चलन नहीं था, फिर भी हम पाते हैं कि महाभारत की एक खास पात्री के पांच पति हैं, जो आपस में भाई-भाई हैं। रफ्ता-रफ्ता पहले के आदिम निवासी और नए आनेवाले लोग दोनों ही आर्यों में घुल-मिल कर एक हो रहे थे, और वैदिक धर्म में भी इसी के मुताबिक तब्दीली आरही थी। यह वह व्यापक रूप अख्तियार कर रहा था जिस से कि मौजूदा हिंदू धर्म निकला है। यह मुमकिन इसलिए हो सका कि बुनियादी नज़रिया यह जान पड़ता है कि सचाई पर किसी एक का इज़ारा नहीं हो सकता, और उसे देखने और उस तक पहुंचने के बहुत से रास्ते हैं। इस तरह सभी तरह के, यहां तक कि विरोधी, विश्वासों को गवारा किया जाता था।

महाभारत में, हिंदुस्तान, (या जिसे गाथाओं के अनुसार जाति के आदि पुरुष भरत के नाम पर भारतवर्ष कहा जाता था) की बुनियादी एकता पर ज़ोर देने की बहुत निश्चित कोशिश की गई है। इसका एक और पहले का नाम आर्यावर्त्त, या आर्यों का देश, था। लेकिन यह मध्य-हिंदुस्तान के विंध्य पहाड़ तक फैले हुए, उत्तरी हिंदुस्तान तक, महदूद था। शायद उस ज़माने तक आर्य इस पहाड़ के सिलसिले के पार नहीं पहुँचे थे। रामायण की कथा, आर्यों के दक्खिन में पैठने का इतिहास है। वह बड़ी ख़ाना जंगी, जो बाद में हुई और जिसका कि महाभारत में बयान है, एक गोल-मोल तरीके से क़यास किया जाता है, कि ईसा से क़ब्ल चौदहवीं सदी में हुई। यह लड़ाई हिंदुस्तान (या शायद उत्तरी हिंदुस्तान) पर सबसे ऊंचा अधिकार हासिल करने के लिए हुई थी, और इससे सारे हिंदुस्तान के, भारतवर्ष के रूप में, कल्पना किए जाने की

शुरुआत होती है। भारतवर्ष की जो यह कल्पना थी, उसमें आजकल के अफ़ग़ानिस्तान का ज़्यादा हिस्सा, जिसे उस वक़्त गांधार कहते थे (और जिससे क़ंदहार शहर का नाम पड़ा है) शामिल था और इस देश का अपना अंग समझा जाता था। सच तो यह है कि मुख्य शासक की स्त्री का नाम गांधारी, या गांधार की लड़की, था। दिल्ली इसी वक़्त हिंदुस्तान की राजधानी बनती है—मौजूदा शहर नहीं, बल्कि इसके पास के, इससे मिले हुए पुराने शहर, जो कि हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ कहलाते थे।

बहन निवेदिता (मार्गरेट नोबुल) ने, महाभारत के बारे में लिखते हुए बताया है : "विदेशी पाठक पर...दो ख़ास बातों का असर पड़ता है। पहली बात तो यह है कि विविधता में यहां एकता मिलती है; दूसरी यह कि, सुनने वालों पर एक ऐसे मरकज़ी हिंदुस्तान के ख़याल को बिठाने की लगातार कोशिश है, जिसकी अपनी वीरता की परंपरा है, जो एकता के भाव को जगानें वाली है।"[1]

महाभारत में कृष्ण की कथाएं हैं, और भगवद्गीता नाम का मशहूर काव्य भी है। गीता के फ़िलसफ़े के अलावा भी, इस ग्रंथ में आमतौर पर ज़िंदगी में, और रियासती मामलों में नीति और इख़लाक़ के उसूलों पर ज़ोर दिया गया है। धर्म की इस बुनियाद के बग़ैर सच्चा सुख नहीं मिल सकता, और न समाज ही क़ायम रह सकता है। समाज की बहबूदी इसका मक़सद है, किसी एक गिरोह की बहबूदी नहीं, बल्कि सारी दुनिया की बहबूदी, क्योंकि 'मर्त्यों की यह दुनिया एक परस्पर-आश्रित संगठन है।' लेकिन धर्म ख़ुद सापेक्ष है और सचाई, अहिंसा वग़ैरह बुनियादी उसूलों के अलावा, यह वक्त और परिस्थिति पर निर्भर करता है। यह उसूल हमेशा-हमेशा क़ायम रहते हैं और इनमें तब्दीली नहीं आती, मगर इनके अलावा धर्म, जो कि कर्त्तव्यों और ज़िम्मेदारियों का गड्ड-मड्ड है, बदलते हुए ज़मानें के साथ बदलता रहता है। यहां और-और जगहों पर अहिंसा पर जो ज़ोर दिया गया है वह दिलचस्प है, क्योंकि इसमें और किसी अच्छे मक़सद के लिए लड़ाई करने में, कोई ज़ाहिरा विरोध नहीं माना गया है। सारा महाकाव्य एक बड़े युद्ध की घटनाओं को लेकर रचा गया है। जान पड़ता है कि अहिंसा की कल्पना का संबंध ज़्यादातर मक़सद से था, यानी मन में हिंसा का भाव न रखना चाहिए, आत्म-संयम करना चाहिए और ग़ुस्से और नफ़रत पर काबू पाना चाहिए; इसका मतलब यह नहीं था, कि अगर ज़रूरी हो और किसी तरह

---

[1]यह उद्धरण मैंने सर एस० राधाकृष्णन् की पुस्तक 'इंडियन फ़िलासफ़ी' से लिया है। मैं राधाकृष्णन् का, और उद्धरणों के लिए, और इस अध्याय और दूसरे अध्यायों की बहुत-सी बातों के लिए, एहसानमंद हूं।

बचत न हो सके तो भी शरीर से कोई हिंसा का काम न बन पड़ना चाहिए।

महाभारत एक ऐसा बेश-बहा भंडार है कि हमें उसमें बहुत तरह की क़ीमती चीज़ें मिल सकती हैं। यह रंग-बिरंगी, घनी और खुदबुदाती हुई ज़िंदगी से भरपूर है, और इस बात में यह हिंदुस्तानी विचार-धारा के दूसरे पहलू से बहुत हटकर है, जिसमें कि तपस्या और ज़िंदगी से इन्कार पर ज़ोर दिया गया है। यह महज़ नीति की शिक्षा देने वाली किताब नहीं है, हालांकि नीति और इख़लाक़ की तालीम इसमें काफ़ी मिलेगी। महाभारत की शिक्षा का सार एक जुमले में रख दिया गया है : "दूसरे के लिए तू ऐसी बात न कर जो तुझे खुद अपने लिए नापसंद हो।" ज़ोर समाज की भलाई पर दिया गया है, और यह बात मार्के की है; क्योंकि ख़याल यह किया जाता है कि हिंदुस्तानी दिमाग़ की रुझान शख़्सी कमाल हासिल करने की जानिब रही है न कि समाज की भलाई की तरफ़। इसमें कहा है : "जिससे समाज की भलाई नहीं होती, या जिसे करते हुए तुम्हें शर्म आती है, उसे न करो।"

फिर कहा है, "सचाई, अपने को बस में रखना, तपस्या, उदारता, अहिंसा, धर्म पर डटे रहना—इनसे कामयाबी हासिल होती है, जात और ख़ांदान से नहीं।" "ज़िंदगी और अमर होने से धर्म बढ़कर है।" "सच्चे आनंद के लिए तकलीफ़ उठाना ज़रूरी है।" धन कमाने के पीछे पड़े रहने वाले पर एक व्यंग है : "रेशम का कीड़ा, अपने धन के कारण मरता है।" और, अंत में, एक जीती-जागती और तरक़्क़ी करती हुई जाति के लोगों के उपयुक्त यह आदेश है : "असंतोष तरक़्क़ी के लिए उकसाने वाला है।"

महाभारत में वेदों का बहुदेववाद है, उपनिषदों का अद्वैतवाद है, और देववाद, द्वैतवाद और एकेश्वरवाद भी हैं। फिर भी नज़रिया रचनात्मक कमोबेश बुद्धिवादी है। अलहदगी की भावना अभी तक महदूद है। जात-पांत के मामलों में कट्टरपन नहीं है। अभी भी लोगों में अपने में भरोसा है; लेकिन ज्यों-ज्यों बाहरी ताकतों के हमले होते हैं और पुरानी व्यवस्था पर वार होता है, त्यों-त्यों यह भरोसा कुछ कम होता जाता है और अंदरूनी एकता और शक्ति पैदा करने के लिए ज़्यादा समानता की मांग होती है। नए-नए निषेध लागू होते हैं। गो-मांस का खाना, जिसे कि पहले बुरा न समझा जाता था, बाद में बिलकुल मना कर दिया जाता है। महाभारत में, मान्य अतिथियों को गो-मांस और बछड़े का मांस पेश करने के हवाले हैं।

१४ : भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत का अंश है; एक बहुत बड़े नाटक की एक घटना है। लेकिन उसकी अपनी अलग जगह है, और वह अपने में संपूर्ण

है । यों यह ७०० श्लोकों का छोटा-सा काव्य है, लेकिन विलियम वॉन हम्बोल्ट ने इसके बारे में लिखा है कि "यह सबसे सुंदर, शायद अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है, जो कि किसी भी जानी हुई भाषा में मिलता है।" बौद्ध-काल से पहले जब इसकी रचना हुई, तब से आज तक इसकी लोकप्रियता और प्रभाव घटे नहीं हैं, और आज भी इसके लिए हिंदुस्तान में पहले जैसा आकर्षण बना हुआ है । विचार और फ़िलसफ़े का हर एक संप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है, और अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या करता है । संकट के वक़्त, जब कि आदमी का दिमाग़ संदेह से सताया हुआ होता है, और अपने फ़र्ज के बारे में उसे दुविधा दो तरफ़ खींचती होती है, यह रोशनी और रहनुमाई के लिए गीता की तरफ़ और भी झुकता है । क्योंकि यह संकट-काल के लिए लिखी गई कविता है——राजनीतिक और सामाजिक संकटों के अवसर के लिए, और उससे भी ज़्यादा इंसान की आत्मा के संकट-काल के लिए । गीता की अनगिनित व्याख्याएं निकल चुकी हैं, और अब भी बराबर निकलती रहती हैं । विचार और काम के मैदान के आजकल के नेताओं——तिलक, अरविंद घोष, गांधी——ने भी इसके संबंध में लिखा है और अपनी-अपनी व्याख्याएं दी हैं । गांधीजीने इसे, अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास का, आधार बनाया है और लोगों ने इसे हिंसा और धर्म-कार्य के लिए युद्ध का ।

यह काव्य, घोर युद्ध शुरू होने से पहले, ठीक लड़ाई के मैदान में, अर्जुन और कृष्ण की बातचीत के रूप में आरंभ होता है । अर्जुन विचलित है, उसकी अंतरात्मा लड़ाई और उससे होने वाले बड़े संहार का, मित्रों और बंधुओं के संहार का, खयाल करके सहम उठती है । आख़िर यह सब किस लिए ? कौन से ऐसे फ़ायदे की कल्पना हो सकती है, जो इस नुक़सान का, इस पाप का, परिहार कर सके ? उसकी सभी पुरानी कसौटियां जवाब दे देती हैं, वह सभी मूल्य, जिन्हें उसने आंक रक्खा था, बेकार हो जाते हैं । अर्जुन इंसान की पीड़ित आत्मा का प्रतीक बन जाता है, ऐसी आत्मा का, जो सभी ज़मानों में, फ़र्ज़ और इख़लाक़ के तक़ाज़ों की वजह से दुविधा में पड़ी रही है । इस शख़्सी बातचीत से होते-होते हम आदमी के फ़र्ज़ और सामाजिक आचरण, इंसानी ज़िंदगी और सदाचार, और हमारा रूहानी नज़रिया कैसा होना चाहिए, इन ग़ैर-शख़्सी ख़यालों तक पहुँच जाते हैं । इसमें बहुत कुछ ऐसा है जो आध्यात्मिक है ; और इस बात की कोशिश की गई है कि इंसानी तरक़्क़ी के तीन रास्तों——ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग——का इसके ज़रिये समन्वय हो । शायद भक्ति पर औरों की बनिस्बत ज़्यादा ज़ोर दिया गया है, और एक व्यक्तिगत ईश्वर का रूप भी इसमें दिखता है, हालांकि यह कहा गया है कि वह पूर्ण रूप परमेश्वर का ही एक अवतार है । गीता में ख़ास तौर

पर इंसानी ज़िंदगी की रूहानी ज़मीन दिखाई गई है, और इसी भूमिका में रोज़मर्रा की ज़िंदगी के व्यावहारिक मसले हमारे सामने आते हैं। यह हमें ज़िंदगी के फ़र्जों और कर्त्तव्यों का सामना करने के लि पुकारती है, लेकिन हमेशा इस तरह कि इस रूहानी ज़मीन और विश्व के बड़े मक़सद को नज़र-अंदाज़ न किया जाय। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहने की बुराई की गई है और यह बताया गया है कि काम और ज़िंदगी को युग के सबसे ऊँचे आदर्शों के बमूजिब होना चाहिए, क्योंकि हर एक युग में खुद आदर्श बदलते रहते हैं। एक खास जमाने के आदर्श, युग धर्म का सदा ध्यान रखना चाहिए।

चूंकि आज के हिंदुस्तान पर मायूसी छाई हुई है और उसके चुप-चाप रहने की भी एक हद हो गई है, इसलिए काम में लगने की यह पुकार ख़ास तौर पर अच्छी मालूम पड़ती है। यह भी मुमकिन है कि ज़माने हाल के लफ़्ज़ों में, इस पुकार को, समाज के सुधार की और समाज-सेवा की, और अमली, बेग़रज़, देशभक्ति के, और इंसानी दर्दमंदी के काम की पुकार समझा जाय। गीता के बमूजिब ऐसा काम अच्छा होता है, लेकिन इसके पीछे रूहानी मक़सद का होना लाज़मी है। यह काम त्याग की भावना से किया जाना चाहिए और इसे नतीजों की फ़िक्र न करनी चाहिए। अगर काम सही है, तो नतीजे भी इसके सही होंगे, चाहे वह फ़ौरन न ज़ाहिर हों, क्योंकि कार्य और कारण का नियम हर हालत में अपना काम करेगा ही।

गीता का संदेसा साम्प्रदायिक या किसी एक ख़ास विचार के लोगों के लिए नहीं है। क्या ब्राह्मण और क्या अजात, यह सभी के लिए है। यह कहा गया है कि "सभी रास्ते मुझ तक पहुंचाते हैं।" इसी व्यापकता की वजह से सभी वर्ग और संप्रदाय के लोगों को गीता मान्य हुई है। इसमें कोई बात ऐसी है कि इसमें हमेशा नयापन पैदा किया जा सकता है और ज़माना गुज़रने के साथ पुरानी पड़ने से इसे रोकता है—यह जिज्ञासा और जाँच-पड़ताल का, विचार और कर्म का, और बावजूद संघर्ष और विरोध के समतौल क़ायम रखने का कोई ख़ास गुण है। विषमता के बीच में भी हम उसमें एकता और संतुलन पाते हैं। और बदलती हुई परिस्थिति पर विजय पाने का रुख़, और यह इस तरह नहीं कि जो कुछ सामने है, उससे मुंह मोड़ा जाय, बल्कि इस तरह कि उसमें अपने काम के लिए जगह बनाई जाय। ढाई हज़ार बरसों में, जो इसके लिखे जाने के बाद गुज़रे हैं, हिंदुस्तान के लोगों ने न जाने कितनी तब्दीलियां देखी हैं और चढ़ाव-उतार भी देखा है; तजुर्बे-पर-तजुर्बे हुए हैं; ख़याल-पर-ख़याल उठे हैं, लेकिन उन्हें हमेशा गीता में कोई ज़िंदा चीज़ मिली है, जो कि उनके तरक़्क़ी करते हुए विचार से मेल खा गई है, जिसमें ताज़गी रही है, और दिमाग़ को छेड़ने वाले रूहानी मसलों पर जो लागू रही है।

१५ : क़दीम हिंदुस्तान में ज़िंदगी और कार-बार

विद्वानों और फ़िलसूफ़ों ने क़दीम हिंदुस्तान के फ़िलसफ़े और अध्यात्म के विकास को जांचने के लिए बहुत कुछ किया है; तारीख़ी घटनाओं का काल-क्रम निश्चित करने के लिए भी बहुत कुछ किया गया है। लेकिन उन वक़्तों के सामाजिक और आर्थिक हालात को मालूम करने के लिए अभी ज़्यादा काम नहीं हुआ है—यह कि किस तरह लोग रहते-सहते थे और अपना धंधा करते थे, क्या चीज़ें और किस तरह पैदा करते थे और व्यापार किस ढंग से होता था। इन बहुत अहम मसलों पर अब ज़्यादा ध्यान दिया जा रहा है और हिंदुस्तानी विद्वानों के लिखे हुए कुछ ग्रंथ निकले हैं और एक अमरीकन की लिखी हुई एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। महाभारत ख़ुद समाज-शास्त्र संबंधी और और सूचनाओं का भंडार है और यक़ीनी तौर पर दूसरी बहुत-सी पुस्तकों से हमें जानकारी हासिल हो सकती है। लेकिन उनकी इस नुक़्ते-नज़र से, ग़ौर के साथ जांच-पड़ताल करना ज़रूरी है। एक किताब, जिसकी कि इस ख़याल से बहुत ज़्यादा क़ीमत है, कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' है, जो कि ईसा से क़ब्ल चौथी सदी में लिखा गया था, और जिसमें कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक बातों और मोर्चों के फ़ौजी संगठन के बारे में बहुत-सी तफ़सीली जानकारी मिलती है।

इससे भी पहले का एक बयान, जो कि हमें बुद्ध से भी क़ब्ल के ज़माने तक पहुँचाता है, हमें जातक कथाओं में मिलता है। इन जातक कथाओं का मौजूदा रूप बुद्ध के समय से बाद का है। इनमें बुद्ध के पहले के जन्मों का हाल लिखा हुआ ख़याल किया जाता है और यह बौद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन गई है। लेकिन ज़ाहिरा तौर पर यह कहानियां और भी पुरानी हैं और इनमें बौद्ध-काल से क़ब्ल का ज़िक्र है। इनसे हमें उस ज़माने के हिंदुस्तान की ज़िंदगी के बारे में बहुत-सी सूचना मिलती है। प्रोफ़ेसर रीज़ डेविड्स ने इन्हें लोक-कथाओं का सबसे पुराना, सबसे मुकम्मल और सब से महत्त्व का संग्रह बताया है। बाद के अनेक संग्रह, जिनमें जानवरों की और और कहानियां इकट्ठा की गई हैं, जो कि हिंदुस्तान में लिखे गए और बाद में पच्छिमी एशिया और यूरोप में फैले, इन्हीं जातकों से निकले सिद्ध किए जा सकते हैं।

जातकों में उस ज़माने का ज़िक्र है जब कि हिंदुस्तान की दो ख़ास जातियों का, यानी द्रविड़ों और आर्यों का, आख़िरी मेल-मिलाप हो रहा था। उनसे एक "विविध और अस्त-व्यस्त समाज का पता लगता है, जिसके वर्गीकरण की सभी कोशिशें बेसूद होंगी और जिसके बारे में उस ज़माने की वर्ण-

व्यवस्था के अनुसार संगठन की कोई बात ही नहीं हो सकती।"[1] यह कहा जा सकता है कि जातकों में हमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों की परंपरा के विरोध में जन-साधारण की परंपरा मिलती है।

जुदा-जुदा राज्यों और शासकों के काल-क्रम और वंशावलियां हमें मिलती हैं। शुरू में राजा चुना जाता था; बाद में राजे वंश-गत होने लगे और सबसे जेठा लड़का राज्य का अधिकारी होता। औरतें उत्तराधिकार से अलग रक्खी गई हैं, लेकिन इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। जैसा कि चीन में रहा है, शासक सभी दुर्भाग्यों के ज़िम्मेदार ठहराए जाते थे।

अगर कोई बात बिगड़ती है तो इलज़ाम राजा पर आता है। मंत्रियों की समितियां हुआ करती थीं, और एक तरह की राज्य परिषद् के भी हवाले मिलते हैं। फिर भी राजा ख़ुदमुख़्तार, हुआ करता था, हालांकि उसे कुछ क़ायमशुदा मुआहदों के बमूजिब चलना पड़ता था। दरबार में पुरोहित का पद बड़ा ऊंचा माना जाता था; वह सलाहकार भी होता था और धार्मिक रसूमों को अदा करने वाला भी। ज़ालिम और अन्यायी राजाओं के ख़िलाफ़ जनता के विद्रोह के भी हवाले मिलते हैं, और ऐसे राजाओं को उनके अपराधों के लिए जानें तक गँवानी पड़ी हैं।

गाँव की पंचायतों को एक हद तक ख़ुदमुख़्तारी हासिल थी। ज़मीन के लगान से ख़ास आमदनी थी। यह ख़याल किया जाता था कि ज़मीन पर लगाया गया कर राजा के हिस्से का है; आमतौर पर यह गल्ले या उपज की शक्ल में अदा किया जाता था, लेकिन हमेशा ऐसा न होता था। यह ख़ासकर किसानों की तहज़ीब थी और इसकी बुनियादी इकाई यही ख़ुदमुख़्तार गाँव हुआ करते थे। इन्हीं गांवों की जनता के आधार पर राजनीतिक और आर्थिक संगठन होता था; दस-दस और सौ-सौ गांवों के गिरोह बना दिए जाते थे। बाग़बानी, पशु-पालन और ग्वालों का धंधा बहुत बड़े पैमाने पर होता था। बाग़ और उद्यान बहुतायत से थे और फूलों और फलों की क़द्र की जाती थी। जिन फूलों का ज़िक्र है उनकी एक लंबी सूची तैयार होगी; जो फल पसंद किए जाते थे वह आम, अंजीर, अंगूर, केला और खजूर हैं। ज़ाहिरा

---

[1] रिचर्डफ़िक : 'दि सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज़ टाइम' ('बुद्ध के ज़माने में पूर्वोत्तर हिंदुस्तान का सामाजिक संगठन') (कलकत्ता, १९२०), पृष्ठ २८६। एक और हाल की पुस्तक जो ख़ासकर जातक-कथाओं के आधार पर लिखी गई है, रतिलाल मेहता की 'प्रि-बुद्धिस्ट इंडिया' (पूर्व-बुद्धकालीन भारत') (बंबई, १९३९) है। अपनी ज़्यादातर सामग्री के लिए मैं इस दूसरी पुस्तक का आभारी हूं।

तौर पर तरकारी और फल बेचने वालों की, और मालियों की शहरों में बहुत-सी दुकानें हुआ करती थीं। आज की तरह उस जमाने में भी फूलों के मालों की बड़ी कद्र थी।

शिकार एक बाक़ायदा धंधा था, ख़ास तौर से इसलिए कि उसके ज़रिये खाना हासिल होता था। मांसाहार साधारण-सी बात थी, और इसमें मुर्ग़ और मछलियां शामिल थीं; हिरण के गोश्त की बड़ी क़द्र होती थी। मछुओं का अलग धंधा था, और क़साई-ख़ाने भी थे। लेकिन खाने की ख़ास चीज़ें चावल, गेहूं, बाजरा और मक्का थी। ईख से शक्कर बनाई जाती थी। आज की तरह उस ज़माने में भी दूध और उससे बनी दूसरी चीज़ों की बड़ी क़द्र थी। शराब की दुकानें भी थीं; और शराब जान पड़ता है कि चावल, फल और ईख से तैयार की जाती थी।

धातुओं और क़ीमती पत्थरों की खानें थीं। जिन धातुओं का ज़िक्र आया है, वह यह है सोना, चांदी, ताँबा, लोहा, सीसा, टिन, पीतल। क़ीमती पत्थरों में हीरा, लाल, मूंगा है; मोतियों का भी ज़िक्र है। सोने, चांदी और तांबे के सिक्कों के हवाले हैं। व्यापार के लिए साझे हुआ करते थे और सूद पर क़र्ज़ दिया जाता था।

तैयार किए गए माल में रेशम, ऊन और रुई के कपड़े; लोइयां, कंबल, और क़ालीन हैं। कताई, बुनाई, रंगाई के धंधे ख़ूब फैले हुए और नफ़े के धंधे थे। धातुओं के व्यवसाय से लड़ाई के हथियार तैयार होते थे। इमारत के धंधे में पत्थर, लकड़ी और ईटें काम में आती थीं। बढ़ई लोग तरह-तरह के सामान तैयार करते थे, जैसे गाड़ियां, रथ, पलंग, कुरसियां, बेंचें, पेटियां, खिलौने वग़ैरह। बेंत का काम करने वाले चटाई, टोकरियां, पखे और छाते तैयार करते थे। कुम्हार हर एक गांव में होते थे। फूलों और चंदन की लकड़ी से कई तरह की सुगधियां, तेल और सिंगार की चीज़ें तैयार की जाती थीं, इसमें चंदन की बुकनी भी होती थी। कई तरह की दवाइयां और आसव तैयार होते थे और कभी-कभी मरे हुए आदमी के शरीर को मसाला लगाकर सुरक्षित रक्खा जाता था।

बहुत तरह के कारीगरों और दस्तकारों के अलावा, जिनका कि चर्चा हुआ है, कई और पेशेवरों के हवाले मिलते हैं। यह हैं : अध्यापक, वैद्य, जर्राह, व्यापारी, दुकानदार, गवैये, ज्योतिषी, कुंजड़े, भांड, बाज़ीगर, नट, कठपुतली का तमाशा करने वाले और फेरी वाले।

घरों में दासों का होना काफ़ी मामूली बात थी, लेकिन खेती के काम और दूसरे कामों के लिए मज़दूर लगाए जाते थे। उस वक़्त भी थोड़े से अछूत थे—यह चांडाल कहलाते थे और इनका ख़ास काम था मुर्दों को फेंकना या जलाना।

व्यापारियों की जमाअतों और कारीगरों के संघों का महत्त्व माना जा चुका था। फ़िक का कहना है : "व्यापारी सभाएं, जो कि कुछ तो आर्थिक वजहों से बनी थीं, कुछ पूंजी के अच्छे ढंग से इस्तैमाल और मिलने-जुलने की सहूलियतों की वजह से, और कुछ अपने वर्ग के क़ानूनी हितों की हिफ़ाजत के लिए, हिंदुस्तानी संस्कृति के शुरू के ज़माने में बन चुकी थीं।" जातकों में लिखा है कि कारीगरों के १८ संघ थे, लेकिन उनमें सिर्फ़ चार नाम से बताए गए है, यानी बढ़इयों और मेमारों के, सुनारों के, चमड़े का काम करने वालों के और रंगसाजों के।

महाकाव्यों में भी व्यापारी और कारीगरों के संगठनों के हवाले हैं। महाभारत में लिखा है : "संघों की रक्षा एकता से है।" कहा जाता है कि व्यापारियों के संघों का ऐसा ज़ोर था कि राजा भी इनके खिलाफ़ कोई क़ानून नहीं बना सकता था। पुरोहितों के बाद इन संघों के मुखियों को बताया गया है, जिनका कि राजा को खास ध्यान रखना चाहिए।"[१] व्यापारियों का मुखिया श्रेष्ठ (आजकल का सेठ) बहुत काफ़ी महत्त्व रखता था।

जातकों के बयान से एक कुछ ग़ैर-मामूली विकास का पता लगता है। यह हैं, खास-खास धंधा करने वालों के अलग गांव या बस्तियां। जैसे एक बढ़इयों का गांव था, जिसमें कि कहा जाता है एक हज़ार घर थे। एक सुनारों का गाँव था, और उसी तरह और भी थे। इस तरह के खास पेशेवरों के गाँव आम तौर पर शहरों के क़रीब होते थे, जहाँ कि उनकी बनाई चीज़ों की खपत हाती थी और जहाँ कि उन्हें अपनी ज़रूरत की और चीज़ें हासिल हो जाती थीं। जान पड़ता है कि सारा गांव सहकारिता के उसूलों पर काम करता था और बड़े-बड़े ठेके लिया करता था। शायद इस अलहदा संगठन और रहने की वजह से ज़ातों का विकास हुआ और वह फैलीं। ब्राह्मणों और कुलीनों की मिसालें रफ़्ता-रफ़्ता व्यापारियों के संघों और कारीगरों की सभाओं ने अपनाईं।

बड़ी-बड़ी सड़कें, जिनके किनारे यात्रियों के आराम के लिए घर बने थे, और कहीं-कहीं अस्पताल भी, सारे उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थीं और दूर-दूर जगहों को मिलाती थीं। ईसा से क़ब्ल की पाँचवीं सदी में, मिस्र में, मेम्फ़ीज नाम की जगह पर, हिंदुस्तानी व्यापारियों की एक बस्ती थी, जैसा कि वहां पाई गई हिंदुस्तानियों के सिरों की मूर्तियों से पता चलता है। शायद हिंदुस्तान और दक्खिन-पूर्वी एशिया के टापुओं के बीच भी व्यापार हुआ करता था। समुद्र पार के व्यापार के लिए जहाज़ों की ज़रूरत थी और यह ज़ाहिर

---

[१]'कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ २६९. प्रो० वाशवर्न हाप्किंस का लेख।

है कि हिंदुस्तान में देश के भीतर नदियों पर चलने के लिए, बल्कि समुंदर पर चलने वाले जहाज़ बनते थे। महाकाव्यों में 'दूर से आने वाले सौदागरों' से जहाज़ की चुंगी लिए जाने के हवाले हैं।

जातकों में सौदागरों की समुद्र-यात्राओं के हवाले भरे पड़े हैं। ख़ुश्की के रास्ते से, रेगिस्तानों को पार करके भड़ोंच के पच्छिमी बंदरगाह तक और उत्तर में गांधार और मध्य एशिया तक कारवां जाया करते थे। भड़ोंच से जहाज़ बैबिलन (बावेरू) के लिए फ़ारस की खाड़ी को जाया करते थे। नदियों के रास्ते बड़ी आमद-रफ़्त हुआ करती थी और जातकों के अनुसार बेड़े बनारस, पटना, चंपा (भागलपुर) और दूसरे जगहों से समुंदर को जाया करते थे और वहां से दक्खिनी बंदरगाहों और लंका और मलय टापू तक। पुराने तमिल काव्यों में कावेरीपट्टिनम नाम के बंदरगाह का हाल मिलता है, जो कि दक्खिन में कावेरी नदी के किनारे पर था और जो कि अंतर्जातीय व्यापार का केन्द्र था। यह जहाज़ काफ़ी बड़े होते होंगे, क्योंकि जातकों में बताया गया है कि एक जहाज़ पर 'सैकड़ों' व्यापारी और यात्री सवार हुए।

'मिलिंद' में (यह ईसा से बाद की पहली सदी की रचना है। मिलिंद उत्तरी हिंदुस्तान का यूनानी बाख़्त्री राजा था, जो कि कट्टर बौद्ध बन गया था) यह लिखा है : "जिस तरह कि एक जहाज़ का मालिक, जिसने किसी समुद्री बंदरगाह के शहर में, माल के भाड़े से ख़ूब धन कमा लिया है, समुद्र-यात्रा करके बंग (बंगाल), या तक्कोल, या चीन, या सोविर, या इस्कंदरिया या कारोमंडल तट पर, या हिंदुस्तान से पूर्व, या किसी ऐसी जगह जहां जहाज़ इकट्ठा होते हैं, जा सकता है।"[१]

"हिंदुस्तान से बाहर जाने वाले माल में रेशम के कपड़े, मलमल, और महीन कपड़े, छुरियां, ज़िरह-बख़्तर, कमख़ाब, ज़रदोज़ी के काम, लोइयां, इत्र-फुलेल, दवाइयां, हाथी-दांत और हाथी-दांत की बनी चीज़ें, ज़ेवर और सोना (चांदी बहुत कम)—यह ख़ास चीज़ें होती थीं, जिन्हें कि व्यापारी भेजा करते थे।"[२]

हिंदुस्तान, बल्कि उत्तरी हिंदुस्तान अपने लड़ाई के हथियारों के लिए मशहूर था, ख़ास तौर पर अपने लोहे की उम्दगी के लिए और तलवारों और कटारों के लिए। ईसा से क़ब्ल की पाँचवीं सदी में, हिंदुस्तानी सिपाहियों की एक बड़ी टुकड़ी, पैदल और घुड़सवार दोनों की, ईरानी फ़ौज के साथ यूनान

---

[१]मिसेज़ सी० ए० एफ़० रीज़ डविड्स ने 'कॅंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया' (जिल्द १), पृष्ठ २१२, में उद्धृत किया है।

[२]रीज़ डेविड्स : 'बुद्धिस्ट इंडिया', पष्ठ ९८।

गई थी। जब कि अलेग्ज़ेंडर ने ईरान पर हमला किया, तो (यह फ़िरदौसी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'शाहनामा' में लिखा है) हिंदुस्तान से ईरानियों ने जल्दी-जल्दी से तलवारें और और हथियार मंगाए। तलवार के लिए पुराना (इस्लाम से क़ब्ल का) अरबी लफ़्ज़ है 'मुहन्नद', जिसके मानी हैं 'हिंद से आया हुआ' या हिंदुस्तानी। यह लफ़्ज़ आजकल भी आम तौर पर इस्तैमाल किया जाता है।

क़दीम हिंदुस्तान में, जान पड़ता है कि, लोहे के तैयार करने में बड़ी तरक़्क़ी हो गई थी। दिल्ली के पास एक बहुत बड़ा लोहे का खम्भा है जिसने आजकल के वैज्ञानिकों को दंग कर दिया है, और वह नहीं पता लगा सके हैं कि यह किस तरह बना होगा, क्योंकि इस पर न जंग लग सका है और न दूसरी मौसमी तब्दीलियों का असर पहुँचा है। इस पर जो लेख खुदा हुआ है वह गुप्त ज़माने की लिपि में है जो कि ईसा से बाद की चौथी सदी में रायज थी। लेकिन कुछ विद्वानों का यह कहना है कि खंभा खुद इस लेख से क़ब्ल का है और यह लेख बाद में जोड़ा गया है।

ईसा से क़ब्ल की चौथी सदी में, अलेग्ज़ेंडर का हिंदुस्तान पर हमला, फ़ौजी नुक़्ते-नज़र से एक छोटी-सी बात थी। यह एक सरहदी धावे के क़िस्म का हमला था और वह भी बहुत कामयाब हमला नहीं था। एक सरहदी सरदार ने उससे ऐसा कड़ा मोर्चा लिया कि खास हिंदुस्तान पर बढ़कर आने के अपने विचार को उसे पलटना पड़ा। अगर सरहदी इलाके का एक छोटा-सा हाकिम इस तरह लड़ सकता था, तो और दक्खिन के ज़्यादा ताक़तवर राज्यों का क्या कहा जा सकता है? शायद यही वजह थी कि उसकी फ़ौज ने और आगे बढ़ने से इन्कार किया और वापस लौटने का इसरार किया।

हिंदुस्तान की फ़ौजी ताक़त का अंदाज़ अलेग्ज़ेंडर के वापस जाने और उसका मौत के थोड़े ही दिनों बाद मिला जब कि सिल्यूकस ने दूसरा हमला करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे हराकर पीछे भगा दिया। उस ज़माने में हिंदुस्तानी फ़ौजो को एक ऐसी सुविधा थी जो दूसरों को नहीं हासिल थी; यह सिखाए हुए हाथियों की सुविधा थी, जिन्हें कि आजकल के टैंकों से मिलाया जा सकता है। सिल्यूकस निकाटोर ने हिंदुस्तान से ऐसे ५०० लड़ाई के हाथी हासिल किए और ३०२ ई० पू० में एशिया माइनर में, ऐंटिगोनस के ख़िलाफ़ लड़ाई में इन्हें लगाया। फ़ौजी मामलों के जानकार इतिहासकारों का कहना है कि ऐंटिगोनस मारा गया और उसका बेटा दिमित्रियस भाग गया तो इसकी खास वजह यह हाथी थे।

हाथियों का सिखाने, घोड़ों की नस्ल तैयार करने, आदि विषयों पर किताबें लिखी गई हैं; इनमें हर एक को शास्त्र कहा गया है। अब इस शब्द का अर्थ धर्म ग्रंथों के लिए लिया जाने लगा है, लेकिन इसका इस्तैमाल

गणित से लेकर नृत्य तक किसी भी तरह की विद्या के लिए बिना भेद-भाव के किया जाता था। दर-अस्ल धर्म और दुनियावी ज्ञान के बीच में कोई विभाजक लकीर नहीं खींची गई थी। यह आपस में इस तरह सटे हुए थे कि एक-दूसरे के ऊपर आ जाते थे और हर एक बात जिसकी कि जिंदगी के लिए उपयोगिता होती, जांच का विषय बन जाती।

हिंदुस्तान में लिखने का रिवाज़ बहुत ही पुराना है। बाद के पाषाण युग के मिट्टी के बरतनों पर ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अक्षर मिले हैं। मोहन-जो-दड़ो में ऐसे लेख मिले हैं जिन्हें अभी तक पूरी तरह नही पढ़ा जा सका है। ब्राह्मी लेख जो हिंदुस्तान में सभी जगह मिले हैं, ऐसे हैं जिनकी लिपि पूरी तरह देवनागरी लिपि की बुनियाद में है, इसमें कोई शुबहा नही हो सकता। अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी में हैं, पच्छिमोत्तर के और लेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

ईसा से क़ब्ल छठी या सातवीं सदी में पाणिनि ने अपना संस्कृत-व्याकरण तैयार किया।[1] उन्होंने और भी व्याकरणों का ज़िक्र किया है, और उस ज़माने में भी संस्कृत का रूप स्थिर हो चुका था और यह एक बराबर बढ़ते हुए साहित्य की भाषा बन चुकी थी।

पाणिनि की पुस्तक को केवल व्याकरण न समझना चाहिए। लेनिनग्राड के सोवियत प्रोफ़ेसर टी० शेरवात्सकी ने उसका बयान करते हुए उसे "इंसानी दिमाग़ की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक" बताया है। आज भी पाणिनि संस्कृत व्याकरण पर प्रमाण माने जाते हैं, हालांकि बाद के वैयाकरणों ने उसमें और बातें जोड़ी हैं और उसकी अपने ढंग से व्याख्यायें की हैं। यह एक दिलचस्प बात है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि की चर्चा की है। इससे पता चलता है कि हिंदुस्तान और यूनान के बीच, अलेग्ज़ेंडर के पूरब आने से पहले ही, किसी-न-किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

ज्योतिष का ख़ास तौर पर अध्ययन होता था और अक्सर यह अध्ययन फलित ज्योतिष की तरफ़ झुकता था। औषध-शास्त्र की पाठ्य पुस्तकें बनी थीं और अस्पताल भी थे। हिंदुस्तानी औषध-शास्त्र का संस्थापक धन्वंतरि था, ऐसी परंपरा है। लेकिन सबसे मशहूर पुरानी पाठ्य पुस्तकें ईस्वी सन् की शुरू की सदियों में रची गई। इनमें औषध पर चरक की, और शल्य या जर्राही पर सुश्रुत की पुस्तकें है। यह ख़याल किया जाता है कि कनिष्क (जिस की राजधानी पश्चिमोत्तर में थी) के दरबार का राजवैद्य चरक था। इन

---

[1]कीथ और कुछ दूसरे लेखक पाणिनि का समय ३०० ई० पू० के लगभग बताते हैं। लेकिन सब प्रमाणों को तोलने से यह साफ ज़ाहिर होता है कि उसकी रचना बौद्ध-काल से पहले की है।

पुस्तकों में बहुत से रोगों का बयान है और उनके निदान और इलाज बताए गए है। इनमें जर्राही, दाइयों का काम, स्नान, खान-पान, सफ़ाई, बच्चों को खिलाने के ढंग और चिकित्सा संबंधी शिक्षा, यह बातें बताई गई हैं। हम प्रयोग की तरफ़ रुझान देखते है और मुर्दों के ऊपर चीर-फाड़, जर्राही की शिक्षा के साथ-साथ, कराई जाती थी। सुश्रुत ने बहुत से जर्राही के औज़ारों का ज़िक्र किया है और चीर-फाड़ का भी, जिसमें कि अंगों को काटने, पेट चीरने, पेट चीरकर बच्चा निकालने, मोतियाबिंद की जर्राही वग़ैरह हैं। घावों के कीड़ों को बफारा देकर मारा जाता था। ईसा से क़ब्ल की तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। यह शायद जैनियों और बौद्धों के मज़हबों के असर से बने थे, जिनमें कि अहिंसा पर ज़ोर दिया गया है।

गणित में क़दीम हिंदुस्तानियों ने कुछ इन्क़लाबी आविष्कार किए थे—ख़ास तौर पर शून्य के चिन्ह, दशमलव प्रणाली, ऋण के चिन्ह, और बीज गणित में अज्ञात राशियों के लिए अक्षरों के इस्तेमाल के ज़रिये। इन आविष्कारों का वक़्त बताना मुश्किल है, क्योंकि उसूल के दर्याफ़्त और उसके व्यवहार के बीच बड़े लंबे ज़माने का फ़र्क़ आ जाता है। लेकिन यह ज़ाहिर है कि अंक गणित बीज गणित और रेखा गणित की शुरुआतें सबसे क़दीम ज़माने में हो चुकी थीं। ऋग्वेद के ज़माने में भी गिनती के लिए दहाई का इस्तेमाल किया जाता था। इन क़दीम हिंदुस्तानियों में गिनती और समय का ग़ैर मामूली एहसास था। बहुत बड़ी राशियों के नामों की एक लंबी सूची उन्होंने बना रक्खी थी। यूनानियों, रोमनों, ईरानियों और अरबों के यहां ज़ाहिरा हज़ार या ज़्यादा-से-ज़्यादा दस हज़ार ($१०^४ = १०,०००$) की संख्या से आगे के नाम न थे। हिंदुस्तान में १८ निश्चित नामकरण ($१०^{१८}$) तो थे ही; और इससे भी लंबी सूचियां बन गई थीं। बुद्ध की शुरू की तालीम के बयान से हमें मालूम होता है कि $१०^{५०}$ तक की संख्याओं के अलग-अलग नाम वह ले सकते थे।

दूसरा तरफ़ वक़्त का बड़ा सूक्ष्म विभाजन होगया था, और इसकी सब से छोटी इकाई लगभग एक सेकंड का सत्रहवां हिस्सा थी। लंबाई की सबसे छोटी माप क़रीब-क़रीब १.३×७^{-१०} इंच थी। यह सब बड़ी और छोटी राशियां महज़ फ़र्ज़ी थीं, और इनका इस्तैमाल फ़िलसफ़े के विचारों में हुआ करता था। फिर भी क़दीम हिंदुस्तानियों की देश-काल की कल्पना और क़दीम क़ौमों के मुक़ाबले कहीं बढ़ी-चढ़ी थी। उनका चिंतन बहुत बड़े पैमाने पर होता था। उनकी पुराण की कथाओं में अर्बों-खर्बों साल के युगों का बयान है। आजकल के भूगर्भ शास्त्र के विशद युगों की गिनतियां और नक्षत्रों की दूरी की बहुत बड़ी मापें उनके लिए अचरज की चीजें न होतीं। इस पृष्ठभूमि की वजह से डार्विन के और इसी तरह के दूसरे सिद्धांतों ने हिंदुस्तान में वह उथल-

पुथल और अंदरूनी संघर्ष नहीं पैदा किया जो कि उन्नीसवीं सदी के बीच के ज़माने में उठा था। यूरोप की साधारण जनता के दिमाग़ में जो वक़्त का पैमाना आमतौर पर आता था, वह कुछ हज़ार सालों से आगे का नहीं था।

'अर्थ शास्त्र' में उत्तरी हिंदुस्तान में ईसा से क़ब्ल की चौथी सदी में बरती जाने वाली मापें और तौलें मिलती हैं। बाजार में तौल के बटखरों की कड़ी जाँच हुआ करती थी।

पुराणों के ज़माने में अक्सर वन के आश्रमों का ज़िक्र है जो कि एक तरह के विश्वविद्यालय होते थे। यह शहरों से बहुत दूर पर नहीं होते थे और यहां मशहूर विद्वानों के गिर्द शिक्षा-दीक्षा के लिए विद्यार्थी इकट्ठा हुआ करते थे। यह शिक्षा कई विषयों की होती थी, इसमें फ़ौजी शिक्षा शामिल थी। इन आश्रमों को इसलिए पसंद किया जाता था कि विद्यार्थी लोग यहां शहर के शोर-गुल और आकर्षणों से दूर रहते हुए, संयम और ब्रह्मचर्य की ज़िंदगी बिता सकते थे। यहां कुछ साल तालीम हासिल करके वह वापस जाकर गृहस्थी की और शहरी ज़िंदगी बिताते थे। शायद इन आश्रमों या गुरुकुलों में छोटे-छोटे गुट्ट इकट्ठा हुआ करते थे, अगर्चे इस बात के संकेत मिलते हैं कि लोकप्रिय गुरुओं के यहां, बड़े शुमार में विद्यार्थी खिचकर पहुँचा करते थे।

बनारस हमेशा से विद्या का एक केंद्र रहा है, और बुद्ध के ज़माने में भी यह मशहूर था और प्राचीन माना जाता था। बनारस के पास मृगदाव में बुद्ध ने सबसे पहले उपदेश दिया था, लेकिन बनारस किसी ज़माने में ऐसे विश्व-विद्यालय का केंद्र था, जैसे कि उस वक्त और बाद में और जगहों में थे, यह नहीं जान पड़ता। वहां पर गुरुओं और शिष्यों के बहुत से अलग-अलग समुदाय थे, और अक्सर विरोधी समुदायों में तीखे मुबाहसे या शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

लेकिन पच्छिमोत्तर में, मौजूदा पेशावर के पास, एक क़दीम और मशहूर विश्वविद्यालय तक्षशिला में था। यह खास तौर पर विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र और कलाओं के लिए मशहूर था और हिंदुस्तान के दूर-दूर के हिस्सों से यहां लोग आया करते थे। जातक कथाओं में ऐसी बहुत-सी मिसालें हैं उन कुलीनों और ब्राह्मणों के बेटों की, जो तक्षशिला में शिक्षा हासिल करने के लिए, अकेले और बिना किसी रक्षा के अस्त्र के जाया करते थे। इसकी स्थिति ऐसी थी कि बहुत करके यहां मध्य एशिया और अफ़गानिस्तान से भी विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आया करते थे। तक्षशिला का स्नातक होना एक इज़्ज़त की बात समझी जाती थी। जो वैद्य यहां से चिकित्सा-शास्त्र सीखकर निकलते थे, उनकी बड़ी क़द्र होती थी, और इसका बयान मिलता है कि जब कभी बुद्ध बीमार पड़ते थे, तब उनके भक्त ऐसे मशहूर वैद्य को बुलाते थे जो कि तक्षशिला का स्नातक होता था। ईसा से क़ब्ल की छठी-सातवीं सदी के वैया-

करण पाणिनि ने यहीं शिक्षा पाई थी ।

इस तरह तक्षशिला बौद्ध ज़माने से पहले का, ब्राह्मणों का विद्यापीठ था। बौद्ध ज़माने में यहां बौद्ध विद्यार्थी भी, सारे हिंदुस्तान से और सीमा-पार से खिचकर आते थे, इसलिए यह बौद्ध-ज्ञान का भी मरकज़ बन गया था। यह मौर्य सल्तनत के, पच्छिमोत्तरी सूबे का सदर मुक़ाम भी था।

क़ानून के लिहाज़ से औरतों का दर्जा, सबसे पहले स्मृतिकार मनु के अनुसार, यक़ीनी तौर पर, गिरा हुआ था। वह हमेशा किसी-न-किसी के सहारे पर रहती थीं, वह चाहे बाप का हो, चाहे पति का, चाहे बेटे का। क़ानून की नज़र में उन्हें चल-सम्पत्ति जैसा खयाल किया जाता था। फिर भी, महाकाव्यों की बहुत-सी कथाओं से पता चलता है कि इस क़ानून का कड़ा बरताव नहीं होता था और उन्हें समाज में और घरों में इज़्ज़त का ओहदा मिलता था। पुराने स्मृतिकार मनु खुद लिखते हैं : "जहाँ औरतों की इज़्ज़त होती है, वहां देवता लोग आकर बसते हैं।" तक्षशिला या किसी पुराने विद्यापीठ के सिल-सिले में विद्यार्थिनों का जिक्र नहीं मिलता। लेकिन उनमें से कुछ कहीं-न-कहीं शिक्षा ज़रूर पाती रही हैं, क्योंकि विदुषी और पढ़ी-लिखी स्त्रियों का बार-बार चर्चा हुआ है। बाद के ज़मानों में भी मशहूर विदुषी स्त्रियां हुई हैं। औरतों का क़ानूनी दर्जा क़दीम हिंदुस्तान में, गिरा हुआ ज़रूर था, लेकिन आज की कसौटी से जांचा जाय तो क़दीम यूनान, रोम, शुरू के ईसाई मत वाले मुल्कों और मध्य युग के बल्कि और हाल के, यानी उन्नीसवीं सदी के शुरू के, यूरोप में, उनका जैसा दर्जा था, उससे यहां कहीं अच्छा था।

मनु और उनके बाद के स्मृतिकार, व्यापार में साझे के चलन का हाल बताते हैं। मनु ने खास तौर पर ब्राह्मणों की बातें कही हैं; याज्ञवल्क्य ने व्यापारी वर्ग और किसानों के बारे में भी लिखा है। एक बाद के लिखने वाले, नारद, ने कहा है : "हर एक हिस्सेदार का घाटा, खर्च, और नफ़ा उसकी लगाई पूँजी के अनुसार कम या ज्यादा होता है। गोदाम, खाने का, चुंगी का, नुकसान का, किराये-भाड़े का और हिफ़ाज़त का खर्चा हर हिस्सेदार को मुआहदे के बमूजिब देना चाहिए।"

राज्य की जो कल्पना मनु ने की है, वह ज़ाहिरा तौर पर एक छोटे राज्य की है। लेकिन इस कल्पना में विकास और तब्दीलियां हो रही थीं, यहां तक कि इसके अंदर ईसा से पहले की चौथी सदी के विशाल मौर्य साम्राज्य और यूनानियों से अंतर्जातीय संपर्क तक आ गए।

ईसा से क़ब्ल की चौथी सदी में, हिंदुस्तान में रहने वाले, यूनानी राज-दूत मेगास्थनीज़ ने, हिंदुस्तान में, किसी तरह की भी ग़ुलामी के रिवाज के होने से, इन्कार किया है। लेकिन ऐसा करने में उसने ग़लती की है, क्योंकि

इसी ज़माने की हिंदुस्तानी किताबों में दासों की हालत के सुधारने के हवाले मिलते हैं। फिर भी यह बात ज़ाहिर है कि यहां बड़े-पैमाने पर ग़ुलामी नहीं थी, और जैसा कि बहुत से दूसरे मुल्कों में इस ज़माने में एक आम बात थी, यहाँ मज़दूरी करने वाले ग़ुलामों के गिरोह नहीं थे। शायद इसी से मेगास्थानीज़ ने समझा हो कि ग़ुलामी यहाँ बिल्कुल थी ही नहीं। यह लिखा गया था कि " 'आर्य' कभी दास नहीं बनाया जा सकता।" ठीक तौर पर कौन 'आर्य' था और कौन नहीं था, यह बताना मुश्किल है; लेकिन आर्यों के दायरे में उस वक़्त बहुत-कुछ चारों ही ख़ास वर्ण, जिनमें शूद्र भी थे, आ जाते थे; सिर्फ़ अछूत नहीं आते थे।

चीन में भी शुरू के हान वंश के ज़माने में, ग़ुलाम, ख़ासकर घरेलू सेवा के लिए, हुआ करते थे। खेती या बड़े पैमाने पर मज़दूरी में उनका ज़्यादा काम न होता था। चीन और हिंदुस्तान दोनों ही जगह इस तरह के घरेलू ग़ुलाम, आबादी के लिहाज़ से, गिनती में बहुत थोड़े थे, और इस ख़ास मामले में हिंदुस्तानी और चीनी समाज और समकालीन यूनानी और रोमन समाज में बड़ा फ़र्क था।

उस ज़माने के हिंदुस्तानी कैसे थे? हमारे लिए इतने पुराने और इस ज़माने से इतने मुख़्तलिफ़ ज़माने के बारे में कयास करना मुश्किल है; फिर भी जो मुतफ़र्रिक जानकारी हमें है उससे एक धुंधली तस्वीर हमारे सामने आती ही है। वह खुले दिल के, अपने में भरोसा रखने वाले, अपनी परंपरा पर फ़ख़्र करने वाले लोग थे; रहस्य की खोज में हाथ पैर फेंकने वाले, प्रकृति और इंसानी ज़िंदगी के बारे में बहुत से सवाल करने वाले, अपनी बनाई मर्यादा और क़ायम किए गए मूल्यों के बारे में सावधान रहने वाले थे, लेकिन ज़िंदगी में आनंद के साथ हिस्सा लेने वाले और मौत का लापरवाही से सामना करने वाले थे। अलेग्ज़ेंडर के उत्तरी हिंदुस्तान के हमले के यूनानी इतिहासकार, एरियन पर आर्य जाति की इस ज़िंदादिली का असर हुआ था। वह लिखता है: "कोई क़ौम गाने और नाचने की इतनी शौक़ीन नहीं, जितना कि हिंदुस्तानी हैं।"

१६ : महावीर और बुद्ध : वर्ण-व्यवस्था

महाकाव्यों के ज़माने से लेकर शुरू बौद्ध-काल तक, उत्तरी हिंदुस्तान की कुछ इस तरह की भूमिका रही है जैसी कि ऊपर बताई गई है। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से यह बराबर बदलती रही है, और मिलने-जुलने और समन्वय का और धंधों के मख़सूस होकर बँट जाने का अमल जारी रहा है। विचार के मैदान में बराबर विकास होता रहा है और अक्सर संघर्ष रहा

है। शुरू के उपनिषदों के बाद के ज़माने में, बहुत-सी दिशाओं में विचार और काम में तरक्क़ी हुई है, और यह ख़ुद कर्म-कांड और पुरोहिताई के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया के रूप में रही है। लोगों का दिमाग़, जो कुछ वह देखते थे, उसके ख़िलाफ़ विद्रोह करता था, और इस विद्रोह का नतीजा था जो कि शुरू के उपनिषदों में, और कुछ समय बाद, जड़वाद, जैनधर्म और बौद्ध धर्म के रूप में, और भगवद्गीता में पाए जाने वाले सब धर्मों के समन्वय में हमें मिलता है। फिर इन सबके भीतर से हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े या दर्शन की छः पद्धतियां निकलती हैं। लेकिन इस सब मानसिक संघर्ष और विद्रोह के पीछे एक जीती-जागती और तरक्क़ी करती हुई क़ौमी ज़िंदगी थी।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म और उसकी शाखाओं से हटकर थे, अगर्चे एक मान में यह ख़ुद उसी से निकले थे। यह वेदों को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं, और जो बात सबसे बुनियादी है वह यह है कि यह आदि कारण के बारे में या तो मौन हैं या उससे इन्कार करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर ज़ोर देते हैं और ब्रह्मचारी भिक्खुओं और पुरोहितों के संघ बनाते हैं। उनका नज़रिया एक हद तक यथार्थवादी और बुनियादी नज़रिया है, हालांकि जब अनदेखी दुनिया पर विचार करना हो तो लाज़िमी तौर पर यह नज़रिया हमें बहुत आगे नहीं ले जाता। जैन धर्म का एक बुनियादी सिद्धांत है कि सत्य हमारे विचारों से सापेक्ष है। यह एक कठोर नीतिवादी और अपरोक्षवादी विचार-पद्धति है; और इस धर्म में ज़िंदगी और विचार में तपस्या के पहलू पर ज़ोर दिया गया है।

जैन धर्म के संस्थापक महावीर और बुद्ध समकालीन थे। दोनों ही क्षत्रिय वर्ण के थे। बुद्ध का ८० वर्ष की उम्र में, ईसा से ५४४ वर्ष पहले निर्वाण हुआ। तभी से बौद्ध संवत् शुरू होता है। (यह तिथि परंपरा के बमूजिब है। इतिहासकार बाद की तारीख़, यानी ४८७ ई० पू०, देते हैं। लेकिन अब उनका रुझान परंपरा गत तिथि को मानने की तरफ़ है)। यह एक अद्भुत संयोग है कि मैं यह सतरें बौद्ध संवत् २४८८ की पहली तारीख़ वैशाखी पूर्णिमा के दिन लिख रहा हूं। बौद्ध साहित्य में यह लिखा है कि बुद्ध का जन्म इसी वैशाख (मई-जून) महीने की पूर्णिमा को हुआ था, इसी तिथि को उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था और इसी तिथि को उनका निर्वाण भी हुआ था।

बुद्ध में प्रचलित धर्म, अंध-विश्वास, कर्म-कांड और यज्ञ आदि की प्रथा पर और इनके साथ जुड़े हुए स्थापित स्वार्थों पर हमला करने का साहस था। उन्होंने आधिभौतिक और परमार्थी नज़रिये का, करामातों, इलहाम, अलौकिक व्यापार आदि का विरोध किया। दलील, अक़्ल और तजुर्बे पर उनका आग्रह था, और उन्होंने नीति या इख़लाक़ पर ज़ोर दिया। उनका तरीक़ा था मनो-

वैज्ञानिक विश्लेषण का और इस मनोविज्ञान में आत्मा को जगह नहीं दी गई थी। उनका नज़रिया आधिभौतिक कल्पना की बासी हवा के बाद पहाड़ की ताज़ी हवा के हल्के थपेड़े-सा जान पड़ता है।

बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था पर कोई सीधा वार नहीं किया, लेकिन अपने संघ में उन्होंने इसे जगह नहीं दी और इसमें शक नहीं कि उनका सारा रुख और काम करने का ढंग ऐसा रहा कि उससे वर्ण-व्यवस्था को धक्का पहुंचा। शायद उनके समय में और कुछ सदियों बाद तक जात या वर्ण-व्यवस्था बहुत तरल दशा में थी। यह ज़ाहिर है कि जिस समाज में जात-पांत के बंधन हों, वह विदेशों से व्यापार में, या दूसरे साहसी कामों में बहुत हिस्सा नहीं ले सकता, और फिर भी बुद्ध के पंद्रह सौ बरस बाद तक हम देखते हैं कि हिंदुस्तान और पड़ोसी मुल्कों के बीच व्यापार तरक्क़ी कर रहा था, और हिंदुस्तानी उपनिवेशों की भी अच्छी हालत थी। पच्छिमोत्तर से विदेशी लोगों के आने का तांता बंधा रहा और यह लोग यहाँ जज़्ब होते रहे।

जज़्ब होने की इस गति पर विचार करना मनोरंजक है। यह गति दोनों सिरों पर काम करती रही। नीचे की तरफ़ तो नई जातें बनती गईं; दूसरी तरफ़ जितने कामयाब हमलावर होते, सब क्षत्रिय बन जाते। ईसाई सन् से ठीक पहले और बाद की सदियों के सिक्के दो-तीन पीढ़ियों के भीतर-भीतर तेज़ी के साथ होने वाली यह तब्दीली ज़ाहिर करते हैं। पहले शासक का नाम विदेशी है; उसके बेटे या पोते का नाम संस्कृत का है, और उसे गद्दी पर बिठाने के वक़्त वही परंपरागत विधि बरती जाती है, जो कि क्षत्रियों के लिए बनाई गई थी।

बहुत से राजपूत क्षत्रिय वंश उस वक़्त से शुरू होते हैं, जब कि शकों या सिदियनों के हमले, ईसा से क़ब्ल की दूसरी सदी में होने लगे थे, या जब कि बाद में सफ़ेद हूणों के हमले हुए। इन सबों ने मुल्क में प्रचलित धर्म को और संस्थाओं को क़बूल कर लिया, और बाद में उन्होंने महाकाव्यों के वीर-पुरुषों से रिश्ता जोड़ना शुरू किया। क्षत्रिय वर्ण ज़्यादातर अपने पद और प्रतिष्ठा के कारण बना था, न कि जन्म की वजह से; इसलिए विदेशियों के लिए इसमें शरीक होजाना बड़ा आसान था।

यह एक अजीब लेकिन मार्के की बात है कि हिंदुस्तानी इतिहास की लंबी मुद्दत में बड़े लोगों ने पुरोहितों और वर्ण-व्यवस्था की सख़्तियों के ख़िलाफ़ बार बार आवाज़ उठाई है, और इनके ख़िलाफ़ ताक़तवर तहरीकें हुई हैं; फिर भी रफ़्ता-रफ़्ता, क़रीब-क़रीब इस तरह कि पता भी नहीं चलता, मानो भाग्य का कोई न टलने वाला चक्र हो, जात-पाँत का ज़ोर बढ़ा है और उसने फैलकर हिंदुस्तानी ज़िंदगी के हर एक पहलू को अपने शिकंजे में जकड़

लिया है। जात के विरोधियों का बहुत लोगों ने साथ दिया है और अंत
इनकी खुद अलग जात बन गई है। जैन धर्म, जो कायम-शुदा धर्म से विद्र
करके उठा था, और बहुत तरह से उससे जुदा था, जात की तरफ़ सहिष्णु
दिखाता था और खुद उससे मिल-जुल गया था। यही कारण है कि यह अ
भी ज़िंदा है और हिंदुस्तान में जारी है। यह हिंदू धर्म की क़रीब-क़रीब ए
शाख़ बन गया है। बौद्ध-धर्म, वर्ण-व्यवस्था न स्वीकार करने के कारण अ
विचार और रुख़ में ज़्यादा स्वतंत्र रहा। अठारह सौ साल हुए ईसाई मत य
आता है, और बस जाता है, और रफ़्ता-रफ़्ता अपनी अलग जातें बना लेता है
मुसलमानी समाजी संगठन, बावजूद इसके कि उसमें इस तरह के भेदों
ज़ोरदार विरोध हुआ है, इससे कुछ हद तक प्रभावित हुए बग़ैर न रह सका।

हमारे ही ज़माने में, जात-पाँत की कठोरता को तोड़ने के लिए, बी
के वर्ग वालों में बहुत-सी तहरीकें हुई हैं, और उनसे कुछ फ़रक़ भी पैदा हु
है, लेकिन जहां तक आम जनता का ताल्लुक़ है कोई ख़ास फ़रक नहीं हुआ
इन तहरीकों का क़ायदा यह रहा है कि सीधे-सीधे हमला किया जाय। इस
बाद गांधी जी आए और उन्होंने इस मसले को हिंदुस्तानी तरीके पर हाथ
लिया--यानी घुमाव के तरीके से--और उनकी निगाह आम जनता पर रही
उन्होंने काफ़ी सीधे तरीक़े पर भी वार किए हैं, काफ़ी छेड़-छाड़ की है, का
आग्रह के साथ इस काम में लगे रहे हैं, लेकिन उन्होंने चार वर्णों के मूल औ
बुनियाद में काम करने वाले सिद्धांत को चुनौती नहीं दी। इस व्यवस्था के ऊप
और नीचे जो झाड़ झंखाड़ उठ आई है, उस पर उन्होंने हमला किया और य
जानते हुए कि इस तरह पर वह जात-पाँत के समूचे ढड्ढे की जड़ काट रहे हैं

[1]जात-पांत के बारे में गांधीजी के बयान बराबर ज्यादा ज़ोरदार औ
तीखे होते आ रहे हैं और उन्होंने अनेक बार इसे साफ़ तरीके पर कहा है।
जिस रूप में आज जात-पांत चल रही है उसे दूर ही हो जाना चाहिए। अप
रचनात्मक प्रोग्राम में, जो कि उन्होंने कौम के सामने रक्खा है, वह कहते हैं
"इसमें शक नहीं कि इसका मक़सद राजनीतिक, सामाजिक और आर्थि
आज़ादी है। यह इस बड़ी कौम की ज़िंदगी के हर एक शोबे में एक इख़लाक़
अहिंसात्मक इन्कलाब है--जिसका नतीजा यह होगा कि जात-पांत और अछू
पन और इसी तरह के और अंधे यकीन मिट जायँगे, हिंदू-मुसलमान के झग
गुज़रे हुए ज़माने की बात हो जायग और अंग्रेजों और यूरोपियनों से दुश्मन
का ख़याल बिल्कुल भुला दिया जायगा।..." और फिर बहुत हाल में उन्हो
कहा है: "जात-पांत की व्यवस्था--उसे हम जिस रूप में जानते हैं--दक़िय
नूसी चीज है। अगर हिंदू-धर्म और हिंदुस्तान को कायम रहना और तरक़
करना है तो इसे जाना ही होगा।"

इसकी बुनियाद को उन्होंने अभी ही हिला दिया है और आमजनता पर गहरा असर पड़ा है। उनके लिए तो ऐसा है कि या तो सारा ढड्ढा क़ायम रहे, या सारा-का-सारा टूट जाय। लेकिन गांधीजी की ताक़त से भी बड़ी ताक़त काम कर रही है, और वह हमारे मौजूदा जिंदगी के हालात हैं--और ऐसा जान पड़ता है कि आखिरकार क़दीम ज़माने के इस चिमटे रहने वाले निशान का भी अंत होने वाला है।

लेकिन उस वक़्त जब कि हम हिंदुस्तान में जात-पांत के खिलाफ़ (जिस की शुरू बुनियाद रंग या वर्ण पर रही है) इस तरह लड़ रहे हैं, हम देखते हैं कि पच्छिम में नई, अपने को अलग रखने वाली और मग़रूर जातें उठ खड़ी हुई हैं, जिनका उसूल अपने को अलग-थलग रखना है और इसे कभी वह राज-नीति और अर्थ-शास्त्र की भाषा में, और कभी प्रजातंत्र के नाम पर भी पेश करते हैं।

बुद्ध से पहले, ईसा से ७०० साल क़ब्ल बताया जाता है कि बड़े ऋषि और स्मृतिकार, याज्ञवल्क्य ने, यह कहा था : "अपने मज़हब और चमड़े के रंग की वजह से हममें गुण नहीं उपजता; गुण अभ्यास से आता है। इसलिए यह उचित है कि कोई आदमी दूसरे के लिए कोई भी ऐसी बात न करे, जिसे वह अपने लिए किया जाना पसंद न करेगा।"

१७ : चंद्रगुप्त और चाणक्य : मौर्य साम्राज्य का क़ायम होना

बौद्ध-धर्म हिंदुस्तान में रफ़्ता-रफ़्ता फैला; अगर्चे मूल में यह क्षत्रियों की तहरीक थी और हुकूमत करने वाले वर्ग और ब्राह्मणों के बीच के झगड़े को ज़ाहिर करती थी, फिर भी इसके इखलाकी और जमहूरियत के पहलू, और खासकर पुरोहिताई और कर्म-कांड के विरोध, आम लोगों को पसंद आए। इसका विकास एक आमपसंद सुधार के आंदोलन के रूप में हुआ और कुछ ब्राह्मण विचारक भी इसमें खिचकर आ गए। लेकिन आम तौर पर ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया और बौद्धों को नास्तिक और क़ायमशुदा मज़हब के खिलाफ़ बग़ावत करने वाला बताया। ढाई सदी बाद सम्राट् अशोक ने इस धर्म में दीक्षा ली और शांति के साथ इस मज़हब का हिंदुस्तान में और बाहर प्रचार करने में उन्होंने अपनी सारी ताक़त लगा दी।

इन दो सदियों में हिंदुस्तान में बहुत-सी तब्दीलियां हुई। जातियों में मेल-जोल ले जाने की और छोटी-छोटी रियासतों को गणतंत्र का रूप देने की बहुत-सी क्रियाएं बहुत दिनों से जारी थीं; और एक मिला-जुला मरकज़ी राज्य क़ायम करने की पुरानी प्रेरणा भी काम कर रही थी, और इन सब का नतीजा यह हुआ कि एक ताक़तवर और शानदार साम्राज्य क़ायम हो गया। पच्छि-

मोत्तर में होने वाले, अलेग्ज़ेंडर के हमले ने, इस विकास को और भी आगे ढकेलने में मदद दी, और दो ऐसे मार्के के आदमी सामने आए जिन्होंने कि इस बदलती हुई हालत से फ़ायदा उठाया और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक ढाल लिया। यह लोग थे चंद्रगुप्त मौर्य और उनके दोस्त, वज़ीर और सलाहकार ब्राह्मण चाणक्य। इनके मेल से खूब काम चला। दोनों ही नंदों के मगध राज्य से जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना थी,) निकाले हुए थे; दोनों ही पच्छिमोत्तर से तक्षशिला पहुँचे और वहां अलेग्ज़ेंडर के मुक़र्रर किए हुए यूनानियों के संपर्क में आए। चंद्रगुप्त अलेग्ज़ेंडर से खुद मिला; उसकी विजयों और शान शौकत का हाल सुना, और उसी की बराबरी करने का उसके मन में हौसला पैदा हुआ। दोनों देख-भाल और तैयारी में लगे रहे। उन्होंने बड़े ऊँचे मनसूबे बांधे और अपना मक़सद पूरा करने के लिए मौक़े के इंतज़ार में रहे।

जल्द ही उन्हें बैबिलन से, अलेग्ज़ेंडर के (३२३ ई० पू० में) मरने की खबर मिली, और फ़ौरन चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राष्ट्रीयता का पुराना और सदा नया नारा बलंद किया। यूनानियों की संरक्षक सेना तक्षशिला से भगा दी गई। क़ौमियत की पुकार ने चंद्रगुप्त को बहुत से साथी दिए और उन्हें साथ लेकर, उत्तरी हिंदुस्तान पार करते हुए, उसने पाटलिपुत्र पर धावा कर दिया। अलेग्ज़ेंडर की मौत के दो साल भीतर ही उसने इस शहर पर और राज्य पर कब्ज़ा कर लिया और मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो गई।

अलेग्ज़ेंडर के सेनापति सिल्यूकस ने, जिसने कि अपने स्वामी की मौत के बाद एशिया माइनर से लेकर हिंदुस्तान तक के प्रदेश पर उत्तराधिकार पाया था, पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान पर फिर से हुकूमत क़ायम करना चाहा और उसने अपनी फ़ौज लेकर सिंधु नदी पार कर ली। उसने शिकस्त खाई, और काबुल और हिरात तक अफ़ग़ानिस्तान का एक हिस्सा उसे चंद्रगुप्त को देना पड़ा, और उसने अपनी लड़की भी चंद्रगुप्त के साथ ब्याह दी। दक्खिन हिंदुस्तान को छोड़ कर, सारे हिंदुस्तान पर, अरब समुद्र से लेकर बंगाल की खाड़ी तक, चंद्रगुप्त का साम्राज्य फैला हुआ था, और उत्तर में यह काबुल तक पहुँचता था। लिखित इतिहास में यह पहला मौक़ा था कि हिंदुस्तान में एक मरकज़ी हुकूमत इतने बड़े पैमाने पर बनी। इस बड़ी सल्तनत की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

यह नई हुकूमत थी कैसी? खुशक़िस्मती से इसके पूरे-पूरे हाल हमें मिलते हैं, हिंदुस्तानियों के लिखे हुए भी और यूनानियों के भी। मेगास्थनीज़ ने, जो कि सिल्यूकस का भेजा हुआ एलची था, हालात दर्ज किए हैं और उस से भी ज़्यादा महत्त्व की बात यह है कि कौटिल्य के "अर्थ शास्त्र" में जो कि राजनीति विद्या पर एक पुस्तक है, हमें उसी ज़माने का लिखा हुआ हाल मिलता

है। कौटिल्य चाणक्य का ही दूसरा नाम है, और इस तरह हमें एक ऐसी किताब देखने को मिलती है, जिसका लिखने वाला न महज़ एक विद्वान् था, बल्कि जिसने साम्राज्य के कायम करने, उसे तरक्क़ी देने और उसकी हिफ़ाज़त में बहुत खास हिस्सा लिया था। चाणक्य को हिंदुस्तान का मैकियावेली कहा गया है, और कुछ हद तक यह मुक़ाबला मुनासिब भी है। लेकिन हर मानी में वह उसके मुक़ाबले में बहुत बड़ा आदमी था—दिमाग़ में भी और काम में भी। वह एक राजा का महज़ पैरोकार या कि एक शक्तिशाली सम्राट् का दीन सलाहकार न था। हिंदुस्तान के एक पुराने नाटक—मुद्रा राक्षस—में जो उस ज़माने का हाल दर्ज करता है, उसकी तस्वीर हमें मिलती है। साहसी और षड्यंत्री, गर्वीला और बदला लेने वाला, अपमान को कभी न भूलने वाला, अपने उद्देश्य पर बराबर डटा रहने वाला, दुश्मन को धोखे में डालने और हराने की सभी तरह की तरकीबों को काम में लाने वाला—इस रूप में हम उसे एक साम्राज्य की बागडोर को हाथ में लिए देखते हैं; और वह सम्राट् को अपने मालिक की तरह नहीं, बल्कि एक प्रिय शिष्य की तरह देखता है। अपनी ज़िंदगी में सीधा-सादा और तपस्वी, ऊँचे पद की शान-शौकत में दिलचस्पी न लेने वाला है; और जब उसका मक़सद हासिल हो जाता है तो वह काम से छुट्टी पा लेना चाहता है और ब्राह्मण की तरह, मनन की ज़िंदगी बिताना चाहता है।

अपना मक़सद हासिल करने के लिए, शायद ही कोई बात हो, जिसे करने में चाणक्य को पसोपेश होता। वह काफ़ी बेबाक था, साथ ही वह काफ़ी बुद्धिमान भी था और यह समझता था कि ग़लत ज़रियों से मक़सद को ही नुक़सान पहुँच सकता है। क्लौसविट्ज़ से बहुत पहले, कहा जाता है कि उसने बताया था, कि युद्ध शासन-नीति का ही सिलसिला है दूसरे ज़रियों से। लेकिन उसने यह भी बताया है कि युद्ध का मक़सद इस नीति के व्यापक उद्देश्यों का पूरा करना होना चाहिए, और उसे ख़ुद एक मक़सद बन कर न रह जाना चाहिए। राजनीतिज्ञ का उद्देश्य हमेशा यह होना चाहिए कि युद्ध के फल-स्वरूप राज्य की तरक्क़ी हो, न केवल यह कि वैरी हार जाय और नष्ट हो जाय। अगर युद्ध से दोनों फ़रीक नष्ट हो जाते हैं तो इसे राजनीतिज्ञता का दिवाला समझना चाहिए। लड़ाई के लिए हथियारबंद फ़ौज की ज़रूरत होती है, लेकिन हथियारों के ज़ोर से कहीं ज़्यादा महत्त्व की बात है वह कूटनीति जिससे कि दुश्मन भरोसा खो बैठे और उसकी फ़ौज तितर-बितर होकर या तो नष्ट हो जाय, या हमला होने के पहले ही नाश की हालत के क़रीब पहुँच जाय। अगर्चे चाणक्य अपने मक़सद को हासिल करने के मामले में बड़ा कड़ा और कुछ भी न उठा रखने वाला था, फिर भी वह यह कभी नहीं भूलता था कि अक्लमंद

और आला-दिमाग़ दुश्मन को कुचलने से, उसे अपना हिमायती बना लेना ज़्यादा अच्छा है। दुश्मन की फ़ौज में फूट के बीज बोना उसका आख़िरी हथियार था। साथ ही, कहा यह जाता है कि, ठीक उस वक़्त जब कि जीत होने वाली थी, उसने चंद्रगुप्त को, अपने वैरी की तरफ़, उदारता दिखाने पर आमादा किया। यह भी कहते हैं कि चाणक्य ने, अपने ऊँचे ओहदे की मुहर को, ख़ुद भी इस विपक्षी के मंत्री के सिपुर्द कर दिया, जिसकी बुद्धिमानी और अपने पुराने मालिक के लिए वफ़ादारी का चाणक्य पर बड़ा असर पड़ा था। इस तरह से यह क़िस्सा हार और अपमान की कड़ुवाहट के साथ नहीं, बल्कि समझौते के साथ और राज्य की मज़बूत और क़ायम रहने वाली बुनियाद के रखने के साथ, ख़तम होता है, जिसमें कि दुश्मन की हार ही नहीं होती है, बल्कि उसे दिल से भी अपने में मिला लिया जाता है।

मौर्य साम्राज्य का यूनानी दुनिया के साथ कूटनीति का ताल्लुक़ था—सिल्यूकस से भी और उसके उत्तराधिकारी प्टोलमी फ़िलाडेल्फस से भी। यह संबंध आपस के व्यापारिक हितों की मज़बूत बुनियाद पर टिका हुआ था। स्ट्रैबो कहता है कि मध्य एशिया की आमू नदी उस महत्वपूर्ण सिलसिले की एक कड़ी थी, जिससे कि हिंदुस्तानी माल कास्पियन और काले समुंदरों के रास्ते यूरोप में पहुँचाया जाता था। ईसा से क़ब्ल की तीसरी सदी में यह रास्ता बहुत चालू था। उस ज़माने में मध्य एशिया ख़ुशहाल और ज़रख़ेज़ था। उससे एक हज़ार साल कुछ बाद वह सूखने लगा। अर्थ शास्त्र में लिखा है कि राजा के अस्तबल में अरबी घोड़े थे।

१८ : राज्य का संगठन

यह नया राज्य, जो कि ३२१ ई० पू० में क़ायम हुआ और हिंदुस्तान के ज़्यादातर हिस्से पर और उत्तर में ठीक काबुल तक फैला, आख़िर था कैसा राज्य? यह था एकछत्र शासन, और ऊपर के सिरे पर हम इसमें एकाधिपत्य पाते हैं, जैसा कि अधिकतर साम्राज्यों में रहा है और अब भी है। शहरों और गाँवों की इकाइयों में बहुत कुछ मुक़ामी स्वराज्य था और चुने गए बुज़ुर्ग इन मुक़ामी मामलों की देख-भाल किया करते थे। इस मुक़ामी स्वराज्य की बड़ी क़द्र थी और शायद ही किसी राजा या सबसे बड़े शासक ने इसमें दख़ल दिया हो। फिर भी, केंद्रीय शासन का असर था और उसके तरह-तरह के काम सभी जगह देखने में आते थे, और कुछ मानी में यह मौर्य शासन ऐसा था कि आज कल के एकाधिपत्य शासन की याद दिलाता है। उस महज़ किसानी के युग में राज्य व्यक्ति पर, उस तरह की बंदिशें, जैसी आजकल दिखती हैं, लगा नहीं सकता था। लेकिन सब सीमाओं के बावजूद, ज़िंदगी पर बंदिशें लगाने की

और उसे नियंत्रित करने की कोशिशें हुई। यह शासन एक मात्र पुलिस शासन न था जिसका कि मक़सद बाहरी और भीतरी अमन क़ायम रखना और लगान वसूल करना रहा हो।

एक काफ़ी फैली हुई और कड़ी नौकरशाही थी और खुफ़िया विभाग के हवाले अक्सर मिलते हैं। खेती पर बहुत तरीक़ों से नियंत्रण लगे हुए थे; और यही हालत सूद के दर की थी। खाने की चीज़ों, मंडियों, कारखानों, क़साईखानों, पशुओं की नस्लकशी, पानी के हक़ों, शिकार, वेश्याओं और शराब-खानों पर बंदिशें लगी हुई थीं और इनकी वक़्त पर जाँच हुआ करती थी। मापें और तौलें सब जगहों के लिए एक-सी कर दी गई थीं। खाने की चीज़ों के भरने और उनमें मिलावट करने पर कड़ी सज़ाएं मिलती थीं। व्यापार पर कर लगा हुआ था और इसी तरह धर्म के कामों पर भी। नियमों का पालन न हुआ या और कोई अपराध हुआ तो मंदिरों का धन ज़ब्त कर लिया जाता था। अगर अमीर लोग ग़बन करते या क़ौमी संकटों से फ़ायदा उठाते तो उनकी जायदाद ज़ब्त करली जाती। सफ़ाई का इंतज़ाम किया जाता था और अस्पताल खुले हुए थे और ख़ास-ख़ास केंद्रों पर वैद्य मुकर्रर रहते थे। हुकूमत की तरफ़ से विधवाओं, यतीमों, बीमारों और कमज़ोरों को मदद दी जाती थी। क़हतसाली से बचाने की ख़ास ज़िम्मेदारी हुकूमत की होती थी और हुकूमत के भंडारों में जो कुछ भी ग़ल्ला होता उसका आधा महज़ इस लिए बचा रक्खा जाता था कि अकाल के ज़माने में काम आवे।

यह सब क़ानून-क़ायदे शायद ज्यादातर शहरों पर लागू होते थे और गाँवों पर कम; यह भी मुमकिन है इनका व्यवहार में ढिलाई से इस्तैमाल किया जाता हो। लेकिन सिद्धांत के ख़याल से भी यह बातें दिलचस्प हैं। गाँव के रहने वालों के लिए क़रीब-क़रीब स्वराज था।

चाणक्य के "अर्थशास्त्र" में अनेकानेक विषयों का बयान हुआ है और यह पुस्तक हुकूमत के सिद्धांत और व्यवहार के सभी पहलुओं पर विचार करती है। इसमें राजाओं के, उसके मंत्रियों और सलाहकारों के कर्तव्य बताए ग हैं, और राज-सभा की बैठकों, सरकारी महकमों, कूटनीति, लड़ाई और सुलह के बयान हैं। इसमें चंद्रगुप्त की बड़ी फ़ौज की तफ़सील दी गई है, जिसमें पैदल, घुड़सवार सेना, रथों और हाथियों का हाल है[1]। साथ ही चाणक्य का कहना

---

[1] **शतरंज का खेल, जिसका कि आरंभ हिंदुस्तान में ही हुआ, शायद सेना के इन्ही चार अंगों की कल्पना के आधार पर निकला था। यह चतुरंग कहलाता था, यानी चार अंगों वाला, जिससे शतरंज निकला। अल्बेरूनी इस खेल का हिंदुस्तान में चार आदमियों द्वारा खेले जाने का हाल लिखता है।**

है गिनती से कुछ होता-जाता नहीं : अगर संयम न हो और ठीक नेता न हों तो यही सेना भार हो सकती है। रक्षा और क़िलेबंदी के बारे में भी इस किताब में कहा गया है।

और जिस बातों पर इस किताब में लिखा गया है वह हैं व्यापार और व्यवसाय, क़ानून और न्यायालय, शहरी व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह और तलाक़, औरतों के अधिकार, राज्यकर और लगान, खेती, खानों और कारख़ानों का चलाना, व्यवसायों, मंडियां, बागबानी, उद्योग-धंधे, आबपाशी और जल के रास्ते, जहाज़ और ज़हाज़रानी, संघ, मर्दुमशुमारी, मछली पकड़ने का धंधा, कसाई खाने, राहदारी के पत्र, और क़ैदखाने। विधवा को फिर से ब्याहा जाना माना गया है, और किन्हीं ख़ास हालतों में तलाक़ भी।

चीन के बने रेशमी कपड़े, चीन पट्ट, का हवाला मिलता है और इस कपड़े में और हिंदुस्तान के बने रेशम के कपड़े में फ़र्क़ बताया गया है। शायद हिंदुस्तान का बना कपड़ा चीन के कपड़े के मुकाबले मे ज्यादा मोटा होता था। चीनी कपड़ों का आयात यह बताता है कि कम-से-कम ईसा से क़ब्ल की चौथी सदी में चीन के साथ हिंदुस्तान का व्यवसायिक सम्बन्ध क़ायम था।

अपनी राज गद्दी के वक़्त राजा को इस बात की कसम खानी पड़ती थी कि यह अपनी प्रजा की सेवा करेगा। "मैं स्वयं, ज़िंदगी और संतान से बंचित रहूं अगर मैं तुम्हें सताऊं।" "उसका सुख उसकी प्रजा के सुख में है और उनकी ख़ैरियत में है; जो बात उसे ख़ुद अच्छी लगती हो उसे वह अच्छा न समझे, लेकिन जो बात उसकी प्रजा को अच्छी लगे, उसे वह अच्छा समझे।" "अगर राजा में उत्साह है तो उसकी प्रजा में भी उतना ही उत्साह होगा।" "आम लोगों के हित के काम उस वक़्त तक नहीं रुके रह सकते जब तक कि राजा को फ़ुरसत न हो, उसे उन के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। और अगर राजा अनीति करे तो उसकी प्रजा को यह अधिकार है कि उसे हटाकर उसकी जगह दूसरे को बिठा दे।"

एक आबपाशी का महकमा था, जो कि नहरों की निगरानी किया करता था, और एक महकमा जल के यातायात का था जो बंदरगाहों, घाटों, पुलों और उन बहुत सी नावों और जहाज़ों की देखभाल करता था जो कि नदियों पर चला करते थे और समुंदर पर होकर बरमा या उससे भी आगे जाते थे। ख़ुश्की पर काम करने वाली फ़ौज की तरह जान पड़ता है, एक जल-सेना भी थी।

सम्राज्य में व्यापार ख़ूब होता था और दूर-दूर जगहों के बीच चौड़ी सड़कें बनी हुई थी, जिनके किनारे अक्सर यात्रियों के लिए आराम-घर बने हुए थे। खास सड़क को राज-पथ या राजा का रास्ता कहते थे और यह सारे

देश को पार करता हुआ राजधानी से लेकर ठीक पच्छिमोत्तर सरहद तक जाता था। विदेशा व्यापारियों का ख़ास तौर पर ज़िक्र आता है और उनके लिए अलग सुविधाएं थीं, और जान पड़ता है कि उन्हें उनके आपस के व्यवहार में अपने देशों के अलग कानूनों का कुछ हद तक लाभ दिया जाता था। कहा जाता है कि पुराने मिस्री लोग अपने सुरक्षित शवों को हिंदुस्तान की मलमल में लपेटा करते थे और और अपने कपड़ों को हिदुस्तान के नील में रंगा करते थे। पुराने खँडहरों में एक तरह का कांच भा मिला है। यूनानी एलची मेगास्थनीज़ कहता है कि हिंदुस्तानी सौंदर्य और नफ़ासत की चीज़ों के प्रेमी थे, और यह भी लिखता है कि ऊँचाई को बढ़ाने के लिए जूतों का इस्तैमाल किया जाता था।

मौर्य साम्राज्य में विलास की बढ़ती हुई जिंदगी में सादगी घटी, धंधों के बटवारे बढ़े और संगठन भी बढ़ा। "सराय, आराम-घर, खाने के घर, जुआघर, जान पड़ता है बहुत हैं; संप्रदायों और पेशेवरों की सभाओं के लिए अलग-अलग जगहें हैं, और पेशेवरों की आम दावतें भी होती हैं। मनोरंजन के धंधे से बहुत तरह के लोगों की रोज़ी चलती है, जैसे नचनियों, गवैयों और स्वांग करने वालों की। यह लोग गांवों तक में पहुँचते हैं और 'अर्थ शास्त्र' का लेखक इन खेल-तमाशों के लिए भवन बनाए जाने के ख़िलाफ़ इसलिए है कि इससे लोगों का घर-बार और खेती के काम से जी हटता है। साथ ही सार्वजनिक मनोरंजन के कामों में हाथ बटाने से इन्कार करने के लिए दंड की भी व्यवस्था है। राजा की तरफ़ से ख़ास तौर पर तैयार किए गए मकानों या अखाड़ों में नाटक, कुश्ती और आदमियों और पशुओं की और प्रतियोगिताओं का, और दूसरे तमाशों और विचित्र चीज़ों की तस्वीरों के दिखाने का इंतज़ाम है।......बहुत करके उत्सवों के मौकों पर सड़कों पर रोशनी की जाती थी।"[1] शाही जुलूस भी निकला करते थे और शिकारियों के जमाव हुआ करते थे।

इस विशाल साम्राज्य में बहुत से, बड़ी आबादी वाले शहर थे, लेकिन उन सबमें बड़ा शहर पाटलिपुत्र था, जो कि राजधानी था, और यह आलीशान शहर गंगा और सोन के संगम पर (मौजूदा पटना) बसा हुआ था। मेगास्थनीज़ ने इसका यों बयान किया है : "इस नदी (गंगा) और एक दूसरी नदी के संगम पर पालिबोथ्र बसा हुआ है, जो कि अस्सी स्टेडिया (९.२ मील) लंबा और पंद्रह स्टेडिया (१७ मील) चौड़ा है। इसकी शक्ल समचतुष्कोण

---

[1] "कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया' (जिल्द १, पृ० ४८०) में डाक्टर एफ़० डब्ल्यू० टामस।

की है और यह लकड़ी की, चार-दीवारी से घिरा हुआ है, जिसमें कि तीर चलाने के लिए संदें बनी हुई हैं। सामने इसके एक खाई है, जो कि हिफ़ाजत के लिए है और जिसमें शहर का गंदा पानी पहुँचता है। यह खाई जो कि चारों तरफ़ घूमी हुई है चौड़ाई में ६०० फ़ीट है, और गहराई में ३० हाथ; और दीवाल पर ५७० बुर्जें हैं, और उसमें ६४ फाटक हैं।"

यह दीवाल ही लकड़ी की नहीं था, बल्कि ज़्यादातर घर भी लकड़ी के थे। ज़ाहिरा यह भूकंप से बचाव के लिए था, क्योंकि उस प्रदेश में भूकंप अकसर आते रहे हैं। सन् १९३४ के बिहार के भयानक भूकंप ने हमें इस बात की फिर याद दिला दी है। चूंकि मकान लकड़ी के होते थे, इसलिए आग लगने से बचने के लिए बहुत इंतज़ाम रहता था। हर एक गृहस्थ को सीढ़ियां, कांटे और पानी से भरे डोल रखने पड़ते थे।

पाटलिपुत्र में, लोगों की चुनी हुई नगर-सभा भी थी। इसके ३० सदस्य थे, और वह पाँच-पाँच की ६ समितियों में बँटे हुए थे और इनके हाथ में व्यापार, दस्तकारी, मौत और पैदाइश, उद्योग-धंधों, यात्रियों वग़ैरह के इंतज़ाम थे। रुपये-पैसे, सफ़ाई, पानी पहुँचाना, सार्वजनिक इमारतों और बगीचों की देख-भाल पूरी नगर-सभा के ज़िम्मे थी।

१९ : बुद्ध की शिक्षा

इन राजनीतिक और आर्थिक इन्क़लाबों के पीछे, जा कि हिंदुस्तान की शकल ही बदल रहे थे, बौद्ध-धर्म का जोश था। पुराने मतों से इसका संघर्ष और धर्म के मामले में स्थापित स्वार्थों से इसकी लड़ाई चल रही थी। बहस और मुबाहसे (जिनका हिंदुस्तान में हमेशा शौक रहा है) से कहीं बढ़कर लोगों पर असर था एक ज्वलंत और बहुत बड़े व्यक्तित्व का, और उसकी याद दिलों में ताज़ा थी। उसका संदेश पुराना था, फिर भी बहुत नया था, और जो लोग कि ब्रह्म-ज्ञान की बारीकियों में उलझे हुए थे उनके लिए मौलिक था। इसने विचारशील लोगों की कल्पना पर कब्ज़ा कर लिया; यह लोगों के दिलों के भीतर गहरा पैठ गया। बुद्ध ने अपने चेलों से कहा था : "सभी देशों में जाओ और इस धर्म का प्रचार करो। उनसे कहो कि ग़रीब और दीन, अमीर और कुलीन, सब एक हैं और इस धर्म में सभी जातें इस तरह आकर मिल जाती हैं जिस तरह कि नदियाँ समुंदर में जाकर मिलती हैं।" उनका संदेश सभी के लिए दया और प्रेम का संदेश था। क्योंकि "इस दुनिया में नफ़रत का अंत नफ़रत से नहीं हो सकता; नफ़रत प्रेम करने से ही जायगी।" और "आदमी को चाहिए कि ग़ुस्से को दया के ज़रिये और बुराई को भलाई के ज़रिये जीते।"

भले काम करने का और अपने ऊपर संयम रखने का यह आदर्श था। "आदमी लड़ाई में हज़ार आदमियों पर विजय हासिल कर सकता है; लेकिन जो अपने ऊपर विजय पाता है, वही सबसे बड़ा विजयी है।" "जन्म से नहीं बल्कि कर्म से ही आदमी शूद्र या ब्राह्मण होता है।" पापी की भी निंदा उचित नहीं, क्योंकि "जो पापियों से जान-बूझ कर कड़े शब्द कहता है वह मानो उनके पाप रूपी घाव पर निमक छिड़कता है।" दूसरे के ऊपर विजय पाना ही दुःख का कारण होता है—"विजय नफ़रत उपजाती है, क्योंकि विजित दुखी होता है।"

अपने इन सब उपदेशों में उन्होंने धर्म का प्रमाण नहीं दिया, न ईश्वर या किसी दूसरी दुनिया का हवाला दिया। वह बुद्धि और तर्क और अनुभव पर भरोसा करते हैं, और लोगों से कहते हैं कि सत्य को अपने मन के भीतर खोजो। कहा जाता है कि उन्होंने कहा : "किसी को मेरे बताये नियमों को आदर की वजह से न मान लेना चाहिए; उसकी परख पहले इस तरह कर लेनी चाहिए जैसे कि तपाकर सोने की परख की जाती है।" सचाई के न जानने से सभी दुःख उपजते हैं। ईश्वर या परब्रह्म है या नहीं, इसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं बताया है। न वह उससे इक़रार करते हैं, न इन्कार। जहां जानकारी मुमकिन नहीं, वहां हमें अपना फ़ैसला नहीं देना चाहिए। एक सवाल के जवाब में, बताया जाता है कि, बुद्ध ने यह कहा था "अगर परब्रह्म से मतलब है किसी ऐसी चीज़ से, जिसका कि सभी जानी हुई चीज़ों से कोई संबंध नहीं, तो किसी तर्क से उसका अस्तित्व या वजूद सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह हम कैसे जान सकते हैं कि दूसरी चीज़ों से असंबद्ध चीज़ कोई है भी या नहीं? यह सारा विश्व—उसे हम जिस रूप में जानते हैं—संबंधों का एक सिलसिला है : हम कोई ऐसी चीज़ नहीं जानते जो बिना संबंध के है या हो सकती है।" इसलिए हमें अपने को उन चीज़ों तक महदूद रखना चाहिए, जिनका हम अनुभव कर सकते हैं और जिनके बारे में हमें पक्की जानकारी है।

इसी तरह बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व के बारे में भी कुछ नहीं कहा है। वह इससे भी न इक़रार करते हैं और न इन्कार। वह इस सवाल में पड़ना ही नहीं चाहते और यह एक बड़ी अचरज की बात है क्योंकि उस ज़माने में हिंदुस्तानियों के दिमाग़ में आत्मा और परमात्मा, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद और दूसरे आधिभौतिक सिद्धांत समाए रहते थे। मगर बुद्ध ने सभी तरह के आधिभौतिकवाद से अपने विचारों को हटाया। लेकिन प्रकृति के नियम के स्थायित्व में, और एक व्यापक हेतुवाद में उनका विश्वास है, और इस तरह हर एक बाद की स्थिति अपने से पहले की स्थिति का नतीजा है, अच्छे काम का सुख से और बुरे काम का दुःख से स्वाभाविक संबंध है।

हम अनुभव की इस दुनिया में शब्दों या भाषा का इस्तेमाल करते हैं और कहते हैं कि "यह है" या "यह नहीं है"। लेकिन जब हम सतही पहलुओं के भीतर पैठते हैं तो इनमें से एक भी, संभव है, सही न हो, और जो कुछ हो रहा है उसको बयान करने में हमारी भाषा ही नाकाफ़ी हो। सत्य "है" और "नहीं है" के बीच में या इनसे परे कहीं भी हो सकता है। नदी बराबर बहती है और हर लमहे एक-सी मालूम पड़ती ह, फिर भी पानी बराबर तब्दील होता रहता है। इसा तरह आग है। लौ जलती रहती है और अपना आकार भी कायम रखती है, फिर भी वही लौ हमेशा नहीं रहती, बल्कि क्षण-क्षण में बदलती रहती है। इस तरह ज़िंदगी बराबर बदलती रहती है और अपने सभी रूपों में वह एक धारा की तरह है जिसे हम 'होने की प्रक्रिया' कह सकते हैं। असलियत कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो कि क़ायम रहने वाली और न बदलने वालीहो, बल्कि वह एक रौशन ताक़त है, जिसमें कि तेज़ी है और रफ़्तार है, और जो नतीजों का एक सिलसिला है। समय की धारणा, "महज़ एक ख़याल है, जो जिस किसी घटना के आधार पर व्यवहार के लिए बना लिया गया है।" हम यह नहीं कह सकते कि कोई एक चीज़ किसी दूसरी चीज़ का कारण है क्योंकि 'होने की प्रक्रिया' में कोई अंश ऐसा नहीं है जो कि स्थायी हो या न बदलने वाला हो। किसी वस्तु का तत्त्व, उसमें निहित नियम में है जो कि उसे किसी दूसरी कहलाई जाने वाली वस्तु से जोड़ता है। हमारे शरीर और हमारी आत्माएं क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं; उनका अंत हो जाता है और उनकी जगह पर कोई दूसरी चीज़, जो उन्हींजैसी, लेकिन उनसे मुख्तलिफ़ होती है, यह जगह ले लेती है, और फिर वह भी चली जाती है। एक मानी में हम हरदम मर रहे हैं और हरदम फिर से जन्म ले रहे हैं, और यह सिलसिला एक अटूट अस्तित्व का आभास देता है। यह "एक सतत परिवर्तनशील अस्तित्व का सिलसिला" है। हर चीज़ बस एक बहाव, मत और परिवर्तन है।

हम लोग भौतिक घटनाओं को एक बँधे-तुले ढंग से देखने और उनकी तशरीह करने के इतने आदी हो गए हैं कि हमारे दिमाग़ों के लिए यह सब समझ सकना मुश्किल है। लेकिन यह बड़ी मार्के की बात है कि बुद्ध का यह फ़िलसफ़ा हमें आजकल के पदार्थ-ज्ञान की धाराओं और दार्शनिक विचारो के इतना निकट ले आता है।

बुद्ध का ढंग मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ढंग था, और यहां भी यह देखकर अचरज होता है कि आज के विज्ञान की नई-से-नई खोजों के कितने निकट उनकी सूझ-बूझ थी। आदमी की ज़िंदगी पर बिचार और जाँच बिना किसी स्थायी आत्मा के लिहाज़ के होती है; क्योंकि अगर किसी ऐसी आत्मा की सत्ता है भी तो वह हमारी समझ से परे है : मन को शरीर का अंग, मान-

सिक शक्तियों की एक मिलावट समझा जाता था। इस तरह से व्यक्ति मानसिक स्थितियों की एक गठरी बन जाता है; "आत्मा विचारों का महज़ एक प्रवाह है।" "जो कुछ भी हम हैं, वह जो कुछ भी हमने सोचा है, इसका नतीजा है।"

ज़िंदगी में जो दुःख और व्यथा है, उस पर ज़ोर दिया गया है, और बुद्ध ने जिन "चार बड़े सत्यों" का बखान किया है, उनमें यह दुःख, उसके कारण उसे ख़तम करने की संभावना और उसके लिए उपाय बताए गए हैं। अपने चेलों को उपदेश देते हुए, कहा जाता है कि बुद्ध ने कहा था: "जब कि तुमने युगों के दौर में इस (दुःख) का अनुभव किया, तुम्हारी आंखों से इतना पानी बहा है; जब कि तुम इस (ज़िंदगी की) यात्रा में भटके हो, और तुमने शोक किया है, या तुम रोये हो क्योंकि जिस चीज़ से तुम नफ़रत करते रहे हो वह तुम्हें मिली है, और जिस चीज़ की तुम ख्वाहिश करते रहे हो वह तुम्हें नहीं मिली है, वह सब तुम्हारे आंसुओं का पानी चारों बड़े समुंदरों के पानी से ज़्यादा रहा है।"

दुःख की इस हालत का अंत कर देने से 'निर्वाण' हासिल हो सकता है। 'निर्वाण' है क्या? इसके बारे में लोगों में मतभेद रहा है, क्योंकि एक ऐसी हालत का जो कि अनुभव से परे है किस तरह से हमारे महदूद दिमाग़ों की भाषा में बयान हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल विनाश हो जाना है, बुझ जाना है। लेकिन बुद्ध ने, कहा जाता है कि, इससे इन्कार किया है; और यह बताया है कि यह एक अत्यन्त क्रियाशीलता की अवस्था है। यह झूठी इच्छाओं के मिट जाने की हालत है, न कि अपने मिट जाने की, लेकिन इसका बयान केवल नकारात्मक शब्दों में किया जा सकता है।

बुद्ध का बताया हुआ रास्ता मध्यम मार्ग है, और यह अपने को यातना देने और विलास में डुबा देने के बीच का रास्ता है। शरीर को तकलीफ़ देने के अनुभव के बाद उन्होंने कहा है कि जो आदमी अपनी ताक़त खो बैठता है वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकता। यह मध्यम मार्ग आर्यों का अष्टांग मार्ग कहलाया। इसके अंग हैं: ठीक विश्वास; ठीक आकांक्षाएं; ठीक वचन; ठीक कर्म; ठीक आचार; ठीक प्रयत्न; ठीक वृत्ति और ठीक आनंद। इसमें अपने विकास का सवाल है, किसी की कृपा का नहीं। और अगर आदमी इस दिशा में अपना विकास करने में कामयाब होता है, तो उसके लिए कभी हार नहीं—"जिसने अपने को बस में कर लिया है, उसकी जीत को देवता भी हार में नहीं बदल सकते।"

बुद्ध ने अपने चेलों को वह बातें बताईं जो कि उनके विचार में वह लोग समझ सकते थे और जिस पर वह आचरण कर सकते थे। उनके उपदेशों

का यह मक़सद नहीं था कि जो कुछ भी है उसकी तशरीह की जाय, जो कुछ भी है उसका पूरा-पूरा दिग्दर्शन कराया जाय। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने हाथ में कुछ सूखी पत्तियां लेकर अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछा कि हाथ की इन पत्तियों के अलावा क्या और भी कहीं पत्तियां है। आनंद ने जवाब दिया : "पतझड़ की पत्तियां सभी तरफ़ गिर रही हैं, और वह इतनी हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।" तब बुद्ध ने कहा : "इसी तरह मैंने तुम्हें मुट्ठी भर सत्य दिए हैं, लेकिन इनके अलावा कई हज़ार और सत्य हैं, इतने कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।"

२० : बुद्ध की कहानी

बुद्ध की कहानी ने मुझे शुरू बचपन में ही आकर्षित किया था और मैं युवा सिद्धार्थ की तरफ़ खिंचा था, जिसने कि बहुत से अंतर्द्वंद्वों, दुःख, और यातना के बाद बुद्ध का पद हासिल किया था। एडविन आर्नल्ड की किताब 'लाइट अव् एशिया' मेरी एक प्रिय पुस्तक बन गई। बाद में जब मैंने अपने सूबे में बहुत से दौरे किए, तब मैं बुद्ध की कथा से ताल्लुक़ रखने वाली बहुत-सी जगहों पर, अपने यात्रा मार्ग से हटकर भी, जाना पसंद करता था। इनमें से ज़्यादातर मुक़ाम या तो मेरे ही सूबे में हैं या उसके नज़दीक हैं। यहीं (नेपाल की सरहद पर) बुद्ध का जन्म हुआ, यहीं वह घूमते-फिरते रहे; यहीं (गया में, बिहार में) उन्होंने बोधि वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान हासिल किया, यहीं उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया, यहीं वह मरे।

जब मैं उन देशों में गया, जहाँ कि बौद्ध-धर्म अब भी एक जीता-जागता और खास धर्म है, तब मैंने जाकर मंदिरों और मठों को देखा और भिक्खुओं और आम लोगों से मिला, और यह जानने की कोशिश की कि बौद्ध-धर्म ने जनता के लिए क्या किया। उसने उन पर क्या असर डाला, किस तरह की छाप उनके दिमाग़ों और चेहरों पर छोड़ी, और मौजूदा ज़िंदगी की उन पर क्या प्रतिक्रिया हुई? बहुत कुछ ऐसा था जिसे मैंने नहीं पसंद किया। बौद्ध-धर्म के बुद्धिवादी नैतिक सिद्धांतों पर इतना कूड़ा-करकट जमा हो गया है, इतने कर्म-कांड, इतने विधि-विधान, और बुद्ध की शिक्षा के बावजूद, इतने आधिभौतिक सिद्धांत और जादू-टोने तक इकट्ठा हो गए हैं कि क्या कहा जाय। और बुद्ध के सतर्क कर देने पर भी उन्हें ईश्वर माना गया है, और उनकी बड़ी-बड़ी मूर्तियां बन गई हैं, जिन्हें कि मैंने मंदिरों में और और जगहों में, अपने सिर की ऊँचाई से भी ऊपर स्थापित देखा है। उस वक़्त मैंने मन में सोचा है कि वह इन्हें देखते तो क्या कहते। बहुत से भिक्षु अनपढ़ लोग हैं, बल्कि घमंडी हैं क्योंकि वह यह चाहते हैं कि उनके सामने माथा झुकाया जाय, अगर

उनके सामने नहीं तो उनके भेस के सामने। हर एक देश में धर्म के ऊपर क़ौमी खासियतों की छाप पड़ी हुई थी और इसने उनके जुदा-जुदा रीति-रिवाजों और रहन-सहन के बमूजिब रूप बना रक्खा था। यह सब स्वाभाविक ही था और शायद एक लाज़िमी विकास था।

लेकिन मैंने बहुत कुछ ऐसा भी देखा जिसे कि मैंने पसंद किया। कुछ मठों में और उनसे लगे हुए विद्यालयों में ध्यान और शांति से अध्ययन करने का वातावरण था। बहुत से भिक्खुओं के चेहरों पर शांति और सौम्यता मिली, और ओज और दया और तटस्थता का भाव मिला, और संसार की चिंताओं से मुक्ति दिखाई दी। क्या यह सब बातें आज की दुनिया में अपनी ठीक जगह रखती हैं या महज़ उससे बच निकलने का एक तरीक़ा है? क्या इनका ज़िंदगी के निरंतर संघर्ष से इस तरह मेल नहीं हो सकता कि यह उसके भद्देपन को, उसकी लोलुपता को, उसके हिंसा भाव को कम कर सकें?

बौद्ध-धर्म का निराशावाद मेरे अपने ज़िंदगी के नज़रिये से मेल नहीं खाता, न ज़िंदगी और उसके मसलों से भागने की उसकी प्रवृत्ति मेरे अनुकूल पड़ती है। अपने दिमाग़ के किसी छिपे हुए कोने में, मैं काफ़िर हूँ, और जिस तरह से काफ़िर ज़िंदगी और प्रकृति को उमंग के साथ देखता है उसी तरह मैं भी देखता हूँ, और ज़िंदगी में जिन संघर्षों का सामना करना पड़ता है उनसे घबड़ाता नहीं हूँ। जो कुछ मैंने अनुभव किया है, या अपने चारों ओर देखा है, वह चाहे जितना तक़लीफ़ और कोफ़्त पहुँचाने वाला रहा हो, उससे मेरे इस नज़रिये में फ़रक़ नहीं पड़ा है।

क्या बौद्ध-धर्म निष्क्रियता और निराशावाद सिखाता है? इसकी व्याख्या करने वाले ऐसा कह सकते है, इस धर्म के बहुत से अनुयायियों ने यही अर्थ निकाला है। मुझमें उसकी बारीकियों पर ग़ौर करने, या उसकी बाद की जटिलताओं और आधिभौतिक विकास पर फ़ैसला देने की क़ाबलियत नहीं है। लेकिन जब मैं बुद्ध का ध्यान करता हूँ तो इस तरह के विचार मेरे मन में नहीं उठते, न मैं यही समझता हूँ कि निष्क्रियता और निराशावाद की बुनियाद पर ठहरे हुए किसी धर्म का आदमियों की इतनी बड़ी संख्या पर जिसमें क़ाबिल-से-क़ाबिल लोग हो गए हैं, इतना गहरा असर पड़ सकता है।

जान पड़ता है कि बुद्ध की वह कल्पना, जिसे कि अनगिनित प्रेमपूर्ण हाथों ने, पत्थर और संगमरमर और काँसे में, गढ़कर साकार किया है, हिंदुस्तानियों के विचारों और भावों की प्रतीक है, या कम-से-कम उसके एक ज़िंदा पहलू की प्रतीक है। कमल के फूल पर शांत और धीर, वासनाओं और इच्छाओं से परे, इस दुनिया के तूफ़ान और कशम-कश से दूर, वह इतने ऊपर, इतने दूर मालूम पड़ते हैं कि जैसे पहुँच से बाहर हों। लेकिन जब फिर उन्हे देखते हैं,

तो उस शांत, अडिग आकृति के पीछे एक आवेग और मनोभाव जान पड़ता है, जो कि अनोखा है और उन आवेगों और मनोभावों से जिनसे हम परिचित हैं ज्यादा जोरदार है। उनकी आंखें मुंदी हुई हैं, लेकिन चेतना की कोई शक्ति उनके भीतर से दिखाई देती है और शरीर में एक जीवनी-शक्ति भरी हुई जान पड़ती है। युग-पर-युग बीतते हैं, फिर भी बुद्ध इतने दूर के नहीं जान पड़ते हैं; उनकी वाणी हमारे कानों में कुछ धीमे स्वर से कहती जान पड़ती है और यह बताती है कि हमें संघर्ष से भागना नहीं चाहिए, बल्कि धीर नेत्रों से उसका सामना करना चाहिए, और ज़िंदगी में विकास और तरक्क़ी और और भी बड़े अवसरों को देखना चाहिए।

सदा की तरह आज भी व्यक्तित्व का असर है, और जिस आदमी ने इंसान के विचारों पर अपनी वह छाप डाली हो जो कि बुद्ध ने डाली, जिसमें कि आज भी हम उनकी कल्पना में कोई जीती-जागती, थर्राहट पैदा करने वाली चीज़ पाते हैं, वह आदमी बड़ा ही अद्भुत आदमी रहा होगा—ऐसा आदमी, जो कि बार्थ के शब्दों में, "शांत और मधुर प्रभुता की सजी हुई मूर्ति था, जिसमें सभी प्राणियों के लिए अपार करुणा थी, जिसे पूरी नैतिक स्वतंत्रता मिली हुई थी और जो सभी तरह के पक्षपात से अलग था।" और उस क़ौम और जाति में, जो कि ऐसे विशाल नमूने पेश कर सकती है, अक़्लमंदी और भीतरी ताक़त का कैसा गहरा संचय होगा।

२१ : अशोक

हिंदुस्तान और पश्चिमी दुनिया से जो संपर्क चंद्रगुप्त मौर्य ने क़ायम किए थे, वह उसके बेटे बिंदुसार के लंबे राज्य-काल में बने रहे। पाटलिपुत्र के दरबार में, मिस्र के प्लोटमी और पच्छिमी एशिया के सेल्यूकस निकाटोर के बेटे और उत्तराधिकारी ऐंटिओकस के यहां से एलची आते रहे। चंद्रगुप्त के पोते अशोक ने यह संपर्क और भी बढ़ाए और इसके ज़माने में हिंदुस्तान एक महत्त्व का अंतर्जातीय केंद्र बन गया—ख़ास तौर से बौद्ध धर्म के तेज़ी से बढ़ते हुए प्रचार की वजह से।

२७३ ई० पू० में अशोक इस बड़े साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इससे पहले वह पश्चिमोत्तर सूबे में, जहां की राजधानी, अपने विद्यापीठ के लिए मशहूर तक्षशिला थी, राजा के प्रतिनिधि के रूप में रह चुका था। उस समय ही साम्राज्य के भीतर हिंदुस्तान का ज्यादातर हिस्सा आ गया था और यह ठीक मध्य एशिया तक फैला हुआ था। सिर्फ़ दक्खिन-पूरब और दक्खिन का एक हिस्सा इसमें नहीं आ पाया था। सारे हिंदुस्तान की एक हुकूमत के मातहत ले आने के पुराने सपने ने अशोक को उकसाया और उसने पूर्वी

समुद्र-तट के कलिंग प्रदेश को जीतने की ठानी। यह प्रदेश मोटे ढंग से आज-कल के उड़ीसा और आंध्र देश का एक हिस्सा मिलाकर बनेगा। कलिंग के लोगों के, बहादुरी से और मुक़ाबला करने के बावजूद, अशोक की सेना जीत गई। इस लड़ाई में भयानक हत्याएं हुई और जब अशोक के पास समाचार पहुंचे तो उसे बड़ा पछतावा हुआ और युद्ध से उसका जी फिर गया। विजयी सम्राटों और इतिहास के नेताओं के बीच वह अकेला व्यक्ति है जिसने विजय के क्षण में यह निश्चय किया कि वह आगे युद्ध न करेगा। सारे हिंदुस्तान ने उसका आधिपत्य मंजूर कर लिया। सिवाय धुर दक्खिन के एक टुकड़े के, जिसे कि वह इच्छा करने भर से अपने अधिकार में ला सकता था। लेकिन उसने अपने राज्य को बढ़ाया नहीं, और बुद्ध की शिक्षा के असर में उसका मन दूसरी ही तरह की विजयों और साहसी कामों की तरफ़ फिरा।

अशोक के क्या ख़याल थे, और उसने क्या किया, यह हम उसके ही लफ़्ज़ों में, उन बहुत से आदेशों में उसने जारी किये थे और जो कि पत्थरों और धातों पर अंकित किए गए थे, हम जानते हैं। यह आदेश सारे हिंदुस्तान में फैले थे और हमें जब भी मिलते हैं, और इन आदेशों के ज़रिये उसने अपनी प्रजा को ही बल्कि आने वाली पीढ़ियों को भी अपना संदेश दिया था। उसके एक आदेश में यह कहा गया है:

"परम पवित्र प्रियदर्शी सम्राट् ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में कलिंग को जीता। एक सौ पचास हज़ार आदमी वहां से क़ैदी के रूप में लाए गए; सौ हज़ार आदमी वहां पर मारे गए और इस संख्या के कई गुने लोग और मरे।

"कलिंग के साम्राज्य में मिलाए जाने के ठीक बाद ही प्रियदर्शी सम्राट् का अहिंसा-धर्म का पालन करना, उस धर्म से प्रेम और उसका प्रचार शुरू होता है। इस तरह प्रियदर्शी सम्राट् का कलिंग विजय पर पश्चात्ताप उदय होता है, क्योंकि न जीते गए देश के जीते जाने के साथ ही हत्याएं और मौतें होती हैं और लोग बंदी करके ले जाये जाते हैं। यह प्रियदर्शी सम्राट् को महान् शोक पहुंचाने वाली बात है।"

इस आदेश में आगे कहा गया है कि अब अशोक हत्या या बंदी किया जाना नही देख सकते, जितने लोग कलिंग में मरे, उनके सौवें हज़ारवें हिस्से का भी नहीं। सच्ची विजय, अशोक लिखता है, लोगों के दिलों पर कर्त्तव्य और दया धर्म पालन करते हुए, विजय हासिल करना है; और इस तरह की सच्ची विजय उसने पा ली थी, न महज़ अपने राज्य में, बल्कि दूर-दूर के राज्यों में। इसके अलावा आदेश में यह भी कहा है:

"इसके अतिरिक्त यह है कि अगर कोई उनके साथ बुराई करता है, तो उसे भी प्रियदर्शी सम्राट् जहां तक होगा सहन करेंगे। अपने राज्य के वन

के निवासियों पर भी प्रियदर्शी सम्राट् की कृपा दृष्टि है, और वह चाहते हैं कि यह लोग ठीक विचार वाले बनें, क्योंकि अगर ऐसा वह न करें तो प्रियदर्शी सम्राट् को पश्चात्ताप होगा। क्योंकि परम पवित्र महाराज चाहते हैं कि जीव-धारी मात्र की रक्षा हो, और उन्हें आत्म-संयम, मन की शान्ति और आनंद प्राप्त हो।"

इस अद्भुत शासक ने, जिसे कि अब तक हिंदुस्तान में और एशिया के दूसरे हिस्सों में प्रेम के साथ याद किया जाता है, बुद्ध के सत्कर्म और सद्भाव की शिक्षा के फैलाने में, और जनता के हित के कामों में, अपने को पूरी तरह लगा दिया। यह घटनाओं को हाथ-पर-हाथ रखकर देखने वाला और ध्यान में डूबा हुआ और अपनी उन्नति की चिंता में खोया हुआ आदमी न था। वह राज-कार्य में मेहनत करने वाला था और उसने यह ऐलान कर दिया था कि मैं सदा इस काम के लिए तैयार हूं : सब वक़्तों में और सब तरह, चाहे मैं खाना खाता होऊं, चाहे रनिवास में होऊं, चाहे अपने शयन में रहूं, या स्नान में, सवारी पर रहूं या महल के बाग़ में, सरकारी कर्मचारी, जनता के कार्यों के बारे में मुझे बराबर सूचना देते रहें।···जिस समय भी हो, और जहां भी हो मैं लोक-हित के लिए काम करूंगा।"

उसके दूत और एलची सिरिया, मिस्र, मैसिडोनिया, साइरीन, और एपाइरस तक बुद्ध के संदेश और उसकी शुभ कामनाओं का लेकर पहुंचे। वह मध्य एशिया भी गए, और बर्मा और स्याम भी, और उसने ख़ुद अपने बेटे और बेटी, महेन्द्र और संघमित्रा को दक्खिन में लंका भेजा। सभी जगह दिमाग़ और दिल को फेरने की कोशिश की गई; कोई जब्र या ज़ोर नहीं इस्तैमाल किया गया। ख़ुद कट्टर बौद्ध होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के लिए आदर का भाव दिखाया। एक आदेश में उसने यह ऐलान किया :

"सभी मत, किसी-न-किसी वजह से, आदर पाने के अधिकारी हैं। इस तरह का व्यवहार करने से आदमी अपने मत की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, साथ ही वह दूसरे मतों और लोगों की सेवा करता है।"

बौद्ध-धर्म, हिंदुस्तान में, कश्मीर से लेकर लंका तक, बड़ी तेजी के साथ फैला। यह नैपाल में भी पैठा, और बाद में तिब्बत और चीन और मंगोलिया तक पहुंचा। हिंदुस्तान में इसका एक नतीजा यह हुआ कि शाकाहार बढ़ा और शराब पीने से लोग बचने लगे। उस वक्त तक ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मांस खाया करते थे और शराब पीते थे। पशुओं का बलिदान रोक दिया गया।

विदेशों से संपर्क होने और धर्म के प्रचारकों के बाहर जाने का नतीजा यह ज़रूर हुआ होगा कि हिंदुस्तान और बाहर के मुल्कों में व्यापार बढ़ा हो। खुतन (अब मध्य एशिया में सिन क्यांग में) हिंदुस्तानियों के एक उपनिवेश का

बयान हमें हासिल हुआ है। हिंदुस्तान के विद्यापीठों में, खास तौर से तक्षशिला में बाहर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

अशोक एक बड़ा निर्माता भी था, और यह कहा गया है कि उसने अपनी कुछ बड़ी-बड़ी इमारतों के बनवाने के लिए विदेशी कारीगरों को रख छोड़ा था। यह नतीजा एक जगह बने हुए कुछ ऐसे खेतों को देखकर निकाला गया है, जो कि पर्सिपोलिस की याद दिलाते हैं। लेकिन इस शुरू की पत्थर की कारीगरी में और खँडहरों में भी हिंदुस्तानी कला की परंपरा की ख़ास बातें देखने में आती हैं।

अशोक के पाटलिपुत्र के महल की बहुत से खंभों वाली एक इमारत के कुछ हिस्सों को कोई तीस साल हुए पुरातत्त्वज्ञों ने खोदकर निकाला था। हिंदुस्तान के पुरातत्त्व विभाग के डा० स्पूनर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है कि यह "ऐसी सुरक्षित हालत में पाई गई है कि विश्वास नहीं होता, इसमें लगी हुई शहतीरें वैसी ही चिकनी और ठीक हालत में हैं जैसी कि वह उस दिन रही होंगी जब कि वह लगाई गई थीं, यानी दो हज़ार साल से ज़्यादा साल पहले।" आगे चलकर वह यह भी लिखते हैं कि "पुरानी लकड़ी की, ऐसी रक्षा, उनके किनारे इतने सही और पक्के थे, कि उनके जोड़ों की लकीरों तक का पता न चलता था—देखकर सभी देखने वालों की हैरत का ठिकाना न था। सब-की-सब चीज़ें ऐसी सच्ची और होशियारी से बनी थीं कि उनसे अच्छा काम आज भी हो सकना मुमकिन नहीं है...मुख्तसर यह है कि बनावट इतनी पक्की थी जितनी कि इस तरह के कामों में हो सकती है।"

देश के और हिस्सों में भी, खुदाई गई इमारतों में लकड़ी की शहतीरें और कड़ियां मिली हैं, जो बहुत सुरक्षित हालत में हैं। यह कहीं भी अचरज की बात होगी, लेकिन हिंदुस्तान में, जहाँ कि आबहवा उन्हें नष्ट कर देती है और जहाँ इतने तरह के कीड़ों से खाए जाने का उन्हें डर रहता है, यह और भी अच-रज की बात है। लकड़ी की हिफ़ाज़त के लिए कोई मसाला इस्तैमाल ज़रूर होता रहा हो; यह क्या था, यह मैं समझता हूं, अब भी एक रहस्य है।

पाटलिपुत्र (पटना) और गया के बीच नालंदा विद्यापीठ के खँडहर मिलते हैं जो कि बाद में मशहूर हुआ था। यह ज़ाहिर नहीं होता कि कब से इसकी शुरूआत हुई। अशोक के ज़माने में इसका कोई पता नहीं मिलता।

अशोक की मौत ईसा से क़ब्ल २३२ वें साल में हुई, जब कि वह इक-तालीस साल राज्य कर चुका था। इसके बारे में एच० जी० वेल्स अपनी "आउट-लाइन अव् हिस्ट्री" में लिखते हैं: "बादशाहों के दसियों हज़ार नामों में, जिनसे कि इतिहास के सफ़े भरे हुए हैं, जिनमें बड़े-बड़े महाराजे, और महा महिम और शहंशाह हैं, अशोक का नाम अकेला चमक रहा है, इस तरह से चमक रहा है जैसे कोई सितारा हो। वोलगा से लेकर जापान तक उसका नाम आज भी आदर

के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और हिंदुस्तान भी (जहां कि उसकी शिक्षा अगर्चे त्याग दी गई हैं उसके बड़प्पन की परंपरा की रक्षा करते हैं। आज के जितने ज़िंदा लोग उसकी स्मृति को बनाए हुए हैं, उतने लोगों ने कांस्टैं-टाइन और शार्ल मेन के नाम कभी सुने भी न होंगे।"

: ५ :

युगों का दौर

१ : गुप्तकाल में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद

मौर्य साम्राज्य का अंत हुआ और उसकी जगह शुंग वंश ने ली। इसका राज्य उसके मुक़ाबले में बहुत छोटे क्षेत्र पर था। दक्खिन में बड़े-बड़े राज्य उठ रहे थे, और उत्तर में बाख्त्रीया भारतीय-यूनानी काबुल से पंजाब तक फैल गए थे। मेनांडर के नेतृत्व में उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर हमला किया लेकिन मार भगाए गए। ख़ुद मेनांडर पर हिंदुस्तान के रंग-ढंग और वातावरण का असर पड़ा और वह बौद्ध बन गया, और एक मशहूर बौद्ध हुआ। आम बौद्ध परम्परा में यह राजा मिलिंद कहलाया और इसे क़रीब-क़रीब संत का पद मिला। हिंदुस्तानी और यूनानी संस्कृतियों के मेल-जोल से गांधार की यानी अफ़ग़ानी सरहदी सूबे की यूनानी-बौद्धकला का जन्म हुआ।

एक पत्थर की लाट है, जो होलिओडोरस की लाट के नाम से मशहूर है, और जिसका कि वक्त ईसा से क़ब्ल की पहली सदी है। यह मध्य हिंदुस्तान में, साँची के करीब, बेसनगर में है, और इस पर संस्कृत में एक लेख खुदा हुआ है। इससे हमें इस बात की झलक मिलती है कि किस तरह यूनानी, जो कि हिंदुस्तान के सरहद पर आए थे, हिंदुस्तानी बन रहे थे और हिंदुस्तानी संस्कृति में जज़्ब हो रहे थे। इस लेख का तर्जुमा इस तरह किया गया है:—

"देवताओं के देव वासुदेव (विष्णु) के इस गरुड़-स्तंभ को डियां के बेटे, तक्षशिला निवासी विष्णु-पूजक हेलिओडोरस ने स्थापित किया, जो कि यूनान के महाराज एंटिआल्सिडास के यहां से परम रक्षक महाराज काशिपुत्र भागभद्र के यहां उसके चौदहवें राज्य-काल में राजदूत होकर आया।

"तीन शाश्वत सिद्धांत, जिनके अच्छी तरह पालन करने से स्वर्ग मिलता है, वह हैं, आत्म-संयम, आत्म-त्याग (दान) और सत्यनिष्ठा।"

मध्य एशिया में शक या सिदियन लोग (सीस्तान = शकस्थान) आक्सस नदी की घाटी में बस गए थे। यूइ-ची और पूरब से आए और उन्होंने

इन शकों को हिंदुस्तान की तरफ ढकेला। यह शक बौद्ध और हिंदू बन गए। यूइ-चियों में से एक जत्था कुषाणों का था। इसने सबों के ऊपर अधिकार करके अपनी ताक़त फैलाई और उत्तरी हिंदुस्तान पर आया। शकों को कुषाणों ने हराया और दक्खिन की तरफ ढकेला। यह काठियावाड़ और दक्खन में चले गए। इसके बाद कुषाणों ने सारे उत्तरी हिंदुस्तान पर और मध्य एशिया के एक बड़े हिस्से पर अपना साम्राज्य क़ायम कर लिया। उनमें से कुछ ने हिंदू धर्म अख़्तियार कर लिया, लेकिन ज़्यादातर बौद्ध बने, और उनका सबसे मशहूर राजा कनिष्क भी बौद्ध-कथाओं का एक नायक है; और उसके बड़े-बड़े कारनामों और लोक-हित के कामों का इन कथाओं में ज़िक्र हुआ है। अगर्चे यह बौद्ध था, लेकिन जान पड़ता है कि राष्ट्र का धर्म कुछ मिला-जुला मामला था, जिसमें कि ज़रथुष्ट्र के धर्म का भी हाथ था। यह सरहदी हुकूमत, जो कि कुषाण साम्राज्य कहलाई, और जिसकी कि राजधानी मौजूदा पेशावर और तक्षशिला के पुराने विद्यापीठ के पास ही थी, ऐसी जगह बन गई जहां कि बहुत-सी क़ौमों के लोग इकट्ठा हुआ करते थे। यहां पर हिंदुस्तानी लोग सिदियनों, यूइ-चियों, ईरानियों, बाख़्त्री यूनानियों, तुर्कों और चीनियों से मिलते-जुलते थे और इन जुदा-जुदा संस्कृतियों का, एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता था। इनके आपस के प्रभावों का नतीजा यह हुआ कि मूर्ति-कला की एक नई शैली निकल पड़ी। इसी ज़माने में, जहां तक इतिहास बताता है, चीन और हिंदुस्तान के बीच पहले संपर्क हुए, और ६४ ई० में चीन से यहां एलची आए। चीन से हिंदुस्तान आए तोहफ़ों में, छोटे लेकिन बहुत पसंद आने वाले तोहफ़े थे, आड़ू और नाशपाती के दरख़्त। ठीक गोबी के रेगिस्तान के किनारे पर, तुर्फ़ान और कूचा में, हिंदुस्तानी, चीनी और ईरानी संस्कृतियों का बहुत आकर्षक मेल क़ायम हुआ।

कुषाणों के ज़माने में, बौद्ध-धर्म दो टुकड़ों में बँट गया--एक महायान और दूसरा हीन यान कहलाया--और दोनों में, जैसा कि हिंदुस्तान का क़ायदा रहा है, बड़े विवाद होते थे और बड़ी-बड़ी सभाओं में, जिनमें कि सारे हिंदुस्तान से नुमाइंदे इकट्ठा होते थे, झगड़े के विषयों को लेकर बहसें हुआ करती थीं। कश्मीर इस साम्राज्य के बीच के हिस्से के पास था और यहां भी मुबाहसे होते थे और बहुत-सी सांस्कृतिक प्रवृत्तियां देखने में आती थीं। इन विवादों में एक नाम बहुत आगे आता है; वह है नागार्जुन का, जो कि पहली सदी ईसवी में हुआ था। यह बहुत ऊँचे पाए का आदमी था, और बौद्ध शास्त्रों का और हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े का बहुत बड़ा जानकार था, और इसी की वजह से हिंदुस्तान में महायान मत की जीत हुई। महायान के ही सिद्धांत चीन में फैले; लंका और बर्मा हीनयान के सिद्धांतों को मानते रहे।

कुषाण लोग हिंदुस्तानी बन गए थे और हिंदुस्तानी संस्कृति के संरक्षक

थे। फिर भी क़ौमी विरोध की धारा भीतर-भीतर इस हुकूमत के ख़िलाफ़ चल रही थी और जब बाद म नई जातियाँ हिंदुस्तान में आईं तब इस क़ौमी और विदेशियों का विरोध करने वाले आंदोलन ने चौथी सदी ईसवी में एक रूप ग्रहण कर लिया। एक दूसरे बड़े शासक ने, जिसका भी नाम चंद्रगुप्त था, नए हमला करने वालों को मार भगाया और एक ताक़तवर और विस्तृत साम्राज्य क़ायम कर लिया।

इस तरह से साम्राज्यवादी गुप्तों के ज़माने का, ३२० ई० में आरंभ होता है, जिसमें कि एक के बाद एक कई बड़े शासक पैदा होते हैं, जो कि न महज़ युद्ध में कामयाब होते हैं, बल्कि शांति की कलाओं में भी सफलता दिखाते हैं। बार-बार के हमलों ने विदेशियों के ख़िलाफ़ एक मज़बूत भावना पैदा कर दी थी, और देश के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय इस बात पर मजबूर हुए कि अपने देश की और संस्कृति की हिफ़ाज़त के लिए कुछ करें। जो विदेशी लोग कि यहां जज़्ब हो गए थे उनको क़ुबूल कर लिया गया, लेकिन सभी नए आने वालों को ज़ोरदार विरोध का सामना करना पड़ा, और इस बात की कोशिश की गई कि पुराने ब्राह्मण आदर्शों की नींव पर एक गठी हुई हुकूमत क़ायम की जाय। लेकिन अब वह पुराना आत्म-विश्वास जा रहा था और इन आदर्शों में एक ऐसी कड़ाई आ गई जो कि उनके स्वभाव के ख़िलाफ़ थी। हिंदुस्तान, शारीरिक और मानसिक दोनों ही अवस्थाओं को देखते हुए जैसे किसी खोल के भीतर आ गया था।

फिर भी यह खोल काफ़ी गहरा और चौड़ा था। शुरू में, जिस ज़माने मे कि आर्य यहाँ, जिसे कि उन्होंने आर्यावर्त्त या भारतवर्ष कहा, आए, उस ज़ानाने में हिंदुस्तान के सामने सवाल यह था कि इस नई जाति और संस्कृति में और इस देश की पुरानी जाति और सभ्यता में कैसे समन्वय क़ायम हो। हिंदुस्तान के दिमाग़ ने इसके हल करने पर ध्यान दिया और मिली-जुली भारतीय आर्य संस्कृति की बुनियाद पर एक क़ायम रहने वाला हल पेश किया। दूसरे विदेशी लोग यहां आए और जज़्ब होते गए। उन्होंने कुछ खास फ़र्क़ न पैदा किया। अगर्चे हिंदुस्तान के दूसरे मुल्कों से व्यापार के ज़रिये और दूसरी तरह के भी ताल्लुक़ थे, फिर भी वह अपने ही मसलों में ग़र्क रहा, उसने बाहर क्या हो रहा है, इस पर कम ध्यान दिया। लेकिन अब जो समय-समय पर अजनबी लोगों के हमले हो रहे थे, जिनके अनोखे रीति-रिवाज थे, उन्होंने उसे हिला दिया, और वह अब इन हमलों की तरफ़ से लापरवाह नहीं हो सकता था, क्योंकि वह महज़ उसके राजनीतिक संगठन को ही नहीं तोड़ रहे थे बल्कि उसके सांस्कृतिक आदर्शों को भी खतरे में डाल रहे थे, और उसकी सामाजिक व्यवस्था को भी। इस प्रतिक्रिया ने क़ौमी रूप लिया और इसके साथ क़ौमियत की ताक़त

भी थी और तंग नज़री भी। धर्म, और फ़िलसफ़ा, इतिहास और परंपरा, रीति-रिवाज और सामाजिक व्यवस्था जो कि उस ज़माने के हिंदुस्तान की ज़िंदगी को अपने घेरे में लिए हुई थी और जिसे ब्राह्मण धर्म या (बाद में व्यवहार में आए हुए शब्द द्वारा) हिंदू धर्म कह सकते हैं, इस क़ौमियत का प्रतीक बना। यह दरअस्ल एक क़ौमी मज़हब था और यह उन सब जातीय और सांस्कृतिक, गहरी भावनाओं के अनुकूल था जो कि आज सब जगह क़ौमियत की बुनियाद में हैं। बौद्ध धर्म की भी, जो कि हिंदुस्तानी विचार से उपजा था, अपनी क़ौमी पृष्ठभूमि थी। उसके लिए हिंदुस्तान वह देश था जहाँ कि बुद्ध रहे थे, उन्होंने उपदेश दिया था और जहां वह मरे थे। लेकिन मूल में बौद्ध धर्म अंतर्जातीय था, सारी दुनिया का धर्म था, और जैसे-जैसे इसने विकास पाया और फैला तैसे-तैसे यह अधिकाधिक अंतर्जातीय होता गया। इस तरह पुराने ब्राह्मण धर्म के लिए यह स्वाभाविक था कि वह बार-बार क़ौमी जागृतियों का प्रतीक बने।

यह धर्म और फ़िलसफ़ा हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ धर्मों और जातीय तत्त्वों की तरफ़ तो रवादारी और उदारता का बरताव करता था, और उन्हें अपने विस्तृत संगठन में बराबर जज़्ब करता जाता था, लेकिन विदेशों के ख़िलाफ़ इसकी उग्रता बढ़ती जाती थी और इसने अपने को संपर्क से बचाए रखना चाहा। ऐसा करने से, जो क़ौमियत की भावना उठी है, वह अक्सर साम्राज्यवाद में बदल गई है, जैसा कि अक्सर ताक़त के बढ़ जाने से होता है। हालाँकि गुप्तों का ज़माना ख़ुद बड़ी तरक्क़ी और तहज़ीब और कस-बल का ज़माना था फिर भी इसने बड़ी तेज़ी से साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियां दिखाईं। इस वंश के एक बड़े शासक, समुद्रगुप्त, को, हिंदुस्तान का नैपोलियन कहा गया है। साहित्य और कला के लिहाज़ से यह ज़माना बड़ा ही शानदार ज़माना रहा है।

चौथी सदी से लेकर कोई डेढ़ सौ साल तक गुप्तवंश ने, उत्तर में, एक बड़े शक्तिशाली और ख़ुशहाल राज्य के ऊपर हुकूमत की। क़रीब डेढ़ सौ साल तक और उनके उत्तराधिकारी यह राज्य चलाते रहे लेकिन वह अपनी रक्षा करने में लगे रहे और उनका साम्राज्य सिमटता और रफ़्ता-रफ़्ता छोटा होता रहा। मध्य एशिया से नए हमलावर हिंदुस्तान में उतर रहे थे, और इस पर हमले कर रहे थे। यह लोग सफ़ेद हूण थे और इन्होंने मुल्क में बड़ी लूट-मार की, उसी तरह जिस तरह कि एटिला यूरोप में कर रहा था। उनके बर्बर व्यवहार और पिशाची निर्दयता ने आख़िरकार लोगों को जगाया और यशोवर्धन के नेतृत्व में, मिल-जुल कर लोगों ने उन पर हमला किया। हूणों की ताक़त तोड़ दी गई और उनके सरदार मिहिरगुल को क़ैद कर लिया गया। लेकिन गुप्तों के वंशज, बालादित्य ने, अपने मुल्क के रिवाज के बमूजिब, उसके साथ उदा-

रता का बरताव किया, और उसे हिंदुस्तान से वापस जाने दिया। मिहिरगुल ने इस बरताव का यह बदला दिया कि बाद में वह फिर लौटा और उसने अपने मेहरबान पर कपट से हमला किया।

लेकिन हिंदुस्तान में हूणों का राज्य थोड़े दिनों का था—कोई आधी सदी का। उनमें से बहुत से यहीं रह गए और छोटे-छोटे सरदार बन बैठे। यह अक्सर लोगों को सताते रहे, लेकिन अंत में हिंदुस्तान की जनता के समुंदर में यह भी समा गए। इनमें से कुछ सरदार सातवीं सदी के आरम्भ में बड़े उग्र हो गए। कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन ने उन्हें कुचल दिया और बाद में उसने एक शक्तिशाली राज्य का खुद संगठन किया, जो कि सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य एशिया तक फैला हुआ था। वह बड़ा उत्साही बौद्ध था, लेकिन उसका मत, महायानी बौद्धधर्म था, जोकि बहुत कुछ हिंदू धर्म के निकट था। उसने बौद्ध धर्म और हिंदूधर्म दोनों की ही मदद दी। इसी के ज़माने में मशहूर चीनी यात्री हुआन सांग (च्वानच्वांग) हिंदुस्तान में (६२९ ई० में) आया था। हर्षवर्द्धन कवि और नाटककार भी था और इसके दरबार में बहुत-से कलाकार और कवि बने रहते थे और इसकी राजधानी उज्जयिनी सांस्कृतिक कामों का एक मशहूर केन्द्र बन गई थी। हर्ष ६४८ ई० में मरा, यह क़रीब-क़रीब वही वक़्त था जब कि इस्लाम अरब के रेगिस्तान में उठ रहा था जो बाद में बड़ी तेज़ी से अफ्रीका और एशिया में फैलने वाला था।

२ : दक्खिनी हिंदुस्तान

मौर्य साम्राज्य के सिमिट कर अंत हो जाने के एक हज़ार से ज़्यादा साल बाद तक, दक्खिनी हिंदुस्तान में, बड़े-बड़े राज्य पनपे। आंध्रों ने शकों को हराया था; बाद में यह कुशाणों के समकालीन रहे। इसके बाद पच्छिम में चालुक्य साम्राज्य क़ायम हुआ और इसके पीछे राष्ट्र-कूट आए। धुर दक्खिन में पल्लवों का राज्य था, और यहीं से ज्यादातर वह हिंदुस्तानी बाहर गए जिन्होंने कि उपनिवेश क़ायम किए। इसके बाद चोल साम्राज्य बना और यह सारे प्रायद्वीप पर छा गया और इसने लंका और बर्मा तक पर विजय हासिल की। आखिरी बड़ा चोल-राजा, राजेन्द्र था, जिसकी कि १०४४ई०में मौत हुई।

दक्खिनी हिंदुस्तान अपनी बारीक़ दस्तकारी और समुद्री व्यापार के लिए खासतौर पर मशहूर था। इसकी समुद्री ताक़तों में गिनती थी और यहां के जहाज़ दूर देशों तक सामान पहुंचाया करते थे। यूनानियों की यहां बस्ती थी और रोम के सिक्के भी यहां पाए गए हैं। चालुक्य राज्य और ईरान के सासानी शासकों के बीच आपस में बीच एलची आते-जाते थे।

उत्तरी हिंदुस्तान में जो बार-बार हमले होते रहते थे, उनका कोई सीधा

असर दक्खिन पर नहीं पड़ता था। यह ज़रूर था कि उत्तर से बहुत से लोग जिनमें कि कारीगर, थवई और शिल्पी भी थे, दक्खिन में जाकर बस जाया करते थे। इस तरह दक्खिन पुरानी कला-परंपरा का मरकज़ बन गया और उत्तर में नई-नई धारायें हमलावरों के साथ-साथ आती रहीं। यह सिलसिला बाद की सदियों में और तेज़ हो गया, यहां तक कि दक्खिन हिंदू कट्टरपन का गढ़ बन गया।

३ : अमन के साथ विकास और लड़ाई के तरीके

बार-बार के हमलों का, और एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य के आने का जो मुख्तसर बयान किया गया है, उससे, हिंदुस्तान में क्या हो रहा था, इसके बारे में ग़लत ख़याल पैदा हो सकता है। इस बात को याद रखना चाहिए कि यह ज़माना एक हज़ार या उससे ज्यादा साल का है और बीच-बीच में लंबे वक़्त आए हैं जब कि मुल्क में अमन रहा है और हुकूमत में तरतीब। मौर्य, कुशाण, गुप्त और दक्खिन में आंध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट और और राज्य ऐसे हुए हैं जो दो-दो तीन-तीन सौ साल तक क़ायम रहे हैं—अंग्रेजी साम्राज्य का यहाँ जितना ज़माना गुज़रा है, आमतौर पर उससे ज्यादा लंबे अर्सों तक। इनमें से क़रीब-क़रीब सब मुल्की हुकूमतें रही हैं, और कुषाण भी जो कि उत्तरी सरहद के पार से आए थे, बहुत जल्द इस देश के हो रहे थे; उन्होंने यहाँ की सांस्कृतिक परंपरा को अपना लिया था, और उनकी जड़ें यहीं थीं। बराबर की हुकूमतों से सरहदी छेड़-छाड़ और कभी-कभी संघर्ष होते रहते थे लेकिन मुल्क की आम हालत अमन-अमान की थी और हाकिम कला और संस्कृति की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने में अपना ख़ास बड़प्पन समझते थे। यह प्रवृत्तियां राज्यों की हदों तक सीमित रहती थीं, क्योंकि सारे हिंदुस्तान की, साहित्य और संस्कृति के लिहाज़ से एक ही भूमिका थी। धर्म और फ़िलसफ़े के विवाद भी तुरंत मुल्क में फैल जाते थे, और उत्तर और दक्खिन, सभी जगह उन पर चर्चा होने लगती थी।

उस वक़्त भी जब कि दो राज्यों में लड़ाई होती रहती थी, या भीतरी राजनीतिक इन्क़लाब की हालत होती थी, जहां तक कि जनता के धंधे थे, उनसे बहुत कम छेड़-छाड़ की जाती थी। इस बात के लिखे प्रमाण मिले हैं कि लड़ने वाले शासकों में और खुदमुख्तार गांवों के मुखियों के बीच ऐसे मुआहदे हुए हैं, कि फ़स्ल को किसी तरह का नुक़सान न पहुँचाया जायगा और अगर अनजान में नुक़सान पहुंच गया तो उसका दूसरा फरीक़ को मुआवज़ा देना पड़ जायगा। ज़ाहिर है कि यह मुआहदा बाहर से आने वाले हमलावरों की तरफ़ से नहीं हो सकता था, और न शायद सचमुच ताक़त हासिल करने के लिए लड़ी गई लड़ाई में यह चीज़ चल सकती थी।

लड़ाई का पुराना और कड़ा भारतीय आर्य सिद्धांत यह था कि कोई अनीति के तरीक़े न अख़्तियार किए जायंगे, और हक़ के लिए लड़ी गई लड़ाई में, नीति के तरीक़े बरते जायंगे। अमल में यह सिद्धांत कहां तक आता था, यह दूसरा ही बात है। ज़हरीले तीरों का इस्तैमाल मना था, इसी तरह छुपे हुए हथियारों का; इसी तरह सोते हुए या शरण में आए हुए लोगों का मारना मना किया गया था। इसका ऐलान था कि अच्छी इमारतों को कोई नुक़सान न पहुँचाया जाय। लेकिन इस मत में चाणक्य के ज़माने में ही तब्दीली शुरू हो गई थी और अगर दुश्मन को हराने के लिए ज़रूरी हो, तो और भी विनाशकारी और छल के तरीक़ों का इस्तैमाल किया जाना वह पसंद करता था।

यह एक दिलचस्प बात है कि चाणक्य ने अपने "अर्थ-शास्त्र" में, लड़ाई के हथियारों का ज़िक्र करते हुए ऐसे यंत्रों का बयान किया है, जो कि एक साथ सैकड़ों आदमियों की जान ले सकते थे, और साथ ही किसी तरह के विस्फोटक का भी ज़िक्र है। उसने खाई खोद कर लड़ाई करने के हवाले दिए हैं। इन सब के ठीक-ठीक मानी क्या होते हैं, अब कह सकना मुमकिन नहीं है। शायद यह हवाले किन्हीं परंपरा से चली आई कहानियों या तिलिस्मी लड़ाइयों के हैं। इनसे बारूद का हवाला हो सकता है, ऐसा यक़ीन करने की कोई वजह नहीं है।

अपने लंबे इतिहास के दौर में, हिंदुस्तान ने बहुत से संकट के ज़माने देखे हैं जब कि उसे आग और तलवार और क़हतसाली से पैदा होने वाले विनाशों का सामना करना पड़ा है, और इस ज़माने में भीतरी व्यवस्था खतम हो गई है। लेकिन इस इतिहास की एक व्यापक जाँच से यह पता चलेगा कि लंबे वक्तों तक, यहां जो व्यवस्था और शांति की ज़िंदगी रही है, वैसी यूरोप में नहीं रही है। और यह बात तुर्को और अफ़ग़ानों के हमलों के बाद की सदियों के बारे में भी सही उतरती है, ठीक उस वक्त तक जब कि मुग़ल साम्राज्य टूटता है। यह खयाल कि अंग्रेज़ी राज्य ने पहले-पहले हिंदुस्तान में अमन क़ायम किया एक बड़ा ही अनोखा और धोखे का खयाल है। यह सही है कि जब अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान में अपनी हुकूमत क़ायम की, उस वक़्त यह मुल्क बड़ी पस्ती की हालत में था, और राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था टूट गई थी। और दर असल यही वजह थी कि यह राज्य इस देश में क़ायम हो सका।

४ : आज़ादी के लिए हिंदुस्तान की उमंग

"पूरब ने तूफ़ान के आगे सिर झुका लिया—

सब्र और गहरी लापरवाही के साथ,

उसने फ़ौजों को सिर के ऊपर से गुज़र जाने दिया,
और फिर वह विचार में डूब गया ।"

ऐसा कवि ने कहा है, और उसकी यह पंक्तियां अक्सर उद्धृत की जाती हैं। यह सही है कि पूरब या कम-से-कम उसका वह हिस्सा जिसे कि हिंदुस्तान कहते हैं, विचार में डूबना पसंद करता रहा है, और अक्सर उन बातों पर विचार करने का उसे शौक़ रहा है, जिन्हें कि कुछ ऐसे लोग जो अपने को अमल पसंद कहेंगे बेतुका और बेमतलब समझेंगे। उसने हमेशा विचारों और विचार करने वालों की—आला दिमाग़ वालों की—क़द्र की है और तलवार चलाने वालों और पैसे वालों को इनसे ऊंचा समझने से बराबर इन्कार किया है। अपनी पस्ती के दिनों में भी, वह विचार का तरफ़दार रहा है और इससे उसे कुछ तसल्ली हासिल हुई है।

लेकिन यह बात सही नहीं है कि हिंदुस्तान ने कभी भी सब्र के साथ तूफ़ान के आगे सिर झुका लिया है या विदेशी फौजों के सिरपर से गुज़रने की तरफ़ से लापरवाह रहा है। उसने उनका हमेशा मुकाबला किया है—कभी कामयाबी के साथ और कभी नाकाम होकर—और जब वह नाकाम भी रहा है, तो उसने अपनी नाकामी को याद रक्खा है, और दूसरी कोशिश के लिए अपने को तैयार करता रहा है। उसने दो तरीके अख़्तियार किए हैं: एक तो यह कि वह लड़ा है और उसने हमलावरों को मार भगाया है; दूसरा यह कि जो भगाए नहीं जा सके उनके उसने अपने में ज़ज्ब कर लेने की कोशिश की है। उसने अलेग्ज़ेंडर की फौज का बड़ी कामयाबी से मुक़ाबला किया और उसकी मौत के ठीक बाद उत्तर से उन फ़ौजियों को जिन्हें कि यूनानियों ने यहां मुक़र्रर कर रक्खा था, मार भगाया है। बाद में उसने भारतीय-यूनानियों और भारतीय-सिदियनों को ज़ज्ब करके आख़िरकार फिर क़ौमी एकता क़ायम कर ली है। वह कई पीढ़ियों तक हूणों से लड़ता रहा है, और उन्हें अंत में मार भगाया है, जो बच रहे उन्हें उसने फिर अपने में ज़ज्ब कर लिया है। जब अरब आए तो वह सिंधु नदी के पास रुक गए। तुर्की लोग और अफ़गानी बहुत रफ़्ता-रफ़्ता आगे फैले। दिल्ली के तख़्त पर अपने को मज़बूती से क़ायम करने में उन्हें सदियां लग गईं। यह एक अटूट और लंबा संघर्ष रहा है, और जहां एक तरफ़ यह संघर्ष चलता रहता था, दूसरी तरफ़ ज़ज्ब करने और उन्हें हिंदुस्तानी बनाने की क्रिया भी जारी रहती थी, जिसका नतीजा यह होता था कि हमलावर वैसे ही हिंदुस्तानी बन जाते थे जैसेकि और लोग थे। अकबर मुख़्तलिफ़ तत्वों के समन्वय के पुराने हिंदुस्तानी आदर्श का नुमाइंदा बन गया और इस मुल्क वालों को एक आम क़ौमियत के अंदर लाने की कोशिश में लगा। चूंकि वह हिंदुस्तान का बना रहा, इस लिए हिंदुस्तान ने भी उसे अप-

नाया, बावजूद इसके कि वह बाहर से आया हुआ था। यही वजह थी कि वह अच्छा निर्माण कर सका और उसने एक शानदार सल्तनत की नींव डाली। जब तक कि उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति को बरता और क़ौमियत का ज़ेहनियत बनाए रहे, तब तक उसकी सल्तनत क़ायम रही। जब वह इससे अलग हट गए और क़ौमियत के विकास की सारी प्रवृत्ति को रोकने लगे, तब वह कमज़ोर पड़ गए और सारी सल्तनत की धज्जियां उड़ गईं। नई तहरीकें उठीं, जिनमें तंग-नज़री थी, लेकिन जो उभरती हुई क़ौमियत की नुमाइंदगी करती थीं, और अगर्चे यह इतनी मज़बूत नहीं थीं कि पायदार हुकूमत क़ायम कर सकें, फिर भी वह मुग़लों की सल्तनत को नाबूद करने भर को ज़रूर थीं। यह कुछ वक़्त तक कामयाब रहीं, लेकिन उनकी निगाह गुज़रे हुए ज़माने पर बहुत ज़्यादा थी, और उस ज़माने को फिर से ज़िंदा करने के ख़याल में डूबी थीं। उन्होंने यह नहीं महसूस किया कि बहुत-कुछ जो कि गुज़र चुका था, उसकी तरफ़ से आंखें नहीं मूंदी जा सकती थीं, और अतीत वर्तमान की जगह हरगिज़ नहीं ले सकता था; और यह वर्तमान भी, उनके ज़माने के हिंदुस्तान में, ऐसा था जिसमें कि सड़ांध पैदा हो गई थी। यह बदलती हुई दुनिया से अलग-अलग जा पड़ा था और हिंदुस्तान बहुत पीछे पड़ गया था। उन्होंने इस बात का ठीक-ठीक अनुमान न किया कि एक नई और जीवट की दुनिया पच्छिम में उठ रही थी, जिसका नज़रिया नया था और जिसके पास नई हिक-मतें थीं, और यह कि एक नई ताक़त—यानी ब्रिटिश—उस नई दुनिया की, जिससे कि वह इतने बेख़बर थे, नुमाइंदगी करती थी। ब्रिटिश जीते, लेकिन मुश्किल से उन्होंने अपने को उत्तर में क़ायम किया था कि बलवा हो गया, और यह आज़ादी की लड़ाई बन गया और इसने अंग्रेज़ी हुकूमत का क़रीब-क़रीब ख़ातमा कर दिया। आज़ादी की, स्वतंत्रता की, उमंग हमेशा रही है, और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाने से बराबर इन्कार किया गया है।

५ : तरक़्क़ी बनाम हिफ़ाज़त

हम एक अलग-थलग रहने वाले लोग रहे हैं, अपने गुज़रे हुए ज़माने और अपनी विरासत का हमें नाज़ रहा है, और इनकी हिफ़ाज़त करने के लिए हम दीवारें और बाढ़ें खड़ी करते रहे हैं। लेकिन जाति-चेतना के और जात-पांत की बढ़ती हुई सख़्ती के बावजूद, हम, और लोगों की ही तरह जो कि अपनी जातीय विशुद्धता का घमंड रखते हैं, अजीब वर्ण-संकर जाति बन गए हैं जिनमें कि आर्य, द्रविड़, तूरानी, सेमेटिक, मंगोल सभी जातियों का घोल है। आर्यों की यहाँ कई लहर आईं और वह द्रविड़ों से मिले-जुले; हज़ारों वर्षों तक उनके बाद, एक-एक करके दूसरे पर छोड़ने वाले लोगों और जातियों की

लहरें आती रहीं : मीडियन, ईरानी, यूनानी, बाख्त्री, पार्थियन, शक या सिदियन, कुशाण या युइ-ची, तुर्क-मंगोल और और जातियाँ जो कि बड़ी या छोटी संख्या में आई और जिन्होंने हिंदुस्तान में अपना घर कर लिया। डाडवेल अपनी किताब 'इंडिया' में कहता है : "खूंख़ार और लड़ाकी जातियों ने बार-बार इस (हिंदुस्तान) के उत्तरी मैदान पर हमला किया, इसके राजाओं को परास्त किया, इसके शहरों पर कब्ज़ा किया या उन्हें बरबाद कर दिया, नए राज्य बनाए, अपनी नई राजधानियां खड़ी कीं, और फिर जनता की महान् लहर में समा गए और छोड़ गए अपनी औलाद में क्षीण होता हुआ कुछ विदेशी रक्त या विदेशी रीति-रिवाज के कुछ धागे, और यह भी जल्द ही अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के ज़बर्दस्त प्रभाव की वजह से उसी के अनुरूप हो गए।"

इस ज़बर्दस्त वातावरण का क्या कारण रहा है? कुछ अंश में तो यह भूगोल और मौसिम, और हिंदुस्तान की हवा का ही असर था। लेकिन यक़ीनन बहुत ज्यादा असर था यह, एक ज़बर्दस्त जज़्बे का, एक गहरी प्रेरणा का, या ज़िंदगी के महत्त्व के ख़याल का, जिसने कि हिंदुस्तान की अंतर्चेतना पर अपनी छाप उस वक्त डाल दी थी जबकि इतिहास के उषा-काल में अभी वह ताज़ा और थोथी उम्र का ही था। यह छाप इतनी गहरी थी कि बराबर क़ायम रही, और इससे जो लोग भी संपर्क में आए उन पर भी इसने असर डाला, और इस तरह वह चाहे जितना मुख़्तलिफ़ रहे हों वह भी इसके घेरे में आकर जज़्ब हो गए। क्या यह जज़्बा, यह विचार, वह जिंदा चिनगारी थी, जिसने कि इस मुल्क में पनपने वाली तहज़ीब को रौशन किया, और जो मुख़्तलिफ़ दर्जे तक इतिहास के युगों में इसके लोगों पर असर डालती रही?

हिंदुस्तानी सभ्यता के विकास के भीतर काम करने वाले किसी जज़्बे या ज़िंदगी के नज़रिये की बात करना बेतुकी और बढ़के बोलने जैसी बात जान पड़ती है। अकेले शख़्श की ज़िंदगी भी सौ ज़रियों से अपनी ग़िज़ा हासिल करती है; एक कौम या तहज़ीब की ज़िंदगी इससे कहीं पेचीदा है। हिंदुस्तान के सतह पर, अनगिनित विचार, समुंदर पर बहने वाले टुकड़ों की तरह तिरते रहते हैं, और इनमें से बहुत से ऐसे हैं जो आपस में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ पड़ते हैं। यह बहुत आसान होगा कि इनमें से कुछ को चुन कर, किसी ख़ास विषय को हम सिद्ध कर दें। उतना ही आसान होगा कुछ और बातों को चुनकर इस विषय का खंडन कर देना। कुछ हद तक यह सभी जगह मुमकिन है; हिंदुस्तान जैसे एक पुराने और बड़े मुल्क में, जहां कि ज़िंदा चीज़ों के साथ मुर्दा चीज़ें इस तरह चिमटी हुई हों, यह काम ख़ास तौर पर आसान होगा। बहुत पेचीदा घटना को सादगी से बयान करने में एक ज़ाहिरा ख़तरा भी है। विचार और अमल के बीच गहरे फ़रक़ बहुत ही कम

होते हैं; एक खयाल दूसरे से जुड़ा-सा रहता है, और ऐसे भी विचार होते हैं जो अपना बाहरी रूप बनाए रखते हुए भी भीतर-भीतर बिलकुल बदल जाते हैं। या अक्सर वह बदलती दुनिया का साथ नहीं दे पाते और उसके लिए बोझ हो जाते हैं।

हम युगों के साथ-साथ बराबर बदलते रहे हैं, और किसी ज़माने में यह नहीं हुआ है कि हम अपने गुज़िश्ता ज़माने जैसे बने रहे हों : आज जाति और संस्कृति दोनों ही के लिहाज़ से, हम जो कुछ भी थे उससे मुख्तलिफ़ हैं, और अपने चारों ओर, क्या हिंदुस्तान में और क्या दूसरी जगह, मैं देखता हूं कि तब्दीली लंबे डग भर रही है। फिर भी इस वाक़ये को मैं नज़र-अंदाज़ नहीं कर सकता कि हिन्दुस्तानी और चीनी तहज़ीबों ने क़ायम रहने की और अपने को मौक़े के बमूजिब ढाल लेने की, ग़ज़ब की ताक़त दिखाई है; और बावजूद अनेक तब्दीलियों और संकटों के, बहुत बड़ी मुद्दत तक, अपनी बुनियादी ख़ासियत कायम रखने में कामयाब हुए हैं। वह ऐसा न कर पाते अगर वह ज़िंदगी और कुदरत से एक हमाहंगी न पैदा कर सके होते। वह जो कुछ भी चीज़ ही हो, जिसने कि इन्हें अपने क़दीम लंगर से लगाए रक्खा, वह चाहे अच्छी ही हो, चाहे बुरी, चाहे मिली-जुली, अगर यह ताक़तवर न रहा होती तो इतने ज़माने तक क़ायम नहीं रह सकती थी। शायद अपनी उपयोगिता यह कब की खो चुकी है, और तब से यह महज़ एक बोझ और रुकावट बन कर चली आ रही है; या मुमकिन है ऐसा हो कि बाद के ज़मानों के कूड़ा-करकट ने उसकी अच्छाइयों को दबाकर ख़तम कर दिया हो, और अब उस मुर्दा चीज़ का महज़ खोल बाक़ी रहा गया हो।

तरक्क़ी और हिफ़ाज़त या पायदारी के विचारों में शायद हमेशा कुछ आपस की अनबन रही है। दोनों एक साथ मौजूद नहीं हो पाते। इनमें से पहला तब्दीली चाहता है, और दूसरा एक न बदलने वाली पनाह की जगह चाहता है, और यह कि चीजें जैसी की तैसी बनी रहें। तरक्क़ी का ख़याल नए ज़माने का है और पच्छिम में भी अपेक्षाकृत नया है। क़दीम और बीच के ज़माने की तहज़ीबें गुज़श्ता सुनहले वक्त के, और फिर ज़माने की पस्ती के खयाल में डूबी रहती थीं। हिंदुस्तान में भी गुज़रे हुए ज़माने की बड़ी सुनहली कल्पना की गई है। यहां जो सभ्यता तैयार हुई उसकी भी बुनियाद हिफ़ाज़त और पायदारी के ख़यालों पर बनी थी, और इस नुक्ते-नज़र से यह उन सभी सभ्यताओं से, जो कि पच्छिम में उठीं कहीं ज्यादा कामयाब रही। समाज के संगठन ने, जिस की नींव में वर्ण-व्यवस्था और मुश्तरका ख़ानदान थे, इसमें मदद पहुंचाई और गिरोह के लिए सामाजिक पायदारी पैदा की और उम्र, कमज़ोरी या लाचारी की वजह से जो अपना पेट नहीं भर सकते थे, उनके लिए एक तरह का बीमा

मुहैया किया। इस तरह का इंतजाम अगर कमज़ोरों की मदद करता है तो एक हद तक मजदूरों के लिए रुकावट भी पैदा करता है। यह साधारण लोगों को बढ़ावा तो देता है, लेकिन असाधारण लोगों के ख़िलाफ़ पड़ता है, चाहे वह बुरे हों, चाहे क़ाबिल। यह लोगों को उठाकर या गिराकर एक सतह पर ले आता है, और व्यक्तिवाद के खिलने के लिए इस हालत में कम मौक़ा होता है। ध्यान देने की यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि जहां हिंदुस्तानी फ़िलसफ़ा हद दर्जे का व्यक्तिवादी फ़िलसफ़ा रहा है और क़रीब-क़रीब पूरे तौर से व्यक्ति के विकास से उसका संबंध रहा है, वहां हिंदुस्तान का सामाजिक संगठन फ़िरक़े-वाराना था, और महज़ गिरोहों पर तवज्जेह देता था। व्यक्ति को पूरी आज़ादी थी इस बात की कि जो चाहे सोचे, विचारे और जिस चीज़ में चाहे यक़ीन लावे; लेकिन उसे समाज और फ़िरके के रीति-रिवाजों की कड़ी पाबंदी करनी पड़ती थी।

बावजूद इस पाबंदी के, गिरोहों के भीतर भी सब कुछ लेकर बहुत लचीलापन था; और कोई ऐसा कानून या समाज का नियम न था जो कि रीति-रिवाज से बदला न जा सके। यह भी था कि नए गिरोह अपने-अपने अलग रीति-रिवाज, विश्वास और व्यवहार रख सकते थे, और ऐसा करते हुए भी एक बड़े सामाजिक-संगठन का अंग बने रह सकते थे। यही लचीलापन और अपने को मौक़े के बमूजिब ढालने की ताक़त ऐसी चीज़ें थीं, जिन्होंने कि विदेशियों को जज़्ब करने में मदद दी। इस सबके पीछे कुछ बुनियादी इख़लाक़ी या नीति के सिद्धांत थे और ज़िंदगी के मसलों को देखने का एक फ़िलसफ़ियाना नज़रिया था, और दूसरों के तरीकों के लिए रवादारी थी।

जब तक कि पायदारी और हिफ़ाज़त ख़ास मक़सद रहे, तब तक तो यह व्यवस्था खूब काम देती रही; और अगर आर्थिक तब्दीलियों ने इसकी जड़ें हिलाईं, फिर भी अपने को उनके माफ़िक बनाकर यह क़ायम रही। इसे असली चुनौती मिली, सामाजिक तरक्क़ी की उस नई धारणा से जो कि किसी तरह पुराने, टिके हुए, विचारों से मेल नहीं खाती थी। यही कल्पना पुराने कायम-शुदा व्यवसायों को पूरब में उखाड़ रही है, उसी तरह जिस तरह कि इसने पच्छिम में व्यवसायों को उखाड़ा है। पच्छिम में जहां अब भी तरक्क़ी का बोल-बाला है, हिफ़ाज़त की मांग पेश हो गई है। हिंदुस्तान में हिफ़ाज़त की कमी ने ही लोगों को मजबूर किया है कि वह पुरानी लीक छोड़कर बाहर आवें, और ऐसी तरक्क़ी का खयाल लावें जो कि हिफ़ाज़त की हालत पैदा करेगी।

लेकिन क़दीम या बीच के ज़माने के हिंदुस्तान में तरक्क़ी की ऐसी कोई चुनौती न थी। हां, तब्दीली और नए मौक़ों के बमूजिब अपने को ढालते रहने की ज़रूरत महसूस की जा चुकी थी, इसी से, समन्वय के लिए हम इतना उत्साह

पाते हैं। यह समन्वय महज़ उन लोगों का नहीं था जो हिंदुस्तान में पहुंच गए थे, यह समन्वय व्यक्ति की बाहरी और भीतरी ज़िंदगी के बीच भी था, और इसी तरह आदमी और प्रकृति के बीच भी। उस ज़माने में ऐसी खाइयां नहीं थीं जैसी कि आजकल दिखती हैं। इस आम संस्कृति की भूमिका ने हिंदुस्तान को बनाया और इस पर विविधता के बावजूद एकता की छाप दी। राजनीतिक व्यवस्था की जड़ में खुदमुख्तार गांवों की प्रथा थी, और यह बुनियाद के रूप में क़ायम रहती थी, जब कि राजे आते-जाते रहते थे। बाहर से नए आनेवाले और हमलावर, इस व्यवस्था की सतह को सिर्फ़ छोड़ देते थे, और उसकी जड़ को नहीं छू पाते थे। राज्य की ताक़त, देखने में चाहे जैसी निरंकुश दिखाई पड़ती हो, रीति-रिवाजों और वैधानिक बंधनों से सैकड़ों तरीकों से ऐसी जकड़ी हुई थी कि कोई भी शासक सहज में गांवों के हक़ों और अधिकारों में दखल न दे सकता था। इन आम हक़ों और अधिकारों से न केवल गांव में बसने वालों का आज़ादी बल्कि व्यक्ति की भी हिफ़ाज़त होती थी।

हिंदुस्तान के लोगों में आज, सबसे खासतौर पर हिंदुस्तान और हिंदुस्तानी संस्कृति और परंपरा पर गर्व करने वाले अगर कोई हैं तो राजपूत हैं। उनके बहादुरी के कारनामें गुज़रे हुए ज़माने में इसी परंपरा के ज़िंदा अंश थे। लेकिन कहा जाता है कि बहुत से राजपूत भारतीय-सिदियनों के वंशज हैं, और कुछ उन हूणों के भी जो कि हिंदुस्तान में आए थे। जाट से ज्यादा मज़बूत और अच्छा किसान आज हिंदुस्तान में न मिलेगा, जिसने कि धरती से अपना नाता जोड़ लिया है और अपनी ज़मीन में किसी क़िस्म का हस्तक्षेप नहीं बर्दाश्त कर सकता। वह भी मूल में सिदियन है। इसी तरह काठियावाड़ का लंबा और खूबसूरत किसान कट्ठी भी है। हमारे यहाँ के लोगों में से कुछ के नस्ल की शुरुआत कमोबेश निश्चय के साथ बताई जा सकती है, दूसरों के बारे में ऐसा कर सकना मुमकिन न होगा। लेकिन मूल जो भी रहा हो, सभी साफ़-साफ़ हिंदुस्तानी बन गए हैं, और दूसरों के साथ-साथ हिंदुस्तानी संस्कृति के अंग हैं और हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा को अपनी परंपरा मानते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि हिंदुस्तान में जो तत्व भी आया और यहां जज़्ब हो गया, उसने हिंदुस्तान को अपना कुछ दिया भी और उस से उसका कुछ लिया भी; इसने अपनी और हिंदुस्तान इन दोनों की ताक़त में इज़ाफ़ा किया। लेकिन जहां वह अलग-अलग रहा, और हिंदुस्तान की ज़िंदगी में और यहां की संपन्न और विविध संस्कृति में हिस्सा न ले सका, वहां उसका कोई पायदार असर न हुआ और आखिरकार मिट गया है, और मिटते-मिटते यानी अपने को या फिर हिंदुस्तान को कुछ नुक़सान पहुंचा गया।

६ : हिंदुस्तान और ईरान

उन बहुत से लोगों में, जो कि हिंदुस्तान की ज़िंदगी और संस्कृति से

संपर्क में आए हैं और इन पर असर डाला है, सबसे पुराने और सबसे मुस्तक़िल ईरानी रहे हैं। दरअस्ल यह ताल्लुक़ भारतीय-आर्य तहज़ीब की शुरुआत से क़ब्ल ही शुरू हो जाता है। क्योंकि भारतीय-आर्य और ईरानी अलग होकर अपना-अपना रास्ता लेने से पहले एक ही नस्ल के थे। जाति के ख़याल से तो इन दोनों का नाता रहा ही है, इनके पुराने धर्म और भाषा की भी एक-सी भूमिका रही है। वैदिक धर्म और ज़रथुष्ट्र के धर्म में बहुत-सी एक-सी बातें थीं, और वैदिक संस्कृत और अवस्ता की भाषा दोनों एक-दूसरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। बाद की संस्कृत और फ़ारसी के विकास अलग-अलग हुए, लेकिन दोनों के बहुत से मूल-शब्द एक ही हैं, जिस तरह कि सभी आर्य-भाषाओं के कुछ मूलशब्द समान हैं। दोनों भाषाओं पर और इनसे ज्यादा उनकी कला और संस्कृति पर, उनके जुदा-जुदा वातावरणों का प्रभाव पड़ा। फ़ारसी कला का ईरान की ज़मीन और मंज़र से क़रीबी ताल्लुक़ जान पड़ता है, और शायद इसी वजह से ईरान की कला-संबंधी परंपरा बनी चली आ रही है। इसी तरह भारतीय-आर्य कला-परंपरा और आदर्श, बर्फ़ से ढँके पहाड़ों, हरे-भरे जंगलों और उत्तरी हिंदुस्तान की बड़ी नदियों से पैदा हुए हैं।

हिंदुस्तान की तरह, ईरान की भी सांस्कृतिक बुनियाद इतनी मज़बूत थी कि वह अपने हमलावरों पर भी असर डाल सके और अक्सर उन्हें अपने में जज़्ब कर ले। अरब लोग, जिन्होंने कि सातवीं सदी ईस्वी में ईरान विजय किया इस असर के नीचे आ गए, और अपने सीधे-सादे रेगिस्तानी रहन-सहन को छोड़कर उन्होंने ईरान की रँगी-चुनी तहज़ीब अख़्तियार कर ली। जिस तरह फ्रांसीसी ज़बान यूरोप में है, उसी तरह फ़ारसी ज़बान एशिया के दूर-दराज़ हिस्सों के मुहज्जब लोगों की ज़बान बन गई। ईरानी कला और संस्कृति पच्छिम में कुस्तुनिया से लेकर ठीक गोबी के रेगिस्तान तक फैल गई।

हिंदुस्तान पर भी यह असर बराबर रहा, और अफ़ग़ानों और मुग़लों के ज़मानों में, हिंदुस्तान में, फारसी मुल्क की दरबारी ज़बान रही। यह बात अंग्रेज़ी दौर के ठीक शुरू तक बनी रही। आज की सभी हिंदुस्तानी ज़बानों में फ़ारसी लफ्ज़ भरे पड़े हैं। संस्कृत से निकली ज़बानों के लिए, ख़ासतौर पर हिंदुस्तानी के लिए, जो ख़ुद एक मिली-जुली ज़बान है, यह स्वाभाविक था। लेकिन दक्खिन की द्रविड़ ज़बानों पर भी फ़ारसी का असर पड़ा है। हिंदुस्तान में गुज़रे हुए ज़माने के फ़ारसी के कुछ बड़े शानदार शायर गुज़रे हैं, और आज भी, हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ही में फ़ारसी के अच्छे आलिम मिलते हैं।

इसमें कोई शक नहीं जान पड़ता कि सिंध की घाटी की सभ्यता के सम्पर्क, उस ज़माने की ईरान और मेसोपोटामिया की तहज़ीबों से थे। कुछ मक़्श-

निगारों और मुहरों में नुमायां मुशाबहत मिलती है। इस बात के भी कुछ सबूत हैं कि ईरान और हिंदुस्तान के बीच, पूर्व-अशीमियन ज़माने में भी आपस के संपर्क थे। हिंदुस्तान का अवस्ता में ज़िक्र आया है, और उत्तरी हिंदुस्तान का कुछ बयान भी है। ऋग्वेद में फ़ारस के हवाले हैं। फ़ारसी लोग 'पार्श्व' कहलाते थे और बाद में यही 'पारसीक' कहलाये, जिससे कि आधुनिक 'पारसी' शब्द निकला है। पार्थियनों को 'पार्थव' कहा गया है। इस तरह ईरान और हिंदुस्तान के दर्म्यान आपस की दिलचस्पी की परंपरा पुरानी है और अशीमियन वंश के ज़माने से भी पहले की है। शहंशाह साइरस के ज़माने से और भी संपर्कों के प्रमाण मिले हैं। साइरस हिंदुस्तान की सरहद, ग़ालिबन काबुल और बलूचिस्तान तक आया था। ईसा से क़ब्ल छठी सदी में दारा के अधीन जो सल्तनत थी वह ठीक पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान तक फैली हुई थी और सिंध और शायद पच्छिमी हिंदुस्तान का एक हिस्सा इसमें आ गया था। इस ज़माने को, हिंदुस्तान के इतिहास में, ज़रथुष्ट्र का ज़माना कहा गया है और इसका असर काफ़ी फैला रहा होगा। सूर्य की पूजा को प्रोत्साहन दिया गया।

दारा का हिंदुस्तानी सूबा, उसकी सल्तनत का सबसे मालदार और सबसे ज़्यादा घना बसा हुआ सूबा था। इस ज़माने में सिंध आज के टुकड़ों में बंटे हुए रेगिस्तानी देश से बहुत मुख़्तलिफ़ रहा होगा। हेरोडोटस हिंदुस्तानी बाशिंदों का ख़ुशहाली और आबादी का और दारा को दिए जाने वाले ख़िराज का हाल लिखता है:—"हिंदुस्तानियों की आबादी, जितने लोगों को हम जानते हैं उनसे ज़्यादा है; और इसी औसत से वह औरों से ज़्यादा ख़िराज भी देते थे—सोने के चूरे की ३६० टैलेंट" (यह बराबर है १० लाख पाउंड से ऊपर के)। हेरोडोटस फ़ारसी फ़ौज के हिंदुस्तानी दस्ते का भी ज़िक्र करता है, जिसमें पैदल, घुड़सवार और रथवाले थे। बाद में हाथियों का भी ज़िक्र है।

ईसा से क़ब्ल की सातवीं सदी से भी पहले से लेकर युगों बाद तक व्यापार के ज़रिये हिंदुस्तान और ईरान के ताल्लुक़ के सबूत मिलते हैं; ख़ास तौर पर यह ख़याल किया जाता है कि हिंदुस्तान और बैबिलोन के बीच होने वाला क़दीम व्यापार का रास्ता फ़ारस की खाड़ी से होकर था।[1] छठी सदी के बाद साइरस और दारा के हमलों के ज़रिये सीधे संपर्क क़ायम हो गए। अलेग्ज़ेंडर की विजय के बाद कई सदियों तक ईरान यूनानियों की हुकूमत में रहा। इस ज़माने में भी संपर्क बने रहे और कहा जाता है कि अशोक की इमारतों पर पार्सिपोलिस की निर्माण शैली का असर पड़ा। यूनानी-बौद्धकला

---

१ प्रोफेसर ए० वी० विलियम्स जैकसन, 'दि कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया' जिल्द १, पृ० ३२९

जो पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान में विकसित हुई, उसमें भी ईरान की छूत रही है। हिंदुस्तान में गुप्तों के ज़माने में ईसा से बाद की चौथी-पाँचवीं सदियों में, जो कि कला और संस्कृति के कारनामों के लिए मशहूर हैं, ईरान से ताल्लुक़ बने रहे।

काबुल, कंधार और सीस्तान के सरहदी इलाक़े, जो कि अक्सर हिंदुस्तान की हुकूमतों के अंदर रहे हैं, हिंदुस्तानियों और ईरानियों की आपस में मिलने की जगहें थीं। बाद के पार्थियन ज़माने में इन्हें 'सफेद हिंदुस्तान' का नाम दिया गया। इन हिस्सों का ज़िक्र करतेहुए, फ़रांसीसी विद्वान् जेम्स डार्मेस्टेलर कहता है : "हिंदू तहज़ीब इन इलाक़ों में फैली हुई थी, जो कि दरअसल ईसा से पहले और बाद की दो सदियों में 'सफ़ेद हिंदुस्तान' के नाम से जाने जाते थे, और मुसलमानों की विजय के ज़माने तक ईरानी से ज्यादा हिंदुस्तानी बने रहे।"

उत्तर हिंदुस्तान में आने वाले व्यापारी और यात्री ख़ुश्की के रास्ते आते थे। दक्खिनी हिंदुस्तान समुंदर के ऊपर भरोसा करता था, और उसकी समुंदरी रास्ते से, दूसरे देशों से तिजारत होती थी। एक दक्खिनी राज्य और ईरान के सासानियों के बीच आपस में राजदूत आते-जाते रहते थे।

हिंदुस्तान पर तुर्कों, अफ़ग़ानों, मुग़लों की विजयों का नतीजा यह हुआ कि हिंदुस्तान के ताल्लुक़ात मध्य और पच्छिमी एशिया से बढ़े। पंद्रहवीं सदी में (यूरोपीय रेनासां या पुनर्जागृति के युग के समय) समरकंद और बुख़ारा में तैमूरी पुनर्जागृति फल-फूल रही थी, और इसपर ईरान का गहरा असर था। बाबर, जो कि ख़ुद तैमूरिया ख़ानदान का शाहज़ादा था, इसी वातावरण से आया, और उसने दिल्ली के तख़्त पर क़ब्जा कर लिया। यह सोलहवीं सदी के शुरू की बात है, जिस वक्त कि ईरान में, सफ़ावी बादशाहों की हुकूमत के ज़माने में एक शानदार कलात्मक पुनर्जागृति हो रही थी, और यह ज़माना फ़ारसी कला का सुनहला ज़माना कहलाया है। बाबर के बेटे, हुमायूं ने, यहां से भाग कर सफ़ावी शाह के यहां पनाह ली थी, और उसी की मदद से वह फिर हिंदुस्तान लौटा था। हिंदुस्तान के मुग़ल बादशाह ईरान से बड़ा नज़दीकी ताल्लुक़ बनाए रखते थे और सरहद पार करके मुग़लों के शानदार दरबार में, इज्ज़त और धन कमाने के लिए आने वाले, ईरानी विद्वानों और कलावंतों का ताँता लगा रहता था।

हिंदुस्तान में इमारतों के एक नए तर्ज़ ने तरक्क़ी पाई, जिसमें कि हिंदुस्तानी और ईरानी आदर्शों और प्रेरणाओं का मेल-जोल था, और दिल्ली और आगरा बहुत-सी शानदार और ख़ूबसूरत इमारतों से भर गए। इनमें से सबसे ख़ूबसूरत इमारत थी ताजमहल, जिसके बारे में फ़रांसीसी आलिम एम० ग्रूस ने कहा

है कि "इसमें हिंदुस्तान के जिस्म में ईरान की रूह उतर आई है।"

हिंदुस्तान और ईरान के लोगों में, शुरू से लेकर सारे इतिहास के जमाने में, जैसा नज़दीकी ताल्लुक रहा है, शायद ही दूसरे लोगों में रहा हो। बद-क़िस्मती से जो आख़िरी यादगार इस लम्बे, क़रीब के, और बाइज़्ज़त रिश्ते की है वह नादिरशाह के हमले की है, जो कि दो सौ साल का जमाना गुज़रा, थोड़े वक़्त के लिए हुआ था, लेकिन जो हद दर्जे का ख़ौफ़नाक हमला था।

इसके बाद अंग्रेज़ आए और उन्होने सब दरवाज़े और सब रास्ते जिनके ज़रिये हमारा अपने एशियायी पड़ोसियों से ताल्लुक़ जुड़ता था, बंद कर दिए। समुंदर के आरपार नए रास्ते क़ायम हुए, जिन्होंने कि हमें यूरोप के ज्यादा करीब पहुंचाया, खास तौरपर इंग्लिस्तान के। लेकिन हिंदुस्तान और ईरान और मध्य एशिया और चीन के बीच फिर कोई संपर्क नहीं रह पाए, जब तककि इस ज़माने में हवाई जहाज़ों ने तरक्क़ी नहीं कर ली, और फिर हमने अपनी पुरानी दोस्ती ताज़ा की। बाक़ी एशिया से अचानक इस तरह अलग-अलग हो रहना, हिंदुस्तान की बरतानवी हुकूमत का सबसे खास और बदक़िस्मत नतीजा हुआ है।[१]

लेकिन एक अटूट नाता क़ायम रहा है—मौजूदा ज़माने के ईरान से नहीं, बल्कि क़दीम ईरान से तेरह सौ साल हुए जब कि इस्लाम ईरान में पहुँचा, उस वक़्त पुराने ज़रथुष्ट्र मजहब के मानने वाले, सैकड़ों या हज़ारों की गिनती में हिंदुस्तान में आए। उनका यहां स्वागत हुआ और वह पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गए, और अपने मज़हब और रीति-रिवाज़ों के पाबंद बने रहे। न किसी ने उनसे छेड़खानी की, न उन्होंने दूसरों से, यह एक बड़े मार्के की बात है कि, यह लोग जो कि पारसी कहलाए, हिंदुस्तान में चुपके से और बग़ैर बड़े दिखावे के, मिल बैठ गए, और इसे अपना घर बना लिया और फिर भी एक छोटे फिरके की हैसियत से, अपने पुराने रीति-रिवाजों को पाबंदी से निभाते रहे। अपने

[१]प्रोफ़ेसर ई० जे० रैपसन लिखते हैं: "वह ताक़त जो कि सब मातहत हुकूमतों का एक बड़े निज़ाम के अन्दर लाने में कामयाब हुई है, वह असल में एक समुंदरी ताक़त है: और चूंकि इसका समुंदरी रास्तों पर क़ाबू है, अमन के हक़ में, इसे ख़ुश्की की राहें बंद कर देनी पड़ी हैं। हिंदुस्तान का सल्तनत के सरहदी मुल्कों—अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान और बर्मा—के मुताल्लिक़ बरतानवी पालिसी का यही मक़सद रहा है। सियासी अलहदगी इस तरह पर सियासी एकता का एक लाज़िमी नतीजा रही है। लेकिन इसे याद रखना चाहिए कि अलहदगी, हिंदुस्तान की तारीख़ का, एक हाल की और बिलकुल नई चीज़ है। यह रास्ते का एक खास निशान है जो कि मौजूदा ज़माने को गुज़रे हुए ज़माने से जुदा करता है।"

(कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया, जिल्द १, पृष्ठ ५४)

हद तक अस्पष्ट और अवैज्ञानिक है और उसका, घटनाओं में, कोई आधार नहीं है। अभी हाल तक बहुत से यूरोपीय विचारकों का यह खयाल था कि क़द्र व क़ीमत के क़ाबिल जितनी चीज़ें हैं उनकी शुरुआत यूनान से या रोम से है। सर हेनरी मेन ने कहीं पर कहा है कि क़ुदरत की अंधी ताक़तों के अलावा दुनिया में कोई भी हरकत करने वाली चीज़ नहीं है जो कि अपने मूल में यूनानी न हो। यूनान और रोम के बारे में जानकारी रखने वाले यूरोप के बड़े-बड़े आलिम हिंदुस्तान और चीन के बारे में बहुत कम जानते थे। फिर भी प्रोफ़ेसर ई० आर० डाड्स ने ज़ोर दिया है उस "पूरबी भूमिका पर, जो कि यूनानी संस्कृति के पीछे थी, और जिससे वह अपने को (सिवाय यूनान और रोम के विषय के पंडितों के दिमाग़ में) कभी जुदा न कर सकी थी।"

यूरोप में, बहुत दिनों तक, लाज़िमी तौर पर, यूनानी, इबरानी और लातीनी ज़बानों तक, इल्म महदूद था। और इससे जो तस्वीर तैयार होती थी वह मेडिटिरेनियन के आस-पास की दुनिया की थी। बुनियादी ख़याल पुराने रोमनों के ख़याल से बहुत मुख्तलिफ़ न था, अगर्चे इसमें बहुत-सी तब्दीलियां और रद्दो-बदल कर लेने पड़े थे। यह विचार न महज़ इतिहास और भौगोलिक राजनीति पर और संस्कृति और सभ्यता के विकास पर हावी था, बल्कि इसने वैज्ञानिक तरक्क़ी के रास्ते में भी रोड़े डाले। अफ़लातून और अरस्तू दिमाग़ पर छाये हुए थे। उस वक़्त भी जब कि एशिया के लोगों के कारनामों की कुछ जानकारी यूरोपीय दिमाग़ तक छनकर पहुंचती थी, यह ख़ुशी से क़ुबूल नहीं की जाती थी। अनजान में इसका विरोध होता, और इसे जैसे भी हो पहली तस्वीर में बिठालने की कोशिश की जाती थी। जब यह ख़याल आलिमों का था, तब आम अनपढ़ लोग तो और भी, पूरब और पच्छिम के बीच, कोई ख़ास फ़र्क़ समझते रहे। यूरोप में मशीन के कारख़ानों के खुलने और उसके साथ होने वाली माली तरक़्क़ी ने आम लोगों के दिमाग़ पर इस भेद की छाप और भी गहरी कर दी, और किसी अनोखी दलील से क़दीम यूनान मौजूदा यूरोप और अमरीका का मां-बाप बन गया। दुनिया के गुज़श्ता ज़माने के मुताल्लिक़ नई जानकारियों ने कुछ विचार करने वालों के दिमाग़ में इन नतीजों को हिला दिया लेकिन जहां तक आम लोगों का मामला था, चाहे वह पढ़े लिखे हों चाहे अन-पढ़, सदियों पुराने विचार क़ायम रहे; यह ख़याली सूरतें थीं जो कि उनकी चेतना के ऊपरी तहों पर तिरती रहती थीं और फिर उस मंज़र में जो कि उन्होंने अपने लिए बना रखा था, समा जाती थीं।

पूरब और पच्छिम, इन लफ़्ज़ों के इस्तैमाल को मैं समझ नहीं सका हूं, सिवाय इस मानी में कि यूरोप और अमरीका ने मशीन के कारख़ानों में बड़ी तरक्क़ी कर ली है और एशिया इस लिहाज़ से पिछड़ा हुआ है। कल-कारख़ानों

की बहुतायत दुनिया के इतिहास में एक नई चीज है और इसने और चीजों के मुक़ाबले में दुनिया को ज्यादा बदल दिया है और बराबर बदल रही है। लेकिन यूनानी तहज़ीब में और आज की यूरोपीय और अमरीकन तहज़ीबों में कोई बुनियादी रिश्ता नहीं है। आज का यह ख़याल कि आराम की ज़िंदगी ही सब से बड़ी चीज है, यूनानी और दूसरे क़दीम साहित्यों के बुनियादी विचारों से बिलकुल जुदा है। यूनानी और हिंदुस्तानी और चीनी और ईरानी लोग हमेशा एक ऐसे मज़हब और ज़िंदगी के फ़िलसफ़े की तलाश में रहे हैं, जिनका कि असर उनके सभी कामों पर रहा है और जिनका मक़सद एक तरह का सम-तौल और हमाहंगी का भाव पैदा करता रहा है। यह आदर्श ज़िंदगी के हर पहलू में—साहित्य में, कला में, और संस्थाओं में--ज़ाहिर होता है और एक मुनासिबत और पूर्णता पैदा करता है। मुमकिन है कि यह विचार बिलकुल सही न हों और ज़िंदगी के असल हालात और ही रहे हों। फिर भी, यह याद रखना ज़रूरी है कि आज के यूरोप और अमरीका यूनानियों के मुकम्मल नज़रिये से कितने दूर हैं, जिसकी कि वह अपनी फ़ुरसत से लमहों में इतनी तारीफ़ करते हैं, और जिसके साथ वह कुछ दूर का रिश्ता कायम करना चाहते हैं, महज़ इसलिए कि उनके दिलों की कुछ भीतरी ख्वाहिशें पूरी हों; या मौजूदा ज़िंदगी के कठोर और दहकते हुए रेगिस्तान में वह कोई हरा प्रदेश ढूंढ़ निकालना चाहते हैं।

पूरब और पच्छिम के हर एक देश और लोगों का अपना व्यक्तित्व रहा है, उनका संदेश रहा है और उन्होंने ज़िंदगी के मसलों को अपने तरीके पर हल करने की कोशिश की है। यूनान की कुछ ख़ास बात है और अपने ढंग में वह निराला है; यही बात हिंदुस्तान की है, यही चीन और ईरान की। क़दीम हिंदुस्तान और क़दीम यूनान एक-दूसरे से मुख्तलिफ़ थे फिर भी मिलते-जुलते थे। उसी तरह जिस तरह कि क़दीम हिंदुस्तान और क़दीम चीन के बीच बावजूद बड़े इख्तलाफ़ों के ख़यालों का मेल-जोल था। इन सभों का एक-सा उदार, रवादारी का, और काफ़िरों जैसा नज़रिया था; ज़िंदगी का और प्रकृति की अनंत विविधता और अपार सुन्दरता का आनंद लेते थे; कला से प्रेम था; और थी वह अक़्लमंदी जो कि एक पुरानी जाति को उसके संचित अनुभवों की वजह से हासिल होती है। इनमें से हर एक ने अपनी क़ौमी खासियत के बमूजिब तरक्क़ी की। अपने यहां की क़ुदरती फ़िज़ा से, असर लिया और ज़िंदगी के किसी एक पहलू पर औरों के बनिस्बत ज्यादा ज़ोर दिया। यह ज़ोर सब जगह यकसां नहीं है। यूनानियों ने, एक क़ौम की हैसियत से, मुमकिन है अपने मौजूदा ज़माने की ज़िंदगी में ज्यादा उमंग से हिस्सा लिया हो, और जो सौंदर्य और मधुरता उनके इर्द-गिर्द थी, या जिसे उन्होंने ख़ुद पैदा किया था उसके रस में

डूबे हों। हिंदुस्तानियों ने भी यह आनंद और मधुरता अपने मौजूदा ज़माने में ही पाई, लेकिन साथ-ही-साथ, उनकी आंखे और गहरे ज्ञान की तरफ़ भी थीं, और उनके दिमाग़ अनोखे सवालों के हल में लगे हुए थे। चीनी इन मसलों और उनके रहस्यों को खूब जानते हुए भी, अक्लमंदी के साथ, उनमें उलझने से बाज़ आए। अपने-अपने मुख्तलिफ़ तरीकों से हर एक ने ज़िंदगी की खूबसूरती और पूर्णता को व्यक्त करने की कोशिश की। इतिहास ने दिखा दिया है कि हिंदुस्तान और चीन की बुनियादें ज्यादा मज़बूत थीं और उनमें टिकने की ज्यादा ताक़त थी। वह अभी तक ज़िंदा हैं, अगर्चे बुरी तरह झकोरा खा चुके हैं और उनकी बड़ी तनज्ज़ुली हो चुकी है और भविष्य धुंधला है। पुराने यूनान की जो भी शान रही है, उसकी ज़िंदगी थोड़े ज़माने की रही; वह क़ायम न रह सका, सिवाय इसके कि उसके आलीशान कारनामे हैं और उसका असर बाद में आने वाली संस्कृतियों पर पड़ा है, और उस छोटे और रौशन दिन की भरी-पूरी ज़िंदगी की यादगार बाक़ी है। शायद अपने मौजूदा ज़माने में उसकी इस हद की दिलचस्पी रही कि अब वह गुज़रा हुआ ज़माना बन के रह गया।

अपने हौसले और नज़रिये में हिंदुस्तान यूरोपीय क़ौमों की बनिस्बत पुराने यूनान के ज्यादा क़रीब है, अगर्चे वह अपने को यूनानी संस्कृति के वारिस बताते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं, चूँकि हम तक कुछ ऐसे ख़याल चले आ रहे हैं जो कि दलील के साथ ग़ौर करने के रास्ते में रुकावट डालते हैं। कहा जाता है कि हिंदुस्तान में मज़हब और फ़िलसफ़ा, और चिंतन और अध्यात्म पनपते हैं और वह इस दुनिया की बातों से बेलौस है, और जो कुछ इससे परे है, या बाद की दुनिया का है उसके सपनों में खोया हुआ है। हमको बताया यही जाता है, और शायद जो लोग हमसे ऐसा कहते हैं वह चाहेंगे भी कि हिंदुस्तान विचार और चिंतन में डूबा और उलझा रहे, और वह लोग इस दुनिया को और उसके सभी पदार्थों को, इन विचारकों से आज़ाद रहकर अपने कब्ज़े में रख सकें, और उनका उपभोग कर सकें। हाँ, हिंदुस्तान में यह सब कुछ रहे हैं, लेकिन इनसे और ज़्यादा बातें भी रही हैं। उसने बचपन के भोलेपन और मासूमियत को जाना है, जवानी की उमंगें और मस्तियां देखी हैं और बुज़ुर्गी में वह ज्ञान हासिल किया है जो कि सुख-दुःख के अनुभव से ही आता है; और बार-बार उसने अपने बचपन, अपनी जवानी, और अपनी बुज़ुर्गी को ताज़ा किया है। मुद्दतों की ग़फ़लत और उसकी वसअत ने उसे दबा रक्खा है; पस्ती लाने वाले रीति-रिवाजों और बुरे अमल ने उसमें घर कर लिया है, तुफ़ैली कीड़े उसमें चिपटे हुए उनका खून चूस रहे हैं, लेकिन इन सबके पीछे युगों की ताक़त और एक क़दीम जाति की भीतरी अक़्ल है। क्योंकि हम बहुत पुराने लोग हैं, अनथाही सदियां हमारे कानों में धीमे स्वर में अपनी कहानी कह रही हैं।

लेकिन हमने अपनी जवानी को बार-बार ताज़ा किया है, अगर्चे उन गुज़रे हुए युगों की यादें और सपने क़ायम रहे हैं।

यह कोई गुप्त सिद्धांत या गूढ़ विद्या नहीं है, जिसने कि हिंदुस्तान को इतने लम्बे युगों तक ज़िंदा और कायम रक्खा; जिस चीज़ ने ऐसा किया है वह है उसकी कोमल मानवता, उसकी बहुरंगी और रवादारी बरतने वाली संस्कृति, और ज़िंदगी और उसके भेदभरे तरीक़ों की गहरी सूझ-बूझ। उसकी भरी-पूरी जीवनी-शक्ति की धार, उसकी शानदार कला और साहित्य में, युग-युग से बहती आई है। हालांकि इनका बहुत थोड़ा हिस्सा हमें आजकल हासिल है, और ज्यादा हिस्सा या तो छिपा पड़ा है या क़ुदरत और इन्सान की ग़ारतगरी से जाया हो चुका है। एलिफैंटा की गुफ़ा का त्रिमूर्ति में हम खुद हिंदुस्तान की बहुमुखी मूर्ति देख सकते हैं—शक्तिशाली, आंखों में मजबूर कर देने वाली ताक़त रखने वाली, गहरे ज्ञान और समझ-बूझ वाली, जो हमारा तरफ़ देख रही है। अजंता के दीवार के चित्रों में हमें कोमलता, और सौंदर्य और जीवन से प्रेम दिखाई देता है, लेकिन हमेशा, कुछ और गहरी चीज़ का, ऐसी चीज़ का जो कि हमसे परे है, आभास मिलता है।

भूगोल और आबोहवा के लिहाज़ से यूनान हिंदुस्तान से मुख्तलिफ़ है। वहां कोई ऐसी नदियां नहीं जो सचमुच की नदियां कहला सकें, कोई जंगल नहीं, कोई बड़े वृक्ष नहीं, जिनकी हिंदुस्तान में बहुतायत है। अपनी विशालता और परिवर्तनशीलता से समुद्र ने यूनानियों पर जो असर डाला है वह हिंदुस्तानियों पर नहीं पड़ा, सिवाय इसके कि उन हिंदु-स्तानियों पर पड़ा हो जो कि समुद्र के किनारे बसते हैं। हिंदुस्तान की ज़िंदगी खुश्की की ज़िंदगी रही है, बड़े-बड़े मैदानों, विशाल पर्वतों, ज़ोरदार नदियों और घने जगलों का इसमें हिस्सा रहा है। यूनान में भी कुछ पहाड़ रहे हैं और यूनानियों ने आलिंपस को अपने देवताओं का उसी तरह पर निवास बनाया है, जिस तरह कि हिंदुस्तानियों ने अपने देवताओं और ऋषियों को हिमालय की ऊंचाइयों पर जगह दी है। दोनों ने देवताओं की गाथाएं रची हैं, और यह इतिहास के साथ इतनी मिल-ज़ुल गई हैं कि घटनाओं को गढ़ंत से छुड़ाना मुश्किल हो गया है। पुराने यूनानी, कहा जाता है, न भोगी थे और न योगी; वह आनन्द को बुरा या पाप जानकर उससे दूर नहीं भागते थे, न वह जान-बूझ कर उस तरह के आमोदों में पड़ते थे जिनमें कि इस ज़माने के लोग पड़ते हैं। जिस तरह से हम अपनी इच्छाओं का दमन करते हैं, वैसा किए बग़ैर वह ज़िंदगी में जोश से हिस्सा लेते थे, और जिस काम में लगते थे, खूब लगते थे, और इस तरह से वह हमारी बनिस्बत ज़िंदगी का ज्यादा लुत्फ़ लेते थे। हिंदुस्तान की ज़िंदगी के बारे में भी हम अपने पुराने साहित्य से कुछ ऐसा

ही असर लेते हैं। हिंदुस्तान में तपस्या की जिंदगी का भी एक पहलू रहा है, जैसा कि बाद में यूनान में भी रहा है, लेकिन यह बहुत थोड़े लोगों तक महदूद था और जनता की जिंदगी पर इसका असर न था। यह पहलू जैन और बौद्ध धर्म के दिनों में कुछ जोर पकड़ गया था, लेकिन फिर भी इसने जिंदगी की पृष्ठभूमि को ज्यादा नहीं बदला था।

जिंदगी जसी भी थी, उसे हिंदुस्तान और यूनान दोनों जगह क़बूल किया गया था, और लोग उसे पूरी तरह बसर करते थे, फिर भी इस तरह का यक़ीन था कि एक ख़ास किस्म की अन्दरूनी जिंदगी बेहतर होती है। इससे कुतूहल और कल्पना की गुंजाइश होती थी, लेकिन जांच का यह भावना पदार्थों के बारे में अनुभव हासिल करने की तरफ़ नहीं झुकती थी, बल्कि कुछ विचारों को ज़ाहिरा तौर पर सही क़यास करके उन पर तर्कपूर्ण दलील की तरफ़ जाती थी। वैज्ञानिक तरीक़ों के आने से पहले दरअस्ल सभी जगह यही रुख हुआ करता था। ग़ालिबन यह सोच-विचार कुछ थोड़े ऊँचे ज़हन के लोगों तक महदूद था, फिर भी साधारण शहरियों पर भी इसका असर पड़ता ही था, और वह भी फ़िलसफ़े के मसलों पर आपस में और बातों के साथ, अपनी खुली सभाओं में बहस करते थे। लोगों का रहन-सहन, जैसा आज भी हिंदुस्तान में, ख़ास कर देहातों में है, पंचायती ढंग का था, और लोग आपस में बाज़ार में, या मंदिरों और मसजिदों में, या पनघटों पर या जहां कि पंचायत-घर होते, पंचायतघरों में कट्ठा होकर दिन की ख़बरों और आम ज़रूरतों पर विचार करते थे। यहीं लोकमत बनता था और उसका इज़हार होता था। ऐसी चर्चाओं के लिए काफ़ी फ़ुरसत रहा करती थी।

फिर भी यूनानियों के बहुत से शानदार कारनामों में से एक ऐसा है जो औरों से बढ़-चढ़ कर है—यानी प्रयोगात्मक विज्ञान की शुरूआत। इसकी तरक्की जैसी यूनानी सभ्यता के भीतर आए हुए प्रदेश, सिकंदरिया में हुई, वैसी ख़ुद यूनान में नहीं हो पाई, और ईसा से क़ब्ल ३३० से १३० तक, यानी दो सदियों में, वैज्ञानिक उन्नति और यंत्रों के आविष्कार ने लम्बे डग लिए। हिंदुस्तान में इसके मुक़ाबले की कोई चीज़ नहीं मिलती, और हिंदुस्तान ही क्या, कहीं और भी हम ऐसी बात सत्रहवीं सदी तक नहीं पाते हैं, जब कि फिर विज्ञान ने लंबे डग भरे हैं। रोम ने भी, बावजूद अपने साम्राज्य के, एक विस्तृत प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के, और यूनानी सभ्यता से संपर्क होन के, विज्ञान, आविष्कार या यंत्रों के क्षेत्र में कोई ख़ास तरक्क़ी नहीं दिखाई। यूरोप मे यूनान और रोम की तहज़ीबों के ग़ारत होने पर, यह अरब थे, जिन्होंने कि विज्ञान की लौ को मध्य युगों में जगाए रक्खा।

सिकंदरिया की, साइंस और ईजाद की, यह सरगर्मी यक़ीनीतौर पर

ज़माने की समाजी उपज, और एक बढ़ते हुए समाज और जहाज़रानी की ज़रूरतों का नतीजा था; उसी तरह जिस तरह कि अंक गणित और बीज गणित का विकास —शून्यांक और राशिमानों का आविष्कार, हिंदुस्तान में, बढ़ते हुए व्यापार और जटिल होते हुए संगठन के लिहाज़ से, समाजी ज़रूरतों का परिणाम था। लेकिन यों आमतौर पर पुराने यूनानियों में कहाँ तक विज्ञान के लिए रुझान था, यह कहा नहीं जा सकता। उनकी ज़िंदगी अपनी परंपरा के नमूने पर चली होगी, जिसकी बुनियाद में उनका पुराना फ़िलसफ़ियाना नज़रिया था, जो इंसान और क़ुदरत के बीच हमाहंगी और मेल चाहता था। यह नज़रिया पुराने यूनान और हिन्दुस्तान में एक-सा था। हिंदुस्तान की तरह यूनान में भी साल त्योहारों में बंटा हुआ था और मौसम-मौसम के उत्सव हुआ करते थे जो इंसान को क़ुदरत के स्वर के साथ मिलाए रहते थे। हिंदुस्तान में अब भी यह त्योहार मनाए जाते हैं, बसंत में और फ़स्ल कटने के समय; और दीपावली, जो कि रोशनी का त्योहार है, शरद् के अंत में मनाया जाता है; और होली का उत्सव जो शुरू गर्मी में मनाया जाता है, और इसके अलावा पौराणिक पुरुषों के नाम पर त्योहार चलते हैं। अब भी इन उत्सवों में, कुछ के मौक़ों पर लोक-गीत और लोकनृत्य होते हैं, जैसे रासलीला या कृष्ण का गोपियों के साथ नाच।

क़दीम हिंदुस्तान में औरतें अलग-अलग नहीं रहती थीं, सिवाय कुछ हद तक राज-घराने और कुलीन वर्ग की औरतों के। शायद यूनान में मर्द और औरत उस ज़माने में हिंदुस्तान के मुक़ाबले में ज्यादा अलग रहते थे। पुरानी हिंदुस्तानी किताबों में मशहूर और विदुषी औरतों का अक्सर ज़िक्र आता है, और अक्सर वह खुले शास्त्रार्थों में हिस्सा लिया करती थीं। यूनान में शादी, ज़ाहिरा तौर पर सिर्फ़ आपस के मुआहदे की बात थी, लेकिन हिंदुस्तान में यह हमेशा धार्मिक संस्कार समझी गई है, अगर्चे और तरह की शादियों का भी ज़िक्र आया है।

यूनान की औरतों की, जान पड़ता है, हिंदुस्तान में खास आव-भगत होती थी। जैसा कि पुराने नाटकों से पता चलता है, राज दरबारों की दासियां अक्सर यूनानी हुआ करती थीं। यूनान से हिंदुस्तान में आने वाली खास चीज़ों में, जो कि बैरी गैज़ा (पच्छिमी हिंदुस्तान में भंड़ोच) के बंदरगाह में उतरी थीं, "गानेवाले लड़कों और ख़ूबसूरत लड़कियों" का होना बताया जाता है। चंद्रगुप्त मौर्य का रहन-सहन बताते हुए मेगास्थनीज़ कहता है : "राजा का खाना औरतें पकाती थीं, और वही शराब भी पेश किया करती थीं, जिसका कि सभी हिंदुस्तानियों में चलन है।" कुछ शराब यक़ीनी तौर पर यूनान या उसके उपनिवेशों से आती थी, क्योंकि एक पुराना तमिल कवि "यवनों (आयोनियन या यूनानी) द्वारा अपने अच्छे जहाज़ों में लाई ठंडी सुगंधित शराब" का हवाला

देता है। एक यूनानी बयान है कि पाटलिपुत्र के राजा (शायद अशोक का पिता बिंदुसार) ने ऐंटिओकस को लिखा कि हमें मीठी शराब, सूखी अंजीर और एक सोफ़िस्ट फ़िलसूफ़ ख़रीदकर भेज दो। ऐंटिओकस ने जवाब दिया: "हम आपको अंजीर और शराब भेजेंगे, लेकिन यूनानी क़ानून सोफ़िस्ट की बिक्री की इजाज़त नहीं देता।"

यूनानी साहित्य से यह साफ़ पता चलता है कि सम-लिंगी संबंध को बुरा नहीं ख़याल किया जाता था। दर असल इसकी जानिब एक सरस अनुमोदन का भाव था। शायद इसकी वजह यह थी कि युवावस्था में लड़के-लड़कियां अलग रक्खे जाते थे। इसी तरह की प्रवृत्ति ईरान में पाई जाती है और फ़ारसी साहित्य में इसके हवाले भरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि माशूक़ की एक युवक के रूप में कल्पना करना साहित्यिक परंपरा का अंग बन गया था। संस्कृत साहित्य में ऐसी कोई बात नहीं मिलती और यह ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान में सम-लिंगी संबंध न पसंद किया जाता था और न क़तई तौर पर यह रायज था।

यूनान और हिंदुस्तान के आपस के संपर्क उस ज़माने से मिलते हैं जब से कि लिखा हुआ इतिहास मिलता है, और बाद के ज़माने में हिंदुस्तान के और यूनानी असर में आए हुए पच्छिमी एशिया के क़रीबी ताल्लुक़ रहे हैं। उज्जयिनी (अब उज्जैन) मध्य हिंदुस्तान, में जो बहुत बड़ी वेधशाला है, उसका मिस्र के सिकंदरिया से संबंध था। संपर्क की इस लंबी मुद्दत में इन दो तहज़ीबों के बीच विचार और संस्कृति की दुनिया में, आपस के बहुत से तबादले हुए होंगे। किसी यूनानी किताब में यह रवायत दर्ज है कि कुछ हिंदुस्तानी सुक़रात के पास आए और उन्होंने उससे सवाल किए। पैथागोरस पर हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े का ख़ास असर हुआ था, और प्रोफ़ेसर एच॰ जी॰ रालिसन का कहना है कि : "धर्म, फ़िलसफ़ा और गणित के क़रीब-क़रीब सभी सिद्धांत, जिनकी कि पैथागोरस के अनुयायी तालीम दिया करते थे, हिंदुस्तान में ईसा से क़ब्ल की छठी सदी में मालूम थे। उर्विक नाम के यूनान और रोम का ख़ास अध्ययन करने वाले एक योरपीय विद्वान् ने, अफ़लातून की 'रिपब्लिक' नाम की किताब की तशरीह हिंदुस्तानी विचार के आधार पर की है।[1] ग्नास्टिक तत्त्ववाद को यूनानी अफ़लातूनी और हिंदुस्तानी तत्त्वों को मिलाकर एक कर की कोशिश ख़याल किया गया है। रियाना का फ़िलसूफ़ एपोलोनियस शायद

---

१ ज़िमर्न ने अपनी 'दी ग्रीक कामनवेल्थ' किताब में उर्विक की किताब 'दि मेसेज अव् प्लेटो' (१९२०) का हवाला दिया है। मैंने यह किताब नहीं देखी है।

पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में, तक्षशिला में, ईसाई संवत् के शुरू में आया था।

मशहूर यात्री और आलिम, अल्बेरूनी, जो कि मध्य एशिया के खुरासान में पैदा हुआ एक फ़ारसी था, हिंदुस्तान में ग्यारहवीं सदी ईस्वी में आया। उसने यूनानी फ़िलसफ़ा, जो कि बग़दाद में शुरू इस्लामी ज़माने में आम पसंद था, पढ़ रक्खा था। हिंदुस्तान में आकर उसने संस्कृत सीखने में मेहनत की, जिससे कि वह हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े को पढ़ सके। उसने दोनों में बहुत-सी समान बातें देखीं और दोनों का मुक़ाबला उसने अपनी किताब में किया है। वह ऐसी संस्कृत किताबों के हवाले देता है जिनमें यूनानी ज्योतिष और रोमन ज्योतिष का बयान हुआ है।

अगर्चे लाज़मी तौर पर इनका एक-दूसरे पर असर रहा है, फिर भी यूनानी और हिंदुस्तानी तहज़ीबों में से हर एक इतनी मज़बूत रही हैं कि अपनी जगह पर मुस्तक़िल रहे, और अपनी ख़ासियत की बिना पर तरक़्क़ी कर सके। पुरानी प्रवृत्ति सभी चीज़ों को यूनान या रोम से निकली हुई बताने की रही है, लेकिन इस प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया हुई है, और एशिया और ख़ास तौर पर हिंदुस्तान के कारनामों पर ज़ोर दिया गया है। प्रोफ़ेसर टार्न कहते हैं: "मोटे ढंग से एशियायी ने यूनान से जो भी लिया वह आम तौर पर महज़ बाहरी बातें हैं, उसने केवल रूप-रेखा ली। शायद ही उसने भीतरी बातें ग्रहण की हों—नागरिक संस्थाएं चाहे एक अपवाद हों—और भाव तो उसने लिया ही नहीं। क्योंकि भाव के मामले में एशिया को हमेशा यक़ीन रहा है कि वह यूनान को दूर बिठा सकता है, और उसने दूर बिठाया है।" फिर यह भी लिखते हैं: "हिंदुस्तानी तहज़ीब इतनी मज़बूत थी कि यूनानी तहज़ीब के मुक़ाबले में डटी रह सके, लेकिन मज़हब को छोड़कर और मामलों में ज़ाहिरा इतनी मज़बूत न था कि अपना वैसा असर डाल सके जैसा कि बैबिलोनिया ने उस पर डाला; फिर भी ऐसा ख़याल करने की हमें वजह मिल सकती है कि कुछ बातों में हिंदुस्तान एक हावी साझेदार था।" "बुद्ध की प्रतिमा को छोड़ दें तो यह कहा जा सकता है कि अगर यूनानियों का कभी वजूद न होता तो भी हिंदुस्तान का इतिहास मुख्य-मुख्य बातों में ठीक वैसा ही रहता जैसा कि रहा है।"

यह एक दिलचस्प ख़याल है कि हिंदुस्तान में मूर्ति-पूजा यूनान से आई। वैदिक धर्म सभी तरह की मूर्तिपूजा के ख़िलाफ़ था। देवताओं के लिए कोई मंदिर तक न थे। मूर्ति-पूजा के कुछ निशानात हिंदुस्तान के पुराने विश्वासों में मिलते हैं, अगर्चे मूर्ति-पूजा यक़ीनी तौर पर बहुत फैली नहीं थी। शुरू का बौद्ध धर्म इसका कट्टर विरोधी था, और बुद्ध की मूर्तियां और प्रतिमाएं तैयार करने की ख़ास मनाही थी। लेकिन यूनानी कला का असर अफ़ग़ानिस्तान में

और सरहद के आसपास काफ़ी गहरा था और रफ़्ता-रफ़्ता उस असर ने काम किया। फिर भी शुरू में बुद्ध की कोई मूर्तियां न बनीं, बल्कि बोधिसत्वों की (जिन्हें कि समझा जाता है कि बुद्ध के, पहले के, अवतार हैं) अपोलो-जैसी मूर्तियां बनीं। इनके बाद खुद बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। इससे हिंदू धर्म के कुछ रूपों में भी मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन मिला, हालांकि वैदिक धर्म पर यह असर न पड़ा और वह इससे बचा रहा। मूर्ति या प्रतिमा के लिए फ़ारसी और हिंदुस्तानी में अब तक लफ़्ज़ है 'बुत', जो कि बुद्ध से निकला है।

इंसान के दिमाग़ में, जान पड़ता है, ज़िंदगी और प्रकृति और विश्व में किसी एकता खोज कर लेने की धुन है। यह ख्वाहिश, चाहे ठीक हो चाहे न हो, दिमाग़ की किसी ख़ास ज़रूरत को पूरा करती है। पुराने फ़िलसूफ़ इस पर हमेशा विचार किया करते थे और आज के वैज्ञानिक भी इस प्रेरणा से मजबूर हैं। हमारी सभी स्कीमों और योजनाओं, शिक्षा और सामाजिक व राजनीतिक संगठन के हमारे सभी विचारों के पीछे एकता और हमाहंगी की यही तलाश है। हमें कुछ क़ाबिल सोच विचार करने वाले और फ़िलसूफ़ अब यह बताते हैं कि आकस्मिक दुनिया में कोई एकता या निज़ाम नहीं है। यह हो सकता है, लेकिन इसमें शक नहीं कि इस भटके हुए यक़ीन ने भी (वह जैसा भी रहा हो) और हिंदुस्तान और यूनान और दूसरी जगहों में इस तलाश ने कुछ प्रत्यक्ष नतीजे दिखाए हैं और ज़िंदगी में एक हमाहंगी, एक सम-तौल और एक संपन्नता पैदा की है।

८ : पुरानी हिंदुस्तानी रंगशाला

यूरोप को, पुराने हिंदुस्तानी नाटक साहित्य का जबसे पता लगा, तभी से इस तरह के सुझाव दिए जाने लगे कि या तो इसकी शुरुआत ही यूनानी नाटकों से हुई या इस पर यूनानी नाटकों का गहरा असर पड़ा। इस मत में कुछ सच-जैसी दिखने वाली बात थी, क्योंकि उस वक्त तक किसी क़दीम नाटक का पता न चला था और अलेग्ज़ेंडर के हमले के बाद यूनान के अधिकार में आए राज्य हिंदुस्तान की सरहद पर क़ायम हो चुके थे। यह राज्य कई सदियों तक बने रहे और यूनानी नाटकों के खेल होते रहे होंगे। इस मसले की, यूरोपीय विद्वानों ने, सारी उन्नीसवीं सदी में, छान-बीन की और इस पर बहस-मुबाहसे हुए। अब यह बात आमतौर पर क़बूल कर ली गई है कि हिंदुस्तानी रंगशाला, अपने मूल में, और विचारों और विकास में, बिलकुल स्वतंत्र रही है। इसकी शुरुआत का पता लगावें तो हम ऋग्वेद तक पहुँच जायँगे जिसमें कुछ नाटकीय ढंग की बातचीत मिलती है। रामायण और महाभारत में नाटकों का ज़िक्र आता है। कृष्ण की लीलाओं के नाच और संगीत से इसकी शुरुआत होती है और उसी से इसकी रूप-रेखा बनती है।

ईसा से क़ब्ल की छठी-सातवीं सदा का मशहूर वैयाकरण पाणिनि नाटक के कुछ रूपों का उल्लेख करता है।

नाट्यकला पर एक पुस्तक--"नाट्यशास्त्र"—कहा जाता है कि तीसरी सदी ईस्वी में लिखी गई, लेकिन यह जाहिर है कि यह इसी मज़मून की और पहले की रचनाओं के आधार पर लिखी गई है। ऐसी किताब उसी वक़्त तैयार हो सकती है जब नाटक की कला की खासी तरक़्क़ी हो चुकी है, और आम लोगों के सामने खेल बराबर रखाए जाते रहे हैं। इससे क़ब्ल बहुत काफ़ी साहित्य इस पर तैयार हो चुका रहा होगा, और इसके पीछे कई सदियों का रफ़्ता-रफ़्ता विकास जान पड़ता है। हाल में छोटा नागपुर की रामगढ़ की पहाड़ियों में, एक ऐसी क़दीम रंगशाला का पता चला है, जिस की तारीख़ ईसा से क़ब्ल की दूसरी सदी बताई जाती है। यह मार्के की बात है कि "नाट्य शास्त्र" में जो रंगशालाओं का आम बयान मिलता है उससे इस रंगशाला का नक्शा मेल खाता है।

अब यह यक़ीन किया जाने लगा है कि ईसा से क़ब्ल की तीसरी सदी में, नियमित रूप से लिखे गए संस्कृत नाटक, पूरी-पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे, बल्कि कुछ विद्वानों का खयाल है कि यह बात ई० पू० पांचवी सदी में ही पैदा हो गई थी। जो नाटक मिलते हैं, उनमें और क़ब्ल के नाटककारों और नाटकों के हवाले अक्सर आते हैं, जिनका कि अभी तक पता नहीं चला था। ऐसे खोए हुए नाटककारों में एक भास था, जिसकी कि बाद के नाटककारों ने बड़ी तारीफ़ की है। इस सदी के शुरू में इसके तेरह नाटकों का एक संग्रह खोज में हाथ आया। अब तक मिले संस्कृत नाटकों में अश्वघोष के नाटक हैं। अश्वघोष ईस्वी संवत् के ठीक पहले या बाद हुआ था। दरअस्ल यह नाटकों के कुछ टुकड़े मात्र हैं जो कि ताड़पत्र पर अंकित हैं, और एक ताज्जुब की बात है कि गोबी रेगिस्तान के किनारे तुरफ़ान में पाए गए हैं। अश्वघोष एक धर्म-परायण बौद्ध था और इसने "बुद्ध चरित" भी लिखा है, जो कि बुद्ध की जीवनी है, और मशहूर है, और बहुत ज़माने से हिंदुस्तान और चीन और तिब्बत में आम-पसंद रही है। किसी ज़माने में इसका तर्जुमा चीनी ज़बान में हो चुका है और इसका तर्जुमा करने वाला एक हिंदुस्तानी था।

जहां तक पुराने हिंदुस्तानी नाटकों के इतिहास की बात है, इन खोजों ने हमारे सामने एक नया ही दृश्य ला दिया है, और हो सकता है कि अगर और खोजें हों और नई रचनाएं मिलें तो हिंदुस्तानी संस्कृति के इस मनोरंजक विकास पर और रोशनी पहुँचे। क्योंकि जैसा सिल्वान लेवी ने अपनी पुस्तक "ल थियेत्र इंदियान" ('हिंदुस्तानी रंग शाला')में लिखा है: "नाटक में,उदय होता हुई सभ्यता की महत्तम अभिव्यक्ति होती है। यह असली ज़िंदगी का

बयान करता है। यह एक चमत्कारी रूप में, सारभूत तथ्यों को, गौण बातों से अलग करके, हमारे सामने एक प्रतीक के रूप में रखता है। हिंदुस्तान की मौलिकता की उसकी नाट्य कला में पूरी-पूरी अभिव्यक्ति हुई है—इस कला में हिंदुस्तान की रूढ़ियों, सिद्धांतों और संस्थाओं का मिला-जुला सार पाया जाता है।"

यूरोप ने प्राचीन हिंदुस्तानी नाटकों के बारे में तब जाना जब कि १७८९ में सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'शकुंतला' का अनुवाद प्रकाशित किया। इस खोज से यूरोप के विचारशील लोगों में हलचल पैदा हो गई, और इस पुस्तक के कई संस्करण निकले। सर विलियम जोन्स के अनुवाद के सहारे जर्मन, फ्रेंच, डेनिश, और इटैलियन में इसके अनुवाद भी हुए। गेटे पर इसका गहरा असर हुआ और उसने 'शकुंतला' की जी खोलकर तारीफ़ की। 'फ़ौस्ट' में प्रस्तावना जोड़ने का विचार, कहा जाता है, उसके मन में कालिदास की प्रस्तावना को पढ़कर उठा, और यह संस्कृत नाटकों की साधारण परंपरा के अनुसार ही लिखी गई थी।[1]

---

[1]हिंदुस्तानी लेखकों की यह प्रवृत्ति रही है (और इसका मैं भी शिकार रहा हूं) कि वह यूरोपीय विद्वानों की रचनाओं में से ऐसे चुने हुए टुकड़े और उद्धरण पेश करते हैं जो कि पुराने हिंदुस्तानी साहित्य और फ़िलसफ़े की तारीफ़ में हों। उतनी ही आसानी से, बल्कि और ज्यादा आसानी से, ऐसे उद्धरण भी पेश किए जा सकते हैं जो कि इनके बर-अक्स हों। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में हिंदुस्तानी विचार और फ़िलसफ़े के बारे में यूरोपीय विद्वानों ने जो जानकारी हासिल की उससे उनमें बड़ा उत्साह फैला और उन्होंने इनकी बड़ी तारीफ़ें कीं। ऐसा ख्याल किया गया कि यह चीजें उनकी एक ज़रूरत को पूरा करती हैं, जिसे कि यूरोपीय संस्कृति नहीं कर पाई है। फिर एक प्रतिक्रिया शुरू हुई और यह धारणा पलटी, और आलोचनाएं होने लगीं और संदेह उठा। इसका कारण यह हुआ कि यह फ़िलसफ़ा बग़ैर शकल का और बिखरा हुआ समझा गया और हिंदुस्तानी समाज के कड़े जात-पांत के बंधनों को भी बुरा माना गया। यह दोनों ही तरह की प्रतिक्रियाएं ऐसी थीं जिनकी बुनियाद में पुराने हिंदुस्तानी साहित्य की नाकाफ़ी जानकारी थी। ख़ुद गेटे की राय ने पलटा खाया, और उसने एक तरफ़ तो यह कुबूल किया है कि हिंदुस्तानी विचार ने पच्छिमी सभ्यता को ज़ोरदार उत्तेजना दी है, दूसरी तरफ इसके गहरे असर को मानने से इन्कार किया है। हिंदुस्तान के बारे में यूरोपीय दिमाग़ का यह दो-तर्फ़ा और विरोधी नज़रिया, एक ख़ास बात रही है। हाल में उस महान् यूरोपीय रोम्यां रोलां ने, जो कि सबसे आला यूरोपीय संस्कृति का नुमाइंदा

कालिदास संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा कवि और नाटककार माना गया है। प्रोफ़ेसर सिल्वान लेवी ने लिखा है : "हिंदुस्तानी कविता और साहित्य के क्षेत्र में कालिदास का नाम चमक रहा है। नाटक, महाकाव्य और विरह गीत आज भी इस कलाकार की प्रतिभा और सूझ-बूझ का सबूत दे रहे हैं। सरस्वती के वरद पुत्रों में यह अद्वितीय हैं, और इन्हें ही ऐसी महान् रचना करने का सौभाग्य हुआ है, जिससे हिंदुस्तान का आदर बढ़ा है और खुद मानवता ने अपने को पहचाना है। उज्जयिनी में शकुंतला के जन्म पर जो आलोक हुआ था, उसने कई लंबी सदियों बाद पच्छिम की दुनिया को भी तब आलोकित किया जब कि विलियम जोन्स ने इसका उसे परिचय कराया। कालिदास ने अपने लिए उज्ज्वल तारों के बीच स्थान कर लिया है, जहाँ कि हर एक नाम इंसानी भावना के एक युग की नुमाइंदगी करता है। इन नामों का सिलसिला इतिहास की रचना करता है, बल्कि यों कहिए कि खुद इतिहास बन जाता है।"

कालिदास ने और नाटक भी लिखे हैं, और कुछ लंबे काव्य रचे हैं। उनका वक़्त ठीक-ठीक नहीं तै हो पाया है, लेकिन अनुमान है कि वह चौथी सदी ईस्वी के अंत के लगभग, उज्जयिनी में, गुप्त खानदान के चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के ज़माने में थे। परंपरा कहती है कि वह इस दरबार के नव-रत्नों में से एक थे, और इसमें कोई शक नहीं कि उनकी प्रतिभा को लोगों ने पहचाना और उनकी, अपनी ज़िंदगी में, पूरी कद्र हुई। वह उन भाग्यवानों में से थे, जिन्हें कि ज़िंदगी में आदर मिला, और जिन्होंने सुंदरता और कोमलता का—ज़िंदगी की कड़ाइयों और रूखेपन के मुक़ाबले में ज़्यादा अनुभव किया। उनका रचनाओं में ज़िंदगी के लिए प्रेम, और प्रकृति की सुंदरता के लिए एक उमंग मिलती है।

कालिदास की एक बड़ी कविता है 'मेघदूत'। एक प्रेमी है, जिसे कि पकड़ कर अपनी प्रेयसी से अलग कर दिया गया है, बरसात के मौसम में, एक बादल से, अपनी गहरी चाह का संदेश, उसके पास पहुँचाने के लिए कहला है। इस कविता की और कालिदास की, अमरीकन विद्वान् राइडर ने जी खोल-

---

है, एक ज्यादा समन्वय का और हिंदुस्तानी विचार की बुनियादी बातों के लिए एक बहुत दोस्ताना नज़रिया सामने रक्खा है। उसके खयाल से पूरब और पच्छिम, मानवी आत्मा के सनातन संघर्ष के अलग-अलग पहलुओं की नुमाइंदगी करते हैं। इस विषय—हिंदुस्तानी विचार की तरफ़ पच्छिमी प्रतिक्रिया—पर शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय के मि० अलेक्स अरोनसन ने बड़ी जानकारी और काबलियत के साथ लिखा है।

कर तारीफ़ की है। वह कविता के दो हिस्सों का हवाला देता हुए कहता है : "पहले आधे में बाहरी प्रकृति का बयान है, लेकिन उसमें इंसानी जज़्बे पिरोए हैं; दूसरे आधे में इसानी दिल की तस्वीर है, लेकिन यह तस्वीर प्रकृति की सुंदरता के चौखटे में मढ़ी हुई है। यह काम इतनी होशियारी से किया गया है कि यह कहना मुश्किल हो जाता है कि कौन-सा आधा हिस्सा ज्यादा अच्छा है। जो लोग इस मुकम्मिल कविता को मूल में पढ़ते हैं उनमें से कुछ एक हिस्से को, कुछ दूसरे को ज्यादा पसंद करते हैं। पाँचवीं सदी में कालिदास ने वह बात समझ ली थी, जिसे कि यूरोप ने उन्नीसवीं सदी तक न समझा, और जिसे कि वह अब भी एक अधूरे ढंग से समझ रहा है, यानी दुनिया आदमी के लिए नहीं बनी है, और यह कि वह अपना पूरा रुतबा तभी हासिल करता है जब कि वह उस ज़िंदगी की शान और क़ीमत समझ लेता है जो कि इंसानी ज़िंदगी से जुदा है। कालिदास ने इस हक़ीक़त को पा लिया था, यह उसकी दिमाग़ी ताक़त का शानदार सबूत है; यह ऐसा गुण है कि जो ऊँचे दर्जे की कविता के लिए उतना ही ज़रूरी है जितना कि बाहरी रूप-रेखा की पूर्णता। कविता में प्रवाह कोई दुर्लभ बात नहीं, दिमाग़ी समझ-बूझ भी बहुत असाधारण चीज़ नहीं, लेकिन दोनों का मेल जब से कि दुनिया शुरू हुई शायद आधी दर्जन से ज़्यादा बार नहीं देखा गया। चूंकि कालिदास में यह मधुर मेल मौजूद था, इसलिए उनकी गिनती, ऐनाक्रियां, और होरेस और शेली के पंगत में नहीं, बल्कि सोफ़ाक्लीज़, और वर्जिल और मिल्टन की पंगत में है।"

कालिदास से शायद बहुत पहले एक और मशहूर नाटक रचा गया था—शूद्रक का "मृच्छकटिक"। यह एक कोमल और एक हद तक कृत्रिम नाटक है, फिर भी इसमें कुछ ऐसी असलियत है कि उसका हम पर असर होता है और इससे हमें उस ज़माने की तहज़ीब और विचारों की झांकी मिलती है। ४०० ई० के लगभग, चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही ज़माने में, एक दूसरा मशहूर नाटक रचा गया, यह विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" था। यह एक ख़ालिस राजनीतिक नाटक है, जिसमें प्रेम का या किसी पौराणिक कथा का आधार नहीं लिया गया है। इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के ज़माने का हाल है, और उसका प्रधान मंत्री, चाणक्य, जिसने कि 'अर्थ-शास्त्र' लिखा था, इसका प्रधान पुरुष है। कुछ मानों में यह नाटक आज के ज़माने पर बहुत मौज़ूं आता है।

राजा हर्ष भी, जिसने कि सातवीं सदी ईस्वी के शुरू में एक नया साम्राज्य क़ायम किया, एक नाटककार था और हमें उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं। ७०० ई० के लगभग भवभूति हुआ है, जो कि संस्कृत साहित्य का एक और उज्ज्वल नक्षत्र था: उसका अनुवाद करना सहज नहीं, क्योंकि उसके नाटक की सुंदरता उसकी भाषा में है, लेकिन वह हिंदुस्तान में बहुत लोकप्रिय है, और

सिर्फ़ कालिदास को उससे बड़ा समझा जाता है। विल्सन ने, जो कि ग्राक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत का प्रोफ़ेसर था, इन दोनों के बारे में लिखा है कि : "भव-भूति और कालिदास के श्लोकों से ज़्यादा मधुर और सुंदर और शानदार भाषा की कल्पना करना मुमकिन नहीं।"

संस्कृत नाटक की धारा सदियों तक बहती रही, लेकिन नवीं सदी के मुरारि के बाद उसकी ख़ूबियों में ज़ाहिरा कमी आई। यह कमी और सिलसिलेवार उतार हमें ज़िंदगी के और कामों में भी दिखाई पड़ता है। यह समझाया गया है कि नाटकों का यह ह्रास कुछ अंशों में इस वजह से हो सकता है कि भारतीय-अफ़ग़ान और मुग़ल ज़मानों में इसे राजदरबार की सरपरस्ती नहीं हासिल हुई, और इस्लाम मज़हब वालों ने कला के इस रूप, यानी नाटक को यों नहीं पसन्द किया कि इसका ताल्लुक़ कौमी मज़हब से था। क्योंकि यह साहित्यिक नाटक—हम उसके ग्रामपसंद पहलुओं को छोड़ देते हैं, जो कि जारी रहे—ऐसा था कि ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए लिखा गया था और उन्हीं की सरपरस्ती का इसे सहारा था। लेकिन इस दलील में ज़्यादा दम नहीं है, अगर्चे यह मुमकिन है कि ऊपर की सियासी तब्दीलियों ने थोड़ा-बहुत दूर का असर डाला हो। सच बात तो यह है कि संस्कृत नाटक का ह्रास इन सियासी तब्दीलियों से बहुत क़ब्ल दिखाई पड़ने लगता है। और यह तब्दीलियां भी, कुछ सदियों तक सिर्फ़ उत्तरी हिंदुस्तान में हुईं और अगर इस नाटक में कोई दम बाक़ी रहा था तो यह दक्खिन में पनप सकता था। भारतीय अफ़ग़ानों, तुर्कों और मुग़ल शासकों का कारनामा— कुछ थोड़ी मुद्दतों को छोड़कर जब कि कट्टरपना ग़ालिब आया है, यह रहा है कि उन्होंने हिंदुस्तान की संस्कृति को यक़ीनी तौर पर बढ़ावा दिया है, और अक्सर उसमें नए रुख़ पैदा किए हैं और अपनी बातें जोड़ी हैं। हिंदुस्तानी संगीत को, बड़े उत्साह से, ज्यों-का-त्यों मुसलमानी दरबारों में और अमीरों के यहां उठा लिया गया है, और इसके कुछ सबसे बड़े उस्ताद मुसलमान हुए हैं। साहित्य और कविता को भी बढ़ावा मिला है और मशहूर हिंदी कवियों में मुसलमान भी हैं। बीजापुर के सुलतान, इब्राहीम आदिलशाह ने हिंदी में संगीत पर एक किताब लिखी है। हिंदुस्तानी कविता और संगीत दोनों में ही हिंदू देवी-देवताओं के ज़िक्र भरे पड़े हैं, लेकिन इन्हें क़बूल किया गया, और पुराने रूपक और अलंकार चलते रहे। यह कहा जा सकता है कि मूर्तियों का बनाना छोड़कर, कला का कोई भी रूप नहीं है जिसे कि मुस्लिम शासकों ने (कुछ अपवादों को छोड़कर) दबाने की कोई कोशिश की हो।

संस्कृत नाटक का ह्रास यों हुआ कि उन दिनों में हिंदुस्तान में, दूसरी दिशाओं में भी ज़वाल आया हुआ था, और रचना-शक्ति घट रही थी। अफ़-

गानों और तुर्कों के दिल्ली में तख़्तनशीन होने के बहुत पहले ही यह ज़वाल शुरू हो गया था। बाद में संस्कृत को अमीरों की इल्मी ज़बान की हैसियत से फ़ारसी से मुक़ाबला करना पड़ा। लेकिन एक साफ़ वजह यह मालूम पड़ती है कि संस्कृत नाटकों की ज़बान में और उस ज़माने की रोज़मर्रा की ज़बान में एक बढ़ती हुई खाई पैदा हो रही थी। १००० ई० तक बोली जानेवाली आम ज़बान, जिससे कि हमारी मौजूदा ज़बानें निकली हैं, अदबी शक्ल अख़्तियार करने लग गई थी।

फिर भी, इन सब बातों के बावजूद, संस्कृत नाटक तमाम मध्य-युग में और हाल तक लिखे जाते रहे, यह एक अचरज पैदा करने वाली बात है। सन् १८९२ में शेक्सपियर के 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का संस्कृत भावानुवाद निकला। पुराने नाटकों की पांडुलिपियां बराबर मिल रही हैं। इनकी एक सूची जो कि प्रोफ़ेसर सिल्वान लेवी ने १८९० में तैयार की थी ३७७ नाटकों और १८९ नाटककारों के नाम देती है। एक और हाल की फ़हरिस्त में ६५० नाटकों के नाम दिए गए हैं।

पुराने नाटकों की (कालिदास और दूसरों के) भाषा मिली-जुली है यानी उसमें संस्कृत और एक या ज़्यादा प्राकृतों का इस्तैमाल हुआ है, यह प्राकृतें संस्कृत की ही बोल-चाल का रूप हैं। एक ही नाटक में पढ़े-लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और साधारण अनपढ़ लोग, आमतौर से औरतें, प्राकृत बोलती हैं, हालांकि इसके अपवाद भी मिलेंगे। श्लोक या गीत, जिनकी बहुतायत है, संस्कृत में हैं। इस मिली-जुली भाषा की वजह से शायद नाटक आम तमाशबीनों को ज़्यादा मक़बूल होता था। यह साहित्यिक भाषा और आम-पसंद कला के अलग-अलग तक़ाज़ों के बीच का एक समझौता था। सिल्वान लेवी, इसका कुछ मानों में फ़रासीसी दुःखांत नाटकों से मुक़ाबला करता है, जो अपने विषयों के चुनाव की वजह से आम लोगों से अलग जा पड़ा था, और जिसने अस्ली ज़िंदगी से मुड़कर, एक रस्मी समाज पैदा कर लिया था।

लेकिन इस ऊँचे दर्जे की साहित्यिक रंगशाला को छोड़ कर, हमेशा एक ाम लोगों की रंगशाला रही है, जिसके बुनियाद में हिंदुस्तान के महाकाव्यों ौर पुराणों की कथाएँ होती थीं, और इन मज़मूनों से देखने वाले वाक़िफ़ हुआ करते थे; और उन्हें तमाशे से मतलब होता, नाटकीय तत्वों की जांच से नहीं। यह खेल लोगों की बोली में होते, इसलिए अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग बोलियां इस्तैमाल की जाती थीं। दूसरी तरफ़ संस्कृत नाटक ऐसे थे, जिनका कि सारे हिंदुस्तान में चलन था, क्योंकि संस्कृत सारे हिंदुस्तान की भाषा थी।

इसमें कोई शक नहीं कि यह संस्कृत नाटक खेले जाने के लिए लिखे

जाते थे, क्योंकि इनमें तफ़सील से अभिनय-संकेत दिए गए हैं, और देखने वालों को बिठाने के भी क़ायदे थे। क़दीम यूनान की चलन के खिलाफ़ यहां नटियां खेल में हिस्सा लेती थीं। यूनानी और संस्कृत दोनों में, प्रकृति के संबंध में एक सूक्ष्म चेतना मिलती है, एक ऐसा भाव मिलता है कि मनुष्य प्रकृति का अंग है। इनमें संगीत का जबर्दस्त पुट है, और कविता ज़िंदगी का एक लाज़िमी अंग जान पड़ती है, जिसमें कि भरपूर मानी हैं और महत्त्व है। यह अक्सर स्वर से पढ़ी जाती थी। यूनानी नाटकों को पढ़ते हुए बहुत से ऐसे रीति-रिवाजों और विचार के तरीक़ों के हवाले आते हैं, जिनसे खयाल यकायक पुराने हिंदुस्तानी रीति-रिवाजों पर जा पहुँचता है। यह सब होते हुए भी यूनानी नाटक संस्कृत नाटक से, मूल में, जुदा हैं।

यूनानी नाटक की खास ज़मीन 'ट्रैजेडी' है, यानी पाप की समस्या है। आदमी क्यों दुःख उठाता है? दुनिया में पाप क्यों है? मज़हब और ईश्वर की पहेली है। आदमी कितना तरस के क़ाबिल है, जिसकी दो दिन की ज़िंदगी है, और जो शक्तिशाली भाग्य के खिलाफ़ अंधी और बिना मक़सद की कोशिशों में लगा हुआ है—"यह वह नियम है जो क़ायम रहता है, बदलता नहीं, युगों तक···" आदमी को दुःख झेलकर सीखना चाहिए और अगर वह भाग्यवान् है तो वह इस कोशिश से ऊपर उठेगा :

"सुखी वह है, जिसने थका देने वाले समुंदर पर, तूफ़ानों से छुटकारा पा लिया है, और जो सुरक्षित बंदरगाह में पहुच गया है।

"सुखी वह है, जो अपनी कोशिशों से ऊपर उठकर, आज़ाद हो गया है।

"क्योंकि जिंदगी की कला एक अजब ढंग से गढ़ी गई है, कि एक, और दूसरा, अपने भाई को धन और शक्ति में पीछे छोड़ जाता है।"

"और करोड़ों आदमी बहते और उतराते रहते हैं, और करोड़ों उम्मीदों के खमीर से उनमें तूफ़ान आता रहता है।

"और या तो उनकी इच्छा पूरी होती है, या पूरी होने से रह जाती है; और आशाएं या तो मर जाती हैं या बनी रहती हैं।

• "लेकिन ज़माने के गुज़रने के साथ, जो भी यह जान सकता है कि जीना ही सुखी होना है, उसने अपना स्वर्ग पा लिया है।"

आदमी मुसीबत झेलकर ही सीखता है; वह सीखता है कि ज़िंदगी का सामना कैसे करना चाहिए; लेकिन वह यह भी सीखता है कि आखिरी रहस्य बना रह जाता है और इंसान अपने सवालों के जवाब नहीं पाता है, न अच्छाई और बुराई की पहेली को हल कर पाता है।

"रहस्य के अनक रूप हैं; और बहुत-सी चीजें जिन्हें कि ईश्वर ने पैदा

किया है, आशा और भय से परे हैं। और जिस अंत की आदमी को तलाश है वह आता नहीं, और जहां किसी आदमी का खयाल नहीं जाता था वहां एक रास्ता मौजूद है।"[1]

यूनानी 'ट्रैजेडी' के मुक़ाबले की ज़ोरदार, और उस शान की कोई चीज़ संस्कृत में नहीं है। दर-असल यहां 'ट्रैजेडी' (दुःखांत) जैसी कोई चीज़ है ही नहीं, क्योंकि इसकी मनाही रही है। इस तरह के बुनियादी सवालों पर विचार नहीं किया गया है, क्योंकि नाटककारों ने धार्मिक विश्वासों को, जैसे वह प्रचलित थे, मान लिया है। इनमें पुनर्जन्म और कार्य-कारण के सिद्धांत हैं। बिना कारण के या आकस्मिक पाप पर विचार ही न हो सकता था, क्योंकि जो कुछ अब होता है वह पूर्व जन्म की किसी पहली घटना का लाज़मी नतीजा है। अंधे तरीक़े पर काम करने वाली, अंधी ताक़तों की, जिसके खिलाफ़ आदमी लड़ता है, अगर्चे उसकी लड़ाइयों का कोई फल नहीं निकलता, यहाँ गुंजाइश ही नहीं है। फ़िलसूफ़ और विचारक, इन सीधी-सादी व्याख्याओं से संतुष्ट न होते थे, और वह बराबर इनके पीछे क्या रहस्य है, इसकी खोज में रहते थे, और आखिरी कारण और पूरी तफ़सील जानना चाहते थे। लेकिन ज़िंदगी इन्हीं विश्वासों के सहारे चलती थी और नाटककार उनकी कुरेद नहीं किया करते थे। यह नाटक, और संस्कृत काव्य आम तौर पर साधारण हिंदुस्तानी धारणा को मानकर चलते थे, और इस धारणा से विद्रोह के कोई ऐसे चिह्न नहीं हासिल होते हैं। नाटकों की रचना के बारे में कड़े नियम बने हुए थे और उन्हें तोड़ सकना आसान न होता था। फिर भी क़िस्मत के आगे दीनता से सिर नहीं झुकाया गया है : नायक हमेशा हिम्मत वाला आदमी होता है, जो कठिनाइयों का मुक़ाबला करता है। चाणक्य अवज्ञा के साथ 'मुद्राराक्षस' में कहता है कि "मूर्ख भाग्य के भरोसे रहते हैं"; वह अपने ऊपर भरोसा करने के बजाय, मदद के लिए सितारों की तरफ़ देखते हैं। कुछ बनावट आ जाती है : नायक हमेशा नायक बना रहता है, दुष्ट हमेशा दुष्टता के काम करता है : बीच का ताव-भाव नहीं मिलता।

फिर भी ज़बर्दस्त नाटकीय मौक़े आते हैं, दिल पर असर पैदा करने वाले दृश्य दिखाए गए हैं और ज़िंदगी की एक पृष्ठभूमि है जो कि सपने की तस्वीर की तरह जान पड़ती है, यानी जो असली भी है और बेबुनियाद भी, और इन सबको कवि की कल्पना शानदार भाषा में बुनकर रख देती है। ऐसा जान पड़ता है—चाहे दर-अस्ल ऐसा न रहा हो—कि हिंदुस्तान की ज़िंदगी उस वक़्त ज़्यादा शांतिमय, ज़्यादा पायदार थी, और मानो उसने जड़ों का पता

[1]यह दो उद्धरण यूरीपाइडिस से, प्रोफ़ेसर गिल्बर्ट मरे के तर्जुमे के आधार पर दिए गए हैं। पहला 'बाक्काइ' और दूसरा 'ऐलसेस्टिस' से है।

लगा लिया था और अपने मसलों का हल पा गई थी। यह ज़िंदगी धीर-गंभीर भाव से बहती जाती है, और तेज़ हवा के थपेड़ों और गुजरते हुए तूफ़ान भी सिर्फ उसकी सतह को हिला जाते हैं। यूनानी 'ट्रेजेडी' के ख़ौफ़नाक तूफ़ानों जैसी कोई चीज़ यहां नहीं है। लेकिन उसमें बड़ी मानवता है, एक सुंदर सामंजस्य है, और एक व्यवस्थित एकता है। सिल्वान लेवी ने लिखा है कि नाटक अब भी हिंदुस्तानी प्रतिभा का सबसे अच्छा आविष्कार है।

प्रोफ़ेसर ए० बैरिडेल कीथ भी कहते हैं कि "संस्कृत नाटक को यथार्थ में हिंदुस्तानी काव्य की सबसे ऊँची उपज समझा जा सकता है, जिसमें कि हिंदुस्तानी साहित्य के सावधान रचनाकारों की साहित्यिक कला की अंतिम कल्पना का निचोड़ आ गया है।...दर-असल ब्राह्मण, जिन्हें कि इस और दूसरे मामलों में बहुत बुरा-भला कहा गया है, हिंदुस्तान के दिमाग़ी बड़प्पन के मूल में रहे हैं। जिस तरह से कि उसने हिंदुस्तानी फ़िलसफ़ा पेश किया, उसी तरह अपने दिमाग़ की एक दूसरी कोशिश से उसने नाटक के सूक्ष्म और प्रभावशाली रूप का विकास किया।"

शूद्रक के "मृच्छकटिक" का एक अनुवाद, १९२४ में, न्यूयार्क में रंगमंच पर खेला गया। 'नेशन' पत्र के नाटकीय समालोचक, मि० जोज़ेफ उड क्रच ने उसके बारे में यह लिखा था : "अगर दर्शक को 'विशुद्ध कला-नाटक' का, जिसकी कि सिद्धांतवादी लोग चर्चा करते रहते हैं, सच्चा नमूना कहीं देखने को मिल सकता है तो वह यहां पर मिलेगा। और यहीं पर उसे पूरब के सच्चे ज्ञान पर विचार करने का मौक़ा मिलेगा, जो कि गूढ़ सिद्धांतों में नहीं रखा हुआ है, बल्कि एक विशेष कोमलता में है, जो कि परंपरागत ईसाई मत की कोमलता से, जिसे कि इब्रानी मत की कट्टर पवित्रता ने बिगाड़ रक्खा है, कहीं ज़्यादा गहरी और सच्ची है...एक बिल्कुल गढ़ा हुआ नाटक है, लेकिन जो दिल पर असर डालता है, क्योंकि वह वास्तविकता का चित्रण नहीं करता बल्कि खुद वास्तविक है...इसका लिखने वाला जो भी रहा हो, और चाहे वह चौथी सदी में हुआ हो चाहे आठवीं में, वह एक भला और बुद्धिमान आदमी था, और उसकी बुद्धिमानी या भलमंसाहत उपदेशक के होठों से या तेज़ चलने वाले क़लम से निकलने वाली नहीं बल्कि दिल से उपजने वाली है। यौवन और प्रेम की नूतन सुंदरता के लिए उसकी कोमल सहानुभूति ने, उसके शांत स्वभाव को, अपना पुट दिया है; और वह इतना प्रौढ़ हो चुका है कि यह समझे कि एक हल्की-फुल्की और गढ़ंत घटना-चक्रों वाली कहानी भी कोमल मानवता और निश्चित भलाई का वाहन बन सकती है।...इस तरह का नायक सिर्फ़ ऐसी सभ्यता पैदा कर सकता है जिसमें पायदारी आ गई हो; जब कि किसी सभ्यता ने अपने सभी मामलों पर विचार कर लिया हो, तभी वह ऐसे

शांत और सरल नतीजे पर पहुँच सकती है। मैकबेथ और ओथेलो, चाहे जितने बड़े और हिला देने वाले चरित्र हों, बर्बर नायक हैं, क्योंकि शेक्सपियर का भावुक आवेग एक ऐसा आवेग है जिसे कि एक नई जगी हुई चेतना और बर्बर युग की बहुत-सी नैतिक धारणाओं के संघर्ष ने पैदा किया है। हमारे ज़माने का यथार्थवादी नाटक भी इसी तरह की उलझनों का नतीजा है; लेकिन जब मसले स्थिर हो जाते हैं, जब कि दिमाग़ से किए गए फैसलों के ज़रिये आवेग शांत हो जाते हैं तब रूप मात्र रह जाता है।···यूनान और रोम को छोड़कर, यूरोप में किसी पिछले ज़माने में, हमें इससे ज़्यादा सभ्य कृति नहीं मिल सकती है।"[1]

९ : संस्कृत की जीवनी शक्ति और स्थिरता

संस्कृत एक अद्‌भुत रूप से संपन्न, हरी-भरी और फूलों से लदी हुई भाषा है; फिर भी यह नियमों से बँधी हुई है, और २६०० वर्ष पहले व्याकरण का जो चौखटा पाणिनि ने इसके लिए तैयार कर दिया था, उसी के भीतर चल रही है। यह फैली, खूब संपन्न हुई, भरी-पूरी और अलंकृत बनी, लेकिन अपने मूल को पकड़े रही। संस्कृत साहित्य के ह्रास के ज़माने में, इसने अपनी कुछ शक्ति, और शैली की सादगी खो दी, और जटिल रूपों और उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में उलझ गई शब्दों को जोड़ने वाले समास के नियम पंडितों के हाथ में पड़कर चतुराई दिखाने के साधन बन गए और ऐसे समास पद बनाए जाने लगे जो कई पंक्तियों में जाकर टूटते थे।

सर विलियम जोन्स ने १९८४ में ही कहा था : "संस्कृत भाषा चाहे जितनी पुरानी हो, उसका गठन अद्‌भुत है; यूनानी भाषा के मुक़ाबले में ज़्यादा मुकम्मल, लातीनी के मुक़ाबले में ज़्यादा संपन्न और दोनों के मुक़ाबले में यह ज़्यादा परिष्कृत है : लेकिन दोनों के साथ, धातु-क्रियाओं और व्याकरण के रूपों में, वह इतनी मिलता-जुलती है कि यह संयोग आकस्मिक नहीं हो सकता। यह मेल इतना गहरा है कि कोई भी भाषा-शास्त्री इसकी जांच करने पर इस नतीजे पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि यह सभी भाषाएं किसी एक ही सोते से निकली हैं, जो कि शायद अब नहीं रह गया है···"

विलियम जोन्स के बाद और यूरोपीय विद्वान् हुए हैं—अंग्रेज़, फ़रा-

---

[1]मैंने यह लंबा उद्धरण आर० एस० पंडित के 'मुद्रा राक्षस' के अनुवाद की भूमिका से लिया है। इस अनुवाद के साथ बहुत-सी दिलचस्प टिप्पणियां और परिशिष्ट हैं। मैंने अक्सर सिल्वान लेवी के 'लथियत्र इंडियान' (पेरिस : १८९०) और ए० बैरिडेल कीथ के 'दि संस्कृत ड्रामा' (आक्सफ़ोर्ड, १९२४) से मदद ली है, और इन दोनों पुस्तकों से कुछ उद्धरण दिए हैं।

सीसी, जर्मन और दूसरे—जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और एक नए विज्ञान, यानी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, की नींव डाली। जर्मन विद्वान् इस नए मैदान में आगे बढ़े और संस्कृत में खोज करने का सबसे ज्यादा श्रेय उन्नीसवीं सदी के इन्हीं जर्मन विद्वानों को मिलना चाहिए। क़रीब-क़रीब सभी जर्मन विश्वविद्यालयों में एक संस्कृत का विभाग रहा है और इसमें एक या दो अध्यापक लगे रहे हैं। हिंदुस्तान में पंडितों की कमी नहीं थी, लेकिन वह पुराने ढंग के थे, उनमें आलोचना-वृत्ति नहीं थी और वह अरबी और फ़ारसी को छोड़कर प्रतिष्ठित विदेशी भाषाओं के जानकार न थे। यूरोपीयों के असर से, हिंदुस्तान में एक नई तरह से अध्ययन शुरू हुआ और बहुत से हिंदुस्तानी यूरोप (आम तौर पर जर्मनी) गए, जिसमें कि वह शोध और आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के नए तरीक़ों को सीख लें। इन्हें यूरोपीयों के मुक़ाबले में एक सुविधा थी, लेकिन साथ-ही-साथ एक असुविधा भी थी। और यह असुविधा इस वजह से थी कि उनके कुछ बँधे-तुले और पहले से बने हुए ख़याल थे और विरासत में मिले हुए विचारों और परंपराओं के कारण वह निष्पक्ष आलोचना न कर पाते थे। जो सुविधा थी, वह बहुत बड़ी सुविधा थी, यानी रचना के भाव को, और जिस वातावरण में वह की गई थी उसे, वह जल्दी समझ लेते थे और इस तरह उसमें पैठ सकते थे।

व्याकरण और भाषा-शास्त्र के मुक़ाबले में भाषा ख़ुद कहीं बड़ी चीज़ है। यह एक जाति और संस्कृति की प्रतिभा की कवित्वमय विरासत है, और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें ढाला है उनका जीता-जागता रूप है। शब्द युग-युग में अपने अर्थ बदलते रहते हैं, और पुराने विचार नए विचारों में तब्दील हो जाते हैं, अगर्चे अक्सर वह अपना पुराना भेस क़ायम रखते हैं। किसी पुराने लफ़्ज़ या मुहावरे के मानी पकड़ना मुश्किल हो जाता है, और उसके भाव के बारे में तो कहा ही क्या जाय। अगर हम उस पुराने मानी की झलक लेना चाहते हैं, और उन लोगों के दिमाग़ में पैठना चाहते हैं जिन्होंने कि इस भाषा को गुज़रे दिनों में इस्तैमाल किया था तो हमें भावुक और कवित्वमय निगाह रखना ज़रूरी है। भाषा जितनी संपन्न और भरी-पूरी होती है, उतनी ही यह दिक्क़त बढ़ जाती है। और प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह संस्कृत ऐसे लफ़्ज़ों से भरी पड़ी है, जिनमें न महज़ काव्य की सुंदरता है बल्कि जिनमें गहरे मानी हैं; उनके साथ जुड़े हुए बहुत से विचार हैं, जिनको ऐसी भाषा में जो भावों और नज़रिये में विदेशी है, नहीं अदा किया जा सकता। उसके व्याकरण, उसके फ़िलसफ़े में भी काव्य का पुट है: उसके पुराने कोष तक पद्य में हैं।

हममें से उन लोगों के लिए भी जिन्होंने कि संस्कृत पढ़ी है, इस क़दीम भाषा के भाव में पैठ सकना और उसकी पुरानी दुनिया में फिर से रह सकना

बहुत आसान नहीं है। लेकिन हम कुछ हद तक ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि हम उन पुरानी परंपराओं के वारिस हैं और वह पुरानी दुनिया हमारी कल्पनाओं से अब भी चिमटी हुई है। हिंदुस्तान की हमारी मौजूदा ज़बानें संस्कृत की औलाद हैं और उनके शब्द-कोष और बयान के ढंग संस्कृत की देन हैं। संस्कृत काव्य और फ़िलसफ़े के बहुत से पुरमानी और खास शब्द, जिनके कि विदेशी भाषाओं में तर्जुमे नहीं हो सकते, अब भी हमारी आम भाषाओं का अंग हैं। और खुद संस्कृत में, अगर्चे वह लोगों की भाषा की शक्ल में बहुत दिन, हुए मर चुकी है, एक अद्भुत जीवनी-शक्ति है। लेकिन विदेशियों के लिए, वह चाहे जितने क़ाबिल हों, कठिनाइयां और भी बढ़ जाती हैं। बदक़िस्मती से विद्वान् और आलिम कवि बहुत कम होते हैं, और भाषा को अवगत करने के लिए ऐसे आदमी की ज़रूरत है जो आलिम भी हो और कवि भी। इन विद्वानों से, जैसा मुशियो बार्थ ने बताया है, हमें ऐसे "शब्दशः अनुवाद मिलते हैं जो कि उसे ग़लत होने पर मजबूर करते हैं।"

इसलिए अगर्चे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन ने तरक़्क़ी की है, और संस्कृत में बहुत कुछ शोध का काम हुआ है, फिर भी भावुक और कवित्वमय निगाह का दृष्टि से यह कुछ बेसूद और बेकार-सा रहा है। अंग्रेज़ी में या किसी विदेशी भाषा में संस्कृत से शायद ही कोई ऐसा अनुवाद हुआ हो जिसे कि हम मान्य और मूल के साथ न्याय करने वाला कह सकते हैं। इस काम में हिंदुस्तानी और विदेशी दोनों ही अलग-अलग कारणों से नाकामयाब रहे हैं। यह बड़े अफसोस की बात है, और दुनिया कुछ ऐसी चीज़ से महरूम रह जाती है जिसमें कि अपार सौंदर्य है, और कल्पना है, और गहरा विचार है, और जो न महज़ हिंदुस्तान की विरासत है बल्कि जिसे मानव-जाति की विरासत होना चाहिए।

इंजील के प्रामाणिक संस्करण के अंग्रेज़ी अनुवादकों के कठिन संयम, आदरपूर्ण दृष्टिकोण और सूझ-बूझ ने न महज़ एक विशाल ग्रंथ तैयार किया, बल्कि अंग्रेज़ी भाषा को शक्ति और गौरव प्रदान किया। यूरोपीय विद्वानों और कवियों की कई पीढ़ियों नें यूनानी और लातीनी प्रतिष्ठित ग्रंथों पर प्रेम के साथ मेहनत करके कई यूरोपीय भाषाओं में सुंदर अनुवाद पेश किए हैं। और इस तरह आम लोग भी उन संस्कृतियों में शरीक हो सकते हैं और अपनी नीरस ज़िंदगियों में सचाई और सुंदरता की झलक पा सकते हैं। बदक़िस्मती से, संस्कृत की बड़ी रचनाओं के साथ यह काम होना बाक़ी है। यह कब होगा और होगा भी या नहीं, मैं नहीं जानता। हमारे विद्वान् गिनती में और काबलियत में आगे बढ़ते जाते हैं; इसी तरह हमारे कवि भी हैं, लेकिन इन दोनों के बीच एक चौड़ी और बढ़ती हुई खाई है। हमारी रचनात्मक प्रवृत्तियां दूसरी

ही दिशा में जा रही हैं, और आज की दुनिया के बहुत से तक़ाज़े हमें इसका मौक़ा नहीं देते कि हम फ़ुरसत से इन ग्रंथों का अध्ययन कर सकें। ख़ास तौर से हिंदुस्तान में हमें दूसरी ही तरफ़ देखना पड़ रहा है और जो बहुत-सा वक़्त खोया जा चुका है, उसे भरना है; हम लोग पुराने ग्रंथों में बहुत डूबे रहे हैं और चूंकि हम अपनी रचनात्मक बुद्धि खो चुके हैं इसलिए हमें उन ग्रंथों से, जिनका हम इतना दम भरते हैं, प्रेरणा भी नहीं मिलती। मैं समझता हूं, हिंदुस्तान की प्रतिष्ठित पुस्तकों के अनुवाद निकलते ही रहेंगे, और विद्वान् लोग इसका ध्यान रक्खेंगे कि संस्कृत शब्दों और नामों की वर्तनी ठीक-ठीक की जाती है और शुद्ध उच्चारण के लिए आवश्यक चिह्न लगाए जाते हैं, साथ ही काफ़ी टिप्पणियों और व्याख्याओं और तुलनात्मक संकेतों को भी दिया जाता है; दरअस्ल जो भी अनुवाद होगा उसमें हर एक लफ़्ज़ का मतलब सावधानी से अदा किया जायगा, फिर भी एक ज़िंदा भाव की कमी रह जायगी। जिस चीज़ में जान थी, आनंद था, जो इतनी सुंदर और मधुर थी, वह पुरानी और फीकी और बासी जान पड़ेगी, जिसका कि यौवन और सौंदर्य जाता रहा है, सिर्फ़ विद्वानों के अध्ययन की धूल और आधी रात में जलाए गए तेल की गंध रह जायगी।

कितने दिनों से संस्कृत एक मरी हुई भाषा है—इस मानी में कि वह आम तौर पर बोली नहीं जाती—मैं नहीं जानता। कालिदास के ज़माने में भी यह जनता की भाषा न थी, अगर्चे यह सारे हिंदुस्तान के पढ़े-लिखों की भाषा थी। और सदियों तक वह ऐसी ही बनी रही, बल्कि दक्खिन-पूरब एशिया के हिंदुस्तान के उपनिवेशों में और मध्य एशिया में भी फैली। नियमित रूप से संस्कृत-अध्ययन के, और संभवतः नाटकों के भी, सातवीं सदी ईस्वी में, कंबोडिया में प्रचलित होने के प्रमाण हैं। थाईलैंड (स्याम) में कुछ उत्सव-सस्कारों के मौक़ों पर, संस्कृत अब भी इस्तैमाल में आती है। हिंदुस्तान में संस्कृत की जीवनी-शक्ति बड़ी अचरज भरी रही है। जब कि तेरहवीं सदी के शुरू में अफ़गान सुल्तानों ने दिल्ली की गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लिया, उस समय हिंदुस्तान के ज़्यादातर हिस्सों की दरबारी ज़बान फ़ारसी हो गई, और रफ़्ता-रफ़्ता बहुत से पढ़े-लिखे लोगों ने संस्कृत के मुक़ाबले में उसे तरजीह दी। आम ज़बानों ने भी तरक्क़ी करके साहित्यिक रूप अख़्तियार किए। फिर भी, इन सब बातों के बावजूद, संस्कृत चलती रही, अगर्चे यह संस्कृत वैसे पाये की न रह गई थी। १९३७ में, त्रिवांद्रम में, ओरियंटल कांफ्रेंस के मौक़े पर, सभापति की हैसियत से बोलते हुए डा० एफ़्० एफ़्० टामस ने बताया था कि संस्कृत का, हिंदुस्तान में एकता लाने में, कितना ज़ोरदार हाथ था, और अब भी उसका कितना प्रचार है। उन्होंने दरअस्ल यह तजवीज़ किया कि संस्कृत के किसी सरल रूप को, जो एक तरह की बुनियादी संस्कृत हो, अखिल-हिंदुस्तान की भाषा के रूप में

बढ़ावा देना चाहिए । उन्होंने मैक्समूलर के इस बयान को उद्धृत किया और उससे इत्तिफ़ाक़ ज़ाहिर किया : "क़दीम और आज के हिंदुस्तान के बीच ऐसा अद्भुत सिलसिला चला आरहा है कि बावजूद बार-बार की समाजी उथल-पुथल के, धार्मिक सुधारों और विदेशी हमलों के, संस्कृत आज भी अकेली भाषा है जो कि इस बड़े देश में सब जगह बोली जाती है...आजकल भी, एक सदी की अंग्रेज़ी हुकूमत और शिक्षा के बाद, मेरा विश्वास है कि संस्कृत हिंदुस्तान में, जितने विस्तार से समझी जाती है उतने विस्तार से दांते के ज़माने में यूरोप में लातीनी भाषा भी नहीं समझी जाती थी।"

दांते के ज़माने में यूरोप में कितने लोग लातीनी समझते थे इसका मुझे कुछ भी अनुमान नहीं : न मैं यही जानता हूं कि हिंदुस्तान में आज कितने लोग संस्कृत समझते हैं । लेकिन संस्कृत समझने वालों की गिनती, खास तौर पर दक्खिन में, अब भी बहुत बड़ी है। सादी संस्कृत का समझना उन लोगों के लिए, जो कि आज की किसी भी भारतीय- आर्य भाषा--हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि--को अच्छी तरह जानते हैं, आसान है । आजकल की उर्दू तक में, जो कि खुद एक भारतीय-आर्य भाषा है ८० फ़ी सदी लफ्ज़ संस्कृत के हैं । अक्सर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि कोई खास लफ्ज़ संस्कृत से आया है या फारसी से क्योंकि इन दोनों भाषाओं के मूल शब्द अक्सर एक-से हैं । कुछ अचरज की बात है कि दक्खिन की द्रविड़ भाषाओं ने, अगर्चे वह मूल में बिलकुल अलग की भाषाएं हैं, संस्कृत के इतने शब्द अपने में ले लिए हैं कि क़रीब-क़रीब उनका आधा शब्द-कोष संस्कृत से मिलता है ।

बहुत से विषयों पर, जिनमें नाटक भी हैं, संस्कृत में सारे मध्ययुग में, यहां तक कि हमारे जमाने तक किताबें लिखी जाती रही हैं । । दरअस्ल ऐसी किताबें अब भी निकलती रहती हैं और संस्कृत में पत्रिकाएं भी निकलती हैं । उनका दर्जा बहुत ऊंचा नहीं है और संस्कृत साहित्य में वह कोई मूल्यवान् इज़ाफ़ा नहीं करती हैं । लेकिन ताज्जुब की बात तो यह है कि संस्कृत की गिरफ्त इस सारे लंबे ज़माने में बनी रही । कभी-कभी आम सभाओं में अब भी संस्कृत में व्याख्यान होते हैं, अगर्चे यह स्वाभाविक है कि सुनने वाले लोग बहुत चुने हुए होते हैं।

संस्कृत के लगातार इस्तैमाल ने यक़ीनी तौर पर मौजूदा ज़माने की हिंदुस्तानी भाषाओं की सहज बाढ़ को रोका है । पढ़े-लिखे दिमाग़ वालों ने इन्हें तुच्छ बालियां का रूप में समझा है, और इस क़ाबिल नहीं जाना है कि इनमें रचनात्मक और विद्वत्तापूर्ण रचनाएं पेश की जायं इस तरह की रचनाएं संस्कृत में और बाद में फ़ारसी में पेश की जाती रहीं । बावजूद इस रुकावट के, बड़ी-बड़ी सूबेवार भाषाओं ने रफ़्ता-रफ़्ता सदियों के दौर में, शक्ल अख्तियार की और उनके साहित्यिक रूपों का विकास हुआ और उनके साहित्य का निर्माण हुआ ।

यह जानना दिलचस्प होगा कि आजकल के थाइलैंड में, जब कि नए पारिभाषिक, वैज्ञानिक और हुकूमत संबंधी पारिभाषिक शब्दों की ज़रूरत हुई तो उनमें से बहुत से संस्कृत के आधार पर बना लिए गए।

क़दीम हिंदुस्तानी ध्वनि पर बड़ा ज़ोर देते थे और इसलिए उनकी रचनाओं में, चाहे वह गद्य में हों या पद्य में, एक लय और संगीत का गुण मिलता है। शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण हो सके, इसकी बड़ी कोशिश होती थी, और इसके लिए नियम बनाए गए थे। इसकी और भी ज़रूरत यों पड़ी, कि पुराने ज़माने में शिक्षा ज़बानी होती थी, और सारी पुस्तकें कंठ करा दी जाती थीं, और इस तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती थीं। शब्दों की ध्वनि को महत्त्व देने का नतीजा यह हुआ कि मतलब और ध्वनि का मेल कराने की कोशिशें हुईं। कभी-कभी बहुत सुंदर मेल पैदा हुआ और कभी-कभी भद्दे और बनावटी संयोग भी बन पड़े। ई० एच्० जान्स्टन ने इसके बारे में लिखा है: "हिंदुस्तान के संस्कृत कवियों में ध्वनि के परिवर्तनों का जो एहसास है उसके बराबर की मिसाल दूसरे देशों के साहित्य में बहुत कम मिलेगी, और उनके शब्द-विन्यास में बड़ा ही आनंद आता है। लेकिन उनमें से कुछ ध्वनि और आशय को इस तरह से भी मिलाने की कोशिश करते हैं कि उससे कोई बारीकी नहीं पैदा होती, और उन्होंने थोड़े से व्यंजनों के सहारे और कभी एक ही व्यंजन के सहारे पद्य-रचना करके तो बड़ा ही अनर्थ किया है।"[१]

वेदों के पाठ आज भी, उच्चारण के उन नियमों के अनुसार किए जाते हैं, जो कि क़दीम ज़माने में बनाए गए थे।

मौजूदा ज़माने की हिंदुस्तानी भाषाएं जो संस्कृत से निकली हैं और इसलिए भारतीय-आर्य भाषायें कहलाती हैं, यह हैं: हिंदी,-उर्दू, बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, राजस्थानी (जो कि हिंदी का ही एक रूप हैं) पंजाबी, सिंधी, पश्तो और काश्मीरी। द्रविड़ भाषायें यह हैं: तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम। इन पंद्रह भाषाओं में सारे हिंदुस्तान की भाषाएं आ जाती हैं, और इनमें से हिंदी (अपने रूपांतर उर्दू के साथ) सबसे ज्यादा रायज है और जहां यह बोली भी नहीं जाती वहां भी समझ ली जाती है। इन भाषाओं को छोड़कर कुछ बोलियां और अविकसित भाषाएं हैं, जो कि बहुत छोटे इलाक़ों में या कुछ पिछड़ी हुई पहाड़ी और जंगली जातियों द्वारा बोली जाती हैं। बार-बार दुहराई जाने वाली यह कहानी कि हिंदुस्तान में पाँच सौ या इससे ज्यादा ज़बानें हैं, भाषा वैज्ञानिकों या मर्दुमशुमारी के कमिश्नर के

---

१ ई० एच्० जान्स्टन के अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (लाहौर, १९३६) के अनुवाद से।

दिमाग़ की गढ़ंत है, जो कि बोलियों के छोटे-छोटे भेदों को, और आसाम, बंगाल और बर्मा के सरहद की पहाड़ी जातियों की हर एक बोली को गिन लेते हैं, चाहे वह बोली कुछ सौ या हज़ार लोगों की ही बोली हो। इन सैकड़ों की गिनती कराने वाली भाषाओं में से ज़्यादातर हिंदुस्तान के पूर्वी सरहद या पूरब में बर्मा के सरहदी इलाक़ों की बोलियां हैं। जो तरीक़ा मर्दुमशुमारी के कमिश्नरों ने अख़्तियार किया है, उसी की नक़ल की जाय तो यूरोप में सैकड़ों भाषाएं निकलेंगी, और जर्मनी में मेरा ख़याल है, साठ बताई गई हैं।

हिंदुस्तान में ज़बान के मसले का इस विविधता से कोई ताल्लुक नहीं। यह मसला हिंदी-उर्दू का है, यानी एक ज़बान का जिसके कि दो साहित्यिक रूप हैं और जिसकी दो लिपियां हैं। बोली में दोनों में शायद ही ज़्यादा फ़र्क़ हो; लिखने में, खास तौर से साहित्यिक शैली में, यह भेद बढ़ जाता है। इस भेद को कम करने की और एक आम सूरत जिसे कि हिंदुस्तानी कहते हैं, पैदा करने की भी कोशिशें हुई हैं, और अब भी जारी हैं। और यह आम ज़बान की शक्ल में, जो कि सारे हिंदुस्तान में समझी जा सके, तरक़्क़ी कर रही हैं।

पश्तो जो, कि संस्कृत से निकली हुई भारतीय-आर्य भाषाओं में से एक है पच्छिमोत्तर के सरहदी सूबे की ज़बान है, और अफ़ग़ानिस्तान की भी। इस पर हमारी दूसरी भाषाओं के मुक़ाबले में, फ़ारसी का ज़्यादा असर पड़ा है। इस सरहदी इलाक़े में, गुज़रे ज़मानों में बहुत से ऊँचे दर्जे के विचारक, विद्वान और संस्कृत के वैयाकरण हो गए हैं।

लंका की भाषा सिंहली है। यह भी संस्कृत से निकली हुई एक भारतीय-आर्य भाषा है। सिंहली लोगों ने अपना धर्म, यानी बौद्ध धर्म, ही हिंदुस्तान से नहीं लिया है, बल्कि वे जाति और भाषा में भी हिंदुस्तानियों से मिले हुए हैं।

अब यह बात पूरी तरह से मानी जा चुकी है कि संस्कृत का यूरोप की पुरानी प्रतिष्ठित और आज की भाषाओं से मेल है। स्लैव भाषा तक में बहुत से मूल शब्द संस्कृत से मिलते हैं। संस्कृत से सबसे निकट की यूरोपीय भाषा लिथुआनियन है।

१० : बौद्ध फ़िलसफ़ा

कहा जाता है कि बुद्ध ने उस प्रदेश की आम भाषा का इस्तैमाल किया जिसमें कि वह रहते थे और यह प्राकृत थी, जो कि संस्कृत से निकली थी। संस्कृत वह जानते थे, इसमें कोई शक नहीं, लेकिन वह जनता तक पहुँचने के लिए आम भाषा में बोलना पसंद करते थे। इस प्राकृत से शुरू के बौद्ध धर्म-ग्रंथों की पाली निकली। बुद्ध की बात-चीत और कथायें और वाद-विवाद उनके मरने के बाद पाली में लिखे गए और यह लंका, बर्मा और स्याम के, जहां कि

हीमयान बौद्ध मत का प्रचार है, बौद्ध धर्म के आधार हैं।

बुद्ध के कोई सैंकड़ों साल बाद हिंदुस्तान में संस्कृत फिर जगी और बौद्ध विद्वानों ने अपने फ़िलसफ़े के, और दूसरे ग्रंथ संस्कृत में लिखे। अश्वघोष की रचनाएं और नाटक (जो हमारे सबसे पुराने नाटक हैं), जिनका मक़सद बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा है, संस्कृत में हैं। हिंदुस्तान के बौद्ध पंडितों की यह रचनाएं चीन, जापान, तिब्बत और मध्य एशिया तक पहुँची, जहाँ-जहाँ कि बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रचार रहा है।

जिस युग में बुद्ध का जन्म हुआ, वह हिंदुस्तान के लिए बड़े मानसिक मंथन और फ़िलसफ़ियाना सोच-विचार का ज़माना था। और यह बात हिंदुस्तान तक ही महदूद न थी, क्योंकि यही ज़माना लाओ-त्सी और कन्फ्यूशियस का और ज़रथुष्ट्र और पाइथागोरस का ज़माना था। हिंदुस्तान में इसने भौतिकवाद को भी जन्म दिया और भगवद्गीता को भी, बौद्धमत को भी और जैनमत को भी, और दूसरी बहुत-सी विचार-धाराओं को जो बाद में हिंदुस्तानी दर्शन के अलग-अलग वर्गों में प्रकट हुई। विचारों की अनेक तहें थीं—एक-दूसरे से मिली हुई और कभी एक दूसरे पर चढ़ी हुईं। बुद्ध-धर्म के साथ-साथ मुख्तलिफ़ दर्शनों का विकास हुआ, और ख़ुद बौद्धधर्म में ऐसे भेद पैदा हुए जिनसे कि विचार के अलग-अलग वर्ग क़ायम हो गए। फ़िलसफ़ियाना सोच-विचार धीरे-धीरे घटा और उसकी जगह लोग पंडिताऊ बहस-मुबाहसे में पड़ गए।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को आधिभौतिक विषयों को लेकर पंडिताऊ बहस-मुबाहसे में पड़ने के खिलाफ़ आगाह कर दिया था। कहा जाता है कि उसने कहा था कि: "जिस विषय की आदमी को जानकारी न हो उस पर चुप रहना चाहिए।" सत्य की तलाश ज़िंदगी में होनी चाहिए, ज़िंदगी के दायरे से परे। इस लिए आदमी की बुद्धि से बाहर की बातों पर—मुबाहसों में नहीं। उन्होंने ज़िंदगी के इख़लाक़ी पहलू पर ज़ोर दिया और ज़ाहिरा यह महसूस किया कि लोग जब आधिभौतिक बारीकियों में पड़ जाते हैं तो इसे नज़र-अंदाज़ कर दिया जाता है। शुरू के बौद्धधर्म में हमें बुद्ध के इस फ़िलसफ़ियाना और बुद्धिवादी भाव की झलक मिलती है। उसकी जिज्ञासा की बुनियाद अनुभव पर है। अनुभव की दुनिया में विशुद्धात्मा की कल्पना ठीक-ठीक नहीं ग्रहण की जा सकती थी, इसलिए उसे अलग कर दिया गया, उसी तरह सृष्टिकर्ता ईश्वर का विचार, जिसका कि दलील के साथ सबूत नहीं दिया जा सकता था अलग रक्खा गया। फिर भी अनुभव बच रहता है और एक मानी में यह वास्तविक भी है: यह 'होने की प्रक्रिया' के अलावा, जो कि बराबर अपने को बदलती रहती है, और क्या हो सकता है? इस तरह वास्तविकता की इन बीच की अवस्थाओं को माना गया है, और मानोवैज्ञानिक आधार पर इनके बारे में जिज्ञासा चलती है।

बुद्ध ने, विद्रोही होते हुए भी, अपने को देश के पुराने धर्म से अलग नहीं किया। मिसेज़ रीज़ डेविड्स कहती हैं: "गौतम का जन्म और पालन हिंदू की भाँति हुआ था और वह हिंदू का तरह रहे और मरे...... गौतम के अध्यात्म-वाद और सिद्धान्तों में ज़्यादा बातें ऐसी न मिलेंगी जो कि प्राचीन पद्धतियों में न मिल जायं और उनकी नीति से मिलती हुई शिक्षाएं शुरू या बाद की हिन्दू पुस्तकों में मिल जायंगी : गौतम की जो कुछ मौलिकता है, वह इस बात में है कि जो अच्छी बातें और लोग कह गए थे, उन्हें उन्होंने नए रूप में ढाला, उनका विस्तार किया, उन्हें प्रतिष्ठित और कर्मबद्ध किया और यह कि जिन न्याय और बराबरी के सिद्धान्तों को पहले ही ख़ास-खास हिंदू विचारकों ने माना था उनको उन्होंने तर्क के आधार पर अंतिम परिणाम तक पहुँचाया। इनमें और दूसरे उपदेशकों में फ़र्क़ यह था कि इनमे ज़्यादा गहरी लगन और लोक-हित की विशाल भावना थी।"[1]

फिर भी अपने ज़माने के परंपरा से आने वाले धर्म के चलन के खिलाफ़ बुद्ध ने विद्रोह के बीज बोए। उनके सिद्धान्त या फ़िलसफ़े का विरोध नहीं हुआ—क्योंकि कट्टर धर्म को पालन करते हुए भी किसी ऐसे विचार के, जिसकी कि हम कल्पना कर सकते हैं, सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन में बाधा न थी—बल्कि समाज की ज़िंदगी और संगठन में जो उन्होंने दख़ल दिया उसका विरोध हुआ। पुराने तरीक़े में बड़ी आज़ादी और विचारों का लचीलापन था, हर एक तरह के मत की गुंजाइश थी, लेकिन अमल के मामले में उसमें कड़ाई थी और चलन को तोड़ना पसंद न किया जाता था। इसलिए लाज़िमी तौर पर बौद्ध धर्म पुराने विश्वास से अलग-थलग जा पड़ा और बुद्ध के मरने के बाद यह खाई और भी चौड़ी हो गई।

शुरू के बौद्ध धर्म की ज्यों-ज्यों अवनति हुई त्यों-त्यों उसके महायान रूप ने तरक्क़ी की; पुराना रूप हीनयान कहलाता था। इसी महायान पंथ में बुद्ध को ईश्वर का पद दिया गया और साकार ईश्वर के रूप में उनकी उपासना शुरू हुई। बुद्ध की मूर्ति भी पच्छिमोत्तर के यूनानी प्रदेश में दिखाई पड़ने लगी। लगभग इसी वक़्त हिंदुस्तान में ब्राह्मण धर्म फिर से जगा, और साथ-साथ संस्कृत के अध्ययन ने ज़ोर पकड़ा। हीनयान और महायान पंथों के बीच तीखे विवाद हुए और दोनों के बीच शास्त्रार्थ और आपस का विरोध बाद के इतिहास में बराबर मिलता है। हीनयान वाले देश (लंका, बर्मा, स्याम) अब भी चीन और जापान में प्रचलित बौद्ध धर्म को हिक़ारत से देखते हैं और मेरा

---

[1] यह उद्धरण, और बहुत कुछ और बातें, सर एस० राधाकृष्णन् की 'इंडियन फ़िलासफ़ी' (जार्ज ऐलेन और उनविन, लंदन, १६४०) से ली गई हैं।

खयाल है कि दूसरी तरफ़ से भी इस जज़्बे का जवाब मिलता है ।

हीनयान ने, कुछ हद तक, सिद्धांत की पुरानी पवित्रता, क़ायम रक्खी, और उसे पाली में एक नियम के अंतर्गत कर लिया, लेकिन महायान सभी दिशाओं में फैला, सभी तरह के विश्वासों के लिए रवादारी बरती और हर एक देश के खास नज़रिये के अनुसार अपने को ढाल लिया । हिंदुस्तान में यह आम धर्म के निकट आने लगा; हर एक और मुल्कों—चीन, जापान, तिब्बत—में इसका विकास अलग-अलग ढंग से हुआ । कुछ शुरू के बहुत बड़े बौद्ध विचारकों ने, आत्मा के बारे में बुद्ध के रुख को, यानी न उससे इन्कार करना और न इक़रार करना, छोड़ दिया, और उन्होंने साफ़-साफ़ आत्मा से इंकार किया । अनेक प्रतिभाशाली लोगों में नागार्जुन की एक खास जगह है, और उसकी गिनती उन सबसे बड़े दिमाग़ वालों में है जिन्हें कि हिंदुस्तान ने पैदा किया है । यह कनिष्क के ज़माने में, ईस्वी सन् के शुरू के लगभग हुआ और महायान सिद्धान्तों के प्रतिपादन की खास ज़िम्मेदारी इसी की है । उसके विचारों में अद्भुत बल और साहस है, और ऐसे नतीजों तक पहुँचने में उसे ज़रा भी संकोच नहीं होता, जो कि ज़्यादातर लोगों के लिए नागंवार और चौंका देने वाले होंगे । अपने विवेचन में वह निष्ठुर तर्क के साथ लगता है; यहां तक कि उसे अपने विश्वासों से इन्कार करना पड़ जाता है । विचार अपने को जान नहीं सकता और अपने से बाहर जा नहीं सकता, यानी दूसरे को जान नहीं सकता । इस विश्व से बाहर कोई ईश्वर नहीं, और ईश्वर से अलग कोई विश्व नहीं, और दोनों ही दिखावट मात्र हैं । और इसी तरह वह दलील करता रहता है, यहां तक कि कुछ बच नहीं रहता; सत्य और असत्य के बीच कोई फ़रक़ नहीं रह जाता, किसी चीज़ को समझने की या उसके बारे में ग़लतफ़हमी की संभावना नहीं रह जाती, क्योंकि, जो अवास्तविक है उसके बारे में ग़लतफ़हमी ही क्या हो सकती है ? कोई चीज वास्तविक नहीं है । दुनिया का वजूद देखने भर का है; यह गुणों और संबंधों का एक आदर्शवादी क्रम है, जिसमें हमने विश्वास बना रक्खा है, लेकिन जिसकी हम अक़्ल के बमूजिब तशरीह नहीं कर सकते । लेकिन इस सब अनुभव के पीछे वह किसी वस्तु—परम सत्ता—का संकेत करता है, जो कि हमारी विचार की ताक़त से परे है, क्योंकि जब हम उस पर विचार करने लगते हैं तब वह सापेक्ष हो जाता है ।[1]

---

१ रूस की एकेडेमी अव् साइंसेज़ के प्रोफेसर टी० शेरवात्सकी ने अपनी पुस्तक "दि कन्सेप्शन अव् बुद्धिस्ट निर्वाण' (लेनिनग्राड, १९२७) में यह सुझाव दिया है कि नागार्जुन को 'संसार के बड़े फ़िलसूफ़ों में' जगह मिलनी चाहिए। वह उसकी अद्भुत शैली' का उल्लेख करता है जो कि हमेशा दिलचस्प,

परम सत्ता को, बौद्ध फ़िलसफ़े में शून्यता कहके बताया गया है लेकिन यह हमारे असत् या कुछ न होने की धारणा से बिलकुल जुदा चीज़ है।[1] अपने अनुभव का दुनिया में, हम उसे शून्यता इसलिए कहते हैं कि उसके लिए कोई दूसरा शब्द नहीं है, लेकिन आधिभौतिक सत्य की परिभाषा में यह कुछ ऐसी वस्तु है जो सबसे परे और सबमें व्याप्त है। एक मशहूर बौद्ध विद्वान् ने कहा है : "शून्यता के कारण ही सब बातें सम्भव होती हैं, बिना इसके दुनिया में

साहसपूर्ण, हैरान करने वाली और कभी-कभी देखने में उद्दंड' है। वह नागार्जुन के विचारों का हीगेल और ब्रैडले के विचारों से मुकाबला करता है : "इस तरह नागार्जुन के नकारवाद में और मि० ब्रैडले (जो हमारी रोजमर्रा की दुनिया की क़रीब-क़रीब सभी धारणाएं, वस्तुएं, गुण, सम्बन्ध, देश और काल, परिवर्तन कार्य-कारण-संबंध, गति, और आत्मा का खंडन करते हैं), में और उसमें बड़ा अद्भुत साम्य है। हिंदुस्तानी दृष्टिकोण से ब्रैडले को सच्चा माध्यमिक कहा जा सकता है। लेकिन इन सब मुक़ाबलों से ऊपर उठकर हम शायद हीगेल और नागार्जुन के तर्क के तरीके में ऐसी समानता पाएंगे जो एक ही कुल के लोगों में मिलती है। शेरबात्सकी ने बौद्ध फ़िलसफ़ की कुछ पद्धतियों और ज़माने हाल के विज्ञान के नज़रिये में भी कुछ समानताएं बताई हैं; ख़ास तौर पर 'आंट्रोपी' के नियम के अनुसार विश्व की अंतिम हालत की कल्पना के बारे में। उन्होंने एक दिलचस्प घटना, बताई है, जब कि सोवियत् ट्रांसबैकालिया में ब्यूरियतों का नई-नई 'रिपब्लिक' बनी तब वहां के शिक्षा विभाग के अधिकारियों ने धर्म-विरोधी प्रचार करते हुए यह बताया कि इस ज़माने का विज्ञान विश्व को पदार्थवाद के नज़रिये से देखता है। रिपब्लिक के बौद्ध भिक्षुओं ने, जो कि महा-यानी थे, एक पैम्फ़लेट छाप कर यह जवाब दिया कि पदार्थवाद से वह नावा-क़िफ़ नहीं थे, बल्कि दरअस्ल उनकी फ़िलसफ़े की एक पद्धति ने पदार्थवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया है।

[1]प्रोफ़ेसर शेर बात्सकी, जो कि इस विषय के अधिकारी जानने वालों में हैं, कई भाषाओं के (जिनमें तिब्बती भाषा भी है) मूल पाठों को जाँचने के बाद कहते हैं कि शून्यता सापेक्षता है। हर एक चीज़ सापेक्ष और परस्परा-श्रित होने की वजह से, ऐसी है कि उसकी निजी सत्ता नहीं, इसलिए वह शून्य है। दूसरी तरफ़ इस दिखने वाली दुनिया से बिलकुल परे और इसको भी लिए हुए कोई वस्तु है जिसे कि परम सत्ता समझ सकते हैं और चूंकि इसकी कल्पना नहीं हो सकती, या इसका ऐसे शब्दों में बयान नहीं हो सकता जो कि सीमित और इस दिखने वाली दुनिया के हैं, इसलिए इसे 'तथता' कहा गया है। इसी परम सत्ता को शून्यता कहा गया है।

कुछ भी सम्भव नहीं।"

इन सबसे पता चलता है कि आधिभौतिकवाद हमें कहां पहुंचा सकता है और इस तरह के विचारों के पीछे पड़ने के ख़िलाफ़ आगाह करके बुद्ध ने कितनी अक्लमंदी की थी। फिर भी इंसानी दिमाग़ अपने को क़ैद में रखने से इन्कार करता है और ज्ञान के उस फल की तरफ हाथ बढ़ाता रहता है जिसे कि वह अच्छी तरह से जानता है कि वह उसकी पहुंच के बाहर है। बौद्ध फ़िलसफ़े में आधिभौतिकवाद भी आया, लेकिन इसके विषय को देखने का ढंग मनोवैज्ञानिक था। मन की मनोवैज्ञानिक स्थितियों की सूझ-बूझ देखकर भी अचरज होता है। आजकल के मनोविज्ञान के अवचेतन मन की यहां स्पष्ट धारणा है और उसका विवेचन भी हुआ है। मेरा ध्यान एक पुरानी पुस्तक के एक असाधारण अंश पर दिलाया गया है। यह एक तरह से आजकल के 'ईडिपस कम्प्लेक्स' के सिद्धांत की याद दिलाता है, अगर्चे प्रतिपादन का ढंग बिलकुल जुदा है।[1]

बौद्ध धर्म से फ़िलसफ़े की चार निश्चित पद्धतियां निकलीं, इनमें से दो हीनयान शाखा में थीं और दो महायान शाखा में। इन सभी बौद्धदर्शन या फ़िलसफ़े का पद्धतियों का मूल उपनिषदों में है, लेकिन यह वेदों को प्रमाण नहीं मानते। वेदों से इन्कार ही एक ख़ास बात है जो इन्हें उस ज़माने के तथा-कथित हिंदू फ़िलसफ़ों से जुदा करता है। यह तथा-कथित हिंदू फ़िलसफ़े वेदों को आमतौर पर मानते हैं, और एक तरह से उनकी तरफ श्रद्धा के भाव दिखाते हैं, लेकिन यह वेदों को ऐसा नहीं समझते कि उनसे कोई ग़लती नहीं हो सकती और दरअस्ल बिना वेदों का ख्याल किए हुए अपना राह चलते हैं। चूंकि वेदों और उपनिषदों में अनेक तरह से बातें कही गई हैं; इसलिए बाद के विचारकों के लिए यह हमेशा संभव रहा है कि औरों को छोड़कर किसी एक पहलू पर ज्यादा ज़ोर दें और उसी का बुनियाद पर अपनी पद्धति का निर्माण करें।

प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् ने बौद्ध-विचार के विकास-क्रम को, जिस रूप में

---

१ यह वसुबंधु के 'अभिधर्म कोष' में आया है जो कि पांचवीं सदी ईस्वी में लिखा गया था, और जिसमें कि और पहले के मत और परंपराएं इकट्ठी की गई हैं। मूल संस्कृत अप्राप्त है। लेकिन उसके चीनी और तिब्बती भाषा में तर्जुमे मौजूद हैं। चीनी तर्जुमा प्रसिद्ध यात्री ह्वेनत्सांग का किया हुआ है, जो कि हिंदुस्तान में आया था। इस चीनी तर्जुमे से फ़रांसीसी में एक अनुवाद हुआ है (पेरिस-लूवेंन, १९२६)। मेरे सहयोगी और क़ैद के संगी आचार्य नरेन्द्रदेव इस पुस्तक का फ़रांसीसी से हिंदी और अंगरेजी में अनुवाद कर रहे हैं, और उन्होंने इस अंश पर मेरा ध्यान दिलाया। यह तीसरे अध्याय में १५ ए०बा० में है।

वह चार पद्धतियों में प्रकट हुआ, इस तरह बताया है। यह द्वैतात्मक आधि-भौतिकवाद से शुरू होता है और ज्ञान को वस्तुओं का प्रत्यक्ष बोध मानता है दूसरी सीढ़ी यह है कि विचार वस्तुओं के बोध का माध्यम बन जाते हैं, और इस तरह से मन और वस्तुओं के बीच एक पर्दा खड़ा हो जाता है। यह दो सीढ़ियां हीनयान मत की हैं। महायान मत और आगे बढ़ता है, वह स्वरूप के पीछे जो वस्तु है उसी को खतम कर देता है और सभी अनुभव को मन के विचारों का एक क्रम मानता है। सापेक्षता और अवचेतन में मन के विचार भी आ जाते हैं। अंतिम सीढ़ी में—यह नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन या बीच का मार्ग है—मन खुद एक धारणा का रूप ग्रहण कर लेता है और हमारे आगे धारणाओं की छुट इकाइयां रह जाती हैं, और आभास रह जाता है, और इनके बारे में हम कुछ कह नहीं सकते।

इस तरह से हम अंत में कहीं नहीं पहुंचते हैं या ऐसी चीज़ तक पहुं-चते हैं जिसको कि हमारे सीमित दिमाग़ों के लिए समझ सकना कठिन है और उसका न वर्णन हो सकता है न उसकी परिभाषा हो सकती है। ज़्यादा-से-ज़्यादा जो हम कह सकते हैं वह यह है कि यह एक तरह की चेतना है, या जैसा कहा गया है 'विज्ञान' है।

बावजूद इस नतीजे के, जिसे कि मनोवैज्ञानिक और आधिभौतिक विवे-चन के बाद हमने हासिल किया है, और जो कि आखिरकार अदृश्य दुनिया या परम सत्ता की कल्पना को विशुद्ध चेतना बना देता है, यानी कुछ नहीं कर देता, जहां तक हम लफ़्ज़ों का उपयोग कर सकते या उन्हें समझ सकते हैं, इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि इखलाक़ी संबंधों की हमारी सीमित दुनिया में निश्चित क़ीमत है। इसलिए हमें अपनी ज़िंदगियों में और इंसानी ताल्लुक़ात में इखलाक़ बरतना चाहिए और भली ज़िंदगियां बितानी चाहिएं। उस ज़िंदगी और इस दिखने वाली दुनिया पर हम तर्क और ज्ञान और अनुभव का इस्ते-माल कर सकते हैं और हमें करना चाहिए। असीम, या जो कुछ भी उसे कहें, इस दुनिया से कहीं परे है, और इसलिए उस पर इनको लागू नहीं किया जा सकता।

११ : बौद्ध धर्म का हिंदू धर्म पर असर

बुद्ध की शिक्षा का पुराने आर्य धर्म पर और हिंदुस्तान के लोगों में प्रचलित आम विश्वासों पर क्या असर हुआ? इसमें कोई शक नहीं कि इस शिक्षा ने मज़हबी और क़ौमी ज़िंदगी के बहुत से पहलुओं पर ज़बर्दस्त और क़ायम रहने वाले असर डाले। बुद्ध ने अपने को एक नए मज़हब का बानी भले ही न समझा हो—शायद वह अपने को सिर्फ़ एक सुधारक समझते थे—लेकिन

उनके अद्‌भुत व्यक्तित्व और जोरदार संदेशों ने जिनमें कि उन्होंने अनेक सामाजिक और मज़हबी चलन की बातों पर हमले किए, लाज़िमी तौर पर उनके और स्वार्थ पर पुरोहित वर्ग के बीच संघर्ष पैदा करा दिया। बुद्ध ने क़ायमशुदा समाजी या आर्थिक निज़ाम को उखाड़ने का दावा कभी नहीं किया। उन्होंने उनकी बुनियादी मान्यताओं को क़ुबूल किया, और अगर हमले किए तो महज़ उन बुराइयों पर जो कि उनके गिर्द इकट्ठा हो गई थीं। फिर भी वह कुछ हद तक, समाज में इन्क़लाब पैदा करने के काम में लगे थे, इसीलिए, ब्राह्मण वर्ग जो कि उस ज़माने के मौजूदा चलन को जारी रखना चाहता था, उनसे नाराज़ हो गया। बुद्ध का शिक्षा में कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसे विचारों के विस्तीर्ण क्षेत्र में बिठाया न जा सके। लेकिन चूंकि ब्राह्मणों के अधिकार पर हमला हुआ था, इसलिए बात ही दूसरी पैदा हो गई थी।

यह एक दिलचस्प बात है कि बौद्ध धर्म ने पहले मगध में जड़ पकड़ी; यह उत्तरी हिंदुस्तान का वह हिस्सा था जहां कि ब्राह्मण धर्म कमज़ोर था। रफ़्ता-रफ़्ता यह पच्छिम और उत्तर में फैला और बहुत से ब्राह्मण भी इसमें शरीक हुए। सबसे पहले, यह खास तौर पर क्षत्रियों का तहरीक थी, लेकिन आम जनता को भी पसंद आने वाली थी। संभवतः ब्राह्मणों की वजह से ही, जो कि इसमें बाद में शरीक हुए, फ़िलसफ़े और अध्यात्मवाद की दिशाओं में इसका विकास हुआ। यह भी मुमकिन है कि ब्राह्मण-बौद्धों की वजह से ही इसके महायान मत का विकास हुआ, क्योंकि, कुछ मामलों में, और खासकर अपनी रवादारी और विविधता में, यह उस ज़माने के आर्य धर्म से ज्यादा मिलता-जुलता था।

बौद्ध धर्म ने सैकड़ों तरीक़ों से हिंदुस्तानी ज़िंदगी पर असर डाला। और यह लाज़मी भी था, क्योंकि इसे याद रखना चाहिए कि एक हज़ार वर्ष तक वह एक जीता-जागता, शक्तिशाली और हिंदुस्तान में दूर-दूर तक फैला हुआ मज़हब था। उस लंबे ज़माने में भी जब कि इसका ह्रास हो रहा था, और जब कि एक अलग धर्म की शक़ल में यहां, इसका वजूद न रहा, इसका बहुत अंश हिंदू धर्म और क़ौमी ज़िंदगी और विचार के तरीक़ों का अंग बन गया। और अगर्चे आख़िरकार आप लोगों ने इसे धर्म के रूप में मानना छोड़ दिया, इसकी अमिट छाप बनी रही और उसने क़ौमी तरक़्क़ी पर असर डाला। यह स्थायी असर जो कि क़ायम रहा, ऐसा था कि उसका धार्मिक विश्वास, फ़िलसफ़े के सिद्धांत, या इस तरह की बातों से न था। यह बुद्ध और उसके धर्म का नैतिक और सामाजिक और अमली आदर्शवाद था। जिसने हमारी जनता को प्रभावित किया और उस पर अपनी अमिट छाप डाली, उसी तरह जिस तरह कि ईसाई धर्म के नैतिक आदर्शों ने यूरोप पर असर डाला, चाहे उसने

उसके धार्मिक विश्वासों पर ज्यादा ध्यान न दिया, और इस्लाम के इंसानी, समाजी और असली नज़रिये ने बहुत से ऐसे लोगों पर असर डाला जिनका कि उसके धार्मिक रूपों और विश्वासों के लिए आकर्षण न था।

हिंदुस्तान में आर्य धर्म ख़ास तौर पर एक क़ौमी मजहब था, जो कि इस देस तक महदूद था; और जो समाजी जात-पांत की व्यवस्था यहां पर तरक्क़ी कर रही थी उसने इस पहलू पर ज़ोर दिया। इसने धर्म-प्रचार की कोशिशें न कीं, धर्म-परिवर्तन का यहां कोई सवाल न उठता था, और हिंदुस्तान की सरहद से पार इसकी निगाह न जाती थी। हिंदुस्तान के भीतर इसकी गति का अपना ख़ास तरीक़ा था, जिसमें उग्रता न थी और जो एक अचेतन ढंग से नए और पुराने आने वालों को अपने में जज़्ब करता रहा, और अक्सर उनकी नई जातें बना देता रहा। उन दिनों के लिए, बाहरी दुनिया के प्रति, इस तरह का रुख़ स्वाभाविक था, क्योंकि आने-जाने में दिक्क़तें थीं और विदेशियों से संपर्क की ज़रूरत शायद ही होती थी। इसमें शक नहीं कि व्यापार और और धंधों के लिए संपर्क क़ायम थे, लेकिन उनसे हिंदुस्तान की ज़िंदगी और तरीक़ों में कोई फ़र्क़ न पैदा होता था। हिंदुस्तानी ज़िंदगी का समुंदर अपने में भरा-पूरा था और इतना काफ़ी बड़ा और विविध था कि उसमें तरह-तरह की मौजों के उठने की पूरी गुंजाइश थी। उसमें आत्म-चेतना थी और वह अपने में ही ग़र्क़ रहने वाला था, और उसे इस बात की परवा न था कि उसकी सरहदों के बाहर क्या हो रहा है। इस समुंदर के बीचों-बीच एक ऐसा सोता फूट निकला, जिससे कि ताज़े और नितरे हुए पानी की धार बह चली जो पुरानी सतह को चंचल करती हुई, बढ़कर सैलाब बन गई और इसने उन पुरानी सरहदों और रुकावटों की परवा न की जिन्हें कि इंसान और क़ुदरत ने खड़ा कर रक्खा था। बुद्ध की शिक्षा की इस धार में क़ौम के लिए उपदेश था, लेकिन यह उपदेश क़ौम तक के लिए ही नहीं था। यह भले आचरण में लगने के लिए एक ऐसी पुकार थी, जिसने कि वर्ग, जात-पाँत या क़ौम की बंदिशें न मानीं।

उनके ज़माने के हिंदुस्तान के लिए यह एक नया नज़रिया था। अशोक पहला व्यक्ति था जिसने कि दूतों और प्रचारकों को विदेशों में भेजकर इतने बड़े पैमाने पर यह काम किया। इस तरह से हिंदुस्तान को और दुनिया के बारे में चेतना शुरू हुई; और शायद ज्यादातर यही चीज़ थी, जिसने कि ईस्वी संवत् की शुरू की सदियों में उसे उपनिवेशों के क़ायम करने में बड़े-बड़े साहसी काम करने के लिए उकसाया। समुद्र पार के इन धावों का संगठन हिंदू राजाओं ने किया था और यह अपने साथ ब्राह्मण-व्यवस्था और आर्य-संस्कृति ले गए थे। एक ऐसे धर्म और संस्कृति के लिए जिसने कि अपने भीतर धीरे-धीरे तरह-तरह के वर्ण-भेद क़ायम कर रक्खे थे, यह एक असाधारण विकास

था। किसी बड़ी ज़ोरदार प्रेरणा या बुनियादी नज़रिये की तब्दीली से ही यह बात पैदा हो सकती थी। मुमकिन है यह प्रेरणा कई कारणों से हुई हो, और बड़ी वजहें इनमें व्यापार और फैलते हुए समाज का ज़रूरतें रही हों, लेकिन नज़रिये की यह तब्दीली, एक अंश में, बौद्ध धर्म और उसने जो विदेशों से संपर्क स्थापित कर लिए थे, उनके कारण भी हुई। उस वक्त हिंदूधर्म में इतनी काफ़ी स्फूर्ति और गति मौजूद थी, लेकिन इससे पहले उसने विदेशों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया था। नए धर्म की सार्वभौमिकता के जो नतीजे हुए उनमें एक यह भी था कि इस बड़ी स्फूर्ति को दूर देशों तक पहुँचने के लिए प्रोत्साहन मिला।

वैदिक धर्म और धर्म के ज़्यादा आम रूपों के साथ जो कर्म-कांड और पूजा-पाठ का रिवाज लगा हुआ था, वह लुप्त हो चुका था, ख़ास तौर पर पशुओं की बलि की प्रथा उठ चुकी थी। अहिंसा के विचार पर जो कि वेदों और उपनिषदों में पहले से ही मौजूद था, बौद्ध धर्म ने और उससे भी ज़्यादा जैन धर्म ने जोर दिया। ज़िदगी के लिए एक नया आदर और जानवरों की तरफ़ दया का भाव पैदा हो गया। और इन सबके पीछे नेक ज़िदगी, ऊँचे प्रकार की ज़िंदगी, बिताने का विचार रहा।

बुद्ध ने तपस्या के नैतिक मूल्य से इंकार किया था, लेकिन उनकी शिक्षा का सारा असर ज़िदगी की तरफ़ निराशावाद का था। यह ख़ास तौर से हीनयान का रुख़ था. और जैनियों का इससे भी बढ़कर था। परलोक, मुक्ति और दुनिया के बोझ से छुटकारा पाने पर ज़ोर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिला और शाकाहार बढ़ा। यह सभी विचार हिंदुस्तान में बुद्ध से पहले मौजूद थे, लेकिन इन पर इतना ज़ोर नहीं दिया गया था : पुराने आर्य आदर्श का ज़ोर भरी-पूरी और बहुमुखी ज़िंदगी पर था। विद्यार्थी अवस्था ब्रह्मचर्य और संयम के लिए थी; गृहस्थ ज़िंदगी के धंधों में अच्छी तरह हिस्सा लेता था, और भोग को उसका अंग समझता। इसके बाद रफ्ता-रफ्ता उससे खिंचाव पैदा होता और लोक-सेवा और आत्मा की उन्नति की तरफ़ ज्यादा ध्यान जाता। ज़िंदगी का सिर्फ़ आख़िरी मंज़िल, जब कि वृद्धावस्था आजाती, ज़िंदगी के साधारण कामों और रागों से पूरे तौर पर खिंचने और संन्यास के लिए होती।

पहले तपस्या की तरफ़ झुकाव रखने वाले लोग छोटे-छोटे गुट्टों में जंगलों में आश्रम बनाकर रहा करते थे, और विद्यार्थी आकर्षित होकर उनके यहां जाते थे। बौद्ध धर्म के साथ-साथ बड़े-बड़े मठ भिक्खुओं और भिक्खुनियों के, सब जगह बन गए और लोग इनमें खिंचकर बराबर जाने लगे। बिहार के सूबे का नाम ही विहार या मठ से बना है, जिससे पता चलता है कि इस बड़े प्रदेश

में कितने मठ रहे होंगे। इन मठों में शिक्षा का भी इंतज़ाम हुआ करता था और कुछ का संबंध विद्यालयों और कभी-कभी विश्वविद्यालयों या विद्या-पीठों से था।

न सिर्फ़ हिंदुस्तान में, बल्कि सारे मध्य एशिया में बहुत से बड़े-बड़े बौद्ध मठ क़ायम थे। एक मशहूर मठ बलख़ में था, जिसमें कि एक हज़ार भिक्खु रहते थे, और इसके बहुत से उल्लेख मिलते हैं। इसका नाम नव-विहार या नया मठ था, जिसे कि फ़ारसी रूप देकर नौ-बहार कर दिया गया था।

यह क्या बात है कि हिंदुस्तान में बौद्ध धर्म का नतीजा यह हुआ कि और देशों के मुक़ाबले में, जहां कि यह लंबी मुद्दतों तक क़ायम रहा, जैसे कि चीन, जापान, और बर्मा में—इसमें परलोकवाद की ज्यादा तरक्क़ी हुई ? मैं नहीं जानता, लेकिन मेरा ख़याल है कि हर एक देश की पृष्ठभूमि इतनी काफ़ी मज़बूत रही है कि इस धर्म को अपने ही रूप में ढाल ले। मिसाल के लिए चीन में कनफ्यूसियस और लाओत्सी और दूसरे फ़िलसूफ़ों की ज़बर्दस्त परंपराएं रही हैं। और फिर चीन और जापान ने बौद्ध धर्म का महायानी रूप क़ुबूल किया, जो कि हीनयानी के मुक़ाबले में कम निराशावादी था। हिंदु-स्तान पर जैनधर्म का भी असर पड़ा, जो कि इन सब सिद्धांतों और फ़िलसफ़ों से ज्यादा परलोकवादी और ज़िंदगी से इंकार करने वाला रहा है।

हिंदुस्तान और उसके सामाजिक संगठन पर बौद्ध धर्म का एक और बड़ा अजीब असर पड़ा मालूम देता है, ऐसा असर जो कि उसके सारे नज़रिये का विरोधी है। वह है जात-पाँत के मुतल्लिक, जिसको कि उसने पसंद न किया, लेकिन फिर भी जिसकी मूल बुनियाद को इसने क़ुबूल किया।

बुद्ध के ज़माने में वर्ण व्यवस्था लचीली थी और इसमें उतनी कट्टरता नहीं आई थी जितनी कि बाद के ज़माने में आ गई। जन्म से ज्यादा योग्यता, चरित्र और काम पर महत्त्व दिया जाता था। खुद बुद्ध ने अक्सर ब्राह्मण शब्द का, योग्य, उत्साही और संयमी आदमी के बारे में इस्तैमाल किया है। छांदोग्य उपनिषद् में एक मशहूर कहानी है जिससे कि जात-पाँत और स्त्री-पुरुष के संबंध को उस ज़माने में कैसा समझा जाता था, इस पर रोशनी पड़ती है।

यह सत्यकाम की कथा है, जिसकी माता जबाला थी। सत्यकाम गौतम ऋषि (बुद्ध नहीं) के यहाँ विद्या सीखना चाहता था, और जब वह घर से चलने लगा तब उसने अपनी माँ से पूछा : "मैं किस गोत्र का हूं ?" उसकी माँ ने उससे कहा : "बेटा मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। अपनी युवा-वस्था में, जब कि मैं अपने पिता के घर में आए हुए बहुत से अतिथियों की सेवा में रहती थी, उस समय तू मेरे गर्भ में आया। मै नहीं जानती तू किस गोत्र का है। मेरा नाम जबाला था, तू सत्यकाम है। अपने को सत्यकाम

जाबाल बताना।"

इसके बाद सत्यकाम गौतम के यहाँ गया और ऋषि ने उसके वंश का पता पूछा। उसने जैसा कि उसकी माँ ने बताया था कह दिया। इस पर ऋषि ने कहा : "सच्चे ब्राह्मण को छोड़कर दूसरा कोई इस तरह साफ़-साफ़ नहीं कह सकता। जाओ बस लकड़ी बीन लाओ। मैं तुम्हें दीक्षा दूंगा। तुम सत्य से डिगे नहीं।"

शायद बुद्ध के ज़माने में ब्रह्मण वर्ग के लोगों में ही कमोबेश कट्टरता आई थी। क्षत्रिय अपने कुल और परंपरा का अभिमान करते थे लेकिन जहाँ-तक वर्ग की बात थी, उनके दरवाज़े उन सब व्यक्तियों और कुलों के लिए खुले हुए थे जो कि शासक बन बैठे। उन्हें छोड़कर ज़्यादातर लोग वैश्य थे, जो कि किसानी करते थे और यह पेशा बड़े आदर का पेशा समझा जाता था। दूसरी पेशेवर जातें भी थीं। अजाती कहलाने वाले लोग जान पड़ता है बहुत थोड़े थे, शायद कुछ जंगली लोग थे और कुछ ऐसे लोग थे जिनका पेशा मुर्दों को जलाना, फेंकना आदि था।

जैन और बौद्धधर्म ने जो अहिंसा पर ज़ोर दिया उसका नतीजा यह हुआ कि खेत जोतना एक नीचा धंधा समझा जाने लगा, क्योंकि इससे अक्सर जीव-हत्या होती थी। यह पेशा, जो कि भारतीय-आर्यों के गर्व करने का पेशा था, देश के कुछ हिस्सों में गिरा हुआ समझा जाने लगा, बावजूद इसके कि इस पेशे का एक बुनियादी महत्त्व था, और जो लोग खेती करते उनकी प्रतिष्ठा घट गई।

इस तरह से बौद्ध धर्म जो कि पुरोहिताई और कर्म-कांड के खिलाफ और आदमी को गिराने और उसे ऊँची जिंदगी से वंचित रखने के खिलाफ़, एक विद्रोह के रूप में उठा था, ख़ुद, अनजाने में, बहुत बड़ी संख्या में किसानों की पस्ती का कारण बन गया। बौद्ध धर्म को इसके लिए ज़िम्मेदार ठहराना ठीक न होगा, क्योंकि दूसरी जगहों में इसका ऐसा कोई असर न पड़ा। वर्ण-व्यवस्था के भीतर ही कुछ ऐसी बात थी जो इसे इस दिशा में ले गई। जैन धर्म ने उसे अहिंसा के उत्साह में इधर ढकेला—और बौद्ध धर्म ने अनजाने में इस क्रिया में मदद पहुँचाई।

१२ : हिंदू धर्म ने बौद्ध धर्म को किस तरह जज़्ब कर लिया ?

आठ या नौ साल हुए, जब कि मैं पेरिस में था, मेरी और अपनी बात-चीत के शुरू में ही, आंद्री मालरो ने मुझसे एक अजीब सवाल किया। उन्होंने मुझसे पूछा : वह कौन-सा ताक़त थी जिसकी वजह से एक हजार वर्ष पहले हिंदू धर्म ने बिना किसी बड़े संघर्ष के संगठित बौद्ध धर्म को हिंदुस्तान से बाहर

ढकेल दिया ? हिंदू धर्म, एक बड़े और फैले हुए लोकप्रिय धर्म को, बिना धर्म के नाम पर लड़ी गई उस तरह की लड़ाइयों के जिन्होंने और देशों के इतिहास को काला किया है, क्योंकर एक तरह से अपने में जज्ब कर लेने में कामयाब हुआ ? कौन-सी भीतरी ताक़त या जीवनी-शक्ति हिंदू धर्म में उस वक़्त थी जिससे कि वह यह अद्भुत काम कर सका ? और क्या हिंदुस्तान में आज भी वह जीवनी-शक्ति और भीतरी ताक़त मौजूद है ? अगर है, तो उसकी आज़ादी को कोई रोक नहीं सकता और उसका बड़प्पन निश्चय है।

यह सवाल शायद ऐसा था जो एक फ़रांसीसी विचारक के लिए जो कि काम के मैदान का भी आदमी था, उपयुक्त ही था। फिर भी यूरोप या अमरीका में बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो इस तरह की बातों में उलझें; उनके सामने तो मौजूदा ज़माने के ही न जाने कितने मसले ग़ौर करने के लिए होंगे। आज की दुनिया के यह मसले मालरो के सामने भी थे, और अपने शक्तिशाली और विश्लेषण करने वाले दिमाग़ के ज़रिये वह उन मसलों पर रोशनी हासिल करने की कोशिश में रहता था, वह रोशनी चाहे गुज़रे ज़माने से मिले चाहे मौजूदा ज़माने से—और इसे वह विचार से, बातचीत से, लेखों से, या सबसे बढ़कर काम से, जिंदगी और मौत के खेल के मैदान से हासिल करने की कोशिश में रहता।

ज़ाहिर है कि मालरो के लिए यह महज़ एक इल्मी सवाल नहीं था। यह उसके दिमाग़ में फिर रहा था और छुटते ही उसने मुझसे यह सवाल किया। यह मेरी पसंद का सवाल था, या ऐसा सवाल था जो मेरे मन में भी उठता रहा है। लेकिन इसका मेरे पास मालरो के लिए या ख़ुद अपने लिए कोई जवाब न था। जवाबों और तशरीहों की कमी नहीं है, लेकिन वह ऐसी हैं कि सवाल के मूल तक नहीं पहुंचतीं।

यह साफ़ है कि हिंदुस्तान में बौद्ध धर्म का बड़े पैमाने पर या ज़ुल्म के साथ दमन नहीं किया गया। कभी-कभी मुक़ामी झगड़े, या हिंदू शासक और बौद्ध संघ या भिक्खुओं के संगठन के बीच, जो कि बड़ा शक्तिशाली हो गया था, संघर्ष हो जाते थे। इन झगड़ों के मूल में अक्सर राजनीतिक बातें होती थीं, और इनसे कोई ज्यादा फ़र्क़ होता-जाता न था। यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि हिंदू धर्म को बौद्ध धर्म ने कभी बिलकुल हटा दिया हो, ऐसा न था। जिस समय कि बौद्ध धर्म की सबसे ज्यादा तरक़्क़ी हुई, उस समय भी हिंदू धर्म ख़ूब फैला हुआ था। बौद्ध धर्म की हिंदुस्तान में क़ुदरती मौत हुई; या यह कहिए कि यह रफ्ता-रफ्ता मिटता गया और एक नए रूप में बदलता गया। कीथ का कहना है कि "हिंदुस्तान में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह जिस चीज़ को बाहर से ग्रहण करता है उसे अपने में मिला और

पचा लेता है।" अगर यह बात बाहर से और विदेशी आधारों से ली गई चीज़ों के बारे में सही है तो यह खुद उसी के दिमाग़ और विचारों की उपज के बारे में और भी लागू होजाती है। बौद्ध धर्म न सिर्फ पूरी तौर पर हिंदुस्तान की उपज था, बल्कि इसका फ़िलसफ़ा हिंदुस्तान के पुराने विचार और उपनिषदों के वेदांती फ़िलसफ़े से मिलता हुआ था। उपनिषदों ने पुरोहिताई और कर्म-कांड का मज़ाक़ तक उड़ाया था और जात-पांत के महत्त्व को कम किया था।

आपस के शास्त्रार्थों के बावजूद, या शायद उन्हीं की वजह से ब्राह्मण धर्म और बौद्धधर्म की एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया होती रही और यह फ़िलसफ़े और आम यक़ीन के ख़याल से भी एक-दूसरे के क़रीब आते रहे। ख़ास तौर पर महायानी मत ब्राह्मण धर्म और रूपों के बहुत निकट था। अपनी नैतिक पृष्ठभूमि की हिफ़ाज़त करते हुए यह किसी चीज़ से भी समझौता करने के लिए तैयार था। ब्राह्मण धर्म ने बुद्ध को अवतार, ईश्वर, बना दिया। यही बौद्ध धर्म ने भी किया। महायान के सिद्धांत तेज़ी से फैले, लेकिन जैसे-जैसे उनका प्रसार हुआ वैसे-वैसे महायान के गुणों का ह्रास हुआ और वह कम स्पष्ट रह गया। मठों में धन इकट्ठा हो गया, यह स्थापित स्वार्थों के गढ़ बन गए और इनका अनुशासन ढीला पड़ने लगा। पूजा के आम रूपों में, जादू-टोने और अंधविश्वास ने घर किया। पहले एक हज़ार साल के वजूद के बाद, हिंदुस्तान में बौद्ध धर्म का बढ़ता हुआ ह्रास दिखाई पड़ता है। इस ज़माने में उसके रोग की हालत का बयान मिसेज़ रीज़डेविड्स ने किया है : "इन रोग-ग्रस्त कल्पनाओं के गहरे असर में आकर गौतम की नैतिक शिक्षाएं हमारी निगाह से ओझल हो गई हैं। सिद्धांत पर सिद्धांत, उठकर सामने आते हैं, और हर एक नई धारणा एक जवाबी धारणा माँगती है। यहाँ तक कि सारा आसमान दिमाग़ी जालसाज़ियों से भर जाता है, और धर्म के बानी के सीधे-सादे और महान् उपदेश आधिभौतिक सूक्ष्मताओं के चमकीले ढेर के नीचे दबकर और घुटकर ख़तम हो जाते हैं।"[1]

यही बयान उन 'रोग-ग्रस्त कल्पनाओं' और 'दिमाग़ी जालसाज़ियों' पर भी ठीक-ठीक लागू होता है जिनसे कि ब्राह्मण धर्म और उसकी शाखायें इस ज़माने में पीड़ित थीं।

बौद्ध धर्म, हिंदुस्तान में, एक सामाजिक और आध्यात्मिक जागृति और सुधार के ज़माने में शुरू हुआ। इसने लोगों में एक नई जान फूंकी, जनता की ताक़त के नए ज़रिए निकाले, और रहनुमाई के नए जोहर पेश किए। अशोक

---

१ राधाकृष्णन् की 'इंडियन फ़िलासफ़ी' नामक पुस्तक से लिया गया उद्धरण।

की शहंशाही सरपरस्ती में यह तेज़ी से फैला और हिंदुस्तान का सबसे ख़ास मज़हब बन गया। यह दूसरे मुल्कों में भी फैला और बौद्ध आलिमों और विद्वानों का एक ताँता था जो कि हिंदुस्तान के बाहर जाता था, और हिंदुस्तान में आता था। यह सिलसिला सदियों तक जारी रहा। जब कि चीनी यात्री फ़ाहियान हिंदुस्तान में पाँचवीं सदी ईस्वी में, यानी बुद्ध के एक हज़ार साल बाद आया, तो उसने देखा कि यहां बौद्ध धर्म फैला हुआ है। सातवीं सदी में, एक उससे भी मशहूर यात्री, ह्वेनत्सांग (य्वान च्वांग) हिंदुस्तान में आया और उसने ह्रास के लक्षण देखे, अगर्चे कुछ प्रदेशों में इसका अब भी ज़ोर था। काफी बड़ी तादाद में बौद्ध विद्वान् और भिक्खु रफ्ता-रफ्ता हिंदुस्तान से चीन चले गए।

इस बीच में गुप्त सम्राटों के ज़माने में, चौथी और पाँचवीं सदियों में ब्राह्मण धर्म में पुनर्जागृति पैदा हो गई थी। यह बौद्ध धर्म की विरोधी हरगिज़ नहीं थी, लेकिन इसने यक़ीनी तौर पर ब्राह्मण धर्म की ताक़त और अहमियत को बढ़ावा दिया और इसके भीतर बौद्ध धर्म की परलोकमुखता के ख़िलाफ़ एक प्रतिक्रिया भी थी। बाद के गुप्त राजाओं ने बहुत दिनों तक हूणों के हमलों का मुक़ाबला किया, और अगर्चे उन्होंने आख़िरकार हूणों को यहाँ से भगा दिया, फिर भी मुल्क में कमज़ोरी आ गई और ह्रास का सिलसिला शुरू हो गया। बाद में कई ऐसे वक्त आए हैं जब कि तरक्क़ी दिखाई पड़ी है और मार्के के लोग सामने आए हैं। लेकिन ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का ह्रास हाता रहा, और दोनों के अंदर बहुत गिरे किस्म के अमल दिखाई पड़ने लगे। दोनों के बीच फ़र्क़ कर सकना मुश्किल हो गया। अगर ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म को जज़्ब कर लिया तो इस प्रक्रिया में ब्राह्मण धर्म ख़ुद बहुत से मानों में बदल गया।

आठवीं सदी में, शंकराचार्य ने, जो कि हिंदुस्तान के सबसे बड़े फ़िल-सूफ़ों में होगए हैं, हिंदू संन्यासियों के मठ बनाए। यह बौद्धों के संघों की नक़ल में था। इससे पहले ब्राह्मण धर्म में संन्यासियों के ऐसे कोई संगठन न थे, हालांकि उनके छोटे-छोटे गुट मौजूद थे।

पूर्वी बंगाल में और पच्छिमोत्तर में सिंध में बौद्ध धर्म का कोई बिगड़ा हुआ रूप अब भी चल रहा था। नहीं तो बौद्ध धर्म रफ़्ता-रफ़्ता हिंदुस्तान से, एक फैले हुए मज़हब की शक्ल में, उठ गया।

१३ : हिंदुस्तान का फ़िलसफ़ियाना नज़रिया

अगर्चे एक विचार से दूसरे विचार का सिलसिला लगा रहता है, और आम तौर से इनमें से हर एक का ज़िंदगी के बदलते हुए ताने-बाने से ताल्लुक़

होता है; और इंसानी दिमाग में कभी-कभी एक तर्क-पूर्ण प्रवाह देखने को मिलता है, फिर भी ऐसा होता है कि यह विचार एक-दूसरे पर चढ़ आते हैं, और नए और पुराने साथ-साथ चलते रहते हैं, जो आपस में मेल नहीं खाते और अक्सर विरोधी होते हैं। अकेले आदमी के दिमाग़ को लीजिए तो उसे भी हम विरोधी विचारों की एक गठरी पावेंगे, और उसके कामों में आपस में कोई मेल मुश्किल से ढूँढ़ सकेंगे। जब एक क़ौम का सवाल हो, जिसमें सांस्कृतिक विकास की सभी मंज़िलें मिलती हों तो हम देखेंगे कि वह अपने में, अपने विचारों, यक़ीनों और धंधों में, गुज़रे ज़मानों से लेकर आज तक के सभी युगों की नुमाइंदगी करती है। शायद इसके लोगों के काम मौजूदा ज़माने के समाजी और सांस्कृतिक नमूने से ज़्यादा मिलते हुए हों, नहीं तो वह ज़िंदगी की बहती हुई धार से अलग-थलग जा पड़ेंगे, लेकिन इन कामों के पीछे आदिम विश्वास और ऐसे यक़ीन लगे हुए हैं, जिनकी कोई दलील नहीं। ऐसे मुल्कों में भी, जो कि तिजारत के लिहाज़ से तरक्क़ी-याफ्ता हैं, जहां कि हर शख्स ख़ुद-ब-ख़ुद नई-से-नई ईजादों या तरीक़ों, को इस्तैमाल में लाता है या उनसे फ़ायदा उठाता है, हमें ऐसे यक़ीन और विचार मिलेंगे जिन्हें कि दलील इंकार करती है और अक़्ल क़ुबूल नहीं करती; और यह देखकर हद दर्जे का अचरज होता है। दलील और अक़्ल की उम्दा मिसाल हुए बग़ैर एक राजनीतिज्ञ कामयाब हो जायगा, एक क़ानून-दां मार्के का वकील और न्याय-शास्त्री होते हुए भी और बातों में हद दर्जे का जाहिल हो सकता है। और एक वैज्ञानिक भी, जो कि मौजूदा ज़माने का ख़ास नुमाइंदा है, अक्सर अपने तरीक़ों और सायंस के नज़रिये को अपने पढ़ने के कमरे और प्रयोगशाला से बाहर नहीं ले जाता।

यह बात उन मसलों पर भी सही आती है, जो कि हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी के भौतिक पहलुओं पर असर डालते हैं। फ़िलसफ़े और आधिभौतिक विचारों में यह मसले ज़्यादा दूर के, कम क्षणिक, और हमारे रोज़ के कामों से कम ताल्लुक़ रखने वाले जान पड़ते हैं। हम लोगों में से ज़्यादा-तर के लिए अगर हमने अपने ऊपर कड़ा संयम नहीं लगाया है, और दिमाग़ को इस तौर पर मायल नहीं किया है--यह मसले अपनी पहुँच से बिलकुल बाहर के हुआ करते हैं। लेकिन फिर भी हममें से सभी का कुछ-न-कुछ ज़िंदगी का फ़िलसफ़ा होता है, वह जान में हो या अनजान में; और अगर वह ख़ुद अपनी फ़िक्र का नतीजा नहीं हैं, तो वह विरासत में मिला हुआ और दूसरों से क़ुबूल किया गया और जाहिरा तौर पर सही मान लिया गया फ़िलसफ़ा होता है। या यह हो सकता है कि हम ख़ुद विचार करने के ख़तरे से बचकर किसी मज़हबी अक़ीदे या धार्मिक विश्वास या क़ौम के भाग्य या एक अस्पष्ट इंसानी-दर्दमंदी के ख़याल में पनाह लें। अक्सर यह सभी बातें और दूसरी बातें भी

एक साथ मौजूद रहती हैं, चाहे उनमें आपस में कोई ताल्लुक न भी हो। इस तरह से हमारा व्यक्तित्व टुकड़ों में बँट जाता है और यह टुकड़े आपस में ताल्लुक़ रखते हुए अलग-अलग काम करते रहते हैं।

शायद गुज़रे ज़माने में, इंसान के व्यक्तित्व में ज़्यादा एकता और समतौल रहे हैं, अगर्चे कुछ बहुत ऊँचे लोगों की मिसालों को छोड़कर, आज के मुक़ाबले में यह नीची सतह पर रहे होंगे। परिवर्तन के इस लंबे दौर में जिससे कि दुनिया गुज़र रही है, हमने इस एकता को तोड़ दिया है, लेकिन हम एक नई एकता हासिल करने में अभी तक कामयाब नहीं हुए हैं। हम अब भी हठवादी धर्म के तरीक़ों से चिमटे हुए हैं, जीर्ण रस्मों और विश्वासों को पकड़े हुए हैं, फिर भी विज्ञान की रीति के बमूजिब रहने का दावा करते हैं। शायद विज्ञान, ज़िंदगी के प्रति अपने नज़रिये में, बहुत तंग रहा है, और इसने बहुत से जीते-जागते पहलुओं को नज़र-अंदाज़ कर दिया है, इसी से यह एक नई एकता और नए समन्वय का आधार नहीं पेश कर सका है। शायद यह रफ़्ता-रफ़्ता इस आधार को फैला रहा है, और हम इंसानी व्यक्तित्व के लिए पिछली सतह से ऊँचे स्थान पर, एक नया समन्वय हासिल कर सकेंगे।

लेकिन मसला अब ज़्यादा मुश्किल और जटिल हो गया है, क्योंकि अब यह इंसानी व्यक्तित्व के दायरे से बाहर पहुंच गया है। क़दीम ज़माने और बीच के युग के महदूद दायरे में, एक तरह के समन्वित व्यक्तित्व का विकास कर सकना शायद ज़्यादा आसान था। गांवों और शहरों की उस छोटी-सी दुनिया में, जहाँ कि समाजी संगठन और व्यवहार के ख़याल बंधे-तुले थे, व्यक्ति और उनके गिरोह, अपने तक महदूद और आम तौर पर बाहरी तूफ़ानों से महफ़ूज़ ज़िंदगी बिताया करते थे। आज व्यक्ति तक का दायरा सारी दुनिया तक फैल गया है और समाजी संगठन के जुदा-जुदा ख़याल एक-दूसरे के साथ टक्कर ले रहे हैं, और उनके पीछे हैं ज़िंदगी के जुदा-जुदा फ़िलसफ़े। वही ज़ोर की हवा कहीं तूफ़ान बरपा करती है तो कहीं बवंडर उठाती है। इसलिए अगर व्यक्ति को शांति और सकून हासिल करना है तो यह तभी हो सकता है जब कि उसे सारी दुनिया में फैली हुई एक ही क़िस्म की समाजी व्यवस्था का सहारा मिले।

हिंदुस्तान में, और जगहों से कहीं ज़्यादा, समाजी संगठन का पुराना विचार, और ज़िंदगी का वह फ़िलसफ़ा, जो कि इसकी तह में है, कुछ हद तक आज भी चला जा रहा है। अगर उसमें समाज को पायदारी देने वाला और उसका ज़िंदगी के हालात से मेल कराने वाला कोई गुण न होता तो ऐसा न हुआ होता। साथ ही, उनकी बुराई उनके गुण पर छा न गई होती, तो आख़िरकार वह नाकामयाब न हुए होते और ज़िंदगी से अलग-थलग होकर उसके लिए बोझ न बन

जाते। लेकिन हर हालत में आज उन्हें हम दुनिया से जुदा चीज़ की हैसियत में नहीं देख सकते, हमें तो उन्हें दुनिया के साथ-साथ ही देखना पड़ेगा और उनका दुनिया के साथ मेल बिठाना होगा।

हैवेल ने कहा है "हिंदुस्तान में धर्म की हैसियत एक हठवादी मत की नहीं है, वह इंसानी व्यवहार का एक ऐसा चालू सिद्धान्त है जिसने कि अपने को रूहानी तरक्क़ी की मुख्तलिफ़ मंज़िलों और ज़िंदगी के मुख्तलिफ़ हालात के माफ़िक बना लिया है।" एक हठवादी मत में तो ज़िंदगी से जुदा हटकर भी यक़ीन क़ायम रक्खा जा सकता है, लेकिन इंसानी व्यवहार के एक चालू सिद्धांत को तो ज़िंदगी से अपना मेल बनाए रखना है, नहीं तो वह ज़िंदगी के रास्ते में रुकावट बन जायगा। ऐसे सिद्धांत का मूल आधार ही यह है कि वह अमली हो, ज़िंदगी से मेल रखने वाला हो और अपने को बदलती हुई हालतों के मुताबिक ढाल सके। जब तक वह ऐसा कर सकता है तब तक वह अपना काम कर रहा है। ज़िंदगी के झुकाव से दूर हुआ, सामाजिक ज़रूरतों से संपर्क छूटा तो इसके और ज़िंदगी के बीच फ़ासला बढ़ जाता है, और यह अपनी जीवनी-शक्ति और महत्त्व खो बैठता है।

आधिभौतिक सिद्धांत और कल्पनाओं का विषय ज़िंदगी की बराबर बदलती रहने वाली चीज़ें नहीं हैं, बल्कि उनके पीछे जो परम-सत्ता है—अगर इस तरह की कोई सत्ता है भी—वह है। इसलिए उनमें कुछ ऐसी पायदारी है जिसमें कि बाहरी तब्दीलियों से फ़र्क़ नहीं आता। लेकिन जिस वातावरण में यह पैदा होते हैं, और जिन इंसानी दिमाग़ों की यह उपज है, उनकी इन पर छाप रहती है। अगर इनका असर फैलता है तो लोगों के, ज़िंदगी के आम फ़िलसफ़े को, यह बदल देते हैं। हिंदुस्तान में, अगर्चे फ़िलसफ़ा, जहां तक कि ऊंचे विचार का ताल्लुक है, कुछ चुने हुए लोगों तक महदूद रहा है, फिर भी और जगहों के मुक़ाबले में यह ज़्यादा आम रहा है, और क़ौमी नज़रिये के ढलने और दिमाग़ की एक ख़ास रुझान के पैदा करने में इसका गहरा हाथ रहा है।

बौद्ध फ़िलसफ़े ने, इस अमल में एक अहम हिस्सा लिया और बीच के ज़माने में, इस्लाम ने, ऐसे नए फ़िरक़े पैदा करके—जिन्होंने कि हिंदू धर्म और इस्लामी समाजी और मजहबी गठन के बीच की खाई पर पुल बांधने की कोशिश की—सीधे तरीके से या घुमाव-फिराव के साथ, कौमी नज़रिये पर अपनी छाप डाली। लेकिन यों ख़ास तौर पर जिसका असर रहा है वह हिंदुस्तान के छः दर्शनों का। इनमें से कुछ पर ख़ुद बौद्ध विचारों का प्रभाव पड़ा था। यह सभी कट्टर मत माने जाते हैं, लेकिन अपने नज़रिये और परिणामों में यह एक-दूसरे से जुदा हैं, अगर्चे इनमें बहुत से विचार एक-से भी हैं। इनमें हमें बहुदेववाद मिलेगा, साकार ईश्वरवाद मिलेगा, विशुद्ध अद्वैतवाद मिलेगा, और ऐसा दर्शन भी

मिलेगा जो ईश्वर पर ध्यान न देते हुए विकास के सिद्धांत को आधार बनाता है। हमें आदर्शवाद भी मिलेगा और पदार्थवाद भी। इन दर्शनों की एकता और विविधता में हमें जटिल और सर्वग्राही हिंदुस्तानी मानस के अनेक रुख़ देखने को मिलेंगे। मैक्समूलर ने इन दोनों बातों पर ध्यान दिलाया है: "इस सत्य का मुझ पर अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है...कि इन छः दर्शनों की विविधता के पीछे कोई ऐसी आम पूंजी है जिसे कि हम क़ौमी या आम फ़िलसफ़ा कह सकते हैं,......जिससे कि हर एक विचारक अपने मतलब के माफ़िक़ विचार ले सकता था।"

इन सबमें समान रूप से माना गया विश्वास है कि विश्व में एक व्यवस्था है और उसका परिचालन नियम के अनुसार होता है, और उसमें एक विशाल तारतम्य है। कुछ इस तरह का ख़याल ज़रूरी हो जाता है, नहीं तो कोई ऐसी व्यवस्था नहीं रह जायगी जिसका कि समझना ज़रूरी हो। अगर्चे हेतुवाद और कार्य-कारण के सिद्धांत चलते रहते हैं, फिर भी व्यक्तियों को अपने भाग्य का निर्माण करने की कुछ स्वतंत्रता रहती है। हमें इनमें पुनर्जन्म में विश्वास मिलता है और इनमें निःस्वार्थ प्रेम और निष्काम कर्म पर ज़ोर दिया गया है। विवेचन में तर्क और बुद्धि का सहारा लिया जाता है लेकिन यह बात मान्य है कि अंतर्प्रेरणा इन दोनों से बढ़कर है। साधारण विवेचन बुद्धि के धरातल पर चलता है—जहां तक कि बुद्धि का सहारा उन बातों के विषय में लिया जा सकता है जो कि उसकी सीमा से बाहर हैं। प्रोफ़ेसर कीथ ने बताया है कि: "इन दर्शनों में निश्चय ही एक कट्टरता है, और धर्म-ग्रंथों के प्रमाण को माना गया है, लेकिन वह सत्ता-संबंधी समस्याओं को इंसाना तरीक़ों से समझना चाहते हैं, और देखा यह जाता है कि धर्म-ग्रंथों का इस्तैमाल केवल उन नतीजों के समर्थन में हुआ है, जिन पर वह स्वतंत्र रूप से पहुँचे हैं, और अक्सर तो प्रमाणों का उनके सिद्धांतों से लगाव भी संदिग्ध रह जाता है।"

१४ : छः दर्शन

हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े की शुरूआत हम बौद्ध ज़माने से क़ब्ल ही होती हुई देखते हैं। ब्राह्मणों और बौद्धों के दर्शनों का विकास साथ-साथ और रफ़्ता-रफ़्ता होता है और यह आपस में अक्सर एक-दूसरे की आलोचना भा करते हैं और एक-दूसरे की बातों का ग्रहण भी कर लेते हैं। ईस्वी सन् के आरंभ होने से पहले ब्राह्मणों के छः दर्शनों ने, ऐसे और बहुत से वादों के भीतर से उठकर, अपना स्वरूप बना लिया था। इनमें हर एक का अपना जुदा नज़रिया है, हर एक की तर्क शैली अलग है, फिर भी यह एक दूसरे से अलग-थलग नहीं थे, बल्कि एक बड़ी व्यवस्था के अंग थे।

छः दर्शनों के नाम इस तरह हैं : (१) न्याय; (२) वैशेषिक; (३) सांख्य; (४) योग; (५) मीमांसा; और (६) वेदांत।

न्याय की शैली तर्क और विश्लेषण की शैली है। दर-अस्ल 'न्याय' के मानी ही तर्क या विवेक-शास्त्र के हैं। यह बहुत कुछ अरस्तू की तर्क-शैली से मिलता-जुलता है, लेकिन दोनों में बुनियादी फ़र्क़ भी है। न्याय के बुनियादी उसूलों को और सभी दर्शनों ने क़ुबूल कर लिया था, और मानसिक संयम के रूप में न्याय की शिक्षा बराबर क़दीम और बीच के ज़माने में, बल्कि आज तक हिंदुस्तान की पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में दी जाती रही है। हिंदुस्तान की नई तालीम में इसे जगह नहीं मिली है, लेकिन जहां कहीं भी संस्कृत पुराने ढंग से पढ़ाई जाती है, वहां यह पाठ्य-क्रम का एक ख़ास अंग है। दर्शन के अध्ययन के लिए इसे महज़ एक लाज़मी तैयारी के तौर पर न समझा जाता था, बल्कि यह ख़याल किया जाता था कि हर एक पढ़े-लिखे आदमी के लिए इसका जानना ज़रूरी है। हिंदुस्तानी तालीम की पुरानी व्यवस्था में इसकी कम-से-कम उतनी ही महत्त्वपूर्ण जगह है जितनी कि यूरोपीय शिक्षा में अरस्तू के तर्क-शास्त्र की।

इसका तरीक़ा अलबत्ता इस ज़माने के वैज्ञानिक ढंग की वस्तुगत या अनात्म जांच से जुदा था। फिर भी वह अपने ढंग से आलोचनात्मक और शास्त्रीय था, और ऐसा था कि उसमें धर्म का सहारा लेने के बजाय ज्ञान के विषयों की जांच की तर्क पूर्ण ढंग से, और क़दम-क़दम करके, कोशिश की गई है। इसके पीछे कुछ धर्म ज़रूर रहा है, कुछ मान्यताएं रही हैं जिनके बारे में तर्क कर सकना मुमकिन न था। लेकिन उन मान्यताओं को क़ुबूल करके, इस दर्शन का ढांचा ऐसी ही बुनियादों पर खड़ा किया गया है। यह मान लिया गया था कि ज़िंदगी और प्रकृति में एक तारतम्य और एकता है। व्यक्तिगत ईश्वर में भी विश्वास है, इसी तरह व्यक्तिगत आत्माओं और परमाणुगत सृष्टि में। व्यक्ति न शरीर है और न आत्मा, बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है। वास्तविकता को आत्माओं और प्रकृति का जटिल मिश्रण माना गया है।

वैशेषिक दर्शन बहुत-सी बातों में न्याय से मिलता-जुलता है। यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर जोर देता है और इस सिद्धांत को पेश करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है। इसमें विश्व को धर्म के आधार पर संचालित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर पूरे दर्शन की रचना की गई है। ईश्वर के अनुमान को साफ़-साफ़ स्वीकार नहीं किया गया है। न्याय और वैशेषिक और शुरू के बौद्ध दर्शन में बहुत-सी मिलती हुई बातें हैं। कुल मिलाकर उनका नज़रिया यथार्थवादी है।

सांख्य दर्शन, जिसके बारे में कहा जाता है कि कपिल (लगभग सातवीं

सदी, ई० पू०) ने इसे बहुत-सी क़दीम और बुद्ध से पहले की विचार-धाराओं के तत्वों के सहारे गढ़ा था, बड़े मार्के का है। रिचर्ड गार्बे के अनुसार : "दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें इंसानी दिमाग़ की पूरी आज़ादी और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कहीं मिलती है तो वह कपिल के सिद्धांत में।"

बौद्ध धर्म के उदय के बाद सांख्य एक बड़ा सुगठित दर्शन बन गया। जो सिद्धांत इसमें बताया गया है, वह वस्तु जगत् के पदार्थों की जांच के आधार पर नहीं बना है बल्कि आदमी के दिमाग़ से उपजी हुई, पूरे तार पर फ़िलसफ़ियाना और आधिभौतिक कल्पना है। दर-अस्ल जो चीजें अपनी पहुँच से परे हैं उनकी इस तरह जांच मुमकिन भी नहीं। बौद्ध धर्म की तरह सांख्य ने भी अपनी जांच-पड़ताल में बुद्धि और तर्क का सहारा लिया और प्रमाणों को छोड़ा, इस तरह उसने बौद्ध धर्म से उसी के मैदान में मोर्चा लिया। इस बुद्धिवादी नज़रिये की वजह से ईश्वर के विचार को अलग कर दिया गया। इस तरह सांख्य में न साकार ईश्वर है और न निराकार, न एकेश्वरवाद है न एकवाद। इसका नज़रिया नास्तिक नज़रिया है और इसने लोकातीत धर्म की बुनियादों को हिला दिया। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है, बल्कि एक सतत विकास हुआ है। वह पुरुष, बल्कि पुरुषों और प्रकृति की आपस की प्रतिक्रिया का नतीजा है, अगर्चे प्रकृति ख़ुद भी शक्ति-रूप है। विकास एक निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन कहलाता है, क्योंकि इसका आधार दो आदि कारणों पर है, एक तो प्रकृति है, जो कि बराबर काम करती रहने वाली और परिवर्तनशील शक्ति है, और दूसरा पुरुष है, जो चेतन है और कभी बदलता नहीं। चेतन रूप पुरुषों या आत्माओं की अनगिनित संख्या है। पुरुष स्वयं स्थिर है लेकिन उसके प्रभाव में प्रकृति विकास करती है, और एक बराबर पूर्णता को प्राप्त करने वाली दुनिया का रूप लेती है। कार्य कारण का संबंध माना गया है, लेकिन कहा यह गया है कि कार्य कारण में ही निहित है। कार्य और कारण इस तरह से एक ही वस्तु के विकसित और अविकसित रूप हैं। हमारे अमली नज़रिये से, अलबत्ता कार्य और कारण जुदा-जुदा और एक दूसरे से मुख्तलिफ़ हैं, लेकिन बुनियादी तौर पर दोनों एक हैं।

इस तरह तर्क चलता है, और यह दिखाता है कि किस तरह से अव्यक्त प्रकृति या शक्ति, पुरुष या चेतन के प्रभाव में और हेतुवाद के सिद्धांत के अनुसार, इतना जटिल और विविध रूप धारण कर लेती है और बराबर बदलती और विकास करती रहती है। विश्व के ऊँचे-से-ऊँचे और नीचे-से-नीचे प्राणी के बीच में एक सिलसिला और एकता है सारी कल्पना आधिभौतिक है,

और कुछ अनुमानों के आधार पर जो विवेचन पेश किया गया है वह लंबा, जटिल और तर्कपूर्ण है ।

पातंजलि का योग दर्शन ख़ास तौर पर शरीर और मन के संयम का एक तरीक़ा है जिससे कि मानसिक और रूहानी शिक्षा मिलती है । पातंजलि ने न सिर्फ़ इस पुराने दर्शन को एक संगठित रूप दिया बल्कि पाणिनि के संस्कृत व्याकरण पर भी उन्होंने भाष्य लिखा । यह टीका, जो कि महाभाष्य के नाम से मशहूर है, उतनी ही प्रामाणिक मानी जाती है जितना कि पाणिनि का ग्रंथ । लेनिनग्राड के प्रोफ़ेसर शेरवात्सकी ने लिखा है कि "हिंदुस्तान की आदर्श वैज्ञानिक कृति पाणिनि का व्याकरण और पातंजलि का महाभाष्य है ।"[1]

योग शब्द अब यूरोप और अमरीका में खूब चल गया है, अगर्चे इसे बहुत कम लोग ठीक-ठीक समझते हैं; और इसका संबंध विचित्र क्रियाओं से जोड़ा जाता है, ख़ास तौर पर बुद्ध के समान आसन लगाकर बैठने से और अपनी नाभि या नाक की नोक की तरफ़ ध्यान लगाकर देखने से ।[2] पच्छिम में, कुछ लोग शरीर के कुछ करतबों को सीखकर अपने को इस विषय का अधिकारी समझने लगते हैं और विश्वासी या अद्भुत चीज़ों की तलाश में रहने वालों को ठगते हैं या उन पर रौब जमाते हैं । यह दर्शन शरीर के कुछ करतबों तक सीमित नहीं है बल्कि इसका आधार यह मनोवैज्ञानिक ख़याल है कि मन की ठीक-ठीक शिक्षा हो तो एक ऊँचे ढंग की चेतना पैदा हो जाती है। इस तरीक़े का मक़सद यह है कि आदमी खुद चीज़ों की जानकारी हासिल करे, यह नहीं कि यथार्थता या विश्व के बारे में किसी पूर्व-कल्पित आधिभौतिक सिद्धांत को क़ुबूल कर ले । इस तरह से यह एक प्रयोगात्मक पद्धति है और इसे चलाने के सबसे अच्छे ढंग बयान किए गए हैं । और इसलिए इसे कोई भी फ़िलसफ़ा ग्रहण कर सकता है, उसका नज़रिया चाहे जैसा हो । मिसाल के लिए सांख्य दर्शन जो कि नास्तिक है इसके तरीक़ों को व्यवहार में ला सकता है । बौद्ध धर्म ने यौगिक शिक्षा के एक नये ही रूप का विकास किया, जो कि इससे कुछ मिलता था और कुछ जुदा था । इसलिए पातंजलि के योग दर्शन के सिद्धांत वाले अंश मुक़ाबले में कम महत्त्व के हैं; जिस चीज़ का महत्त्व है वह

---

१ यह निश्चय नहीं हो पाया है कि वैयाकरण पातंजलि और 'योग सूत्र' के रचने वाले पातंजलि एक ही हैं कि दो हैं । वैयाकरण की तिथि तो निश्चित रूप से मालूम है कि ईसा से कब्ल की दूसरी सदी है । कुछ लोगों की राय है कि 'योग सूत्र' का रचयिता दूसरा ही है, जो कि दो-तीन सौ साल बाद हुआ ह ।

२ योग शब्द का अर्थ है 'मेल' । शायद यह उसी धातु से निकला है जिससे कि अंग्रेजी शब्द 'योक' निकला है ।

हैं उसकी क्रियायें। ईश्वर की सत्ता में विश्वास इस दर्शन का अंग नहीं है, लेकिन इस बात का सुझाव दिया गया जान पड़ता है कि साकार ईश्वर में विश्वास और उसकी भक्ति मन को स्थिर करने में मददगार होती है, इसलिए इसका एक अमली मक़सद है।

ऐसा ख़याल किया जाता है कि आगे चलकर योग की साधना करने वाले को एक अंतर्दृष्टि हासिल हो जाती है, या परमानंद की स्थिति प्राप्त हो जाती है जिस तरह की स्थिति का सूफ़ी लोग भी बयान करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि यह मन की कोई ऊंची स्थिति है जिससे कि विशेष ज्ञान के दरवाज़े खुल जाते हैं, या महज़ एक आत्म-मोह की हालत है। अगर इनमें से पहली बात मुमकिन है तो दूसरी भी यक़ीनी तौर पर पैदा होती है, और इसे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि योग की क्रिया में कोई व्यतिक्रम हुआ तो उसके बड़े विषम नतीजे होते हैं, जहां तक कि दिमाग़ का ताल्लुक़ है।

लेकिन ध्यान और मनन की इन आख़िरी सीढ़ियों तक पहुँचने से पहले शरीर और मन के संयम की ज़रूरत है। शरीर ठीक और स्वस्थ लचीला और सुंदर, दृढ़ और मज़बूत होना चाहिए। बहुतेरी जिस्मानी कसरतें बताई गई हैं, और सांस लेने के तरीक़े भी, जिनसे कि उन पर बस हासिल हो सके और आदमी आमतौर पर गहरी और लंबी सांसें लेने का आदी हो जाय। इनके लिए 'कसरतें' लफ्ज़ इस्तैमाल करना ठीक नहीं, क्योंकि इनमें ज़ोर मे हरकतें नहीं होतीं। वह तो एक तरह के आसन या बैठने के तरीक़े हैं, और अगर इन्हीं को ठीक-ठीक किया गया तो यह शरीर को आराम देते हैं और तरो-ताज़ा कर देते हैं, उसे बिलकुल थकाते नहीं। शरीर को चुस्त रखने का यह ख़ास हिंदुस्तानी तरीक़ा सचमुच बड़े मार्के का है, अगर हम इसका दूसरे आम तरीक़ों से मुक़ाबला करते हैं जिनमें कि उछल-कूद रहती है और जिसको तरह-तरह से झटके दिए जाते है, यहां तक कि आदमी थककर रह जाता है और हांफ जाता है। यह दूसरे तरीक़े भी हिंदुस्तान में रायज रहे हैं, और कुश्ती, तैराकी, घुड़सवारी, बनेटी, तीरंदाजी, गदा-मुगदर, जि-जित्सू के ढंग की चीज़, और बहुत से और खेल और दिल-बहलाव के तरीक़े रहे हैं। लेकिन आसन का तरीक़ा शायद हिंदुस्तान के लिए अपना और उसके फ़िलसफ़े के अनुकूल है। इसमें एक ख़ास सम-तौल है, और शरीर की कसरत कराते हुए भी इसमें एक अविचलित शांति है। इससे शक्ति को ख़र्च किए बग़ैर आदमी ताक़त और चुस्ती हासिल कर लेता है, और इसी वजह से आसन सभी उम्र के लोगों के लिए ठीक हैं, यहां तक कि इसे बुड्ढे लोग भी कर सकते हैं।

ये आसन बहुत तरह के हैं। इधर कई बरसों से, जब-जब मुझे मौक़ा

मिला है, मैं इनमें से कुछ सीधे-सादे और चुने हुए आसनों का प्रयोग करता रहा हूँ। इसमें शक नहीं कि शरीर और मन के लिए जैसी प्रतिकूल हालतों में मुझे अक्सर रहना पड़ा है, उसमें इनसे मुझे बड़ा फ़ायदा हासिल हुआ है। योग का अभ्यास मेरा इन्हीं तक और कुछ प्राणायाम की विधियों तक महदूद रहा है। मैं कुछ इब्तिदाई जिस्मानी हालतों से आगे नहीं बढ़ सका हूँ और मेरा मन अब भी क़ाबू में नहीं आया है और शरीर का एक असंयत अंग बना हुआ है।

शरीर के संयम के साथ-साथ (जिसमें उचित खान-पान करना और अनुचित खान-पान से बचना शामिल है), जिसे कि योग दर्शन में नैतिक प्रवृत्ति कहा है, वह भी ज़रूरी है। इसके अंदर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि आते हैं। अहिंसा के माने शारीरिक बल-प्रयोग से बचना ही नहीं है, बल्कि मन को घृणा और बुग़्ज़ से बचाए रखना भी है।

यह ख़याल किया जाता है कि इन सबसे इंद्रियों पर काबू पाया जाता है; इसके बाद मनन और ध्यान आते हैं और अंत में वह गहरी एकाग्रता या समाधि की अवस्था आती है जिससे अनेक प्रकार की अंतर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

विवेकानंद ने, जो कि योग और वेदांत के, इस ज़माने के सबसे बड़े हामियों में हुए हैं, योग के प्रयोगात्मक पहलू पर बार-बार ज़ोर दिया है और उसे विवेक पर आधारित किया है। "इन योगों में से कोई भी विवेक का पल्ला नहीं छोड़ता, कोई यह नहीं कहता कि तुम अपनी विवेक-बुद्धि किसी भी तरह के पुरोहितों के हाथ में सिपुर्द कर दो...इनमें से हर एक यह बताता था कि तुम अपने विवेक को मज़बूती से पकड़े रहो।" अगर्चे योग और वेदांत का भाव विज्ञान के भाव के अनुकूल है, फिर भी यह सच है कि दोनों के माध्यम जुदा-जुदा हैं, और इसलिए उनमें गहरे भेद आजाते है। योग के बमूजिब चेतना बुद्धि तक महदूद नहीं, और "विचार कर्म है और केवल कर्म के कारण विचार का मूल्य है।" प्रेरणा और अंतर्दृष्टि को स्वीकार किया गया है, लेकिन क्या यह भुलावे में हमें नहीं डाल सकतीं? विवेकानंद कहते हैं कि प्रेरणा को बुद्धि के ख़िलाफ़ नहीं होना चाहिए "जिसे हम प्रेरणा कहते हैं वह विवेक का ही विकास है, अंतर्दृष्टि तक पहुँचाने वाला रास्ता विवेक का ही रास्ता है...सच्ची प्रेरणा कभी विवेक के ख़िलाफ़ नहीं जाती। जहां वह ख़िलाफ़ जाती है वहां वह सच्ची प्रेरणा ही नहीं है।" यह भी कहते हैं: "प्रेरणा लोक-कल्याण के लिए हर एक के लाभ के लिए होनी चाहिए; नाम और शोहरत और किसी निजी फ़ायदे के लिए नहीं। इसे हमेशा दुनिया के भले के लिए और पूरी तरह से निःस्वार्थ होना चाहिए।"

आगे कहते हैं : "ज्ञान का एक मात्र आधार अनुभव है" जाँच-पड़-ताल के वही तरीक़े, जिन्हें कि हम विज्ञान में और बाहरी ज्ञान के सिलसिले में इस्तैमाल में लाते हैं, मज़हब के मामले में भी इस्तैमाल में आने चाहिएं। "अगर इस तरह की जाँच-पड़ताल का यह नतीजा होता है कि मज़हब नष्ट हो जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह एक फ़िज़ूल-सी चीज़ था और निकम्मा अंध-विश्वास था; और जितनी जल्दी वह खतम हो जाय उतना ही अच्छा है।" "मज़हब इस बात का दावा क्यों करे कि वह विवेक से बँधा नहीं है, यह कोई नहीं जानता...क्योंकि यह कहीं बेहतर है कि आदमी बुद्धि का अनुसरण करते हुए नास्तिक हो जाय, बजाय इसके कि किसी के प्रमाण पर बीस करोड़ देवताओं में अंध-विश्वास रक्खे·· शायद ऐसे पैग़ंबर हुए हैं जिन्होंने इंद्रियों के ज्ञान की सीमा पार कर ली है और जो इससे आगे बढ़ गए हैं। इस बात में हम यक़ीन उसी वक़्त लाएंगे जब हम ऐसा ख़ुद कर सकें; इससे पहले नहीं।" यह कहा जाता है कि विवेक ऐसी दृढ़ चीज़ नहीं है, और इससे अक्सर ग़लतियां हो जाती हैं। अगर विवेक कमज़ोर चीज़ है तो पुरोहितों का एक समूह क्यों ज़्यादा क़ाबिल इतमीनान समझा जाय? विवेकानंद आगे कहते हैं : "मैं अपने विवेक का सहारा लूंगा, क्योंकि बावजूद उसके कमज़ोर होने के उसी के ज़रिए सच तक पहुँचने का मौक़ा हो सकता है।···इसलिए हमें विवेक का अनुसरण करना चाहिए, और उन लोगों से सहानुभूति रखनी चाहिए जो विवेक का अनुसरण करते हुए किसी विश्वास पर नहीं पहुँच सके हैं।" "इस राज योग के मनन के लिए किसी विश्वास या एतक़ाद की जरूरत नहीं। जब तक कि तुम ख़ुद न जान लो किसी चीज़ में यकीन न लाओ।"[1]

विवेकानंद जी विवेक पर बराबर ज़ोर देते रहे और उन्होंने प्रभाव के आधार पर जो किसी चीज़ को मान लेने से इंकार किया उसका कारण यह था कि उनका दिमाग़ की आज़ादी में अटल यक़ीन था; अलावा इसके वह प्रमाण को मान लेने से उठने वाली बुराइयों को अपने मुल्क में देख चुके थे—"क्योंकि मैं एक ऐसे मुल्क में पैदा हुआ था, जहाँ कि लोगों ने प्रमाण की हद कर दी है।" इसलिए उन्होंने पुराने योग और वेदांत दर्शनों की, अपने मत के अनुसार व्याख्या की और इसके वह अधिकारी भी थे। लेकिन उनके पीछे चाहे जितना विवेक और प्रयोग हो, वह एक ऐसे क्षेत्र की बातें हैं, जो कि साधारण आदमी की समझ और पहुंच से बाहर की हैं, और यह क्षेत्र आध्यात्मिक और मनो-वैज्ञानिक है और जिस दुनिया से हम परिचित हैं उससे बिलकुल जुदा है। यह

---

१ विवेकानंद की रचनाओं के ज्यादातर उद्धरण रोम्यां रोलां की पुस्तक 'लाइफ़ अव् विवेकानंद' से लिए गए हैं।

तय है कि इस तरह के प्रयोग और अनुभव सिर्फ़ हिंदुस्तान में ही नहीं हुए हैं, ईसाई रहस्यवादियों, ईरानी सूफ़ियों और औरों की रचनाओं में इसके पूरे-पूरे सबूत मिलते हैं। यह अनुभव एक-दूसरे से कितने मिलते-जुलते हैं यह देखकर अचरज होता है। रोम्यां रोलां के शब्दों में, उनसे यह जाहिर होता है कि "मज़हबी अनुभव की बड़ी घटनाएं सब जगह और सब काल में मिलती हैं, जाति और काल के अलग-अलग पहनावे को हटा दिया जाय तो यह आपस में समान दिखने वाली हैं, और इनसे यह पता चलता है कि इंसान की भावना में बराबर एकता है—बल्कि यह भावना से भी ज़्यादा गहराई में जाने वाली चीज़ है, जिसकी तलाश में यह भावना ख़ुद रहती है – मनुष्य मात्र को निर्माण करने वाला तत्त्व ही एक है।

तब फिर योग एक ऐसी प्रयोगात्मक पद्धति है जो कि व्यक्ति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को टटोलती है और इस तरह कुछ चेतना और मन की रोक-थाम का विकसित करती है। आजकल का मनोविज्ञान इससे कहां तक लाभ उठा सकता है, मैं नहीं कह सकता; लेकिन ऐसा करने का कुछ प्रयत्न होना अच्छा है। अरविंद घोष ने योग की परिभाषा इस तरह की है: "सारा राज-योग इस चेतना और अनुभव पर निर्भर करता है कि हमारे भीतरी तत्त्व, उनके मेल-जोल, कृत्य, शक्तियां, इन सबको अलग-अलग और छिन्न-भिन्न किया जा सकता है और फिर उनमें एक नया संयोग पैदा किया जा सकता है और उनसे ऐसे नए काम लिए जा सकते हैं जो कि उनके लिए पहले मुमकिन न होते, या उन्हें बदलकर निश्चित भीतरी क्रियाओं से एक नए आम समन्वय का रूप दिया जा सकता है।"

इसके बाद दूसरा दर्शन है मीमांसा। यह कर्म-कांड संबंधी है और इसमें बहुदेववाद की तरफ़ झुकाव मिलता है। इस ज़माने के आम हिंदू धर्म और हिंदू विधान पर इस सिद्धांत और उसके नियमों का बड़ा असर रहा है। यह नियम बताते हैं कि धर्म क्या है और उनके अनुसार उचित आचार कैसा होना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुओं का बहुदेववाद एक विचित्र ही ढंग का है, क्योंकि देव लोग, उनमें चाहे जैसी विशेष शक्तियां हों, मनुष्य से नीची योनि के जीव माने गए हैं। हिंदुओं और बौद्धों दोनों ही का विश्वास है कि मनुष्य जन्म आत्म-सिद्धि के रास्ते में जीव के लिए सबसे ऊँची अवस्था है। देव लोग भी यह स्वतंत्रता और सिद्धि तभी हासिल कर सकते हैं जब कि वह आदमी का जन्म लें। साधारण बहुदेववाद की कल्पना से यह बहुत दूर की स्थिति है। बौद्धों का कहना है कि सिर्फ़ मनुष्य बुद्धत्व के परम पद को प्राप्त कर सकता है।

इस सिलसिले का छठा और आख़िरी दर्शन वेदांत है, जिसकी शुरु-

ग्रात उपनिषदों से होती है ग्रौर जो विकसित होकर ग्रनेक रूप ग्रहण करता है, लेकिन जिसका ग्राधार हमेशा विश्व की ग्रद्वैत कल्पना में रहा है। सांख्य में जिस पुरुष ग्रौर प्रकृति का बयान है उसे वेदांत ग्रलग-ग्रलग तत्त्व नहीं समझता, बल्कि यह समझता है कि यह एक ही सत्ता, परम पुरुष, के विभाव हैं। पुराने वेदांत के ग्राधार पर शंकर (या शंकराचार्य) ने ग्रद्वैत वेदांत का निर्माण किया। यही वह दर्शन है जो कि ग्राज के हिंदू धर्म के ग्राम नज़रिये की नुमाइंदगी करता है।

इसका ग्राधार विशुद्ध ग्रद्वैतवाद है; ग्राधिभौतिक अर्थ में ग्राखिरी सत्ता ग्रात्मन् या परब्रह्म है। वही सद्रूप है; ग्रौर जो कुछ भी है वह दृश्यमान है। पर ब्रह्म किस तरह सब चीज़ों में व्याप्त है; किस तरह से एक ग्रनेक रूप में भासमान है ग्रौर ग्रखंड भी है, क्योंकि परब्रह्म ग्रखंड ग्रौर ऐसा है जिस के टुकड़े नहीं किए जा सकते, यह सब तर्क द्वारा समझ में नहीं ग्रा सकता, क्योंकि हमारा दिमाग़ वस्तु-जगत् से सीमित ग्रौर महदूद है। उपनिषद् ने इस ग्रात्मन् का बयान इस तरह किया है (ग्रगर हम इसे बयान कह सकते हैं) "वह पूर्ण है, यह (भी) पूर्ण है; पूर्ण-से-पूर्ण ग्राता है; पूर्ण-को-पूर्ण से लो (फिर भी) पूर्ण बच रहता है।"

शंकर ने ज्ञान के एक जटिल ग्रौर सूक्ष्म सिद्धांत का निर्माण किया है ग्रौर कुछ ग्रनुमानों के ग्राधार पर, तर्क द्वारा एक-एक पग बढ़ते हुए ग्रद्वैतवाद का पूरा ढाँचा पेश किया है। व्यक्तिगत ग्रात्मा की ग्रलग सत्ता नहीं है, बल्कि वह परमात्मा ही है जिसने कि ग्रपने को कुछ रूपों में सीमित कर लिया है। इसकी उपमा घड़े के भीतर के ग्राकाश से दी गई है, ग्रात्मन् व्यापक ग्राकाश है। ग्रमल में हम उन दोनों को ग्रलग-ग्रलग मान सकते हैं लेकिन यह भेद केवल देखने का भेद है, सच्चा भेद नहीं है। इस एकता के, यानी व्यक्तिगत ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा की एकता के ग्रनुभव में ही मुक्ति है।

इस तरह से हम जिस वस्तु-जगत् को ग्रपने चारों ग्रोर देखते हैं वह उस सत्ता का सिर्फ़ एक प्रतिबिंब है; या ग्रनुभव के स्तर पर उसकी छाया है। इसे माया कहा गया है जिसका अंग्रेज़ी में 'इल्यूज़न' शब्द द्वारा ग़लत ग्रनुवाद किया गया है। लेकिन यह ग्रसत् नहीं है। यह सत् ग्रौर ग्रसत् के बीच का एक रूप है। यह एक प्रकार की सापेक्ष स्थिति है, इसलिए शायद सापेक्षवाद की कल्पना हमें माया के ग्रर्थ के ज्यादा निकट लाती है। फिर इस दुनिया में भलाई ग्रौर बुराई क्या है ? क्या यह भी सिर्फ़ प्रतिबिंब है ग्रौर इनमें सार नहीं है ? ग्राखिरी विश्लेषण में वह चाहे जो ठहरें, हमारी इस ग्रनुभव की दुनिया में इन नैतिक भेदों में एक वास्तविकता ग्रौर महत्त्व है। जहां व्यक्ति व्यक्ति की तरह पेश ग्राते हैं वहां यह भेद संगत हो जाते हैं।

यह सीमित व्यक्ति असीम को बिना सीमित किए उसकी कल्पना नहीं कर सकते; वह महज़ महदूद और वस्तुगत रूप में कल्पना कर सकते हैं। लेकिन यह सामित रूप और कल्पनाएं भी अंत में असीम और परब्रह्म में ही आश्रय लेती हैं। इसलिए धर्म का रूप एक सापेक्ष बात हो जाती है और हर एक आदमी अपनी शक्ति के अनुसार कल्पना करने के लिए आज़ाद है।

शंकर ने, वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद पर ब्राह्मणों के ज़रिये बनी समाजी ज़िंदगी को क़बूल किया और उसी को क़ौम के मिले-जुले अनुभव और अक़्ल की नुमाइंदगी करने वाला समझा। लेकिन उन्होंने बताया कि किसी भी जात का कोई भी आदमी सब से ऊँचा ज्ञान हासिल कर सकता है।

शंकर के फ़िलसफ़े और उनके रुख में दुनिया से इंकार करने का और आत्मा की मुक्ति के लिए, जो उनकी नज़र में आदमी का परम ध्येय है साधारण प्रवृत्तियों से बचने का भाव है। त्याग और वैराग्य पर भी बराबर ज़ोर दिया गया है।

फिर भी शंकर एक अद्‌भुत शक्ति के और बड़े काम करने वाले व्यक्ति थे। वह गुफ़ा में जाकर बैठ जाने वाले या जंगल के एक कोने में एकांतवास करते हुए अपनी व्यक्तिगत पूर्णता की साधना करने वाले और दूसरों को क्या होता है इससे लापरवाह आदमी नहीं थे। उनका जन्म दक्खिन हिंदुस्तान के मलाबार प्रदेश में हुआ था, और उन्होंने सारे हिंदुस्तान में निरंतर यात्रा की थी और अनगिनित लोगों से वह मिले थे; उनसे तर्क और वाद-विवाद किया था, और उन्हें क़ायल किया था और उन्हें अपने उत्साह और जीवनी-शक्ति का एक अंश दिया था। ज़ाहिर है कि वह ऐसे आदमी थे जो अपना एक खास ध्येय समझते थे, जो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारे हिंदुस्तान को अपना कार्य-क्षेत्र मानते थे, और उसमें एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव करते थे और यह समझते थे कि बाहरी रूप चाहे जितने भिन्न हों, वह एक ही भाव से भरा हुआ है। हिंदुस्तान में उनके ज़माने में विचार की जो जुदा-जुदा धारायें बह रही थीं, उनमें एक समन्वय पैदा करने की उन्होंने पूरी कोशिश की, और इस बात की कोशिश की कि विविधता के बीच से एकता पैदा करें। बत्तीस साल की छोटी-सी ज़िंदगी में उन्होंने जो काम कर दिखाया वह ऐसा था कि कई लंबी ज़िंदगियों में दूसरा न कर पाता, और उन्होंने अपने ज़बर्दस्त दिमाग़ और संपन्न व्यक्तित्व की ऐसी छाप हिंदुस्तान पर डाली कि वह आज तक बनी हुई है। उनमें फ़िलसूफ़ और विद्वान् का, जड़वादी और रहस्यवादी का, कवि और संत का, और इन सबके अलावा एक अमली सुधारक और क़ाबिल संगठनकर्ता का एक अजीब मेल-जोल था। ब्राह्मण धर्म के अंतर्गत उन्होंने पहली बार दस पंथ बनाए और इनमें से चार अब भी खूब चल रहे

हैं। उन्होंने चार बड़े मठ क़ायम किये जो हिंदुस्तान के क़रीब-क़रीब चार छोरों पर हैं। इनमें से एक मैसूर में श्रृंगेरी में था; एक पूर्वी समुद्र तट पर पुरी में, तीसरा काठियावाड़ में पच्छिमी समुद्र तट पर द्वारका में; और चौथा बीच हिमालय में बद्रीनाथ में। बत्तीस वर्ष की उम्र में, दक्खिन के गर्म प्रदेश का यह ब्राह्मण, केदारनाथ में, ऊँचे हिमालय के बर्फ़ से ढके प्रदेश में, परलोक सिधारा।

शंकर की इन लंबी यात्राओं का, उस ज़माने में जब कि आना-जाना मुश्किल होता था, और सवारी के साधन धीमें और आदिम थे, एक ख़ास महत्त्व है। इन यात्राओं की कल्पना ही, और सब जगह अपने जैसे विचार वालों से मिलना-जुलना, और सारे हिंदुस्तान के पंडितों की भाषा संस्कृत में उनसे बात-चीत करना, हमारे सामने इतने पुराने समय के हिंदुस्तान में एकता का चित्र ले आते हैं। उस ज़माने में या उससे भी और पहले ऐसी यात्राएं ग़ैर मामूली न रही होंगी; बावजूद राजनीतिक विभाजनों के, लोगों की बराबर आमद-रफ़्त होती थी, नई किताबें भी फैलती थीं, हर एक नया विचार, नया सिद्धान्त, सारे देश में बड़ी तेज़ी से फैल जाता था, और लोग उन पर दिल-चस्पी से बात-चीत ही नहीं करते थे बल्कि उन्हें लेकर गर्म वाद-विवाद भी होते थे। पढ़े-लिखे लोगों का ही एक आम सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर नहीं था, बल्कि साधारण लोग भी बराबर अनेक तीर्थों की यात्रा किया करते थे जो कि सारे देश में फैले हुए थे और जो कि पौराणिक काल से ही मशहूर भी थे। इस सब आमद-रफ़्त और लोगों के आपस में मिलने-जुलने ने एक सबके मुल्क और आम संस्कृति के ख़याल को ज़रूर पुख़्ता किया होगा। यह यात्रायें ऊँचे वर्ग के लोगों तक महदूद न थीं; यात्रियों में सभी वर्ग के आदमी और औरतें होती थीं। लोगों के मन में इन यात्राओं का जो भी धार्मिक महत्त्व रहा हो, आज की तरह उस ज़माने में भी इसे छुट्टी का अवसर और आनन्द मनाने और मुल्क के जुदा-जुदा हिस्सों को देखने का मौक़ा समझा जाता था। हर एक तीर्थ के मुक़ाम पर हिंदुस्तान के सभी जगह और स्तर के लोगों को देखा जा सकता था, जिनके कि रीति-रिवाज, पहनावे और बोलियाँ जुदा-जुदा थीं; लेकिन फिर भी जिनमें इस बात की चेतना थी कि उनमें कुछ समान बाते हैं, कुछ आपस के बंधन हैं जो कि उन्हें एक ही जगह खींचकर ले आए हैं। उत्तर और दक्खिन हिंदुस्तान की बिलकुल जुदा भाषायें भी आपस के मेल-जोल में बहुत ज़्यादा बाधक न हो पाती थीं।

यह सब बातें उस समय थीं, और यक़ीनी तौर पर शंकर इन्हें पूरी तरह से जानते थे। ऐसा जान पड़ता है कि शंकर इस क़ौमी एकता और समान चेतना के भाव को और भी बढ़ाना चाहते थे। दिमाग़ी, फ़िलसफ़ियाना और

धार्मिक स्तर पर उन्होंने सारे देश में ज़्यादा एकता पैदा करने की कोशिश की। आम लोगों के स्तर पर भी उन्होंने बहुत कुछ किया, उन्होंने बहुत-सी रूढ़ियों को तोड़ा और अपने दार्शनिक विचारों के मंदिर के दरवाजों को उन सभी के लिए खोल दिया जो कि उसमें आने की क़ाबलियत रखते थे। अपने चार बड़े मठों को हिंदुस्तान के उत्तर, दक्खिन, पूरब और पच्छिम के कोनों में क़ायम करके, यह ज़ाहिर है कि वह संस्कृति के ख़याल से मिले-जुले हिंदुस्तान की कल्पना को बढ़ावा देना चाहते थे। यह चारों जगहें कुछ अंशों में पहले भी तीर्थ के मुक़ाम रही हैं, और अब तो और भी ज़्यादा होगई हैं।

क़दीम हिंदुस्तानी अपने तीर्थ के मुक़ामों का कैसा अच्छा चुनाव किया करते थे! क़रीब-क़रीब हमेशा, यह रमणीक स्थल हुआ करते थे और उनके आस-पास प्रकृति की छबि देखने को मिलती थी। काश्मीर में अमरनाथ की बर्फ़ीली गुफ़ा है; दक्खिनी हिंदुस्तान के बिलकुल छोर पर रामेश्वरम् के पास कन्याकुमारी का मंदिर है। फिर काशी है, और हरिद्वार है, जो कि हिमालय के तले पर है और जहाँ से गंगा, टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी घाटियों को पार करके मैदानी प्रदेश में आती है। और प्रयाग है जहाँ कि गंगा और यमुना का संगम होता है; और मथुरा और वृंदाबन है, जो कि जमुना-तट पर हैं, जिनके गिर्द कृष्ण की कथायें जुड़ी हुई हैं; और बुद्ध गया है जहां कि बताया जाता है कि बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था और दक्खिन हिंदुस्तान में अनेक जगहें हैं। बहुत-से पुराने मंदिरों में, ख़ास तौर पर दक्खिन में मशहूर मूर्तियां बनी हुई हैं और दूसरे कलात्मक अवशेष हैं। इस तरह से बहुत से तीर्थों की यात्रा करने से पुरानी हिंदुस्तानी कला की झाँकी मिल जाती है।

कहा जाता है कि शंकर ने हिंदुस्तान में व्यापक धर्म के रूप में बौद्ध मत का अंत करने में मदद दी, और उसके बाद ब्राह्मण धर्म ने उसे भाई की तरह गले लगाकर अपने में जज़्ब कर लिया। लेकिन शंकर के ज़माने से पहले भी हिंदुस्तान में बौद्ध धर्म सिमट रहा था। शंकर के कुछ विरोधी ब्राह्मण उन्हें छिपा हुआ बौद्ध बताते थे। यह बात सही है कि बौद्ध धर्म का उन पर गहरा असर पड़ा था।

१५ : हिंदुस्तान और चीन

यह बौद्ध धर्म था, जिसके ज़ोर से हिंदुस्तान और चीन एक दूसरे के नज़दीक आए और जिसके ज़रिये उन्होंने बहुत से संपर्क क़ायम कर लिए। अशोक के पहले दोनों के बीच संपर्क थे या नहीं इसकी हमें जानकारी नहीं है; शायद समुद्र के रास्ते से कुछ व्यापार होता था, क्योंकि चीन से रेशमी माल यहां आता था। लेकिन ख़ुश्की के रास्ते भी संपर्क रहे होंगे और बहुत पहले

ज़माने में लोग आते रहे होंगे, क्योंकि हिंदुस्तान के पूर्वी छोर के प्रदेश में मंगोली सूरत-शकल के लोग आम तौर पर मिलते हैं। नैपाल में यह बात बहुत ज़ाहिर हो जाती है। असम (पुराने कामरूप) में और बंगाल में यह अक्सर देखी जाती है। लेकिन जहां तक इतिहास की बात है, अशोक के धर्म-प्रचारकों ने रास्ता खोला, और ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध धर्म फैला त्यों-त्यों वहां से यात्रियों और विद्वानों का लगातार आना शुरू हुआ और यह हिंदुस्तान और चीन के बीच एक हज़ार बरस तक आते-जाते रहे। वह गोबी रेगिस्तान पार करके, मध्य एशिया के पहाड़ों और मैदानों को तै करते हुए और हिमालय के ऊपर से अपनी लम्बी, कठिन और भयानक यात्रा करते थे। बहुत से हिंदुस्तानी और चीनी रास्ते में मर गए, और एक बयान तो यह है कि ९० फ़ीसदी यात्री मर गए। बहुत से जो कि अपनी यात्रा पूरी कर सके वह फिर जहां गए वहीं बस गए और वापिस नहीं लौटे। एक दूसरा रास्ता भी था, जो कि मुक़ाबले में कुछ ज्यादा महफ़ूज़ न था, पर छोटा ज़रूर था। यह रास्ता समुद्री था और हिंदी-चीन, जावा, सुमात्रा, मलय और निकोबार टापुओं से होकर जाने वाला था। इससे भी लोग अक्सर जाते थे और कभी-कभी यात्री ख़ुश्की के रास्ते से चलकर समुद्री रास्ते से अपने देश को लौटा करते थे। बौद्ध धर्म और हिंदुस्तानी संस्कृति सारे मध्य एशिया में और इंदोनेशिया के हिस्सों में फैल गई थी, और बहुत से मठ और विद्यालय इस सारे विस्तृत प्रदेश में जगह-जगह बने हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान और चीन के यात्रियों का समुद्र और ख़ुश्की के इन मार्गों में सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हें ठहरने की जगह मिल जाती थी। कभी-कभी चीन से आने वाले विद्वान् इंदोनेशिया के किसी हिंदुस्तानी उपनिवेश में कुछ महीनों तक ठहरकर संस्कृत सीखते और फिर यहां आते थे।

पहले हिंदुस्तानी विद्वान् जिनके चीन जाने का बयान मिलता है वह काश्यप मातंग थे। यह सन् ६७ ई० में, सम्राट मिङ्-ती के राज्य-काल में, शायद उन्हीं के बुलावे पर चीन गए थे। 'लो' नदी के तट पर लो-यंग नाम की जगह पर यह बस गए थे। उनके साथ धर्मरक्षक गए थे और बाद के सालों में जो प्रसिद्ध विद्वान् गए उनमें बुद्धिभद्र, जिनभद्र, कुमारजीव, परमार्थ, जिनगुप्त और बोधिधर्म थे। इनमें हर एक अपने साथ भिक्खुओं या चेलों को ले गया था। यह कहा जाता है कि एक वक्त (छठी सदी ईस्वी) तीन हज़ार से ज्यादा बौद्ध भिक्खु और दस हज़ार हिंदुस्तानी परिवार सिर्फ लो-यंग के सूबे में ही थे।

यह हिंदुस्तानी विद्वान् जो कि चीन गए, न महज़ अपने साथ संस्कृत के हाथ के लिखे ग्रन्थ ले गए, जिनका कि उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया, बल्कि उन्होंने चीनी भाषा में मौलिक पुस्तकें भी रचीं। उन्होंने चीनी

साहित्य की वृद्धि में खा़सा हिस्सा लिया और चीनी में कवितायें भी लिखीं। कुमारजीव जो कि ४०१ ईस्वी में चीन गया था बड़ा लिखने वाला था और उसकी लिखी ४७ किताबें तो इस वक्त मिलती हैं। उसकी चीनी लिखने की शैली बहुत अच्छी कही जाती है। उसने मशहूर हिंदुस्तानी विद्वान् नागार्जुन की जीवनी का चीनी में अनुवाद किया। जिनगुप्त चीन छठी सदी ईस्वी के दूसरे हिस्से में गया। उसने संस्कृत के ३७ ग्रन्थों का चीनी में तर्जुमा किया। उसके ज्ञान का इतना आदर था कि तंग-वंश के एक सम्राट् ने उससे दीक्षा ली और उसका चेला बन गया।

चीन और हिंदुस्तान के बीच विद्वानों का आना-जाना, दोनों ही होता था, और बहुत से चीनी विद्वान् भी यहां आये। इनमें से सबसे मशहूर जिन्होंने अपनी यात्राओं के बयान लिख छोड़े हैं, वह हैं फ़ा-ह्यान, (या फ़ांसियां) सुंग-युन, ह्वेन-त्सांग या (च्यान च्वांग) और इत्सिंग (या यि-त्सिंग)। फ़ाह्यान हिंदुस्तान में पाँचवी सदी में आया, वह चीन में कुमारजीव का चेला था। हिंदुस्तान के लिए चलने से पहले जब फ़ाह्यान अपने गुरु से विदा होने के लिए गया तब कुमारजीव ने उससे जो कुछ कहा उसका मनोरंजक बयान किया जाता है। कुमारजीव ने उससे कहा कि धार्मिक ज्ञान हासिल करने में ही अपना सारा वक्त न बिताना, बल्कि हिंदुस्तान के लोगों के रहन-सहन और आचार को भी अच्छी तरह समझने की कोशिश करना, जिसमें कि चीन वाले उन्हें अच्छी तरह समझ सकें। फ़ाह्यान ने पाटलिपुत्र के विद्यालय में शिक्षा हासिल की थी।

चीनी यात्रियों में सब से मशहूर ह्वेन-त्सांग था, जो कि यहां सातवीं सदी में आया था जब कि चीन में महान् तंग वंश का राज्य चल रहा था और उत्तरी हिंदुस्तान में एक साम्राज्य का शासक हर्षवर्धन था। ह्वेन-त्सांग खुश्की के रास्ते, गोबी रेगिस्तान को पार करके, तुर्फ़ान और कूचा, ताशकंद और समरकंद, बलख़, खुतन और यारकंद होता हुआ हिमालय को लांघकर हिंदुस्तान में आया था। वह अपने बहुत से साहसी कामों का बयान करता है, और उन संकटों का, जिन्हें उसे झेलना पड़ा, साथ ही वह मध्य एशिया के बौद्ध शासकों और मठों, और उन तुर्कों का जो कि कट्टर बौद्ध थे, हाल लिखता है। हिंदुस्तान में आकर वह सारे देश में घूमा, सभी जगह उसका आदर और आवभगत हुई, और उसने यहां की जगहों और लोगों के बारे में आंखों देखा हाल लिखा, और कुछ मनोरंजक और अजीब सुनी-सुनाई कहानियां भी लिखीं। उसने नालंदा विश्वविद्यालय में, जो कि पाटलिपुत्र के पास था और जो कि अपने बहुमुखी ज्ञान के लिए मशहूर था और जहां देश के दूर-दूर हिस्सों के विद्यार्थी आते थे, कई साल बिताए। कहा जाता है कि यहां १०,००० विद्यार्थी और भिक्खु रहा करते थे। ह्वेन-त्सांग ने यहाँ न्याय के आचार्य की उपाधि ली और

बाद में विश्वविद्यालय का उपप्रधान बन गया।

ह्वेन-त्सांग की किताब, 'सि-यू-की', यानी पच्छिमी राज्य (तात्पर्य हिंदुस्तान से है) पढ़ने में बड़ी रोचक है। ह्वेन-त्सांग एक बहुत बड़े सभ्य और तरक्क़ीयाफ्ता मुल्क से उस ज़माने में आया था जब कि चीन की राजधानी सि-आन्-फ़ू कला और ज्ञान का मरकज़ थी, इसलिए उसकी टिप्पणियां और हिंदुस्तान की दशा के बयान बड़े क़ीमती हैं। वह यहां की शिक्षा-व्यवस्था का हाल लिखता है, जिसके अंतर्गत बहुत छोटेपन में विद्यारंभ होकर क्रमशः विद्यार्थी विश्वविद्यालय के दर्जे तक पहुंचता था और वहां पांच विषयों में शिक्षा दी जाती थी : (१) व्याकरण; (२) कला-कौशल; (३) औषध; (४) तर्क, और (५) दर्शन। हिंदुस्तान के लोगों के विद्या-प्रेम का उसने ख़ास तौर पर असर लिया था। एक तरह की प्रारंभिक शिक्षा यहां व्यापक-रूप में मिलती है और सभी भिक्खु और पुरोहित शिक्षक हुआ करते थे। लोगों के बारे में वह लिखता है : "साधारण लोग, अगर्चे वह स्वभाव से ख़ुशमिज़ाज हैं, फिर भी सच्चे और ईमानदार हैं। रुपये-पैसे के मामलों में उनमें मक्कारी नहीं है, और न्याय करने के विषय में उनमें बहुत सोच-विचार मिलता है...अपने व्यवहार में वह कपटी या धोखेबाज़ नहीं हैं, और अपने वादों और क़सम के पाबंद हैं। उनके हुकूमत के क़ायदों में अद्भुत ईमानदारी है, और उनके व्यवहार में बड़ी मिठास और भलमनसाहत है। जहाँ तक विद्रोहियों या अपराधियों का मामला है, यह बहुत कम देखने में आते हैं, और कभी-कभी ही उपद्रव करते हैं।" आगे चलकर वह लिखता है : "चूंकि शासन-व्यवस्था की नींव उदार सिद्धांतों पर खड़ी है, इसलिए कार्यकारिणी सभा बहुत सादी है...लोगों से बेगार नहीं ली जाती...इस तरह लोगों पर हलके कर लगे हुए हैं...रोज़गार में लगे हुए व्यापारी अपने धंधों की ख़ातिर आते-जाते रहते हैं।"

ह्वेन-त्सांग जिस रास्ते से आया था उसी रास्ते वापस गया, यानी मध्य एशिया से होते हुए, और वह अपने साथ बहुत-सी हाथ की लिखी पोथियां ले गया। उसके वृत्तांत से यह साफ़ पता चलता है कि बौद्ध धर्म का ख़ुरासान, इराक़, मोसुल और ठीक सीरिया के सरहद तक कितना असर था। फिर भी यह वह ज़माना था जब कि वहां बौद्ध धर्म का ह्रास शुरू हो गया था, और इस्लाम, जिसकी शुरुआत अरब में हो गई था, वहां सब जगह शीघ्र ही फैलने वाला था। ईरानी लोगों के बारे में ह्वेन-त्सांग यह दिलचस्प बात कहता है : "वह विद्या की परवाह नहीं करते, बल्कि अपने को पूरी तरह कला की वस्तुओं में लगाते हैं। जो कुछ भी वहां तैयार होता है, उसकी पड़ोस के मुल्कों में बड़ी क़द्र होती है।"

ईरान ने तब, और उसके पहले और बाद में भी, ज़िंदगी की खूबसूरती और शान को बढ़ाने में मदद देने पर ध्यान दिया था, और उसका असर एशिया में दूर-दूर तक फैला था। गोबी रेगिस्तान के किनारे के छोटे-से राज्य तुर्फ़ान के बारे में ह्वेन-त्सांग ने हमें बताया है, और हाल में पुरातत्त्वविदों के उद्योग से हमें उसके बारे में और भी बातें मालूम हुई हैं। कितनी संस्कृतियां आईं और आपस में मिलीं-जुलीं और मिल-जुलकर एक हुईं, जिससे कि एक बड़ा क़ीमती मिश्रण पैदा हुआ; यह अपनी प्रेरणा चीन और हिंदुस्तान, और ईरान और यूनानी आधारों तक से हासिल करता था। भाषा भारतीय-यूरोपियन थी और हिंदुस्तान और ईरान से ली गई थी, और यूरोप की केल्टिक भाषा से कुछ अंशों में मिलती-जुलती थी; मजहब हिंदुस्तान से लिया गया; ज़िंदगी के रहन-सहन के तरीक़े चीनी थे; बहुत-से कलात्मक सामान ईरान से आए हुए थे। बुद्धों और देवी-देवताओं की मूर्तियां और दीवाल पर बने हुए चित्र जो बड़ी सुंदरता से बने थे ऐसे थे कि उनका पहनावा तो हिंदुस्तानी था, और सिर की पोशाक यूनानियों जैसी थी। मुशेर ग्रूसे ने कहा है कि "यह देवियां हिंदू कोमलता, यूनानी प्रगल्भता और चीनी आकर्षण के सबसे अच्छे मेल की नुमाइंदगी करती हैं।"

ह्वेन-त्सांग अपने देश को वापस गया तो वहां उसका सम्राट् ने और और आम लोगों ने स्वागत किया। वह अपनी पुस्तक लिखने और बहुत-सी पोथियां जो वह अपने साथ ले गया था उनके अनुवाद के धंधे में लगा। जब बहुत साल पहले वह यात्रा के लिए निकल रहा था तब, यह कथा कही जाती है कि तंग-वंशी सम्राट् ने पानी में एक मुट्ठी धूल डालकर उसे देते हुए कहा था : "अच्छा हो कि तुम यह प्याला पी लो। हमें क्या यह नहीं बताया गया है कि अपने देश की एक मुट्ठी धूल मनों विदेशी सोने से बढ़कर है ?"

ह्वेन-त्सांग की हिंदुस्तान की यात्रा, और चीन और हिंदुस्तान में जो उसे आदर प्राप्त हुआ, उसका नतीजा यह हुआ कि दोनों देशों में राजनीतिक संपर्क क़ायम हुए। कन्नौज के हर्षवर्धन और तंग सम्राट् के बीच राजदूतों की अदला-बदली हुई। ह्वेन-त्सांग ने खुद हिंदुस्तान से अपना लगाव क़ायम रक्खा। वह यहां के मित्रों के पास खत भेजा करता था, और यहां से हाथ की लिखी पोथियां मंगाया करता था। दो मनोरंजक पत्र, जो कि शुरू में संस्कृत में लिखे गए थे, चीन में सुरक्षित हैं। इनमें से एक ६४५ ई० में हिंदुस्तानी बौद्ध विद्वान् स्थविर प्रज्ञादेव ने ह्वेन-त्सांग को लिखा था। अभिवादन और आपस के मित्रों के कुशल समाचार और अपनी साहित्यिक कृतियों की बातचीत के बाद वह लिखता है : "हम तुम्हें एक जोड़ा सफ़ेद वस्त्र का भेज रहे हैं जिससे कि यह प्रकट हो कि हम तुम्हें भूले नहीं हैं। रास्ता लंबा है। इसलिए इस बात का

ध्यान न करना कि भेंट तुच्छ है। हम चाहते हैं कि तुम इसे स्वीकार करो। जिन सूत्रों और शास्त्रों की तुम्हें ज़रूरत हो उनकी सूची भेजना। हम उनकी नक़ल करके तुम्हारे पास भेज देंगे।" ह्वेन-त्सांग अपने जवाब में लिखता है : "मुझे हिंदुस्तान से लौटे हुए एक राजदूत से मालूम हुआ कि महान् गुरु शील-भद्र अब नहीं रहे। इस समाचार से मुझे जो दुःख हुआ उसकी हद नहीं...उन सूत्रों और शास्त्रों में से जो मैं, ह्वेन-त्सांग, लाया था, मैंने योगाचार्य भूमिशास्त्र और दूसरे ग्रंथों का, कुल तीस ग्रंथों का, अनुवाद कर लिया है। मैं विनय पूर्वक तुम्हें सूचित करना चाहूंगा कि सिंधु नदी पार करते हुए मैंने पवित्र ग्रंथों का एक गट्ठर खो दिया। इस पत्र के साथ अब मैं मूल पाठों की एक सूची भेज रहा हूं। मैं प्रार्थना करूँगा कि अवसर मिले तो इन्हें मेरे पास भेजना। कुछ छोटी-मोटी चीज़ें भेंट के तौर पर भेज रहा हूं। कृपा कर इन्हें स्वीकार करना।"[१]

ह्वेन-त्सांग ने हमें नालंदा विद्यापीठ का बहुत कुछ हाल बताया है और उसके बारे में और भी बयान मिलते हैं। लेकिन जब मैं, कुछ साल हुए, वहां गया और मैंने नालंदा के खुदे हुए खंडहर देखे तो जिस बड़े पैमाने पर उसकी रचना हुई थी, उसे देखकर मैं अचरज में रह गया। अभी उसके सिर्फ़ एक हिस्से की खुदाई हुई है, और बाकी हिस्सों पर बस्तियां बसी हुई हैं, लेकिन जिस हिस्से का खुदाई हुई है, उसमें बड़े-बड़े आंगन हैं जिसके चारों तरफ़ किसी वक़्त पत्थर की विशाल इमारतें बनी हुई थीं।

चीन में ह्वेन-त्सांग की मृत्यु के जल्द बाद ही, एक दूसरा मशहूर चीनी यात्री—इत्सिग (या यि-त्सिग) हिंदुस्तान में आया। वह ६७१ ई० में रवाना हुआ, और उसे हिंदुस्तान के बंदरगाह ताम्रलिप्ति तक पहुंचने में क़रीब-क़रीब दो साल लगे। यह बंदरगाह हुगली नदी के दाहिने दहाने पर है। क्योंकि वह समुद्र के रास्ते आया और कई महीने तक वह श्री भोग (सुमात्रा में आधुनिक पालेमबैंग) में संस्कृत सीखने के लिए ठहरा। समुद्र के रास्ते उसकी यात्रा का एक महत्त्व है, क्योंकि यह संभव है कि मध्य एशिया की स्थिति उस वक़्त हलचल की थी और राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। मुमकिन है कि बहुत से मैत्री भाव रखने वाले बौद्ध मठ, जो कि रास्ते में बिखरे हुए थे, अब न रह गए हों। यह भी मुमकिन है कि हिंदुस्तानी उपनिवेशों के इंदोनेशिया में तरक़्क़ी पाने की वजह से और हिंदुस्तान और इन देशों के बीच व्यापार के व और दूसरे संपर्कों के कारण समुद्री रास्ता ज्यादा सहूलियत का हो गया हो। उसके व और

---

१ डाक्टर पी० सी० बागची की पुस्तक 'इंडिया एंड चाइना' (कलकत्ता १९४४) में उद्धृत।

वृत्तांतों से पता चलता है कि फ़ारस (ईरान), हिंदुस्तान, मलय, सुमात्रा, और चीन के बीच नियमित रूप से जहाज़ आया-जाया करते थे। इत्सिंग क्वानतुंग से एक फ़ारसी जहाज़ पर सवार होकर पहले सुमात्रा गया था।

इत्सिंग ने भी नालंदा विद्यापीठ में बहुत दिनों तक विद्या सीखी और यह अपने साथ कई सौ संस्कृत ग्रंथ ले गया। उसकी ख़ास दिलचस्पी बौद्ध कर्म-कांड और आचार की बारीकियों में थी, और इनके बारे में उसने विस्तार से लिखा है। लेकिन वह रीति-रिवाजों, कपड़ों और खाने-पीने के बारे में भी बहुत कुछ कहता है। अब की तरह उस ज़माने में भी गेहूँ उत्तरी हिंदुस्तान का मुख्य भोजन था और पूरब और दक्खिन में चावल चलता था। मांस भी कभी-कभी खाया जाता था, लेकिन यह कम ही होता था। (इत्सिंग संभवतः बौद्ध भिक्खुओं की बात बता रहा है, औरों की नहीं)। घी, तेल, दूध, मलाई सब जगह मिलती थीं, और मिठाइयों और फलों की इफ़रात थी। आचार-विचार की शुद्धता पर हिंदुस्तानी जो महत्त्व देते थे उसका इत्सिंग ने बयान किया है। "अब पहला और ख़ास फ़र्क़ जो पाँच प्रांतों के देश हिंदुस्तान और दूसरी क़ौमों में है वह पवित्रता और अपवित्रता में किया जाने वाला बड़ा भेद है।" वह यह भी लिखता है: "भोजन के बाद जो कुछ बच रहे उसका रख छोड़ना, जैसा कि चीन में चलता है, हिंदुस्तान के नियमों के अनुकूल नहीं है।"

इत्सिंग हिंदुस्तान का हवाला आम तौर पर पच्छिम (सि-फ़ंग) करके देता है, लेकिन वह कहता है कि यह आर्य देश के नाम से मशहूर है: "आर्य देश; आर्य माने उत्तम और देश माने प्रदेश, उत्तम प्रदेश, जो कि 'पच्छिम' का नाम है। इसका नाम ऐसा इसलिए पड़ा कि वहां उत्तम चरित्र के लोग बराबर उत्पन्न होते रहे हैं, और सभी लोग इस नाम से देश की प्रशंसा करते हैं। यह मध्य देश भी कहलाता है, यानी बीच का देश, क्योंकि यह सैकड़ों हज़ारों देशों के बीच में है। लोग सब इस नाम से परिचित हैं। उत्तरी जातियां (हू या मंगोल या तुर्क) ही इस उत्तम देश को 'हिंदू' (सिन्-तु) कहती हैं, लेकिन यह नाम हरगिज़ आम नहीं है। यह केवल देशी नाम है और इसका कोई ख़ास महत्त्व नहीं है। हिंदुस्तान के लोग इस नाम को नहीं जानते, और हिंदुस्तान के लिए सबसे उचित नाम 'आर्य देश' है।"

इत्सिंग का 'हिंदू' का हवाला मनोरंजक है। वह आगे कहता है: "कुछ लोग कहते हैं कि इंदु के मानी चंद्रमा के होते हैं और हिंदुस्तान का चीनी नाम यानी इंदु (यिन्-तु) इसी से निकला है; इसके यह अर्थ हो सकते हैं लेकिन यह नाम आम नहीं है। जहां तक महान् चाउ (चीन) का हिंदुस्तानी नाम, यानी चीना है, यह महज़ एक नाम है, इसका कोई महत्त्व नहीं।" वह कोरिया

और और देशों के संस्कृत नामों का भी बयान करता है।

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान की बहुत-सी चीज़ों के लिए आदर का भाव रखते हुए भी इत्सिंग ने साफ बताया है कि वह पहला स्थान अपनी जन्मभूमि चीन को देता है। हिंदुस्तान आर्य देश हो सकता है, लेकिन चीन देव भूमि है। "हिंदुस्तान के पाँच प्रांतों के लोगों को अपनी पवित्रता और उत्तमता का गर्व है। लेकिन ऊँचे क़िस्म की लताफ़त, साहित्यक उत्कृष्टता, शिष्टता, मर्यादा, आवभगत और रुख़सत की रस्में, भोजन का स्वाद, नीति और उदारता की शालीनता चीन में ही मिलती है, और कोई मुल्क चीन से इन बातों में बढ़ नहीं सकता।" "सुई से छेदकर और जलाकर रोग अच्छा करने की क्रिया में, नब्ज़ देखने की कला में, हिंदुस्तान के किसी हिस्से से चीन पिछड़ा नहीं है; और ज़िंदगी को बढ़ाने की औषध तो सिर्फ़ चीन में मिलती है...मनुष्यों के चरित्र और चीज़ों के गुणों के कारण चीन देवभूमि कहलाया है। क्या हिंदुस्तान के पांचों प्रांतों में कोई व्यक्ति है जो कि चीन की तारीफ़ नहीं करता?"

चीन-सम्राट् के लिए पुरानी संस्कृत में जिस शब्द का इस्तैमाल हुआ है वह है 'देव पुत्र' और यह ठीक उसी आशय के चीनी शब्द का अनुवाद है।

इत्सिंग, जो कि संस्कृत का ख़ास विद्वान् था, इस भाषा की तारीफ़ करता है और बताता है कि उत्तर और दक्खिन के दूर-दूर देशों में इसका आदर होता था..."तब तो देव भूमि (चीन) और स्वर्गिक भंडार (हिंदुस्तान) के लोगों को भाषा के सच्चे नियमों की और भी शिक्षा देनी चाहिए।"[1] चीन में संस्कृत का काफ़ी अध्ययन होता रहा होगा। यह बात मनोरंजक है कि कुछ चीनी विद्वानों ने संस्कृत के ध्वनि के नियमों को चीनी भाषा में चलाना चाहा। इसकी एक मशहूर मिसाल शाउ-वेन का भिक्खु था जो कि तंग-वंश के ज़माने में हुआ था। इसी ढंग की एक वर्णमाला उसने चीन में चलाने की कोशिश की।

हिंदुस्तान में बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ-साथ हिंदुस्तान और चीन के बीच विद्वानों का आना-जाना क़रीब-क़रीब बंद हो गया, अगर्चे चीनी यात्री हिंदुस्तान की बौद्ध धर्म की पवित्र जगहों के दर्शन के लिए फिर भी कभी-कभी आते रहते थे। ग्यारहवीं सदी और उसके बाद जो राजनैतिक क्रांतियां हुई, उस ज़माने में बौद्ध भिक्खुओं के ठट्ठ-के-ठट्ठ, पोथियों की गठरियां बाँधे हुए नेपाल चले गए, या हिमालय पार करके तिब्बत पहुँच गए। इस तरह से और पहले भी पुराने हिंदुस्तानी साहित्य का बहुत-सा हिस्सा चीन और तिब्बत पहुँच गया,

---

१ यह उद्धरण जे० ताकाकुसु के अनुवाद से लिए गए हैं, जो उसने इत्सिंग के ग्रंथ का किया है। यह 'एरेकर्ड अव् दि बुद्धिस्ट रेलिजन ऐज़ प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐंड दि मलय आर्किपेलेगो' (आक्सफर्ड १८९६) है।

और हाल के वर्षों में उनका फिर से पता चला है, जो कि या तो मूल में ही मौजूद हैं, या ज्यादातर अनुवाद के रूप में। बहुत से पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथ, चानी या तिब्बती तर्जुमे की शक्ल में सुरक्षित हैं और यह महज़ बौद्धधर्म के बारे में नहीं हैं, बल्कि ब्राह्मण धर्म, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि विषय के भी हैं। चीन के सुंग-पाओ संग्रह में ऐसे ८००० ग्रंथ मौजूद बताए जाते हैं। तिब्बत ऐसे ग्रंथों से भरा हुआ है। अक्सर हिंदुस्तानी, चीनी और तिब्बती विद्वान् मिलकर काम किया करते थे। इस सहयोग की एक खास मिसाल बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का वह संस्कृत-तिब्बती-चीनी कोष है जो कि नवीं या दसवीं ईस्वी में तैयार हुआ था, और जिसका नाम 'महा व्युत्पत्ति' है।

चीन की सबसे पुरानी छपी हुई किताबों में, जो आठवीं सदी ईस्वी तक की है, संस्कृत के ग्रंथ भी हैं। यह लकड़ी के ठप्पों से छपे हुए हैं।

दसवीं सदी में, चीन में, छापे के विशेषज्ञों का एक शाही संगठन बना और उसके फल-स्वरूप ठीक सुंग ज़माने तक, छपाई की कला ने तेज़ी से तरक्क़ी की। यह एक अचरज की बात है, और इसका ठीक-ठीक कारण नहीं समझ में आता कि बावजूद चीनी और हिंदुस्तानी विद्वानों के बीच इतना घना संबंध होने के, और सैकड़ों साल तक आपस में पुस्तकों का अदला-बदला होते रहने के, इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते कि हिंदुस्तान में उस ज़माने में पुस्तकों की छपाई होती थी। ठप्पे से छापने का चलन चीन से तिब्बत में किसी शुरू ज़माने में पहुँचा, और मेरा खयाल है कि यह वहाँ अब भी क़ायम है। चीनी छपाई का पहला परिचय यूरोप को मंगोल या य्वानवंश के ज़माने (१२६०-१३६८) में हुआ। पहले यह जर्मनी तक महदूद रहा, बाद में पंद्रहवीं सदी में यह और देशों में फैला।

हिंदुस्तान के भारतीय-अफ़ग़ान और मुग़ल ज़मानों में भी हिंदुस्तान और चीन के बीच जब-तब राजनीतिक संबंध रहे हैं। दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक (१३२६-५१) ने अरब यात्री इब्न बतूता को, चीनी दरबार में राजदूत बनाकर भेजा था। बंगाल ने उस ज़माने में सुल्तान की हुकूमत से अलग होकर अपनी आज़ाद रियासत क़ायम कर ली थी। चौदहवीं सदी के बीच के ज़माने में, चीनी दरबार की तरफ़ से बंगाल के सुल्तान के यहाँ हु-शीन और फ़िन-शीन नाम के दो राजदूत भेजे गए थे। इसका नतीजा यह हुआ कि सुल्तान ग़यासुद्दीन के राज्य-काल में बंगाल से चीन कई राजदूत लगातार भेजे गए। यह चीन के मिंग बादशाहों का ज़माना था। बाद के एक एलची के साथ, जिसे कि सईदुद्दीन ने १४१४ ई० में भेजा था, और क़ीमती तोहफ़ों के साथ एक ज़िंदा जिराफ़ भी भेजा गया था। जिराफ़ हिंदुस्तान में कैसे पहुँचा यह एक रहस्य की बात है। शायद यह अफ्रीका से भेंट की शक्ल में आया हो और, इस खयाल से कि

यह अजीब चीज है और इसलिए पसंद की जायगी इसे मिंग बादशाह के पास भेजा गया। दर असल चीन में इसकी बड़ी क़द्र हुई क्योंकि कन्फ्यूसियस के अनुयायी जिराफ़ को एक पवित्र प्रतीक मानते हैं। इसमें शक नहीं कि यह जानवर जिराफ ही था, क्योंकि इसके वर्णनों के साथ-साथ चीनी रेशमी कपड़े पर इसकी एक तस्वीर भी मिलती है। जिस दरबारी चित्रकार ने इसकी तस्वीर बनाई है उसने इसका लंबा हाल भी लिखा है, जिसमें बताया गया है कि यह जानवर बहुत शुभ है। "मंत्री लोग और आम जनता इसे देखने क लिए जमा हुए और उसे देखकर बहुत ही खुश हुए।"

चीन और हिंदुस्तान के बीच जो व्यापार बौद्ध ज़माने में ज़ोर से चल रहा था वह भारतीय-अफ़ग़ान और मुग़ल ज़माने में भी जारी रहा और बहुत-सी चीज़ों का अदला-बदला होता रहा। यह माल उत्तरी हिमालय के दर्रों से होकर मध्य एशिया के कारवानी रास्ते से जाता था। समुद्र के रास्ते भी अच्छा खासा व्यापार होता था, जो कि दक्खिन पूर्वी एशिया के टापुओं से होता हुआ, खासतौर पर दक्खिनी हिंदुस्तान के बंदरगाहों तक पहुंचता था।

चीन और हिंदुस्तान के बीच होने वाली तीन हज़ार बल्कि इससे ज्यादा सालों की राह-रस्म में दोनों मुल्कों ने एक दूसरे से कुछ हासिल किया, न महज़ विचार और फ़िलसफ़े के मैदान में, बल्कि ज़िंदगी की कलाओं और विज्ञान में भी। शायद चीन पर हिंदुस्तान का जितना असर पड़ा उतना हिंदुस्तान पर चीन का नहीं पड़ा, और यह अफ़सोस की बात है, क्योंकि हिंदुस्तान चीन का कुछ व्यावहारिक ज्ञान सीखकर उससे लाभ उठा सकता था और अपनी दिमाग़ी उड़ानों को कुछ क़ाबू में रख सकता था। चीन ने हिंदुस्तान से बहुत कुछ लिया, लेकिन उसमें हमेशा ऐसी शक्ति और आत्म-विश्वास रहे हैं कि जो कुछ वह लेगा वह अपने ढंग से और उसको अपने यहां की ज़िंदगी के ताने-बाने में कहीं ठीक-ठीक बिठा लेगा।[1] बौद्ध धर्म और उसका पेचीदा फ़िलसफ़ा भी कन्फ्यूसियस और लाओत्सी का रंग लिए बग़ैर न रह पाया। बौद्ध धर्म के किंचित् निराशावादी नज़रिये ने चीनियों के ज़िंदगी के प्रति प्रेम और उमंग को दबाया नहीं। एक पुरानी चीनी कहावत है: "अगर सरकार तुम्हें पकड पावेगी तो कोड़ों से तुम्हारी जान ले लेगी; अगर बौद्ध तुम्हें पकड़ पावेंगे तो वह तुम्हें भूखों मार डालेंगे।"

सोलहवीं सदी का एक मशहूर चीनी उपन्यास है—'बंदर' जो वूचेन-ऐन की रचना है (इसका अंग्रेज़ी तर्जुमा 'मंकी' नाम से आर्थर वेले ने किया है)

---

[1] चीनी नव-जागृति के आंदोलन के नेता प्रोफ़ेसर हु-शीह ने चीन के हिंदुस्तानी रंग में ढलने का पुराना हाल लिखा है।

जिसमें हिंदुस्तान की यात्रा में ह्वेन-त्सांग पर बीती घटनाओं का कल्पित और बढ़ा-चढ़ा बयान है। इस किताब के आखिर में हिंदुस्तान के लिए एक समर्पण है "मैं इस किताब को बुद्ध की पवित्र भूमि को समर्पित करता हूं। प्रार्थना है कि अपने संरक्षक और गुरु की दया का यह ऋण चुकावे और भटके हुओं और पतितों के कष्टों को कम करे ···।"

एक-दूसरे से कई सदियों तक कटे रहकर, भाग्य के अजीब फेर से हिंदुस्तान और चीन, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के असर में आए। हिंदुस्तान को इसे बहुत दिनों तक बर्दाश्त करना पड़ा; चीन में यह संपर्क बहुत थोड़े दिनों का था, फिर भी वहां इसका नतीजा यह हुआ कि वहां अफ़ीम पहुंची और युद्ध पहुंचा।

और अब भाग्य का चक्र पूरा फिर चुका है, और फिर से हिंदुस्तान और चीन एक दूसरे की तरफ़ देखने लगे हैं और उनके दिमागों में पुरानी यादें उठ रही हैं। फिर एक दूसरे ही तरह के यात्री बीच के पहाड़ों को पार करके या उन पर से उड़ करके, सद्भावना के संदेश लाने लगे हैं, जिससे कि मैत्री के मजबूत बंधन क़ायम होंगे।

१६ : दक्खिन पूर्वी एशिया में हिंदुस्तानी उपनिवेश और सभ्यता

हिंदुस्तान को जानने और समझने के लिए यह जरूरी है कि आदमी दूर देश और काल में यात्रा करे और कुछ देर के लिए उसकी मौजूदा हालत, उसके सब दुख-दर्द, उसकी संकीर्णता और उसकी भयानक दशा को भूल जाय, और वह क्या था और उसने क्या किया, इन बातों की झांकी ले। रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा था : "मेरे देश को जानने के लिए आदमी को उस युग की यात्रा करनी पड़ेगी, जब कि उसने आत्म-ज्ञान हासिल किया था और इस तरह अपनी भौतिक सीमाओं को लांघ गया था; जब कि उसने अपना रूप एक ऐसी ज्वलत उदारता द्वारा प्रकट किया था जिसने कि सारे पूर्वी क्षितिज को आलोकित कर दिया था, और विदेशी तटों के निवासी एक अचम्भित ज़िंदगी में जगकर उसे अपना समझ सके थे; न कि अब, जब वह गुमनामी के तंग घेरे में सिमिट-कर आगया है, जब कि उसे अलहदगी का दैन्य गर्व है, जब कि उसका चिंतन दरिद्र होकर अपने ही गिर्द, गुज़रे हुए ज़माने को दुहराते हुए चक्कर काट रहा है, ऐसे गुजरे हुए ज़माने के गिर्द जिसने अपनी रोशनी खो दी है, और जिसके पास भविष्य के यात्रियों के लिए कोई संदेश नहीं है।"

हमें गुज़रे हुए ज़माने को ही सामने लाने की ज़रूरत नहीं बल्कि एशिया के उन अनेकों देशों का, शरीर से नहीं तो कल्पना में ही, यात्रा करने

की ज़रूरत है, जहां कि बहुत तरह से हिंदुस्तान ने अपना विस्तार किया था और जहाँ कि उसने अपनी भावना, अपनी शक्ति और अपने सौन्दर्य-प्रेम की अमर छाप डाली थी। अपने गुज़रे हुए ज़माने की इन शानदार कृतियों को हममें से कितने कम लोग जानते हैं, कितने कम लोग इसका अनुभव करते हैं कि हिंदुस्तान विचार और फ़िलसफ़े के मैदान में तो बड़ा था ही, काम के मैदान में भी वह उतना ही बड़ा था। हिंदुस्तान के मर्दों और औरतों ने अपने देश से सुदूर जाकर जिस इतिहास का निर्माण किया उसका लिखा जाना अभी बाक़ी है। बहुत से पच्छिम के लोग अब भी यह ख्याल करते हैं कि क़दीम ज़माने का इतिहास मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे के देशों तक खत्म हो जाता है और बीच के ज़माने और मौजूदा ज़माने का इतिहास ज्यादातर उस छोटे झगड़ालू महाद्वीप का इतिहास है जिसे कि यूरोप कहते हैं। और अब भी वह आने वाले ज़माने के लिए इस तरह योजना बनाते हैं जैसे कि यूरोप ही सब कुछ है और और देश कहीं भी बिठाए जा सकते हों।

सर चार्ल्स इलियट ने लिखा है कि, "यूरोप के इतिहासकार हिंदुस्तान के साथ अन्याय करते हैं जब कि वह महज़ उसके आक्रमणकारियों के वृत्तांत लिखते हैं और इस तरह का प्रभाव डालते हैं कि मानों खुद उसके बाशिंदे कमज़ोर, सपना देखने वाले लोग हों और बाक़ी दुनिया से कटे हुए अपने पहाड़ों और समुंदरों से घिरे हुए अलग-थलग रह रहे हों। इस तरह की तसवीर में यह बात भुला दी जाती है कि हिंदुओं ने कैसी-कैसी दिमाग़ी विजय हासिल की है। उनकी राजनीतिक विजयें भी तुच्छ नहीं है, और अगर इस लिहाज से नहीं कि कौन से देशों पर यह हुई हैं, तो दूरी के लिहाज़ से तो ज़रूर ही मार्के की हैं ...लेकिन इस तरह के फ़ौजी या व्यापारी आक्रमण, हिंदुस्तानी विचार के प्रचार के मुक़ाबले में कम भी नहीं हैं।"[1]

जिस वक़्त इलियट ने यह लिखा उस वक़्त शायद वह उन हाल की जानकारियों से परिचित नहीं था जो कि दक्खिन-पूर्वी एशिया के बारे में अब हासिल हुई है और जिन्होंने कि हिंदुस्तान और एशिया के गुज़रे हुए ज़माने के बारे में हमारे ख़यालों में क्रांति पैदा कर दी है। इन खोजों की जानकारी ने उनकी दलील को और भी मज़बूत कर दिया होता, और यह दिखा दिया होता कि विचारों के प्रचार के अलावा भी विदेशों में हिंदुस्तान का कारनामा हरगिज़ तुच्छ नहीं रहा है। मुझे याद है, जब कि मैंने क़रीब पंद्रह साल पहले दक्खिन-पूरबी एशिया के इतिहास का कुछ विस्तार से हाल पढ़ा था, तब मुझे कितना ताज्जुब हुआ था और मैं कितना उत्तेजित हो उठा था। मेरी आंखों के सामने

१ इलियट, "हिंदूइज्म एंड बुद्धिज्म" जिल्द १ पृष्ठ १२

बिलकुल नए नज़्ज़ारे फिर गए थे, इतिहास के नए पहलू दिखाई पड़े थे और हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने की नई कल्पना सामने आई थी, और मुझे अपने सब पुराने विचारों को उनकी रोशनी में फिर से ठीक-ठीक बिठाना पड़ा था। चंपा, कंबोडिया और आङ्कोर, श्री विजय और मजापहित यकायक मानो शून्य के भीतर से साकार होकर मेरे सामने आए थे और उनके साथ एक स्वाभाविक भावना का उद्गार था जो कि अतीत का वर्तमान से स्पर्श कराता है।

उस बड़े योद्धा और विजेता और दूसरे कारनामों वाले शैलेंद्र के बारे में डा० एच० जी० क्वाट्रिश वेल्ड ने लिखा है: "उस बड़े विजेता ने, जिसके कारनामों का मुक़ाबला पच्छिमी इतिहास के सिर्फ़ बड़े-से-बड़े सैनिकों से किया जा सकता है, और जिसका नाम अपने ज़माने में फ़ारस से चीन तक फैला हुआ था, दस या बीस साल के भीतर ही एक विस्तृत समुद्री साम्राज्य क़ायम कर लिया था, जो कि पाँच सदियों तक क़ायम रहा, और जिसने हिंदुस्तानी कला और संस्कृति के अद्भुत विकास को जावा और कंबोडिया में संभव बनाया। लेकिन अपने विश्व-कोषों और इतिहासों में...इस विस्तृत साम्राज्य या उसके महान् संस्थापक का हवाला ढूंढना फ़जूल साबित होगा...यह बात ही कि इस तरह का एक साम्राज्य किसी ज़माने में था, मुट्ठी भर पूर्वी विषयों के जानने वाले विद्वानों के अलावा लोग मुश्किल से जानते हैं।"[1] इन प्राचीन हिंदुस्तानी उपनिवेश क़ायम रखने वालों के फ़ौजी कारनामें महत्त्व के हैं, क्योंकि उनसे हिंदुस्तानी चरित्र और योग्यता के कुछ पहलुओं पर रोशनी पड़ती है जिनका अब तक ठीक-ठीक आदर नहीं किया गया है। लेकिन इससे कहीं अहम बात यह है कि उन लोगों ने अपने उपनिवेशों में एक संपन्न सभ्यता क़ायम की और ऐसी बस्तियाँ बसाईं जो कि एक हज़ार साल से ज़्यादा तक क़ायम रहीं।

पिछली चौथाई सदी के बीच, दक्खिन-पूर्वी एशिया के इस बड़े प्रदेश के इतिहास पर बहुत कुछ रोशनी पड़ी है, और इसे बृहत्तर भारत का नाम दिया गया है। बहुत-सी कड़ियां अब भी नहीं मिलतीं, बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें कही जाती हैं, विद्वान् लोग अब भी एक-दूसरे के ख़िलाफ़ सिद्धांत पेश कर रहे हैं, लेकिन मोटे ढंग से इस इतिहास की रूप-रेखा काफ़ी स्पष्ट है और कभी-कभी तो विस्तार की बातों की भी बहुतायत से जानकारी हासिल होती है। सामग्री की कोई कमी नहीं है, क्योंकि हिंदुस्तानी पुस्तकों में हमें हवाले मिलते हैं, अरब के यात्रियों के बयान हैं, और सबसे महत्त्व की तो चीन से प्राप्त इतिहास की सूचनाएं हैं। बहुत से पुराने शिलालेख, ताम्रपत्र वग़ैरह भी हैं और जावा और बाली में हिंदुस्तानी आधारों पर तैयार किया गया एक संपन्न साहित्य

[1] देखिए 'टुवर्ड्स अङ्कोर' (हैरप : १९३७)

भी हैं, जो अक्सर हिंदुस्तानी महाकाव्यों और पुराण की गाथाओं को दूसरे शब्दों में महज़ दुहरा देता है। यूनानी और लैटिन आधारों से भी कुछ सूचनाएं मिलती हैं, लेकिन सबसे बढ़कर पुरानी इमारतों के विशाल खंडहर हैं जो कि ख़ास तौर पर अङ्कोर और बोरोबुदर में मिलते हैं।[1]

ईस्वी सन् की पहली सदी से आगे, हिंदुस्तानी उपनिवेश बसाने वालों की लहर-पर-लहर पूरब और दक्खिन-पूरब में फैलीं और यह लंका, बर्मा, मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, स्याम, कंबोडिया और इंडोचीन तक फैलीं। इनमें से कुछ तो फ़ारमूसा, फिलिप्पाइन टापुओं और सेलिबीज़ तक पहुँचीं। मैडागास्कर तक की चालू ज़बान इंदोनीशियन है जिसमें कि संस्कृत लफ़्जों की मिलावट है। ऐसा होने में कई सौ साल लगे होंगे और शायद इन सब जगहों में सीधे हिंदुस्तान से लोग न पहुँचे होंगे बल्कि बीच के किसी उपनिवेश से फैले होंगे। पहली सदा ईस्वी से लगभग ९०० ईस्वी तक चार ख़ास लहरें उपनिवेश क़ायम करने वालों की गई हुई जान पड़ता हैं, लेकिन इनके बीच-बीच में पूरब जाने वाले लोगों का एक सिलसिला बना रहा होगा। इन साहसी कारनामों की सबसे मार्के की बात यह थी कि इनका संगठन राज्य द्वारा हुआ जान पड़ता है। दूर-दूर तक फैले हुए उपनिवेश यकायक एक साथ क़ायम होते हैं; और क़रीब-क़रीब हमेशा यह ऐसी जगहों पर क़ायम होते हैं जो कि फ़ौजी दृष्टि से महत्त्व की जगहें हैं या ख़ास यात्रा के मार्ग हैं। इन बस्तियों को जो नाम दिये गए, वह पुराने हिंदुस्तानी नाम हैं। इस तरह वह देश जिसे आज कंबोडिया कहते हैं कंबोज कहलाया, जो कि क़दीम हिंदुस्तान का क़ाबुल की घाटी में, गांधार में एक मशहूर शहर था। इस बात से ही, मोटे ढंग से उपनिवेश के बसाए जाने का समय जाना जा सकता है, क्योंकि उस वक़्त गांधार (अफ़ग़ानिस्तान) आर्य हिंदुस्तान का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा होगा।

समुद्र पार की इन अद्भुत और भयावह विजय-यात्राओं के पीछे कौन-सी प्रेरणा थी? इनका ख़याल या संगठन मुमकिन न था, अगर इनसे पहले, पीढ़ियों और सदियों पहले, कुछ व्यक्ति या छोटे-छोटे तिजारती गिरोह वहाँ जाकर वहाँ से परिचित न हुए होते। सबसे पुरानी संस्कृत किताबों में पूरब के इन देशों के अस्पष्ट हवाले हैं। उनमें आए हुए नामों को आज जगहों से जोड़ सकना आसान नहीं, लेकिन कभी-कभी कोई दिक्क़त भी नहीं होती।

---

१ इस संबंध में डाक्टर आर० सी० मजूमदार की पुस्तक 'एंशेंट इंडियन कालोनीज़ इन दि फ़ार ईस्ट' (कलकत्ता, १९२७) और इन्हीं लेखक की पुस्तक 'स्वर्ण द्वीप' (कलकत्ता, १९३७) देखिए; ग्रेटर इंडिया सोसाइटी (कलकत्ता) के प्रकाशन भी।

जावा साफ़ तौर पर 'यवद्वीप' या 'जौ का टापू' है और यव आज भी एक अन्न विशेष का नाम है। पुराने ग्रंथों में आए हुए और नाम भी आम तौर पर धातु, खनिज, या किसी व्यापार या खेती की पैदावार से ताल्लुक़ रखते हैं। इस नाम-करण से ही व्यापार की तरफ़ ध्यान जाता है। डॉक्टर आर० सी० मजूमदार ने बताया है : "अगर साहित्य आम लोगों के विचारों का ठीक-ठीक दर्पण है, तो ईस्वी सन् के शुरू होने से क़ब्ल और बाद की सदियों में बनिज-व्यापार के लिए बहुत बड़ा उत्साह रहा होगा।" इन सब बातों से पता चलता है कि यहाँ की आर्थिक-व्यवस्था का फैलाव हो रहा था, और दूर-दूर की मंडियों की बराबर खोज हो रही थी।

ईसा से क़ब्ल की तीसरी और दूसरी सदियों में यह व्यापार रफ़्ता-रफ़्ता बढ़ गया था और तब इन व्यवसायियों और व्यापारियों के बाद धर्म-प्रचारकों का जाना शुरू हुआ होगा, क्योंकि यह अशोक से ठीक बाद का ज़माना था। संस्कृत की पुरानी कथाओं में भयावह समुद्र-यात्राओं और जहाज़ों के तबाह होने के बहुत से बयान मिलते हैं। यूनानी और अरब दोनों ही बयानों से पता लगता है कि हिंदुस्तान और सुदूर पूरब के देशों के बीच कम-से-कम पहली सदी ईस्वी तक समुद्र के रास्ते से ख़ूब व्यापार चल गया था। मलय प्राय-द्वीप और इंदोनीशिया के टापू चीन और हिंदुस्तान, फ़ारस, अरब और मेडि-टिरेनियन के यात्रा मार्ग में पड़ते थे। अपने भौगोलिक महत्त्व के अलावा इन देशों में कीमती खनिज, धातु, मसाले और लकड़ियां मिलती थीं। अब की तरह उस जमाने में भी मलय अपनी टीन की खानों के लिए मशहूर था। शायद सब से पहली यात्राएं हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र तट के बराबर-बराबर—कलिंग (उड़ीसा), बंगाल, बर्मा, और फिर नीचे मलय प्रायद्वीप होते हुए हुई थीं। बाद में दक्खिन हिंदुस्तान से सीधे यात्रा-मार्ग क़ायम हो गए थे। इसी रास्ते से हिंदुस्तान में अनेक चीनी यात्री आए थे। फ़ा-ह्यान जावा से पाँचवीं सदी में होकर गुज़रा था और उसने उलाहना दिया है कि अब भी यहां बहुत से विधर्मी बसते हैं; उसका तात्पर्य ब्राह्मणों से था, जो कि बौद्ध धर्म के अनुयायी नहीं बने थे।

यह ज़ाहिर है कि जहाज़ों के बनाने का धंधा क़दीम हिंदुस्तान में अच्छी तरक्की पर था। उस ज़माने में बने हुए जहाज़ों का कुछ ब्यौरेवार हाल हमें मिलता है। बहुत से हिंदुस्तानी बंदरगाहों के नाम मिलते हैं। दूसरी और तीसरी सदी ईस्वी के दक्खिन-हिंदुस्तानी (आंध्र) सिक्कों पर दुहरे पालों वाले जहाज़ की छाप मिलती है। अजंता की दीवार पर बने हुए चित्रों में लंका की विजय दिखाई गई है और हाथी ले जाने वाले जहाज़ बने हैं। वह बड़े राज्य और साम्राज्य जो शुरू के हिंदुस्तानी उपनिवेशों में क़ायम हुए, वह सभी मुख्य रूप

से समुद्री ताकतें थीं, उनकी व्यापार में दिलचस्पी थी और इसलिए समुद्री मार्ग पर उनका अधिकार था। उनकी आपस में समुद्री लड़ाइयां भी होती थीं और कम-से-कम एक बार उन्होंने दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य को चुनौती दी। लेकिन चोल वंशी भी बड़े ताक़तवर थे और उन्होंने समुद्री धावा किया और कुछ काल के लिए शैलेंद्र के साम्राज्य को दबा लिया।

सन् १०८८ ई० का एक दिलचस्प तमिल शिलालेख है जिसमें "पंद्रह सौ के संघ" का बयान है। जाहिरा तौर पर यह व्यापारियों का संघ था, जिसके लोगों को बताया गया है कि "वीर पुरुष थे, जिनका जन्म कृत युग (सतयुग) से ही, जल और थल की राह से, दूर-दूर देशों में जाकर, छहों खंडों को भेद कर, घोड़े, हाथी, मणि-मानिक, फुलेल और औषधियों का थोक और खुदरा व्यापार करने के लिए हुआ था।"

हिंदुस्तानियों की, शुरू के औपनिवेशिक उद्योगों की यह भूमिका व्यापार और साहसी धंधों और विस्तार की प्रेरणा उन्हें इन पूर्वी देशों में ले गई, जिनका कि पुराने संस्कृत ग्रंथों में 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्णद्वीप' के व्यापक शब्द से संकेत किया गया है। इस नाम में ही एक कशिश थी। शुरू के उपनिवेश क़ायम करने वाले पहले बस गए, फिर और बाद में आए, और शांति के साथ बैठने की यह क्रिया जारी रही। हिंदुस्तानियों का उन जातियों से जो कि उन्हें वहां पर मिलीं मेल-जोल हुआ और एक नई मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ। इतना हो चुकने पर ही शायद राजनीतिक वर्ग के लोग, कुछ क्षत्रिय राजकुमार, कुलीन वंशों के सैनिक, साहसी कामों और राज्य-स्थापना के विचार से आए। नामों की समानता की वजह से यह सुझाव दिया गया है कि इन लोगों में से ज़्यादातर हिंदुस्तान में खूब फैली हुई मालव जाति के लोग थे—इसी से मलय जाति हुई, जिसका कि सारे इंदोनीशिया पर इतना अहम असर रहा है। मध्य हिंदुस्तान का एक हिस्सा अब भी मालवा कहलाता है। ऐसा ख़याल किया जाता है कि शुरू के औपनिवेशिक पूर्वी समुद्र तट के कलिंग देश (उड़ीसा) से गए थे, लेकिन यह दक्खिन का पल्लव हिंदू राज्य था जिसने कि उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश की। यह खयाल किया जाता है कि शैलेंद्र वंश, जो कि दक्खिन पूरबी एशिया में इतना मशहूर हुआ उड़ीसा से आया हुआ था। उस ज़माने में उड़ीसा बौद्धों का एक गढ़ था, अगर्चे शासन करने वाला राजवंश ब्रह्मण धर्म का अनुयायी था।

यह सभी हिंदुस्तानी नौ-आबादियां चीन और हिंदुस्तान, इन दो बड़े मुल्कों और दो बड़ी तहज़ीबों के बीच बसी थीं। उनमें से कुछ, जो कि एशिया के बड़े भूखंड पर थीं, तो ऐसी थीं कि उनकी सरहदें चीनी साम्राज्य को छूती थीं, बाक़ी हिंदुस्तान और चीन के खास तिजारती रास्ते में पड़ती थीं।

इस तरह उन पर दोनों देशों का असर पड़ता था और उनमें एक मिली-जुली हिंदुस्तानी और चीनी सभ्यता ने तरक्क़ी की; लेकिन इन दोनों ही सभ्यताओं की प्रकृति ऐसी थी कि आपस के कोई झगड़े नहीं हुए और जुदा-जुदा शकल मिले-जुले नमूने बन चले। महाद्वीपी देशों में बर्मा, स्याम और हिंद-चीन थे और इन पर ज्यादा असर चीन का पड़ा; टापुओं पर और मलय प्रायद्वीप पर हिंदुस्तान की छाप ज्यादा थी। आम तौर पर शासन के तरीक़े और जिंदगी का फ़िलसफ़ा चीन ने दिया, धर्म और कला हिंदुस्तान ने दी। प्रायद्वीपी देश अपने व्यापार के लिए ज्यादातर चीन का सहारा लेते थे, और उनमें आपस में एलचियों का अदल-बदल होता रहता था। लेकिन कंबोडिया तक में, और अङ्कोर के विशाल खंडहरों में कला-संबंधी जो भी प्रभाव पड़ा वह सिर्फ़ हिंदुस्तान का। इसके अलावा और दूसरे असर का पता अब तक नहीं चला है। लेकिन हिंदुस्तानी कला लचीली थी, और ऐसी थी कि उसे हर एक मुल्क अपनी जरूरत के मुताबिक़ ढाल सकता था, और हर एक मुल्क में इसने इस तरह नए-नए फूल खिलाए, अगर्चे बुनियादी छाप वही हिंदुस्तान की बनी रही। सर जान मार्शल ने 'हिंदुस्तानी कला की अद्भुत जीवनी शक्ति रखने वाली और लचीलेपन की विशेषता' का हवाला दिया है, और उन्होंने बताया है कि किस तरह हिंदुस्तानी और यूनानी दोनों ही कलाओं में 'अपने को हर एक संपर्क में आने वाले देश, जाति और धर्म की जरूरतों के मुताबिक ढाल लेने की गुंजायश थी।'

हिंदुस्तानी कला अपनी बुनियादी विशेषता हिंदुस्तान के कुछ धर्म-संबंधी आदर्शों और फ़िलसफियाना नज़रिये से हासिल करती है। जिस तरह कि हिंदुस्तान से इन सभी पूर्वी देशों में धर्म पहुँचा, उसी तरह कला की यह बुनियादी कल्पना भी पहुँची। अनुमान होता है कि शुरू की नौ-आबादियां यक़ीनी तौर पर ब्रह्मण धर्म वालों की थीं और बौद्ध धर्म वहां बाद में फैला। दोनों आपस में मैत्री रखते हुए साथ-साथ चलते थे और मिल-जुली पूजा के रूप आम लोगों में चल निकले थे। यह बौद्ध-धर्म महायानी था जो कि अपने को परिस्थिति के अनुकल आसानी से ढाल लेता था और मुक़ामा रहन-सहन और परंपरा का ऐसा असर हुआ कि ब्रह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म शायद दोनों ही अपने मूल सिद्धांतों की शुद्धता पर क़ायम न रह सके थे। बाद के सालों में एक बौद्ध राज्य और एक ब्राह्मण राज्य के बीच घोर लड़ाइयां हुईं, लेकिन यह दरअस्ल व्यापार और समुद्री यात्रा-मार्ग पर अधिकार पाने के लिए राजनीतिक और आर्थिक लड़ाइयां थीं।

इन हिंदुस्तानी नौ-आबादियों का इतिहास कोई तेरह सौ साल का, बल्कि इससे भी ज्यादा का है। यह पहली या दूसरी सदी ईस्वी से शुरू होकर पंद्रहवीं सदी के अंत तक चलता है। शुरू की सदियों का हाल बहुत साफ़-साफ़

नहीं मालूम है, सिवाय इसके कि बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे। रफ़्ता-रफ़्ता वह आपस में मिल जाते हैं और पाँचवीं सदी के होते-होते बड़े-बड़े शहरों का निर्माण होने लगता है। आठवीं सदी तक ऐसे साम्राज्य बन चुके थे जो कि जहाजरानी किया करते थे और कुछ अंशों में केंद्रीय थे, लेकिन बहुत से देशों पर एक अस्पष्ट ढंग का आधिपत्य भी बनाए हुए थे। कभी-कभी यह मातहत राज्य आज़ाद बन बैठते थे, यहां तक कि केंद्रीय राज्य पर हमले भी कर दिया करते थे, और इस वजह से उन ज़मानों को ठीक-ठीक समझने में कुछ दिक्क़त होती है।

इनमें सबसे बड़ा राज्य शैलेंद्र साम्राज्य था या जिसे श्री विजय का साम्राज्य कहते हैं, और जो कि आठवीं सदी तक सारे मलय एशिया में समुद्री और खुश्की दोनों तरह की ताक़तों के रूप म सबसे ऊपर उठ चुका था। अभी हाल तक यह ख़याल किया जाता था कि इसकी शुरुआत सुमात्रा में हुई थी, और वहीं इसकी राजधानी भी थी लेकिन बाद की खोजों ने साबित कर दिया है कि इसकी शुरुआत मलय प्रायद्वीप में हुई थी। जिस ज़माने में कि इसकी ताक़त चोटी पर पहुंच गई थी उस ज़मानेमें इसके अंदर मलय, लंका, सुमात्रा, जावा का एक हिस्सा, बोर्नियो, सेलिबिस, फ़िलिप्पाइन और फ़ारमूसा का एक हिस्सा था और शायद कंबोडिया और चंपा (अनाम) पर भी इसका आधिपत्य था। यह बौद्ध साम्राज्य था।

लेकिन शैलेंद्र वंश के इस साम्राज्य के क़ायम और मज़बूत करने के बहुत पहले ही मलय, कंबोडिया और जावा में ताक़तवर रियासतें बन चुकी थीं। मलय प्रायद्वीप के उत्तरी हिस्से में स्याम की सरहद के क़रीब जो दूर तक फैले हुए खंडहर हैं, वह आर० जे० विल्किसन के अनुसार ऐसे हैं जिनसे 'बहुत ऊंचे दर्जे की संपन्न और वैभवशाली, बलशाली रियासतों के वहां किसी ज़माने में होने का पता चलता है।' चंपा (अनाम) में तीसरी सदी में पांडुरंगम् नाम का शहर था, और पांचवीं सदी में कंबोज एक बड़ा शहर हो गया था। नवीं सदी में जयवर्धन नाम के एक प्रतापी राजा ने, छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर कंबोडिया का साम्राज्य क़ायम किया था जिसकी कि राजधानी अङ्कोर थी। कंबोडिया बीच-बीच में शैलेंद्र वंश के आधिपत्य में संभवतः आ जाता रहा, लेकिन यह आधिपत्य नाम के लिए था और नवीं सदी में यह स्वतंत्र हो बैठा। यह कंबोडिया का साम्राज्य क़रीब चार सौ साल तक क़ायम रहा और इसमें बहुत बड़े-बड़े शासक और निर्माण करने वाले लोग हुए, जैसे जयवर्मन, यशोवर्मन, इंद्रवर्मन और सूर्यवर्मन। इसकी राजधानी सारे एशिया में मशहूर हो गई, जो 'विशाल अङ्कोर के नाम से जानी जाती था; यहां दस लाख की आबादी थी और यह शहर सीज़र बादशाहों के रोम शहर से बड़ा और ज्यादा विशाल था। शहर के पास ही अङ्कोर वट का विशाल

मंदिर था । कंबोडिया का साम्राज्य तेरहवीं सदी के आखिर तक चलता रहा, और १२९७ में एक चीनी राजदूत वहां गया था, वह राजधानी की दौलत और शान-शौकत का बयान करता है । लेकिन इस साम्राज्य का अचानक अंत हो गया, इतना अचानक कि कुछ इमारतें मुकम्मल होने से रह गईं। बाहरी हमले हुए और अंदरूनी दिक्क़तें भी पेश आईं, लेकिन शायद जो सबसे बड़ी आफ़त आई वह यह थी कि मीकांग नदी रेत से अट गई जिसकी वजह से शहर में आने के रास्तों में पानी आकर दलदल बन गया और शहर को छोड़ना पड़ा ।

नवीं सदी में जावा भी शैलेंद्र साम्राज्य से अलग हो गया, फिर भी शैलेंद्र-वंश इंदोनीशिया में ग्यारहवीं सदी तक सबसे बड़ी ताक़त बना रहा, और तब दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य से उसकी मुठभेड़ हुई । चोल-वंशी विजयी हुए और पचास साल से ज्यादा ज़माने तक इंदोनीशिया के बहुत से हिस्सों पर उनका आधिपत्य रहा । चोल लोगों के हट जाने पर शैलेंद्र वंश ने अपनी खोई हुई ताक़त फिर हासिल कर ली और क़रीब तीन सौ साल तक और एक स्वतंत्र राज्य की हैसियत से बना रहा । लेकिन जब यह पूरबी समुद्र के देशों में सबसे बड़ी ताक़त न रह गया था और तेरहवीं सदी में इस साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना शुरू हो गया । इसकी कमज़ोरी से जावा ने फ़ायदा उठाया और थाइयों (स्याम) ने भी । चौदहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जावा ने श्री विजय के शैलेंद्र साम्राज्य पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया ।

यह जावाई राज्य, जो कि इस वक़्त आगे आया, ऐसा था कि उनके पीछे एक लंबा इतिहास है । यह ब्राह्मण धर्म वालों का राज्य था और बौद्ध धर्म के प्रचार के बावजूद इसने अपने पुराने धर्म को छोड़ा न था । इसने श्री विजय के शैलेंद्र साम्राज्य के राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव का उस वक़्त भी मुकाबला किया था जब कि खुद जावा का आधे से ज्यादा हिस्सा इस साम्राज्य में आगया था । यहां ऐसे लोग बसते थे जिनका ध्यान व्यापार पर था, जो जहाज़रानी करते थे और जिन्हें पत्थर की शानदार इमारतें बनवाने का शौक़ था । शुरू में यह सिंहसारी का राज्य कहलाता था, लेकिन १२९२ ईस्वी में मजापहित नाम का एक नया शहर क़ायम हुआ और आगे चलकर इसी से मजापहित साम्राज्य हो गया जो कि श्री विजय साम्राज्य के बाद दक्खिन-पूर्वी एशिया की सबसे बड़ी ताक़त था । मजापहित ने कुबलाइखां के चीन से भेजे गए कुछ एलचियों का अनादर किया और चीनियों ने उस पर धावा करके उसे दंड दिया । जावाइयों ने शायद चीनियों से बारूद का इस्तैमाल सीखा और इसकी मदद से वह अंत में शैलेंद्र-वंश वालों को हरा सके ।

मजापहित एक बड़ा केंद्रित और विस्तारशील साम्राज्य था। कहा जाता है कि यहाँ की कर-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से संगठित थी और व्यापार और उपनिवेशों पर ख़ास तौर पर ध्यान दिया जाता था। सरकार का एक व्यवसाय विभाग था और इसी तरह उपनिवेश-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग और युद्ध और अंतरंग विभाग आदि भी थे। एक प्रधान न्यायालय भी था, जिसमें कई न्यायाधीश काम करते थे। इस साम्राज्य का जैसा अच्छा संगठन था उसे जानकर हैरत होती है। इसका ख़ास काम हिंदुस्तान और चीन से व्यापार करना था। यहां के मशहूर शासकों में एक महारानी सुहिता थी।

मजापहित और श्रीविजय के बीच का युद्ध बड़ा भयानक था, और अगर्चे मजापहित की पूरे तौर पर जीत हुई, इस जीत ने नए झगड़ों के बीज बोए। शैलेंद्रों की ताक़त, जो कुछ भी बच रही थी, उससे और लोगों ने, ख़ास तौर पर अरबों और नौ-मुस्लिमों ने, मिलकर सुमात्रा और मलाका में मलय शक्ति क़ायम की। पूर्वी समुद्रों की कमान, जो अब तक दक्खिन हिंदुस्तान या हिंदुस्तानी उपनिवेशों के हाथ में थी, वह अब अरबों के हाथ में चली गई। तिजारत के मरकज़ की हैसियत से, और राजनीतिक ताक़त की जगह के रूप में, अब मलाका सामने आया और मलय-प्रायद्वीप और टापुओं में इस्लाम फैला। यही ताक़त थी, जिसने कि पद्रहवीं सदी के अंत में मजापहित का पूरी तरह ख़ातमा कर दिया। लेकिन कुछ बरसों के भीतर ही, सन् १५११ में, अल्बुकर्क के नेतृत्व में पुर्तगाली आए और उन्होंने मलाका पर क़ब्जा कर लिया। अपनी नई और तरक्क़ी करती हुई ताक़त के बल पर यूरोप सुदूर पूरब तक पहुँच गया।

१७ : हिंदुस्तानी कला का विदेशों में प्रभाव

क़दीम साम्राज्यों और वंशों का यह हाल पुरातत्त्वज्ञों की दिलचस्पी का है, लेकिन सभ्यता और कला के इतिहास के लिए उसकी दिलचस्पी और भी ज्यादा है। हिंदुस्तान के नज़रिये से यह ख़ास तौर पर महत्त्व का है, क्योंकि वहां जो कुछ था वह हिंदुस्तान का किया-धरा था और हिंदुस्तान की जीवनी-शक्ति और प्रतिभा मुख़्तलिफ़ शक्लों में वहाँ जाहिर हुई थी। हम हिंदुस्तान को उत्साह से भरा हुआ और दूर-दूर तक फैलता हुआ पाते हैं, और यह देखते हैं कि वह न महज़ अपने विचारों, बल्कि दूसरे आदर्शों, अपनी कला, अपने व्यापार, अपनी भाषा और साहित्य और अपने हुकूमत के तरीक़ों को सब जगह ले जाता है। न वह मंद पड़ा हुआ है, न अलग-थलग रहने वाला है या समुंदर और पहाड़ से कटकर अकेला पड़ गया है। उसके निवासी इन ऊँचे पहाड़ों को पार करते हैं और ख़तरनाक समुंदर को लांघते हैं, और जैसा कि मशिए

रीनीग्रूसे ने बताया है "एक बृहत्तर हिंदुस्तान का निर्माण करते हैं, जो वि
राजनीतिक हैसियत से उतना ही कम संगठित है जितना कि बृहत्तर यूनान था
लेकिन जो नैतिक हैसियत से वैसा ही मधुर और व्यापक प्रभाव रखने वाल
है।" दर-असल मलय-एशिया की इन रियासतों का राजनीतिक संगठन भी बड़
ऊँचे दर्जे का था, अगर्चे यह हिंदुस्तानी राजनीतिक व्यवस्था का अंग नहीं था
लेकिन मुशिए ग्रूसे उन विस्तृत प्रदेशों का हवाला देते हैं जहां कि हिंदुस्तानी
तहज़ीब फैल गई थी : "पूर्वी ईरान के ऊँचे पठार में, सेरिंडिया के नख़लिस्तान
में; तिब्बत, मंगोलिया और मंचूरिया के सूखे बंजरों में; चीन और जापान के
सुसभ्य क़दीम मुल्कों में; भोनों और ख्मेरों और इंडोचीन की और जातियों की
आदिम भूमियों पर; मलय-पोलिनीसियनों के मुल्कों में; इंदोनीशिया और मलय
में; न सिर्फ़ मज़हब पर बल्कि कला और साहित्य पर भी, या एक शब्द में
कहिए तो आत्मा की सभी बुलंद चीज़ों पर हिंदुस्तान ने अपनी ऊँची संस्कृति
की अमिट छाप छोड़ी है।"[१]

हिंदुस्तानी तहज़ीब ने ख़ास तौर पर दक्खिन-पूरबी एशिया के मुल्कों
में जड़ पकड़ी, और इसका सबूत आज वहाँ सब जगह मिलता है। चंपा
अङ्कोर, श्रीविजय, मजापहित और और जगहों में संस्कृत की शिक्षा के बड़े
बड़े केंद्र थे। मुतल्लिक़ राजाओं के नाम और उन राज्यों और साम्राज्यों के
नाम जो वहां क़ायम हुए, बिलकुल हिंदुस्तानी और संस्कृत नाम हैं। इससे यह
मतलब न निकालना चाहिए कि वह पूरी तौर पर हिन्दुस्तानी थे, बल्कि यह
कि उनमें हिंदुस्तानीपन आ गया था। राज्य के मुताल्लिक़ रस्में हिंदुस्तानी ढंग
की थीं और वह संस्कृत के ज़रिये अदा की जाती थीं। राज्य के सभी कर्मचारियों
के पद प्राचीन संस्कृत में आए हुए पद हैं, और यह पद अब तक न
महज़ थाईलैंड में चले आ रहे हैं बल्कि मलय की मुस्लिम रियासतों में
भी। इंदोनीशिया की इन जगहों के पुराने साहित्य में हिंदुस्तानी कथाएं और
गाथाएं भरी पड़ी हैं। जावा और बाली के मशहूर नृत्य हिंदुस्तान से हासिल
किए हुए हैं। बाली के छोटे टापू ने तो अपनी पुरानी हिंदुस्तानी तहज़ीब को
अब तक बहुत कुछ क़ायम रक्खा है यहाँ तक कि हिंदू धर्म भी वहां चला आ
रहा है। फ़िलिप्पाइन्स में लिखने की कला हिंदुस्तान से गई।

कंबोडिया की वर्णमाला दक्खिन हिंदुस्तान से ली गई है और बहुत
से संस्कृत लफ़्ज़ छोटे-मोटे हेर-फेर के साथ ले लिए गए हैं। दीवानी और
फ़ौजदारी के क़ानून हिंदुस्तान के क़दीम स्मृतिकार मनु के क़ानून के आधार
पर बने हैं और इन्हें बौद्ध धर्म के असर से होने वाली कुछ तब्दीलियों के साथ

१ रीनी ग्रसे, 'सिविलाइज़ेशंस अव् दि ईस्ट' (जिल्द २), पृ० २७६

कंबोडिया के मौजूदा क़ानून में ले लिया गया है ।[1]

लेकिन जिन चीज़ों में हिंदुस्तानी असर सबसे ज्यादा साफ़ तौर पर मिलता है वह हैं इन क़दीम हिंदुस्तानी नौ-आबादियों की कला और इमारतें। मौलिक प्रेरणा में कुछ तब्दीली आई, उसने अपने को परिस्थितियों के मुताबिक ढाला और मुक़ामी गुणों का उसमें मेल-मिलाप हुआ और इस मेल-मिलाप से अङ्कोर और बोरोबुदुर की शानदार इमारतें और अद्भुत मंदिर तैयार हुए। जावा में बोरोबुदुर में बुद्ध की ज़िंदगी की सारी कहानी पत्थरों में गढ़ी हुई मिलती है। दूसरी जगहों में मूर्तिपट्टों पर विष्णु और राम और कृष्ण की कथाएं खुदी हुई हैं। अङ्कोर के बारे में आस्बर्ट सिटवेल ने लिखा है: "इस बात को तुरंत मान लेना चाहिए कि अङ्कोर, जिस रूप में वह खड़ा हुआ मिलता है, आज दुनिया के खास अजायबों में है; इंसानी प्रतिभा ने पत्थर पर खुदाई करके जो कुछ भी पेश किया है यह उसकी चोटी पर है और इसके मुक़ाबले की दर्शनीय, सुंदर और अद्भुत चीज तो चीन में कहीं नहीं देखी जाती।" "...यह एक ऐसी सभ्यता के जड़ अवशेष हैं जिसने कि छः सदियों तक अपने अत्यंत चमकीले पर फड़काए और जो इस तरह नष्ट हो गई कि अब उसका नाम भी इंसान के होठों पर नहीं आता।"[2]

अङ्कोर वट के विशाल मंदिर के गिर्द एक बड़ा रक़बा बहुत दूर तक फैले हुए खंडहर का है, जिसमें बनावटी झीलें और पोखरे हैं, और नहरें हैं, जिन पर पुल बने हुए हैं; और एक बड़ा फाटक है जिस पर "एक बहुत बड़े आकार का सिर पत्थर में खुदा हुआ है; यह एक सुंदर, मुसकराता हुआ लेकिन रहस्यमय कंबोडियाई मुख है, गो कि शक्ति और सुदरता में वह देवताओं जैसा है।[3] यह मुख, अद्भुत रूप से आकर्षक है और इसकी मुसकान विचलित करने वाली है—इसे अङ्कोर की मुसकान कहेंगे। मुख कई जगह दुहराया गया है। इस फाटक से मंदिर के लिए रास्ता है: "पड़ोस का बेयान दुनिया में सबसे अजीब और कल्पनापूर्ण है, अङ्कोर वट से ज्यादा सुंदर है क्योंकि इसकी कल्पना ज्यादा अलौकिक है, यह किसी दूर के नक्षत्र के शहर का मंदिर जान पड़ता

---

१ बी० आर० चटर्जी के 'इंडियन कल्चरल इन्फ्ल्यूएंस इन कंबोडिया' (कलकत्ता; १९२८,) ग्रंथ में ए० लेकलेयर की' रिसर्चेज सरले ओरिजिंस ब्रह्मानाक्स देलाय कंबोजियनिस' से उद्धृत।

२ यह दो उद्धरण आस्बर्ट सिटवेल की पुस्तक 'इस्केप विद मी—एन ओरिएंटल स्केच बुक' (१९४१) से लिए गए हैं।

३ यह उद्धरण भी आस्बर्ट सिटवेल की पुस्तक 'इस्केप विद मी—एन ओरिएंटल स्केच बुक' से लिया गया है।

है...और इसकी सुंदरता उसी तरह अग्राह्य है जिस तरह कि बड़े काव्य की पंक्तियों की हुआ करती है।"[1]

अङ्कोर को प्रेरणा हिंदुस्तान से मिली, लेकिन वह ख्मेर प्रतिभा थी जिसने उसे विकसित किया, या यह कहिए कि दोनों ने एक-दूसरे से मिलकर यह अचरज की चीज़ पैदा की। कंबोडिया के जिस राजा ने कहा जाता है कि इसे बनवाया, उसका नाम जयवर्मन (सप्तम) था, और यह ठीक-ठीक हिंदुस्तानी नाम है। डाक्टर क्वाट्रिश वेल्स कहते हैं: कि "जब हिंदुस्तान का राह दिखाने वाला हाथ हट गया तब भी जो प्रेरणा उससे मिली थी वह न भुलाई गई, बल्कि ख्मेर प्रतिभा ने मुक्त होकर उससे विशाल नई और अद्भुत रूप से सजीव कल्पनाएं ढालीं, जो कि बिशुद्ध हिंदुस्तानी वातावरण में पली हुई किसी भी चीज़ से जुदा थीं, इसलिए उनका आपस में मुक़ाबला न होना चाहिए।"...यह बात सही है कि ख्मेर संस्कृति हिंदुस्तानी प्ररणा के आधार पर क़ायम हुई, और यह प्रेरणा न रही होती तो ख्मेर लोग मध्य अमरीका के मय लोगों जैसी बर्बर शान दिखाने से कुछ ज्यादा न कर पाते; लेकिन यह मानना पड़ेगा कि इस प्रेरणा ने जैसी उपजाऊ धरती यहाँ पाई वैसी वृहत्तर हिंदुस्तान में उसे और कहीं न मिली।"[2]

इससे यह ख़याल पैदा होता है कि ख़ुद हिंदुस्तान में यह प्रेरणा जो रफ़्ता-रफ़्ता मिट गई उसकी वजह यह थी कि नई धाराओं और विचारों ने उसके दिमाग़ और ज़मीन पर बोझ डाला और उसे पूरी-पूरी ग़िज़ा न मिलने दा। जब तक कि हिंदुस्तान ने अपने दिमाग़ को दुनिया के लिए खुला रक्खा, अपनी दौलत दूसरों को दी और ख़ुद उसमें जिस चीज़ की कमी थी उसे दूसरों से लिया, तब तक उसमें ताज़गी रही और वह मज़बूत और जीवट वाला बना रहा। लेकिन जितना ही वह अपने भीतर सिमटा और अपनी रक्षा करने की कोशिश में रहा, और बाहरी असरों से उसने अपने को जितना अछूता रखना चाहा, उतना ही उसने अपनी प्रेरणा को खो दिया और उसकी ज़िंदगी अधिकाधिक मंद पड़ती गई और ऐसी हो गई कि वह अपने मरे हुए अतीत के गिर्द व्यर्थ धंधों में फँसी हुई चक्कर काटती रही। सौंदर्य की रचना करने की कला तो खोई ही, उसकी औलाद ने उसे पहचानने की बुद्धि भी खो दी।

जावा, अङ्कोर और वृहत्तर हिंदुस्तान की दूसरी जगहों की खुदाई

---

१ यह उद्धरण आस्बर्ट सिटवेल की पुस्तक 'इस्केप विद मी—एन ओरिएंटल स्केच बुक' (१९४१) से लिया गया है।

२ डाक्टर एच० जी० क्वाट्रिश वेल्स की पुस्तक 'टुवर्ड्स अङ्कोर' (हैरप, १९३३) से।

और खोजों का यश यूरोपीय विद्वानों और पुरातत्त्वविदों को है, खास कर फ्रांसीसी और डच विद्वानों को। बड़े-बड़े शहर और स्मारक शायद अब भी मिट्टी में दबे हुए पड़े हैं, और उनकी खोज होनी बाकी है। इस बीच में, कहा जाता है कि खानों के खोदने की वजह से या सड़क बनाने का सामान लेने में मलय की खास-खास पुरानी जगहें, जहाँ कि क़दीम खंडहर थे, ज़ाया हो गई हैं। और यक़ीनी तौर पर युद्ध इस बरबादी में इज़ाफ़ा करेगा। कुछ साल हुए मुझे एक थाई (स्यामी) विद्यार्थी का एक खत मिला था जो कि टैगोर के शांति-निकेतन में आया था और थाईलैंड को वापस जा रहा था। उसने लिखा था: "मैं अपने को बार-बार ख़ास तौर पर खुशक़िस्मत समझता हूं कि मुझे इस बड़े और पुराने देश आर्यावर्त में आने का और मातामही भारतभूमि को अपनी विनम्र श्रद्धांजलि भेंट करने का मौका मिला; यह मातामही ऐसी है जिसकी गोद में मेरी मातृभूमि प्रेमपूर्वक पली है और उसने सभ्यता और धर्म में जो कुछ भी सुंदर है उसे पहचानना और उससे मुहब्बत करना सीखा है।" मुमकिन है कि यह एक आम मिसाल न हो, फिर भी इससे कुछ पता इस बात का चलता है कि हिंदुस्तान के बारे में दक्खिन-पूर्वी एशिया में किस तरह के ख़याल लोगों के दिलों में हैं, अगर्चे यह ख़याल धुंधला है और इसके साथ बहुत कुछ और भी मिला-जुला है। वहाँ सभी जगह एक तंग किस्म की जातीयता पैदा हो गई है जो कि अपने ही तक देखकर रह जाती है और दूसरों का यक़ीन नहीं करना चाहती; यूरोप के आधिपत्य से भय है और नफ़रत है, फिर भी यूरोप और अमरीका की नक़ल करने की एक ख्वाहिश भी है; अक्सर हिंदुस्तान के लिए कहीं-कहीं हिक़ारत के भाव भी हैं, क्योंकि हिंदुस्तान ग़ुलामी की हालत में है; लेकिन फिर भी इन सब बातों के पीछे हिंदुस्तान के लिए एक आदर और मित्रता का भाव है, क्योंकि पुरानी यादें क़ायम रहती हैं, और लोग इस बात को नहीं भूले हैं कि एक ज़माना था जब कि हिंदुस्तान उनके लिए मातृ-भूमि जैसा था और उनका अपने भंडार के पुष्ट भोजन से पालन करता था। जिस तरह से यूनान से मेडिटिरेनियन के मुल्कों में 'हेलेनिज़्म' या 'यूनानियत' फैली, उसी तरह से हिंदुस्तान का सांस्कृतिक असर बहुत से मुल्कों में फैला और वहां उसने अपनी ज़बर्दस्त छाप छोड़ी।

सिल्वान लेवी लिखते हैं: "ईरान से चीनी समुंदर तक, साइबेरिया के बर्फ़ानी प्रदेशों से जावा और बोर्नियो के टापुओं तक, ओशीनिया से सोकोटरा तक, हिंदुस्तान ने अपने यक़ीनों, अपनी कहानियों, और अपनी तहज़ीब को फैलाया है। उसने मानव-जाति के चौथाई हिस्से पर, लंबी सदियों के दौर में अपनी अमिट छाप डाली है। उसे इस बात का हक़ है कि अज्ञान के कारण उसे दुनिया के इतिहास में जो पद मिलने से रह गया है उसे हासिल करे और

मानव-आत्मा की प्रतीक बड़ी क़ौमों के बीच अपनी उचित जगह ले।[1]

१८ : पुरानी हिंदुस्तानी कला

हिंदुस्तानी संस्कृति और कला का जो अद्भुत विस्तार दूसरे देशों में हुआ है, उसका नतीजा यह रहा है कि इस कला के कुछ अच्छे-से-अच्छे नमूने इस देश से बाहर मिलते हैं। बदक़िस्मती से हमारी बहुत-सी इमारतें और मूर्तियां, ख़ास तौर पर उत्तरी हिंदुस्तान में, युगों के दौर में ज़ाया हो चुकी हैं। सर जान मार्शल कहते हैं कि "हिंदुस्तान के अंदर की ही हिंदुस्तानी कला को जानना, उसकी आधी ही कहानी जानने के बराबर है। उसे पूरी तौर पर समझने के लिए, हमें बौद्ध धर्म के साथ-साथ मध्य एशिया, चीन और जापान तक जाना चाहिए; तिब्बत और बर्मा और स्याम में फैलकर नए रूप धारण करते हुए और फूटकर नए सौंदर्य पेश करते हुए हमें इसे देखना चाहिए; हमें कंबोडिया और जावा में इसके शानदार और बेमिसाल कारनामों को देखना चाहिए। इन मुल्कों में से हर एक में, हिंदुस्तानी कला का एक नई ही जातीय प्रतिभा से मुक़ाबला होता है, उसे नए ही मुक़ामी वातावरण का सामना करना पड़ता है, और उनके ख़ास असर में यह नए भेस बदलती है।"[2]

हिंदुस्तानी कला का हिंदुस्तानी धर्म और फ़िलसफ़े से इतना गहरा ताल्लुक़ है कि जब तक कोई उन आदर्शों की जानकारी न रखता हो जो कि हिंदुस्तानी दिमाग़ को अपनी तरफ़ खींचते रहे हैं, तब तक उसके लिए इसका ठीक-ठीक समझना मुश्किल हो जाता है। जैसे कि संगीत में पूरबी और पच्छिमी कल्पनाओं के बीच एक खाई है, उसी तरह कला में भी है। शायद यूरोप के मध्य युग के महान् कलाकार और निर्माता हिंदुस्तानी कला और शिल्प से अपना ज़्यादा मेल पाते, बनिस्बत आज के यूरोपीय कलाकारों के, जिन्होंने कि अपनी प्रेरणा रेनासां और उसके बाद के युग से हासिल की है। क्योंकि हिंदुस्तानी कला में हमें बराबर एक धार्मिक प्रेरणा मिलती है, एक पार-दृष्टि दिखाई देती है, जैसी कि शायद यूरोप के बड़े गिरजाघरों के बनाने वालों में थी। सौंदर्य की कल्पना भाव-जगत् में की गई है, वस्तु-जगत् में नहीं, यह आत्मा से संबंध रखने वाली चीज़ है, चाहे उसने जड़ वस्तु में सुंदर रूप और आकार ग्रहण कर लिया हो। यूनानियों को सौंदर्य से बड़ा प्रेम था और उसमें उन्हें

---

१ यह उद्धरण यू० एन० घोषाल की किताब 'प्रोग्रेस अव् ग्रेटर इंडियन रिसर्च, १९१७-४२' (कलकत्ता, १९४३) में दिया गया है।

२ रेजिनल्ड लमे की "बुद्धिस्ट आर्ट इन स्याम" (कैंब्रिज, १९३८) की प्रस्तावना का अंश, जो घोषाल की "प्रोग्रस अव् ग्रेटर इंडियन रिसर्च" (कलकत्ता, १९४३) में उद्धृत है।

आनंद ही नहीं मिलता था, बल्कि सत्य दिखता था; क़दीम हिंदुस्तानियों को भी सौंदर्य से प्रेम था, लेकिन वह अपनी कृतियों में सदा कोई गूढ़ अर्थ बिठाने की कोशिश में रहते थे, अंदरूनी सत्य की कोई ऐसी कल्पना जिसका कि उन्हें आभास हुआ हो : उनकी रचनात्मक कृतियों की आला मिसालों को देखकर हमारे मन में प्रशंसा के भाव उठते हैं, चाहे हम उनके उद्देश्य या विचारों को ठीक-ठीक समझ न सकें। ऐसी मिसालों में जो उनसे उतरकर हैं, समझ पाने की यह कमी, या कलाकार के मन में न पैठ सकना, इस प्रशंसा में बाधक होते हैं। और एक ऐसी चीज़ को देखकर जिसे आदमी समझ नहीं पाता कुछ अस्पष्ट घबराहट और चिढ़ भी होती है और दिमाग़ इस नतीजे पर पहुँचता है कि कलाकार अपना काम ठीक जानता न था या नाकामयाब रहा है। कभी-कभी तो नफ़रत पैदा हो जाती है।

मैं पूरबी या पच्छिमी कला के बारे में कुछ नहीं जानता हूँ और इस बात का अधिकारी नहीं कि उसके बारे में कुछ कहूँ। उसके प्रति मेरे भाव ऐसे ही होते हैं जैसे कि किसी अन-सीखे मामूली आदमी के हों। कुछ चित्रों या मूर्तियों या इमारतों को देखकर दिल खुशी से भर जाता है या मुझ पर असर पड़ता है और एक अजीब भाव का अनुभव करता हूँ; या यह मुझे कम पसंद आते हैं, या उनका मुझ पर कोई असर नहीं होता और मैं उन्हें क़राब-क़राब अनदेखा करके आगे गुज़र जाता हूँ; या उनसे मुझे नफ़रत होती है। मैं इन प्रतिक्रियाओं को समझा नहीं सकता, न कला की चीज़ों के गुण और दोष को क़ाबलियत के साथ बता सकता हूँ। लंका में अनुराधापुर की बुद्ध मूर्ति का मुझ पर बड़ा असर पड़ा, और उसकी एक तस्वीर बरसों तक मेरे साथ बराबर रही है। दूसरी तरफ़ दक्खिन हिंदुस्तान के कुछ मशहूर मंदिर हैं, जो कि मूर्तियों से लदे हुए हैं और जिनमें चीज़ें बहुत विस्तार से दी गई हैं। इन्हें देखकर मुझे घबराहट होती है और मन में बेचैनी होती है।

यूनानी परंपरा में शिक्षा पाए हुए यूरोपीयों ने शुरू में हिंदुस्तानी कला को यूनानी नज़रिये से जांच की। गांधार और सरहदी सूबे की यूनानी बौद्ध कला में तो उन्होंने कुछ बात देखी जो कि उनकी पहचानी हुई थी; और हिंदुस्तान की कला की और कृतियों को उन्होंने इसी का गिरा हुआ रूप ख़याल किया। रफ़्ता-रफ़्ता एक नया नज़रिया क़ायम हुआ और यह कहा जाने लगा कि हिंदुस्तानी कला में एक मौलिकता और जीवनी शक्ति है जो कि यूनानी-बौद्ध कला से नहीं हासिल हुई है, बल्कि यूनानी बौद्ध कला खुद उसका एक हलका प्रतिबिंब है। यह नया नज़रिया ज्यादातर इंग्लिस्तान को छोड़कर यूरोप के और मुल्कों से आया। यह एक अचरज की बात है कि हिंदुस्तानी कला की (और यह बात संस्कृत साहित्य के बारे में भी ठीक ठहरती है) जैसी क़द्र

यूरोप के दूसरे मुल्कों में हुई वैसी इंग्लिस्तान में नहीं। मैंने अक्सर सोचा है कि इंग्लिस्तान और हिंदुस्तान के बीच बदक़िस्मती से आज जो राजनीतिक रिश्ता है उसका कहां तक इस परिस्थिति में हाथ हो सकता है। शायद इसका कुछ हाथ तो है, लेकिन फ़र्क के और भी ज्यादा बुनियादी कारण हो सकते हैं। यों बहुत से कलाकार, विद्वान् और दूसरे अंग्रेज़ हैं, जो कि हिंदुस्तानी भावनाओं और नज़रिये के नज़दीक पहुंच गए हैं, और जिन्होंने हमारी पुरानी तिथियों की खोज में और दुनिया के आगे उनकी व्याख्या करने में मदद दी है। बहुत से और लोग भी हैं जिनकी दोस्ती और सेवा के लिए हिंदुस्तान एहसानमंद है। फिर भी यह वाक़या रह ही जाता है कि हिंदुस्तानियों और अंग्रेज़ों के बीच एक खाई है, और यह बराबर बढ़ती जा रही ह। हिंदुस्तान की तरफ़ से तो इस बात का समझ लेना कम-से-कम मेरे लिए, कुछ ज्यादा आसान है, क्योंकि हाल के ज़माने में बहुत-सी ऐसी घटनाएं घटी हैं जिन्होंने हमारे दिलों में गहरे घाव कर दिये हैं। दूसरी तरफ़, शायद दूसरी ही वजहों से, इसा से मिलती-जुलता प्रतिक्रिया हो, और इन्हें इस बात पर ग़ुस्सा हो कि अगर्चे, उनकी राय में, उनका क़सूर नहीं रहा है, फिर भी सारी दुनिया के आगे वह बदनाम कर दिए गए हैं। लेकिन यह जज़्बा महज़ राजनीतिक नहीं है, और खुद-ब-खुद ज़ाहिर हो जाता है, और सब से ज्यादा यह इंग्लिस्तान के दिमाग़ वाले तबके के लोगों में मिलता है। उनके खयाल में हिंदुस्तानी आदमी मूल पाप का एक खास अवतार है और इसके चिह्न की उस पर छाप बनी हुई है। एक लोकप्रिय अंग्रेज़ी लेखक ने, जिसे कि मुश्किल से अंग्रेज़ी विचारों या बुद्धि का नुमाइंदा कहेंगे, एक पुस्तक हाल में लिखी है जो हिंदुस्तान की क़रीब-करीब सब चीज़ों के लिए हिक़ारत और नफ़रत से भरी हुई है। उससे एक ज्यादा ऊँचे और मुस्तनद अंग्रेज़ी लेखक, मि० आस्बर्ट सिटवेल ने अपनी किताब 'इस्केप विद मी' (१९४१) में कहा है कि "बावजूद उसके अनेक और विविध अद्भुत चीज़ों के, हिंदुस्तान का खयाल एक नागंवार खयाल रहा है।" वह "हिंदू कला की कृतियों की अक्सर बिगाड़ने वाली उस मकरूह और चिपचिपी खासियत" का भी ज़िक्र करता है।

हिंदुस्तानी कला या आमतौर से हिंदुस्तान के बारे में इस तरह की राय रखने का मि० सिटवेल को अख्तियार है। मुझे यक़ीन है कि यही उनके सही जज़्बे हैं। हिंदुस्तान की बहुत-सी बातों से मुझे भी नफ़रत होती है। लेकिन सब कुछ लेकर हिंदुस्तान के बारे में मेरे यह भाव नहीं हैं। यह स्वाभाविक भी ह, क्योंकि मैं हिंदुस्तानी हूं, और अपने को आसानी से नफ़रत नहीं कर सकता, चाहे जितना अयोग्य मैं क्यों न होऊं। लेकिन यह सवाल रायों का या कला के बारे में नज़रिये का नहीं है; यह ज्यादा करके, एक पूरी कौम के खिलाफ़,

जानकर और अनजान में नफ़रत का और ग़ैर-दोस्ताना जज़्बा है। क्या यह बात सही है कि जिन्हें हमने नुक़सान पहुंचाया है, उन्हें हम नापसंद करते हैं और उनसे नफ़रत करने लगते हैं ?

उन अंग्रेजों में, जिन्होंने कि हिंदुस्तानी कला को पसंद किया है और उस पर राय क़ायम करने के लिए नई कसौटियां इस्तैमाल की हैं, लारेंस बिनियन और ई० बी० हैवेल हैं। हिंदुस्तानी कला के आदर्शों और उसके तह के भावों के बारे में हैवेल को खास तौर पर उत्साह है, वह इस बात पर ज़ोर देता है कि एक बड़ी क़ौमी कला के ज़रिये हमें कौम के विचार और स्वभाव का गहरा परिचय मिलता है, लेकिन हम इस कला को तभी समझ सकते हैं जब कि हम उन आदर्शों को समझ लें जो कि उनके पीछे हैं। एक विदेशी, हुकूमत करने वाली क़ौम, इन आदर्शों को न समझकर या उनकी बुराई करके मानसिक विरोध के बीज बोती है। हिंदुस्तानी कला मुट्ठी भर विद्वानों के संबोधन के लिए नहीं रही है। इसका मक़सद यह रहा है कि हिंदू-धर्म और फिलसफ़े के मरकज़ी खयालों को आम लोगों को समझावे। "इस शिक्षा के मक़सद को पूरा करने में हिंदू कला कामयाब रही, इसका अनुमान, इस वाक़ए से हो जाता है, (जो कि उन सबका जाना हुआ है जो हिंदुस्तानी ज़िंदगी से परिचित हैं) कि हिंदुस्तानी गाँव वाले, अगर्चे वह पच्छिमी लोगों के मानों में निरक्षर और अनपढ़ हैं, फिर भी अपने वर्ग के लोगों में, दुनिया के किसी जगह के लोगों के मुक़ाबले में ज़्यादा सभ्य हैं।"[1]

संस्कृत कविता और हिंदुस्तानी संगीत की तरह कला में भी यह खयाल किया जाता था कि कलाकार प्रकृति के सभी विभागों से एकमत होकर, आदमी की प्रकृति और विश्व के साथ एकता का निरूपण करेगा। सारी एशियाई कला की यह खास बात रही है, और इसी की वजह से एशिया की कला में हमें एक तरह की एकता मिलती है, बावजूद इसके कि क़ौमी फ़र्क और विविधता इतनी ज़ाहिर हैं। हिंदुस्तान में, अजंता की दीवालों पर बने हुए सुंदर चित्रों के अलावा पुरानी चित्रकारी ज़्यादा नहीं मिलती। शायद इस कला का ज़्यादा हिस्सा नष्ट हो गया है। हिंदुस्तान की विशेषता उसकी मूर्तिकला और स्थापत्य में है, जिस तरह कि चीन और जापान की विशेषता उनकी चित्रकारी में है।

हिंदुस्तानी संगीत, जो कि यूरोपीय संगीत से इतना मुख्तलिफ़ है, अपने तरीक़े पर बहुत तरक़्क़ी कर चुका था, और इसके लिए हिंदुस्तान मशहूर था, और चीन और दूर पूरब के मुल्कों को छोड़कर इसने सारे एशिया के संगीत

---

१ ई० बी० हैवेल : 'दि आइडियल्स अव् इंडियन आर्ट' (१९२०) पृ० १९ भूमिका।

पर असर डाला था। इस तरह से संगीत, ईरान, अफ़गानिस्तान, अरब, तुर्किस्तान और कुछ हद तक और इलाक़ों में जहां कि अरबी तहज़ीब फैली थी, जैसे कि उत्तरी अफ़्रीका, इनके बीच की एक और कड़ी बन गया। हिंदुस्तान का शास्त्रीय संगीत शायद इन सब जगहों में पसंद किया जायगा।

कला के विकास में, एशिया की और जगहों की तरह हिंदुस्तान में भी धार्मिक विचारों का एक खास असर गढ़ी हुई मूर्तियों के ख़िलाफ़ पड़ा। वेद मूर्तिपूजा के विरोधी रहे, और बौद्ध ज़माने में भी बाद के दिनों में ही बुद्ध की मूर्तियां और तस्वीरें बनी। मथुरा के अजायबघर में बोधिसत्व की एक बहुत बड़ी पत्थर की मूर्ति है जिसमें कि बड़ा दम-ख़म है। यह ईस्वी सन् के शुरू के कुशाण ज़माने की है।

शुरू के ज़माने में हिंदुस्तानी कला हमें प्रकृतिवाद से भरी हुई मिलती है, जो कि कुछ अंशों में चीनी प्रभावों की वजह से हो सकता है। हिंदुस्तानी कला के इतिहास की मुख़्तलिफ़ मंजिलों पर हमें चीनी असर दिखाई देते हैं, खास तौर पर प्रकृतिवाद को तरक़्क़ी देने वाले, इसी तरह हिंदुस्तानी आदर्शवाद ने चीन और जापान में जाकर खास ज़मानों में वहां ज़बरदस्ती असर डाला।

चौथी से छठी सदियों के बीच, गुप्तों के ज़माने में, जो कि हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाया है, अजंता की गुफाएं खोदी गईं और उनकी दीवारों पर चित्र बनाए गए,। बाग और बादामी की गुफाएं भी इसी ज़माने की हैं। अजंता की दीवाल पर बनी तस्वीरें अगर्चे बड़ी सुंदर हैं और जब से उनकी खोज हुई है उन्होंने हमारे आजकल के कलाकारों पर गहरा असर डाला है, और यह ज़िदगी से मुड़कर अजंता की शैली की नक़ल में पड़ गए हैं। यह इसके अच्छे नतीजे नहीं हैं।

अजंता हमें एक दूर की, सपने-जैसी दूर की, लेकिन बहुत वास्तविक दुनिया में पहुंचा देता है। यह दीवाल पर बने चित्र बौद्ध भिक्खुओं के बनाए हुए हैं। बहुत दिन पहले उनके स्वामी बुद्ध ने बताया था कि स्त्रियों से दूर रहो, उनकी तरफ़ देखो तक नहीं, क्योंकि वह भयावह हैं। फिर भी हम पाते हैं कि यहां स्त्रियों की कमी नहीं है; सुंदर स्त्रियां, राज-कन्याएं, गाने वाली, नाचने वाली, बैठी और खड़ी, शृंगार करती हुई या जुलूस के साथ जाती हुई स्त्रियां हमें मिलती हैं। अजंता की स्त्रियां मशहूर हो गई हैं। इन कलाकार भिक्खुओं का दुनिया से और इस ज़िदगी के चलते-फिरते नाटक से कितना गहरा परिचय था, कितने प्रेम से उन्होंने यह चित्र बनाए हैं; उसी तरह यह चित्र बनाए हैं जिस तरह कि उन्होंने बोधिसत्व की प्रशांत और लोकात्तर महिमा का चित्रण किया है।

सातवीं और आठवीं सदियों में ठोस चट्टानों को काटकर एलोरा की

विशाल गुफाएं तैयार हुईं, जिनके बीच में कैलास का बहुत बड़ा मंदिर है। इंसान ने इसकी कल्पना किस तरह की और कल्पना करने के बाद उसे किस तरह साकार किया, इसका सोचना कठिन है। इसी ज़माने की एलिफेंटा की गुफाएं भी हैं, जहां कि त्रिमूर्ति की ज़बरदस्त और रहस्यमयी मूर्ति बनी हुई है। दक्खिन हिंदुस्तान में मामल्लपुरम् की इमारतें भी इसी ज़माने की हैं।

एलिफेंटा की गुफा में नटराज शिव की एक टूटी हुई मूर्ति है, जिसमें शिव नाचने की मुद्रा में दिखाए गए हैं। हैवेल का कहना है कि अपनी टूटी हुई हालत में भी यह बड़ी ज़बर्दस्त मूर्ति है और इसकी कल्पना विशाल है : "नृत्य की लयमय गति से अगर्चे चट्टान तक प्रतिध्वनित जान पड़ती है, फिर भी सिर को देखने से उसी सौम्य और शांत और निर्विकार प्रकृति का आभास होता है जिससे कि बुद्ध का मुख आलोकित रहता है।"

ब्रिटिश म्यूज़ियम में एक दूसरी मूर्ति नटराज शिव की है और इसके बारे में एप्स्टीन ने लिखा है : "लोक का सृजन करते हुए और उसका विनाश करते हुए शिव नाच रहे हैं। उनकी विशाल लयमयता युगों की कल्पना सामने ले आती है, और उनकी गति में मंत्रोच्चार की-सी निठुर जादू भरी शक्ति है। ब्रिटिश म्यूज़ियम के इस छोटे-से संग्रह में हमें प्रेम की साधना में मृत्यु की अभिव्यक्ति की मर्मातक मिसाल मिलती है; और मनुष्य के मनोवेगों में जो क़िस्मत का फ़ैसला करने वाला जुज़ है, उसका जैसा निचोड़ यहां मिलता है वैसा किसी दूसरी कृति में नहीं मिलता। इन गहन कृतियों के मुक़ाबिले में हमारे यूरोपीय प्रतीक तुच्छ और बेमानी जान पड़ते हैं; इनमें प्रतीकपने का आडंबर नहीं, यह सार वस्तु पर जोर देती हैं, इन में विशेष मूर्त्तिमत्ता है।"[१]

जावा के बोरोबुदर का बोधिसत्व का एक सिर है जो कि कोपेनहेगेन के ग्लिप्टोटेक में पहुंच गया है। रूप-रेखा की दृष्टि से तो वह सुंदर है ही, लेकिन जैसा कि हैवेल ने कहा है, इसमें कुछ और गहरी बात है, जो कि बोधिसत्व की विशुद्ध आत्मा को इस तरह दिखलाती है जैसे कि दर्पण में कोई देखे। "यह एक ऐसा चेहरा है जिस पर कि समुद्र की गहराइयों की प्रशांति, बिना बादल के नीले आसमान का नितरापन और इंसानी निगाह से दूर का परम सौन्दर्य साकार हुआ है।"

हैवेल आगे लिखता है : "जावा की हिंदुस्तानी कला अपनी एक विशेषता रखती है, जो कि उसे उस महा प्रदेश की कला से जुदा करती है जहां से वह आई थी। दोनों में वही गहरी प्रशांति मिलती है लेकिन जावा के दिव्य-आदर्श में हमें वह तपस्या के भाव नहीं मिलते जो कि एलीफैंटा और मामल्ल-

---

१ एप्स्टीन : "लेट देयर बी स्कल्प्चर" (१९४२) पृ० १९२

पुरम् के हिंदू-शिल्प की विशेषता हैं। हिंदी जावाई कला में मानवी संतोष और आनंद का भाव ज़्यादा है, और यह टापुओं में बसे हुए नौआबाद हिंदुस्तानियों की अपने महा प्रदेश में पूर्वजों की सदियों के संघर्ष के बाद शासित शांति और खुशी की ज़िंदगी का इज़हार करता है।"[1]

१६ : हिंदुस्तान का विदेशी व्यापार

ईस्वी सन् के पहले एक हज़ार बरसों में, हिंदुस्तान का व्यापार बराबर खूब फैला हुआ था, और हिंदुस्तानी व्यापारी बहुत-सी विदेशी मंडियों पर क़ब्ज़ा किए हुए थे। यह व्यापार पूर्वी समुद्र के देशों में तो खूब होता ही था, उधर यह मेडिटेरेनियन के देशों तक फैला हुआ था। मिर्च और मसाले हिंदुस्तान से या हिंदुस्तान होकर पच्छिम को जाते थे; यह अक्सर हिंदुस्तानी या चीनी जहाजों में जाते; और यह कहा जाता है कि गॉथ अलैरिक रोम से ३००० पौण्ड मिर्च ले गया था। रोमन लेखकों ने यह शिकायत की है कि रोम से हिंदुस्तान और पूरब के देशों में, बहुत-सी आमोद-प्रमोद की चीज़ों के बदले में सोना बह कर जाता था।

यह व्यापार ज़्यादातर, क्या हिंदुस्तान में और क्या दूसरी जगह, उन सामग्रियों के अदल-बदल का होता था जो कि मुक़ामी तौर पर पाई जाती थीं। हिंदुस्तान की ज़मीन उपजाऊ थी और यहां कुछ चीजें बहुतायत से होती थीं जो कि दूसरी जगहों में नहीं होती थीं, और चूंकि उसके लिए समुद्र का रास्ता सुगम था, इस रास्ते से वह चीज़ें विदेशों में भेजता था। वह व्यापार का चीज़ें पूर्वी समुद्रों से लाकर भी बाहर पहुंचाता था और इस तरह लदाई के व्यापार से भी फ़ायदा उठाता था। लेकिन इसके अलावा भी उसे फ़ायदे थे। बहुत पुराने ज़माने से वह कपड़ा तैयार करता रहा है, उस ज़माने से जब कि बहुत से दूसरे मुल्क इस धंधे को नहीं जानते थे; इसलिए यहाँ पर कपड़े का धंधा तरक्क़ी कर गया था। हिंदुस्तानी बुना हुआ कपड़ा दूर-दूर देशों मे जाया करता था। बहुत शुरू के ज़माने से यहां रेशमी कपड़ा भी बनना रहा है, अगर्चे शायद वह चीनी रेशम जैसा अच्छा न होता था, जो कि ईसा से क़ब्ल की चौथी सदी से ही यहां लाया जाता रहा है। हिंदुस्तानी रेशम के व्यवसाय ने यहां बाद में तरक्क़ी की होगी, हालांकि जान पड़ता है कि यह बहुत ख़ास तरक्क़ी न रही होगी। कपड़े रंगने की कला में अलबत्ता खास तरक्क़ी हुई जान पड़ती है; और पक्के रंग तैयार करने के यहां खास तरीक़े निकलते थे। इनमें से एक नील का रंग था और इसे 'इंडिगो' कहते हैं। यह ऐसा शब्द है जो कि यूनानियों ने 'इंडिया' से बनाया था। शायद इस

---

१ हैवेल : "दि आइडियल्स अव् इंडियन आर्ट" (१९२०) पृष्ठ १६९

रंगाई के धंधे की जानकारी ने हिंदुस्तान के विदेशों से व्यापार को बहुत आगे बढ़ाया।

ईस्वी सन् की शुरू की सदियों में रसायन-शास्त्र हिंदुस्तान में और मुल्कों के मुक़ाबले में शायद ज्यादा तरक्क़ी कर चुका था। इसके बारे में मेरी जानकारी बहुत नहीं है, लेकिन हिंदुस्तानी रसायन-शास्त्रियों और वैज्ञानिकों के प्रमुख सर पी० सी० राय ने, जिन्होंने कि हिंदुस्तानी वैज्ञानिकों की कई पीढ़ियों को तैयार किया है, एक किताब 'हिस्ट्री अव् हिंदू केमेस्ट्री" लिखी है। उस ज़माने में रसायन-शास्त्र कीमियागरी और धातु-शास्त्र से बहुत ताल्लुक़ रखता था। एक मशहूर हिंदुस्तानी रसायन और धातु-शास्त्री नागार्जुन हुआ है, और नामों की समानता की वजह से कुछ लोगों ने सुझाव दिया है कि यही पहली सदी ईस्वी का बड़ा फ़िलसूफ़ था। लेकिन इस बात में बड़ा शुबहा है।

क़दीम हिंदुस्तानी लोहे का ताव देना जानते थे, और हिंदुस्तानी फ़ौलाद और लोहे की दूसरे मुल्कों में क़द्र होती थी, खास तौर पर लड़ाई के कामों में। बहुत-सी और धातुओं की यहां लोगों को जानकारी थी और औषधि के लिए धातुओं के द्रव्य तैयार किए जाते थे। भट्टी से टपकाने और कंकड़-पत्थर फूंककर चूना बनाने का काम लोगों को अच्छी तरह मालूम था। औषधि विज्ञान ने काफ़ी तरक्क़ी कर ली थी। मध्य युग तक प्रयोगों में काफ़ी तरक्क़ी होती रही, अगर्चे यह प्रयोग ज्यादातर पुरानी किताबों के आधार पर हुआ करते थे। शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान का अध्ययन होता था और खून के प्रवाह की बात हार्वे से बहुत पहले सुझाई जा चुकी थी।

आकाश विद्या, जो कि सबसे पुराना विज्ञान है, विद्यापीठों के पाठ्य-क्रम का एक नियमित अंग थी और अक्सर इसे फलित ज्योतिष से मिला-जुला दिया जाता था। एक बहुत शुद्ध पंचांग तैयार किया जा चुका था और यह अब भी चलता है। यह सौर पंचाग है जिसमें कि महीनों की गिनती चंद्रमा के हिसाब से होती है, जिसकी वजह से इसे समय-समय पर ठीक करने की ज़रूरत पड़ती है। और जगहों की तरह यहाँ भी पुरोहितों या ब्राह्मणों के हाथों में यह पंचांग होता था और वह मौसम के त्योहारों को निश्चित करते और सूर्य ग्रहणों के ठीक-ठीक वक़्त बताते थे। यह मौक़े भी त्योहार जैसे ही हुआ करते थे। इस ज्ञान से फ़ायदा उठाकर वह जनता में विश्वासों को उत्पन्न करते और उन्हें पूजा-पाठ में लगाते (जिसे कि वह निश्चय ही अंध-विश्वास समझते रहे होंगे) और इस तरह अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते थे। आकाश विद्या का ज्ञान, अमली तौर पर, उन लोगों के बड़े काम का होता जो समुद्री यात्रा पर निकलते, बल्कि क़दीम हिंदुस्तानियों को आकाश-ज्ञान की अपनी तरक्क़ी पर गर्व

रहा है। उन्होंने अरब। आकाश—ज्ञान से परिचय कर लिया था, जो कि ज्यादा-तर सिकंदरिया से लिया गया था।

यह बताना मुश्किल है कि यंत्रों ने कहाँ तक तरक्क़ी का थी; लेकिन जहाज़ों का बनाना एक ऐसा व्यवसाय था जो कि खूब चलता था। और भी तरह-तरह के 'यंत्रों' के हवाले मिलते हैं; खास तौर पर लड़ाई में काम आने वाले यंत्रों के। कुछ उत्साही और विश्वासी हिंदुस्तानियों ने इससे तरह-तरह के पेचीदा यंत्रों की कल्पना कर ली है। फिर भी यह मालूम पड़ता है कि औज़ारों के इस्तैमाल में और रसायन-शास्त्र और धातु-शास्त्र की जानकारी में हिंदुस्तान किसी भी मुल्क के मुकाबले में पिछड़ा हुआ न था। इससे व्यापार के मामले में उसे फ़ायदा पहुंचा, और कई सदियों तक वह कई विदेशी मंडियों को अपने काबू में रख सका।

शायद एक बात और उसके माफ़िक पड़ती थी—गुलाम मज़दूरों का न होना, जब कि इस तरह की प्रथा यूनानियों की और दूसरी क़दीम तहज़ीबों की तरक्क़ी में हायल रह चुकी थी। वर्ण-व्यवस्था में चाहे जैसी बुराइयां रही हों, सबसे नीचे तबक़े के लोगों के लिए भी ग़ुलामी के मुक़ाबले में लाख दर्जे ग़नीमत थी। हर एक ज़ात के अंदर तो बराबरी और एक हद तक आज़ादी थी; हर एक ज़ात अपने पेशे के आधार पर क़ायम हुई थी और अपने खास काम में लगती थी। इससे जिस काम में भी एक शख्स होता उसे खास महारत हासिल हो जाती और हुनर के धंधे वालों को काम की विशेषता हासिल होती।

२० : क़दीम हिंदुस्तान में गणित शास्त्र

चूंकि क़दीम हिंदुस्ताना ऊँचे दिमाग़ वाले और सूक्ष्म बातों पर सोच-विचार करने वाले लोग थे, इसलिए हमें उम्मीद ही करनी चाहिए कि वह गणित शास्त्र में बढ़े-चढ़े रहे होंगे। यूरोप ने शुरू में अंक-गणित और बीज-गणित अरबों से सीखा—इसी से उन्होंने संख्याओं को 'अरबी संख्याओं' का नाम दिया—लेकिन अरबों ने खुद उन्हें पहले हिंदुस्तान से सीखा था। हिंदु-स्तानियों ने गणित में जो अचरजभरी तरक्क़ी की थी उसे अब लोग अच्छी तरह से जानते हैं और यह माना जाता है कि अंक-गणित और बीज-गणित की बुनियाद बहुत पहले ही हिंदुस्तान में पड़ी थी। एक गिनती के चौखटे की मदद से गिनने के भद्दे तरीक़े, और रोमन और इसी तरह की संख्याओं के इस्तैमाल ने बहुत दिनों तक तरक्क़ी को रोक रक्खा था, जब कि शून्यांक मिलाकर दस हिंदुस्तानी अंकों ने, इंसान के दिमाग़ को इन बंधनों से आज़ाद कर दिया, और अंकों के स्वभाव पर बहुत रोशनी डाली। यह अंकों के चिह्न और मुल्कों में

इस्तैमाल किए जाने वाले चिह्नों से बिलकुल जुदा थे। आज वह इतने आम हैं कि हम उन्हें माने बैठे हैं, लेकिन उनमें क्रांतिकारी तरक्क़ी के बीज थे। हिंदुस्तान से बग़दाद होते हुए पच्छिमी दुनिया में पहुँचने में इन्हें सदियां लग गईं।

डेढ़ सौ साल हुए, नैपोलियन के ज़माने में, लाप्लास ने लिखा था: "यह हिंदुस्तान है जिसने हमें सभी संख्याओं को दस चिह्नों के ज़रिये प्रकट करने का युक्तिपूर्ण तरीक़ा बताया, जिससे कि हर एक चिह्न का एक अपना मूल्य है और एक उसके स्थान की वजह से मिला हुआ मूल्य है। यह एक गहरा और अहम खयाल है जो कि अब हमें इतना सीधा-सादा जान पड़ता है कि हम उसका सही ख़ूबियों को भूल जाते हैं। लेकिन इसकी सादगी ही से जो आसानी हमारी गणनाओं में हो गई है उसने अंक-गणित को उपयोगी आविष्कारों की पहली कोटि में ला दिया है; और हम इस कारनामे के महत्त्व को तब समझेंगे जब कि हम यह याद रक्खेंगे कि क़दीम ज़माने के दो सबसे बड़े लोगों यानी आर्कमीडिस और अपोलोनियस की प्रतिभा से भी यह विचार बच निकला था।"[1]

हिंदुस्तान में ज्यामिति, अंकगणित और बीज-गणित की शुरुआतें हमें बहुत क़दीम ज़माने तक पहुँचा देती हैं। शायद शुरू में वैदिक वेदियों पर चित्रों के बनाने में एक तरह के ज्यामितीय बीज-गणित का इस्तैमाल किया जाता था। सबसे प्राचीन किताबों में, एक वर्गाकार को आयत में जिसका एक पक्ष (अ क्ष = स) दिया गया हो बदलने की रीति बताई गई है। हिंदू संस्कारों में ज्यामिति-चित्र अब भी आम तौर से इस्तैमाल में आते हैं। ज्यामिति ने हिंदुस्तान में तरक्क़ी ज़रूर की लेकिन इस विषय में यूनान और सिकंदरिया आगे बढ़ गए। अंक-गणित और बीज-गणित में ही हिंदुस्तान आगे बना रहा। स्थान-मूल्य की दशमलव विधि और शून्यांक के आविष्कारक या आविष्कारकों का पता नहीं। शून्यांक के सबसे पहले प्रयोग का जो अब तक पता लगा है वह लगभग २०० ई० पू० के एक शास्त्रीय ग्रंथ में है। यह मुमकिन खयाल किया जाता है कि स्थान-मूल्य का तरीका ईसाई सन् के शुरू के लगभग ईजाद किया गया। शून्य जिसके मानी कुछ नहीं के हैं, शुरू में एक बिंदी या नुक़्ते की शक्ल में था। बाद में यह एक छोटे वृत्त की शक्ल में बदल गया। यह और अंकों की तरह एक अंक समझा जाता था। प्रोफ़ेसर हाल्स्टेड ने इसके गहरे महत्त्व के बारे में इस तरह लिखा है: "शून्य के चिह्न की रचना के महत्त्व को चाहे जितना बढ़ा के कहा जाय, अत्युक्ति न होगी। एक ऐसी चीज़ को जो हवाई

---

१ हागबेन की 'मैथमेटिक्स फ़र दि मिलियन' (लंदन, १९४२) में उद्धृत।

और कुछ न हो एक स्थिति और नाम दे देना, एक चित्र और प्रतीक में बदल देना, जिसमें कि मदद करने की शक्ति आ जाय, हिंदू जाति की ही विशेषता है जहां कि इसका जन्म हुआ। यह निर्वाण को बिजली पैदा करने वाले यंत्रों में डाल देने जैसी बात है। गणित की कोई भी ईजाद बुद्धि और शक्ति का आम तौर पर आगे बढ़ाने में इतनी कारगर नहीं हुई है।"[1]

इस तारीख़ी घटना को लेकर इस ज़माने के एक और गणितज्ञ ने बड़ी ज़ोरदार प्रशंसा की है। डानज़िग अपनी पुस्तक 'नंबर' में लिखता है : "पांच हज़ार साल के इस लंबे ज़माने में न जाने कितनी तहज़ीबें उठीं और गिरीं और इनमें से हर एक अपने साहित्य, कला, फ़िलसफ़े और मज़हब की विरासत छोड़ गई। लेकिन गिनती के मैदान में, जो कि इंसान की पहली कला रही है, सब कुछ मिलाकर उनके क्या कारनामे रहे ? गिनती का ढंग इतना भोंडा और ग़ैर लचीला था कि तरक्क़ी को ग़ैर मुमकिन बना देने वाला; जोड़ने के ढंग इतने महदूद कि मामूली हिसाब के लिए भी विशेषज्ञ की मदद लेनी पड़े···आदमी इन तरीक़ों को हज़ारों साल तक इस्तैमाल में लाता रहा लेकिन इनमें कोई मार्के का सुधार न कर सका, इसमें एक भी मतलब का विचार न जोड़ सका···यह सही है कि अंधेरे युगों में विचार बहुत धीरे-धीरे तरक्क़ी करते थे, फिर भी उसके मुक़ाबले में गिनती के इतिहास को देखा जाय तो खास तौर पर गतिहीन और अटका हुआ जान पड़ता है। इस नज़र से देखने से उस अनजाने हिंदू का कारनामा, जिसने कि हमारे सन् की पहली सदियों में किसी वक़्त स्थान-मूल्य के सिद्धांत को ईजाद किया, एक लोक-व्यापी महत्त्व का कारनामा हो जाता है।"[2]

डानज़िग को ताज्जुब इस बात का है कि यूनान के बड़े गणितज्ञों में से किसी ने इसकी ईजाद क्यों न की। क्या यह बात है कि यूनानी प्रयोगात्मक विज्ञान को हेठा समझते थे, और अपने बच्चों की तालीम तक को गुलामों के सिपुर्द कर देते थे ? अगर ऐसा है, तो यह कैसे हुआ कि जिस क़ौम ने हमें ज्यामिति दी और उसे इतना आगे बढ़ाया, वह बीज-गणित के मोटे सिद्धांत भी हमें न दे सका ? क्या यह उतने ही ताज्जुब की बात नहीं, कि बीज-गणित भी, जो कि आजकल के गणित का बुनियादी पत्थर है, हिंदुस्तान में उपजा और

---

१ जी० बी० हाल्स्टेड की "आन दि फाउंडेशन ऐंड टेकनीक अव् अरिथमेटिक" (शिकागो, १९१२), पृष्ठ २०, से बी० दत्ता और ए० एन्० सिंह की "हिस्ट्री अव् हिंदू मैथमेटिक्स" (१९३५) में उद्धृत।

२ एल्० हागबेन की "मैथमेटिक्स फ़र दि मिलियन"(लंदन, १९४२) में उद्धृत।

क़रीब-क़रीब उसी वक्त जब कि स्थान-मूल्य की ईजाद हुई ?"

प्रोफ़ेसर हागबेन ने इस सवाल के जवाब में यह सुझाव दिया है : "हिंदुओं ने ही इस दिशा में क़दम क्यों बढ़ाया, क्यों अपने क़दीम गणितज्ञों ने ऐसा नहीं किया, क्यों व्यावहारिक मनुष्यों द्वारा यह बन सका, इस बात को समझने की कठिनाई को हम हल न कर सकेंगे अगर हम बौद्धिक उन्नति को कुछ प्रतिभा वाले मनुष्यों की कोशिशों का नतीजा समझते रहेंगे, बजाय इसके कि हम उसे रीति-रिवाज और विचार के पूरे सामाजिक संगठन का नतीजा समझें जो कि बड़े-से-बड़े प्रतिभा वाले के गिर्द होता है। १०० ईस्वी के लगभग हिंदुस्तान में जो हुआ है, वह पहले भी हो चुका है। हो सकता है कि यह इस वक्त रूस में हो रहा हो।...इस सत्य को मानने का अर्थ यह है कि अगर कोई संस्कृति आम जनता की तालीम की तरफ़ उतना ही ध्यान नहीं देती, जितना कि वह विशेष प्रतिभा वाले लोगों की तरफ़ देती है, तो यह समझना चाहिए कि उसके विनाश का बीज उसी के अंदर है।"[1]

तब हमें मान लेना होगा कि यह मार्के की ईजादें किसी ऐसे प्रतिभा वाले व्यक्ति की क्षणिक सूझ का नतीजा नहीं हैं, जो कि अपने समकालीनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था, बल्कि यह कि वह दरअस्ल सामाजिक परिस्थितियों का नतीजा हैं, और अपने ज़माने की लगातार मांग के जवाब में थी। इस मांग को पूरा करने के लिए ऊंचे दर्जे की प्रतिभा की यक़ीनी तौर पर ज़रूरत थी, लेकिन अगर यह मांग मौजूद न रही होती, तो कोई रास्ता निकालने की प्रेरणा ही न हुई होती, और अगर यह ईजाद हुई भी होती तो इसे लोग या तो भुला देते, या उस वक्त तक के लिए रख छोड़ते जब कि इसकी ज़रूरत आकर पड़ती। संस्कृत के शुरू के गणित-संबंधी ग्रंथों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि, माँग मौजूद थी, क्योंकि इन ग्रंथों में व्यापार के और ऐसे समाजी ताल्लुकों के सवाल भरे पड़े हैं, जिनमें कि टेढ़े-मेढ़े जोड़ लगाने पड़ते थे। कर, उधार और सूद के मसले हैं; साझेदारी के, चीज़ों के अदल-बदल और लेन-देन के, और सोने की परख और तौल-काँटे के मसले भी मिलते हैं। समाज जटिल हो चुका था और सरकारी धंधों में और लंबे रोज़गारों में बहुत से लोग लगे हुए थे। हिसाब के सीधे तरीक़ों के जाने बिना काम चलाना ग़ैर मुमकिन था।

शून्यांक और स्थान-मूल्यवाली दशमलव विधि को क़ुबूल कर लेने से हिंदुस्तान में अंक-गणित और बीजगणित की तरक्क़ी के दरवाज़े तेज़ी से खुल गए। बटे चालू हुए और बटों की ज़रब-तक़सीमें; त्रैराशिक निकला और उसे मुक-

---

1 हागबेन : "मैथेमेटिक्स फ़ार दि मिलियन" (लंदन, १९४२) पृष्ठ २८५

म्मल बनाया गया; वर्ग और वर्गमूल; उसके साथ-साथ वर्गमूल का चिह्न (√) निकले; धन और धन मूल; ऋण-चिह्न; ज्या की तालिकाएं उपयोग में आईं; π का मूल्य ३·१४१६ ठहराया गया; अनजानी राशियों के लिए बीज-गणित में वर्णमाला के अक्षरों का इस्तैमाल हुआ; सामान्य और वर्ग समीकरण का विचार उठा; शून्यांक के गणित की छान-बीन हुई। शून्यांक की परिभाषा इस तरह दी गई है : अ—अ = ०; अ + ० = अ; अ—० = अ; अ × ० = ०; अ ÷ ० = अनगिनित संख्या। ऋण राशियों की कल्पना भी की गई है। इस तरह √४ = ± २।

गणित की यह और दूसरी प्रगतियां पांचवीं से बारहवीं सदी के बीच होने वाले मशहूर अनेक गणितज्ञों की पुस्तकों में दी गई हैं। इससे पहले के भी ग्रंथ हैं (ईसा से क़ब्ल की आठवीं सदी के लगभग का 'बोद्धायन'; ईसा से क़ब्ल की पाँचवीं सदी के 'आपस्तंब' और 'कात्यायन') जिनमें ज्यामिति के प्रश्नों, खास तौर पर त्रिभुज, आयत और वर्ग के सवालों को बताया गया है। लेकिन बीज-गणित पर जो सबसे पुरानी पुस्तक मिलती है वह ज्योतिषी आर्य भट्ट की है, जिसका जन्म ४७६ ई० में हुआ था। ज्योतिष और गणित पर उसने अपनी किताब जब लिखी तब उसकी उम्र सिर्फ २३ साल की थी। आर्य भट्ट ने, जिसे कि कभी-कभी बीज-गणित का ईजाद करने वाला बताया जाता है, अपने से पहले के लेखकों से कम-से-कम कुछ अंशों में मदद ली होगी। हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र में दूसरा बड़ा नाम जो आता है वह भास्कर प्रथम का है (५२२ ई०) और उसके बाद ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) हुआ, और वह भी एक ज्योतिषी था। उसने शून्यांक के नियमों का बयान किया और इस विद्या में और भी तरक्क़ी की। इसके बाद लगातार कई गणितज्ञ हुए हैं जिन्होंने कि अंक-गणित और बीज-गणित पर पुस्तकें लिखी हैं। आखिरी बड़ा नाम भास्कर द्वितीय का है, जिसका जन्म १११४ ई० में हुआ था। उसने ज्योतिष, बीज-गणित और अंक-गणित, इन पर तीन पुस्तकें लिखी हैं। उसकी गणित की पुस्तक का नाम 'लीलावती' है, जो कि गणित की किताब के लिए कुछ अनूठा नाम है, क्योंकि यह एक औरत का नाम है। इस किताब में एक लड़की के बार-बार हवाले आते हैं, जिसे कि 'हे लीलावती' करके पुकारा गया है, उसके बाद किसी दिए गए सवाल को समझाया गया है। यह खयाल किया जाता है (अगर्चे इसका सबूत नहीं है) कि लीलावती भास्कर की बेटी थी। किताब की शैली साफ़ और सादी है और ऐसी है कि उसे छोटी उम्र के लोग समझ सकें। यह किताब संस्कृत स्कूलों में, कुछ हद तक अपनी शैली के कारण, अब भी इस्तैमाल में आती है।

गणित-शास्त्र पर किताबें ('नारायण, ११५०; 'गणेश', १५४५)

बनती रहीं, ऐसा जान पड़ता है, लेकिन जो काम हो चुका था उन्हें इनमें महज़ दुहराया गया है। हिंदुस्तान में, गणित-शास्त्र में, बारहवीं सदी के बाद जब तक कि हम मौजूदा ज़माने तक नहीं आ जाते हैं, मौलिक काम बहुत थोड़ा हुआ है।

आठवीं सदी में, खलीफ़ा अलमंसूर के राज्यकाल में (७५३-७७४), कई हिंदुस्तानी विद्वान् बग़दाद गए, और जिन किताबों को वह अपने साथ ले गए थे, उनमें ज्योतिष और गणित की भी किताबें थीं। शायद इससे पहले भी, हिंदुस्तानी गिनती के अंक बग़दाद पहुँच चुके थे, लेकिन यह पहला नियमित संपर्क था और आर्य भट्ट की और दूसरी किताबों के अरबी तर्जुमे हुए। इन्होंने अरबी दुनिया में गणित और ज्योतिष की तरक्क़ी पर असर डाला और वहां हिंदुस्तानी अंक रायज हुए। बग़दाद उस ज़माने में इल्म का एक बड़ा मरकज़ था, और यूनानी और यहूदी आलिम वहां जमा हुए थे, और इन लोगों के साथ-साथ यूनानी फ़िलसफ़ा, ज्यामिति और विज्ञान वहां पहुंचे थे। बग़दाद का सांस्कृतिक असर मध्य एशिया से लेकर स्पेन तक सारी इस्लामी दुनिया में पहुँचा था और इस तमाम खित्ते में अरबी तर्जुमों के ज़रिए हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र का ज्ञान फैल गया था। अरब इन अंकों को 'हिंदसा' कहते थे और अंकों के लिए अरबी लफ़्ज़ 'हिंदसा' ही है, जिसके माने हैं 'हिंद से आया हुआ।'

अरबी दुनिया से यह नई गणित, शायद स्पेन के मूरों के विद्यालयों के ज़रिये यूरोपीय मुल्कों में पहुंची और यूरोपीय गणित शास्त्र की इससे बुनियाद पड़ी। यूरोप में इन नए 'हिंदसों' का विरोध हुआ। वह काफ़िरों के निशान समझे जाते थे, और उनके आमतौर पर इस्तैमाल में आने में कई सौ साल लग गए। सबसे पहला इस्तैमाल जो हुआ वह सिसली के एक सिक्के में ११३४ ई० में हुआ; इंग्लिस्तान में इसका पहला इस्तैमाल १४६० में हुआ।

यह साफ़ मालूम पड़ता है कि हिंदुस्तानी गणित की जानकारी, और खास तौर पर अंकों के स्थान-मूल्य की पद्धति की जानकारी, पच्छिमी एशिया में बग़दाद में हिंदुस्तानी विद्वानों के जाने से पहले पहुंच चुकी थी। सीरिया के एक विद्वान् भिक्खु ने, जिसका कि सीरियनों को हिक़ारत से देखने वाले कुछ यूनानी विद्वानों के ग़रूर से दिल बहुत दुखा था, उनकी एक शिकायत में कुछ दिलचस्प वाक्य लिखे हैं। उसका नाम सेवेरस सेबोख़्त था और वह दजला नदी के किनारे के एक धर्माश्रम में रहा करता था। उसने ६६२ ई० में लिखा है और यह जताने की कोशिश की है कि सीरिया के लोग यूनानियों से किसी तरह घटकर नहीं हैं। मिसाल के तौर पर वह हिंदुस्तानियों का हवाला देता है: 'मैं हिन्दुओं के विज्ञान का बयान बिलकुल न करूंगा, वह सीरियनों जैसे लोग नहीं हैं, ज्योतिष विज्ञान की उनकी सूक्ष्म खोजों को, जो कि यूनानियों

और बैबिलोनिया वालों की खोजों से कहीं बढ़कर हैं, न बताऊंगा। उनकी गणना का तो बयान ही नहीं हो सकता। मैं सिर्फ़ यह बताना चाहूंगा कि यह गणना नौ चिह्नों के सहारे की जाती है। अगर यूनानी भाषा बोलने ही की वजह से कोई समझता हो कि यह सारा विज्ञान जान गया है, तो उसे यह बातें भी जाननी चाहिएं। तब उन्हें पता चलेगा कि दूसरे लोग भी हैं जो कुछ जानते हैं।'[1]

हिंदुस्तान के गणित का ज़िक्र करते हुए हाल के ज़माने के एक असाधारण व्यक्ति की बरबस याद आती है। यह श्रीनिवास रामानुजम् था। दक्खिन हिंदुस्तान के एक ग़रीब ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर और उचित शिक्षा न पाकर, वह मदरास पोर्ट ट्रस्ट में एक क्लर्क हो गया। लेकिन उसमें क़ुदरती प्रतिभा का एक न दब सकने वाला गुण था, और वह अपने फ़ुरसत के घंटों में अंकों और उनके समीकरण से अपना जी बहलाया करता था। ख़ुशक़िस्मती से एक गणितज्ञ का ध्यान इस पर गया और उसने इसका कुछ काम इंग्लिस्तान में केंब्रिज भेज दिया। वहां के लोगों पर इसका असर पड़ा और उसके लिए एक वज़ीफ़े का इंतज़ाम कर दिया गया। इस तरह उसने अपनी क्लर्की छोड़ी और वह केम्ब्रिज चला गगा। थोड़े ही समय में उसने वहां कुछ बड़ा अहम और मौलिक काम पेश किया। इंग्लिस्तान की रायल सोसायटी ने अपने क़ायदों को तोड़कर उसे अपना एक 'फेलो' चुन लिया, लेकिन वह दो साल बाद ३३ साल की उम्र में शायद तपेदिक से मर गया। मेरा ख्याल है कि जूलियन हक्सले ने उसके बारे में कहीं कहा है कि वह इस सदी का सबसे बड़ा गणितज्ञ था।

रामानुजम् की छोटी ज़िंदगी और मौत हिंदुस्तान की हालत की प्रतीक है। हमारे करोड़ों लोगों में कितने थोड़े हैं जो कि कुछ भी शिक्षा पा लेते हैं, कितने हैं जिन्हें पेट भर खाना नहीं मिलता; उन लोगों में से भी जिन्हें कि कुछ तालीम हासिल हो जाती है कितने हैं जिनके लिए किसी दफ़्तर में क्लर्की करने के सिवा कुछ चारा नहीं होता, और इस क्लर्की की तनख़ाह इंग्लिस्तान के बेकारों को मिलने वाली ख़ैरात से कम होती है। अगर ज़िंदगी इनके लिए अपने दरवाज़े खोल दे और उन्हें खाना और दूसरी सुविधाएं दे, और तालीम और तरक्क़ी के मौक़े दे, तो इन करोड़ों में से कितने हैं जो कि बड़े वैज्ञानिक, शिक्षक, हुनर जानने वाले, व्यापारी, लेखक और कलाकार बन सकने हैं और एक नए हिंदुस्तान और एक नई दुनिया के बनाने में मदद कर सकते हैं।

---

१ बी० दत्ता और ए० एन्० सिंह की पुस्तक "हिस्ट्री अव् हिंदू मैथेमेटिक्स" (१९३३) में उद्धृत। इस विषय की बहुत सी जानकारी के लिए मैं इस पुस्तक का आभारी हूं।

२१ : विकास और ह्रास

ईस्वी सन् के पहले हज़ार बरसों में हिंदुस्तान ने बहुत से चढ़ाव और उतार देखे हैं; हमलावरों से लड़ाइयां और अंदरूनी दिक्कतें पेश आई हैं। फिर भी यह ज़ोरदार उफ़ान लेती हुई और चारों तरफ फैलती हुई क़ौमी ज़िंदगी का ज़माना रहा है। संस्कृति तरक्क़ी करती है, एक भरी-पूरी तहज़ीब, फ़िलसफ़ा, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित-शास्त्र के फूल खिलाती है। हिंदुस्तान की आर्थिक व्यवस्था फैलती है, हिंदुस्तान का क्षितिज विस्तृत होता है और दूसरे मुल्क इसके असर में आते हैं। ईरान, चीन, यूनानी दुनिया, मध्य एशिया से ताल्लुक़ात बढ़ते हैं और इन सबसे ऊपर यह होता है कि पूर्वी समुद्र के देशों की तरफ़ बढ़ने की गहरी उमंग पैदा होती है, जिसका नतीजा यह होता है कि हिंदुस्तानी नौआबादियां क़ायम होती हैं और हिंदुस्तानी संस्कृति हिंदुस्तान की सरहदों से बहुत आगे तक पहुंचती है। इन हज़ार बरस के बीच के ज़माने में, चौथी सदी के शुरू से छठी सदी तक, गुप्त साम्राज्य का बोल-बाला रहता है और इस दूर-दूर तक फैली हुई बौद्धिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का यह प्रतीक और सरपरस्त बनता है। यह हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाता है और इस ज़माने के ग्रंथों में, जो कि संस्कृत साहित्य की निधि हैं, एक प्रशांत गंभीरता है, आत्म-विश्वास है, और उस ज़माने के लोगों में इस बात का गर्व है कि वह इस सभ्यता के प्रखर मध्यान्ह-काल में जीवित हैं, और इसके साथ-साथ अपनी ऊंची दिमाग़ी और कलात्मक शक्तियों को ज्यादा-से-ज़्यादा उपयोग में लाने की उनमें उमंग है।

लेकिन इससे क़ब्ल कि वह सुनहला ज़माना ख़त्म हो, कमज़ोरी और तनज्ज़ुली की अलामतें दिखाई देने लगती हैं। पच्छिमोत्तर से सफ़ेद हूणों के दल-के-दल आते हैं और बार-बार मार भगाए जाते हैं। लेकिन उनका आना जारी रहता है और रफ़्ता-रफ़्ता वह उत्तरी हिंदुस्तान में रास्ता कर लेते हैं। आधी सदी तक वह उत्तरी हिंदुस्तान में हुक्मरानी भी करते हैं, लेकिन इसके बाद आख़िरी गुप्त सम्राट्, मध्य हिंदुस्तान के एक शासक, यशोवर्मन्, के साथ मिलकर बड़ी कोशिश से उन्हें मुल्क से निकाल बाहर करता है। इस लंबे संघर्ष के कारण हिंदुस्तान राजनीतिक हैसियत से और लड़ाई की ताक़त की हैसियत से भी कमज़ोर पड़ गया, और हूणों के बहुत तादाद में सारे उत्तरी हिंदुस्तान में बस जाने ने रफ़्ता-रफ़्ता लोगों में एक भीतरी तब्दीली भी पैदा कर दी। जिस तरह कि और विदेशों से आने वाले जज़्ब हो चुके थे, उसी तरह यह भी जज़्ब कर लिए गए, लेकिन इनकी छाप बनी रही और भारतीय-आर्य जातियों के प्राचीन आदर्श कमज़ोर पड़ गए। हूणों के जो पुराने बयान मिलते हैं, वह

उनका हद दर्जे की कठोरता के और बर्बरता के व्यवहारों से भरे हुए हैं; और इस तरह के व्यवहार युद्ध और हुकूमत के हिंदुस्तानी आदर्शों से बिलकुल जुदा हैं।

सातवीं सदी में, हर्ष के ज़माने में, राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों ही तरह की पुनर्जागृति होती है। उज्जयिनी (आजकल का उज्जैन) जो कि गुप्तों की शानदार राजधानी थी, फिर कला और संस्कृति और एक बलशाली राज्य का केंद्र बनती है। लेकिन इसके बाद की सदियों में, यह भी कमज़ोर पड़ जाती है और ख़त्म हो जाती है। नवीं सदी में, गुजरात का मिहिर भोज छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान में एक केंद्रीय राज्य क़ायम करता है और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाता है। फिर एक साहित्यिक पुनर्जागृति होती है और इसका मुख्य पुरुष राज शेखर होता है। इसके बाद फिर ग्यारहवीं सदी के शुरू में एक दूसरा भोज, जो कि बड़ा पराक्रमी और आकर्षक व्यक्ति है, सामने आता है, और उज्जयिनी फिर एक बड़ी राजधानी बनती है। यह भोज एक बड़ा अद्भुत आदमी था और इसने कई क्षेत्रों में प्रतिष्ठा हासिल की थी। यह वैयाकरण था, कोषकार था, और इसकी दिलचस्पी भैषज और ज्योतिष में भी थी। यह बड़ी इमारतों का निर्माण करने वाला था, और कला और साहित्य का संरक्षक भी था। यह खुद कवि और लेखक था और कई रचनाएं इसके नाम के साथ जुड़ी हुई हैं। उसका नाम लोक-कथाओं और कहानियों का—बड़प्पन, ज्ञान और उदारता के प्रतीक के रूप में—अंग बन गया है।

लेकिन इन चमकदार मिसालों के बावजूद हम देखते हैं कि हिंदुस्तान में एक भीतरी कमज़ोरी पैठ गई है, जो न महज़ उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा बल्कि रचनात्मक प्रवृत्तियों को मंद कर देती है। इसके लिए कोई तिथि नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह प्रक्रिया धीमी गति से चलने वाली थी और इसने पहले उत्तरी हिंदुस्तान और बाद में दक्खिन में असर डाला। सच तो यह है कि इस वक़्त दक्खिन हिंदुस्तान राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों हैसियतों से ज़्यादा महत्त्व का बन गया। शायद इसकी यह वजह रही हो कि दक्खिन हिंदुस्तान हमलावरों के साथ बराबर लड़ाई में लगे रहने की मुसीबत और परेशानी से बचा रहा; शायद उत्तरी हिंदुस्तान की ग़ैर-इतमीनानी की हालत से बचने के लिए बहुत से लेखक और कलाकार और बड़े-बड़े इमारतों के निर्माण करने वाले भागकर दक्खिन में जा बसे। दक्खिन के शक्ति-शाली राज्यों ने, और उनके शानदार दरबारों ने लोगों को आकर्षित किया होगा, और उन्हें रचनात्मक कार्य के लिए वह अवसर दिया होगा जो उन्हें दूसरी जगह नहीं मिलता था।

लेकिन अगर्चे उत्तरी हिंदुस्तान सारे हिंदुस्तान पर हावी नहीं था, जैसा

कि वह अक्सर पहले रह चुका था, बल्कि छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था, फिर भी ज़िंदगी भरी-पूरी थी, और संस्कृति और फ़िलसफ़े के बहुत से केंद्र अब भी मौजूद थे। हमेशा की तरह इस वक़्त भी बनारस धार्मिक और फ़िलसफ़ियाना विचारों का गढ़ था, और हर शख़्श, जो कि किसी नए सिद्धांत को, या किसी पुराने सिद्धांत की नई व्याख्या को लेकर सामने आता, उसे अपने विचारों को मान्य कराने के लिए यहां आना पड़ता था। बहुत ज़माने तक कश्मीर भी बौद्धों और ब्राह्मणों के संस्कृत ज्ञान का बड़ा केंद्र रहा है। बड़े-बड़े विद्यापीठ रहे हैं, जिनमें कि नालंदा सबसे मशहूर था, और यहां के विद्वानों का सारे हिंदुस्तान में आदर था। नालंदा में शिक्षा पाने वाले पर संस्कृति की एक छाप-सी लग जाती थी। इस विद्यापीठ में भरती होना सहज न था, क्योंकि इसमें वही लोग भरती हो सकते थे जिन्होंने एक खास क़ाबलियत हासिल कर ली होती थी। इसने स्नातकों को शिक्षा देने में विशेषता प्राप्त की थी, और यहां चीन, जापान, और तिब्बत तक से विद्यार्थी आते थे, बल्कि कहा जाता है कि कोरिया, मंगोलिया, और बुख़ारा से भी। धार्मिक और फ़िलसफ़ियाना विषयों के अलावा, जो कि बौद्धमत और ब्राह्मण मत दोनों ही के अनुसार पढ़ाये जाते थे, दुनिया की और व्यावहारिक विषयों की भी तालीम दी जाती थी। कला और इमारत बनाने की शिक्षा के विभाग थे; वैद्यक का एक विद्यालय था; कृषि का विभाग था; गोधन और पशुओं का विभाग था। और यहाँ की दिमाग़ी ज़िंदगी के बारे में कहा जाता है कि बराबर ज़ोरदार वाद-विवाद और मीमांसा चलती रहती थी। हिंदुस्तानी संस्कृति का विदेशों में प्रचार ज़्यादातर नालंदा के विद्वानों का काम रहा है।

इसके अलावा विक्रमशिला का विद्यापीठ था, जो कि बिहार में ही, आजकल के भागलपुर के पास था, और काठियावाड़ में वल्लभी था। गुप्तों के ज़माने में उज्जयिनी के विद्यापीठ की प्रतिष्ठा हुई। दक्खिन में अमरावती का विद्यापीठ था।

फिर भी, ज्यों यह हज़ार वर्ष समाप्त होने पर आते हैं, यह सब कुछ संस्कृति की तिपहरी जैसा लगता है। सबेरे की आभा बहुत पहले खत्म हो चुकी थी, और दुपहरी भी बीत गई थी। दक्खिन में अब भी कुछ दम और ज़ोर बाक़ी था, और यह कुछ सदियों तक और चलता रहा; देश से बाहर हिंदुस्तान की नौ-आबादियों में उत्साह की और भरी-पूरी ज़िंदगी पाँच सौ वर्षों तक और क़ायम रही। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि हृदय मंद हो रहा था, उसकी धड़कनें धीमी पड़ रही थीं और रफ़्ता-रफ़्ता उसकी शिथिलता और अंगों में भी फैल रही थी। आठवीं सदी में होने वाले शंकर के बाद, फ़िलसफ़े के मैदान में, कोई बड़ा आदमी नहीं हुआ है, अगर्चे टीकाकारों और व्याख्या करने वालों

का एक लंबा सिलसिला मिलता है। शंकर भी दक्खिन हिंदुस्तान के थे। मानसिक साहस और जिज्ञासा का स्थान कठोर तर्क और अनुर्वर वाद-विवाद ले लेते हैं। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का ज़वाल दिखाई देता है, और पूजा के गिरे हुए रूप सामने आते हैं, खास तौर पर तांत्रिक पूजा और योग के कुछ विकृत रूप।

साहित्य में भवभूति (आठवीं सदी) आखिरी बड़ा व्यक्ति है। बहुत-सी किताबें इसके बाद भी लिखी जाती रहीं, लेकिन शैली जटिल और बनावटी होती गईं; न तो विचारों में और न उनके प्रकट करने के ढंग में ताजगी रह गई है। गणित में, भास्कर द्वितीय (बारहवीं सदी) आखिरी बड़ा नाम है। कला में, ई० बी० हैवेल हमें इस ज़माने के बाद तक ले आते हैं। उनका कहना है कि कलात्मक उद्गार के रूप सातवीं-आठवीं सदी तक पक्के नहीं हो पाए थे, जब कि हिंदुस्तान की आला दर्जे की मूर्ति-कला और चित्र-कला के ज़्यादातर नमूने तैयार हुए। उनके कहने के मुताबिक़ सातवीं-आठवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक हिंदुस्तानी कला का सब से बलंद ज़माना रहा है, उसी तरह जिस तरह कि यूरोप में गाथिक कला के सब से ऊंचे विकास का यह ज़माना रहा है। उनका कहना है कि सोलहवीं सदी में जाकर पुराने हिंदुस्तान की रचनात्मक प्रवृत्ति क्षीण होने लगी। यह विचार कहां तक सही है, मैं नहीं जानता; लेकिन मेरा खयाल है कि कला के मैदान में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ही, उत्तरी हिंदुस्तान के मुक़ाबले में, पुरानी परंपरा ज़्यादा दिनों तक क़ायम रही।

उपनिवेशों को बसाने वाला आख़िरी बड़ा गिरोह दक्खिन हिंदुस्तान से नवीं सदी में गया था, लेकिन चोल वंशियों की समुद्री शक्ति ग्यारहवीं सदी तक बनी रही, जब कि उन्हें श्री विजय ने हराया और परास्त किया।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदुस्तान शुष्क हो रहा था और अपनी रचनात्मक शक्ति और प्रतिभा खो रहा था। यह सिलसिला बहुत धीमा था और इसमें कई सदियां लग गईं, और पहले उत्तर में और अंत में दक्खिन में ह्रास हुआ। इस राजनीतिक और सांस्कृतिक पतन के क्या कारण थे? क्या इसकी यह वजह थी कि हमारी तहज़ीब पुराना पड़ चुकी थी और जिस तरह इंसान का बुढ़ापा आता है उसी तरह तहज़ीबों का भी आता है; या कि ज्वार-भाटे की यह इस तरह की लहर थी, जो आगे बढ़कर फिर पीछे खिच आती है? या इसके लिए बाहरी कारण और हमले जिम्मेदार थे? राधाकृष्णन् का कहना है कि हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े ने अपनी शक्ति, सियासी आज़ादी के साथ-साथ खो दी। सिल्वान लेवा कहता है: 'हिंदुस्तान की आज़ादी के साथ संस्कृत का रचनात्मक युग भी खत्म हो गया। आजकल की भाषाएं और आजकल के साहित्य आर्यों के देश पर छा गए हैं। और उन्होंने ही संस्कृत की जगह ले ली है। संस्कृत को अब सिर्फ़ विद्यालयों में शरण मिली है और यहां पर उसमें

पंडिताऊपन की छाप लग गई है।

यह सब बातें सही हैं क्योंकि सियासी आज़ादी के खो जाने के साथ तहज़ीब का ज़वाल भी लाज़मी तौर पर शुरू हो जाता है। लेकिन सियासी आज़ादी ही क्यों गुम हो, अगर किसी तरह का ज़वाल उससे पहले ही शुरू हो गया है? एक छोटा मुल्क हो तो एक ज़्यादा ताक़त वाले हमलावर के सामने आसान से भले ही झुक जाय, लेकिन हिंदुस्तान जैसा बड़ा विकसित और ऊंचे दर्जे की तरक्क़ी तक पहुंचा हुआ मुल्क बग़ैर अंदरूनी ज़वाल के हमलावर के सामने न झुकेगा। यह दूसरी बात है कि हमलावर का युद्ध-कला का ज्ञान ऊंचा हो। भीतरी ह्रास इन हज़ार वर्षों के आखिर में हिंदुस्तान में पैदा हो चुका था यह ज़ाहिर ही है।

हर एक तहज़ीब की ज़िंदगी में ज़वाल और फूट के ज़माने आते हैं और ऐसे ज़माने हिंदुस्तान के इतिहास में पहले भी आ चुके हैं। लेकिन हिंदुस्तान ने उन्हें झेलकर अपने को फिर से तरो-ताज़ा किया है और कभी-कभी अपने ही में सिमिटकर कुछ वक्त बिताने के बाद फिर एक नई ताक़त हासिल करके मैदान में आया है। हमेशा एक सजीव अंतस्तल बच रहा है, जिसने नए संपर्कों की मदद से अपने को फिर से ताज़ा किया है। और फिर से अपना विकास किया है और यह विकास अगर्चे गुज़रे हुए ज़माने से मुख्तलिफ़ ढंग का रहा है। ताहम उससे इसका गहरा ताल्लुक़ भी रहा है। अपने को वक़्त के बमूजिब ढाल लेने की मुलामियत, दिमाग़ का वह लचीलापन जिसे कि हिंदुस्तान ने पहले बहुत अक्सर दिखाया है, क्या अब जाते रहे हैं? क्या उसकेबंधे-तुले विश्वासों ने और उसके समाजी संगठन की कट्टरता ने उसके दिमाग़ को भी सख्त बना दिया है? क्योंकि अगर ज़िंदगी का बढ़ना और तरक्क़ी करना बंद हो जाता है तो विचारों का विकास भी ठहर जाता है। व्यावहारिक जीवन में कट्टरता का और विचारों में विस्फोट का अजब मेल हमें हिंदुस्तान में बराबर देखने को मिलता है। लाज़िमा तौर पर इस विचार का व्यवहार पर असर पड़ा है। चाहे यह असर इस तरह पर हुआ हो कि अतीत का तिरस्कार न किया गया हो। लेवी ने कहा है : "अगर्चे उनकी निगाहें पुराने ज्ञान की तरफ़ हैं, उनकी बुद्धि आजकल के विचारों को समझती है। और अनजाने ही आज हिंदुस्तान बदल गया है।" लेकिन विचार ने जब अपनी विस्फोटकता और रचनात्मक-शक्ति खो दी और वह एक घिसे-पिसे और बेमानी व्यवहार का ग़ुलाम बन गया, पुराने जुमलों को दुहराने और सभी नई चीज़ों से डरने लगा, तब ज़िंदगी बंध गई और थिर होगई और अपने ही बनाए क़ैदखाने में बंद हो गई।

तहज़ीबों के खत्म हो जाने की, हमारे सामने बहुत-सी मिसालें हैं, और शायद इनमें से सबसे मार्के की मिसाल रोम के पतन के बाद यूरोप की

क़दीम सभ्यता के ख़त्म होने की है। उत्तर से आने वाले हमलावरों के हमलों से बहुत पहले रोम अपनी अंदरूनी कमज़ोरियों के कारण जर्जर हो गया था। उसका अर्थ-तंत्र, जो कि पहले फैल रहा था संकुचित हो गया था और अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई थीं। शहरी उद्योग-धंधे पिछड़ गए थे, ख़ुशहाल शहर रफ़्ता-रफ़्ता ग़रीब और छोटे हो गए थे, और धरती का उपजाऊ-पन भी कम हो चला था। अपनी बराबर बढ़ने वाली कठिनाइयों पर काबू पाने के लिए बादशाहों ने तरह-तरह की कोशिशें कीं। रियासत की तरफ़ से व्यापारियों पर ऐसी पाबंदियां लगाई गई कि वह अपने ख़ास पेशों से बंध गए। बहुत क़िस्म के मज़दूर पेशा लोगों पर अपने वर्ग से बाहर ब्याह-शादी करने पर रोक लगादी गई, इस तरह से कुछ पेशे क़राब-क़रीब एक ज़ात से बन गए। किसान गुलाम बन गए। लेकिन ह्रास को रोकने की यह सब सतही तरकीबें बेकार हुईं, बल्कि उन्होंने हालत को और भी बिगाड़ दिया; और रोम सल्तनत बैठ गई।

हिंदुस्तानी सभ्यता का ऐसा नाटकीय अंत न उस वक़्त हुआ और न बाद में ही, और जो कुछ भी उस पर गुज़रा उसके बावजूद उसने एक ग़ज़ब की पायदारी दिखलाई है। लेकिन एक बढ़ती हुई तनज्ज़ुली दिखाई पड़ती है। ब्योरे के साथ यह बता सकना मुश्किल है कि हिंदुस्तान में ईस्वी सन् के पहले हज़ार साल के आख़िर में, समाज की क्या हालत थी। लेकिन कमोबेश यक़ीन के साथ यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान का फैलता हुआ अर्थ-तंत्र ख़त्म हो चुका था और सिकुड़ने की तरफ़ उसका ज़बरदस्त रुझान हो चला था। शायद यह हिंदुस्तानी समाजी संगठन के बढ़ते हुए कट्टरपन और अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति का नतीजा था और इसके तह में यहां की वर्ण-व्यवस्था थी। जहां-जहां हिंदुस्तानी विदेशों में पहुंचे थे, जैसे दक्खिन-पूर्वी एशिया में, वहां-वहां उनके दिमाग़ में, रीति-रिवाजों में और अर्थतंत्र में वह कड़ापन नहीं आया था और विकास और फैलाव के उनके सामने मौक़े थे। इससे चार-पांच सदी बाद तक वह इन नौ-आबादियों में पनपे और उन्होंने स्फूर्ति और रचनात्मक शक्ति दिखाई। लेकिन ख़ास हिंदुस्तान में अलग-थलग रहने की भावना ने उनकी रचनात्मक शक्ति को खोखला कर दिया और उनमें तंग-ख़याली, गुट्टबंदी और संकुचित नज़रिया पैदा हो गया। ज़िंदगी इस तरह टुकड़े-टुकड़े में बंट और बंध गई कि हर एक शख़्स का धंधा निश्चित हो गया और सदा-सदा के लिए बन गया, और उसका ताल्लुक़ दूसरों से बहुत कम रह गया। क्षत्रियों का काम मुल्क की हिफ़ाज़त में लड़ाई करना रह गया और इस काम में दूसरों की या तो दिलचस्पी न रह गई थी या उन्हें इसके लिए इजाज़त न थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय बनिज-व्यापार करने वालों को नीचा नज़र से देखने लगे। नीची ज़ात वालों को तालीम और तरक्क़ी के मौक़ों से वंचित रक्खा गया, और उन्हें अपने से

ऊंची जात वालों के अधीन रहना सिखलाया गया। बावजूद इसके कि शहरी अर्थ-व्यवस्था और उद्योगों ने ख़ासी तरक़्क़ी कर ली थी, राज्य का संगठन बहुत कुछ सामंतवादी था। शायद युद्ध-कला में भी हिंदुस्तान पिछड़ गया था। इन हालतों में, जब तक कि सारे ढांचे को न पलट दिया जाय और शक्ति और योग्यता के नए सोते न खोल दिए जायं, तरक़्क़ी नामुमकिन थी। जात-पांत के बंधनों से इसमें रुकावट पड़ती थी। इसने हिंदुस्ताना समाज में चाहे जो पायदारी या खूबियां पैदा का हों, ख़ुद इसके अंदर इसके विनाश के बीज मौजूद थे।

हिंदुस्तान के समाजी संगठन ने (और इसके बारे में मैं आगे चलकर और भी विचार करूंगा) हिंदुस्तानी सभ्यता को एक अद्भुत पायदारी दे रक्खी थी। इसने गुट्टों को बल दिया था और उनका आपस का मेल पक्का किया था, लेकिन यही फैलाव एक विस्तृत मेल-जोल के हक़ में बाधक साबित हुआ। इसने हुनर और दस्तकारी और बनिज-व्यापार को तरक़्क़ी दी, लेकिन हमेशा एक महदूद दायरे के भीतर-भीतर। इस तरह ख़ास-ख़ास क़िस्म के धंधे पुश्तैनी बन गए, और नए ढंग के कामों से बचने की और पुरानी लकीर पीटते रहने की प्रवृत्ति पैदा हुई; इससे नई प्रेरणाओं और ईजादों की तरफ़ से लोगों में विमुखता आई। इसने एक महदूद दायरे के अंदर कुछ आज़ादी ज़रूर दी, लेकिन एक बड़ी आज़ादी को नुक़सान पहुंचाकर, और जो क़ीमत इसे चुकानी पड़ी वह यह थी कि बहुत बड़ी संख्या में लोग सदा-सदा के लिए समाज की सीढ़ी के नीचे ही हिस्से में बने रह गए और तरक़्क़ी करने के मौक़े न मिले। जब तक इस संगठन में तरक़्क़ी और फैलाव के रास्ते निकलते रहे, तब तक यह प्रगतिशील रहा; जब ऐसी हालत में पहुंच गया कि आगे फैलाव नामुमकिन था, तब वह थिर हो गया, प्रगतिशील न रहा और बाद में लाज़िमी तौर पर पीछे हटने वाला बन गया।

इसकी वजह से चौतरफ़ा ह्रास हुआ—विचारों में, फ़िलसफ़े में, राजनीति में, लड़ाई के तौर-तरीक़ों में, दुनिया की जानकारी और उससे संपर्क में, और मुक़ामी जज़्बे पैदा हुए, सामंतवादी भावनाएं दिखने लगीं और सारे हिंदुस्तान का न ख़याल करके गिरोह-बंदी का ख़याल किया जाने लगा और हमारा अर्थ-तंत्र संकुचित होने लगा। लेकिन, जैसा कि बाद के ज़माने ने ज़ाहिर किया, पुराने ढांचे में जीवनी-शक्ति बाक़ी थी, उसमें एक अद्भुत कसबल था और एक लचीलापन था और अपने को वक़्त की ज़रूरतों के मुताबिक़ ढालने की सलाहियत थी। इसकी वजह से ही वह क़ायम रह सका और नए संपर्कों से और विचारों की लहरों से फ़ायदा उठा सका और कुछ मानों में तरक़्क़ी भी कर सका। लेकिन यह तरक़्क़ी हमेशा गुज़रे हुए ज़माने की बहुत-सी यादगारों से जकड़ी और बंधी रही।

: ६ :

नए मसले

१ : अरबवाले और मंगोल

जिस समय कि हर्ष उत्तरी हिंदुस्तान के एक बलशाली राज्य पर हुकूमत कर रहा था, और चीनी यात्री और विद्वान् ह्वेन-त्सांग नालंदा विद्यापीठ में पढ़ रहा था, उस समय इस्लाम अरब में अपना रूप धारण कर रहा था। इस्लाम को हिंदुस्तान में एक मजहबी और राजनीतिक ताक़त की शकल में आकर बहुत से नए मसले खड़े करना था, लेकिन यह बात ध्यान रखने की है कि हिंदुस्तानी परिस्थिति में फ़रक ले आने में उसे बहुत ज़माना लग गया। हिंदुस्तान के बीचोंबीच पहुंचने में उसे क़रीब छः सदियां लग गईं; और जब वह यहां राजनीतिक विषयों के साथ-साथ पहुंचा उस वक्त यह खुद बहुत कुछ बदल चुका था और इसके अलमबरदार दूसरे ही लोग थे। अरबवाले, जो कि अपने उत्साह की बाढ़ में, एक प्रबल शक्ति के साथ फैलकर, स्पेन से लेकर मंगोलिया की सरहदों तक विजयी के रूप में पहुंच गए थे और जिन्होंने इन प्रदेशों में अपनी शानदार संस्कृति पहुंचाई थी, खास हिंदुस्तान में न आए। वह पच्छिमोत्तरा किनारे तक पहुंचे और वहीं तक रह गए। अरबी सभ्यता का रफ़्ता-रफ़्ता ज़वाल हुआ और मध्य और पच्छिमी एशिया की तुर्की जातियां आगे आईं। यही तुर्क लोग थे और हिंदुस्तानी सरहद के अफ़ग़ाना थे, जो कि इस्लाम को हिंदुस्तान में एक राजनीतिक ताक़त की हैसियत से लाए।

कुछ तारीखों के सहारे यह घटनाएं हमें ठीक-ठीक समझ में आ जायंगी। इस्लाम की शुरुआत ६२२ ई० में पैग़ंबर मुहम्मद की मक्का से मदीना को हिजरत के वक़्त से कही जा सकती है। मुहम्मद की मृत्यु १० साल बाद हुई। कुछ ज़माना तो अरब में परिस्थिति को मज़बूत करने में लगा, और इसके बाद उन अद्भुत घटनाओं का सिलसिला शुरू हुआ जिन्होंने कि इस्लाम का झंडा उठाने वाले अरबों को पूरब में मध्य एशिया तक और पच्छिम में सारे उत्तरी अफ्रीका के महाद्वीपों को पार करते हुए स्पेन और फ्रांस तक पहुंचाया। सातवीं सदी में और आठवीं के शुरू तक वह ईराक़, ईरान और मध्य एशिया

तक फैल चुके थे । ७१२ ई० में वह पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में सिंध तक पहुंचे और वहीं ठहर गए । इस इलाक़े और हिंदुस्तान के ज्यादा उपजाऊ हिस्सों के बीच एक बड़ा रेगिस्तान पड़ता था । पच्छिम में, अरबवालों ने अफ्रीक़ा और यूरोप के बीच के तंग समुद्री रास्ते को (जो अब जिब्राल्टर के आबनाय के नाम से मशहूर है) पार किया और ७११ ई० में वह स्पेन में दाखिल हुए । उन्होंने सारे स्पेन पर क़ब्ज़ा कर लिया और पिरेनीज़ पहाड़ों को पार करके फ्रांस पहुंचे । ७३२ में तूर्स (फ्रांस) में उन्हें चार्ल्स मार्तेल ने हराया और उनकी बाढ़ रोकी ।

यह एक ऐसी क़ौम की विजय-यात्रा थी, जिसका घर अरब के रेगिस्तानों में था और जिसने अब तक तारीख़ में कोई बड़ा काम नहीं किया था, और इस हैसियत से यह बहुत मार्के की थी । उन्होंने अपना बड़ी शक्ति अपने पैग़ंबर के जोरदार और क्रांतिकारी व्यक्तित्व से और उनके इंसानी भाईचारे के संदेसे से हासिल की होगी । फिर भी यह ख़याल ग़लत होगा कि अरब सभ्यता का इस्लाम से पहले कोई वजूद न था और वह आप-ही-आप यकायक उठ खड़ी हुई । इस्लामी आलिमों का प्रवृत्ति रही है कि अरब वालों के, इस्लाम से क़ब्ल के ज़माने को, जाहिलियत का ज़माना कहकर, ऐसा ज़माना बताकर जब कि लोगों में अज्ञान और अंध-विश्वास फैला हुआ था, उसे गिराने की कोशिश करते हैं । और तहज़ीबों की तरह अरबी तहज़ीब का भी एक लंबा अतीतकाल रहा है, और इसका सामी क़ौमों, यानी फ़िनीशियन, क्रेटन, चैल्डियन, और इब्रानियों (की तरक्क़ी) से गहरा ताल्लुक़ रहा है । इसराईल वाले ज्यादा अलग-थलग रहने वाले हुए और रवादारी पसंद चैल्डियनों से और औरों से उन्होंने अपना नाता तोड़ लिया । ताहम सारे सामी इलाक़ों के आपस के संपर्क बने हुए थे, और कुछ हद तक उनकी एक आम पृष्ठभूमि थी । इस्लाम से पहले की अरब तहज़ीब ख़ास तौर पर यमन में पनपी । पैग़ंबर के वक्त में अरबी ज़बान एक बड़ी तरक्क़ीयाफ़्ता ज़बान थी, और उसमें फ़ारसी, यहाँ तक कि हिंदुस्तानी लफ्ज़ मिल-जुल गए थे । फ़िनीशियनों की तरह अरब वाले भी समुद्र के ज़रिये, दूर-दराज़ का सफ़र, तिजारत करने के लिए, किया करते थे । दक्खिनी चीन में कैंटन के पास, इस्लाम से क़ब्ल के ज़माने में अरब वालों की नौ-आबादी थी ।

फिर भी यह सही है कि इस्लाम के पैग़ंबर ने अपने क़ौमियों में एक नई जान फूंकी और उनमें विश्वास और उत्साह पैदा किया । अपने को एक नए दीन का अलमबरदार समझकर, उन्होंने अपने दिलों में ऐसी उमंगों और ऐसे आत्म-विश्वास का अनुभव किया, जैसा कि अक्सर पूरी क़ौम पर छा जाता है और इतिहास को उलट-पलट देता है । उनकी कामयाबी की

यक़ीनी तौर पर यह भी वजह रही है कि पच्छिमी और मध्य एशिया और उत्तरी अफ्रीका के राज्य पस्ती की हालत में थे। उत्तरी अफ्रीका में विरोधी ईसाई फ़िरके आपस की लड़ाई में लगे हुए थे; और ताक़त हासिल करने के लिए लड़ी गई यह लड़ाइयां अक्सर खूनी लड़ाइयां रही हैं। इस ज़माने में जिस तरह की ईसाइयत यहां फैली थी उसमें तंगदिली और ग़ैर-रवादारी नुमायां तौर पर मौजूद थी और उनमें अरबी मुसलमानों में बड़ा फ़र्क़ दिखता था, क्योंकि यह लोग इंसानी भाई-चारे का पैग़ाम लाए थे और रवादारी बरतना जानते थे। यही वजह थी कि ईसाइयों के झगड़ों से आजिज़ आकर पूरी-की-पूरी क़ौमें उनके साथ हो लीं।

जो संस्कृति अरब वाले अपने साथ दूर देशों म ले गए वह खुद बराबर तब्दील होती और तरक्क़ी करती रही है। इस पर इस्लाम के नए विचारों की छाप जरूर थी, लेकिन इसे इस्लामी तहज़ीब का नाम देना बातों को उलझाना और शायद उन्हें ग़लत तरीक़े पर पेश करना होगा। दमिश्क में राजधानी बनाकर उन्होंने जल्द ही अपने रहन-सहन के सीधे-सादे ढंग छोड़ दिए और एक ज्यादा रँगी-चुनी तहज़ीब का तरक्क़ी दी। यह ज़माना अरब और सीरिया की मिली-जुली संस्कृति का ज़माना कहा जा सकता है। बाइज़ेंटाइन के असर भी उन पर पड़े लेकिन जब वह हटकर बग़दाद में चले गए तो सबसे ज्यादा असर पुरानी ईरान की परंपरा का पड़ा, और अरबी और ईरानी मिली-जुली संस्कृति ने तरक्क़ी पाई और उन सारे इलाक़ों पर जिन पर कि उनका बस था, छा गई।

अगर्चे अरब वालों ने दूर-दूर मुल्कों पर फ़तह हासिल की थी और यह फ़तह आसानी से कर सके थे, हिंदुस्तान में वह सिंध से आगे न उस वक्त बढ़ सके न बाद म ही। क्या इसकी यह वजह हो सकती है कि हिंदुस्तान इस वक्त भी इतना काफ़ी मज़बूत था कि हमलावरों को रोक सके? ग़ालिबन यह बात सही है, क्योंकि दूसरी तरह से उस बात की कैफ़ियत नहीं दी जा सकती कि इसके कई सदियों बाद तक क्यों दर-असल कोई दूसरा हमला न हुआ। हो सकता है कि कुछ अंश में खुद अरबों के आपस के झगड़ों की वजह से ऐसा हुआ हो। बग़दाद की मरकज़ी हुकूमत से सिंध जुदा हो गया और एक आज़ाद मुसलमानी रियासत बन गया। लेकिन अगर्चे कोई हमला न हुआ, फिर भी हिंदुस्तान और अरब के संबंध बढे, यात्री आने जान लगे, एलचियों का अदला-बदला हुआ और हिंदुस्तोनी किताबें, ख़ास तौर पर गणित और ज्योतिष की, बग़दाद पहुंचीं और उनके अरबी में तर्जुमे हुए। बहुत से हिंदुस्तानी वैद्य बग़दाद गए। यह व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध सिर्फ उत्तरी हिंदुस्तान से नहीं क़ायम हुए। इसमें हिंदुस्तान की दक्खिनी रियासतें भी शरीक हुईं, ख़ास तौर

पर राष्ट्रकूट, जो कि हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट से व्यापार किया करते थे।

इस लगातार ताल्लुक़ की वजह से हिंदुस्तानियों का इस नए मज़हब, इस्लाम, से वाक़िफ़ हो जाना लाज़िमी था। इस नए धर्म को फ़ैलाने के लिए प्रचारक भी आए और उनका स्वागत भी हुआ। मसजिदें बनाई गई। इस पर न तो हुकूमत ने, न जनता ने कोई एतराज़ किया, और न किसी तरह के मज़हबी फ़िसाद हुए। हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा यह थी कि सभी मज़हबों और पूजा के सभी तरीकों के साथ रवादारी बरती जाय। इस तरह इस्लाम हिंदुस्तान में राजनीतिक ताक़त की हैसियत से आने से सदियों पहले मज़हब की हैसियत से आ चुका था।

उमैया खलीफ़ाओं की हुकूमत में जो अरबी सामाज्य क़ायम हुआ उसकी राजधानी दमिश्क थी और यह एक आलीशान शहर बन गया। लेकिन जल्द ही, ७५० ई० के लगभग अब्बासिया ख़लीफ़ाओं ने बग़दाद को राजधानी बना लिया। भीतरी झगड़े पैदा हुए और स्पेन मरकज़ी सल्तनत से अलग हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक फिर भी एक आज़ाद अरबी रियासत बना रहा। रफ़्ता-रफ़्ता बग़दाद की सल्तनत भी कमज़ोर पड़ी और कई छोटी-छोटी रियासतों में बंट गई, और मध्य एशिया से सेलजूक तुर्कों ने आकर बग़दाद में सियासी ताक़त क़ायम कर ली, अगर्चे खलीफ़ा उनकी मरज़ी को मानता हुआ अब भी बना रहा। अफ़ग़ानिस्तान में सुल्तान महमूद गज़नवी नाम का एक तुर्क उठ खड़ा हुआ, जो कि बड़ा अच्छा सिपाही था और फ़ौजी कप्तान था। उसने खलीफ़ाओं की कुछ परवा न की, बल्कि उन्हें ताने देता रहा। लेकिन फिर भी बग़दाद इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक केंद्र बना रहा और दूर का स्पेन भी अपनी प्रेरणा के लिए उसका मुंह देखता। उस वक़्त यूरोप विद्या, विज्ञान, कला और ज़िंदगी की आसाइशों में पिछड़ा हुआ था। यह अरबी स्पेन था, और ख़ास तौर पर कारडोबा की यूनिवर्सिटी थी, जिसने कि यूरोप में उस सारे अंधकार युग में ज्ञान और जिज्ञासा का दीपक जगाए रक्खा, और उसके प्रकाश ने यूरोपीय अंधकार को कुछ हद तक दूर किया।

ईसाइयों के मुसलमानों के ख़िलाफ़ धर्म-युद्ध (क्रूसेड) १०९५ ई० में शुरू हुए और क़रीब डेढ़ सदी तक चलते रहे। वह महज़ दो उग्र धर्मों, कलीसा और हिलाल की आपस की लड़ाई की हैसियत नहीं रखते थे। मशहूर इतिहासकार प्रोफ़ेसर जी० एम्० ट्रेवेलियन ने बताया है कि "यह धर्म-युद्ध (क्रूसेड) नई स्फूर्ति से जगते हुए यूरोप की पूरब तक पहुँचने की आम ख्वाहिश के फ़ौजी और मज़हबी पहलू थे। और इन धर्म-युद्धों से जो पुरस्कार यूरोप लेकर वापस आया वह पवित्र ईसाई धर्म की क़ायम रहने वाली आज़ादी न थी, न ईसाइ-

यत की एकता थी, क्योंकि इन धर्म-युद्धों की कहानी ही इस बात को झुठला देती है। वह दर-अस्ल ले आया ललित कलाएं और हुनर, आराम के साधन, विज्ञान, और मानसिक जिज्ञासा—यानी वह सभी चीज़ें जिनसे कि साधु पीटर सबसे ज़्यादा नफ़रत करता।"

आख़िरी धर्म-युद्ध (क्रूसेड) के एक ग़ैर-शानदार तरीक़े पर ख़त्म होने से पहले ही, बीच एशिया में कुछ तूफ़ानी और तहलका मचा देने वाली घटनाएं घटीं। चंगेज़ ख़ां ने बरबादी ढहाने वाला अपना धावा पच्छिम की तरफ़ शुरू कर दिया। इसका जन्म मंगोलिया में ११५५ ई० में हुआ था और १२१९ में उसने अपना यह बड़ा धावा शुरू किया, जिसने कि मध्य एशिया को एक दहकते हुए वीराने में तबदील कर दिया। उस वक़्त वह कोई नौजवान अल्हड़ न था। बुख़ारा, समरकंद, हेरात और बल्ख़, यह आलीशान शहर, जिनमें से हर एक की आबादी दस लाख से ज़्यादा थी, जलाकर ख़ाक कर दिए गए। चंगेज़ रूस में कीव तक गया, फिर लौट आया। चूंकि बग़दाद उसके रास्ते में नहीं पड़ता था, इसलिए वह किसी तरह बच गया। १२२७ में, ७२ साल की उम्र पाकर वह मरा। उसके उत्तराधिकारी और आगे यूरोप तक पहुँचे और १२५८ में हलाकू ने बग़दाद पर क़ब्ज़ा किया और विद्या और कला के एक मशहूर मरकज़ का, जहां कि पांच सौ बरसों से दुनिया के हर एक हिस्से से आकर ख़ज़ाने इकट्ठे हुए थे, ख़ातमा कर दिया। इसने, एशिया में, अरब और ईरान की मिली-जुली ख़ास तहज़ीब को, बड़ा धक्का पहुँचाया, अगर्चे यह तहज़ीब मंगोलियों के ज़माने में भी, ज़िंदा रही—खास तौर पर उत्तरी अफ्रीका और स्पेन में। आलिमों के दल-के-दल अपनी किताबें लिए हुए बग़दाद से क़ाहिरा और स्पेन पहुँचे और इन जगहों में कला और विद्या की एक नई जागृति हुई। लेकिन ख़ुद स्पेन अरब वालों के हाथों से खिसक रहा था और १२३६ ई० में कारडोवा का पतन हो चुका था। इसके बाद और ढाई सदियों तक ग्रैनाडा की रियासत अरबी तहज़ीब का चमकीला मरकज़ बनी रही। १४९२ ई० में ग्रैनाडा भी फ़र्डिनेंड और इसाबेला के हाथों में चला गया और स्पेन में अरबी हुकूमत का अंत हुआ। इसके बाद अरब वालों का ख़ास मरकज़ क़ाहिरा बन गया, अगर्चे यह तुर्कों के क़ब्ज़े में आगया। आटोमन तुर्कों ने १४५३ ई० में कुस्तंतुनिया को क़ब्ज़े में कर लिया, और इस तरह उन शक्तियों को प्रस्तुत किया, जिन्होंने कि बाद में यूरोपीय नव-जागृति को जन्म दिया।

एशिया और यूरोप में, मंगोलों की यह विजयें युद्ध की कला में एक नयापन पेश करती हैं। लिडेल हार्ट का कहना है कि "जहां तक दुश्मन को हैरत में डाल देने और तेज़ हरकत की बात है, जहां तक फ़ौजी हिकमत और बग़ैर सामना किए हुए हमला करने की तरकीब का मामला है, उनके (मंगोलों के)

हमले तारीख़ में अपना सानी नहीं रखते।" चंगेज़ खां अगर दुनिया का सबसे बड़ा फ़ौजी नेता नहीं है तो बिला-शुबहा सबसे बड़े नेताओं में से एक है। उसके और उसके शानदार वारिसों के आगे एशिया और यूरोप की बहादुरी तिनके की तरह थीं, और इसे महज़ एक इत्तिफ़ाक़ समझना चाहिए कि पच्छिमी और बीच का यूरोप फ़तह होने से बच गया। इन मंगोलों से, यूरोप ने, फ़ौजी हिक-मत और लड़ाई की कला के बारे में, नए सबक़ सीखे। इन मंगोलों के ज़रिये बारूद का इस्तैमाल भी, जो कि चीन की चीज़ थी, इन्होंने जाना।

मंगोल हिंदुस्तान में नहीं आए। वह सिंध नदी तक आकर रुक गए और दूसरी जगहों पर जाकर उन्होंने फ़तहें हासिल कीं। जब उनकी सल्तनत ख़त्म हुई, तो एशिया में कई छोटी-छोटी रियासतें क़ायम हुईं, और फिर १३६९ ई० में, तैमूर ने, जो कि तुर्क था और मां की तरफ़ से चंगेज़ खां का औलाद होने का दावा करता था, चंगेज़ के कारनामों को दुहराने की कोशिश की। उसकी राजधानी, समरकंद, फिर एक सल्तनत का सदर मुक़ाम बनी, अगर्चे यह सल्त-नत ज्यादा दिनों की नहीं थी। तैमूर की मौत के बाद, उसके वारिसों की दिल-चस्पी फ़ौजी कारनामों में कम रही, बल्कि वह शांति की ज़िंदगी बसर करने और कलाओं को तरक्क़ी देने में ज़्यादा लगे रहे। मध्य एशिया में तैमूरियों के नाम पर मशहूर एक नई जागृति हुई और इस फ़िज़ा में तैमूर के एक वंशज, बाबर, ने जन्म लिया, और बड़ा हुआ। बाबर हिंदुस्तान में मुग़ल-वंश का क़ायम करने वाला था; वह शानदार मुग़लियों में पहला था। दिल्ली उसने १५२६ में जीता।

चंगेज़ खां मुसलमान नहीं था, जैसा कि कुछ लोग इसलिए ख़याल करते हैं कि उसका नाम इस्लाम से मिल-जुल गया है। कहा जाता है कि वह शामाई मज़हब का मानने वाला था, जो कि एक आसमानी मज़हब था। यह मज़हब क्या था मैं नहीं जानता, लेकिन नाम से लाज़िमी तौर पर उस लफ़्ज़ की तरफ़ ध्यान जाता है जो कि अरब वालों ने बौद्धों के लिए दे रक्खा था, यानी शामानी, जो कि संस्कृत श्रमण से निकला है। उस ज़माने में बौद्ध धर्म के बिगड़े हुए रूप एशिया के मुख़्तलिफ हिस्सों में फैले हुए थे, और इन हिस्सों में मंगोलिया भी था; और यह मुमकिन है कि चंगेज़ खां इनके असर में पला हो। यह एक बड़ा अटपटा ख़याल है कि इतिहास का सबसे बड़ा फ़ौजी विजेता शायद किसी तरह का बौद्ध था।[1]

---

[1] एक तरह का शामानी या शामाई मत अब भी आर्क्टिक प्रदेश के साइबेरिया, मंगोलिया और सोवियत मध्य एशिया के तन्ना-तुवा में चलता है; इसका आधार प्रेतात्माओं में पूरे तौर पर विश्वास पर जान पड़ता है

मध्य एशिया में, आज भी, बड़े विजेताओं में चार के नाम क़िस्से-कहानियों तक में चलते हैं और याद किए जाते हैं—सिकंदर, सुल्तान महमूद, चंगेज़ खां और तैमूर। इन चारों के साथ अब एक पांचवां नाम जोड़ने की ज़रूरत है, जो कि एक दूसरे ही क़िस्म का आदमी था, एक दूसरे ही मैदान का लड़ाका और विजेता था, जिसके नाम के गिर्द क़िस्से-कहानियां बनने लग गई हैं, यानी लेनिन।

२ : अरबी सभ्यता के फूल का खिलना और हिंदुस्तान से संपर्क

एशिया और अफ्रीका के बड़े हिस्से और यूरोप का एक टुकड़ा जीत लेने के बाद अरब वालों ने अपने दिमाग़ को, दूसरे ही मैदानों में, फतह हासिल करने के लिए फेरा। सल्तनत मज़बूत की जा रही थी, बहुत से नए मुल्क उसकी नज़र के दायरे में आ चुके थे और वह इस दुनिया और उसके तरीकों को जानने के ख्वाहिशमंद थे। आठवीं और नवीं सदियों के अरब वालों में बड़े मार्के की मानसिक जिज्ञासा, विवेकपूर्ण चिंतन और वैज्ञानिक जाँच की भावना मिलती है। आम तौर पर, किसी भी मज़हब में, जिसकी बुनियाद, निश्चित विचारों और यक़ीनों पर होती है, शुरू के दिनों में प्रबल विश्वास रहता है और उससे इधर-उधर हटना नहीं पसंद किया जाता न उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। यह विश्वास अरब वालों को दूर-दूर तक ले गया था और उनकी विजय-पूर्ण सफलता ने ही उनके विश्वास को और भी गहरा बना दिया होगा। फिर भी हम पाते हैं कि वह मज़हबी अक़ीदों और हठवाद की हद को लांघकर, जड़वाद के सिद्धांतों पर भी सोच विचार करते हैं और अपनी स्फूर्ति और उत्साह का साहसी विचार की तरफ़ मोड़ते हैं। अरब यात्री, जो कि अपने ढंग में बेजोड़ थे, दूर मुल्कों में यह जानने और समझने के लिए जाते हैं कि वहां के लोग क्या कर-धर या विचार कर रहे हैं और उनके फ़िलसफ़े, विज्ञान और रहन-सहन का क्या रवैया है, और इसी के बाद वह अपने खयालों को तरक्क़ी देते हैं। बाहर से विद्वान् बुलाकर बग़दाद में लाए गए, और किताबें

और बौद्ध धर्म से इसका कोई भी ताल्लुक़ नहीं है। लेकिन हो सकता है कि बहुत पुराने ज़माने में बौद्ध धर्म के किसी बिगड़े हुए रूप का इस पर असर पड़ा हो और बाद में वह मुक़ामी आदिम अंध-विश्वासों से मिल-जुल गया हो। तिब्बत में, जो कि माना हुआ बौद्ध मुल्क है, एक अपने ही ढंग का बौद्ध धर्म रायज़ है, जिसे कि लामा मत कहते हैं। मंगोलिया में भी जहां कि शामानी मत का प्रचार है, बौद्ध परंपरा जीवित है। इस तरह उत्तरी मध्य एशिया में विश्वास के अनेक दर्जे मिलेंगे जो बौद्ध धर्म से लेकर आदिम विश्वासों तक पहुंचते हैं।

मंगाई गईं और खलीफा अल-मंसूर (आठवीं सदी के बीच में) ने खोज और तर्जुमे के इदारे क़ायम किए जहां कि यूनानी, सिरियन, ज़ेंद, लातीनी और संस्कृत से तर्जुमे किए जाते थे। सिरियन, एशिया माइनर और लेवांट के पुराने मठों की पांडुलिपियों के पाने के लिए खूब छान-बीन हुई। ईसाई पादरियों ने सिकंदरिया के पुराने विद्यालयों को बंद कर दिया था और वहां के विद्वानों को निकाल दिया था। इनमें से बहुत से देश-निकाले लोग ईरान और दूसरी जगहों में चले गए थे। अब उन्हें बगदाद में पनाह मिली और वह अपने साथ यूनानी फ़िलसफ़ा और विज्ञान और गणित ले आए--यानी अफ़लातून और अरस्तू, बतलीमूस और उक्लैदिस से यहां के लोगों का परिचय कराया। यहां पर नस्तूरी और यहूदी विद्वान् और हिंदुस्तानी वैद्य, फ़िलसूफ़ और गणितज्ञ मौजूद थे। यह हालत हारूं रशीद और अल-मामून (आठवीं और नवीं सदियों में) खलीफ़ाओं के ज़मान तक चलती रही और तरक्क़ी करती रही, और बगदाद सभ्य दुनिया का सबसे बड़ा आलिमों का मरकज़ बन गया।

इस ज़माने में हिंदुस्तान से इसके बहुत से संपर्क रहे और अरब वालों ने हिंदुस्तानी गणित, ज्योतिष और औषध विद्या से बहुत कुछ हासिल किया। और फिर भी, ऐसा जान पड़ता है कि इन संपर्कों के लिए प्रेरणा खास तौर पर अरबों की थी, और अगर्चे अरबों ने हिंदुस्तान से बहुत कुछ सीखा, हिंदुस्तानियों ने अरबों से ज़्यादा नहीं सीखा। हिंदुस्तानी अपने घमंड में डूबे, अलग-थलग और जहाँ तक हो सका अपने ही खोल के भीतर समाए रहे। यह एक बदक़िस्मती की बात है, क्योंकि बगदाद और अरबी नवजागृति के दिमागी खुमार ने हिंदुस्तानी दिमाग को ठीक उस वक्त जगाया होता जब कि वह अपनी रचनात्मक शक्ति बहुत कुछ खो रहा था। मानसिक जाँच-पड़ताल की इस भावना को और भी पुराने ज़माने के हिंदुस्तानियों ने अपने विचारों के अनुकूल पाया होता।

बगदाद में, हिंदुस्तानी इल्म और विज्ञान के पढ़ने को, बलशाली बरमक घराने वालों ने, जिनमें से कि हारूं रशीद के वज़ीर होते रहे हैं, बड़ा प्रोत्साहन दिया। यह घराना शायद पहले बौद्ध धर्म का मानने वाला था और इसने बाद में मज़हब बदल लिया था। हारूं रशीद की किसी बीमारी के मौक़े पर मणक नाम का एक वैद्य हिंदुस्तान से बुलाया गया। मणक बगदाद में बस गया और एक बड़े अस्पताल का व्यवस्थापक बना दिया गया। अरबी लेखकों का कहना है कि मणक के अलावा उस वक़्त बगदाद में छः और हिंदुस्तानी वैद्य रहा करते थे। ज्योतिष में अरबों ने हिंदुस्तानियों और सिकंदरिया वालों, दोनों, से आगे तरक्क़ी की और दो नाम उनके यहाँ मशहूर हैं--अल-ख्वारिज़्मी, जो कि नवीं सदी का गणितज्ञ और नजूमी था, और उमर ख़य्याम, जो कि

बारहवीं सदी में कवि और नजूमी दोनों हैसियतों से मशहूर हुआ। औषध शास्त्र में, अरब चिकित्सक और जर्राह एशिया और यूरोप में मशहूर थे। इन में से सबसे मशहूर बुखारा का इब्नसीना था जो कि हकीमों का बादशाह कहलाया है। उसकी मृत्यु १०३७ ई० में हुई। अरब विचारकों और फ़िलसूफ़ों में एक बड़ा नाम अबू नस्र फ़ाराबी का है।

फ़िलसफ़े में हिंदुस्तान का असर ज़्यादा हुआ नहीं जान पड़ता। फ़िलसफ़े और विज्ञान, इन दोनों के लिए अरब वाले यूनान और पुराने सिकंदरिया के विद्यालयों की तरफ़ झुकते थे। अफ़लातून और ख़ास तौर पर अरस्तू ने अरब खयाल पर गहरा असर डाला है और अब तक इस्लामी मदरसों में उनकी पढ़ाई, मूल की मदद से नहीं बल्कि अरबी शरहों के ज़रिये, ख़ास मज़मूनों की हैसियत से, होती है। सिकंदरिया की नौ-अफ़लातूनियत का असर भी अरबी दिमाग़ पर हुआ और यूनानी फ़िलसफ़े के जड़वादी ख़याल भी अरबों तक पहुंचे और इससे उनके यहां बुद्धिवाद और जड़वाद की शुरुआत हुई। जड़वादियों ने मज़हब से क़रीब-क़रीब क़तई इंकार किया है। जो बात ग़ौर करने की है वह यह है कि बग़दाद मे इन मुख़्तलिफ़ और विरोधी सिद्धांतों पर बहस-मुबाहसा करने की पूरी आज़ादी थी। मज़हब और अक्ल के बीच का यह मुबाहसा और झगड़ा बग़दाद से सारी अरबी दुनिया में फैला और स्पेन तक पहुंचा। ख़ुदा की सीरत के बारे में मुबाहसे हुए और यह बताया गया कि उसमें उस तरह के किन्हीं गुणों का आरोप नहीं हो सकता, जिनका उसमें होना कहा जाता है। यह गुण इंसानी हैं। यह कहा गया कि ख़ुदा को रहीम या नेक बताना उतनी ही पस्त और ला-मज़हब बात होगी जितना कि यह कहना कि उसके दाढ़ी है।

बुद्धिवाद से भौतिकवाद और संदेहवाद का रास्ता खुला। लेकिन बग़दाद की पस्ती और तुर्की ताक़त की तरक्क़ी के साथ-साथ बुद्धिवादी जिज्ञासा की भावना मंद पड़ गई। लेकिन अरबी स्पेन में यह फिर भी जारी रही और स्पेन का एक मशहूर अरबी फ़िलसूफ़ तो मज़हब से इन्कार करने की हद तक पहुँचा। यह इब्नरश्द था, जो कि बारहवीं सदी में हुआ है। बताया जाता है कि उसने कहा था कि उसके ज़माने के सभी मज़हब या तो बच्चों के लिए या बेवक़ूफ़ों के लिए हैं या ऐसे हैं कि उन पर अमल नहीं किया जा सकता। उसने दर-असल ऐसा बयान किया या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता, लेकिन जो परंपरा है उससे पता चलता है कि वह किस तरह का आदमी था, और अपने विश्वासों के लिए उसने तकलीफ़ें सहीं। औरतों को जनसाधारण के कामों में हिस्सा लेने का मौक़ा मिलना चाहिए, इसके हक़ में उसने ज़ोरों से लिखा है और कहा है कि वह इन कामों को पूरी तौर पर अंजाम दे सकती हैं। उसने

यह भी सुझाव दिया है कि ऐसे लोगों को, जिनका इलाज नहीं हो सकता, और इसी तरह के दूसरे लोगों को मिटा देना चाहिए क्योंकि वह समाज पर एक बोझ हैं। स्पेन उस वक्त यूरोप के और इल्मी मरकज़ों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था, और कारडोबा के अरबी और यहूदी आलिमों की पेरिस में और दूसरी जगहों में बड़ी क़द्र होती थी। टोलेडो के सईद नाम के एक अरबी लेखक ने पिरेनीज़ के उत्तर मे रहने वाले यूरोपियनों का इस तरह बयान किया है : "वह ठंडी प्रकृति के होते हैं और उनमें पुख्तगी कभी नहीं आती। वह क़द के लंबे और रंग के गोरे-चिट्टे होते हैं, लेकिन उनमें अक्ल की तेज़ी और दिमाग़ी सूझ-बूझ नहीं होती।"

पच्छिमी और मध्य एशिया में अदबी तहज़ीब ने जो फूल खिलाए उनकी प्रेरणा अरबी और ईरानी, इन दो आधारों से मिली। दोनों आपस में खूब घुल-मिल गए और उन्होंने खयाल का ज़ोर पैदा किया और ऊंचे दर्जे के लोगों के ऊंचे रहन-सहन की हालत पैदा की। अरबों से ताक़त और जाँच की भावना आई, ईरानियों ने ज़िंदगी के लुत्फ़ और कला और आसाइशों को पेश किया। तुर्की हुकूमत में ज्यों-ज्यों बग़दाद की तनज्ज़ुली हुई त्यों-त्यों बुद्धिवादी और जिज्ञासा की भावना भी मिटी। चंगेज़ खां और मंगोलों ने इन सभी का खात्मा कर दिया। सौ साल बाद मध्य एशिया फिर जगा और समरकंद और हेरात चित्र-कला और वास्तु-कला के केंद्र बने और उन्होंने अरब और ईरान की मिली-जुली सभ्यता की परंपरा में फिर से कुछ जान फूंकी। लेकिन अरबी बुद्धिवाद और विज्ञान फिर न जगे। इस्लाम एक ज़्यादा सख्त और बेलोच मज़-हब बन गया जो कि फ़ौजी फ़तहों के लिए माफ़िक पड़ता था, दिमाग़ी फ़तहों के लिए नहीं। एशिया में इसके खास नुमाइंदे अरब वाले न रहे बलिक तुर्क[1] और मंगोल (जो बाद में हिंदुस्तान में जाकर मुग़ल कहलाए) बने, और कुछ हद तक अफ़ग़ानी। पच्छिमी एशिया के यह मंगोल मुसलमान हो गए थे; सुदूर पूरब में और बीच के इलाकों में बहुत से बौद्ध बन गए थे।

३ : महमूद ग़ज़नवी और अफ़ग़ानी

आठवी सदी के शुरू मे, ७१२ ई० में, अरब वाले सिंध पहुंचे थे और उन्होंने यहाँ अधिकार कर लिया था। वहीं वह ठहर गए। क़रीब पचास

---

१ मैंने अक्सर तुर्क या तुर्की लफ्ज़ का इस्तैमाल किया है। इससे धोखा हो सकता है क्योंकि 'तुर्क' से जब तुर्की के लोगों से मतलब लिया जाता है, जो कि ओसमानली या आटोमान तुर्कों की औलाद हैं। लेकिन और तरह के तुर्क भी थे—सेलजुक वग़ैरह। मध्य एशिया, चीनी तुर्किस्तान वग़ैरह की सभी तूरानी जातियां तुर्क या तुर्की कहला सकती हैं।

साल के भीतर ख़ुद सिंध अरबी सल्तनत से अलहदा हो गया, अगर्चे यह एक छोटी आज़ाद मुसलमान रियासत की हैसियत से बना रहा। क़रीब तीन सौ साल बाद तक फिर कोई और हमला या धावा हिंदुस्तान पर न हुआ। १००० ई० के आस पास, अफ़ग़ानिस्तान में ग़ज़नी के सुल्तान महमूद ने, जो कि तुर्क था, और जिसने कि मध्य एशिया में अच्छी ताक़त बना ली थी, हिंदुस्तान पर धावे शुरू किए। ऐसे बहुत से धावे हुए और यह धावे खूं-नाक और बे-दर्दी के थे, और हर मौक़े पर महमूद अपने साथ लूट का बड़ा ख़ज़ाना ले गया। उसी ज़माने के एक आलिम, ख़ीवा के रहने वाले अल्बेरूनी ने, इन हमलों का बयान किया है : "हिंदू धूल के कनों की तरह चारों तरफ तितर-बितर हो गए, और लोगों के मुंह में किसी पुराने क़िस्से की तरह उनकी याद रह गई। जो तितर-बितर होकर बच रहे वह सभी मुसलमानों की तरफ़ हद दर्जे की नफ़रत से देखते हैं।" इस शायराना बयान से हमें उस आफ़त का कुछ अंदाज़ मिलता है जो महमूद ने ढाई थी, ताहम हमें यह याद रखना चाहिए कि महमूद ने उत्तरी हिंदुस्तान के सिर्फ़ एक टुकड़े को छुआ और लूटा था, जो कि उसके धावे के रास्ते में पड़े थे। सारा-का-सारा मध्य, पूरबी और दक्खिनी हिंदुस्तान उससे बिलकुल बच गया था।

उस वक़्त और बाद में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ज़बर्दस्त चोल साम्राज्य की हुकूमत थी, जिसने कि समुद्री रास्तों को क़ाबू में कर रक्खा था, और जो जावा में श्री विजय तक और सुमात्रा तक फैला हुआ था। पूरबी समुद्र के देशों में हिंदुस्तानी नौ-आबादियां भी तरक्क़ी पर और बलशाली थीं। उनके और दक्खिनी हिंदुस्तान के बीच समुद्री ताक़त बढ़ी हुई थी। लेकिन यह हिंदुस्तान को ख़ुश्की की राह होने वाले हमले से न बचा सकी।

महमूद ने पंजाब और सिंध को अपने राज्य में मिला लिया और वह हर हमले के बाद ग़जनी लौट जाता रहा। वह कश्मीर न जीत पाया। इस पहाड़ी देश ने कामयाबी के साथ उसे रोका और मार भगाया। उसे राजपूताने के रेगिस्तानी प्रदेश में भी गहरी हार खानी पड़ी जब कि वह काठियावाड़ में सोमनाथ से वापस आ रहा था।[1] यह उसका आख़िरी धावा था और इसके बाद वह फिर न लौटा।

---

१ इस हार के बारे में, "तारीखे-सोरठ" (रणछोड़जी अमर जी द्वारा अनूदित, बंबई, १८८२) नाम के एक पुराने फ़ारसी इतिहास में एक अजीब बयान आया है (पृष्ठ ११२) : "शाह मुहम्मद ने घबड़ाहट में भाग कर अपनी जान बचाई, लेकिन उसके बहुत से साथी, मर्द और औरत, पकड़ लिए गए···तुर्क, अफ़ग़ान और मुग़ल औरत कैदियों से, अगर वह क्वारी हुई तो,

महमूद मज़हबी आदमी होने के बनिस्बत कहीं ज्यादा लड़ाका था, और बहुत से और विजेताओं की तरह उसने अपनी फ़तहों में मज़हब के नाम से फ़ायदा उठाया। उसके लिए हिंदुस्तान महज़ एक ऐसा मुल्क था, जहां से वह माल और खजाना लूट कर अपने देस में पहुंचा सकता था। उसने हिंदुस्तान में एक फौज भरती की और उसे अपने एक मशहूर सिपहसालार की मातहत, जिसका कि नाम तिलक था, और जो कि एक हिंदुस्तानी और हिंदू था, कर दिया। इस फ़ौज का इस्तैमाल उसने खुद अपने मज़हब वालों के ख़िलाफ़ मध्य एशिया में किया। उसकी यह बड़ी ख्वाहिश थी कि अपनी राजधानी ग़जनी को मध्य और पच्छिमी एशिया के बड़े शहरों के मुक़ाबले का बना दे, और इसलिए वह हिंदुस्तान से बहुत से कारीगर और मेमार ले गया था। इमारतों के बनाने में उस की दिलचस्पी थी, और दिल्ली के क़रीब मथुरा शहर का उस पर बड़ा असर पड़ा। इसके बारे में उसने लिखा :' 'यहां हज़ारों इमारतें हैं जो कि मज़हबियों के मज़हब की तरह मज़बूत है; यह मुमकिन नहीं कि उसका यह हालत करोड़ों दीनार के खर्च किए बग़ैर हुई हो, और इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल से कम ज़माने में नहीं तैयार हो सकता।"

लड़ाइयों के बीच फ़ुरसत के वक्तों में महमूद की दिलचस्पी इस बात में थी कि अपने देस की तहज़ीबी रुझानों को तरक्क़ी दिलाए, और उसने अपने यहां बहुत से मशहूर लोगों को इकट्ठा कर लिया था। इनमें से मशहूर फ़ारसी कवि फ़िरदौसी भी था, जिसने कि 'शाहनामा' रचा था, और जिसकी कि बाद म महमूद से अनबन हो गई थी। अल्बेरूनी, जो कि यात्री और आलिम था, उसका समकालीन हुआ है, और इसने अपनी किताबों में उस वक्त के मध्य एशिया के और पहलुओं की झांकी पेश का है। खीवा में उसका

हिंदुस्तानी सिपाहियों नें ब्याह कर लिए...औरों के पेट जुलाब और रेचक दवाएं देकर साफ़ किए गए, और उसके बाद कैदियों का उसी वर्ग के लोगों के साथ ब्याह कर दिया गया।" "नीचे वर्ग की औरतें नीचे वर्ग के लोगों से ब्याही गईं। शरीफ आदमियों की दाढ़ियां मुंडवा दी गईं और वह राजपूतों की शेखावट और वढिल जातियों में शरीक कर लिए गए; और नीचे वर्ग के लोग कोलियों, खांतों, बबरियों और मेरों की जातियों में मिला लिए गए।" मैंने खुद 'तारीखे-सारठ' नहीं देखी है और कह नहीं सकता कि इसे कहां तक प्रामाणिक माना जा सकता है। मैंने यह उद्धरण के० एम० मुंशी की किताब 'दि ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश' से लिया है (भाग ३, पृष्ठ १४०)। विदेशियों के राजपूतों के फ़िरकों में मिला लेन का ढंग दिलचस्प है, और यह बात कि शादियां तक हुईं। शुद्धि का जो तरीक़ा बताया गया है, वह अजीब है।

जन्म हुआ था, लेकिन वह फ़ारसी ख़ान्दान का था। वह हिंदुस्तान आया और यहां उसने ख़ूब यात्राएं कीं। वह दक्खिन के चोल राज्य के आबपाशी के बड़े कामों के हाल बताता है, अगर्चे इसमें शक है कि वह ख़ुद दक्खिन हिंदुस्तान गया भी था। उसने कश्मीर में संस्कृत सीखी और हिंदुस्तान के मज़हब, फ़िलसफ़े, विज्ञान और कलाओं की जानकारी हासिल की। इससे क़ब्ल उसने यूनानी फ़िलसफ़े को पढ़ने के लिए यूनानी ज़बान भी सीखी थी। उसकी किताबें न महज़ मालूमात का एक ख़जाना है, बल्कि उनसे हमें यह भी पता चलता है कि किस तरह लड़ाई और लूट मार और क़त्ल के ज़माने में भी सब्र के साथ लोग इल्म हासिल करने में लगे रहते थे और किस तरह एक मुल्क के लोग दूसरे मुल्क वालों की बातों को उस वक्त भी समझने की कोशिश में लगे हुए थे जब कि जोश और गुस्से ने उनके आपस के संबंध को तीखा बना दिया था। इस जाश और गुस्से ने, बिला-शुबहा, दोनों ही तरफ़ के लोगों की बुद्धि को मंद कर दिया था और हर एक अपने को दूसरे से, ऊंचा ख़याल करता था। हिंदुस्तानियों के बारे में अल्बेरूनी कहता है कि वह "गर्वीले, मूर्खता पूर्ण घमंडी, अपने में संतुष्ट और बेवकूफ़ हैं" और उनका यकीन है कि "उनके मुल्क जैसा दूसरा मुल्क नहीं, उनकी क़ौम जैसी दूसरी क़ौम नहीं, उनके राजों जैसे दूसरे राजे नहीं और उनके विज्ञान जैसा दूसरों का विज्ञान नहीं।" शायद यह लोगों के रुख़ का काफ़ी सही बयान है।

महमूद के हमले हिंदुस्तान के इतिहास की एक बड़ी घटना है, अगर्चे सियासी तौर पर सारे हिंदुस्तान पर कुछ ज्यादा असर नहीं पड़ा और हिंदुस्तान का खास हिस्सा अछूता रह गया। उनसे उत्तरी हिंदुस्तान की कमज़ोरी और ज़वाल का पता चलता है और अल्बेरूनी के बयान इस बात पर और भी रोशनी डालते हैं कि उत्तर और पच्छिम में राजनीतिक हालत कैसी बिगड़ी हुई थी। पच्छिमोत्तर से होने वाले यह बार-बार के हमले हिंदुस्तान के बंधे हुए विचार और अर्थ तंत्र में बहुत से नए तत्त्व लेकर आए। सब से खास बात यह है कि वह यहां इस्लाम को ले आए, जो कि पहली बार बेरहम फ़ौजी फ़तहों के साथ यहां आया। अब तक, क़रीब तीन सौ साल क़ब्ल से, इस्लाम यहां शांति के साथ, एक मज़हब की हैसियत से आया था, और उसने बिना झगड़े-फ़साद के, अपनी जगह और मज़हबों के साथ-साथ बना ली थी। उसके इस नए तरीक़े ने लागों में ज़बर्दस्त मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं पैदा कीं और उनके दिलों में कड़ुआपन भर दिया। एक नए मज़हब से कोई एतराज न था, लेकिन अगर कोई चीज़ ज़बर्दस्ती उनके रहन-सहन के ढंग में ख़लल डाले और उसे उलट-पलट दे तो इसके खिलाफ़ उनके दिलों में गहरा विरोध था।

यह याद रहे कि हिंदुस्तान बहुत से मज़हबों का मुल्क रहा है, बावजूद

इसके कि हिंदू मज़हब अपनी मुख्तलिफ़ शकलों में हावी रहा हो। जैन धर्म और बौद्ध धर्म को छोड़ दिया जाय, जो कि ज़्यादातर हिंदू धर्म में जज़्ब हो गए थे, तो भी ईसाई और इब्रानी मज़हब रह जाते हैं। यह दोनों मज़हब हिंदुस्तान में ग़ालिबन ईसा से बाद की पहली सदी में आए थे, और दोनों ने इस मुल्क में जगह कर ली थी। दक्खिन हिंदुस्तान में बहुत से सिरियन ईसाई और नस्तूरी थे, और वह इस देश के वैसे ही अंग थे जैसे और लोग थे। यही हाल यहूदियों का था, और ज़रथुष्ट्र के अनुयायियों के उस छोटे से दल का भी था, जो कि ईरान से सातवीं सदी में हिंदुस्तान आए थे। और यही हालत बहुत से मुसलमानों की भी थी जो कि उत्तर-पच्छिम से आकर पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गए थे।

महमूद विजेता की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का, एक सरहदी सूबा बन गया। फिर भी जब वह वहां का शासक बन बैठा तो उसके पहले के तरीक़ों को दूर करने और कुछ हद तक सूबे के लोगों की खुशी हासिल करने की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब इतना दखल नहीं दिया जाता था, और फौज में और हुकूमत में ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर हिंदू मुकर्रर किए जाने लगे थे। महमूद के ज़माने में इस तौर की शुरुआत भर हो पाई थी; बाद में इस रुझान ने और तरक्क़ी की।

महमूद १०३० ई० में मरा। उसकी मौत के बाद एक सौ साठ से ज़्यादा सालों तक कोई दूसरा हमला न हुआ और न तुर्की हुकूमत पंजाब से आगे बढ़ी। इसके बाद, शहाबुद्दीन ग़ोरी नाम के एक अफ़ग़ान ने ग़ज़नी पर क़ब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवियों की सल्तनत का खात्मा हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया, फिर दिल्ली पर, लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया। शहाबुद्दीन अफ़ग़ानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक नई फ़ौज लेकर हिंदुस्तान में उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और ११९२ में वह दिल्ली के तख्त पर बैठा।

पृथ्वीराज एक लोकप्रिय नायक है और गीतों और कहानियों में अब भी मशहूर है, क्योंकि साहसी प्रेमी हमेशा हर-दिल अज़ीज़ होते हैं। वह अपनी प्रेमिका को उसके पिता, कन्नौज के राजा जयचंद के महल से भगा लाया था और बहुत से छोटे-छोटे राजों को, जो उसको वरने के लिए आए थे, चुनौती दी थी। थोड़े वक़्त के लिए उसने अपनी प्रेमिका को ज़रूर पा लिया था, लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि एक शक्तिशाली शासक से उसकी लड़ाई छिड़ गई और दोनों तरफ़ से बहुत से योद्धा काम आए। दिल्ली और मध्य हिंदुस्तान के बहादुर आपस की लड़ाई में लग गए और बहुत खून-खराबा हुआ। इस तरह एक औरत की खातिर पृथ्वीराज ने अपना जान गंवाई और अपना

तख़्त खोया, और दिल्ली, जो कि एक सल्तनत की राजधानी थी एक विदेशी हमलावर के हाथ में चली गई। लेकिन उसकी प्रेम कहानी अब भी कही जाती है और उसे नायक गिना जाता है और जयचंद को क़रीब-क़रीब देश-द्रोही समझा जाता है।

दिल्ली की इस फ़तेह के यह मानी नहीं थे कि सारा हिंदुस्तान फ़तेह हो गया। चोल-वंश दक्खिन में अब भी शक्तिशाली था और दूसरी खुद-मुख़्तार रियासतें भी थीं। अफ़ग़ानों को दक्खिन हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से में अपनी हुकूमत फैलाने में और भी डेढ़ सदी लग गई। लेकिन दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मार्के की बात थी और नई व्यवस्था का यह एक प्रतीक था।

४ : भारतीय-अफ़ग़ान : दक्खिन हिंदुस्तान : विजयनगर : बाबर : समुद्री ताक़त

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेजों ने और कुछ हिंदुस्तानी इतिहासकारों ने भी तीन बड़े हिस्सों में बांटा है—प्राचीन या हिंदू, मुस्लिम, और अंग्रेज़ी-काल। यह बंटवारा न अक़्ल का है और न सही है; इससे धोखा होता है और यह हमारे सामने एक ग़लत मंजर पेश करता है। इसमें ऊपर के वर्गों के कुछ सतही परिवर्तनों का ख्याल किया गया है, बनिस्बत इसके कि हिंदुस्तानियों के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की ख़ास-ख़ास तब्दीलियों का ख़याल किया गया है। तथा-कथित प्राचीन काल बड़ा विशाल है और परिवर्तनों से भरा हुआ है; उन्नति, ह्रास और फिर बराबर उन्नति का क्रम चलता है। जिसे मुस्लिम-काल या मध्य-युग कहते हैं उसमें भी एक तब्दीली हुई और अहम तब्दीली हुई, फिर भी यह ऊपर के लोगों तक महदूद रही, इसने हिंदुस्तानी ज़िंदगी के ख़ास सिलसिले पर ज्यादा असर नहीं डाला। वह हमलावर जो कि हिंदुस्तान में पच्छिमोत्तर से आए, ज्यादा क़दीम ज़माने में आने वाले और हमलावरों की तरह हिंदुस्तान में जज़्ब हो गए और उसके ही रहे। उनके वंश हिंदुस्तानी वंश कहलाए और आपस की शादियों की वजह से जातियों का बहुत कुछ मेल-जोल हो गया। कुछ अपवादों को छोड़कर हमें जान-बूझ कर इस बात की कोशिश की गई जान पड़ती है कि आम लोगों के रीति-रिवाजों और तरीक़ों से छेड़-छाड़ न की जाय। उन्होंने हिंदुस्तान को अपना देश समझा और हिंदुस्तान के बाहर उनके कोई दूसरे लगाव न थे। हिंदुस्तान एक आज़ाद मुल्क बना रहा।

अंग्रेज़ों के आने ने एक बड़ा फ़रक़ ला दिया, और पुरानी प्रथा बहुत कुछ जड़ से उखड़ चली। वह पच्छिम से एक बिलकुल नई प्रेरणा लाए जो कि

यूरोप में पुनर्जागृति (रेनासां), सुधार (रिफ़र्मेशन) और इंग्लिस्तान की राजनीतिक क्रांति के ज़माने से रफ़्ता-रफ़्ता तरक्क़ी कर रही थी और औद्योगिक क्रांति (इंडस्ट्रियल रिव्योलूशन) के शुरू में जिसकी रूप-रेखा बन रही थी। अमरीका और फ्रांस की क्रांतियों ने इसे और आगे बढ़ाया। अंग्रेज़ बाहरी, बिदेसी और हिंदुस्तान में बे-मेल बने रहे और अलावा कुछ और होने की उन्होंने कोशिश न की। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हिंदुस्तान के इतिहास में पहली दफ़ा उसका राजनीतिक नियंत्रण बाहर से लगाया गया और उसके अर्थतंत्र का मरकज़ एक दूर देश में रहा। उन्होंने हिंदुस्तान को आधुनिक युग की एक नौ-आबादी की तरह समझा, और हिंदुस्तान अपनी लंबी तारीख में पहली बार एक ग़ुलाम मुल्क बना।

महमूद ग़ज़नी का हमला यक़ीनी तौर पर एक बिदेसी, तुर्की, हमला था और उसका नतीजा यह हुआ कि पंजाब हिंदुस्तान के और हिस्सों से कुछ ज़माने के लिए अलग रहा। जो अफ़ग़ान यहां बारहवीं सदी के आख़िर में आए थे उनकी बात दूसरी थी। वह भारतीय-आर्य जाति के लोग थे और हिंदुस्तान के लोगों से उनका नज़दीकी रिश्ता था। दर-अस्ल लंबी मुद्दतों तक अफ़ग़ानिस्तान हिंदुस्तान का एक टुकड़ा होकर रहा है और उसे ऐसा होना ही था। उसकी भाषा पश्तो, बुनियादी तौर पर संस्कृत से निकली है। हिंदुस्तान या हिंदुस्तान से बाहर बहुत कम जगहें ऐसी हैं जहां कि हिंदुस्तानी संस्कृति की क़दीम यादगारें और खँडहर, ख़ासकर बौद्ध ज़माने के, इतनी बहुतायत से हों, जितने कि अफ़ग़ानिस्तान में हैं। ज़्यादा सही यह होगा कि अफ़ग़ान लोग भारतीय-अफ़ग़ान-कहे जायँ। उनमें और हिंदुस्तान के मैदानों के लोगों में बहुत कुछ फ़रक़ रहा है, उसी तरह जिस तरह कि कश्मीर की पहाड़ी घाटियों के लोगों में और नीचे के गर्म और मैदानी इलाक़ों के लोगों में है। लेकिन बावजूद इस फ़रक़ के कश्मीर हिंदुस्तानी इल्म और तहज़ीब का एक ख़ास मरकज़ रहा है। अफ़ग़ानियों में और ज़्यादा तहज़ीबयाफ़्ता या सादगी से हट हुए अरबों और ईरानियों में भी फ़रक़ रहा है। अपने पहाड़ी गढ़ों की तरह वह सख़्त और खौफ़नाक लोग हैं; वह लोग अपने मज़हब के पक्के, बहादुर, दिमाग़ी धंधों और गहराइयों में पड़ने से बचने वाले रहे हैं। शुरू-शुरू में उनका व्यवहार ऐसा रहा है जैसा कि विजेताओं का विद्रोही लोगों के साथ होता है, यानी कड़ा और बेरहमी का।

लेकिन जल्द ही यह नरम पड़ गए। हिंदुस्तान उनका घर बन गया और दिल्ली उनकी राजधानी रही—दूर-दराज़ ग़ज़नी नहीं, जैसा कि महमूद के ज़माने में था। अफ़ग़ानिस्तान, जहां से वह आए थे, उनके राज्य के छोर के महज़ एक हिस्से की हैसियत रखता था। हिंदुस्तानी बनने का क्रिया तेज़ी से चली और उनमें से बहुतों ने उस मुल्क की औरतों से ब्याह कर लिए। उनके

बड़े सुल्तानों में से एक, अलाउद्दीन खिलजी ने एक हिंदू औरत के साथ ब्याह किया, और इसी तरह उसके बेटे ने भी। बाद के कुछ शासक जाति के तुर्क थे, जैसे क़ुतुबुद्दीन ऐबक, सुल्ताना रज़िया और इल्तुतमिश; लेकिन उमरा और फ़ौज ज़्यादातर अफ़ग़ान ही रही। दिल्ली एक सल्तनत की राजधानी के तौर पर चमकी। मरक्को का एक मशहूर अरब यात्री इब्न बतूता, जिसने कि बहुत से मुल्क और क़ाहरा और कुस्तुंतुनिया से चीन तक के बहुत से शहर देखे थे, शायद कुछ अत्युक्ति के साथ कहता है कि दिल्ली "जहान के सबसे बड़े शहरों में एक है।"

दिल्ली की सल्तनत दक्खिन की तरफ़ फैली। चोल राज्य का ह्रास हो रहा था, लेकिन उसकी जगह पर एक नई समुद्री ताक़त उठ खड़ी हुई थी। यह पांड्य रियासत थी; इसकी राजधानी मदुरा में थी और इसका बंदरगाह पूरबी तट पर कयाल था। यह एक छोटा-सा राज्य था, लेकिन यहां व्यापार की एक बड़ी मंडी थी। चीन से वापस आते हुए मार्कोपोलो यहां दोबार रुका था, सन् १२८८ में और फिर १२६३ में, और उसने इसे 'एक बड़ा और विशाल नगर' बताया है, जहां कि अरब और चीन के जहाज़ों का जमघट रहता था। यह बहुत बारीक मलमल का भी ज़िक्र करता है जिसके तार मकड़ी के जालों जैसे लगते थे और जो हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र तट पर तैयार किया जाता था। मार्को-पोलो हमें एक और दिलचस्प बात बताता है। अरब और ईरान से बहुत बड़ी संख्या में घोड़े दक्खिन हिंदुस्तान में मंगाए जाते थे। दक्खिन हिंदुस्तान की आब-हवा घोड़ा-कशी के लिए माफ़िक नहीं आती थी, और घोड़ों की, और इस्तैमाल के अलावा, फ़ौजी कामों के लिए ज़रूरत पड़ती थी। घोड़ा-कशी के माफ़िक सबसे अच्छे मैदान मध्य और पच्छिमी एशिया में थे, और इस वाक़ए से कुछ हद तक इसका अंदाज़ लगेगा कि मध्य एशिया की जातियां लड़ाई की कला में क्यों बढ़ी-चढ़ी थीं। चंगेज़खां के मंगोल बड़े शानदार घुड़सवार थे, और वे अपने घोड़ों से बड़ा लगाव रखते थे। तुर्क लोग भी अच्छे घुड़सवार थे, और अरब वालों की अपने घोड़ों के लिए मुहब्बत तो मशहूर ही है। उत्तरी और पच्छिमी हिंदुस्तान में, ख़ास तौर पर काठियावाड़ में घोड़ा-कशी के लिए कुछ अच्छे मैदान हैं, और राजपूत घोड़ों के बड़े शौक़ीन हैं। बहुत-सी छोटी-मोटी लड़ाइयां अक्सर किसी मशहूर घोड़े की ख़ातिर लड़ी गई हैं। दिल्ली के एक सुल्तान के बारे में यह कहानी कही जाती है कि उसने एक राजपूत सर-दार के घोड़े को पसंद करके उससे उसे मांगा। हाड़ा सरदार ने लोदी बादशाह से कहा : 'तीन चीज़ें हैं जिन्हें कि राजपूतों से कभी न मांगना चाहिए—उनका घोड़ा, उनकी स्त्री और उनकी तलवार।' और यह कहकर वह घोड़े को सर-पट भगाता हुआ चला गया। बाद में इस घटना के कारण फ़साद हुआ।

चौदहवीं सदी के आखिरी हिस्से में, तुर्क या तुर्क-मंगोल जाति के तैमूर ने उत्तर से उतरकर दिल्ली सल्तनत को विध्वस्त कर दिया। वह हिंदुस्तान में चन्द महीने ही रहा; वह दिल्ली आकर लौट गया। लेकिन जिस रास्ते वह आया उस रास्ते में सब जगहें उसने वीरान कर दीं और कत्ल किए गए लोगों की खोपड़ियों के मीनार लगा दिये; खुद दिल्ली मुर्दों का शहर बन गया। खुशकिस्मती से वह और आगे नहीं बढ़ा और पंजाब के कुछ हिस्सों और दिल्ली को ही यह खौफ़नाक हालत भुगतनी पड़ी।

दिल्ली को मौत की इस नींद से उठन में बहुत साल लग गए, और जब वह जगी भी तो एक बड़ी सल्तनत की राजधानी न रह गई थी। तैमूर के हमले न इस सल्तनत को तोड़ दिया था, और उसकी खंडहरों पर दक्खिन में कई रियासतें उठ खड़ी हुई थीं। इससे बहुत क़ब्ल, चौदहवीं सदी के शुरू में दो बड़े राज्य क़ायम हुए थे—गलबर्ग जो बहमनी[1] राज्य के नाम से मशहूर है और विजयनगर का हिंदू राज्य। गुलबर्ग अब पांच रियासतों में बंट गया; इनमें से एक अहमदनगर था। अहमद निज़ाम शाह, जिसने कि १४६० में अहमदनगर क़ायम किया, बहमनी राजाओं के वजीर निज़ामुल्मुल्क भैरी का बेटा था। यह निज़ामुल्मलक भैरू नाम के एक ब्राह्मण खज़ानची का बेटा था (इसी से इसका नाम भैरी पड़ा) इस तरह अहमदनगर के राजवंश की जड़ देसी ही थी, और अहमदनगर की बहादुर औरत चांदबीबी का खून मिला-जला था। दक्खिन हिंदुस्तान की सभी मस्लिम रियासत देसी और हिंदुस्तानी थीं।

तैमूर के दिल्ली को तबाह करने के बाद, उत्तरी हिंदुस्तान कमज़ोर बना रहा और टुकड़ों में बंट गया। उसके मुक़ाबले म हिंदुस्तान की हालत ज्यादा अच्छी थी और दक्खिनी राज्यों म सबसे बड़ा और बलशाली राज्य विजयनगर का था। इस राज्य ने उत्तर से भागे हुए बहुत से हिंदुओं को अपना तरफ़ खींचा। उस ज़मान में लिखे हुए बयानों से यह पता लगता है कि यह शहर बहुत मालदार और खूबसूरत था। मध्य-एशिया का अब्दुल रज्ज़ाक लिखता है कि "शहर ऐसा है जिसके मुक़ाबले का शहर सारी दुनिया में न आंखों देखा और न कानों से सुना है।" बाज़ारों के लिए मेहराब वाले रास्ते थे और आलीशान दालानें बनी हुई थीं और इन सबके बीच राजा का शानदार महल खड़ा था, "जिसके चारों तरफ़, पत्थर की कटी हुई, चिकनी और चमकदार नहरों से

---

१ दक्खिन के बहमनी राज्य का प्रारंभ और नामकरण दिलचस्प है। इस राज्य का क़ायम करने वाला एक अफ़ग़ानी मुसलमान था। जिसका कि गंगू-ब्राह्मण नाम का शुरू के दिनों में एक संरक्षक था। उसके एहसान को कुबूल करते हुए इसने अपने खानदान का नाम बहमनी (ब्राह्मण से) खानदान रक्खा।

पानी के बहुत से सोते बहा करते थे।" सारा शहर बागों से भरा पड़ा था और उन्हींकी वजह से, जैसा कि एक इटली के यात्री निकोलो कांटी ने १४२० में लिखा है, शहर की बाहर-बाहर दौड़ ६० मील लम्बी थी। एक बाद का यात्री पायस था, जो कि पुर्तगाली था और १५२२ म, इटली की नवजागृति के शहरों को देखकर आया था। उसका कहना है कि विजयनगर का शहर 'रोम के इतना बड़ा और देखने म बहुत सुन्दर' है। और अपनी अनेक बावलियों, नहरों और फल के बाग़ों का वजह से बड़ा ही अनूठा और सुहावना है। यह "दुनिया का सबसे भरा पूरा शहर है" और "यहां सभी चीज़ों की बहुतायत" है। महल के कमरे तमाम हाथीदांत की कारीगरी से भरे हुए थे, और उनके ऊपर गुलाब और कमल नक्श किए हुए थे। "यह इतना खूबसूरत और क़ीमती है कि इसके मुक़ाबले का दूसरा कहीं मिल सकना दुश्वार होगा।" राजा कृष्णदेव राय के बारे में पायस लिखता है, "इससे ज्यादा गुणों और पराक्रम वाला राजा भी कहीं नहीं मिल सकता; वह बहुत हंसमख और खश मिजाज़ है; वह विदेशियों की बड़ा आदर और प्रेम से आवभगत करता है, और उनकी जैसी भी हालत हो पूरा पूरा कुशल समाचार पूछता है।"

जिस वक्त कि दक्खिनमें विजयनगर तरक्की पर था, उस वक्त दिल्ली की छोटी सल्तनत को एक नए दुश्मन का सामना करना पड़ा। उत्तरी पहाड़ी प्रदेशों से एक और हमलावर उतरकर आया और दिल्ली के पास पानीपत के मशहूर मैदान में, जहां कि हिंदुस्तान के भाग्य का अक्सर निबटारा हुआ है, उस ने १५२६ में दिल्ली के तख़्त पर क़ब्ज़ा कर लिया। यह विजेता बाबर था, जो कि तुर्की-मंगोल था, और मध्य एशिया के तैमूरिया ख़ांदान का था। उससे हिंदुस्तान की मुग़ल सल्तनत की शुरुआत होती है।

बाबर की कामयाबी की वजह शायद दिल्ली की सल्तनत की कमजोरी ही नहीं थी, बल्कि यह भी थी कि उसके पास एक नया और तरक्क़ीशदा तोपख़ाना था, जैसा कि उस वक़्त हिंदुस्तान में इस्तैमाल में नहीं आया था। इस वक़्त से आगे हिंदुस्तान यद्ध के विज्ञान की तरक्क़ी करने में पिछड़ता जाता है। यह कहना ज़्यादा सही होगा कि सारा एशिया इस विज्ञान में जहां-का-तहां बना रहा जब कि यूरोप ने इसमें बराबर तरक्क़ी की। महान् मुग़ल साम्राज्य (अगर्चे हिंदुस्तान में दो सौ साल तक यह शक्तिशाली बना रहा) शायद सत्रहवीं सदी के बाद यूरोपीय फ़ौजों के साथ बराबर के मुक़ाबले में ठहर न सकता था। लेकिन जब तक कि समुद्री रास्ते पर क़ाबू न हो कोई यूरोपीय सेना हिंदुस्तान तक पहुँच नहीं सकती थी। जो बड़ी तब्दीली इन सदियों में होती रही थी वह यह थी कि यूरोप के लोग समुद्री ताक़त में तरक्क़ी कर रहे थे। दक्खिन में, तेरहवीं सदी में, चोल राज्य के गिरने के बाद, हिंदुस्तान की समुद्री

ताक़त तेज़ी से घटी। पांड्य के छोटे से राज्य का समुद्र से ताल्लक़ होते हुए भी वह काफ़ी मज़बूत न था। हिंदुस्तान की नौ-आबादियों का समुद्र पर प्रभाव फिर भी, पन्द्रहवीं सदी तक, बना रहा, और उस वक़्त अरब वालों ने उनसे बाजी जीत ली और उनके जल्द बाद पुर्तगालियों ने।

५ : मिली-जुली संस्कृति का विकास और समन्वय : पर्दा : कबीर : गुरु नानक : अमीर खुसरो

इसलिए मुसलमानों के हिंदुस्तान पर हमला करने की या हिंदुस्तान के मुसलमानी ज़माने की बात करना उतना ही ग़लत है जितना कि अंग्रेज़ों के हिंदुस्तान में आने को ईसाई हमला कहना या अंग्रेज़ी ज़माने को ईसाई ज़माना कहना होगा। इस्लाम ने हिंदुस्तान पर हमला नहीं किया; यह हिंदुस्तान में कुछ सदियों पहले आया था। यहां तुर्की हमला (महमूद का) हुआ, अफ़ग़ानों का हमला हुआ, इसके बाद तुर्क-मंगोलों या मुग़लों का हमला हुआ और इनमें आख़िरी दो महत्त्व के थे। अफ़गानों को हम सरहदी हिंदुस्तानी दल का समझ सकते हैं, वह मुश्किल से अजनबी कहे जा सकते हैं, और उनकी सियासी हुकूमत के ज़माने को भारतीय-अफ़ग़ान काल कहलाना चाहिए। मुग़ल बाहर के लोग थे और हिंदुस्तान के लिए अजनबी भी थे, ताहम वह हिंदुस्तानी ढांचे मे बड़ी जल्दी समा गए और उनसे भारतीय मुग़ल काल शुरू हुआ।

चाहे अपनी ख़ुशी से उन्होंने ऐसा किया हो, चाहे परिस्थिति ने उन्हें मजबूर किया हो, अफ़ग़ान शासक और उनके साथ आने वाले लोग हिंदुस्तान में समा गए। उनके ख़ांदान पूरी तौर पर हिंदुस्तानी हो गए, और उनकी जड़ें हिंदुस्तान में फैलीं; उन्होंने हिंदुस्तान को अपना घर समझा और बाक़ी दुनिया को बिदेस माना। बावजूद सियासी झगड़ों के, उन्हें लोगों ने भी ऐसा ही ख़याल किया, और बहुत से राजपूत राजों तक ने उन्हें अपना फ़रमां-रवा समझा। लेकिन और राजपूत सरदार भी थे जिन्होंने उनका मातहत होने से इन्कार भी किया, और भयानक लड़ाइयां भी हुई। दिल्ली के मशहूर सुल्तान फ़ीरोज़शाह की मां हिंदू औरत थी; इसी तरह ग़यासुद्दीन तुग़लक की मां भी। अफ़ग़ान, तुर्क और हिंदू उमरावों में इस तरह की शादियां आम नहीं थीं, लेकिन फिर भी होती थीं। दक्खिन में गुलबर्ग के मुसलमान शासक ने विजयनगर की एक हिंदू राजकुमारी के साथ बड़ी शान-शौकत के साथ ब्याह किया था।

ऐसा जान पड़ता है कि मध्य और पच्छिमी एशिया में हिंदुस्तानियों के बारे म बड़े अच्छे ख़याल थे। ग्यारहवीं सदी के पुराने ज़माने में, यानी अफ़ग़ानों की विजय से पहले, इदरीसी नाम के एक मुसलमानी भौगोलिक ने लिखा था: "हिंदुस्तानी स्वभाव से इंसाफ़-पसंद है, और इससे अपने व्यवहार में कभी

डिगते नहीं। उनकी नेकी, ईमानदारी और अपने वादों की वफ़ादारी मशहूर हैं, और दर-अस्ल वह इन गुणों के लिए इतने मशहूर हैं कि लोग उनके मल्क में सब तरफ़ से आकर इकट्ठे होते हैं।"[१]

एक कार-गुज़ार हुकूमत क़ायम होगई और आमद-रफ़्त के ज़रियों की ख़ास तौर पर तरक्क़ी हुई, अगर्चे इस की वजह फ़ौजी सहूलियत का पैदा करना था। सरकार इस बात का ख़याल करती थी कि मुक़ामी रिवाजों में दख़ल न दे। ताहम वह ज्यादा मरकज़ी हो चली थी। शेरशाह, (जिसका ज़माना मुग़लिया ज़माने के बीच में आ पड़ता है) अफ़गान शासकों में सब से क़ाबिल था। उसने मालगुज़ारी की ऐसी प्रथा की बुनियाद रक्खी कि उसे बाद में अकबर ने भी उठा लिया और फैलाया। अकबर का मशहूर वज़ीर-माल, राजा टोडरमल, पहले शेरशाह के यहां इसी पद पर था। अफ़ग़ान हाकिम हिंदुओं को रफ़्ता-रफ़्ता ज्यादा ओहदे देने लगे थे।

हिंदुस्तान और हिंदू धर्म पर अफ़ग़ानों की फ़तह के दो असर पड़े, और इनमें से दोनों एक-दूसरे को काटते हुए थे। फ़ौरन जो असर पड़ा वह यह था कि बहुत से लोग दक्खिन में चले गए और अफ़ग़ान हुकूमत के इलाकों से दूर हो रहे। जो बच रहे वह और कट्टर बन गए और अलग-थलग रहने लगे; वह अपने ही खोल में समा गए और अपनी वर्ण-व्यवस्था को और कड़ा करके बिदेसी तरीकों और असरों से अपने को बचाने की फ़िक्र में लगे। दूसरी तरफ़, ख़याल और ज़िंदगी के इन बिदेसी तरीकों की ओर लोगों का रफ़्ता-रफ़्ता और बिना कोशिश के रुझान पैदा होने लगा। फिर एक समन्वय पैदा हुआ। इमारत की कला में नई शैलियां उपजीं; खाना कपड़ा बदला और बहुत तरह के फ़र्क रहन-सहन में पैदा होगए। यह समन्वय संगीत में ख़ास तौर पर नुमायां था, जिसने कि पुराने हिंदुस्तानी शास्त्रीय ढांचे को क़ायम रखते हुए अनेक दिशाओं में तरक्क़ी की। फ़ारसी ज़बान सरकारी दरबार की ज़बान बन गई और बहुत से फ़ारसी लफ़्ज़ आम इस्तैमाल में आने लगे। साथ-ही-साथ एक आम ज़बान को भी तरक्क़ी दी गई।

हिंदुस्तान में जो बुरी बात पैदा हुई उनमें से एक परदे के रिवाज की तरक्क़ी थी। ऐसा क्योंकर हुआ यह साफ़ नहीं, लेकिन आने वालों की पुराने लोगों पर होने वाली प्रतिक्रिया का यह नतीजा ज़रूर था। हिंदुस्तान में, इससे क़ब्ल मर्द और औरत अमीरों के वर्ग में तो कुछ अलग-अलग ज़रूर रहते थे, जैसा कि और मुल्कों में भी, ख़ास तौर पर यूनान में था। दोनों के अलग-अलग रहने का कुछ इसी तरह का रिवाज ईरान में भी था, बल्कि सारे

---

१ इलियट की 'हिस्ट्री अव् इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ ८८ से।

पच्छिमी एशिया में था लेकिन कहीं भी सख्त क़िस्म का परदा नहीं होता था। शायद इस की शुरुआत बाइज़ंटाइन दरबारियों के दायरे में हुई, जहां कि ज़नानखाने की निगरानी के लिए ख्वाजासरा मुक़र्रर किए जाते थे। बाइज़ैंटाइन असर रूस में पहुंचा जहां कि ठीक महान पीटर के ज़माने तक औरतें काफ़ी कड़े परदे म रक्खी जाती थीं। इसका तातारों से कोई ताल्लुक़ न था जिनके बारे में यह बात काफ़ी तौर पर आम है कि वह अपनी औरतों को अलग नहीं रखते थे। अरब और फ़ारस की मिली-जली तहज़ीब पर बाइज़ैंटाइन रीति-रिवाजों का बहुत कुछ असर पड़ा और संभवतः ऊंचे वर्ग की औरतों का अलग रहना चल पड़ा। फिर भी अरब में या पच्छिमी और मध्य एशिया में औरतों में कोई कड़ा परदा न होता था। जो अफ़ग़ानी उत्तरी हिंदुस्तान में दिल्ली की फ़तह के बाद आए उनके यहां परदे की कड़ी पाबंदी न होती थी। तुर्की और अफ़ग़ान शहज़ादियां और बेगमें अक्सर घोड़े की सवारी, शिकार और मेल-मुलाक़ात के लिए निकला करती थीं। यह एक पुराना मुसलमानी रिवाज है, जिसकी पाबंदी अब भी होती है, कि हज के सफ़र में उन्हें अपने चेहरों को खुला रखना चाहिए। मालूम पड़ता है कि परदे के रिवाज की तरक्क़ी हिंदुस्तान में मुग़लों के ज़माने में हुई, जबकि इसे हिंदुओं और मुसलमानों दोनों हो में पद और इज्ज़त की निशानी समझा जाने लगा। परदे की यह प्रथा खास तौर पर ऊंचे वर्ग के लोगों में उन सभी जगहों में तेजी से फैली जहां कि मुसलमानों का असर था—यानी उस बीच और पूरब के बड़े प्रदेश में जिसमें दिल्ली, संयुक्त-प्रांत राजपूताना, बिहार और बंगाल आ जाते हैं। लेकिन यह कुछ अजीब बात है कि पंजाब और सरहदी सूबे में परदे की पाबंदी बहुत कड़ी नहीं है। दक्खिन और पच्छिम हिंदुस्तान में कुछ हद तक मुसलमानों में छोड़कर परदे का रिवाज नहीं रहा है।

इसमें मुझे ज़रा भी शक नही कि हाल की सदियों में हिंदुस्तान के ह्रास के कारणों में से एक खास कारण औरतों को परदे में रखने का रिवाज है। मुझे इसका और भी ज्यादा यक़ीन है कि इस वहशियाना रिवाज का पूरी तरह खतम होना हमारी समाजी ज़िंदगी की तरक्क़ी के लिए लाज़िमी है। औरत को इससे नुक़सान पहुंचता है, यह जाहिर-सी बात है, लेकिन जो नुक़सान मर्द को पहुंचता है, जो बढ़ते हुए बच्चे को पहुंचता है, जिसे कि अपना बहुत-सा वक्त औरतों के साथ परदे में बिताना पड़ता है, वह कम बड़ा नहीं है। खुशक़िस्मती से यह रिवाज हिंदुओं में बहुत तेज़ी से उठ रहा है, और मुसलमानों में कुछ धीमी रफ़्तार से। परदे के उठाने में सबसे ज़्यादा हाथ कांग्रेस की 'सियासी और समाजी तहरीकों' का रहा है, जिन्होंने बीच के वर्ग की दसियों हज़ार औरतों को अपनी ओर खींचा है और जो किसी न किसी सार्वजनिक धंधे में शरीक हुई

हैं। गांधीजी परदे के रिवाज के कट्टर विरोधी रहे हैं और हैं और उन्होंने इसे "दूषित और बर्बर रिवाज" बताया है जिसने कि औरतों को पिछड़ा हुआ और तरक्क़ी से महरूम रक्खा है। एक जगह उन्होंने लिखा है : "इस वहशियाना रिवाज के ज़रिये मर्द लोग हिंदुस्तान की औरतों पर जो अत्याचार कर रहे हैं, मैंने उसका विचार किया। जिस वक़्त यह रिवाज शुरू हुआ उस वक्त इसके जो भी लाभ रहे हों, अब यह मुल्क को अपार नुक़सान पहुंचा रहा है।" गांधी जी ने कहा है कि "औरतों को वही आज़ादी, और अपनी तरक्क़ी के वही मौक़े मिलने चाहिए जो कि मर्दों को हासिल हैं। मर्दों और औरतों के आपस के संबंध में समझदारी के बरतावे की ज़रूरत है। दोनों के बीच में दीवारें नहीं खड़ी की जानी चाहिए। उनके आपस के व्यवहार में स्वाभाविकता और बे-साख़्तगी होनी जाहिए।" दरअस्ल गांधीजी ने औरतों की बराबरी और आज़ादा के बारे में जोरदार बातें कहीं और लिखी हैं और उनकी घरेलू गुलामी को तीखपन से बुरा बताया है।

मैं अपने विषय से हटकर यकायक मौजूदा ज़माने की बातें करने लगा; और अब मुझे मध्य युग पर वापस जाना चाहिए जब कि अफ़ग़ान लोग दिल्ली की गद्दी पर जम चुके थे और पुराने और नए तरीक़ों के बीच समन्वय का क़ायम होना शुरू हो चुका था। इनमें से ज़्यादातर तब्दीलियां ऊपर के वर्गों म हुई और उनका असर आम जनता पर, ख़ासतौर पर देहाती जनता पर नहीं पड़ा। उनकी शुरुआत दरबारी हलक़ों में होती और वह शहरों और क़स्बों में फैलती। इस तरह एक ऐसा सिलसिला चला जो कि कई सदियों तक चलता रहा और उत्तरी हिंदुस्तान में एक मिली-जुली संस्कृति तरक्क़ी करती रही। दिल्ली, और जिसे अब संयुक्त प्रान्त कहते हैं इसके मरकज़ बने, जिस तरह कि यह पुरानी आर्य संस्कृति के मरकज़ रहे और अब भी हैं। लेकिन आर्य संस्कृति का बड़ा हिस्सा खिसककर दक्खिन पहुंचा, जोकि हिंदू कट्टरता का गढ़ बन गया।

तैमूर के हमले से दिल्ली की सल्तनत जब कमज़ोर हो गई तो जौनपुर (संयुक्त प्रान्त) में एक छोटा-सा मुसलमानी राज्य क़ायम हुआ। सारी पंद्रहवीं सदी भर यह कला, और संस्कृति और मज़हबी रवादारी का मरकज़ रहा। तरक्क़ी करती हुई आम ज़बान, हिंदी, को यहां प्रोत्साहन मिला, और हिंदुओं और मुसलमानों के मज़हबों में समन्वय पैदा करने की भी कोशिशें हुई। क़रीब-क़रीब इसी वक़्त उत्तर म दूर कश्मीर में भी, ज़ैनुलआबदीन नाम के एक मुसलमान राजा ने, अपनी रवादारी और संस्कृत विद्या और पुरानी संस्कृति के प्रोत्साहन के लिए, यश हासिल किया।

सारे हिंदुस्तान में यह नया ख़मीर काम कर रहा था और लोगों के दिमागों म नए विचार कुरेद पैदा कर रहे थे। पुराने ज़माने की तरह, हिंदु-

स्ताम में, इस नई परिस्थिति की तरफ़ एक प्रतिक्रिया चल रही थी, और विदेशी तत्त्वों का जज्ब करने की कोशिश में वह अपने को कुछ तब्दील कर रहा था। इसा ख़मीर म से नए ढंग के सुधारक उत्पन्न हुए जिन्होंने कि इस समन्वय के पक्ष म निश्चय के साथ उपदेश दिए और अक्सर वर्ण-व्यवस्था की निंदा या अवहलना की। दक्खिन में पंद्रहवीं सदी में हिंदू रामानन्द हुए और उनके और भा मशहूर चेले बनारस में कबीर हुए, जो कि मुसलमान जुलाहे थे। उत्तर में गुरु नानक हुए, जो कि सिख धम के संस्थापक माने जाते हैं। इन लागों का असर उन मतों तक सीमित नहीं था जो कि इन के नाम पर कायम हुए, बल्कि उससे कहीं ज्यादा विस्तृत था। सारे हिंदूधर्म पर इन नए विचारों का प्रभाव पड़ा और हिंदुस्तान का इस्लाम भी और जगहों के इस्लाम से मुख्तलिफ बन-गया। इस्लाम की ज़बर्दस्त वहदानियत का हिंदू धर्म पर असर पड़ा, और हिंदुओं के बहुत से देवी-देवताओं में विश्वास का कुछ असर हिंदुस्तानी मुसल-मानों पर पड़े बग़ैर न रहा। हिंदुस्तानी मुसलमानों में से ज्यादातर ऐसे थे जा नौ-मुस्लिम थ, और यहां की परानी परम्परा में पले थे, बाहर से आने वाले मुसलमान मुक़ाबले में थोड़ थे। मुस्लिम रहस्यवाद और सूफ़ी मत की, जिसकी शुरुआत शायद नए अफलातूनी मत से हुई थी, तरक्क़ी हुई।

विदेशी लोगों के हिंदुस्तान में बराबर जज्ब होने का सबसे मार्के का पता इस बात से लगता है कि मल्क की आम ज़बान को उन्होंने उठा लिया, अगर्चे फ़ारसी दरबार की ज़बान बनी रही। शुरू के मुसलमानों की लिखी हुई हिंदी की कई मशहूर किताबें हैं। इन लिखने वालों में सबसे मशहूर ख़ुसरो था, जो कि एक तुर्क था, और जिसका घराना संयुक्त-प्रान्त में दो-तीन पीढ़ियों से बस गया था। यह चौदहवीं सदी में हुआ और इसने कई अफ़गान सुल्तानों के ज़माने देखे थे। फ़ारसी का तो वह चोटी का शायर था; वह संस्कृत भी जानता था। वह बहुत बड़ा संगीतज्ञ भी था, और हिंदुस्तानी संगीत में उसने कई नई बातें पैदा कीं। यह भी कहा जाता है कि हिंदुस्तान का आम पसंद वाद्य-यंत्र सितार उसी की ईजाद की हुई चीज़ है। उसने बहुत से मज़मूनों पर लिखा है और ख़ासतौर पर हिंदुस्तान की तारीफ़ की है और यह बताया है कि किन-किन बातों में हिंदुस्तान बढ़ा हुआ है। इनमें मज़हब, फ़िलसफ़ा, तर्क-शास्त्र, भाषा और व्याकरण (संस्कृत), संगीत, गणित, विज्ञान और आम का फल बताए गए हैं!

लेकिन हिंदुस्तान में ख़ासतौर पर उसकी शोहरत की वजह उसके आम-पसंद गीत हैं, जिन्हें कि उसने लोगों की आम ज़बान हिंदी में लिखा है। उसने साहित्यिक माध्यम न चुनकर बड़ी अक़्लमंदी की, क्योंकि उसे मुट्ठी भर लोग ही समझ पाते। उसने गांव वालों की ज़बान ही नहीं इस्तैमाल की, बल्कि

उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन के ढंग का भी बयान किया। उसने जुदा-जुदा रितुओं के गीत लिखे हैं, और हिंदुस्तान की पुरानी शास्त्रीय परम्परा के बमूजिब हर एक रितु के लिए अलग राग और बोल हैं; उसने ज़िंदगी के विविध पहलुओं पर गीत रचे हैं—दुल्हन के आने पर, प्रेमी के वियोग पर, वर्षा-रितु पर, जब कि जली हुई धरती से नई ज़िंदगी फूट निकलती है। यह गीत अब भी दूर-दूर गाए जाते हैं और हम इन्हें उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के किसी गांव या शहर में सुन सकते हैं खासतौर पर तब, जब कि वर्षा रितु आती है, और हर एक गांव में आम और पीपल की शाखों में बड़े-बड़े झूले पड़ते हैं, और गांव के सभी लड़के-लड़कियां उसे मनाने के लिए इकट्ठा होते हैं।

अमीर ख़ुसरो ने बहुत-सी पहेलियां भी रची हैं जो कि बच्चों और बड़ों, दोनों में ही बहुत चलती हैं। अपनी ज़िंदगी में ही खुसरो गीतों और पहेलियों के लिए मशहूर हो गया था। उसकी यह शोहरत बढ़ती ही रही है। मैं और कहीं भी ऐसी मिसाल नहीं पाता कि छः सौ साल पहले जो गीत लिखे गए हों वह अब भी आमपसंद हों और अब भी लफ़्ज़ों की फेर-फार के बग़ैर, ज्यों-के-त्यों गाए जाते हों।

६ : हिंदुस्तानी समाजी संगठन : वर्ग का महत्व

हिंदुस्तान के बारे मे जो लोग भी कुछ जानते है, उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का हाल सुन रक्खा है; बाहर का हर आदमी इसे बरा कहता है और हिंदुस्तान के बहुत से लोग ऐसा ही कहते हैं, और इसकी नुक्ता-चीनी करते हैं। हिंदुस्तान में भी शायद ही कोई ऐसा हो जो इसकी मौजूदा-शक्ल व सूरत को देखते हुए इसे पसंद करता हो, अगर्चे ऐसे लोग बेशक मिलेगे जो कि इसके बुनियादी सिद्धांत को क़ुबूल करते हैं, और हिंदुओं में बहुत से लोग अपनी ज़िंदगी में इसे मानते चले आ रहे हैं। 'वर्ण' या 'जात' लफ़्ज़ के इस्तैमाल से कुछ ग़लतफ़हमी होती है, क्योंकि अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग मानी लगाते है। साधारण यूरोपीय या उसीके जैसे विचारों वाला हिंदुस्तानी यह समझता है कि यह केवल वर्गों को पत्थर की तरह मज़बूत करके अलग-अलग कर देना है, और यह महज़ इस बात की तरकीब है कि वर्ग-भेद बना रहे, ऊँचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए चोटी पर बने चले आवें और नीचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए नीचे ही बने रहें। इस विचार में सचाई है, और शुरू में शायद यह इस बात की तरकीब थी कि आर्य विजेता उन लोगों से न मिलने-जुलने पावें जिन्हें कि उन्होंने हराया था। शुरू में चाहे इस व्यवस्था में लचीलापन रहा हो लेकिन जिस तरह इसने तरक्क़ी की है, उससे यक़ीनी तौर पर यही नतीजा निकलता है। लेकिन सचाई का यह महज़ एक पहलू है, । और इस कैफ़ियत से यह नही पता

चलता कि आख़िर इस व्यवस्था में इतनी शक्ति और मजबूती क्योंकर रही कि यह आज तक चली आ रही है। इसने बौद्ध-धर्म की जबर्दस्त टक्कर को झेल लिया और अफ़ग़ान और मुग़ल शासन और इस्लाम के प्रसार की कई सदियां ही नहीं देखीं, बल्कि अनगिनित हिंदू सुधारकों के, जिन्होंने कि इसके खिलाफ़ अपनी आवाजें बलंद कीं, वार सहे। यह तो सिर्फ़ आज-कल ऐसा हुआ है कि उसकी बुनियाद पर ही हमला हो रहा है और इसका वजूद ही जोखिम में है। इसका कारण खास तौर पर हिंदू समाज में उपजी हुई कोई जबर्दस्त प्रेरणा नहीं है, अगर्चे यक़ीनी तौर पर ऐसी प्रेरणा मौजूद है; न यही कारण है कि पच्छिमी ख़याल हमारे बीच में आगए हैं, अगर्चे ऐसे ख़यालों ने ज़रूर अपना असर डाला है। जो तब्दीलियां हमारी आंखों के सामने हो रही हैं उनका कारण खासतौर पर यह है कि बुनियादी आर्थिक परिवर्तनों ने हिंदुस्तानी समाज के सारे ढांचे को हिला दिया है और संभव है कि उसे पूरी तरह से उलट-पलट दें। ज़िंदगी की हालतों में तब्दीली आ गई है, विचार के ढंग बदल रहे हैं, यहां तक कि अब ग़ैर-मुमकिन जान पड़ता है कि वर्ण-व्यवस्था क़ायम रह सके। उसकी जगह क्या चीज़ ले लेगी यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि सिर्फ़ वर्ण-व्यवस्था ही जोखिम में नहीं है। संघर्ष है सामाजिक संगठन के मसले पर दो जुदा-जुदा नज़रियों में। एक तरफ़ है पुराना हिंदू विचार कि वर्ग या गिरोह संगठन की बुनियादी इकाई है; दूसरी तरफ़ पच्छिम का विचार है जो बहुत ज्यादा व्यक्तिवाद पर जोर देता है, जो व्यक्ति को वर्ग से ऊपर रखता है।

यह संघर्ष हिंदुस्तान की ही विशेषता नहीं है: यह पच्छिम में भी और सारी दुनिया में चल रहा है, अगर्चे वहां इसने दूसरी शकलें अख़्तियार की हैं। यूरोप की उन्नीसवीं सदी की सभ्यता ने प्रजातंत्रवादी उदारमत का रूप लेकर, और आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में उसके विस्तार ने, व्यक्तिवाद की नुमाइंदगी की सबसे आला अलामत पेश की। उन्नीसवीं सदी की विचार-धारा अपने सामाजिक और राजनीतिक संगठन के साथ-साथ बीसवीं सदी में भी बहकर आ गई है, लेकिन अब उसका ज़माना बिलकुल बीता हुआ जान पड़ता है, और संकट और यद्ध के दबाव से वह टूट रही है। अब वर्ग और समाज के महत्त्व पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा है और सवाल यह पैदा हो गया है कि व्यक्ति और वर्ग के तक़ाज़ों के बीच समझौता कैसे कराया जाय। इस मसले का हल अलग-अलग मुल्कों में अलग-अलग शक़लें ले सकता है, ताहम रुझान इस तरफ़ है कि एक बनियादी हल हासिल किया जाय, जो कि सब पर यकसां लागू हो।

वर्ण-व्यवस्था कोई अलग-थलग चीज़ नहीं है: यह एक और बड़ी सामाजिक व्यवस्था का अंग है, और महत्त्व रखने वाला अंग है। यह मुमकिन जान पड़ता है कि उसकी कुछ जाहिरा बुराइयों को दूर कर दिया जाय; और उसकी

तरतीब को न छेड़ा जाय। लेकिन यह बहुत ग़ैर-मुमकिन बात है, क्योंकि जो आर्थिक और सामाजिक ताक़त काम कर रही हैं उन्हें इसके ढाँचे की ज्यादा परवा नहीं है; वह इसकी बुनियाद पर ही हमला कर रही हैं, और साथ-साथ उन सभी थूनियों पर जो कि इसे उठाए हुए हैं। सच बात तो यह है कि यह थूनियां बहुत कुछ टूट चुकी हैं और वर्ण-व्यवस्था को अब अपना ही सहारा है। अब सवाल यह नहीं रहा है कि हम वर्ण-व्यवस्था को पसंद करते हैं या नहीं। हम पसंद करें या नहीं तब्दीलियां हो रही हैं। लेकिन यक़ीनी तौर पर यह हमारी ताक़त के भीतर है कि हम इन तब्दीलियों को ढाल सकें और उन्हें रुख दे सकें; इस तरह कि हमें सारे हिंदुस्तान के लोगों की उस प्रतिभा और विशेषता का पूरा-पूरा फ़ायदा मिल जाय जो कि हमारे सामाजिक संगठन की मज़बूती और पायदारी के ज़रिये साफ़ तौर पर ज़ाहिर हो चुकी हैं।

सर जार्ज बर्डउड ने कहीं पर कहा है: "जब तक कि हिंदू अपनी वर्ण-व्यवस्था को कायम रखते हैं, तब तक हिंदुस्तान हिंदुस्तान बना रहेगा; लेकिन जिस दिन उन्होंने इसे छोड़ा, उस दिन से हिंदुस्तान न रह जायगा। यह शानदार प्रायद्वीप, गिरकर ऐंग्लो-सैक्सन साम्राज्य के घोर 'ईस्ट एंड' की हालत पर पहुँच जायगा।" वर्ण-व्यवस्था रहे चाहे न रहे हम ब्रिटिश साम्राज्य म उस हालत पर बहुत दिनों से गिरकर पहुँचे हुए हैं। और हर सूरत में, हमारी भविष्य की स्थिति चाहे भी जैसी हो, वह इस साम्राज्य की सरहद के भीतर नहीं महदूद रहेगी। लेकिन सर जार्ज बर्डउड ने जा कहा है, उसमें कुछ सचाई है, अगर्चे शायद उन्होंने इसे उस रुख़ से नहीं देखा है। एक विशाल और पुराने सामाजिक संगठन के टूटने पर समाजी ज़िंदगी पूरी तौर पर तितर-बितर हो सकती ह और सारे-के-सारे लोगों को मुसीबत का सामना करना पड़ सकता है, और व्यक्तियों के आचरण बड़े पैमाने पर विकृत रूप ले सकते हैं, अगर कोई दूसरा सामाजिक ढांचा, जो कि जनता की प्रतिभा के अनुकूल हो उसकी जगह पर नहीं आजाता। शायद परिवर्तन के ज़माने में तितर-बितर की हालत पैदा होना लाज़िमी है; यह हालत आज सारी दुनिया में काफ़ी फैली हुई है। शायद इस तरह की हालत से जो दुख और मुसीबतें आती हैं, उन्हीं के ज़रिये लोग तरक्क़ी करते हैं और ज़िंदगी के सबक सीखते है और अपने को नई हालतों के बमूजिब ढाल लेते हैं।

फिर भी, हम एक व्यवस्था को महज़ तोड़कर इस उम्मीद में नहीं बैठे रह सकते कि कुछ अच्छा ही होगा; हम उस भविष्य की, जिसके लिए कि हम काम कर रहे हैं, कोई कल्पना, वह अस्पष्ट कल्पना क्यों न हा— रखनी चाहिए। हम जगह ख़ाली छोड़कर ही नहीं बैठ सकते, नहीं तो यह

---

१ 'ईस्ट एंड' लंदन का वह हिस्सा है जहां कि ग़रीब लोग बसते हैं। अनु०

खाली जगह मुमकिन है इस तरह भर जाय कि हमें पछताना पड़े । हम जो भी रचनात्मक योजनाएं बनावें, हमें उन आदमियों का ध्यान रखना पड़ेगा जिनसे हमारा वास्ता है; उनके विचारों और प्रेरणाओं की कैसी पृष्ठ भूमि है, और किस तरह के वातावरण में हमें काम करना है । इन सब बातों को नज़र-अंदाज़ कर देने के यह मानी होंगे कि हम अपनी योजना हवा में तैयार कर रहे हैं, या दूसरों ने और जगहों में जो किया है उसकी महज़ नक़ल कर रहे हैं और यह बेवकूफ़ी की बात होगी । इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि हम अपने उस पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन को जानने और समझने की कोशिश करें जिसने कि लोगों पर इतना ज़बर्दस्त असर डाला है ।

इस संगठन की बुनियाद तीन विचारों पर थी : खुदमुख्तार देहाती समाज, वर्ण-व्यवस्था और मुश्तरका खांदान । इन तीनों में ही वर्ग को बड़ाई दी गई है; व्यक्ति की जगह दूसरे दर्जे पर है । अलग-अलग इनमें से किसी विचार में बहुत अनोखापन नहीं, और इनमें से तीनों के मुकाबले की व्यवस्थाएं हमें दूसरे मुल्कों में भी मिल जायंगी, खास तौर पर मध्य युग में । पुराने हिंदुस्तानी प्रजातंत्रों की तरह सभी जगह आदिम रूप मे प्रजातंत्र मिल जायंगे । हिंदुस्तानी गांव के समाज के मुकाबले में पुराने रूसी 'मीर' होते थे । वर्ण या जात खास तौर पर धंधों के मुताबिक ही हैं, और यही प्रथा यूरोप के मध्ययुग के व्यावसायिक-संघों की रही है । चीन का मुश्तरका खांदान हिंदुस्तान के मुश्तरका खांदान से मिलता-जलता है । मैं इन सबके बारे में इतना काफ़ी जानकारी नहीं रखता कि इस बहस को आगे बढ़ाऊं और न मेरे मकसद के लिए यह ज़रूरी ही है । सब कुछ लिए-दिए यह मानना पड़ेगा कि हिंदुस्तानी संगठन अपने ढंग का निराला था और यह वक़्त के साथ-साथ और भी निराला होगया ।

७ : गांव का स्वराज : शुक्र-नीति-सार

दसवीं सदी की एक पुरानी किताब है, जिससे कि तुर्की और अफ़गान हमलों से क़ब्ल की हिंदुस्तान की राजनीति-व्यवस्था का कुछ चित्र मिलता है । यह है शुक्राचार्य का 'नीति-सार' । इसमें केन्द्रीय शासन के और शहर और गांव की ज़िंदगी के संगठन का बयान मिलता है; साथ ही राज-सभा और बहुत से सरकारी महकमों के भी बयान हैं । गांव की पंचायत, या चुनी हुई प्रतिनिधि-सभा के न्याय और व्यवस्था दोनों ही के संबंध में बड़े अधिकार थे और इसके सदस्यों को राजा के अधिकारी बहुत ही आदर की नज़र से देखते थे । यही पंचायत ज़मीन का बांट करती थी और पैदावार का एक अंश कर के रूप में उगाहती थी, और गांव की तरफ़ से सरकार का हिस्सा अदा किया

करती थी । कई गांव पंचायतों के ऊपर एक बड़ी पंचायत हुआ करती थी जो उनकी निगरानी करती और ज़रूरत पड़ने पर उनके कामों में दख़ल भी दे सकती थी ।

कुछ पुराने शिलालेख हमें यह भी बताते हैं कि गांव-पंचायतों के सदस्य किस तरह चुने जाते थे और उनमें क्या बातें गुण और दोष की समझी जाती थीं। अलग-अलग समितियां बनाई जाती थीं, जिनके लिए सालाना चुनाव होते थे और जिनमें कि औरतें हिस्सा ले सकती थीं। अच्छा आचरण न करने पर कोई भी सदस्य अपने पद से हटाया जा सकता था । सार्वजनिक रुपए-पैसों का ठीक-ठीक हिसाब न दे सकने पर कोई भी सदस्य अयोग्य ठहराया जा सकता था और अलग किया जा सकता था । रियायत रोकने के लिए बनाए गए एक दिलचस्प नियम का बयान मिलता है : सार्वजनिक पदों पर इन सदस्यों के निकट संबंधियों की नियुक्ति नहीं हो सकती थी ।

इन गांव-पंचायतों को अपनी आज़ादियों का बड़ा ख़याल रहता था और यह नियम बना हुआ था कि जब तक राजाज्ञा न मिली हो कोई भी सिपाही गांव में दाख़िल नहीं हो सकता था । अगर किसी पदाधिकारी की शिकायत लोग करें तो 'नीति-सार' का कहना है कि राजा को 'अपने हुक्कामों की तरफ़दारी न करके अपनी रियाया की तरफ़दारी करनी चाहिए ।' अगर बहुत लोग शिकायत करें तो पदाधिकारी को बर्ख़ास्त कर देना चाहिए 'क्योंकि पद के मद से कौन उन्मत्त नहीं हो जाता ।' राजा का जनता के बहुमत के बमूजिब काम करने का कर्त्तव्य बताया गया था । 'लोकमत राजा के मुक़ाबले में ज़्यादा मज़बूत होता है; जिस तरह कि बहुत से तारों की बटी हुई रस्सी शेर को भी खींच लाती है ।' 'पदाधिकरियों की नियुक्ति करते वक़्त चरित्र और योग्यता का ध्यान रखना चाहिए—जात या घराने का नहीं' और 'न वर्ण से और न पुरखों द्वारा ब्राह्मणत्व का भाव उत्पन्न किया जा सकता है ।'

बड़े क़स्बों में बहुत से कारीगर और सौदागर बसते थे और उनके संघ या समितियां और महाजनों के संगठन हुआ करते थे । इनमें से हर एक अपने घरेलू मामलों के नियंत्रण में स्वतंत्र था ।

यह सब सूचनाएं बहुत अधूरी हैं, लेकिन इनसे और बहुत से और ज़रियों से पता चलता है कि शहरों और गांवों में मुक़ामी-स्वराज की व्यापक व्यवस्था थी और जब तक उसे अपना कर का हिस्सा मिलता रहे केन्द्रीय सरकार इसमें बहुत ही कम दख़ल देती थी । कानून में रिवाज पर बड़ा जोर दिया जाता था और रिवाज के ज़रिये कायम हक़ों में सियासी या फ़ौजी ताकत शायद ही कभी दखल देती रही हो । शुरू में खेती की प्रथा की बुनियाद सह-

योग या सारे गांव के मिल-जुलकर काम करने पर थी। व्यक्तियों और घरानों के कुछ अधिकार थे और कुछ कर्त्तव्य भी थे, और दोनों की हिफ़ाजत रिवाजी क़ानून के ज़रिए होती थी।

हिंदुस्तान में राजत्व धार्मिक बंधन के रूप में नहीं था। हिंदुस्तान की राजनीति के अनुसार अगर राजा अन्यायी या अत्याचारी हो, तो उसके खिलाफ़ विद्रोह करने का अधिकार माना हुआ अधिकार था। दो हज़ार साल पहले चीनी फ़िलसूफ़ मेंसियस ने जो कहाथा वह हिंदुस्तान पर भी लागू होता है: "जब कि शासक अपनी प्रजा को घास और कूड़े की तरह समझे, तब प्रजा को उसे लटेरे और दुश्मन की तरह समझना चाहिए।" यहां राजकीय अधिकारों की सारी कल्पना यूरोप का सामंती कल्पना से ज़ुदा थी; जिसमें कि राजा का अपने राज्य के सब लोगों और वस्तुओं पर अधिकार हासिल था। यह अधिकार वहां राजा अपने सामंतों (लार्डों ओर बेरनों) को दे देता था और यह लोग राजभक्ति की प्रतिज्ञा करते थे। इस तरह अधिकार की एक सीढ़ी तैयार हो जाती थी। ज़मीन और उससे संबंध रखने वाले लोग सामंती लार्ड की और उसके ज़रिए राजा की प्रजा हो जाते थे। रोमन अधिकार (डोमिनियम) की कल्पना की यह तरक्क़ीशुदा शक्ल थी। हिंदुस्तान में इस तरह की कोई चीज़ नहीं थी; राजा को ज़मीन से कुछ कर उगाहने का हक़ था, और कर उगाहने के इस हक़ को ही यह दूसरों को दे सकता था। हिंदुस्तान में किसान सामंतों का ग़ुलाम नहीं होता था। ज़मीन की कोई कमी न थी, इसलिए किसान को बेदखल करने में कोई फ़ायदा भी न था। इस तरह हिंदुस्तान में ज़मीदारी की वैसी प्रथा न थी जैसी कि पच्छिम में थी; न किसान व्यक्तिगत रूप से अपनी ज़मीन का मालिक हुआ करता था। यह दोनों ख़याल बहुत बाद म अंग्रेज़ों के ज़रिए पेश हुए हैं और इनके भयंकर नतीजे भी हुए हैं।

विदेशियों की फ़तहयाबी के साथ-साथ मुल्क में लड़ाइयां और तबाहियां आईं, विद्रोह हुए और उनका दमन हुआ, और नए हाकिमों ने अपने हथियारों के ज़ोर पर भरोसा किया। मुल्क के रिवाजी क़ानून की बंदिशों को यह हाकिम अक्सर तोड़ सकते थे। इसके अहम नतीजे हुए और ख़ुदमुख़्तार गांवों की आज़ादी में कमी आई, और बाद में मालगुज़ारी की वसूलयाबी के तरीकों में बहुत-सी तब्दीलियां पैदा हुई। ताहम अफ़गान और मुग़ल हाकिमों ने इस बात का ख़ास ध्यान रक्खा कि पुराने रीति-रिवाजों में दख़ल न दिया जाय और कोई बुनियादी अदल-बदल न किए जायं, और हिंदुस्तानी जिंदगी का समाजी और आर्थिक ढांचा पहले जैसा बना रहा। ग़यासुद्दीन तुग़लक ने अपने हुक्कामों को इस बात की ख़ास हिदायतें दे रक्खी थीं कि रिवाजी कानून की हिफ़ाज़त होनी चाहिए और रियासती मामलों को मज़हब से, जो

जाती पसंद की चीज़ है, अलग रखना चाहिए। लेकिन ज़माने की गर्दिश और लड़ाइयों के कारण, और इस वजह से कि सरकार में केन्द्रीयता बढ़ती जारही थी, रिवाजी कानून का लिहाज़ कम होता गया। फिर भी गांवों की खुद-मख़्तारी बनी रही। इसका टूटना अंग्रेजी हूकूमत में जाकर शुरू हुआ।

८ : वर्ण-व्यवस्था के उसूल और अमल : सम्मिलित कुटुम्ब

हैवेल का कहना है कि "हिंदुस्तान में धर्म हठवाद की हैसियत नहीं रखता बल्कि आत्मिक तरक्क़ी और ज़िंदगी की मुख़्तलिफ़ हालतों का ख़याल करते हुए मानवा आचार का एक चालू सिद्धांत है।" क़दीम ज़माने में, जब कि भारतीय-आर्य संस्कृति की रूप-रेखा बन रही थी उस वक़्त धर्म को ऐसे लोगों की ज़रूरतों का लिहाज़ रखना पड़ा था जो कि दिमाग़ी और आत्मिक विकास की नज़र से इतने मुख़्तलिफ़ थे जितने कि हो सकते हैं। एक तो वन म रहने वाले आदिम लोग थे, फिर जादू-टोने और आत्माओं में विश्वास करने वाले और प्रतीक-पूजक लोग थे और सभी तरह के अंध-विश्वासी आदमी थे, दूसरे ऐसे लोग भी थे जो आध्यात्मिक विचार की सबसे ऊँची सीढ़ियों तक पहुँच चके थे। इन दोनों छोरों के बीच विश्वास और आचार की अनेक सतहें थीं। कुछ लोग ता ऊँचे-से-ऊँचे विचारों में लगे हुए थे लेकिन ऐसे विचार ज़्यादातर लोगों की पहुंच से बाहर थे। ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन ने तरक्क़ी की, विश्वासों में कुछ समानताएं भी पैदा हुईं; फिर भी संस्कृति और व्यक्तिगत मिज़ाज के भेदों के कारण बहुत से फ़र्क़ बाक़ी रह गए। भारतीय-आर्य नज़रिया तो यह था कि किसी भी विश्वास को बलपूर्वक न दबाया जाय, और किसी दावे को रद्द न किया जाय। हर एक वर्ग को आज़ादी थी कि वह अपने आदर्शों का, अपनी-अपनी समझ और दिमाग़ी सतह के अनुसार पूर्ति करने में लगे। समन्वय की कोशिशें होती थीं, लेकिन किसी विश्वास का विरोध नहीं किया जाता था, न उसे दबाया जाता था।

सामाजिक संगठन के बारे में और भी कठिन समस्या का सामना करना पड़ा था। इन बिलकुल जुदा-जुदा वर्गों को किस तरह एक सामाजिक संगठन के अंदर लाया जाय, जिसमें कि यह एक दूसरे के साथ सहयोग करते हुए अपनी-अपनी आज़ाद ज़िंदगी बसर कर सकें और अपनी तरक्क़ी कर सकें। एक मानी में—अगर्चे यह दूर का मक़ाबला होगा—इस स्थिति का मुक़ाबला आजकल के अल्प-संख्यक लोगों की समस्याओं से किया जा सकता है, जो कि आज अनेक देशों में फैली हैं और जिनका हल पाना मुश्किल हो रहा है। अमरीका के संयुक्त प्रदेश ने अपने अल्प-संख्यकों के मसले का हल हर एक नागरिक को सौ-फ़ीसदी अमरीकन स्वीकार करके किया है: वह हर एक से एक निश्चित

नमूने की पाबंदी कराना चाहता है। दूसरे मुल्कों में, जिनका इतिहास ज्यादा पुराना और जटिल है, यह सुविधा मुमकिन नहीं है। कैनाडा तक में, जो फ्रेंच वर्ग है उसे अपनी जाति, धर्म और भाषा की गहरी चेतना है। यूरोप में रुकावट डालने वाली दीवारें और भी ऊँची और गहरी हैं। यह सब बातें यूरोपीयों पर, या उन लोगों पर, जो कि यूरोप से फैले हुए हैं, लागू होती हैं, अगर्चे उनके पीछे संस्कृति की समानता है और उनकी एक-सी भूमिका है। जहां ग़ैर-यूरोपीय आ जाते हैं, वह इस चित्र में ठीक-ठीक बैठ नहीं पाते। संयुक्त राष्ट्र, अमरीका में हबशी लोग, चाहे वह सौ-फ़ीसदी अमरीकन हों, जाति की दृष्टि से अलग-थलग ही हैं, वह बहुत से ऐसे अवसरों और सुविधाओं से वंचित रक्खे जाते हैं जो कि दूसरों को साधारणतया हासिल हैं। दूसरी जगहों में इससे भी बुरी मिसालें मिलेंगी। सिर्फ़ सोवियत रूस ने, कहा जाता है कि, अपनी अल्प-संख्यकों और कौमियों की समस्या का हल एक अनेक कौमियों का मिला-जुला राज्य क़ायम करके किया है।

अगर यह कठिनाइयां और समस्याएँ आज भी हमारे पीछे लगी हुई हैं, जब कि हम इतनी तरक्क़ी कर गए है और हमारा ज्ञान इतना बढ़ा हुआ है, तो उस क़दीम ज़माने में जब कि भारतीय आर्य अपनी सभ्यता और सामाजिक ढांचे का विकास एक ऐसे देश में, जहां कि लोगों में इतनी विविधता हो, कर रहे थे, यह कठिनाइयां और समस्याएं कितनी ज़्यादा रही होंगी। इन समस्याओं को दूर करने का साधारण तरीक़ा उस वक़्त और बाद के ज़माने में यह रहा है कि विजित लोगों को या तो ग़ुलाम बना लिया जाय या उन्हें नेस्त-नाबूद कर दिया जाय। हिंदुस्तान में यह तरीक़ा नहीं बरता गया, लेकिन यह साफ़ ज़ाहिर है कि ऊंचे वर्ग वालों के पद को बनाए रखने के बारे में पूरी सतर्कता रक्खी गई। इस तरह ऊंचे पद को सुरक्षित करते हुए एक ऐसी राज-व्यवस्था बनाई गई कि उसमें बहुत से वर्गों का समावेश रह सके और कुछ हदों के भीतर और कुछ आम क़ायदों को मानते हुए हर एक वर्ग को अपने धंधे में लगने और अपनी इच्छा और रीति-रिवाजों के अनुसार अपनी अलग-अलग ज़िंदगी बिताने का अवसर मिले। एक ही ख़ास रुकावट रही थी, और वह यह थी कि किसी वर्ग को दूसरे वर्गों के साथ संघर्ष में न आना चाहिए। यह एक लचीली और फैलने वाली व्यवस्था थी, जिसमें नए वर्ग बराबर बन सकते थे और इनमें या तो नए आने वाले लोग, या पुराने वर्गों से अलग होने वाले शरीक हो सकते थे, अगर वह तादाद में काफ़ी हों। हर एक वर्ग के भीतर बराबरी और प्रजातंत्र के सिद्धांत बरते जाते थे—और उनके चुने नेता वर्ग का नियंत्रण करते थे और जब ख़ास सवाल उठते थे तो सारे वर्ग के लोगों से मशविरा किया जाता था।

यह वर्ग प्रायः हमेशा धंधों के आधार पर बने होते थे, हर एक अपने

ख़ास हुनर या व्यवसाय में विशेषता रखने वाला होता था। इस तरह से वह एक प्रकार के व्यवसाय-संघ या शिल्प-संघ का रूप ले लेते थे। हर एक वर्ग में एके का भाव प्रबल होता था, और यह भाव न केवल वर्ग की औरों के मुक़ाबले में रक्षा करता था, बल्कि आपस में अगर कोई व्यक्ति संकट में हो या आर्थिक तंगी में हो तो उसकी सहायता के लिए बिरादरी वालों को उकसाता था। हर एक जात या वर्ग के लोगों के धंधों का ताल्लुक़ दूसरे वर्ग या जात के लोगों के धंधों से लगा हुआ था और ऐसा ख़याल किया जाता था कि अगर हर एक वर्ग अपने-अपने धंधे को पूरी तरह अंजाम देता रहे तो सारे समाज का काम सहूलियत से चलता रहेगा। इन सब बातों से ऊपर, इसकी ज़ोरदार और काफ़ी कामयाब कोशिश रही है कि एक आम क़ौमी रिश्ता पैदा किया जाय जो कि मुख्तलिफ़ गिरोहों को मिला-जुला रख सके—मिली-जुली संस्कृति और मिली-जुली परंपरा का भाव उपजाया गया था, नेता और संत सबके आम होते थे और जिसका यह भाव भी था सब का एक ही मुल्क है, जिसके चारों कोनों पर सभी लोग तीर्थ-यात्रा के लिए पहुँचा करते थे। उस ज़माने का क़ौमी लगाव आजकल की राष्ट्रीयता से बहुत जुदा था; सियासी लिहाज़ से वह कमज़ोर था, लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक लिहाज़ से यह मज़बूत था। चूंकि राजनीतिक संगठन की कमज़ोरी थी, इसलिए विदेशियों की विजयें हो सकीं; चूंकि सामाजिक संगठन मज़बूत था इसलिए लोग फिर उठ खड़े होते थे और नए आने वालों को अपने में जज़्ब कर लेते थे। यह संगठन इतने सिरों वाला था कि सबको काटा नहीं जा सकता था और विजय और तबाहियों के बावजूद बहुत से सिर ज़िंदा रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था, सेवाओं और धं ों के बुनियाद पर बनी हुई, एक वर्ग-व्यवस्था थी। समान नियम लागू किए बग़ैर, और हर एक वर्ग को पूरी आज़ादी देते हुए, इसका मक़सद सभी वर्गों को एक व्यवस्था के अंदर ले आना था। इसके विस्तृत दायरे के भीतर एक पत्नी रखने, एक से ज़्यादा पत्नी रखने और ब्रह्मचर्य की, सभी प्रथाएं थीं; जिस तरह और रीति-रिवाजों, विश्वासों और आचारों के साथ रवादारी बरती जाती थी उसी तरह इन सबसे रवादारी बरती जाती थी। हर एक सतह पर ज़िंदगी क़ायम रक्खी गई थी। किसी भी अल्प-संख्यक दल को, बहु-संख्यक दल की अधीनता क़ुबूल करने की ज़रूरत न थी। शर्त यही थी कि लोग इतने काफ़ी हो जायं कि उनका एक ख़ास वर्ग कहला सके, और वह वर्ग की हैसियत से क़ायम रह सके। दो वर्गों के बीच जाति, धर्म, रंग, संस्कृति और मानसिक विकास के अपार भेद हो सकते थे।

व्यक्ति का ख़याल, एक वर्ग के सदस्य के रूप में ही किया जाता था;

अगर वह वर्ग के अस्तित्व में बाधक नहीं है, तो जो चाहे वह करने के लिए आज़ाद था। उसे अपने वर्ग के धंधे में बाधा डालने का कोई हक़ नहीं था। हां, अगर वह इतना मज़बूत हा, और इतने साथी इकट्ठा कर सके कि उसका एक अलग वर्ग बन सके तो वह एक नया वर्ग ख़ुशी से क़ायम कर सकता था। अगर वह किसी वर्ग में बैठ नहीं सकता तो इसके यह मानी होते कि जहां तक दुनिया के सामाजिक व्यवहार हैं, वह उनके क़ाबिल नहीं। ऐसी हालत में वह संन्यासी हो सकता था, और वर्ण को, हर एक वर्ग को और कार्य-क्षेत्र को छोड़ सकता था और घूमता-फिरता रहकर जो चाहे कर सकता था।

यह याद रखना चाहिए कि जहां हिंदुस्तानी सामाजिक प्रवृत्ति यह थी कि व्यक्ति के मुक़ाबले में वर्ग या समाज के दावे को ऊंचा समझा जाय, वहां धार्मिक विचार और आध्यात्मिक खोज के मामलों में व्यक्ति की आज़ादी पर ज़ोर दिया गया है। मुक्ति और ब्रह्म-ज्ञान के दरवाजे सब के लिए खुले थे—हर वर्ग के लिए चाहे वह ऊँचा हो चाहे नीचा। यह मुक्ति या ज्ञान वर्ग के लिए नहीं हो सकते थे; यह पूरी तौर पर व्यक्ति के लिए होते। इस मुक्ति की खोज के बारे में कोई हठवादी नियम नहीं थे, और समझा यह जाता था कि सभी मार्गों से इस तक पहुँचा जा सकता है।

अगर्चे समाज के संगठन में वर्ग-व्यवस्था को प्रधानता दी गई थी, जिससे जात-पांत ज़ोर पकड़ते थे, फिर भी हिंदुस्तान में सदा से एक व्यक्तिवादी रुझान रहा है। दोनों नज़रियों के बीच अक्सर आपस का संघर्ष भी देखने में आता है। कुछ हद तक यह व्यक्तिवाद धर्म के उसूलों का, जो कि व्यक्ति पर ज़ोर देता, नतीजा होता। समाज-सुधारक लोग जो कि वर्ण-व्यवस्था की आलोचना कग्ते या उसकी निंदा करते, आम तौर पर धार्मिक सुधारक हुआ करते, और उनकी खास दलील यह होती कि वर्णों के भेद आत्मिक उन्नति और उस गहरे व्यक्तिवाद के रास्ते में बाधक होते हैं, जिसकी ओर धर्म का संकेत है। इस वर्ग-वर्ण के आदर्श से हटकर एक तरह के व्यक्तिवाद और साथ ही सार्वभौमिकता की ओर बौद्ध धर्म का रुझान हुआ। लेकिन इस व्यक्तिवाद ने साधारण सामाजिक धंधों से खिचाव का रूप ले लिया। वर्ण-व्यवस्था की जगह लेने वाले किसी दूसरे सामाजिक ढांचे को यह पेश न कर सका; इसी से उस वक़्त और बाद में भी वर्ण-व्यवस्था चलती रही।

ख़ास-ख़ास वर्ण कौन थे? अगर हम क्षण भर के लिए उन लोगों को छोड़ दें जिन्हें कि वर्ण से बाहर समझा जाता था, यानी अछूतों को, तो फिर ब्राह्मण थे, जो पुरोहित, गुरु और विचारक होते थ; क्षत्रिय, जो शासक और युद्ध करने वाले लोग थे, वैश्य, सौदागरी, तिजारत, महाजनी वग़ैरह करते थे; और शूद्र थे, जो कि किसानी और दूसरे काम किया करते थे। इन सब में

शायद एक ही वर्ण ख़ूब संगठित और अलग-थलग रहने वाला था, यानी ब्राह्मणों का। क्षत्रिय अपने वर्ग को, विदेशों से आने वाले लोगों, और मुल्क में ताक़त और पद हासिल कर लेने वाले लोगों, दोनों के ही आदमियों को लेकर अपना तादाद बढ़ाते रहते थे। वैश्य लोग ख़ास तौर पर तिजारत और महा-जनी करते थे और कुछ और पेशों में भी थे। खेती-बाड़ी और घरेलू नौकरी-चाकरी शूद्रों के ख़ास धंधे थे। ज्यों-ज्यों नए धंधे निकलते थे या दूसरे कारणों से, नई जातों के बनने का सिलसिला बराबर जारी रहता था, और पुरानी जातों का दर्जा समाज के भीतर तरक्क़ी करता जाता था। यह सिलसिला हमारे ज़माने तक चला आया है। कभी-कभी नीची जात वाले जनेऊ पहन लेने लग जाते हैं जो कि सिर्फ़ ऊँची जात वालों के लिए ही बना समझा जाता है। इन सब बातों से ज़्यादा फ़र्क न पैदा होता, क्योंकि जात का एक दायरा मुक़र्रर था और हर जात का धंधा या पेशा अलग होता। यह सिर्फ इज़्ज़त का सवाल हुआ करता। कभी-कभी नीचे वर्गों के लोग अपनी योग्यता के कारण राज्य में ऊँचे ओहदों तक तरक्क़ी करके पहुँच जाते थे, लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।

समाज का संगठन ऐसा था, जिसमें साधारण तरीके पर धन बटोरने पर ज़्यादा ज़ोर न दिया जाता था, न आपस में ज़्यादा होड़ होती थी; इसलिए उसके जातों में इस तौर पर बंटने से उतना फ़र्क न पैदा होता था जितना कि यों होता। ब्राह्मणों को जो सबसे ऊपर होते थे, अपनी विद्या और बुद्धि का गुमान हुआ करता था और दूसरे उनकी इज़्ज़त किया करते थे; दुनिया की धन-दौलत उनके पास बहुत कम हो पाती थी। व्यापार करने वाले अमीर और समृद्ध ज़रूर होते थे, लेकिन कुल मिलाकर समाज में उनका बहुत बड़ा रुतबा न था।

बाशिंदों की ज़्यादा तादाद किसानों की थी। न तो ज़मींदारी की प्रथा थी न ज़मीन पर किसानों की ही मिल्कियत था। यह कहना मुश्किल है कि कानून से ज़मीन का मालिक कौन था; आजकल का जैसा मिल्कियत का-सा सिद्धांत न था। किसान को अपनी ज़मीन पर खेती करने का अख़्तियार था, और जो अस्ल सवाल था वह यह था कि पैदावार का बटवारा कैसे हो। पैदावार का ज़्यादा हिस्सा किसान के पास जाता, राजा का या राज का भी हिस्सा होता (आमतौर पर छठा हिस्सा) और गांव के हर एक और पेशे वाले का हिस्सा लगता—जैसे ब्राह्मण पुरोहित का, पढ़ाने वाले गुरु का, व्यापारी का, लोहार, बढ़ई, चमार का, कुम्हार, थवई, नाई, मेहतर वग़ैरह का। इस तरह राज्य से लेकर मेहतर तक, सभी का पदावार में हिस्सा हुआ करता था।

दलित जाति के और अछूत लोग कौन होते थे? 'दलितजाति' एक नया नामकरण है और एक अस्पष्ट ढंग से समाज के बिलकुल नीचे के तल को कुछ

जातों पर लागू होता है। इनके और औरों के बीच कोई निश्चित विभाजक-रेखा नहीं है। उत्तरी हिंदुस्तान में, बहुत थोड़े से लोग, जो कि भंगी या मेहतर का काम करते हैं, अछूत समझे जाते हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में इनकी गिनती कहीं बड़ी है। इनकी शुरुआत कैसे हुई और गिनती में यह इतने बढ़ कैसे गए, यह बता सकना बड़ा कठिन है। शायद वह लोग जो गंदे समझे जाने वाले पेशों में लगे थे पहले ऐसे समझे जाते थे और बाद में उनके साथ ऐसे किसानी करने वाले मज़-दूर जुड़ गए जिनकी अपनी ज़मीन न थी।

हिंदुओं में आचार की शुद्धता का बेहद कड़ा विचार रहा है। इसका एक अच्छा नतीजा रहा और बहुत से बुरे नतीजे भी हुए। अच्छा नतीजा तो जिस्म की सफ़ाई थी। रोज़ का नहाना हिंदुओं की ज़िंदगी का एक ख़ास अंग रहा है, इसमें ज़्यादातर दलित-वर्ग भी शरीक़ है। हिंदुस्तान से ही यह आदत इंग्लिस्तान और दूसरी जगहों में फैली। साधारण हिंदू और ग़रीब-से-ग़रीब किसान को अपने बरतनों को साफ़ और चमकता हुआ रखने में गर्व का अनुभव होता है। सफ़ाई का यह विचार वैज्ञानिक न समझना चाहिए, क्योंकि वही आदमी जो कि दिन में दो बार स्नान करेगा बिना संकोच के ऐसा पानी पी लेगा जो कि साफ़ नहीं है और जिसमें कीटाणु भरे पड़े हैं। न यह विचार सामू-हिक है, कम-से-कम यह अब नहीं रहा है। वही शख्स जो अपने झोंपड़े में काफ़ी सफ़ाई रखेगा, सारा कूड़ा-करकट गांव की गलियों में या अपने पड़ौसी के घर के आगे डाल देगा। गांव आमतौर पर बड़े गंदे होते हैं और जगह-जगह कूड़ा-करकट के ढेर लगे हुए मिलते हैं। यह भी देखने में आयगा कि सफ़ाई का ख़ुद कोई ख़याल नहीं पैदा होता, बल्कि इसलिए उसका ख़याल किया जाता है कि इसे धर्म की आज्ञा का रूप दिया गया है। जहां यह धर्म की आज्ञा का ख़याल नहीं, वहां सफ़ाई का दर्जा नुमायां तौर पर गिरा हुआ होता है।

आचार-विचार संबंधी शुद्धता का बुरा नतीजा यह हुआ कि अलग-रहने की प्रवृत्ति, और छूत-छात ने तरक्क़ी की, और ग़ैर बिरादरी वालों के साथ बैठकर खाना-पीना मना किया गया। और यह बात इतनी बढ़ी कि दुनिया भर मे ऐसी मिसाल और कहीं नही मिलती। इसका नतीजा यह भी हुआ कि कुछ ख़ास जातों वाले इसलिए अछूत समझे जाने लगे, कि उन्हें ऐसे ज़रूरी धंधों में लगना पड़ता था जो कि गंदे समझे जाते हैं। आमतौर पर अपने ही जात वालों के साथ खाने का रिवाज सभी जातों में फैला। यह समाज में एक ख़ास पद का निशान बन गया और ऊंची जातों के मुक़ाबले में नीची जात वाले ज़्यादा कट्टरपन के साथ इसे बरतते। यह रिवाज़ ऊंची जात वालों के यहां से उठ रहा है। लेकिन नीची जात वालों में, जिनमें कि दलित जातियां भी हैं, यह अब भी चल रहा है।

जब आपस में खाने-पीने की इतनी मनाही रही तो मुख्तलिफ़ जातवालों के बीच शादी-ब्याह के बारे में क्या कहना है। कुछ मिली-जुली शादियों का होना तो लाज़िमी था लेकिन सब कुछ लेकर, यह बड़े हैरत की बात है कि हर एक जात ने अपनी ही हद के अन्दर शादी-ब्याह क़ायम रक्खा। ज़माने के लंबे दौर में जातियों की विशुद्धता बना रह सके यह एक महज़ ख़याल है, फिर भी हिंदुस्तान की वर्ण-व्यवस्था ने कुछ हद तक, ख़ास तौर पर ऊंची जातों में, ख़ास नमूने क़ायम रखने में मदद दी है।

नीचे के स्तर के कुछ वर्गों के बारे में कभी-कभी कहा जाता है कि यह जात से बाहर के है। दरअस्ल कोई भी वर्ग, यहां तक कि अछूत लोग भी वर्ण-व्यवस्था के चौखटे के बाहर नहीं है। दलित वर्ग और अछूत लोगों की अपनी अलग जातें हैं, उनकी पंचायतें अलग हैं, जो कि उनकी बिरादरी के लोगों की हैं और उनके आपस के मामलों को तै करती रहती हैं। लेकिन इनमें से बहुतों को गांव की आम ज़िंदगी से बाहर करके बेरहमी से सताया गया है।

इस तरह पुराने हिंदुस्तानी समाजिक संगठन की दो ख़ास बातें थीं, एक ख़ुदमुख़्तार गांवों का होना, और दूसरी वर्ण-व्यवस्था। तीसरी बात थी मिले-जुले ख़ांदान की प्रथा, जिसके सभी लोग आम जायदाद के मिले-जुले हिस्सेदार होते थे और जो बच रहते थे वह सभी विरासत के मालिक होते थे। बाप या कोई और बजुर्ग ख़ांदान का कर्ता हुआ करता था, लेकिन उसका काम प्रबंध-कर्ता का होता था। क़दीम रोम में 'पैटर फैमिलियास' की जो हैसियत होती थी वह उसकी न थी। किन्हीं हालतों में, अगर फ़रीक़ चाहें, तो जायदाद का बटवारा हो सकता था। इस मिली-जुली जायदाद में ख़ांदान के सभी लोगों का हिस्सा समझा जाता था। चाहे वह कमाते हों, चाहे न कमाते हों। लाज़मी तौर पर इसके यह माना होते कि सभी को थोड़ा-थोड़ा निश्चित रूप से मिल जाता और कुछ को बहुत ज़्यादा हिस्सा मिले ऐसा न होता था। यह एक क़िस्म का बीमा था जिससे कि वह लोग भी फायदा उठा लेते थे जो कि शरीर से अपंग होते या जिनके दिमाग़ में फ़रक होता। इस तरह पर जहा कि एक तरफ सबके गुज़र-बसर का इंतज़ाम हो जाता था, वहां चूंकि काम करने की पाबंदी न थी इसलिए काम भी ढीले तरीके पर होता और उसका मुआविज़ा भी थोड़ा ही हो पाता। शख़्शी फ़ायदे या हौसले पर ज़ोर न दिया जाता बल्कि इस बात पर कि वर्ग और ख़ांदान का क्या नफा है। एक बड़े कुटुम्ब में पलने और रहने का बच्चे पर यह असर होता कि अपने को बड़ा समझने का ख़याल नरम पड़ जाता और उसमें समाजी हमदर्दी की रुझान पैदा हो जाती।

यह सब बातें, उसके बिलकुल बर-अक्स हैं जो कि घोर व्यक्तिवादा

पच्छिमी सभ्यता में और ख़ासतौर पर अमरीका में होता है, जहां कि शख़्सा हौसले को बढ़ावा दिया जाता है और जाती नफ़ा एक आम मक़सद मान लिया गया है, और जहां कि तेज़-तपाक और दूसरों को धक्का देकर आगे बढ़ने वालों के लिए सभी नफ़े हैं, और कमज़ोरों और शर्माऊ लोगों या बोदों के गुज़र की गुंजाइश नहीं। हिंदुस्तान म मिले-जुले कुटुंब का रिवाज तेज़ी से टूट रहा है और शख़्शी रुझानों की तरक़्क़ी मिल रही है और इसका नतीजा यह हो रहा है कि न महज़ जिंदगी की आर्थिक पृष्ठभूमि में तब्दीलियां हो रही हैं, बल्कि आपस के व्यवहार के सिलसिले में नए मसले खड़े हो रहे हैं।

इस तरह, हिंदुस्तानी समाजी ढांचे के तीनों खंभों की बुनियाद वर्ग के ऊपर क़ायम थी न कि व्यक्ति पर। मकसद यह था कि वर्ग में, यानी समाज म, पायदारी आवे, उसकी हिफाज़त हो सके और वह जारी रह सके। तरक़्क़ी का मक़सद न था, इसलिए तरक़्क़ी में रुकावट आती। हर एक वर्ग के भीतर, चाहे वह गांव हो, चाहे कोई जात या बड़ा खांदान हो, लोग एक आम जिंदगी में हिस्सा लेते थे, आपस में बराबरी की हैसियत रखते थे, और प्रजातंत्री तरीक़े बरते जाते थे। आज भी जातों की पंचायतें प्रजातंत्री ढंग पर चलती हैं। एक वक़्त मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि देहातियों में, जिनमें कि अक्सर अनपढ़ भी थे, चुनाव वाली राजनीतिक और दूसरी समितियों में आने की उत्सुकता थी। वह इनके तरीक़ों से जल्द वाक़िफ़ हो जाते थे और जब कभी उनकी ज़िंदगी से ताल्लुक़ रखने वाले मसले पेश होते तो वह मुफ़ीद मेम्बर साबित होते, और उन्हें दबाना आसान न होता। लेकिन छोट-छोटे वर्गों में बदकिस्मती से फूट और आपस में झगड़ा करने की प्रवृत्ति देखी गई है।

प्रजातंत्री तरीक़े से लोग अच्छी तरह वाकिफ़ ही न थे, बल्कि उसे समाजी ज़िंदगी में, मुक़ामी हुकूमत में, व्यापारी संघों में, धार्मिक जमातों वग़ैरा में आम तौर पर बरतते थे। वर्ण-व्यवस्था की और जो भी बुराइयां हों, उसने हर एक वर्ग के भीतर यह प्रजातंत्री ढंग क़ायम रक्खा। कार्य-संचालन, चुनाव और बहस के लंबे नियम होते थे। शुरू-शुरू की बौद्ध सभाओं के बारे म लिखते हुए मार्क्विस अव् ज़ेटलैंड ने कहा है: "बहुतों को यह जानकर ताज्जुब होगा कि हिंदुस्तान में, दो हज़ार या इससे भी ज़्यादा साल क़ब्ल, बौद्धों की सभाओं में हमारी अपनी आजकल की पार्लमेंट के दस्तूर-अमल मिलते हैं। सभा के गौरव का निबाह करने की ख़ातिर एक ख़ास पदाधिकारी मुक़र्रर किया जाता था—यह हाउस अव् कामन्स के 'मिस्टर स्पीकर' का पूर्व रूप था। एक और पदाधिकारी इसलिए मुक़र्रर होता था कि जब ज़रूरत हो एक निश्चित 'कोरम' का प्रबंध करे—यह हमारी व्यवस्था के 'पार्लमेंटरी चीफ़ ह्विप' के

जवाब का पदाधिकारी होता था। सदस्य लोग कोई भी विषय पेश करने के लिए प्रस्ताव ले आते थे, फिर इस पर बहस होती थी। कुछ हालतों में एक ही बार बहस का होना काफ़ी होता था, दूसरी हालतों में इसका तीन बार होना लाज़िमी होता; यह पार्लमेंट के इस दस्तूर की पेशबंदी थी कि किसी भी बिल को क़ानन के रूप मे आने से पहले उसे पार्लमेंट के सामने तीन बार पढ़ा जाना चाहिए। अगर विचारणीय विषय पर मतभेद होता तो उसे बहुमत से तै किया जाता, और 'बैलट' या गुप्त चिट्ठी के ज़रिये मत पड़ते थे।[1]"

इस तरह हिंदुस्तान के पुराने सामाजिक ढाँचे में कुछ गुण थे; और दर-असल यह गुण न रहे होते तो वह इतने दिनों तक क़ायम न रह पाता। इसके पीछे हिंदुस्तानी संस्कृति का फ़िलसफ़ियाना आदर्श था—इंसानी एकता का, और इसमें धन दौलत हासिल करने पर नहीं बल्कि भलाई, सौंदर्य और सचाई पर ज़ोर दिया गया था। इस बात की कोशिश की गई थी कि इज्ज़त, ताक़त और दौलत एक ही जगह न इकट्ठा हों। व्यक्ति और वर्ग के कर्त्तव्यों पर ज़ोर दिया गया था, अधिकारों पर नहीं। स्मृतियों मे अलग-अलग वर्णों के धर्मों, कर्त्तव्यों का बयान किया गया है, इनमे से किसी में उनके अधिकारो की सूची नही दी गई है। मक़सद यह होता था कि वर्ग के भीतर, ख़ास तौर पर गाँवों में, और एक दूसरे ही माने म, जात के भीतर भी, ऐसी हालत रहे कि उसे बाहर की मदद की ज़रूरत न हो, वह अपने में पूर्ण हो। यह एक बँधी हुई व्यवस्था थी, जिसमे अपने चौखटे के भीतर तो तब्दीली की, आज़ादी की, और अपने को ठीक-ठीक बिठा लेने की गुंजाइश थी, लेकिन जो लाज़िमी तौर पर बराबर ज्यादा अलग-थलग और सख्त पाबंदियों की तरफ़ ले जाने वाली थी। रफ़्ता-रफ़्ता इसमे फैलने की और नए गुणों के ग्रहण करने की ताक़त जाती रही। बँधे हुए ज़बर्दस्त स्वार्थो ने बड़ी तब्दीलियों को और शिक्षा को फैलने से रोक रक्खा। पुराने अंध-विश्वास, जिन्हें कि ऊपर के वर्ग के लोग ठीक तरह से अंध-विश्वास समझते थे क़ायम रहे और उनमे नए जुड़ते गए। कौमी अर्थतंत्र ही नही बँध गया, बल्कि विचार भी स्थिर हो गया; वह पुरानी लकीर का पाबंद, सख्त, न फैलने वाला और न तरक्क़ी करने वाला हो गया।

वर्णो की कल्पना और अमल मे, बड़प्पन के आदर्श ने जगह कर ली थी, और ज़ाहिर है कि यह प्रजातंत्री विचारों के खिलाफ़ पड़ता था। इसे अपने उदार कर्त्तव्यों का खूब एहसास था; लेकिन शर्त यह थी कि लोग स्थापित व्यवस्था को चुनौती न दें और अपनी-अपनी पैतृक जगहों पर क़ायम रहें।

---

१ प्रोफ़ेसर रालिसन की पुस्तक 'दि लिगेसी अव् इंडिया' (१९३७) में पृष्ठ ११ (भूमिका) पर उद्धृत।

हिंदुस्तान के कारनामे और उसकी कामयाबियां बहुत करके ऊंचे वर्ग के लोगों तक महदूद थीं; नीचे स्तर के लोगों को बहुत कम मौके हासिल थे और उनकी तरक्की पर सख्त पाबंदियां लगी थीं। ऊँचे वर्ग के लोग संख्या में थोड़े न थे, वे छोटे-छोटे वर्गों में बँटे हुए थे, और ताक़त, अधिकार और प्रभाव उनमें खूब था। इसलिए वह कामयाबी के साथ एक लंबे ज़माने तक इस तरह बने चले आए। लेकिन वर्ण-व्यवस्था और हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन की जिस कमज़ोरी और कमी पर बात जाकर टूटती था, वह यह थी कि इसने बहुत बड़ी जनता को गिराए रक्खा, और उसे उठने, शिक्षा, संस्कृति और धन-दौलत के मामले में तरक्क़ी करने का मौक़ा न दिया। इस पस्ती की वजह से सभी ओर तनज़्ज़ुली फैली और इसके असर से ऊँचे वर्ग के लोग भी न बच पाए। इससे वह सड़ांध पैदा हुई जो कि हिंदुस्तान की ज़िंदगी और अर्थतंत्र पर अपना असर बनाए रही। समाज के इस ढाँचे में और गुज़रे हुए ज़माने के दुनिया के और हिस्सों के, ढाँचों में ज्यादा फ़र्क न था, लेकिन पिछली कुछ पीढ़ियों में दुनिया में जो तब्दीलियां हुई हैं उनकी वजह से यह फ़र्क बहुत नुमायां हो गया है। आज के समाज में, वर्ण-व्यवस्था और उसके साथ लगी हुई बहुत-सी चीज़े बेमानी, रुकावट डालने वाली, प्रतिक्रिया पैदा करने वाली, और तरक्क़ी में बाधक हैं। इसके चौखटे के भीतर अब बराबरी नहीं क़ायम रह सकती, न तरक्क़ी के मौक़े मिल सकते हैं, न इसमें राजनीतिक प्रजातंत्र की गुंजाइश है, और आर्थिक प्रजातंत्र की तो उससे भी कम है। इन दो विचारों के बीच संघर्ष छिड़ा हुआ है और इनमें से सिर्फ़ एक ज़िंदा रह सकता है।

६ : बाबर और अकबर : हिंदुस्तानी बनने का सिलसिला

अब फिर पीछे वापस चलिए। अफ़गान लोग हिंदुस्तान में बस गए थे और हिंदुस्तानी बन गए थे। उनके हाकिमों के सामने पहले यह सवाल था कि लोगों के विरोध को किस तरह कम किया जाय, फिर उनको अपने पक्ष में कैसे किया जाय। इसलिए उनकी निश्चित नीति यह रही कि अपने शुरू के निर्दय ढंग को नर्म किया जाय, और उन्होंने बाहरी विजेताओं की हैसियत से नहीं, बल्कि हिंदुस्तान में जन्मे और पले हुए लोगों की हैसियत से हुकूमत करने की कोशिश की। जो बात शुरू-शुरू में नीति के ढंग पर बरती गई वह, ज्यों-ज्यों इन पच्छिमोत्तरी लोगों पर हिंदुस्तान के वातावरण का असर पड़ा और उसने इन्हें जज्ब किया, त्यों-त्यों एक लाज़िमी प्रवृत्ति बनती गई। ऊपर से तो यह सिलसिला चलता ही रहा, जनता में भी, खुद-ब-खुद ऐसे ज़बर्दस्त सोते फूट निकले जिनका मक़सद विचारों और रहन-सहन के ढंग में एक समन्वय पैदा

करना था। एक मिली-जुली संस्कृति ज़ाहिर होने लग गई और ऐसी बुनियाद पड़ गई, जिस पर कि अकबर ने बाद म इमारत खड़ी की।

अकबर हिंदुस्तान के मुग़ल ख़ांदान का तीसरा बादशाह था, फिर भी दर-अस्ल इसी ने सल्तनत की बुनियाद पक्की की। उसके बाबा बाबर ने १५२६ में दिल्ली के तख़्त पर क़ब्ज़ा किया था, लेकिन वह हिंदुस्तान के लिए परदेसी था और बराबर अपन को परदेसी समझता रहा। वह उत्तर से, एक ऐसी जगह से आया था, जहां कि उसने अपने मध्य एशियाई देस में तैमूरियों की नई जागृति देखी थी और जहां कि ईरान की कला और संस्कृति का गहरा असर पड़ा था। अपने साथी-संगियों से मिलने की, वहां की सोहबतों की, और ज़िंदगी की उन आसाइशों की जो कि बग़दाद और ईरान से वहां फैली थीं उसे बराबर चाह बनी रही। उन उत्तरी पर्वत-प्रदेशों के बर्फ़िस्तान की और फ़रगाना के अच्छे गोश्त और फल-फूलों की उसे गहरी ख़्वाहिश होती थी। जो कुछ उसने यहां देखा उससे चाहे जैसी मायूसी उसे हुई हो, वह कहता है कि हिंदुस्तान एक बहुत ही बढ़िया मुल्क है। हिंदुस्तान में आने के चार साल बाद बाबर मर गया, और उसका बहुत-सा वक़्त लड़ाई में और आगरा की राजधानी को सजाने में बीता और इस काम के लिए उसने कुस्तुंतुनिया के एक मशहूर मेमार को हासिल किया था। कुस्तुंतुनिया में यह सुलेमान का आलीशान ज़माना था और उस शहर म शानदार इमारतें खड़ी हो रही थीं।

बाबर ने हिंदुस्तान बहुत कम देखा और चूंकि वह चारों तरफ़ से विरोधी लोगों से घिरा हुआ था, इसलिए बहुत कुछ चीजें उसके देखने से रह गईं। लेकिन उसके बयान से इस बात का पता चलता है कि उत्तरी हिंदुस्तान का बहुत कुछ सांस्कृतिक ह्रास हो चुका था। कुछ तो इसकी वजह थी तैमूर का किया हुआ विध्वंस; कुछ यह कि बहुत से विद्वान् और कलाकार और मशहूर कारीगर दक्खिन हिंदुस्तान म चले गए थे। बाबर का कहना है कि होशियार काम करने वालों और कारीगरों की कमी न थी, लेकिन कारीगरी में ईजाद का कौशल न रह गया था। यह भी जान पड़ता है कि ज़िंदगी की आसाइशों और आराम की चीज़ों में हिंदुस्तान ईरान के मुक़ाबले में बहुत पिछड़ा हुआ था। मैं नहीं कह सकता कि इसकी वजह क्या थी, यह कि हिंदुस्तानी दिमाग़ ज़िंदगी के इस पहलू की ओर से लापरवाह था, या यह कि बाद में कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिनका यह नतीजा हुआ। शायद, ईरानियों के मुक़ाबले में उन दिनों हिंदुस्तानी ऐशो-आराम और आसाइशों की तरफ़ इतना नहीं खिचते थे। अलग इन्हें इन चीज़ों की काफ़ी परवाह होती, तो आसानी से वह इन्हें ईरान से हासिल कर सकते थे, क्योंकि दोनों मुल्कों के बीच अक्सर आना-जाना लगा रहता था। लेकिन ज़्यादा संभव यह है कि यह सूरत बाद में पैदा हुई, और

यह हिंदुस्तान के ह्रास और सांस्कृतिक कट्टरपन का एक और चिह्न था। पहले के ज़मानों में, जैसा कि संस्कृत-काल के साहित्य और चित्रों से पता लगता है, लोगों की रुचि के परिमार्जन में कमी न थी और उन ज़मानों को देखते हुए रहन-सहन का कक्ष बहुत ऊंचा और आडंबर वाला था। उस वक्त भी जब कि बाबर हिंदुस्तान में आया दक्खिन के विजयनगर के बारे में बहुत से यूरोपीय यात्रियों ने बयान किया है कि कला, संस्कृति, सुरुचि, आसाइश का यहां का दर्जा बहुत ऊंचा था।

लेकिन उत्तरी हिंदुस्तान में सांस्कृतिक ह्रास बहुत नुमायां है। बँधे-तुले विश्वासों और एक कट्टर सामाजिक संगठन ने समाजी कोशिशों और तरक्क़ी में रुकावट डाली। इस्लाम के और बाहर के बहुत से लोगों के, जिनके रहन-सहन जुदा थे, आने से इन विश्वासों और इस संगठन पर असर पड़ा। विदेशी की विजय के और जो कुछ बुरे नतीजे हों, उससे एक फ़ायदा होता है, यह लोगों के मानसिक क्षितिज को विस्तृत कर देता है और उन्हें इस बात के लिए मजबूर करता है कि वह अपनी घरौंदों से बाहर निकले। वह इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि जैसा उन्होंने समझ रक्खा था दुनियां उससे कहीं बड़ी और विविध है। अफ़ग़ानों की विजय का भी यही असर पड़ा था और उसकी वजह से बहुत-सी तब्दीलियां हुई थीं। मुग़लों की विजय का इससे भी ज़्यादा असर पड़ा, क्योंकि यह लोग अफ़ग़ानों से कहीं ज़्यादा तहज़ीब-याफ़्ता थे और रहन-सहन के तरीकों म आगे बढ़े हुए थे। और भी तब्दीलियां हुई। ख़ास तौर पर उन्होंने वह आसाइशें पेश कीं जिनके लिए कि ईरान मशहूर था। यहां तक कि वहां की दरबारी ज़िंदगी के बहुत बने-चुने शिष्टाचार भी यहां आए। दक्खिन की बहमनी रियासत का कैलिकट के ज़रिये ईरान से सीधा संपर्क था।

हिंदुस्तान में बहुत-सी तब्दीलियां हुई और कला और इमारतों और दूसरी सांस्कृतिक दिशाओं में नई प्रेरणाएं देखन नें आई। लेकिन यह सब इस बात का नतीजा था कि पुरानी दुनिया की ऐसी दो शैलियों का आपस में संपर्क हुआ जो कि अपनी उठान के दिनों की जीवनी शक्ति और रचनात्मक शक्ति खो चुकी थीं और जो कि कट्टरपन के चौखटों में घिरी हुई थीं। हिंदुस्तानी संस्कृति बहुत क़दीम और थकी हुई थी; अरब ईरान की मिली-जुली संस्कृति की दुपहरी भी कब की ढल चुकी थी, और उसका पुराना कौतूहल का भाव और मानसिक साहस, जिसके लिए कि अरब वाले मशहूर थे, अब न दिखते थे।

बाबर की शख़्सियत दिलकश है; वह नई जागृति की ठीक-ठीक नुमाइंदगी करने वाला शहज़ादा है, जो कि साहसी और बहादुर है, और कला, साहित्य और रहन-सहन का प्रेमी है। उसके पोते अकबर में और भी आक-

र्षण है और गुणों में भी वह उससे कहीं बढ़कर है। योग्य सेनापति की हैसियत से वह साहसी और दिलेर है, फिर भी उसमें बड़ी दया और कोमलता भी है; वह आदर्शवादी और सपनों का देखने वाला है, फिर भी वह कार्य-क्षेत्र का आदमी है, लोगों का ऐसा नेता है कि अपने अनुयायियों में गहरी स्वामि-भक्ति उकसा सके। योद्धा की हैसियत से उसने हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों पर फ़तह हासिल की, लेकिन उसकी निगाहें एक दूसरी ही तरह की विजय पर लगी हुई थीं, वह लोगों के दिलों और दिमागों पर फ़तह हासिल करना चाहता था। उसकी इन मजबूर कर देने वाली आंखों में, जैसा कि उसके दरबार के एक पुर्तगाली जेजुइट ने हमें बताया है 'धूप में दमकते हुए समुदर' की-सी झलक थी। अखंड हिंदुस्तान के पुराने स्वप्न ने उसमें नया रूप ग्रहण किया, और यह एकता महज़ सियासी एकता न थी, बल्कि ऐसी थी कि सब लोगों को एक चेतना में ढालने वाली थी। सन् १५५६ से लेकर, अपने राज्य-काल के क़रीब पचास साल तक उसने बराबर यही कोशिश की। बहुत से राजपूत सरदारों को जो किसी तरह दूसरे के क़ाबू में आने वाले न थे, उसन अपनी तरफ़ मिला लिया। उसने एक राजपूत राजकुमारी से ब्याह किया और इस तरह उसका बेटा जहांगीर आधा मुग़ल और आधा राजपूत हिंदू था। जहांगीर का बेटा शाहजहां भी एक राजपूत माता की कोख से पैदा हुआ था। इस तरह यह तुर्क-मंगोल वंश तुर्क या मंगोल होने की बनिस्बत कहीं ज़्यादा हिंदुस्तानी था। अकबर राजपूतों का बड़ा प्रशंसक था और उनसे अपना संबंध मानता था, और अपनी ब्याह-संबंधी और दूसरी नीति से उसने राजपूत राजाओं से दोस्ती पैदा कर ली थी, उसकी वजह से उसकी सल्तनत में बड़ी पायदारी आई। मुग़लों और राजपूतों के इस सहयोग ने, जो कि बाद के राज्य-कालों में भी बना रहा, न महज़ सरकारी हुकूमत और फ़ौज पर असर डाला, बल्कि कला, संस्कृति और रहने के तरीक़ों पर भी। मुग़ल अमीर रफ़्ता-रफ़्ता और भी ज़्यादा हिदुस्तानी होते गए और राजपूतों पर ईरानी संस्कृति का असर पड़ा।

अकबर ने बहुत से लोगों को अपनी तरफ़ कर लिया, और बनाए रक्खा लेकिन वह राजपूताना में मेवाड़ के राणा प्रताप के गर्व और अदम्य भाव का दमन करने मे कामयाब न हुआ; और राणा प्रताप ने, एक ऐसे व्यक्ति से जिसे कि वह विदेशी विजेता समझता था रिश्ता जोड़ने से जंगल मे मारा-मारा फिरना अच्छा समझा।

अकबर ने अपने गिर्द बहुत से चमत्कारी लोगों को इकट्ठा कर लिया था, जो कि उसके आदर्शों के समर्थक थे। इनमें अबुलफ़ज़्ल और फ़ैज़ी नाम के दो मशहूर भाई थे और बीरबल, राजा मानसिंह, और अब्दुल रहीम खानखाना थे। उसका दरबार नए-नए मज़हबों के लोगों के और उन लोगों के जिनके पास नए विचार थे या नई ईजादे थीं मिलने की जगह बन गया। उसकी सब

तरह के विचारों की रवादारी, और उसका सब तरह के विश्वासों और मतों का प्रोत्साहन इस हद तक पहुँचा कि कुछ ज्यादा कट्टर मुसलमान उससे नाराज़ हो गए। उसने एक ऐसे समन्वित धर्म का प्रचार करने की भी कोशिश की जो कि सबको मान्य होता। इसी के राज्य में उत्तर हिंदुस्तान में हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक मेल-जोल ने एक लंबा डग आगे बढ़ाया। खुद अकबर जितना मुसलमानों में लोक-प्रिय था, उतना ही हिंदुओं मे भी। मुग़ल वश की स्थापना ऐसी मज़बूती से हो गई मानो वह हिंदुस्तान का अपना वंश हो।

१० : यंत्रों की तरक्क़ी और रचनात्मक स्फूर्ति में एशिया और यूरोप के बीच में अंतर

अकबर में जानकारी हासिल करने का शौक़ कूट-कूट कर भरा हुआ था, यह जानकारी चाहे रूहानी बातों की हो, चाहे दुनियवी मामलों की। यंत्रों में उसकी दिलचस्पी थी; इसी तरह युद्ध-विज्ञान मे भी थी। लड़ाई के हाथियों की वह बड़ी क़द्र करता था और यह उसकी फ़ौज का एक खास अंग थे। उसके दरबार के पुर्तगाली जेजुइट बताते है कि "उसकी दिलचस्पी बहुत-सी बातों में थी और वह उन सबके बारे में जानकारी हासिल करने का यत्न करता था। उसे न महज़ सियासी और फ़ौजी मामलों का पूरा-पूरा ज्ञान था, बल्कि बहुत-सी यंत्रों की कलाओं का भी।" "अपने ज्ञान के शौक़" में वह "सभी चीज़ों को एक साथ सीख लेना चाहता था—इस तरह जैसे कि एक भूखा आदमी अपना खाना एक ही ग्रास में खा लेना चाहता है।"

फिर भी यह ताज्जुब की बात है कि यह कौतूहल एक मुक़ाम तक पहुँचकर रुक गया और इसने उसे उन रास्तों को टटोलने के लिए नहीं उकसाया जो कि उसके सामने खुले हुए थे। 'महान् मुग़ल' के रूप में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा ज़रूर थी, और ज़मीन की लड़ाई में उसकी शक्ति भी बढ़-चढ़ कर थी, लेकिन समुंदरी शक्ति उसकी कुछ भी न थी। १४९८ में, केप के रास्ते वास्को-ड-गामा केलिकट पहुँचा था; १५११ में अलबकर्क ने मलाका पर क़ब्ज़ा करके हिंद-सागर में पुर्तगाली समुद्री शक्ति क़ायम कर ली थी। पच्छिमी तट पर गोआ पुर्तगाल के क़ब्ज़े में आ चुका था। इन सब बातों ने अकबर और पुर्तगालियों के बीच कोई सीधा संघर्ष नहीं पैदा किया। बल्कि समुंदर के रास्ते मक्का जाने वाले यात्रियों को—और इनमें कभी-कभी शाही घराने के लोग भी होते थे—पुर्तगाली लोग दंड वसूल करने के लिए पकड़ लिया करते थे। यह ज़ाहिर था कि ज़मीन पर अकबर की जो भी ताक़त रही हो, समुंदर के मालिक पुर्तगाली ही रहे। इसके समझने में दिक़्क़त न होनी चाहिए कि ख़ुश्की की एक ताक़त जो कि सारे महाद्वीप पर छाई हो, समुद्री ताक़त को ज्यादा

अहमियत न देगी, अगर्चे दरअस्ल हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने म बड़प्पन की एक वजह यह भी रही है कि समुद्री मार्गों पर उसका क़ाबू रहा है । अकबर को एक बड़े महाद्वीप पर विजय पानी थी और पुर्तगालियों से भिड़ने के लिए उसके पास वक़्त न था और अगर्चे यह पुर्तगाली अक्सर डंक मार दिया करते थे, फिर भा अकबर उन्हें ज्यादा अहमियत न देता था। एक बार उसने जहाज़ों के बनवाने का विचार किया भी, लेकिन यह ज्यादातर दिल बहलाव के लिए था, न कि समद्री शक्ति को तरक्क़ी देने के ख़याल से था ।

इसके अलावा तोपख़ाने के बारे में मुग़लों की फ़ौजें और उस ज़माने की हिंदुस्तान की, और रियासतों की फ़ौजें भी, आम तौर पर आटो-मान सल्तनत से आए हुए तुर्कों पर भरोसा करती थीं । तोपख़ाने के सबसे बड़े पदाधिकारी का नाम रूमी ख़ां पड़ गया—रूम पूर्वी रोम, यानी कुस्तुंतुनिया को कहते हैं। यह विदेशी विशेषज्ञ मुक़ामी लोगों को काम सिखा लिया करते थे, लेकिन अकबर ने या किसी दूसरे ने ही अपने आदमियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाहर क्यों नहीं भेजा, या इस काम में शोध के ज़रिए तरक्क़ी करने में दिलचस्पी क्यों न ली ?

एक और भी विचार करने की बात है । जेज़ुइटों ने अकबर को एक छपी हुई इंजील भेंट की थी, और शायद एक या दो और छपी हुई किताबें भी दी थीं । उसे छपाई के बारे में कौतूहल क्यों न हुआ, जिससे कि सरकारी कामों में और दूसरे बड़े उद्देश्यों में भी उसे बे-इंतिहा मदद मिलती ?

फिर घड़ियों को ले लीजिए । मुग़ल अमीरों में इनका बड़ा रिवाज था, और इन्हें पुर्तगाली और बाद में अंग्रेज़ यूरोप से ले आया करते थे । अमीरों की आसाइश की चीज़ों में इनकी गिनती होती थी, आम लोग धूप-घड़ियों या बालू या पानी की घड़ियों से अपना संतोष करते थे। इस बात को जानने की कोई कोशिश न हुई कि कमानी की यह घड़ियां कैसे बनती थीं, न उनके यहां बन-वाने की ही कोशिश हुई । यंत्रों की तरफ़ रुझान की यह कमी ग़ौर के क़ाबिल है, ख़ास तौर पर ऐसी हालत में जब कि हिंदुस्तान में दस्तकारी और सनअत में होशियार लोगों की कोई कमी न थी ।

इस जमाने में हिंदुस्तान ही में ऐसा नहीं हुआ कि यह रचनात्मक स्फूर्ति और ईजाद की शक्ति अपंग हो गई थी । यह बल्कि इससे भी गिरी हुई दशा सारे पच्छिमी और मध्य एशिया की रही । चीन के बारे में मैं कह नहीं सकता, लेकिन मेरा ख़याल है कि इसी तरह की पस्ती वहां भी आ गई थी । यह बात ध्यान रखने की है कि चीन और हिंदुस्तान दोनों ही मुल्कों में, इससे क़ब्ल के ज़मानों में, विज्ञान के अनेक महकमों में काफ़ी तरक्क़ी हुई थी । जहाज़ के बनाने और दूर-दूर देशों से समुद्र के रास्ते व्यापार करने के कारण यंत्र-संबंधी

तरक्क़ी के लिए बराबर प्रोत्साहन मिलता रहता था। यह सही है कि इन दोनों मुल्कों में या कहीं और ही, उस ज़माने में कल-पुर्जों में कोई बहुत बड़ी तरक्क़ी न हुई। इस नज़र से पंद्रहवीं सदी की दुनिया उस वक़्त से हज़ार-दो-हज़ार साल पहले की दुनिया से बहुत मुख़्तलिफ़ न थी।

अरब लोग, जिन्होंने कि कुछ हद तक व्यावहारिक विज्ञान की शुरुआत में मदद दी थी, और इल्म को उस वक़्त तरक्क़ी दी थी जब कि यूरोप के बीच के युगों में अंधकार फैला हुआ था, अब पिछड़ गया था, और उसकी अहमियत जाती रही थी। कहा जाता है कि सातवीं सदी में सबसे पहले बनने वाली घड़ियों में कुछ घड़ियां अरब वालों की बनाई हुई थीं। दमिश्क में एक मशहूर घड़ी थी, और इसी तरह हारूं-रशीद के ज़माने में बग़दाद में भी। लेकिन अरबों की तनज्ज़ुली के साथ-साथ इन मुल्कों से घड़ियां बनाने का हुनर भी उड़ गया, अगर्चे यूरोप के कुछ मुल्कों मे यह तरक्क़ी कर रहा था, और घड़ियां वहां कम मिलने वाली चीज़ों में नहीं समझी जाती थीं।

कैक्सटन[1] से बहुत पहले, स्पेन के अरबी मूर लकड़ी के ठप्पों से छपाई किया करते थे[2]। यह काम हुकूमत सरकारी हुक्मों की नक़लें करने के लिए किया करती थी। ठप्पे की छपाई से आगे वहां तरक्क़ी न हुई, और यह भी बाद में रफ़्ता-रफ़्ता उठ गई। आटोमान तुर्कों की यूरोप और पच्छिमी एशिया में बहुत दिनों तक सबसे बड़ी मुसलमानी ताक़त रही है, लेकिन कई सदियों तक उन्होंने छापेखाने के काम की ओर ध्यान न दिया, अगर्चे यूरोप में उनकी सल्तनत से मिले हुए मुल्कों में बहुत बड़ी तादाद में किताबें छपती रहती थीं। इसकी जानकारी उन्हें ज़रूर रही होगी, लेकिन इस ईजाद से फ़ायदा उठाने की उनकी कोशिश न हुई। कुछ हद तक मज़हबी जज़्बा इसके ख़िलाफ़ पड़ता था; क़ुरान ऐसी पवित्र किताब का छापना बेअदबी में शुमार किया जाता था, क्योंकि छपे हुए तख़्तों का बेजा इस्तैमाल हो सकता था, या उन पर पैर पड़ सकता था या वह कूड़े में फेंके जा सकते थे। यह नैपोलियन था जिसने कि छापेखाने का मिस्र में सबसे पहले प्रचार किया और वहां से यह रफ़्ता-रफ़्ता और अरब मुल्कों में फैला।

---

१ इसने इंग्लिस्तान में सबसे पहले छापेखाने का प्रचार किया। अनु०

२ मैं नहीं कह सकता कि इस तरह की छपाई का काम स्पेन के अरबों ने कैसे सीखा। शायद यह मंगोलों के ज़रिए उन तक चीन से पहुंचा था और उत्तरी और पच्छिमी यूरोप में पहुंचने से बहुत क़ब्ल यह बात हुई थी। मंगोलों के मैदान में आने से पहले भी कारडोबा से काहरा तक और दमिश्क से बग़दाद तक की अरबी दुनिया के चीन से अक्सर संपर्क होते रहे थे।

जब कि एशिया बेहिस और अपनी पुरानी कोशिशों की वजह से थक गया था, उस वक़्त यूरोप में, जो बहुत-सी बातों में पिछड़ा हुआ था, तब्दीलियों के आसार दिख रहे थे। वहां एक नई चेतना पैदा हो गई थी, एक नया जोश काम कर रहा था, जो कि वहां के साहसियों को समुंदर पार भेज रहा था और वहां के विचारकों के दिमाग़ों को नई-नई दिशाओं में ले जा रहा था। नई जागृति ('रेनासां') ने विज्ञान की तरक्क़ी में ज़्यादा मदद न दी; कुछ हद तक इसने लोगों को विज्ञान से विमुख किया, और रोम और यूनान की पुरानी शिक्षा का यूनिवर्सिटियों में प्रचार करके एक तरह से उन वैज्ञानिक विचारों के प्रचार को रोका जिनसे लोग ख़ूब वाक़िफ़ हो चुके थे। कहा जाता है कि अठारहवीं सदी तक आधे से ज़्यादा पढ़े-लिखे अंग्रेज़ यह मानने से इंकार करते थे कि ज़मीन अपनी धुरी पर घूमती रहती है या सूर्य के चारों तरफ़ परिक्रमा करती है, बावजूद इसके कि कार्पानिकस, गैलिलियो और न्यूटन सामने आ चुके थे और अच्छी दूरबीनें भी इस्तैमाल में आ रही थी। यूनानी और लातीनी साहित्य को पढ़कर, बतलीमूस के सिद्धांत में उनका अब भी विश्वास था कि धरती के गिर्द विश्व घूमता है। उन्नीसवीं सदी का मशहूर राजनीतिज्ञ, मिस्टर डब्ल्यू० ई० ग्लैड्स्टन, अच्छा विद्वान् होने के बावजूद न विज्ञान को समझता था और न उसके लिए उसे आकर्षण था। आज भी शायद बहुत से राजनीतिज्ञ है (सिर्फ़ हिंदुस्तान में ही नहीं) जो कि विज्ञान और उसके तरीक़ों की बहुत कम जानकारी रखते हैं, अगर्चे वह ऐसी दुनिया में रहते है जहां कि विज्ञान बराबर अमल में लाया जा रहा है, और वह ख़ुद बड़े पैमाने पर विनाश और हत्या के लिए उसे इस्तैमाल में लाते हैं।

फिर भी 'रेनासां' ने, यूरोप के दिमाग़ को, बहुत से पुराने बंधनों से छुड़ा दिया था, और जिन बुतों में वह मुब्तिला था, उनमें से बहुतों को तोड़ दिया था। यह बात चाहे 'रेनासां' की वजह से कुछ अंशों में और घुमाव के साथ पैदा हुई हो, चाहे उसके बावजूद, चीज़ों की जांच-पड़ताल की एक नई भावना अपना असर दिखला रही थी, और यह भावना न महज़ पुराने क़ायमशुदा प्रमाणों का विरोध करती थी, बल्कि हवाई और अस्पष्ट ख़यालों का भी। फ्रांसिस बेकन ने लिखा था कि "इंसानी ताक़त और इंसानी ज्ञान के रास्ते मिले-जुले चलते हैं, बल्कि क़रीब-क़रीब एक हैं, फिर भी चूंकि हवाई बातों में पड़ने की लोगों में एक बुरी आदत-सी पड़ गई है, इसलिए महफ़ूज़ यह होगा कि हम विज्ञानों को उन बुनियादों पर खड़ा करे जिनका अमल से ताल्लुक़ है, और ख़याली हिस्से पर क्रियात्मक हिस्से की मुहर लगा दें।" बाद में, सत्रहवीं सदी में, सर टामस ब्राउन ने लिखा था : "लेकिन ज्ञान का सबसे मुहलक दुश्मन, जिसने कि सत्य का सब से ज़्यादा ख़ून किया है, प्रमाणों में

वह अंध-विश्वास रहा है, खास तौर पर प्राचीन आज्ञाओं में विश्वास। क्योंकि (जैसा सभी देख सकते हैं) मौजूदा ज़माने के ज़्यादातर लोग, गुज़रे हुए ज़मानों को ऐसे अंध-विश्वास के साथ देखते हैं कि एक के प्रमाण दूसरे की अक़्ल को दबा लेते हैं। जो लोग हमारे ज़माने से दूर हैं, उनकी रचनाएं, जो शायद ही समकालीनों या बाद के लोगों की टीका-टिप्पणी से बची हों, अब ऐसी हो गई हैं कि मानो हमारी शक्ति से परे हैं; और जितनी ही वह पुरानी हों उतनी ही परम सत्य के नज़दीक जान पड़ती हैं। मेरी समझ में यह खुले तौर पर अपने को धोखा देना है और सचाई के रास्ते से बहुत दूर जाना है।"

अकबर सोलहवीं सदी का आदमी था। इस सदी ने, यूरोप में गति विज्ञान का जन्म देखा, जो कि इंसानी ज़िंदगी में इन्क़लाबी तरक़्क़ी पैदा करने वाला था। इस नई तलाश को लेकर यूरोप आगे बढ़ा, पहले तो इसकी रफ़्तार धीमी थी लेकिन यह बराबर बढ़ती गई, यहां तक कि उन्नीसवीं सदी में इसने आकर एक नई दुनिया तैयार कर ली। जब कि यूरोप क़ुदरती ताक़तों से फ़ायदा उठा रहा था और उन्हें अपने काम में ला रहा था, तब एशिया बेहिस और गतिहीन हो रहा था और आदमी की मज़दूरी और मशक्क़त पर भरोसा करते हुए पुरानी लीक पीटता चला आ रहा था।

ऐसा क्यों था? एशिया इतना बड़ा प्रदेश है और इसके हिस्से इतने जुदा-जुदा हैं कि किसी एक जवाब से काम नहीं चल सकता। हर एक मुल्क पर, खास तौर पर चीन और हिंदुस्तान जैसे बड़े मुल्कों पर अलग-अलग विचार करने की ज़रूरत है। उस ज़माने में और बाद में भी, चीन यक़ीनी तौर पर यूरोप से ज़्यादा संस्कृत था और वहां के लोग यूरोप के किसी मुल्क के लोगों के मुक़ाबले में ज़्यादा सभ्य ज़िंदगी बसर करते थे। हिंदुस्तान में भी, ज़ाहिरा तौर पर हमें एक तड़क-भड़क वाले दरबार का, और पनपते हुए व्यापार-तिजारत, सनअत और दस्तकारी का दृश्य देखने में आता है। उस ज़माने में अगर कोई हिंदुस्तानी यात्री यूरोप जाता तो उसे बहुत-सी बातों में यूरोप पिछड़ा हुआ और अनगढ़ दिखता। लेकिन जो गति शीलता का गुण वहां पैदा हो गया था वह हिंदुस्तान में क़रीब-क़रीब ग़ायब था।

किसी सभ्यता का ह्रास बाहरी हमलों से उतना नहीं होता जितना कि भीतरी नाकामियों से। यह इसलिए ख़तम हो सकती है कि कुछ मानों में उसका काम पूरा हो चुका है और उसे बदलती हुई दुनिया के सामने कोई नई चीज़ नहीं पेश करनी है; या इसलिए कि जो लोग इसकी नुमाइंदगी करते हैं उनके गुणों में छीज आगई है और अब वह योग्यता के साथ उसका बोझ नहीं सँभाल सकते। यह हो सकता है कि समाजी संस्कृति एसी है कि एक हद से आगे वह तरक़्क़ी करने म बाधा डालती है और आगे तरक़्क़ी तभी हो सकती

है जब कि यह बाधा दूर हो जाय या संस्कृति के गुणों में कोई ख़ास फ़र्क पैदा किया जा सके। तुर्की और अफ़ग़ानी हमलों से पहले भी हिंदुस्तानी सभ्यता का ह्रास काफ़ी ज़ाहिर है। क्या इन हमलावरों के आने ने और उनके विचारों ने क़दीम हिंदुस्तान से टक्कर लेकर एक नई समाजी हालत पैदा कर दी, और इस तरह उसके दिमाग़ी बंधन टूट गए और उसमें नई शक्ति आ गई है ?

कुछ हद तक ऐसा हुआ, और कला, इमारतों के बनाने, चित्रकारी और संगीत पर असर पड़ा। लेकिन यह असर काफ़ी गहरे नहीं थे; यह कमो-बेश सतही थे, और समाजी संस्कृति बहुत कुछ पहले जैसी बनी रही। किन्हीं बातों में तो यह और भी कड़ी पड़ गई। अफ़ग़ान लोग तरक्क़ी के कोई सामान नहीं लाए; वह एक पिछड़े हुए सामंती और क़बाईली निज़ाम की नुमाइंदगी करते थे। हिंदुस्तान में यूरोप के क़िस्म की सामंती प्रथा न थी, लेकिन राजपूतों का जिन पर हिंदुस्तान की रक्षा का दारमदार था, कुछ सामंती ढंग का संगठन था। मुग़लों में भी आधी सामंती व्यवस्था थी, लेकिन इनकी मरकज़ी शाही हुकूमत मज़बूत थी। इस शाही हुकूमत ने राजपूताने की अस्पष्ट सामंती व्यवस्था पर विजय पाई।

अकबर ऐसा खोजी दिमाग़ वाला था कि अगर उसने इस तरफ़ ध्यान दिया होता और दुनिया के और हिस्सों में क्या हो रहा है, इसे जानने की कोशिश की होती तो उसके लिए यह मुमकिन था कि एक समाजी तब्दीली की बुनियाद क़ायम कर दे। लेकिन वह अपनी सल्तनत को मज़बूत करने में लगा हुआ था और उसके सामने मसला यह था कि इस्लाम जैसे तबलीग़ी मज़हब का क़ौमी मज़हब और लोगों के रिवाजों से कैसे मेल कराया जाय और इस तरह क़ौमी एकता क़ायम की जाय। उसने मज़हब की विवेक के साथ व्याख्या करने की कोशिश की थी और कुछ वक़्त के लिए हिंदुस्तान की फ़िज़ा में हैरत-अंगेज़ तब्दीली पैदा कर दी। लेकिन यह सीधा हल कामयाब न हुआ, और शायद ही कहीं दूसरी जगह भी यह कामयाब हुआ हो।

इस तरह हिंदुस्तान की समाजी रूपरेखा में अकबर ने भी कोई बुनियादी फ़र्क न पैदा किया, और उसके बाद तो तब्दीली और दिमाग़ी साहस की जो हवा उठी थी, वह दब गई, और हिंदुस्तान ने अपनी पुरानी न बदलने वाली और गतिहीन ज़िंदगी अख़्तियार कर ली।[1]

---

१ अबुलफ़ज़ल बताता है कि अकबर ने कोलंबस की अमरीका की तलाश का हाल सुना था। उसके बाद के, यानी जहांगीर के, राज्य-काल में हिंदुस्तान में, अमरीका से, यूरोप के रास्ते तंबाकू पहुंच गया था। बावजूद जहांगीर के इसे दबाने की कोशिशों के, इसका फ़ौरन और हैरत-अंगेज़ ढंग से चलन

की हैसियत से नहीं, बल्कि मुसलमान हाकिम की हैसियत से राज्य करना चाहा तब मुग़ल सल्तनत टूटने लगी। अकबर और कुछ हद तक उसके उत्तराधिकारियों के काम पर पानी फिर गया, और वह बहुत-सी ताक़तें जिन्हें कि अकबर की नीति ने क़ाबू में कर रक्खा था फिर आज़ाद हो गईं और उन्होंने सल्तनत को चुनौती दी। नए आंदोलन उठ खड़े हुए, जिनके नज़रिए तंग ज़रूर थे, लेकिन जो उभरती हुई क़ौमियत की नुमाइंदगी करते थे; और अगर्चे वह इतने मज़बूत नहीं थे कि पायदार हुकूमत क़ायम कर सकें, फिर भी ऐसे ज़रूर थे कि मुग़ल सल्तनत को तोड़-फोड़ दें।

पच्छिमोत्तर से आने वाले हमलावरों और इस्लाम ने हिंदुस्तान को काफ़ी ज़ोरदार टक्कर दी थी। इसने हिंदू-समाज में पैठी हुई बुराइयों को खोलकर दिखा दिया था, यानी जात-पांत की सड़ांध को, अछूतपने को और अलग-थलग रहने के रवैये को एक बेतुकी हद तक पहुंचा देने को। इस्लाम के भाई-पने के और इस मज़हब के मानने वालों की उसूली बराबरी के ख़याल ने उन लोगों पर ज़बर्दस्त असर ख़ास तौर पर डाला जिन्हें कि हिंदू-समाज के भीतर बराबरी का दर्जा देने से इंकार किया गया था। विचारों के इस संघर्ष से बहुत से नए आंदोलन उठे जिनका मक़सद एक धार्मिक समन्वय क़ायम करना था। बहुतों ने मज़हब बदला लेकिन इसमें से ज्यादातर नीची जातों के लोग थे और ख़ासकर बंगाल के। कुछ ऊँची जात के लोगों ने भी नए मज़हब को क़ुबूल किया, या तो इसलिए कि दर-अस्ल उसमें यक़ीन लाए, लेकिन ज्यादातर सियासी और आर्थिक कारणों से। हुक्मरानों के मज़हब को क़ुबूल करने में ज़ाहिरा नफ़े थे।

इस व्यापक मत-परिवर्तन के बावजूद, हिंदू-धर्म अपने विविध रूपों में मुल्क का ख़ास मज़हब बना रहा—यह ठोस, अलग-थलग रहने वाला अपने में पूर्ण और अपनी जगह पर पक्का था। ऊंचे वर्ण के लोगों में विचारों के मैदान में, अपने बड़प्पन में कोई संदेह न पैदा हुआ, और फ़िलसफ़े और अध्यात्म के मसलों का हल हासिल करने के लिहाज़ से वह इस्लाम के नज़रिए को अनगढ़-सा समझते रहे। इस्लाम की वहदानियत भी उन्हें अपने धर्म में मिलती थी और साथ ही अद्वैतवाद था, जो कि उनके ज्यादातर फ़िलसफ़े की बुनियाद में था। हर एक को आज़ादी थी कि वह चाहे इन सिद्धांतों को क़बूल करे, चाहे पूजा के ज्यादा सादे और रायज तरीक़ों यो अपनावे। वह वैष्णव होकर ईश्वर में व्यक्तिगत विश्वास कर सकता था और उसे अपनी भक्ति समर्पित कर सकता था। या अगर फ़िलसफ़ियाना विचारों का आदमी हो, तो वह अध्यात्म और गूढ़ दर्शन के बारीक ख़यालों की सैर कर सकता था। अगर्चे उनका समाजी संगठन वर्ग के आधार पर हुआ था, मज़हब के मामले में हिंदू बड़े व्यक्तिवादी थे; धर्म प्रचार में न उनका विश्वास था, और अगर कोई मज़हब बदल लेता

था तो न इसकी उन्हें परवाह थी। जिस बात पर उन्हें एतराज होता था वह यह था कि उनके समाजी संगठन से छेड़-छाड़ की जाय। अगर कोई दूसरा गिरोह अपने ढंग पर चलना चाहता था, तो इससे उन्हें बहस न थी, वह ऐसा करने के लिए आज़ाद था। यह बात ग़ौर करने की है कि जिन्होंने इस्लाम मज़हब अख़्तियार किया उन्होंने सामूहिक रूप से अपने वर्ग के साथ-साथ ऐसा किया; वर्ग की भावना का इतना ज़ोर था। ऊपर के वर्ग के लोग इक्का-दुक्का शख़्सी तौर पर मज़हब भले ही बदलें, अक्सर नीचे वर्ग के लोग, दल-के-दल या गांव-के-गांव मिलकर नया मज़हब क़ुबूल करते थे। इस तरह से जहां तक वर्ग से ताल्लक़ है उनकी ज़िंदगी म और उसके कामों में फ़रक़ न आया था; वह पहले जैसे चलते रहते थे; पूजा के तरीकों मं छोटी-मोटी तब्दीलियां ज़रूर पैदा हो जाती थीं। इसी वजह से आज देखते हैं कि कुछ ख़ास पेशे या हुनर ऐसे हैं जो कि बिलकुल मुसलमानों के हाथ मे हैं। इस तरह कपड़ा बुनने का काम ज़्यादातर, और बहुत हिस्सों में तो अकेले मुसलमान ही करते हैं। यही कैफ़ियत जूते के सौदागरों और क़स्साबों की भी है। दर्जी क़रीब-क़रीब मुसलमान ही मिलेंगे। वर्ग की व्यवस्था टूट रही है, इसलिए बहुत से लोग दूसरे पेशे भी अख़्तियार करने लगे हैं। इसने पेशेवरों के वर्ग को बांटने वाली लकीर कुछ-कुछ मिटा दी है। दस्तकारी और देहाती उद्योग-धंधों का, अंग्रेज़ी हुकूमत के शुरू में, जो जान-बूझकर विनाश किया गया था, उसने और बाद में एक नए औपनिवेशिक अर्थ-तंत्र ने बहुत से पेशेवरों और दस्तकारों की, ख़ास तौर पर जुलाहों की रोजी छीन ली। जो इस मुसीबत से बचे रहे, वह या तो किसानी करने वाले मज़दूर बन गए, या अपने संबंधियों के साथ छोटे-मोटे खेतों के खेतिहर हो गए।

उस ज़माने में, मज़हब बदल कर, इस्लाम मत कबूल कर लेने पर, शायद कोई ख़ास विरोध नहीं होता था यह लोग चाहे इक्का-दुक्का हों चाहे गिरोह के गिरोह--सिवाय इसके कि जब किसी तरह की ज़बर्दस्ती की जाती हो। इस धर्म-परिवर्तन को दोस्त और रिश्तेदार भले ही न पसंद करें लेकिन हिंदू, ज़ाहिरा तौर पर इसे महत्त्व न देते थे। उस ज़माने की इस लापरवाही के रुख से आज की हालत बिलकुल उल्टी है, आज मज़हब की तब्दीली पर बड़ा शोर मचता है और यह तब्दीली चाहे इस्लाम के हक़ में हो चाहे ईसाई मत के हक़ में, इसे नापसंद किया जाता है। ज़्यादातर इसके राजनीतिक कारण हैं, और इनमें ख़ासकर मज़हब की बिना पर निर्वाचन-क्षेत्रों का बन जाना है। हर एक मज़हब बदलने वाले आदमी के बारे में यह ख़याल किया जाता है कि उसने एक मज़हबी गिरोह की जन-संख्या बढ़ाई। और आख़िरकार उसकी नुमाइंदगी और सियासी ताक़त में तरक्क़ी की। इस मक़सद से मर्दुमशुमारी में भी हेर फेर करने की कोशिश की जाती है। लेकिन सियासी वजहों से हटकर भी,

हिंदू धर्म में दूसरे मज़हब वालों को दीक्षा देने की, और जो मज़हब से अलहदा हो गए हैं उन्हें वापस ले लेने की रुचि पैदा हो गई है। हिंदू धर्म पर इस्लाम के जो असर पड़े हैं उनमें यह भी एक है, अगर्चे अमली तौर पर इसकी वजह से हिंदुस्तान म दोनों में संघर्ष पैदा होते हैं। कट्टर हिंदू इसे अब भी नहीं पसंद करते।

कश्मीर में मुसलमान बनाने का एक लम्बा सिलसिला रहा है, जिससे वहां की ९५ फ़ी सदी आबादी आज मुसलिम है, अगर्चे इसने बहुत से अपने पुराने हिंदू रिवाजों को क़ायम रक्खा है। उन्नीसवीं सदी के बीच में, इस रियासत के हिंदू शासक ने, यह पाया कि इनमें से बहुत ज़्यादा तादाद में लोग एक साथ हिंदू धर्म में वापस आने के लिए राज़ी या ख्वाहिशमंद हैं। उसने बनारस के पंडितों के पास अपने आदमियों को भेजकर पुछवाया कि ऐसा किया जा सकता है या नहीं। पंडितों ने इस तरह के मत-परिवर्तन के खिलाफ़ व्यवस्था दी, और मामला वहीं पर ख़त्म हो गया।

हिंदुस्तान में बाहर से आने वाले मुसलमान कोई नया तर्ज़-अमल या राजनीतिक और आर्थिक ढांचा अपने साथ नहीं लाए। बावजूद इसके कि इस्लाम सभी मज़हब के लोगों को भाई मानता है, उनमें गिरोहबंदियां थीं और उनका नज़रिया सामंतवादी था। कारीगरी और उद्योग-धंधों के संगठन के लिहाज़ से, उस वक़्त हिंदुस्तान में जो हालत थी, उससे वह पिछड़े हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान के समाजी संगठन और आर्थिक ज़िंदगी पर बहुत कम असर पड़ा। यह ज़िंदगी अपनी पुरानी रफ़्तार से जारी रही और सभी लोग, वह चाहे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, इसके भीतर अपनी-अपनी जगह पर जम गए थे।

औरतों के दर्जे में तनज्ज़ुली हुई। पुराने क़ानूनों में भी विरासत के मामले में, और घर में उनके दर्जे के बारे में, इंसाफ़ नहीं बरता गया था--फिर भी उन्नीसवीं सदी के इंग्लिस्तान के क़ानून के मुकाबले में इन पुराने कानूनों में औरतों का ज़्यादा लिहाज़ रक्खा गया था। यह विरासत संबंधी कानून, हिंदुओं की सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा का खयाल रखकर, बनाए गए थे और मुश्तरका जायदाद दूसरे ख़ांदान में न चली जाय इसका बचाव करते थे। शादी के बाद औरत दूसरे ख़ांदान की हो जाती थी। आर्थिक दृष्टि से वह अपने बाप, या पति या बेटे की आश्रित समझी जाती थी, लेकिन उसकी अपनी जायदाद हो सकती थी और होती थी। बहुत तरह से उसकी आदर प्रतिष्ठा होती थी और उसे समाजी और सांस्कृतिक कामों में हिस्सा लेने की काफ़ी आज़ादी थी। हिंदुस्तानी इतिहास में मशहूर औरतों के नाम भरे पड़े हैं, जिनमें विचारक और फ़िलसूफ़ भी हैं और हाकिम और लड़ाई में हिस्सा लेने वाली थीं। यह आज़ादी बराबर कम होती रही। विरासत के बारे में इस्लामी कानून औरतों

के हक में ज़्यादा इंसाफ़-पसंद था, लेकिन वह हिंदू औरतों पर लागू न होता था। जो तब्दीली उनके सामने आई वह उनके ख़िलाफ़ पड़ने वाली थी, यानी परदे का रिवाज बहुत कड़ा हो गया—मुसमलान औरतों में यह और भी कड़ा था। यह रिवाज उत्तर में सब जगह और बंगाल में भी फैल गया, लेकिन दक्खिन और पच्छिम इस बुरी प्रथा से बचे रहे। उत्तर में भी यह रिवाज ऊंचे वर्ग के लोगों में ही रहा, और ख़ुशकिस्मती से आम जनता इससे बची रही। औरतों को अब शिक्षा के कम मौके हासिल होते थे और अब वह ज़्यादातर अपनी गिरस्ती में घिर गई थीं।[1] आगे बढ़ने के बहुत से रास्तों को बंद करके, और एक पाबंद ज़िंदगी में घेरकर, उन्हें यह बताया गया कि सतीत्व की रक्षा उन का परम धर्म है और इसका नाश परम पाप है। यह था मर्दों का बनाया हुआ सिद्धांत, लेकिन मर्द इसे अपने ऊपर लागू नहीं करते थे। तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य, हिंदी रामायण में जिसका उचित रूप से आदर है और जो कि जहांगीर के ज़माने में रचा गया था, औरतों की जो तस्वीर खींची है वह हद दर्जे की ग़ैर-इंसाफ़ी और पक्षपात ज़ाहिर करने वाली है।

कुछ तो यों कि हिंदुस्तान के ज़्यादातर मुसलमान हिंदू-धर्म से मत-परिवर्तन किए हुए लोग थे, और कुछ इसलिए कि हिंदू मुसलमानों का यहां लंबे ज़माने तक, ख़ास तौर पर उत्तरी हिंदुस्तान में, साथ रहा, दोनों के बीच बहुत-सी आम बातें, आदतें, रहन-सहन के ढंग और रुचियां पैदा हो गई थीं, जो कि संगीत, चित्रकारी, इमारतों, खाने, कपड़े और एक-सी परंपरा में दिखाई देती हैं। वह मिल-जुल कर शांति के साथ एक क़ौम के लोगों की तरह रहा करते थे, एक-दूसरे के जलसों और त्योहारों में शरीक होते थे, एक बोली बोलते थे, और बहुत कुछ एक ही ढंग से रहते थे, और जिन आर्थिक मसलों का उन्हें सामना करना पड़ता वह भी एक से थे। अमीर लोग और वह लोग जिनके पास ज़मीनें थीं और उनके पिछ-लगे, दरबार का रुख़ देखते थे। (यह लोग ज़मीदार या ज़मीन के मालिक न होते थे। वह लगान वसूल न करते थे, बल्कि उन्हें सरकारी माल-गुज़ारी वसूल करने और उसे अपने काम में लाने की आज्ञा मिली रहती थी। यह हक़ आम तौर पर हीन हयाती हुआ करता था।) इनकी एक पेचीदा और आडंबर वाली और रंगी-चुनी आम तहज़ीब अलग तैयार हो गई। यह एक से कपड़े पहनते, एक-सा खाना खाते, एक-सी कलाओं में दिलचस्पी लेते

---

१ फिर भी मशहूर स्त्रियों की बहुत-सी मिसालें उस ज़माने में और बाद में भी मिलती हैं, जिनमें विदुषी भी हैं और शासन करने वाली भी। अठारहवीं सदी में लक्ष्मी देवी ने मिताक्षरा पर, जो कि मध्य युग का मशहूर क़ानूनी ग्रंथ है, बड़ी टीका तैयार की।

थे। इनके दिल-बहलाव फ़ौजी थे, शिकार और मर्दानगी के खेल। इनकी पसंद का ख़ास खेल चौगान (पोलो) होता और हाथियों की लड़ाई भी इनके यहां बहुत आम-पसंद थी।

यह सब राह-रस्म और एक-सी ज़िंदगी उस हालत में क़ायम हुई। जब कि वर्ण-व्यवस्था मौजूद थी, और वह दोनों के मिलकर एक हो जाने में अड़ंगा डालने वाली थी। आपस के शादी-ब्याह यों ही कभी हो जाते हों, और उस वक़्त भी फ़रीक़ मिलकर एक नहीं हो जाते थे, बल्कि होता यह था कि हिंदू औरत मुसलमान घराने की हो रहती थी। न आपस का खान-पान था; लेकिन इस मामले में बहुत कड़ाई न थी। औरतों के, परदे में, अलग-थलग रहने ने समाजी ज़िंदगी की तरक्क़ी में रुकावट पैदा की। यह बात मुसलमानों पर ज़्यादा लागू होती थी, क्योंकि उनमें परदा ज़्यादा कड़ा था। अगर्चे हिंदू और मुसलमान मर्द आपस में अक्सर मिलते रहते थे, दोनों ही तरफ़ की औरतों को यह मौक़े न मिल पाते थे। अमीर और बड़े घरानों की औरतें इस तरह एक ज़्यादा अलग-थलग ज़िंदगी बिताती थीं, और आपस में एक-दूसरे से नावाकिफ़ रहते हुए, इन्होंने जुदा-जुदा ख़याल रखने वाले दल बना लिए थे।

गांव के आम लोगों की, और इसके मानी होते हैं कि आबादी के ज़्यादा-तर हिस्से की ज़िंदगी ज़्यादा गठी हुई थी, और मिले-जुले आधार पर क़ायम थी। गांव के महदूद घेरे के अंदर हिंदुओं और मुसलमानों के गहरे संबंध होते थे। वर्ण-व्यवस्था यहां कोई रुकावट नहीं डालती थी, और हिंदुओं ने मुसलमानों की भी एक जात मान ली थी। ज़्यादातर मुसलमान ऐसे थे जिन्होंने अपना पुराना मज़हब बदल लिया था, और पुरानी परंपरा को अब भी भूले न थे। वह हिंदू विचारों, कथाओं और पुराणों की कहानियों से वाक़िफ़ होते थे, यह एक तरह का काम करते, एक सी ज़िंदगी बिताते, एक-से कपड़े पहनते और एक ही बोली बोलते थे। यह एक-दूसरे के त्यौहारों में शरीक होते और कुछ नीम-मज़-हबी त्यौहार ऐसे भी होते जो दोनों के लिए आम थे। इनके लोक गीत एक ही थे। इनमें से ज्यादातर किसान, दस्तकारी करने वाले या देहाती धंधे करने वाले लोग होते थे।

एक तीसरा बड़ा गिरोह, जो कि अमीरों और किसानों व दस्तकारों के बीच का था, व्यापारियों और तिजारत-पेशा लोगों का था। यह ज़्यादातर हिंदुओं का था, और अगर्चे इसे कोई सियासी ताक़त हासिल न थी, फिर भी आर्थिक संगठन बहुत कुछ इसीके क़ाबू में था। इस वर्ग के लोगों के मुसलमानों से संपर्क, ऊपर और नीचे के दोनों ही वर्गों के लोगों के मुकाबले में, कम थे। बाहर से आए हुए मुसलमानों का रुख सामंतवादी था और तिजारत की तरफ़ वह मुख़ातिब न होते थे। इस्लाम की यह मनाही भी, कि सूद न खाना चाहिए,

उनके तिजारत के रास्ते में अड़चन पैदा करने वाली थी। वह अपने को शासक-वर्ग का और अमीर समझते थे और सरकारी ओहदेदार, माफ़ीदार या फ़ौजी अफ़सर हुआ करते थे। बहुत से आलिम भी थे जिनका कि दरबार से लगाव रहता था या जो मज़हबी या दूसरे इदारों की देख-रेख करते थे।

मुग़लों के ज़माने में बहुत से हिंदुओं ने दरबार की भाषा फ़ारसी में किताबें लिखीं। इनमें से कुछ अपने ढंग की किताबों में चोटी की रचनाएं मानी जाती हैं। साथ-ही-साथ मुसलिम आलिमों ने संस्कृत से पुस्तकों के फ़ारसी में तर्जुमे किए और हिंदी में भी किताबें लिखीं। हिंदी के सबसे मशहूर कवियों में दो हैं, मलिक मुहम्मद जायसी, जिसने कि 'पद्मावत' लिखी, और अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना, जो कि अकबरी दरबार के अमीरों में था और जिस पर अकबर के बेटे की देख-रेख की ज़िम्मेदारी थी। ख़ानख़ाना अरबी, फ़ारसी और संस्कृत का विद्वान् था और उसकी हिंदी कविता ऊंचे दर्जे की है। कुछ वक़्त तक वह शाही फ़ौज का सिपहसालार भी था, फिर भी उसने मेवाड़ के राणा प्रताप की प्रशंसा की है, जो कि बराबर अकबर से लड़ता रहा और जिसने कि अकबर के आगे कभी हथियार न डाले। ख़ानख़ाना युद्ध में दुश्मन की बहादुरी और देश-भक्ति और आत्म-सम्मान की ख़ानख़ाना सराहना करता है और उसे मिसाल के क़ाबिल बताता है।

अकबर ने भी इसी बहादुरी और दोस्ती की बुनियाद पर अपनी नीति क़ायम की थी, और उसके बहुत से वज़ीरों और सलाहकारों ने भी यह नीति सीख ली थी। ख़ास तौर पर वह राजपूतों से मेल रखता था, क्योंकि उनके जिन गुणों की वह तारीफ़ करता था वह उसमें भी थे, यानी लापरवाही की हद तक पहुँची हुई दिलेरी, बहादुरी और आत्म-सम्मान और अपने वचन से कभी न डिगने की आदत। उसने राजपूतों को अपना तरफ़दार बना लिया था, लेकिन अपने तारीफ़ के काबिल गुणों के बावजूद, राजपूत एक ऐसे मध्य-कालीन समाज की नुमाइंदगी करने वाले थे जो कि नई ताक़तों के उठ खड़े होने के साथ-साथ पुराना पड़ रहा था। अकबर को इन नई ताक़तों का खुद एहसास न था, क्योंकि वह भी अपनी समाजी विरासत के घेरे में क़ैद था।

अकबर को हैरत-अंगेज़ कामयाबी हासिल हुई, क्योंकि उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के मुख्तलिफ़ लोगों के बीच उसने एकता की भावना पैदा कर दी। एक विदेशी शासक-वर्ग का वजूद इस में रुकावट डालता था, फिर मज़हब और जात-पांत की रुकावटें थीं, और एक स्थिर और कट्टर व्यवस्था के मुक़ाबले में तबलीग़ी मज़हब की मौजूदगी ने रुकावटें पैदा कर रक्खी थीं। यह रुकावटें दूर नहीं हुईं, लेकिन न उनके बावजूद एकता की भावना ने तरक्क़ी की। लोगों का यह आकर्षण उसके व्यक्तित्व के लिए न था बल्कि

जिस ढांचे का उसने निर्माण किया था उसके लिए था। उसके बेटे और पोते, जहांगीर और शाहजहां ने उस ढांचे को क़ुबूल किया और उसकी हदों के भीतर काम करते रहे। यह बहुत ख़ास योग्यता के लोग न थे, लेकिन उन्हें अपने राज्य-काल में सफलता मिली और यह इसलिए कि जो रास्ता अकबर ने मज़बूती के साथ क़ायम कर दिया था उस पर वह चलते रहे। इनके बाद औरंगज़ेब आया, जो इनसे कहीं ज्यादा क़ाबिल था, लेकिन जो दूसरे ही ढांचे का आदमी था। वह इस बने हुए रास्ते से हटकर चला और इस तरह उसने अकबर के काम पर पानी फेर दिया। फिर भी वह उसे बिलकुल न मिटा सका। और यह बड़ी हैरत-अंगेज़ बात है कि बावजूद उसके और उसके कमज़ोर और निकम्मे उत्तराधिकारियों के, अकबर के तैयार किए हुए ढांचे की इज्ज़त लोगों के दिलों में क़ायम रही। यह भावना ज्यादा-तर उत्तर और मध्य हिंदुस्तान में रही, यह दक्खिन और पच्छिम में नहीं थी। इसलिए अब पच्छिमी हिंदुस्तान से इसके ख़िलाफ चुनौती आई।

१२ : औरंगजेब समय की रफ्तार का विरोध करता है : हिंदू जातीयता की तरक्क़ी : शिवाजी

शाहजहां फ्रांस के 'शानदार बादशाह' चौदहवें लुई का समकालीन था और उस वक़्त मध्य यूरोप में तीस साल वाली जंग हो रही थी। उधर जब वारसाई का महल तैयार हो रहा था, यहां आगरे में ताजमहल और मोती मसजिद और दिल्ली में जुम्मा मसजिद और शाही महल के दीवाने आम और दीवाने ख़ास तैयार हुए। परियों जैसी दर्शनीय यह सुदर इमारतें मुग़ल शान-शौकत की चरम सीमा की नुमाइंदगी करती हैं। दिल्ली के दरबार और तख़्ते-ताऊस की शान वारसाई से कहीं बढ़-चढ़कर थी। लेकिन वारसाई की तरह यह भी ग़रीब और दलित लोगों के आधार पर क़ायम थी। गुजरात और दक्खिन में भयानक अकाल पड़ा हुआ था।

इस बीच इंग्लिस्तान की समुद्री ताक़त बढ़ और फैल रही थी। यूरोपीयों में सिर्फ पुर्तगालियों को अकबर ने देखा था। उसके बेटे जहांगीर के ज़माने मे अंग्रेज़ी जहाज़ी बेड़े ने हिंदसागर में पुर्तगालियों को हराया और पहले जम्स का राजदूत सर टामस रो, १६१५ में जहांगीर के दरबार में हाज़िर हुआ। उसे कारखाने क़ायम करने की इजाज़त मिल गई। सूरत में कारखाना शुरू किया गया और १६३९ में मद्रास की नींव पड़ी। सौ साल से ज़्यादा अर्से तक हिंदुस्तान में किसी ने अंग्रेज़ों को कोई महत्त्व न दिया। समुंदरी रास्तों के मालिक अब अंग्रेज बन बैठे थे और उन्होंने पुर्तगालियों को क़रीब-क़रीब हटा दिया था, इस वाक़ये की मुगल बादशाहों या उनके सलाहकारों के लिए

कोई अहमियत न थी। जब कि औरंगज़ेब के ज़माने में मुग़ल साम्राज्य साफ़ तौर पर कमज़ोर पड़ रहा था, उस वक़्त अंग्रेज़ों ने लड़कर अपना क़ब्जा बढ़ाने की एक संगठित कोशिश की। यह १६८५ की घटना है। औरंगज़ेब अगर्चे कमज़ोर हो रहा था और दुश्मनों से घिरा था, अंग्रेज़ों को हटाने में कामयाब हुआ। इस वक़्त से क़ब्ल ही फ़ारासीसी भी हिंदुस्तान में पैर जमाने की जगह पा चुके थे। ठीक उस वक़्त जब कि हिंदुस्तान की राजनीतिक और आर्थिक हालत बिगड़ रही थी, यूरोप की बाढ़ लेती हुई शक्तियां हिंदुस्तान और पूर्वी मुल्कों में फैल रही थीं।

फ़्रांस में चौदहवें लुई का लंबा राज्य-काल चल रहा था और यह आने वाली क्रांति के बीज बो रहा था। इंग्लिस्तान में तरक्क़ी करते हुए मध्य वर्ग ने अपने राजा का सिर काट दिया था। क्रामवेल की थोड़े ज़माने की प्रजा सत्ता चमक चुकी थी, दूसरा चार्ल्स आ और जा चुका था, और दूसरा जेम्स भाग चुका था। बहुत कुछ एक नए व्यापारी वर्ग का नुमाइंदगी करने वाली पार्लमेंट राजा को दबाकर शक्तिशाली बन बैठी थी।

यह ज़माना था, जब कि एक घरेलू युद्ध के बाद, अपने बाप शाहजहां को कैद करके, औरंगज़ेब मुग़लों के तख्त पर बैठा। अकबर ही की एक ऐसी शख्सियत थी जो इस परिस्थिति का अंदाज़ा लगा सकती थी और उन नई ताकतों को, जो उठ रही थीं, क़ाबू में ला सकती थी। शायद वह भी इस सल्तनत के विनाश को थोड़े वक़्त के लिए ही रोक सकता था, उसे बचा न सकता था। हां, यह बात दूसरी थी कि अपने कौतूहल और ज्ञान की प्यास की वजह से वह उन नए 'टेकनीकों' के महत्त्व को समझता जो कि उठ रहे थे और आर्थिक हालत म पैदा होने वाली तब्दीलियों की अटकल लगता। औरंगज़ेब अपने मौजूदा ज़माने को भी अच्छी तरह समझ न पाया; वह उल्टी चाल चलने वाला आदमी था और अपना सारी क़ाबलियत और उत्साह के बावजूद, उसने अपने पूर्वजों के काम को मिटाने की कोशिश की। वह धर्मान्ध और नीरस आदमी था और उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम न था। हिंदुओं पर पुराना और घृणित 'जज़िया' कर लगाकर और उनके बहुत से मंदिरों को तुड़वा कर उसने अपनी बहुत बड़ी प्रजा को बुरी तरह नाराज कर दिया। उसने अभिमान रखने वाले राजपूतों को भी, जो कि मग़ल सल्तनत के खंभे थे, नाराज़ कर दिया। उत्तर में सिख उठ खड़े हुए, जो कि हिंदू और मुसलमानी विचारों के एक प्रकार के समन्वय की नुमाइंदगी करने वाले लोग थे लेकिन जिन्होंने दमन से बचने के लिए एक फ़ौजी बिरादरी बना ली थी। हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र तट के क़रीब के योद्धा मराठों को भी उसने नाराज़ कर दिया, जो कि क़दीम राष्ट्रकूटों के वंशज थे, और जिनके यहां उस वक़्त एक चमत्कारी सेना-

नायक पैदा हो चुका था।

सारी मुग़ल सल्तनत में एक बफान-सी आई हुई थी और नई जागृति की भावना तरक़्क़ी कर रही थी जिसमें कि धर्म और जातीयता का मेल था। यह ज़रूर है कि इस जातीयता को हम ज़माने हाल की, मज़हब से अलग-थलग रहने वाली जातीयता नहीं कह सकते; न यह ऐसी थी कि इसका संबंध सारे देश से रहा हो। इसमें सामंतवादी रंग था, और मुक़ामी जज़्बे और धार्मिक भावनाओं का पुट था। राजपूत, जो औरों से ज्यादा सामंतवादी थे अपने-अपने वंशों का ध्यान करते थे; सिख जिनका कि औरों के मुक़ाबले में एक छोटा दल पंजाब में था, पंजाब के बाहर की न सोचते थे। लेकिन ख़ुद मज़हब की एक गहरी क़ौमी भूमिका थी, और उसकी सभी परंपराएं हिंदुस्तान से ताल्लुक़ रखने वाली थीं। प्रोफ़ैसर मैकडानेल ने लिखा है कि इंडो-यूरोपीय कुल के लोगों में हिंदुस्तानी ही एक ऐसे हैं जिन्होंने एक बड़ा क़ौमी धर्म—यानी ब्राह्मण धर्म—तैयार किया और एक लोक-व्यापी धर्म—यानी बौद्ध धर्म—को जन्म दिया। और सभी ऐसे हैं जिन्होंने इस दिशा में मौलिकता दिखाना तो दूर रहा, दर-अस्ल बाहरी मज़हबों को अख्तियार किया है।" मज़हब और जातीयता के इस मेल ने दोनों ही तत्त्वों से ज़ोर और ताक़त हासिल की; लेकिन इस मेल में उसकी कमज़ोरी भी समाई हुई थी। क्योंकि इस तरह की जातीयता सिर्फ़ एक अंश में जातीयता कहला सकती थी और यह हिंदुस्तान के उन सभी लोगों को जो इस मज़हबी दायरे से बाहर के थे, एक में मिलाने वाली नहीं थी। हिंदू जातीयता हिंदुस्तान की ज़मीन की एक स्वाभाविक उपज थी, लेकिन यह लाज़िमी तौर पर उस बड़ी जातीयता के रास्ते में रुकावट डालती थी, जो कि मज़हबी भेद-भावों से ऊपर उठ जाना चाहती है।

यह सही है कि ऐसे ज़माने मे जब कि एक बड़ी सल्तनत टूट रही थी और बहुत से हिंदुस्तानी और बिदेसी साहसी अपने-अपने वास्ते छोटी-छोटी हुकूमतें क़ायम कर लेने की कोशिश में थे, आजकल के अर्थ में, जातीयता का अस्तित्व मुश्किल से हो सकता था। हर एक साहसी अपनी ताक़त बढ़ाना चाहता था; हर एक गिरोह अपनी-अपनी फ़िक्र में था। जो इतिहास इस वक़्त हमारे सामने आता है उसमें महज़ इन साहसियों का बयान है, और वह इन साहसियों के कारनामों को जितना आगे लाता है उतना उन महत्त्व वाली घटनाओं को नहीं, जो सतह के नीचे-नीचे घट रही थीं। ताहम हमें इस बात की झलक मिल जाती है कि अगर्चे बहुत से साहसी इस वक़्त मैदान में थे, सब लुटेरे ही न थे। ख़ास तौर पर मराठों की एक ज्यादा विस्तृत कल्पना थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताक़त बढ़ी इस कल्पना ने भी विस्तार पाया। वारेन हेस्टिंगस ने १७८४ में लिखा था: "हिंदुस्तान और दक्खिन के सब लोगों में,

मराठे ही एक ऐसे हैं, जिनम जातीयता का सिद्धांत मिलता है, और इसकी क़ौम के हर एक व्यक्ति पर छाप है, और अगर उनके राज्य पर कोई ख़तरा गुज़रा तो यह शायद उनके सरदारों में आम मक़सद के हक में, एका पैदा कर दे।" शायद उनकी यह जातीय भावना उन इलाक़ों तक महदूद थी जहां कि मराठी भाषा बोली जाती है। फिर भी मराठे अपनी राजनीतिक और फ़ौजी व्यवस्था और आदतों में उदार थे और उनके भीतर आपस में जनसत्ता की भावना थी। इन सब बातों से उनमें मज़बूती पैदा होती थी। शिवाजी औरंगज़ेब से लड़ा ज़रूर, लेकिन उसने मुसलमानों को अपने यहां बराबर नौकरियां भी दीं।

आर्थिक संगठन का टूट जाना भी मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का एक कारण रहा है। किसानों के बलवे बार-बार होते रहते थे और इनमें से कुछ बड़े पैमाने पर हुए थे। १६६६ से लेकर जाट किसानों नें बार-बार दिल्ली सल्तनत के ख़िलाफ़ और राजधानी से नज़दीक ही, विद्रोह किया। ग़रीबों का एक दूसरा बलवा सतनामियों का था जिनके बारे में एक मुग़ल अमीर ने कहा था कि "यह कमीने विद्रोहियों का एक गिरोह है, जिसमें कि सुनार, बढ़ई, मेहतर, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल हे।" अब तक शाहज़ादे और अमीर और उन्हीं के दर्जे के आदमी विद्रोह किया करते थे। अब एक दूसरा ही वर्ग इसका प्रयोग कर रहा था।

उस वक़्त जब कि सल्तनत में फूट और बग़ावत फैल रही थी। मराठों की नई ताक़त तरक्क़ी पर थी और अपने को पच्छिमी हिंदुस्तान में मज़बूत कर रही थी। शिवाजी, जिसका जन्म १६२७ में हुआ था, पहाड़ी इलाक़ों के हट्टे-कट्टे छापामार लोगों का एक आदर्श नेता था, और उसके सवार दूर-दूर तक छापा मारने जाते थे, यहां तक कि उन्होंने सूरत शहर को, जहां कि अंग्रेज़ों की कोठियां थीं, लूटा, और मुग़ल सल्तनत के दूर के हिस्सों पर 'चौथ' कर लगाया। शिवाजी उभरती हुई हिंदू जातीयता का प्रतीक था और पुराने साहित्य से प्रेरणा हासिल करता था, वह दिलेर था और उसमें नेतृत्व के बड़े गण थे। उसने मराठों को एक मज़बूत और सम्मिलित फ़ौजी दल का रूप दिया, उन्हें एक क़ौमी भूमिका दी, और ऐसी ताक़त बना दिया, जिसने कि मुग़ल सल्तनत को बिगाड़कर छोड़ा। वह १६८० म मरा, लेकिन मराठों की ताक़त बढ़ती गई, यहां तक कि वह हिंदुस्तान की एक आला ताक़त बन गई।

१३ : शक्ति हासिल करने के लिए मराठों और अंग्रेज़ों की लड़ाई : अंगरेज़ों की जीत

औरंगज़ेब की मृत्यु से बाद के सौ सालों म, हिंदुस्तान पर अधिकार

पाने के लिए, कई ताक़तों के दांव-पेच चलते रहे। मुग़ल सल्तनत तेज़ी के साथ टूटकर बिखर गई थी, और शाही सूबदार आज़ाद बन बैठे थ। फिर भी दिल्ली के मुग़ल उत्तराधिकारी की इज्ज़त बनी हुई थी कि उस वक़्त भी जब कि वह बेबस और दूसरों के हाथों में कैदी था, नाम के लिए उसी की फ़रमाबरदारी जारी रही। इन छोटी-छोटी हुकूमतों की कोई ख़ास ताक़त या अपनी अह-मियत न थी, सिवाय इसके कि वह ताक़त के ख़ास दावेदारों की मदद कर सकते थे, या उनके रास्ते में रुकावटें पैदा कर सकते थे। दक्खिन में अपनी फ़ौजी स्थिति के कारण, शुरू में हैदराबाद के निज़ाम की एक ख़ास अहमियत जान पड़ती थी; लेकिन जल्द ही यह मालूम पड़ गया कि यह अहमियत बिलकुल बनावटी है, और बाहरी ताक़तों ने इसे "भूसा भर के फुलाकर खड़ा कर रक्खा है"। जोखिम और ख़तरे से अपने को बचाते हुए, दूसरों की मुसीबतों से फ़ायदा उठाने की और दोरुख़े-पन की इस में ख़ास क़ाबलियत थी। सर जान शोर ने इसे "हद दर्जे की गई-गुज़री, शक्ति-हीन...और इसलिए ग़ुलामी में डूबने की तरफ़ मायल" बताया है। मराठे निज़ाम को अपने मातहत ख़िराज देने वाले सरदारों में से एक समझते थे। इससे बचने की और आज़ादी जताने की कोशिश निज़ाम ने की नहीं कि उसे मराठे फ़ौरन दंड देते थे और उसकी कमज़ोर और दब्बू सेना को मार भगाते थे। उसने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की बढ़ती हुई ताक़त की शरण ली और अपनी इस ताबेदारी के ज़रिये रियासत क़ायम रक्खी। और जब अंग्रेज़ों की मैसूर के टीपू सुल्तान के ख़िलाफ़ जीत हुई तब दरअस्ल हैदराबाद रियासत ने बग़ैर किसी ख़ास कोशिश के अपना रक़बा बहुत बढ़ा लिया।

सन् १७८४ में, हैदराबाद के निज़ाम के बारे में लिखते हुए, वारेन हेस्टिंग्स कहता है: "उसकी रियासत छोटी है और थोड़ी मालगुज़ारी वाली है; उसकी फ़ौजी ताक़त बहुत ही तुच्छ है; और वह ख़ुद कभी भी बहादुरी या साहस के लिए मशहूर नहीं रहा है। बल्कि इसके ख़िलाफ़, उसका ख़ास उसूल यह रहा जान पड़ता है कि पड़ोसियों में लड़ाई भड़काई जाय, और ख़ुद उसमें हिस्सा लिए बग़ैर उनके झगड़ों और कमज़ोरियों से फ़ायदा उठाया जाय, और लड़ाई से बचने की ख़ातिर चाहे जैसा नीचा देखना पड़े, देख लिया जाय।"[१]

अठारहवीं सदी में, हिंदुस्तान में, अधिकार के चार दावेदार थे: दो इनमें से हिंदुस्तानी थे और दो विदेशी। हिंदुस्तानी थे मराठे, और दक्खिन में

---

१ टामसन की पुस्तक 'दि मेकिंग अव् दि इंडियन प्रिंसेस' (१९४३) में पृ० १ पर उद्धृत।

हैदरअली और उसका बेटा टीपू सुल्तान; विदेशी थे अंग्रेज़ और फ्रांसीसी। सदी के पहले आधे हिस्से में ऐसा जान पड़ता था कि इनमें से, मराठे सारे हिंदुस्तान पर हुकूमत क़ायम कर लेंगे और मुग़ल सल्तनत के उत्तराधिकारी बन जायंगे। सन् १७३७ में ही उनकी फ़ौजें दिल्ली के फाटकों तक पहुंच गई थीं, और कोई ताक़त इतनी मज़बूत न रह गई थी कि उनका मुक़ाबला कर सके।

ठीक उस वक़्त (१७३९ में) एक नई वबा आई। पच्छिमोत्तर से ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा; उसने बड़ी मार-काट और लूट मचाई, और यहां से बेशुमार ख़जाना और 'तख़्ते ताऊस' ले गया। उसके लिए यह धावा कोई मुश्किल काम न था, क्योंकि दिल्ली के हाकिम कमज़ोर और नामर्द हो चुके थे, लड़ाई के आदी न रह गए थे, और मराठों से नादिरशाह का सामना न हुआ। एक मानी में, उसके धावे ने मराठों का काम आसान कर दिया था, जो कि बाद के सालों में पंजाब में भी फैल गए। दुबारा ऐसा जान पड़ा कि हिंदुस्तान मराठों के हाथ में चला जायगा।

नादिरशाह के हमले के दो नतीजे हुए। एक तो यह कि दिल्ली के मुग़ल हाकिमों का, अधिकार का रहा-सहा दावा ख़त्म हो गया; अब से वह धुंधली परछाईं जैसे और नाम के हाकिम बन गए, और जिस किसी के हाथ में ताक़त हो उसकी कठपुतली होते। बहुत हद तक नादिरशाह के आने से क़ब्ल भी उनकी यह हालत हो चुकी थी; उसने इस सिलसिले को पूरा कर दिया। फिर भी परंपरा और क़ायम-शुदा रिवाजों का ऐसा ज़ोर होता है कि अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी उनके पास प्लासी की लड़ाई के क़ब्ल तक नज़र और ख़िराज भेजते रहे; और उसके बाद भी बहुत दिनों तक कंपनी अपनी हैसियत दिल्ली के बादशाह के मुख़्तार की समझती रही और १८३५ तक उसी के नाम में सिक्के ढलते रहे।

नादिरशाह के हमले का दूसरा नतीजा यह हुआ कि अफ़ग़ानिस्तान हिंदुस्तान से अलहदा हो गया। अफ़ग़ानिस्तान, जो मुद्दतों से हिंदुस्तान का हिस्सा रह चुका था, अब जुदा होकर नादिरशाह की सल्तनत का हिस्सा बन गया। कुछ दिनों बाद, एक मुक़ामी विद्रोह की वजह से, नादिरशाह को उसी के अफ़सरों ने क़त्ल कर दिया, और अफ़ग़ानिस्तान ख़ुद मुख़्तार रियासत बन गया।

नादिरशाह की वजह से मराठों पर कोई आंच न आई थी, और वह पंजाब म फैलते रहे। लेकिन १७६१ में, एक अफ़ग़ान हमलावर, अहमदशाह दुर्रानी, ने उन्हें बुरी तरह से हराया। यह उस वक़्त अफ़ग़ानिस्तान का हाकिम था। इस आफ़त में मराठों की फ़ौज के चुने हुए लोग काम आए और कुछ

वक़्त के लिए उनका सल्तनत क़ायम करने का सपना मिट गया। रफ़्ता-रफ़्ता उन्होंने अपने को सँभाला, और मराठों की सल्तनत कई ख़ुद मुख़्तार रियासतों में बंट गई। पूना के पेशवा की सरपरस्ती में इनका एक गुट्ट अलबत्ता क़ायम रहा। बड़ी रियासतों के सरदारों में ग्वालियर के सिंधिया, इंदौर के होलकर और बड़ौदा के गायकवाड़ थे। पच्छिमी और मध्य हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से पर इस गुट्ट का अब भी प्रभाव था, लेकिन पानीपत में अहमदशाह के ज़रिये मराठों की हार ने उन्हें बहुत कमजोर कर दिया था और ठीक उसी वक़्त अंग्रेज़ी कंपनी हिंदुस्तान में एक महत्त्वपूर्ण हुकूमत की हैसियत से सिर उठा रही थी।

बंगाल में, क्लाइव ने, जालसाज़ी और बग़ावत को बढ़ावा देकर, और बहुत कम लड़ाई लड़कर, १७५७ में प्लासी का युद्ध जीत लिया; यह ऐसी तारीख़ है जिससे कि अक्सर हिंदुस्तान में अंग्रेजी साम्राज्य की शुरुआत मानी जाती है। यह एक बदमज़ा शुरुआत थी और उसका यह तल्ख़ ज़ायका कुछ बराबर ही बना रहा। जल्द ही सारा बंगाल और बिहार अंग्रेज़ों के हाथ में आ गया और उनकी हुकूमत के शुरू के नतीजों में यह भी था कि १७७० में दोनों सूबों में एक भयानक अकाल पड़ा, जिसने कि इस हरे-भरे और ख़ूब आबाद इलाक़े की तिहाई आबादी साफ़ कर दी।

दक्खिन में, अंग्रेज़ों और फ़रासीसियों के बीच जो लड़ाई हो रही थी, वह उन दोनों के बीच होने वाले लोक-व्यापी युद्ध का हिस्सा थी। इसमें अंग्रेज़ कामयाव हुए और फ़रासीमी क़रीब-क़रीब हिंदुस्तान से अलग कर दिए गए।

फ़रासीसियों के ख़तम हो जाने से अब तीन ताक़तें बाक़ी रहीं, जिनमें कि हिंदुस्तान में अधिकार हासिल करने के लिए झगड़ा था—यानी मराठों का गुट्ट; दक्खिन म हैदरअली, और अंग्रेज़। बावजूद इसके कि प्लासी में उनकी जीत हुई थी और वह बंगाल और बिहार में फैल गए थ, हिंदुस्तान में शायद ही कोई यह ख़याल करता रहा हो कि ब्रिटिश यहां की सबसे बड़ी ताक़त बन जायंगे। देखने वाला अब भी मराठों को पहली जगह देता। यह लोग पच्छिमी और मध्य हिंदुस्तान में सब जगह यहां तक कि दिल्ली तक फैले हुए थे और इनके साहस और युद्ध करने के गुणों की शोहरत थी। हैदरअली और टीपू सुल्तान ज़बर्दस्त विरोधी थे, जिन्होंने कि अंग्रेज़ों को बुरी तरह हराया और ईस्ट इंडिया कंपनी की ताक़त को क़रीब-क़रीब ख़तम कर दिया। लेकिन यह लोग दक्खिन तक महदूद रहे और सारे हिंदुस्तान में जो कुछ होता था उस पर उनका कोई सीधा असर न था। हैदरअली एक अद्भुत आदमी था और हिंदुस्तान के इतिहास का एक प्रधान पुरुष। उसका एक तरह का क़ौमी आदर्श

था और उसमें कल्पना रखने वाले नेता के गुण थे। बराबर एक तकलीफ़-देह बीमारी का शिकार रहते हुए भी उसने आत्म-संयम और मेहनत करने की अद्भुत शक्ति दिखाई। औरों के मुक़ाबले में, उसने बहुत पहले यह अनुभव किया कि समुद्री ताक़त का बड़ा महत्त्व है और इस ताक़त के आधार पर अंग्रेज़ों का जसा ज़ोर बंध सकता है। उसने मिल-जुल कर इन्हें मुल्क से निकाल बाहर करने के लिए एक संगठन तैयार करने की भी कोशिश की, और इस सिलसिले में, मराठों, निज़ाम और अवध के शुजाउद्दौला के पास पैग़ाम भेजे। लेकिन इसका हासिल कुछ न रहा। उसने अपना समुद्री बेड़ा तैयार करना शुरू किया और मालद्वीप टापू पर क़ब्जा कर लिया और उसे जहाज़ बनाने और समुद्री कार्यवाहियों का अड्डा बनाया। अपनी फौज के साथ कूच करते हुए वह रास्ते में एक मुक़ाम पर मर गया। उसके बेटे टीपू ने जहाज़ी बेड़े को मज़बूत करने के काम को जारी रक्खा। टीपू ने नैपोलियन और कुस्तुंतुनिया के सुल्तान के पास भी पैग़ाम भेजे।

उत्तर में, रंजीतसिंह की अधीनता में, पंजाब मे, एक सिख रियासत तैयार हो रही थी, जो बाद में कश्मीर और पच्छिमोत्तर के सरहदी सूबे तक फैली। लेकिन वह भी एक किनारे की रियासत थी और हिंदुस्तान पर क़ब्ज़ा पाने के लिए जो लड़ाई हो रही थी उस पर उसका ज़्यादा असर न था। ज्यों-ज्यों अठारहवीं सदी ख़तम होने पर आई यह साफ़ ज़ाहिर हो गया कि लड़ाई सिर्फ़ दो ताक़तों में है, यानी मराठों और अंग्रेज़ों में। और सभी रियासतें और इलाक़े इन दोनों के मातहत या इनसे जुड़े हुए थे।

मैसूर के टीपू सुल्तान को, अंग्रेज़ों ने, आख़िरकार १७९९ में हरा दिया और इससे अब मराठों और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच लड़ाई के लिए मैदान खाली हो गया। चार्ल्स मेटकाफ़ ने, जो कि हिंदुस्तान के सबसे क़ाबिल अंग्रेजी अफ़सरों में से एक था, १८०६ में लिखा था : "हिंदुस्तान में दो से ज्यादा बड़ी ताक़त नहीं हैं, ब्रिटिश और मराठे, और बाक़ी रियासतों में से हर एक इन दोनों में से एक के असर में है। जितने इंच हम पीछे हटेंगे, वह इनके क़ब्ज़े में आवेंगे। लेकिन मराठा सरदारों में आपस में वैर चल रहा था और अंग्रेज़ों ने इनसे अलग-अलग लड़कर इन्हें हराया। इन्होंने कुछ मार्के की लड़ाइयां जीती थीं, ख़ासतौर पर १८०४ में आगरे के पास इन्होंने अंग्रेजों को बुरी तरह परास्त किया। लेकिन १८१८ में मराठा शक्ति आख़िरकार कुचल दी गई और मध्य हिंदुस्तान में उसकी नुमाइंदगी करने वाले बड़े-बड़े सरदारों ने हार मानकर ईस्ट इंडिया कंपनी की सरपरस्ती क़ुबूल कर ली। उस वक़्त अंग्रेज़ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े हिस्से के बेरोक हाकिम बन गए, जो कि मुल्क पर सीधे या अपने कठपुतले और मातहत राजों की मारफ़त हुकूमत

करते थे। पंजाब और कुछ दूर के हिस्से अब भी उनके क़ाबू से बाहर थे, लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी सल्तनत जम चुकी थी और बाद में सिखों, गोरखों और बर्मियों से इनकी जो लड़ाइयां हुईं उन्होंने नक़्शा भर दिया।

१४ : संगठन और यंत्र-कला में अंग्रेजों की बरतरी और हिंदुस्तान का पिछड़ा होना

इस ज़माने पर अब नज़र डालते हुए, क़रीब-क़रीब ऐसा जान पड़ता है कि इत्तिफाकिया हालत के एक सिलसिले और भाग्य के सबब से हिंदुस्तान पर अधिकार कर सकने में अंग्रेज कामयाब हुए। जो भड़कदार इनाम उन्हें हासिल हुआ है, उसे देखते हुए अद्‌भुत रूप से थोड़ी कोशिशों से, उन्होंने एक बड़ी सल्तनत जीत ली और अपार दौलत पाई, और इस तरह दुनिया की इनी-गिनी ताक़तों में गिने जाने जाने लगे। ऐसा जाम पड़ता है कि कोई छोटी-सी घटना ऐसी घट सकती थी, जिससे उनकी उम्मीदों पर पानी फिर जाता और उनके हौसले ख़तम हो जाते। कई मौक़ों पर उन्हें हैदरअली, टीपू, मराठों, सिखों और गोरखों ने हराया। क़िस्मत ने इतना साथ न दिया होता तो हिंदुस्तान से उनके पैर उखड़ जाते। या ज़्यादा-से-ज़्यादा वह समुद्री तट के कुछ इलाक़ों में बने रहते।

फिर भी अगर उस ज़माने के हालात को ग़ौर से देखा जाय तो मालूम पड़ेगा कि जो कुछ हुआ वह एक तरह से लाज़िमी था। ख़ुश क़िस्मती ज़रूर थी, लेकिन ख़ुश क़िस्मती से फ़ायदा उठाने के लिए क़ाबलियत भी होनी चाहिए। हिंदुस्तान उस वक़्त, मुग़ल सल्तनत के टूट जाने के बाद, एक उथल-पुथल की कैफ़ियत में था, कई सदियों को देखा जाय तो वह इतना कमज़ोर और बेबस कभी नहीं हुआ था। संगठित शक्ति के टूट जाने से साहसियों और सल्तनत के नए दावेदारों के लिए रास्ता खुल गया था। इन साहसियों और दावेदारों में अंग्रेज़ ही ऐसे थे, जिनमें वह गुण थे जो कामयाबी के लिए ज़रूरी होते हैं। एक बड़ी बात जो उनके ख़िलाफ़ पड़ती थी वह यह थी कि वह विदेशी थे और एक दूर देश से आए हुए थे। लेकिन यही बात जो उनके ख़िलाफ़ पड़ती थी, उनके माफ़िक भी आई, क्योंकि किसी ने उनकी तरफ़ ज्यादा ध्यान न दिया और न उनको हिंदुस्तान के अधिकार का इमकानी दावेदार समझा। यह अचरज की बात है, कि यह धोखा प्लासी की लड़ाई के बहुत बाद तक क़ायम रहा, और ज़ाब्ते की बातों में उनका दिल्ला क कठपुतले बादशाह के मुख़्तार के हैसियत से पेश आना, इस धोखे को चलाता रहा। बंगाल का जो यह माल लूटकर लेगए और उनके व्यापार के तरीक़ों ने यह यक़ीन पैदा किया था कि यह विदेशी धन-दौलत के चाहने वाले

हैं, राज अधिकार नहीं चाहते; और यह कि अगर्चे यह तकलीफ़-देह लोग हैं फिर भी थोड़े वक़्त के हैं—कुछ तैमूर और नादिरशाह जैसे, जो कि आए और लूट का माल लेकर फिर अपने घर को वापस गए।

ईस्ट इंडिया कंपनी शुरू में व्यापार के लिए क़ायम हुई थी, और उसका फ़ौजी अमल सिर्फ़ इस व्यापार की हिफ़ाज़त करना था। रफ़्ता-रफ़्ता, क़रीब-क़रीब इस तरह कि लोगों को पता भी न चला, इसने अपना इलाक़ा बढ़ा लिया था, और जो ख़ास तरीक़ा इसने अख़्तियार किया वह यह था कि मुक़ामी झगड़ों में, विरोधी दलों में से किसी एक को मदद देना। कंपनी की फ़ौजें ज़्यादा अच्छी सिखाई गई थीं और जिसकी तरफ़ भी वह मदद देतीं, उसे फ़ायदा पहुँचता, और कंपनी अपनी सहायता के लिए ख़ासी क़ीमत वसूल करती। इस तरह कंपनी की ताक़त बढ़ी और उसके फ़ौजी अमल ने तरक़्क़ी की। लोग इन फ़ौजों को इस तरह देखने लगे कि वह किराए पर ली जा सकती हैं। जब लोगों को इस बात का पता चला कि अंग्रेज़ किसी की मदद करने वाले नहीं थे बल्कि अपना ही खेल खेल रहे थे, और वह था हिंदुस्तान में सियासी ताक़त क़ायम करना; उस वक़्त तक वह मुल्क में अपने को मज़बूती से क़ायम कर चुके थे।

विदेशियों के ख़िलाफ़ एक भावना यक़ीनी तौर पर मौजूद थी, और यह बाद के सालों में और भी बढ़ी। लेकिन एक आम और व्यापक क़ौमी भावना से यह बहुत दूर की चीज़ थी। पृष्ठभूमि में सामंतवाद था, और लोग मुक़ामी सरदारों की वफ़ादारी बजाते थे। जैसा कि चीन के लड़ाके सरदारों के ज़माने में हुआ था, मुल्क की व्यापक मुसीबतों ने लोगों को इस बात पर मजबूर किया कि जो भी फ़ौजी सरदार क़ायदे से तनख़ाह दे सकता हो और लूट के मौक़े देता हो, उसके यहां नौकरी कर ली जाय। ईस्ट इंडिया कंपनी की फ़ौजों में ज़्यादातर हिंदुस्तानी सिपाही होते थे। सिर्फ़ मराठों में कुछ क़ौमी भावना थी, और यह भावना मुक़ामी सरदारों की वफ़ादारी भर नहीं थी; फिर भी यह क़ौमी जज़्बा तंग और महदूद था। उन्होंने अपने बरताव से बहादुर राजपूतों को अपने ख़िलाफ़ कर लिया। बजाय इसके कि यह उनकी दोस्ती हासिल करते, उन्हें यह दुश्मन बना बैठे, या ज़्यादा-से-ज़्यादा असंतुष्ट जागीरदार। ख़ुद मराठा सरदारों में तीखा वैमनस्य था और बावजूद इसके कि पेशवा के मातहत उनका एक गुट्ट-सा था उनमें कभी-कभी ख़ाना-जंगी हुआ करती थी। नाज़ुक मौक़ों पर यह एक-दूसरे के काम न आते, और अलग-अलग लड़कर यह हरा दिए जाते थे।

फिर भी मराठों ने बहुत से क़ाबिल लोग पैदा किए जो राजनीतिज्ञ भी थे और योद्धा भी, और इनमें नाना फड़नवीस, पेशवा बाजीराव (प्रथम), ग्वालियर के महद जी सिंधिया और इंदौर के यशवंतराव होलकर की गिनती

होनी चाहिए, और हमें उस अद्भुत औरत को भी न भूलना चाहिए यानी इंदौर की रानी अहिल्या बाई को। उनके सैनिक अच्छे होते थे, अपनी जगह पर डटे रहने वाले और मौत का बहादुरी से सामना करने वाले। लेकिन इस सब बहादुरी के पीछे युद्ध के ज़माने में और शांति के ज़माने में भी अक्सर महज़ एक जांबाज़ी और अताईपन होता, जो कि एक हैरत की बात है। दुनिया के बारे में उनका अज्ञान हद दर्जे का था और उनकी हिंदुस्तान के भूगोल की भी जानकारी महदूद थी। जो बात और भी बुरी थी वह यह थी कि वह इस बात का पता लगाने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहते थे कि बाहर क्या हो रहा है और उनके दुश्मन क्या करने में लगे हुए हैं। इन हालतों में दूरंदेशी वाली राजनीतिज्ञता और कार-आमद अमल का क्या गुंजाइश हो सकती थी? उनकी तेज़ी और रफ़्तार से अक्सर दुश्मन ताज्जुब में आकर घबरा उठते थे, लेकिन युद्ध को यह महज़ कुछ बहादुरी के धावे समझते और इससे ज़्यादा कुछ नहीं। छापेमार लड़ाई में वह बेजोड़ थे। बाद में उन्होंने अपनी फ़ौजों को ज़्यादा नियमित ढंग से संगठित किया, नतीजा यह हुआ कि एक तरफ़ वह जिरह-बख़्तर से बोझिल हुए, दूसरी तरफ़ उनकी तेज़ रफ़्तार जाती रही, और वह इन नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को आसानी से न बना पाए। वह अपने को होशियार समझते थे, और थे भी; लेकिन सुलह की हालत में या युद्ध में उन्हें धोखा दे सकना मुश्किल न था, क्योंकि वह एक पुराने और दक़ियानूसी चौखटे में घिरे हुए थे और उससे बाहर निकलना न चाहते थे।

हिंदुस्तानी शासकों ने शुरू में ही विदेशियों की सिखाई हुई फ़ौजों की तरतीब और क़ायदे की बरतरी देख ली थी। वह फ़रासीसी और अंगरेज़ी अफ़सरों को अपनी फ़ौजों को क़वायद कराने के लिए रखने लगे थे, और इन दोनों के मुक़ाबले ने हिंदुस्तानी फ़ौजों की तैयारी में मदद पहुँचाई। हैदरअली और टीपू को समुद्री ताक़त की अहमियत का भी कुछ ख़याल था, और उन्होंने अंग्रेज़ों को चुनौती देने के लिए एक समुद्री बेड़ा तैयार करने की कोशिश भी की, लेकिन यह काम उन्होंने देर में शुरू किया और कामयाब न रहा। मराठों ने भी इस दिशा में एक हल्की कोशिश की। हिंदुस्तान में उस ज़माने में जहाज़ बना करते थे, लेकिन थोड़े वक़्त में एक बेड़ा खड़ा कर देना आसान न था, ख़ास तौर से तब, जब कि बराबर मुक़ाबले का सामना करना पड़े। जब फ़रासीसी ताक़त ख़तम हुई तो बहुत से फ़रासीसी अफ़सरों को भी, जो कि हिंदुस्तानी हुकूमतों की फ़ौजों में थे, जाना पड़ा। जो विदेशी अफ़सर बच रहे थे, यानी अंग्रेज़; वह अक्सर नाज़ुक मौक़ों पर अपने मालिकों का साथ छोड़ देते थे, और कुछ मौक़ों पर दग़ा देकर उन्हें फ़ौज और ख़ज़ाने के साथ दुश्मनों के (अंग्रेज़ों के) सिपुर्द कर देते थे। हिंदुस्तानी ताक़तों का, विदेशी अफ़सरों पर

भरोसा करना, न महज़ उनके फ़ौजी संगठन का पिछड़ापन ज़ाहिर करता है, बल्कि ऐसा भी था कि कि इससे उन्हें अक्सर धोखा खाना पड़ता था और इन अफ़सरों के एतबार के क़ाबिल न होने की वजह से उन्हें ख़तरा रहता था। हिंदुस्तानी राज्यों के हुक्कामों में और फ़ौज में अक्सर अंग्रेज़ों को गुप्त रूप से मदद पहुँचाने वाले हुआ करते थे।

अगर मराठे अपने गुट्ट और गिरोहवार क़ौमियत के बावजूद दीवाना और फ़ौजी संगठन में पिछड़े हुए थे, तो दूसरी हिंदुस्तानी ताक़तें तो और भी पिछड़ी हुई थीं। राजपूत दिलेर ज़रूर थे, लेकिन उनके ढंग सामंतवादी थें। वे वीर होते हुए भी वह नाकारा थे और आपस की फूट में मुब्तिला रहते थे। उनमें से बहुतेरे, सामंतवादी स्वामि-भक्ति की भावना से, और कुछ अंशों में अकबर की पुरानी नीति के फलस्वरूप, मिटती हुई दिल्ली की हुकूमत के तरफ़दार बने रहे। लेकिन दिल्ली की हुकूमत इतनी कमज़ोर हो चुकी थी कि वह इससे फ़ायदा न उठा सकी, और राजपूतों का ह्रास होता रहा और यह दूसरों के हाथों के खिलौने बन गए, और आख़िरकार मराठा सिंधिया के प्रभाव में आ गए। उनके कुछ सरदारों ने अपनी हिफ़ाजत करने के लिए होशियारी से जोड़-तोड़ लगाने की कोशिशें कीं। उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के बहुत से मुस्लिम हाकिम और सरदार उतने ही सामंतवादी और ख़यालों में उतने ही पिछड़े हुए थे जितने कि राजपूत लोग। उनका होना-न-होना बराबर था, सिवाय इसके कि आम लोगों की मुसीबतों और झंझटों को यह और बढ़ाते रहते थे। इनमें से कुछ ने मराठों की सरपरस्ती क़ुबूल कर ली।

नेपाल के गोरखे बड़े ऊँचे दर्जे के और क़ायदे के सिपाही थे, और ईस्ट इंडिया कंपनी की किसी भी फ़ौज से अच्छे नहीं तो बराबरी के ज़रूर थे। अगर्चे इनका संगठन पूरी तौर पर सामंतवादी था फिर भी उन्हें अपने देश से ऐसा गहरा प्रेम था कि यह उसकी हिफ़ाज़त के लिए जी तोड़कर लड़ने वाले थें। अंग्रेज उनसे दहशत खा गए, लेकिन हिंदुस्तान की ख़ास लड़ाई में इनकी वजह से कोई फ़र्क न पैदा हुआ।

मराठों ने, उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के उन बड़े प्रदेशों में, जहां कि वह फैल गए थे, अपने को मज़बूत नहीं बनाया। वह आए और चले गए, उन्होंने जड़ नहीं पकड़ी। शायद ठीक उस ज़माने में, लड़ाई की जीत और हार की वजह से, कोई भी जड़ नहीं पकड़ सकता था; और दर-अस्ल अंग्रेज़ी अधिकार के या अंग्रेज़ी सरपरस्ती में आए इलाक़ों की हालत कहीं बुरी थी, और अंग्रेज़ों ने या उनकी हुकूमत ने वहां जड़ नहीं पकड़ी थी।

एक तरफ़ मराठे थे (और उनसे भी ज्यादा दूसरी हिंदुस्तानी ताक़तें थीं) जो कि अताईपन और जांबाज़ी के तरीक़ों पर अमल करते थे; दूसरी

तरफ़ हिंदुस्तान में आए हुए अंग्रेज़ थे जो पूरी तरह चुस्त थ। बहुत से ब्रिटिश नेता काफ़ी साहसी थे, लेकिन उनकी नीति में कोई जांबाज़ी न थी, और इसके लिए सभी अपने-अपने दायरों में मुस्तैदी से काम किया करते थे। एडवर्ड टामसन लिखता है : "ईस्ट इंडिया कंपनी के दफ़्तर के सहायक, हिंदुस्तान की देशी रियासतों के दरबार में, ऐसे-ऐसे क़ाबिल लोग रहे हैं, जैसे कि ब्रिटिश साम्राज्य में शायद ही किसी ज़माने में एक साथ हुए हों।" इन दरबारों में ब्रिटिश रेज़िडेंटों का एक ख़ास काम यह होता था कि वज़ीरों और हुक्कामों को रिश्वतें दे-देकर उन्हें बिगाड़ते रहें। एक इतिहासकार का कहना है कि उनकी जासूसी प्रथा पक्की थी। उन्हें दरबारी बातों की और दुश्मनों की फ़ौजों की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी, जब कि इन मुक़ाबला करने वालों को यह पता न होता कि अंग्रेज़ क्या कर रहे हैं या क्या करने वाले हैं। अंग्रेज़ों के मददगार विश्वासघाती लोग बराबर काम करते रहते थे और नाज़ुक वक़्तों पर, या जब कि लड़ाई सरगर्मी पर होती तब अपने दलों को छोड़कर उनसे आ मिलते और इससे बड़ा फ़र्क पैदा हो जाता। लड़ाई शुरू होने से क़ब्ल वह लड़ाइयां जीते होते थे। यही बात प्लासी म हुई और यही बार-बार सिख-लड़ाइयों के वक़्त तक होती रही। विश्वासघात की एक मार्के की मिसाल ग्वालियर के सिंधिया के एक ऊँचे अफ़सर की थी, जिसने कि चुपके से अंग्रेज़ों से समझौता कर लिया था, और जो कि ठीक लड़ाई के वक़्त अपनी सारी फौज के साथ अंग्रेज़ों की तरफ़ चला गया। इसका इनाम उसे इस तरह मिला कि सिंधिया (जिससे कि विश्वास-घात हुआ था) की रियासत से ही एक टुकड़ा अलग करके, उसे एक नई रियासत बनाकर उसका शासक बना दिया गया। यह रियासत अब भी है, लेकिन उस आदमी का नाम विश्वासघात और दग़ाबाज़ी का पर्याय हो गया है, उसी तरह जिस तरह कि हाल में क्वीस्लिंग का नाम बन गया है।

इस तरह, अंग्रेज एक ऊँचे दर्जे के सियासी और फ़ौजी संगठन की नुमाइंदगी करते थे, जो कि ख़ूब मज़बूत था, और उनके यहां बड़े क़ाबिल नेता थे। अपने दुश्मनों के मुक़ाबले में उनकी जानकारी कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और वह हिंदुस्तान की फूट और यहां की ताक़तों के आपस के झगड़ों से पूरा फ़ायदा उठाते थे। चूंकि उनकी समुद्री ताक़त भी थी, इसलिए उन्हें महफ़ूज फ़ौजी सदर कैंप भी मिले हुए थे और मदद हासिल करने के ज़रिए उनके लिए खुले थे। थोड़े वक़्त के लिए हार भी गए तो वह फिर ताक़त इकट्ठी करके दुबारा हमला शुरू कर सकते थे। प्लासी की लड़ाई के बाद, बंगाल के हाथ में आ जाने से, उन्हें बड़ी दौलत मिली थी, और इस तरीक़े पर मराठों से और दूसरों से भी लड़ाई जारी रखने के ज़रिए उन्हें हासिल हो गए थे, और हर

नई जीत के साथ-साथ यह ज़रिये बढ़ते ही जाते थे। अगर हिंदुस्तानी ताक़तें हारती थीं तो उनके लिए तबाही आ जाती थी, और इसका वह कोई इलाज न कर पाते थे।

जंग और जीत और लूट-मार के इस ज़माने ने मध्य हिंदुस्तान और राजपूताना और दक्खिन और पच्छिम में यह हालत कर दी थी कि बहुत से इलाक़ों में हुकूमत ही न रह गई थी और वहां मार-धाड़ और बेबसी और मुसीबत का आलम था। उन पर से फ़ौजें गुज़र जाती थीं और उसके पीछे लुटेरे आते थे और वहां के मुसीबत के मारे लोगों की कोई ख़बर लेने वाला न था। जो आता वह उनके माल-असबाब को लूटने ही के लिए आता। हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों की हालत क़रीब-क़रीब वैसी हो गई थी, जैसी कि तीस साल की लड़ाई के ज़माने में मध्य यूरोप की थी। हालत आम तौर पर सभी जगह बिगड़ी हुई थी, लेकिन सब से ज़्यादा बिगड़ी हालत उन इलाक़ों की थी जहां कि अंग्रेज़ों का अधिकार था या उनकी सरपरस्ती थी। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि "....जो तस्वीर मद्रास में, या अवध और हैदराबाद की मातहत रियासतों में, हमें देखने में आती है, उससे दहशतनाक तस्वीर का ख़याल नहीं किया जा सकता; इन जगहों में मुसीबत की वबा आई हुई थी। इनके मुक़ाबले में वह प्रदेश जहां कि नाना (फड़नवीस, मराठा राजनीतिज्ञ) की हुकूमत थी, अमन-चैन के नख़्लिस्तान जैसे थे।"

इस ज़माने से ठीक पहले हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों मे, बावजूद मुग़लों की हुकूमत के टूट जाने के, बद-अमनी से बहुत बचत थी। बंगाल में एक हद तक आज़ाद मुग़ल सूबेदार अलावर्दी के लंबे राज्य-काल में अमन की हुकूमत थी और व्यापार और तिजारत तरक्क़ी पर थे, जिससे कि सूबे की दौलत बढ़ रही थी। अलावर्दी की मौत के कुछ वक़्त बाद प्लासी की लड़ाई (१७५७) हुई और ईस्ट इंडिया कंपनी दिल्ली के बादशाह की मुख़्तार बन बैठी, गोकि वह दर-अस्ल बिलकुल आज़ाद थी और जो चाहती थी कर सकती थी। इसके बाद कंपनी और उसके गुमाश्तों और मुख़्तारों ने बंगाल की लूट-खसोट शुरू की। प्लासी के कुछ साल बाद मध्य हिंदुस्तान में इंदौर की अहिल्याबाई का राज्य-काल शुरू हुआ और यह तीस साल (१७६५-१७९५) तक क़ायम रहा। यह बात कहावत के दर्जे तक मशहूर है कि इस ज़माने में पूरा-पूरा अमन-चैन रहा; अच्छी हुकूमत क़ायम थी और लोगों में ख़ुशहाली फैली। वह एक बड़ी योग्य शासन और संगठन करने वाली स्त्री थी और अपने जीवन-काल में उसने लोगों से बड़ा आदर पाया और मरने के बाद उसकी कृतज्ञ प्रजा ने उसे धार्मिक प्रतिष्ठा दी। इस तरह, उस ज़माने में, जब कि बंगाल और बिहार ईस्ट इंडिया कंपनी की नई हुकूमत में पस्ती की हालत में थे और संगठित लूट की वजह से

तबाह हो रहे थे, और वहां राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था फैली हुई थी, जिसकी वजह से भयानक अकाल पड़ रहे थे। मध्य हिंदुस्तान में और मुल्क के बहुत से और हिस्सों में लोग खुशहाल थे।

अंग्रेज़ों ने ताक़त और दौलत ज़रूर हासिल कर ली थी, लेकिन वह अच्छी हुकूमत या किसी तरह की हुकूमत के, अपने को, ज़िम्मेदार नहीं समझते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों की दिलचस्पी नफ़े और ख़ज़ाने में थी, अपने मातहत आए हुए लोगों की हालत सुधारने या उनकी हिफ़ाज़त भी करने में नहीं थी। ख़ास तौर पर उनकी मातहत रियासतों में ताक़त और ज़िम्मेदारी के बीच कोई ताल्लुक़ न रह गया था।

हमें अक्सर बताया जाता है, जिससे हम भूल न जायं, कि अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान को अराजकता और अंधकार से बचाया। यह बात इस हद तक सही है कि इस ज़माने के बाद, जिसे कि मराठों ने 'भयानक ज़माना' बताया है, उन्होंने व्यवस्थित हुकूमत क़ायम की। लेकिन जो अराजकता और अंधकार फैला, उसकी कम-से-कम कुछ ज़िम्मेदारी ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति, और हिंदुस्तान में उस कंपनी के नुमाइंदों पर ज़रूर है। इस बात की भी कल्पना की जा सकती है कि बिना अंग्रेज़ों की सहायता के भी, जिसे वह देने के लिए इतने तुले हुए थे, हिंदुस्तान में, अधिकार पाने के लिए लड़ी गई लड़ाई के अंत में शांति और व्यवस्थित हुकूमत क़ायम हो जाती। ऐसी सूरतें हिंदुस्तान में, उसके पांच हज़ार साल की तारीख़ में, और दूसरी जगहों में, पहले भी पैदा हो चुकी हैं।

१५ : रंजीतसिंह और जैसिंह

यह ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान विदेशियों की विजय का शिकार इसलिए हुआ कि उसके लोगों में कमियां थीं और अंग्रेज़ एक ऊंची और तरक़्क़ी करती हुई समाजा व्यवस्था की नुमाइंदगी करने वाले थे। दोनों तरफ़ के नेताओं के बीच नुमायां फ़र्क़ था; हिंदुस्तानी—वह चाहे जितने क़ाबिल हों—ख़याल और अमल के तंग दायरे म रहने वाले लोग थे, और उन्हें इस बात का पता न था कि दूसरी जगहों में क्या हो रहा है, और इसलिए वह तब्दील होती हुई हालतों में, अपने को ठीक-ठीक बिठा न पाए। अगर कुछ शख़्शों में बातों को जानने का शौक़ पैदा भी हुआ तो वह उन घेरों को तोड़ न पाते थे, जिनमें कि वह बंधे हुए और क़ैद थे। इसके बर-अक्स अंग्रेज़ बहुत दुनिया-साज़ लोग थे, और उनके मुल्क और फ़्रांस और अमरीका में होने वाली घटनाओं ने उन्हें जगा दिया था। दो बड़ा क्रांतियां गुजर चुकी थीं। फ़रासीसी इन्क़लाबी फ़ौजों के और नैपोलियन के धावों ने [illegible]

अनजान अंग्रेज़, अपनी हिंदुस्तान-यात्रा के बीच में, दुनिया के कई हिस्सों को देख चुका होता था। ख़ुद इंग्लिस्तान में मार्के की खोजें हो चुकी थीं, जिनका नताजा यह हुआ था कि वहां कल-कारख़ानों की क्रांति हो गई थी, अगर्चे शायद बहुत ही थोड़े लोग ऐसे थे जो इसके दूर तक पहुंचने वाले असर का अंदाज़ा लगा सकते थे। लेकिन तब्दीली का खमीर जोरों से काम कर रहा था, और लोगों पर असर डाल रहा था। इन सबके पीछे वह प्रसारशील स्फूर्ति थी जिसने कि अंग्रेज़ों को दूर-दराज़ मुल्कों में भेजा।

जिन लोगों ने हिंदुस्तान का इतिहास लिखा है, वह लड़ाइयों और हंगामों और राजनीतिक और फ़ौजी नेताओं के बयान में इतने फंस गये हैं, कि उन्होंने यह बहुत कम लिखा कि हिंदुस्तान के दिमाग़ में क्या तब्दीलियां हो रही थीं, और उसकी समाजी और आर्थिक व्यवस्था किस तरफ़ जा रही थी। इस गंदले बयान के भीतर से बीच-बीच में और इत्तिफ़ाक से कुछ झलकियां मिल जाती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस भयानक दौर में लोग आम तौर पर पस्त और कुचले हुए से थे, दुर्भाग्य के चक्र को चुपके से बर्दाश्त कर लेते थे, एक चकाचौंध और उदासीनता का उन पर आलम छाया हुआ था। बहुत से व्यक्ति ऐसे ज़रूर रहे होंगे, जिनमें बातों को समझने-की ख़्वाहिश थी, और जो उन नई ताक़तों को समझना चाहते थे जो कि काम कर रही थीं, लेकिन घटनाओं की बाढ़ में वह आगये थे, और उन पर असर न डाल सके।

उन व्यक्तियों में, जिनमें जिज्ञासा भरी हुई थी, महाराजा रंजीतसिंह था। जो कि एक जाट सिख था, और जिसने पंजाब मे एक राज्य बना लिया था, यह राज्य बाद में कश्मीर और सरहदी सूबे तक फैला। उसमें कमज़ोरियां थीं और बुरी आदतें भी थीं, फिर भी वह एक अद्भुत आदमी था। जैकमों नाम का फ़रासीसी उसे "हद दर्जे का बहादुर" बताता है, और कहता है कि "यह क़रीब-क़रीब पहला हिंदुस्तानी था, जिसमें कि मैंने जिज्ञासा का भाव देखा था। लेकिन उसकी जिज्ञासा ऐसी थी कि वह सारी क़ौम की उदासीनता की कमी को पूरा करने वाली थी। उसका बात-चीत से हमेशा डर लगता था।" इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुस्तानी हमेशा अलग-थलग रहने वाले होते है, उनमें भी ख़ास तौर पर आला दिमाग़ लोग। इनमें से बहुत कम ने हिंदुस्तान में आने वाले विदेशी फ़ौजी नेताओं और साहसियों से राह-रस्म रखना पसंद किया होगा, क्योंकि उनके बहुत से कारनामों ने, उनमें दहशत पैदा की होगी। इस तरह विचारशील लोग विदेशियों से जहांतक होता बच-कर अपनी प्रतिष्ठा बचाए रखते, और उनसे सिर्फ रस्मी मौक़ों पर मुलाक़ात करते या उस वक्त जब कि मिलना लाज़िम हो जाता। जिन हिंदुस्तानियों से अंग्रेज मिलते वह आमतौर पर या तो ज़मानासाज़ लोग होते या जी-हुज़ूरी

वाले, जो उन्हें और वज़ीरों को घेरे रहते और अक्सर घूंसखोर और षड्यंत्री, हिंदुस्तानी दरबारी होते।

रंजीतसिंह मानसिक जिज्ञासा वाला आदमी ही न था, उसमें बड़ी मानवता भी थी—उस वक़्त जब कि हिंदुस्तान और सारी दुनिया में बेदर्दी और पाशविकता छाई हुई थी। उसन एक राज्य बनाया और ज़बर्दस्त फ़ौज खड़ी कर ली, फिर भी वह ख़ून-ख़राबी पसंद नहीं करता था। प्रिंसेप ने लिखा है कि "एक अकेले आदमी ने इतनी बड़ी सल्तनत इतनी कम गुनहगारी के साथ कभी न क़ायम की थी।" चाहे जैसा जुर्म हो उसने मौत की सज़ा उड़ा दी थी—उस वक़्त जब कि इंग्लिस्तान में, छोटी-छोटी चोरियों के लिए भी मौत की सज़ाएं दी जाता थीं। आसबार्न, जो उससे मिला था, लिखता है : "जंग के मौकों को छाड़कर उसने कभी किसी की जान न ली, अगर्चे ख़ुद उसकी ज़िंदगी पर कई बार हमले हुए थे, और उसका राज्य, बहुत से ज्यादा सभ्य बादशाहों के मुक़ाबले में, निर्दयता और दमन के कामों से मुक्त पाया जायगा।"[१]

एक दूसरा, और और ही ढंग का हिंदुस्तानी राजनीतिज्ञ राजपूताना में जयपुर का सवाई जयसिंह था। उसका ज़माना कुछ और क़ब्ल का है। १७४३ में उसकी मृत्यु हुई। औरंगज़ेब के मरने से बाद के ज़माने म जो टूट-फूट हुई, उस वक़्त यह हुआ है। वह इतना काफ़ी होशियार और दुनिया-साज़ था कि एक के बाद एक तेज़ी से आने वाले धक्कों से और तब्दीलियों से अपने को संभाल सका। उसने दिल्ली के बादशाह की सरपरस्ती क़बूल कर ली। जब कि उसने देखा कि आगे बढ़ते हुए मराठे इतने मज़बूत हैं कि उन्हें रोका नहीं जा सकता तो उसने बादशाह की तरफ़ से उनसे समझौता कर लिया। लेकिन उसके राजनीतिक और फ़ौजी कारनामों में मेरी दिलचस्पी नहीं है। वह एक बहादुर योद्धा और पक्का कूटनीतिज्ञ था, लेकिन वह इससे कहीं बढ़कर था। वह गणितज्ञ था और ज्योतिष जानने वाला था, वैज्ञानिक था और नगर-निर्माण करने वाला था, और इतिहास के अध्ययन में उसकी दिलचस्पी थी।

जैसिंह ने जैपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस और मथुरा में बड़ी-बड़ी वेध-शालाएं तैयार कराईं। पुर्तगाली पादरियों से यह जानकर कि पुर्तगाल में ज्योतिष का ज्ञान तरक्क़ी पर है, उसने, एक पादरी के साथ अपना एक आदमी पुर्तगाल के राजा एमैनुएल के दरबार में भेजा। एमैनुएल ने अपने दूत ज़ेवियर डि सिल्वा को डिला हायर की तालिकाओं के साथ जैसिंह के पास भेजा। इन तालिकाओं का, अपनी तालिकाओं से मिलान करने पर, वह इस नतीजे पर

---

१ टामसन की पुस्तक से यह उद्धरण लिए गए हैं। पृष्ठ १५७, १५८

पहुँचा कि पुर्तगाली तालिकाएं कम शुद्ध थीं, और उनमें कई ग़लतियां थीं। इन ग़लतियों का कारण उसने यह बताया कि जिन यंत्रों का व्यवहार किया गया था, उनके 'व्यास घटिया' थे। जैसिंह हिंदुस्तानी गणित का पूरा जानकार तो था ही, उसने पुरानी यूनानी किताबें भी देखी थीं और यूरोप में उसके ज़माने में गणित में जो तरक्क़ी हुई थी, उसे भी जानता था। उसने यूक्लिड आदि कुछ यूनानी किताबों के, और सम तथा गालीय त्रिकोणमिति, और लघुगणकों के निर्माण और व्यवहार पर, यूरोपीय ग्रंथों के संस्कृत में तर्जुमे कराए थे। उसने ज्योतिष की अरबी किताबों के भी तर्जुमे कराए थे।

उसने जैपुर शहर की स्थापना की। नगर-निर्माण में दिलचस्पी रखते हुए उसने अपने समय के बहुत से यूरोपीय शहरों के नक़्शे इकट्ठे किए और फिर अपना नक़्शा तैयार किया। जैपुर के अजायबघर में पुराने यूरोपीय शहरों के इन नक़्शों में से कई अब भी सुरक्षित हैं। जयपुर के शहर का नक़्शा इतना अच्छा और बुद्धिमानी से तैयार किया गया था, कि यह अब भी नगर-निर्माण की एक मिसाल पेश करता है।

थोड़ी ही उम्र के भीतर-भीतर, और युद्धों और दरबारी षड्यंत्रों में फंसे रहते हुए भी, जैसिंह ने यह सब और बहुत कुछ और भी किया। जैसिंह की मृत्यु से ठीक चार साल पहले, नादिरशाह का हमला हुआ था। किसी भी ज़माने में और कहीं भी, जैसिंह एक मार्के का आदमी हुआ होता। राजपूताने के ख़ास सामंतवादी वातावरण में पैदा होकर, हिंदुस्तान के इतिहास के एक इतने अंधियारे ज़माने में जब कि टूट-फूट, युद्ध और हंगामे ही दिखाई पड़ते थे, उसके वैज्ञानिक कारनामे बड़े महत्त्व के हैं। इससे यह पता चलता है कि हिंदुस्तान में वैज्ञानिक जिज्ञासा का लोप नहीं हुआ था; और कोई ऐसा ख़मीर काम कर रहा था कि अगर उसे मौक़ा दिया जाता तो बड़े क़ीमती नतीजे सामने लाता। यह बात नहीं कि जैसिंह अपने ज़माने का एक अनोखा आदमी रहा हो और एक अप्रिय और अनुपयुक्त वातावरण में उत्पन्न हुआ अकेला विचारक रहा हो। वह अपने युग की उपज के रूप में था, और अपने साथ काम करने वाले बहुत से वैज्ञानिकों को उसने इकट्ठा कर लिया था। इनमें से कुछ को, उसने समाज के रिवाज और रोक की परवाह न करके, पुर्तगाल में एलची बनाकर भेजा था। ऐसा संभव जान पड़ता है कि मुल्क में उसूली और व्यावहारिक दोनों तरह के वैज्ञानिक काम के लिए अच्छी ख़ासी सामग्री मौजूद थी, लेकिन उसे विकास का अवसर न मिला। दुर्व्यवस्था और हंगामों के ख़तम हो जाने के बाद भी वैज्ञानिक कामों के लिए अधिकारियों से कोई बढ़ावा न मिला।

१६ : हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि : दो इंग्लिस्तान

जिस वक़्त कि यह सब दूर तक असर रखने वाले राजनीतिक उलट-फेर हो रहे थे हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी ? वी० ऐन्स्टी ने लिखा है कि ठीक अठारहवीं सदी तक "पैदावार और सनअती और व्यापारिक संगठन के हिंदुस्तानी तरीक़े दुनिया के किसी हिस्से में रायज तरीक़ों के मुक़ाबले में नीचे न ठहरेंगे।" हिंदुस्तान तिजारती माल पैदा करने वाला एक बहुत ही तरक्क़ीयाफ़्ता मुल्क था, और अपने यहां से तैयार किया हुआ माल यूरोप और दूसरे देशों में भेजता था। उसकी महाजनी की व्यवस्था बहुत अच्छी और देश भर में ख़ूब संगठित थी, और बड़े-बड़े रोज़गारियों की हुंडियां हिंदुस्तान में सब जगह सकारी जाती थीं, और हिंदुस्तान ही क्या ईरान, क़ाबुल, हेरात, ताशक़ंद और मध्य एशिया की और जगहों में भी क़ुबूल की जाती थीं। व्यापारी संगठन क़ायम हो गए थे, और गुमाश्तों, माल पहुंचाने वालों, और दलालों और बीच के व्यापारियों का जाल-सा बिछा हुआ था। जहाज़ बनाने का धंधा ज़ोरों पर था और नैपोलियन के ज़माने की लड़ाइयों में एक अंग्रेज़ी एडमिरल का ख़ास जहाज़ (फ़्लैग शिप) हिंदुस्तान के एक कारख़ाने का बना हुआ था। दर-असल तिजारत और व्यापार और माली मामलों में, कारख़ानों की क्रांति (इंडस्ट्रियल रेवोल्यूशन) के ज़माने से पहले तक, हिंदुस्तान किसी भी मुल्क के मुक़ाबले में तरक्क़ी कर चुका था। अगर मुल्क में शांति और पायदार हुकूमत के लंबे दौर न गुज़रे होते और आमद-रफ़्त के रास्ते आने-जाने और तिजारत के लिए सुरक्षित न होते, तो ऐसी तरक्क़ी नामुमकिन होती।

विदेशी साहसिक शुरू में हिंदुस्तानी तिजारती माल की ख़ूबियों से खिचकर यहां आए, क्योंकि इस माल की यूरोप में बड़ी खपत थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का शुरू के दिनों में ख़ास धंधा ही हिंदुस्तानी माल का, यूरोप में, रोजगार करना था, और यह तिजारत कंपनी के लिए बड़े फ़ायदे की साबित हुई, और कंपनी के हिस्सेदारों को लंबे नफ़े मिलते रहे। चीज़ों की तैयारी के तरीक़े हिंदुस्तान में ऐसे कारगर और संगठित थे, और हिंदुस्तान के कारीगरों और शिल्पियों की हुनरमंदी इस दर्जे की थी, कि वह तैयारी के ज्यादा ऊँचे 'टेकनीक' से जो कि उस वक़्त इंग्लिस्तान में क़ायम हो रही थी, बड़ी कामयाबी से मुक़ाबला कर सकते थे। जिस वक़्त कि इंग्लिस्तान के कल-कारख़ानों का महान् युग आरंभ हुआ, उस वक़्त हिंदुस्तानी माल वहां पटा पड़ता था और उसे भारी चुंगी लगाकर और कुछ चीज़ों का आना तो क़तई बंद करके, रोकना पड़ा।

सन् १७५७ में, यानी उसी साल जब कि प्लासी की लड़ाई हुई, क्लाइव

ने बंगाल के मुर्शिदाबाद को "लंदन के इतना विस्तृत, आबाद और संपन्न शहर" बताया है, "फ़र्क़ इतना है कि इनमें से पहले, मुर्शिदाबाद में ऐसे लोग हैं जो दूसरे (लंदन) के मुक़ाबले में बे-इंतिहा मालामाल हैं।" पूर्वी बंगाल में ढाका का शहर अपनी बारीक मलमल के लिए मशहूर था। यह दो शहर, महत्त्व के होते हुए भी, हिंदुस्तान के बाहरी छोर के क़रीब के थे। इस विस्तृत देश में, सभी जगह और भी बड़े शहर और बहुत बड़े व्यापार और तिजारत के कद्र थे, और तेजी से समाचार और व्यापार भाव की जानकारी पहुँचाने के लिए बड़ी होशियारी से व्यवस्था की गई थी। बड़े-बड़े व्यापारियों के यहां, अक्सर लड़ाई तक के समाचार, ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों के पास आए समाचारों से बहुत पहले पहुँच जाते थे। इस तरह, हिंदुस्तान का अर्थ-तंत्र कल-कारख़ानों की क्रांति से क़ब्ल, जितनी तरक़्क़ी मुमकिन थी, उतना तरक़्क़ी कर चुका था। उसमें और भी तरक़्क़ी की गुंजाइश थी, या वह कड़े समाजी ढांचे की वजह से बहुत बंध गया था, यह बता सकना कठिन है। फिर भी यह बहुत संभव जान पड़ता है कि साधारण परिस्थितियों में इसमें वह तब्दीली पैदा हुई होती, जिससे कि वह अपने को अपने ही तरीके पर नई तिजारतों के माफ़िक ढाल लेता। अगर्चे वह तब्दीली के लिए तैयार हो चुका था, फिर भी इस तब्दीली के लिए ख़ुद उसकी व्यवस्था में एक क्रांति के आने की ज़रूरत थी। इस तब्दीली के पैदा करने के लिए शायद एक प्रवर्त्तक की ज़रूरत थी। यह ज़ाहिर था, कि कल-कारख़ानों से पहले का इसका अर्थ-तंत्र चाहे जितना तरक़्क़ी कर चुका हो, उन मुल्कों के माल से जहां कि कल-कारख़ाने क़ायम हो चुके थे, यह ज्यादा दिनों तक मुक़ाबला नहीं कर सकता था। यह लाज़िमी था कि या तो यह भी कल-कारखाने क़ायम करे या विदेशियों की यहां पैठ हो—आर्थिक मामलों, और फिर सियासी ढंग से। जो कुछ हुआ वह यह था कि विदेशियों की सियासी हुकूमत यहां पहले आई, और इसके ज़रिये उस अर्थ-तंत्र का बड़ी तेज़ी से नाश हुआ, जो क़ायम हो चुका था, और उसकी जगह पर कोई निश्चित या रचनात्मक चीज़ आई नहीं। ईस्ट इंडिया कंपनी, अंग्रेज़ी राजनीतिक शक्ति और अंग्रेज़ी स्थापित स्वार्थों और आर्थिक शक्ति, दोनों की नुमाइंदगी करती थी। यह सियासी ताक़त रखने वाली थी, और चूंकि यह तिजारतियों की कंपनी थी, यह धन कमाने पर भी तुली हुई थी। ठीक उस वक़्त जब कि यह बड़ी तेज़ी से और अपार धन कमा रही थी, सन् १७७६ में, एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ अव् नेशन्श' में लिखा था: "एक मात्र व्यापारियों की कंपनी की हुकूमत किसी भी देश के लिए शायद सबसे बुरी हुकूमत है।"

अगर्चे हिंदुस्तानी व्यापारियों और माल तैयार करने वालों के वर्ग

अमीर थे, और सारे देश में फैले हुए थे और उनका आर्थिक व्यवस्था पर क़ाबू था, फिर भी उनमें राजनीतिक शक्ति नहीं थी। हुकूमत स्वेच्छाचारी और अब भी बहुत हद तक सामंतवादी थी। दर-अस्ल यह शायद जितनी सामंतवादी इस ज़माने में थी उतनी हिंदुस्तान के इतिहास में और कभी भी पहले नहीं रही थी। इस वजह से कोई मज़बूत मध्यवर्ग नहीं था, या ऐसा वर्ग भी जो कि ताक़त अपने हाथ में कर लेने के लिए सचेत हो, जैसा कि पच्छिमी देशों में था। आम तौर से लोग उदासीन और ग़ुलामी की मनोवृत्ति रखने वाले हो रहे थे। इस तरह एक खाई पैदा हो गई थी, जिसका भरना, इन्क़लाबी तब्दीली लाने के लिए ज़रूरी था। शायद यह खाई हिंदुस्तानी समाज की स्थिर प्रकृति के कारण पैदा हुई थी, क्योंकि यह समाज एक बदलती हुई दुनिया में, तब्दीली से इंकार करता था, और जो भी सभ्यता तब्दीली की राह में रुकावट डालती है, उसका ह्रास होता है। यह समाज, जिस ढंग का भी, था, अब उसका रचनात्मक काम ख़तम हो चुका था। तब्दीली को आना ही था।

उस ज़माने में, अंग्रेज़ सियासी नज़र से, कहीं ज्यादा तरक्क़ीयाफ्ता थे। उनके यहां राजनीतिक क्रांति हो चुकी थी और उन्होंने अपने राजा की ताक़त से ऊपर पार्लमेंट की ताक़त क़ायम कर ली थी। उनके मध्यवर्ग के लोग, अपनी नई शक्ति की चेतना रखते हुए, खूब फैलना चाहते थे। यह जीवनी शक्ति और स्फूर्ति जो कि तरक़्क़ी करने वाले और प्रगतिशील समाज के लक्षण हैं, इंग्लिस्तान में साफ़ तौर पर दिखाई देते हैं। यह कई तरीक़े पर सामने आते हैं, सबसे ज्यादा उन ईजादों और खोजों में सामने आते हैं जिन्होंने कि कल-कारखानों की क्रांति का आवाहन किया।

यह सब होते हुए भी, अंग्रेज़ी शासक-वर्ग कैसा था? अमरीका के मशहूर इतिहासकार, चार्ल्स और मेरी बेयर्ड, ने हमें बताया है कि अमरीका की क्रांति की कामयाबी ने अमरीका के शाही सूबों से किस तरह अंग्रेज़ी शासक-वर्ग को अचानक दूर कर दिया। "यह वर्ग एक वहशियाना ज़ाब्ता फ़ौजदारी का आदी था, और आदी था एक तंग, ग़ैर-रवादार यूनिवर्सिटी की व्यवस्था का; एक ऐसी हुकूमत का जिसकी कल्पना नौकरियों और हक़ों के एक बड़े समूह के रूप में की गई है; खेतों और दूकानों में मेहनत करने वाले मर्दों और औरतों को हिक़ारत से देखने का, जनता को शिक्षा देने से इन्कार का; एक क़ायम-शुदा मज़हब को मुनकिरों और कैथलिकों पर लादने का; देहातों और गांवों में जमीदारों और पादरियों के राज का; फ़ौज और जहाज़ी नौकरियों में बेरहमी और अत्याचार का; ज़मीदारों की हुकूमत की रोक-थाम करने वाली उस प्रथा का जिसमें जेठे बेटे को विरासत का हक़दार माना जाता है; पदों, निठल्ले ओहदों और पेंशनों की ख़ातिर राजा की चापलूसी में लगे हुए झुंड-के-झुंड

भुक्कड़ लोगों का; और मज़हब और राज की ऐसी व्यवस्था का जो कि घमंड और लूट के इस बड़े ढेर के बोझ को जनता पर लादती है। अंग्रेज़ी राजा की नौ-आबादियों की प्रजा की, इस बोझ के पहाड़ से, अमरीका के क्रांतिकारियों ने रक्षा की। इस मुक्ति के दस-बीस साल के भीतर उन्होंने क़ानून और नीति में वह सुधार कर लिए, जिनके वास्ते मातृभूमि (इंग्लिस्तान) में सौ या इससे ज्यादा साल के बराबर आंदोलन की ज़रूरत पड़ी--और जिनकी बदौलत इन सुधारों के लिए आंदोलन करने वाले राजनीतिज्ञों को अंग्रेज़ी इतिहास में अमर स्थान दिया गया।"[1]

अमरीकी आज़ादी के एलान पर, जो कि आज़ादी के इतिहास का एक सिवान है, १७७६ में दस्तखत हुए थ, और छ. साल बाद नौ-आबादियां इंग्लिस्तान से अलग हो गई। तब उनकी असली मानसिक, आर्थिक और समाजी क्रांति शुरू हुई। अंग्रेज़ों की प्ररणा से, इंग्लिस्तान के नमूने पर ज़मीन की जो व्यवस्था क़ायम हो गई थी वह बिलकुल बदल दी गई। बहुत से विशेष अधिकार उठा दिए गए और बड़ी ज़मींदारियों को ज़ब्त करके उन्हें टुकड़ों में बांट दिया गया। जागरण और दिमाग़ी और आर्थिक सरगर्मी और उद्योग का एक जोशीला ज़माना आया। सामंतवादी निशानियों से और विदेशी अधिकार से मुक्त होकर आज़ाद अमरीका ने तरक्क़ी के लंबे डग भरे।

फ्रांस में, बड़ी क्रांति ने, बैस्टील के क़ैदखाने को, जो कि पुरानी व्यवस्था का प्रतोक था, तोड़ डाला, और राजा और सामंतवाद को हटाकर दुनिया के सामने इंसानी हक़ों का ऐलान किया।

फिर इस वक़्त इंग्लिस्तान में क्या हुआ? अमरीका और फ्रांस की इन इन्क़लाबी तब्दीलियों से दहशत खाकर, इंग्लिस्तान और भी प्रतिक्रियावादी हो गया, और उसका भयानक और बर्बर ज़ाब्ता फ़ौजदारी और भी वहशियाना बन गया। जब १७६० में, तीसरा जार्ज गद्दी पर बैठा, तब १६० ऐसे जुर्म थे जिनके लिए मर्दों, औरतों और बच्चों को मौत की सज़ा मिल सकती थी। जब १८२० में, उसका राज्य-काल खतम हुआ, तब इस भयानक सूची में क़रीब सौ ऐसे जुर्म और जुड़ चुके थे, जिनके लिए मौत की सज़ा क़रार दी गई थी। ब्रिटिश फ़ौज के आम सिपाही के साथ ऐसा बरताव किया जाता था, जैसा कि जानवरों के साथ भी न होता हो, ऐसी बेदर्दी और बेरहमी बरती जाती थी कि रोंगटे खड़े होते हैं। मौत की सज़ाएं आम थीं, और उससे भी

---

[1] 'दि राइज़ अव् अमेरिकन सिविलाइज़ेशन' (१९२८), जिल्द १, पृ० २९२

ज्यादा आम था सरे-आम कोड़े लगाने का रिवाज । सैकड़ों कोड़े तक लगाए जाते थे यहां तक कि या तो मौतें हो जाती थीं, या ज्यों-त्यों बच गए तो सज़ा पाने वालों के कुचले हुए जिस्म भरने के दिन तक इस दंड की कहानी कहते रहते थे ।

इस मामले में, और बहुत-सी और बातों में जिनका कि इंसानियत और व्यक्ति की प्रतिष्ठा से संबंध है, हिंदुस्तान कहीं आगे था और उसकी तहज़ीब कहीं ऊँची थी । उस ज़माने में हिंदुस्तान में, इंग्लैंड या यूरोप के मुक़ाबले में ज्यादा साक्षरता थी, अगर्चे तालीम का ढर्रा पुराना था । शायद नागरिकों के लिए सुविधाएं भी ज्यादा थीं । यूरोप में आम जनता की दशा बहुत पिछड़ी हुई थी और हिंदुस्तान की जनता की हालत के मुक़ाबले में अच्छी न थी । लेकिन भारी फ़र्क यह था कि पच्छिमी यूरोप में नई ताकतें और जिंदा धाराएं साफ़ तौर पर काम कर रही थीं, और उनके साथ-साथ तब्दीलियां पैदा हो रही थीं; हिंदुस्तान में स्थिति कहीं ज्यादा स्थिर और रुकी हुई थी ।

इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया । १६०० में, जब रानी एलिज़बेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को परवाना दिया, उस वक़्त शेक्सपियर ज़िंदा था और उसका लिखना जारी था । १६११ में इंजील का मंजूर शुदा अंग्रेज़ी तर्जुमा निकला; १६०८ में मिल्टन का जन्म हुआ । उसके बाद हैंपडेन और क्रामवेल सामने आए और राजनीतिक क्रांति हुई । १६६० में, इंग्लिस्तान की रायल सोसाइटी क़ायम हुई, जिसने कि विज्ञान को तरक्क़ी देने में इतना हिस्सा लिया । सौ साल बाद, १७६० में, कपड़ा बुनने की तेज़ ढरकी की ईजाद हुई, उसके बाद जल्दी-जल्दी, एक-एक करके, कातने की कल, भाप के इंजन और मशीन के करघे निकले ।

इन दो इंग्लिस्तानों में से कौन-सा इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया ? शेक्सपियर और मिल्टन वाला; उदार बातों और लेखों और बहादुरी के कारनामों वाला; राजनीतिक क्रांति और आज़ादी के हक़ में लड़ाई करने वाला; विज्ञान और सनअती तरक्क़ी को आगे बढ़ाने वाला इंग्लिस्तान यहां आया, या वहशियाना ज़ाब्ता फ़ौजदारी वाला, बर्बर व्यवहार करने वाला, और सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी इंग्लिस्तान आया ? क्योंकि दो इंग्लिस्तान रहे हैं, जिस तरह कि हर एक मुल्क में जातीय चरित्र तहज़ीब के दो पहलू होते हैं । एडवर्ड टामसन ने लिखा है : "हमारी सभ्यता की सबसे ऊँची और आम सतहों के बीच इंग्लिस्तान में हमेशा एक बड़ा फ़र्क़ रहा है; मुझे बड़ा शक है कि इस तरह की चीज़ और भी किसी मुल्क में—जिससे हम अपना मुक़ाबला करना चाहेंगे—है या नहीं और यह फ़र्क़ इतनी धीमी रफ़्तार से घट रहा है,

अक्सर यह जान पड़ता है कि यह घट ही नहीं रहा है।"[1]

दोनों इंग्लिस्तान एक-दूसरे पर असर डालते हुए साथ-साथ चल रहे हैं और एक-दूसरे से जुदा नहीं किए जा सकते; न यही हो सकता था कि इनमें से एक दूसरे को बिलकुल भुलाकर, हिंदुस्तान में आवे। फिर भी हर एक बड़े अमल में एक ही आगे आता है, और दूसरे पर हावी रहता है, और यह लाज़िमी था कि हिंदुस्तान में यह ग़लत क़िस्म का इंग्लिस्तान अपना खेल खेले, और इस रविश म ग़लत क़िस्म के हिंदुस्तान से उसका संपर्क हो और इसे बढ़ावा मिले।

अमरीका के संयुक्त राष्ट्र की आज़ादी का, क़रीब-क़रीब वही ज़माना है जो कि हिंदुस्तान के आज़ादी खोने का है। पिछली डेढ़ सदियों पर नज़र डालते हुए, एक हिंदुस्तानी, किसी क़द्र लालच भरी और ख़्वाहिश भरी निगाहों से, उस बड़ी तरक्क़ी को देखता है, जो कि अमरीका ने इस ज़माने में कर ली है, और इसका मुक़ाबला उन बातों से करता है जो कि हिंदुस्तान में हुई हैं, या नहीं हो पाई हैं। बिला शक यह सही है कि अमरीकनों में बहुत से गुण हैं, और हम में बहुत-सी कमज़ोरियां हैं, और अमरीका में बिलकुल नया मैदान था और लिखने के लिए उनके पास एक साफ़ स्लेट थी, जब कि हम पुरानी यादों और परंपराओं से जकड़े हुए थे। शायद फिर भी यह बात कल्पना में न आने वाली नहीं है कि अगर ब्रिटेन ने (उसी के शब्दों में) हिंदुस्तान का यह भारी बोझ न संभाला होता और हम इतने लंबे अर्से तक ख़ुद-मुख़्तारी की मुश्किल कला, जिससे हम इतने ग़ैर-वाक़िफ़ थे, सिखाने की कोशिश न की होती, तो हिंदुस्तान न महज़ ज़्यादा आज़ाद और ख़ुशहाल होता बल्कि विज्ञान और कला में, और उन सभी बातों में जो ज़िंदगी को जीने के क़ाबिल बनाती हैं, कहीं ज़्यादा तरक्क़ी कर चुका होता।

---

१ 'मेकिंग अव् इंडियन प्रिंसेज़' (१४६३) पृ० २६४

: ७ :

आख़िरी पहलू (१)

ब्रिटिश राज्य का मज़बूत पड़ना और राष्ट्रीय-आंदोलन का आरंभ

१ : साम्राज्य की विचारधारा : नई जाति

एक अंग्रेज़ ने जो हिंदुस्तान से और उसके इतिहास से ख़ूब वाक़िफ़ है यह लिखा है, कि, "शायद और किसी चीज़ के मुक़ाबले, जो हमने की हो, हमारा हिंदुस्तान के इतिहास को लिखना ज्यादा खलता है!" हिंदुस्तान की ब्रिटिश हुकूमत के इतिहास में, हिंदुस्तान को सबसे ज्यादा बुरा क्या लगता है, यह कहना मुश्किल है; फ़ेहरिस्त लम्बी है और उसमें कई तरह की बातें हैं। लेकिन यह सच है कि, हिंदुस्तान के इतिहास का, और ख़ास तौर से ब्रिटिश युग का, अंग्रेज़ों द्वारा बयान बेहद बुरा लगता है। क़रीब-क़रीब हमेशा ही इतिहास विजेताओं द्वारा लिखा जाता है और उसमें उनका नज़रिया मिलता है, या कम से कम विजेता के बयान को प्रधानता दी जाती है और वही सबसे ऊपर माना जाता है। बहुत मुमकिन है कि हिंदुस्तान में आर्यों के बारे में, शुरू के जो बयान मिलते हैं, यानी पुराणों और परंपराओं में आर्यों की बड़ाई की गई हो और विजित जनता की जानिब बेइंसाफ़ी हुई हो। कोई शख़्स अपने आपको जातीय दृष्टिकोण या सांस्कृतिक पाबंदियों से बिलकुल बचा नहीं सकता, और जिस वक़्त जातियों या देशों के बीच झगड़ा होता है, उस वक़्त ग़ैर-तरफ़दारी की कोशिश को भी अपनी जनता के प्रति विश्वासघात समझा जाता है। इस झगड़े की, एक हद दर्जे की मिसाल है लड़ाई। उसमें जहां तक शत्रु राष्ट्र का सवाल है, सारी ग़ैर-जानिबेदारी और सारा न्याय उठाकर ताक में रख दिया जाता है। दिमाग़ अनुदार होता जाता है और सिवाय एक चीज़ के उसमें और हर एक चीज़ के लिए दरवाज़ा बंद हो जाता है। उस वक़्त की सबसे बड़ी ज़रूरत है अपने कामों को ठीक ठहराना और दुश्मन के कामों की निंदा करना और उसको काला करके सामने लाना। किसी बहुत ही गहरे कुए के तले में सच छिपा रहता है और झूठ को खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी से; अहमियत

दी जाती है।

उस वक़्त भी जब कि खुले तौर पर युद्ध चालू नहीं होता, मुख़ालिफ़ देशों और स्वार्थों में अक्सर छिपा हुआ युद्ध और संघर्ष चलता रहता है। और उस देश में जहां हुकूमत विदेशी हो यह संघर्ष तो जन्म-जात होता है, और बराबर चलता रहता है। जनता के दिमाग़ पर उसका असर होता है और उसके विचारों और काम-काज की धारा बदल जाती है। युद्ध की ज़ेहनियत कभी भी बिलकुल ग़ायब नहीं होती। पुराने वक़्तों में, जब युद्ध और उसके नतीजों को—यानी किसी भी जनता की हार, उसकी ग़ुलामी और उसके प्रति नृशंसता को—घटना-चक्र का एक स्वाभाविक-सी बात समझी जाती थी, तब उनको ढकने या किसी दूसरे दृष्टिकोण से उचित ठहराने की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं थी। ऊँचे मापदंड की तरक्क़ी के साथ चीज़ों को न्याय्य ठहराने की ज़रूरत पैदा हो गई है और इस की वजह से कभी-कभी तो जान-बूझकर लेकिन ज्यादातर अनजान में, चीज़ों को तोड़ा-मरोड़ा जाता है, इस तरह पाखंड नेकी को सराहता है और एक कोफ़्त पैदा करने वाले सदाचार का और बुरे कर्मों का मेल-जोल दिखता है।

किसी भी देश में और ख़ास तौर से हिंदुस्तान जैसे बड़े देश में, जहाँ का इतिहास जटिल है और जहां मिली-जुली संस्कृतियाँ है, यह हमेशा मुमकिन है कि ऐसे तथ्य और ऐसी प्रवृत्तियां निकल आवें जिनसे कोई एक निश्चित मत तर्कसंगत मालूम पड़े, और तब वहाँ नई दलील के लिए उसको बुनियाद मान लिया जाता है। अपनी समानताओं और निश्चित मापदण्ड के बाव-जूद भी अमरीका विरोधात्मक बातों का देश कहा जाता है। फिर हिंदुस्तान में ये विरोधात्मक बातें और विषमतायें कितनी ज्यादा भरी होंगी। किसी भी दूसरा जगह की तरह हमको वहाँ वह चीज़ मिल जायेगी जिसकी कि हमको तलाश है और तब इस पूर्व-निश्चित आधार पर हम सम्मतियों और धारणाओं की एक इमारत तैयारकर सकते हैं। लेकिन फिर भी उस इमारत की बुनियाद झूठी होगी और असलियत की सही तस्वीर सामने नहीं आयेगी।

मौजूदा ज़माने का हिंदुस्तान का इतिहास, यानी ब्रिटिश युग का इतिहास, आजकल की घटनाओं से इतना ज्यादा जुड़ा हुआ है, कि उसका मतलब लगाने में हमारे ऊपर आजकल की तरफ़दारियों और जज़्बों का एक ज़बर्दस्त असर होता है। इस बात की संभावना है कि अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी दोनों ही ग़लती करें, हालांकि यक़ीनी तौर पर उनकी ग़लतियां विरोधी दिशाओं में होंगी। उन कागज़ातों और उल्लेखों का ज्यादातर हिस्सा, जिससे इतिहास की शक्ल तैयार होती है, और वह लिखा जाता है, ब्रिटिश

ज़रियों से आता है और उसमें लाज़िमी तौर पर ब्रिटिश नज़रिया होता है। ठीक उन्हीं परिस्थितियों ने, जिनसे हार और फूट हुई, इस कहानी के हिंदुस्तानी पक्ष का उचित बयान होने से रोक दिया और जो कुछ भी काग़ज़ात थे, उनको १८५७ के महान् विद्रोह में नष्ट कर डाला गया। जो कुछ काग़ज़ात बच रहे वे घरों में छिपा दिये गए और इस डर से कि नुक़सान पहुँच सकता है वे प्रकाशित न हो सके। वे कागज़ात अलग-अलग बिखरे रहे; उनके बारे में किसी को ख़बर भी नहीं थी और उनमें से ज्यादातर, उन कीड़े-मकोड़ों के हमले की वजह से जिनकी देश में कोई कमी नहीं है, हस्तलिखित हालत में ही बरबाद हो गए। एक बाद के ज़माने में, जब इनमें से कुछ काग़ज़ात पाये गए, तो उन्होंने कितनी ही ऐतिहासिक घटनाओं पर एक नई रोशनी डाली। यहाँ तक कि अंग्रेज़ों के लिखे हिन्दुस्तानी इतिहास में भी कुछ रद्दो-बदल हुई और हिंदुस्तानी धारणाएं जो अक्सर ब्रिटिश धारणाओं से जुदा होती थीं, बनीं। इन धारणाओं के पीछे उन स्मृतियों और परंपराओं का समूह था जो बहुत गुज़रे ज़माने का नहीं था, बल्कि उस वक्त का था, जब कि हमारे दादे और परदादे उन घटनाओं के साक्षी और कभी-कभी शिकार थे। इतिहास के रूप में इस परंपरा की क़ीमत चाहे न हो, फिर भी उसका महत्त्व है, क्योंकि उससे आज के हिंदुस्तानी दिमाग़ की पृष्ठभूमि समझने में मदद मिलती है। हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों की निगाह में जो बदमाश था वह हिंदुस्तानियों के लिए अक्सर एक शूरवीर होता था, और वे लोग, जिनको अंग्रेज़ों ने खुश होकर इज्ज़त बख़्शी, ज्यादातर हिंदुस्तानियों की निगाह मे देशद्रोही रहे। और वह धब्बा उनके वारिसों पर लगा आता है।

अमरीका के इंक़लाब का हाल अंग्रेज़ों और अमरीकियों ने अलग-अलग ढंग से लिखा है, और आज भी जब कि पुराना आवेश ठंडा पड़ गया है, और जब कि दोनों राष्ट्रों में दोस्ती है, हर एक पक्ष का बयान दूसरे पक्ष को बुरा मालूम देता है। ख़ुद हमारे ही वक्त में, बहुत से मशहूर अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों के लिए, लेनिन एक राक्षस और लुटेरा था, फिर भी करोड़ों आदमियों ने उसको एक उद्धार करने वाला माना है। और उसको इस युग का सबसे बड़ा आदमी कहते हैं। इस मुक़ाबले से हमको हिंदुस्तानियों की नाराज़गी की हलकी-सी झलक मिल जायगी, जो उनको उस वक्त होती है जब कि उन्हें स्कूलों और कॉलेजों में उस इतिहास को पढ़ने के लिए मजबूर किया जाता है जो हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने की हर तरह से निंदा करता है, जो उन लोगों पर कलंक लगाता है जिनकी याद इन लोगों को प्रिय और सुखद है और जो हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के लाभों की बड़ाई करता है, और उनका आदर करता है।

एक बार अपने शिष्ट व्यंगपूर्ण ढंग से, गोपाल कृष्ण गोखले ने, विधाता की उस अगम्य बुद्धि की चर्चा की, जिसने हिंदुस्तान का अंग्रेज़ों से संपर्क रचा। चाहे यह उस अगम्य बुद्धि की वजह से हो, चाहे यह ऐतिहासिक भाग्य की किसी प्रक्रिया की वजह से हो, या सिर्फ एक संयोग हो, हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के आने की वजह से बिलकुल मुख्तलिफ़ जातियाँ एक-दूसरे के पास आ गई; या यों कहिये उन दोनों को पास आना चाहिए था, लेकिन जो कुछ हुआ वह यह था कि वे शायद ही एक दूसरे की तरफ़ बढ़ी हों और उनके आपसी सम्पर्क सीधे नहीं थे बल्कि घुमा-फिरा कर पैदा हुए थे। उन थोड़े से आदमियों पर जिन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ ली थी, अंग्रेज़ी साहित्य और अंग्रेज़ी राजनीतिक विचारों का असर हुआ। हालाँकि इन राजनीतिक विचारों का अपनी जगह जोर था, फिर भी उस वक़्त हिंदुस्तान में उनकी कोई असलियत नहीं थी। जो अंग्रेज़ हिंदुस्तान में आये वे राजनीतिक या सामाजिक क्रांतिकारी नहीं थे। वे लोग तो अनुदार और रूढ़िवादी थे और वे इंग्लैंड के सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी सामाजिक वर्ग की नुमाइंदगी करते थे। और कुछ मानों में तो इंग्लैंड ख़ुद, यूरोप के देशों में सबसे ज्यादा अनुदार था।

हिंदुस्तान पर पश्चिमी संस्कृति का आघात, एक गतिशील समाज और 'आधुनिक' चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो मध्यकालीन विचार-धारा से बँधा हुआ था और जो अपने ढंग से कितना ही तरक्क़ीयाफ़्ता या रंगा-चुना हो, अपनी जन्मजात ख़ामियों की वजह से तरक्क़ी नहीं कर सकता था। और फिर भी यह एक अजीब-सी बात है कि इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के नुमाइंदे हिंदुस्तान में अपने इस उद्देश्य से बिलकुल बेख़बर ही नहीं थे बल्कि एक वर्ग के रूप में उनमें ऐसी किसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व ही नहीं था। इंग्लैंड में इनके वर्ग ने ऐतिहासिक प्रक्रिया का विरोध किया किंतु विरोधी ताकतें बहुत ज़बर्दस्त थीं और उनको रोका नहीं जा सका। हिंदुस्तान में उनके लिए खुला मैदान था और वे उस तरक्क़ी और परिवर्त्तन पर रोक लगाने में कामयाब हुए जिसकी एक बड़े दायरे में वे नुमाइंदगी करते थे। हिंदुस्तान के सामाजिक प्रतिक्रियावादी समुदायों को उन्होंने बढ़ावा दिया, और उनकी स्थिति को मज़बूत किया, और उन सब लोगों का, जो राजनीतिक और सामाजिक रद्दो-बदल चाहते थे, विरोध किया। जो कुछ रद्दो-बदल हुई भी वह तो उनके बावजूद थी या वह उनकी दूसरी कार्रवाइयों के अचानक नतीजे की तरह थी। भाप के एंजिन और रेल की शुरुआत, मध्यकालीन ढांचे में रद्दो-बदल की तरफ़ एक बड़ा कदम था, लेकिन उसमें अंग्रेजों का इरादा अपने राज्य को सुदृढ़ करने का था वे और उससे विदेश के अंदरूनी हिस्सों को अपने फ़ायदे के लिए चूसने में सुविधा चाहते थे। हिंदुस्तान में ब्रिटिश अधिकारियों की नीति और उसके कुछ

अचानक नतीजों में एक विरोध है, और उससे उलझन पैदा होता है और खुद वह नीति ढँक जाती है। पश्चिम के इस आघात की वजह से हिंदुस्तान में रद्दो-बदल तो हुई, लेकिन वह हिंदुस्तान के अंग्रेज़ों के बावजूद हुई। वे लोग उस रद्दो-बदल की रफ़्तार को धीमा करने में कामयाब हुए, और इस हद तक कि आज भी वह रद्दो-बदल पूरी नहीं हो पाई है।

सामंतवादी ज़मींदार, और उनके भाई-बंद, जो इंग्लैंड से हिंदुस्तान में हुकूमत करने के लिए आये, दुनिया के ऊपर एक सामंतवादी नज़र रखते थे। उनके लिए हिंदुस्तान एक बहुत बड़ी जागीर थी जिसकी मालिक ईस्ट इंडिया कंपनी थी और ज़मींदार अपनी जागीर और अपने काश्तकारों का सबसे अच्छा और स्वाभाविक नुमाइंदा था। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदुस्तान की अपनी इस जागीर को ब्रिटिश बादशाह को सौंप दिया तो हिंदुस्तान के खर्चे पर उसे एक बहुत बड़ी रक़म हरजाने के तौर पर दी गई, लेकिन वह नज़रिया उसके बाद भी बराबर बना रहा। (और उस वक्त से हिंदुस्तान कर्ज़-दार बना। यह हिंदुस्तान के ख़रीद की क़ीमत थी, जो ख़ुद हिंदुस्तान ने दी ी) और तब हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार ज़मींदार (या ज़मींदार का कारिंदा) बन गई। हर अमली तौर पर वह सरकार अपने आपको हिंदुस्तान समझती, ठीक उसी तरह से जैसे ड्यूक ऑफ डेवनशायर को उसके साथी 'डेवनशायर' समझ सकते हैं। वे करोड़ों आदमी, जो हिंदुस्तान में रहते थे और काम करते थे, वे तो सिर्फ़ जमींदार के किसी-न-किसी ढंग के काश्तकार थे, जिनको अपना किराया या कर देना होता था, और जिनको स्वाभाविक सामंतवादी ढांचे में अपनी जगह रखनी होती थी। उस ढांचे को चुनौती देना, उनके लिए, विश्व के नैतिक आधार के खिलाफ़ एक गुनाह था। उसके माने थे दैवी विभा-जन से इंकार।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के बारे में ऐसी धारणा बुनियादी तौर पर बदली नहीं है, हालांकि अब उसको दूसरे ढंग से ज़ाहिर किया जाता है। वह पुराना तरीक़ा, जिसमें खुले तौर पर मनमाना कर वसूल किया जाता था, अब बदल गया है और उसकी जगह टेढ़े और होशियार तरीक़ों ने ले ली है। यह बात मानी गई कि ज़मींदारों को अपने किसानों का हितैषी होना चाहिए, और उनके हितों को लाभ पहुँचाने की कोशिश करनी चाहिए। यह बात भी मान ली गई कि ज्यादा सच्चे और नमकहलाल काश्तकार को तरक्क़ी देकर जागीर के दफ़्तर में जगह देनी चाहिए। लेकिन ज़मींदारी प्रथा के लिए कोई चुनौती बर्दाश्त नहीं की जा सकती थी। जागीर का काम पहले ही की तरह चालू रहना चाहिए, चाहे उसमें कुछ काम करने वाले लोग बदल जावें। जब घट-नाओं के दबाव ने किसी रद्दो-बदल को लाज़िमी बना दिया तो इस बात की

शर्त लगाई गई कि जागीर के दफ़्तर के सब नमकहलाल नौकरों की जगह बराबर बनी रहे, जमींदार के पुराने और नये दोस्तों, साथियों और अनुयायियों के लिए इंतजाम हो, पुराने नौकरों को पेंशनें बराबर मिलती रहें, और पुराना ज़मींदार खुद अब जागीर के कृपालु पोषक और सलाहकार की तरह काम करे और इस तरह बुनियादी रद्दो-बदल ला सकने वाली कोशिशों पर ही पानी फिर जाय।

हिंदुस्तान के हितों को अपने हितों से एक करके दिखाने की भावना, ऊँची हुकूमती नौकरियों में, जो कि पूरी तरह ब्रिटिश हाथों में थी, सबसे ज्यादा तेज़ थी। बाद के बरसों में ये नौकरियां उस गुथी हुई और सुसंगठित संस्था में परिणत हो गईं जिसे इंडियन सिविल सर्विस का नाम मिला है। एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में यह, "दुनिया की सबसे ज्यादा मज़बूत 'ट्रेड यूनियन' है।" वे हिंदुस्तान का संचालन करते थे, वे खुद हिंदुस्तान थे और कोई भी चीज़ जो उनके हितों को चोट पहुंचती थी, लाज़िमी तौर पर हिंदुस्तान के लिए घातक होनी चाहिए। इंडियन सिविल सर्विस के ज़रिये से और उस इतिहास से जो ब्रिटिश जनता के सामने रखा गया उसके अलग-अलग स्तरों में यही धारणा अलग-अलग हद तक फैल गई। हुकूमती वर्ग तो क़ुदरती तौर पर बिलकुल इसी तरह सोचता था, लेकिन मज़दूरों और किसानों पर भी कुछ हद तक इसका असर हुआ, और हालांकि अपने ही देश में उनकी एक नीची जगह थी, फिर भी उन्होंने हुकूमत और साम्राज्य का घमंड महसूस किया। वही मज़दूर और किसान जब हिंदुस्तान में आता तो वह यहां लाज़िमी तौर पर हुकूमती वर्ग का हो जाता। हिंदुस्तान के इतिहास और उसकी संस्कृति से वह बिलकुल अनजान होता और वह हिंदुस्तान के अंग्रेज़ों में प्रचलित विचार-धारा को ही मंजूर कर लेता क्योंकि जांचने या लागू करने के लिए उसके पास कोई दूसरा मापदड नहीं होता था। ज्यादा-से-ज्यादा उसमें एक धुंधली नेक-नीयती होती, लेकिन वह भी उस ढांचे के अंदर सख़्ती से जकड़ी हुई होती। सौ साल तक यह विचार-धारा ब्रिटिश जनता के हर हिस्से में पैठती रही और एक क़ौमी विरासत बन गई। वह तो एक निश्चित और अविचल धारणा थी जो हिंदुस्तान के सिलसिले में उनके दृष्टिकोण का संचालन करती, और उसने गुप्त रूप से उनके घरेलू नज़रिये पर भी असर डाला। खुद हमारे ही युग में वह विचित्र समुदाय, जिसके पास कोई निश्चित मापदंड या सिद्धांत नहीं है, और जिसको बाहरी दुनिया की ज्यादा जानकारी नहीं थी, यानी ब्रिटिश मज़दूर पार्टी के नेतागण, हिंदुस्तान की मौजूदा व्यवस्था के सब से ज्यादा कट्टर समर्थक रहे हैं। कभी-कभी उन्हें अपनी घरेलू और औपनिवेशिक नीति में, अपनी बातों और अपने व्यवहार में विरोध दिखाई देता और उनमें एक धुंधली

सी बेचैनी भर जाती। लेकिन चूंकि वे अपने को ख़ास तौर से सहज बुद्धि वाला व्यावहारिक आदमी समझते हैं, अपने अंतरतम की सारी उथल-पुथल को वे सख़्ती से दबा देते हैं। व्यावहारिक आदमियों को लाज़िमी तौर पर अपने आपको किसी परिचित या स्थापित परिपाटी की बुनियाद पर ही खड़ा करना चाहिए; किसी ऐसे सिद्धांत या नियम के लिए जिसकी जांच पड़ताल न हुई हो, उन्हें अंधेरे में छलांग न मारनी चाहिए।

वाइसरायों को, जो हिंदुस्तान में इंग्लैंड से सीधे ही आते हैं, इंडियन सिविल सर्विस के ढांचे से मेल बिठाना होता है, और उन्हीं पर निर्भर रहना पड़ता है। इंग्लैंड के अधिपति और शासक वर्ग का होने की वजह से उनको प्रचलित आई० सी० एस० दृष्टिकोण को अपनाने में कोई दिक़्क़त नहीं होती और निरंकुश सत्ता जिसकी कहीं और मिसाल नहीं मिलेगी उनके तरीक़ों और अभिव्यक्ति के ढंग मे बारीक रद्दो-बदल पैदा करती है। अधिकार आदमी को बिगाड़ देता है, लेकिन निरंकुश अधिकार तो बिलकुल ही बिगाड़ देता है, और आज की विस्तृत दुनिया में न तो किसी आदमी को इतनी बड़ी जनता पर ऐसा निरंकुश अधिकार मिला है और न मिलता है जैसा कि हिंदुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को। वाइसराय एक ऐसे ढंग से बातचीत करता है जिसको न तो इंग्लड के प्रधान मंत्री और न संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति ही अपना सकते हैं। अगर उसकी कोई दूसरी ममकिन मिसाल हो सकती है तो वह हिटलर की है। और यह बात सिर्फ़ वाइसराय में ही नहीं है बल्कि उसकी कौंसिल के अंग्रेज़ सदस्यों में, गवर्नरों में, यहां तक कि उन छुटभइयों में भी है जो मजिस्ट्रेट या महकमों के सेक्रेटरियों की हैसियत से काम भी करते हैं। वे एक ऐसी ऊँची चोटी से बातचीत करते हैं जहां पहुंचा नहीं जा सकता और उनको सिर्फ इस बात का ही पक्का यकीन नहीं होता कि जो कुछ वे कहते या करते हैं वह सही है, बल्कि इस बात का भी कि जो कुछ वह कहते या करते हैं, उसके बारे में छोटे-छोटे मर्त्यलोक के प्राणी, चाहे कुछ भी सोचें, उनको उसे सही मानना होगा क्योंकि ताकत और शान उन्हीं की है।

वाइसराय का कौंसिल के कुछ मेम्बरों की नियुक्ति सीधे इंग्लैंड से ही होती है और वे इंडियन सिविल सर्विस के मेंबर नहीं होते। आमतौर पर उनके तरीक़ों में और सिविल सर्विस वालों के तरीक़ों में एक फ़र्क होता है। उस ढांचे म वे काम तो काफ़ी आसानी से करते हैं, लेकिन उनमें पूरी तरह से सुरक्षित अधिकार की श्रेष्ठ और आत्म-संतोषी गंध नहीं होती। कौंसिल के हिंदुस्तानी मेंबरों में, (जो काफ़ी हाल में होते है), जो ज़ाहिरा बड़े लोग हैं, चाहे जितने या जैसे अक़्लमंद हों, यह बात और भी कम होती है। चाहे उनका ओहदा कितना ही बड़ा क्यों न हो, जो हिंदुस्तानी सिविल सर्विस में हैं, वे उस

विशेष दायरे में नहीं होते। उनमें से कुछ अपने साथियों की नक़ल करने की कोशिश करते हैं लेकिन कोई ज्यादा कामयाबी के साथ नहीं। उनमें एक ऐसा दिखावा आ जाता है कि वे उपहास्य हो जाते हैं।

मेरा ऐसा ख़्याल है कि इंडियन सिविल सर्विस के अंग्रेज़ मेंबरों की नई पीढ़ी, पिछले लोगों से, विचारों और सरिश्ते म कुछ दूसरे ढंग की है। पुराने ढांचे से वे आसानी से मेल नहीं बिठा पाते; लेकिन सारी ताक़त और नीति का दार-मदार पुराने बड़े मेंबरों पर होता है, इसलिए इन नए लोगों की वजह से कोई फ़र्क़ नहीं होता। उनको या तो स्थापित व्यवस्था को मंजूर करना होता है और या जैसा कि कभी-कभी हुआ भी है, उनको स्तीफ़ा देकर अपने घर वापस जाना होता है।

मुझे याद है कि जब मैं लड़का था, उन दिनों हिंदुस्तान के ब्रिटिश-संचालित अख़बार सरकारी ख़बरों—नौकरी, तबादला और तरक्क़ी की ख़बरों-से भरे रहते थे। उनमें यहां के अंग्रेज समुदाय के कार्य-क्रम का, पोलो, घुड़-दौड़, नाच और नाटकों का, ही जिक्र होता था। हिंदुस्तान की जनता के बारे में, उसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक जीवन के बारे में शायद ही कोई बात होती। उन अख़बारों के पढ़ने से तो इस बात का अंदाज़ भी नहीं होता था कि कहीं हिंदुस्तानियों का भी अस्तित्व है।

बंबई में चार पार्टियों में—हिंदू, मुस्लिम, पारसी और यूरोपियनों में—क्वाडरैंगुलर क्रिकेट मैच हुआ करते थे। यूरोपियन टीम को बंबई प्रेसीडेंसी के नाम से पुकारा जाता था; बाकी सब टीम हिंदू, मुस्लिम या पारसी थीं। इस तरह बंबई का प्रतिनिधित्व यूरोपियनों से होता था और ऐसा मालूम पड़ता कि और टीमें तो बाहरी हैं जिनको क्रिकेट मैच की ख़ातिर मान लिया गया है। ये क्वाडरैंगुलर मैच अब भी होते रहते हैं और उन पर काफ़ी बहस होती है और अब इस बात की मांग की जाती है कि क्रिकेट टीम का चुनाव धार्मिक बुनियाद पर नहीं होना चाहिए। मेरा ऐसा ख़्याल है कि बंबई 'प्रेसी-डेंसी टीम' को अब 'यूरोपियन टीम' कहा जाता है।

हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी क्लब आमतौर पर प्रादेशिक नामों से पुकारे जाते हैं—मसलन बंगाल क्लब, इलाहाबाद क्लब वग़ैरह। वे अंग्रेजों तक या यूरो-पियनों तक ही सीमित होते हैं। उनका प्रादेशिक नाम होने पर या इस बात पर कि इनमें एक ख़ास समुदाय ही होता है, और वे बाहर वालों को शामिल करना पसंद नहीं करते, कोई आपत्ति नहीं हो सकती। लेकिन इन नामों की बुनियाद उस ब्रिटिश ख़्याल पर है कि वे ही असली हिंदुस्तान हैं, वही असली बंगाल या असली इलाहाबाद हैं। और सब तो सिर्फ़ फ़ालतू लोग है, जो अपनी जगह पहचानें तो उनकी कुछ क़ीमत भी है, नहीं तो उनसे सिर्फ़ परेशानी ही

बढ़ती है। ग़ैर—यूरोपियनों का बहिष्कार एक जातीय कारण से ज्यादा होता है, बनस्बित इस वजह के कि वे लोग जिनकी संस्कृति एक-सी है अपनी फ़ुर्सत के वक़्त में मनोरंजन या सामाजिक मेल-जोल के मौक़े पर बाहरी लोगों का दखल नहीं चाहते। मुझे खुद इस बात में कोई आपत्ति नहीं कि विशुद्ध अंग्रेज़ी या यूरोपियन क्लब हों और शायद ही कोई हिंदुस्तानी उनम घुसना चाहे। लेकिन जब इस सामाजिक बहिष्कार की बुनियाद साफ़ तौर से जातीयता पर होती है, और जब कि शासक वर्ग अपनी श्रेष्ठता का दिखावा करता है तो इसका दूसरा पहलू हो जाता है। बम्बई में एक मशहूर क्लब है, जिसमें (सिवाय एक नौकर की हैसियत से) किसी भी हिंदुस्तानी को, चाहे वह किसी देशी रियासत का राजा ही क्यों न हो, या बड़ा उद्योगपति ही क्यों न हो, दर्शकों के कमरे तक में जाने पर प्रतिबंध था। जहां तक मुझे पता है उस क्लब में इस तरह का प्रतिबंध अब भी है।

हिंदुस्तान में भेद-भाव अंग्रेज़ बनाम हिंदुस्तानी के रूप में नहीं है। यह ऐसा है कि एक तरफ़ यूरोपियन हैं; और दूसरी तरफ़ एशियाई। हिंदुस्तान में हर एक यूरोपियन, चाहे वह जर्मन हो, पोल हो या रूमानियन, खुद-बखुद शासक जाति का मेम्बर बन जाता है। रेल के डिब्बों पर, स्टेशन पर ठहरने के कमरों पर, पार्कों में, बेंचों पर लिखा होता है, "सिर्फ़ यूरोपियनों के लिए"। दक्षिण अफ्रीका में या दूसरी जगहों में ही यह कोई कम बुरी चीज़ नहीं है लेकिन खुद अपने ही देश में यह चीज़ बहुत ज्यादा अपमानजनक है, और अपनी गुलामी की याद दिलाती है।

यह सच है कि जातीय श्रेष्ठता और शाही अहंकार के इस ऊपरी दिखावे में धीरे-धीरे तब्दीली होती जा रही है, लेकिन रफ़्तार बहुत धीमी है, और अक्सर ऐसी घटनाएं होती रहती हैं जिनसे पता लगता है कि यह तब्दीली सतही है। राजनीतिक दबाव और लड़ाकू राष्ट्रीयता के उत्थान से लाज़िमी तौर पर तब्दीली होती है और पुराने भेद-भावों और ज्यादतियों को इरादतन कम करने की कोशिश होती है; लेकिन फिर जब वह राजनीतिक आंदोलन एक विकट स्थिति में पहुंच जाता है और तब उसको कुचला जाता है, तो फिर वही पुराना साम्राज्यवादी और जातीय अक्खड़पन पूरा तौर पर भर पड़ता है।

अंग्रेज़ सजग और समझदार होते हैं, लेकिन जब वह दूसरे देशों में जाते हैं तो उनमें अपने चारों तरफ़ की जानकारी का एक विचित्र अभाव होता है। हिंदुस्तान में जहां शासक-शासित संबंध की वजह से, असला समझदारी मुश्किल होती है, इस जानकारी का अभाव खास तौर से दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि यह सब इरादतन है ताकि वह सिर्फ़ वही देखें जो कि वह

देखना चाहते हैं, और बाक़ी सबके लिए आखें बंद रखें। लेकिन निगाह बचाने से सचाई ग़ायब तो हो नहीं जाता और जब वह जबर्दस्ती ध्यान खींचती है, तो इस अप्रत्याशित घटना से इस तरह नाराज़गी और झुंझलाहट होती है मानो कोई चाल चली गई हो।

इस वर्ण-व्यवस्था के देश में, अंग्रेज़ों ने, ख़ास तौर से इंडियन सिविल सर्विस वालों ने एक जाति बनाई है जो बहुत सख़्त है और सबसे अलग-थलग रहने वाली है। यहां तक कि उस जाति में सिविल सर्विस के हिंदुस्तानी सदस्य भी असलियत में शामिल नहीं हैं हालांकि वे उसी का बिल्ला पहने रहते हैं और उसके नियमों का पालन करते हैं। उस जाति में अपनी निजी ज़बर्दस्त अहमियत के बारे में धार्मिक निष्ठा की-सी भावना बन गई है और उस निष्ठा के गिर्द अपना एक पुराण तयार हो गया है जो उसे बनाए रखता है। स्थापित स्वार्थों और निष्ठा का गठ-बंधन बहुत ताक़तवर होता है और अगर उसे कोई चुनौती दी जाय तो उससे बड़ी तीखी नफ़रत और नाराज़गी पैदा हो जाती है।

२ : बंगाल की लूट से इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति को मदद

सत्रहवीं सदी के शुरू में ईस्ट इंडिया कम्पनी को मुग़ल सम्राट से सूरत में एक फ़ैक्टरी चालू करने की इजाज़त मिल गई थी। कुछ साल बाद उन्होंने दक्खिन में कुछ ज़मीन ख़रीदी, और मद्रास की बुनियाद डाली। सन् १६६२ में पुर्तगाल की तरफ़ से दहेज़ की शक्ल में इंग्लैंड के चार्ल्स द्वितीय को बम्बई का टापू भेंट किया गया, और उसने उसे कम्पनी को दे दिया। सन् १६९० में कलकत्ते की बुनियाद पड़ी। इसी तरह सत्रहवीं सदी के आख़िर तक अंग्रेज़ों को हिंदुस्तान में पैर रखने की कई जगहें मिल गई थीं, और उन्होंने हिंदुस्तानी समुद्र-तट पर अपने कई अड्डे क़ायम कर लिए थे। वे अंदर की तरफ़ धीरे-धीरे बढ़े। सन् १७५७ में प्लासी की लड़ाई से पहली बार उनके कब्ज़े में एक बहुत बड़ा प्रदेश आया, और कुछ ही बरसों में बंगाल, बिहार, उड़ीसा, और पूर्वी तट उनके कब्ज़े में आ गया। दूसरा बड़ा क़दम, क़रीब चालीस साल बाद, उन्नीसवीं सदी के शुरू में उठाया गया। और इससे वे दिल्ली के दरवाज़े तक आ पहुंचे। तीसरा अगला बड़ा क़दम १८१८ में, मराठों की आख़िरी हार के बाद था; और सिख-युद्ध के बाद १८४९ में चौथे क़दम से तस्वीर ही पूरी हो गई।

इस तरह अंग्रेज मद्रास के शहर में २०० बरसों से हैं; बंगाल, बिहार वग़ैरह पर उनकी हुकूमत को १८७ बरस होगए; दक्खिन की तरफ़ उन्होंने अपना राज्य करीब १४५ बरस पहले बढ़ाया। संयुक्त प्रान्त, मध्य-हिंदुस्तान और पच्छिमी हिंदुस्तान में जमे हुए उन्हें करीब १२५ साल हुए;

और पंजाब म वे ९५ बरस पहले जमे। (यह हिसाब, जून १९४४ से जब कि यह किताब लिखी जा रही है, लगाया गया है) मद्रास का शहर एक बहुत छोटा-सा हिस्सा है और अगर उसे छोड़ दें तो बंगाल और पंजाब के कब्जे के बीच में सिर्फ १०० साल का फ़र्क है। इस दौरान में ब्रिटिश नीति और हुकूमती ढंग में बार-बार तब्दीलियां होती रहीं। ये रद्दो-बदल इंग्लैंड की नई तब्दीलियों और हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के सुसंगठन को, ख्याल में रखते हुए, हुई। हर नये जीते हुए हिस्से के साथ व्यवहार इन तब्दीलियों के मुताबिक अलग-अलग होता और साथ ही वह इस बात पर भी निर्भर होता कि जिस शासक समुदाय को अंग्रेजों ने हराया था वह किस ढंग का था। इस तरह बंगाल में, जहां जीत बहुत आसानी से हुई, मुस्लिम जमींदारों को शासक वर्ग समझा गया और ऐसी नीति अपनाई गई कि उनकी ताक़त टूट जाय। दूसरी तरफ पंजाब में ताक़त सिखों से छीनी गई थी और वहां अंग्रेज़ों और मुसलमानों में कोई बनियादी झगड़ा नहीं था। हिंदुस्तान के ज़्यादातर हिस्से म अंग्रेज़ों के विरोधी मराठे रहे थे।

एक ख़ास ध्यान देने की बात यह है कि हिंदुस्तान के वे हिस्से जो अंग्रेज़ों के कब्ज़े में सबसे ज़्यादा अर्से से रहे हैं आज सबसे ज़्यादा ग़रीब ह। असल में एक ऐसा नक़्शा तैयार किया जा सकता है जिससे ब्रिटिश राज्य-काल के माप और क्रमश: निर्धनता की वृद्धि का घनिष्ठ संबंध प्रकट हो। कुछ बड़े शहरों से या कुछ नए औद्योगिक प्रदेशों से इस जांच में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं आता। जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि कुल मिलाकर आम जनता की हालत क्या है, और इस बात में कोई शक नहीं है कि हिंदुस्तान के सबसे ज़्यादा ग़रीब हिस्से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से हैं। रहन-सहन का सबसे अच्छा मापदंड पंजाब में है। अंग्रेज़ों के आने से पहले बंगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रांत था। इन विषमताओं के कई कारण हो सकते हैं। लेकिन यह बात समझ पाना मुश्किल है कि बंगाल, जो इतना धनी और समृद्धिशाली था, ब्रिटिश शासन के १८७ वर्षों में, अंग्रेज़ों द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहां की जनता को ख़ुदमुख़्तारी की कला सिखाने की ज़बर्दस्त कोशिशों के बावजूद, आज ग़रीब, भूखे और मरते हुए लोगों का भयानक समूह है।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन का पहला पूरा तजुर्बा बंगाल को हुआ। उस राज्य की शुरुआत ख़ुल्लम-खुल्ला लूट-मार से हुई, और उसमें ज़्यादा-से-ज़्यादा ज़मीन का लगान सिर्फ़ ज़िंदा किसान से ही नहीं, बल्कि उसके मरने पर भी वसूल किया जाता था। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ इतिहासकार एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरट हमको बताते हैं कि, "अंग्रेज़ों के दिमाग में दौलत के लिए

इतना जबर्दस्त लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज़ और पिज़ारो के युग के स्पेन-वासियों के समय से लेकर आज तक उसकी मिसाल नहीं मिल सकती। ख़ास तौर से बंगाल में तो उस वक़्त तक शांति नहीं हो सकती थी जब तक कि वह चूसते-चूसते खोखला न रह जाय।" "इस के बाद कितने ही वर्षों तक अंग्रेजी व्यवहार की भयंकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव ख़ास तौर से ज़िम्मेदार था"[1]—वही क्लाइव, वही साम्राज्य-निर्माता, जिसकी मूर्ति लंदन में इंडिया आफिस के सामने खड़ी है। यह तो खुली हुई लूट थी। 'पैगोडा वृक्ष' को बार-बार हिलाया गया। यहां तक कि वह वक़्त आया कि बंगाल को अत्यंत भयंकर अकालों ने बरबाद कर दिया। बाद में इस ढर्रे को तिज़ारत बताया गया, लेकिन उससे क्या असर होता है। इस तिज़ारत को सरकार का नाम दिया गया, और तिजारत क्या थी खुली लूट थी। इस ढंग की मिसाल इतिहास में नहीं हैं। और यहां यह बात ध्यान में रखने की है यह चीज़ अलग-अलग नामों में और अलग-अलग शक्लों में कुछ वर्षों तक ही नहीं बल्कि कई पीढ़ियों तक चलती रही। खुली और सीधी लूट-मार की जगह कानूनी हुलिया में, शोषण ने ले ली, और हालांकि उसकी वजह से खुलापन कम हो गया लेकिन हालत बदतर हो गई। हिंदुस्तान में शुरू की पीढ़ियों में ब्रिटिश राज्य में जो हिंसा, धन-लोलुपता, पक्षपात और अनैतिकता थी, उसका अंदाज़ भी लगाना मुश्किल है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिंदुस्तानी लफ्ज, जो अंग्रेज़ी भाषा में शामिल हो गया है, 'लूट' है। एडवर्ड टामसन ने कहा है और यह बात सिर्फ़ बंगाल के हवाले में ही नहीं कही गई है "ब्रिटिश हिंदुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है, जो कि शायद दुनिया र म, राजनीतिक छल की सबसे बड़ी मिसाल है।"

इस सब का नतीजा, यहाँ तक कि शुरू के बरसों में ही इसका नतीजा यह हुआ कि १७७० का अकाल पड़ा जिसने बंगाल और बिहार की क़रीब एक तिहाई आबादी को ख़त्म कर दिया। लेकिन यह सब प्रगति के हक़ में हुआ था और बंगाल इस बात पर घमंड कर सकता है कि इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की, अमेरिकन लेखक ब्रुक ऐडम्स हमको बताता है—कि यह किस तरह हुआ, "हिंदुस्तानी दौलत के (इंगलैंड में) आने से और राष्ट्र की पूंजी में बहुत बड़ी बढ़वार हो जाने से, सिर्फ़ उसकी ताक़त का भंडार ही नहीं बढ़ा बल्कि उससे उसकी गति में लचीलेपन के साथ-साथ बहुत तेज़ी भी आई। प्लासी के बाद बहुत जल्दी ही बंगाल की लूट

---

१ एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरेट; 'राइज़ एंड फ़ुलफ़िलमेंट अव् ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (लंदन, १९३५)

लन्दन में पहुँचने लगी और तुरंत ही उसका असर हुआ मालूम देता है, क्योंकि सब प्रामाणिक लेखक इस बात से सहमत हैं कि औद्योगिक क्रान्ति सन् १७७० से शुरू हुई।.........प्लासी की लड़ाई १७५७ में हुई और उसके बाद जिस तेज़ी से तब्दीली हुई, उसकी बराबरी की शायद कहीं भी मिसाल नहीं है। सन् १७६० में 'फ्लाइङ्ग शटिल' का आविष्कार हुआ और लकड़ी की जगह कोयले का इस्तैमाल शुरू हुआ। सन् १७६४ में हार्ग्रीव्स ने 'स्पिनिङ्ग जैनी' का आविष्कार किया, सन् १७७६ में क्रॉम्पटन ने कातने की अपनी मशीन निकाली, सन् १७८५ में कार्टराइट ने शक्ति-संचालित करघा पेटेण्ट कराया और १७६८ में वाट ने अपना भाप एञ्जिन बनाकर पूरा किया।......हालाँकि इन मशीनों से उस समय के गतिशील आन्दोलनों को निकासी का रास्ता मिला, लेकिन वह गति और तीव्रता उनकी वजह से नहीं थी। आविष्कार ख़ुद तो गतिहीन होते हैं.........वे पर्याप्त शक्ति के उस भंडार के इकट्ठा होने की प्रतीक्षा करते हैं जो उन्हें चालू करे। उस भंडार की शक्ति हमेशा ही रुपये के रूप में होगी——तिजोरी में इकट्ठा रुपया नहीं बल्कि फेर में पड़ा हुआ रुपया। हिंदुस्तान के ख़जाने के आने और उसके बाद जो रुपये की लेन-देन फैली उसके पहले इस काम के लिए काफ़ी शक्ति नहीं थी।

शायद जब से दुनिया शुरू हुई है किसी भी पूंजी से कभी भी इतना मनाफ़ा नहीं हुआ जितना कि हिंदुस्तान की लूट से, क्योंकि, क़रीब-क़रीब पचास बरस तक ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी मुक़ाबला करने वाला नहीं था।"[1]

३ : हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की और उसकी खेती की बरबादी

शुरू के ज़माने में ईस्ट इंडिया कम्पनी का ख़ास काम, और वह उद्देश्य जिसके लिए उसकी स्थापना हुई थी, यह था कि हिंदुस्तान से तैयार माल, जैसे कपड़ा वग़ैरह और साथ ही मसालों, को पूर्व से यूरोप ले जाकर बेचा जाय, जहाँ कि इन चीज़ों की बहुत मांग थी। इंग्लैंड में, औद्योगिक प्रक्रिया में उन्नति के साथ ही, उद्योगपति पूँजीवादियों का एक नया वर्ग बना, और उसने इस नीति में रद्दो-बदल की माँग पेश की। उसकी वजह से हिन्दुस्तानी चीज़ों के लिए ब्रिटिश बाज़ार बन्द करना और ब्रिटिश माल के लिए हिंदुस्तानी बाज़ार खोलना था। इस नये वर्ग का ब्रिटिश पार्लमेण्ट पर असर हुआ और वह हिंदुस्तान में और ईस्ट इंडिया कम्पनी के कामकाज में ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगा। शुरू में क़ानून के ज़रिये ब्रिटेन में हिंदुस्तानी माल पर रोक लगा दी

---

१ ब्रुक ऐडेम्स : "दि लॉ आफ़ सिविलिज़ेशन एण्ड डिके" (१९२८) पृष्ठ २५९-६०। केट मिचेल द्वारा-"इंडिया" (१९४३) में उद्धत।

गई और चूंकि हिंदुस्तान के निर्यात-व्यापार में ईस्ट इंडिया कम्पनी का एका-धिपत्य था इसलिए इस रोक का असर विदेशी बाजारों पर भी पड़ा। इसके बाद इस बात की ज़बर्दस्त कोशिश हुई कि देश के अंदर ही ऐसे टैक्स वग़ैरह लगाये जायँ, कि हिंदुस्तानी माल कम जगह पहुँचे और महँगा पड़े और इस देश के अंदर ख़ुद हिंदुस्तानी माल का चलन रोका गया। दूसरी तरफ़ ब्रिटिश माल पर कोई रोक नहीं थी। हिंदुस्तानी कपड़े का कारबार नष्ट हो गया और जुलाहों व दूसरे लोगों की बहुत बड़ी तादाद पर इसका असर हुआ। बंगाल और बिहार में इसकी रफ़्तार तेज़ थी और दूसरी जगहों में जैसे-जैसे ब्रिटिश राज्य फैलता गया और रेलें बनती गईं, इसका धीरे-धीरे असर हुआ। पूरी उन्नीसवीं सदी में यह सिलसिला जारी रहा और साथ ही कई पुराने धंधे भी बरबाद हो गये। इनमें पानी के जहाज़ बनाने का धंधा था, शीशे का, काग़ज़ का, धातुओं के काम करने वालों का धंधा था और कई दूसरी तरह के कलाकारों का धंधा था।

कुछ हद तक यह लाज़िमी था, क्योंकि पुराने ढंग का नई औद्योगिक प्रक्रिया से संघर्ष हुआ। लेकिन राजनीतिक और आर्थिक दबाव से इसकी रफ़्तार तेज़ कर दी गई और नये तरीक़ों को हिंदुस्तान में काम में लाने की कोई कोशिश नहीं हुई। दर-अस्ल, कोशिश तो इस बात की हुई कि ऐसा होने न पावे और इस तरह हिंदुस्तान की आर्थिक तरक्क़ी को रोक दिया गया। हिंदुस्तान में मशीनें बाहर से मंगाई नहीं जा सकती थीं। एक ऐसी खाली जगह पैदा हो गई थी जिसको सिर्फ़ ब्रिटिश माल से भरा जा सकता था और इसकी वजह से बड़ी तेज़ी से बेकारी और ग़रीबी बढ़ी। आधुनिक औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था क़ायम हुई और हिंदुस्तान औद्योगिक इंग्लैंड का एक खेतिहर उपनिवेश बन गया जो कच्चा माल देता और इंग्लैंड के तैयार माल को अपने यहाँ खपाता।

कारीगर-पेशा लोगों के ख़त्म हो जाने की वजह से बहुत बड़े पैमाने पर बेकारी फैली। ये करोड़ों आदमी जो अब तक तरह-तरह के सामान तैयार करने के काम में और अलग-अलग धंधों में लगे हुए थे, अब क्या करते? वे कहाँ जाते? अब उनका पुराना पेशा खुला हुआ नहीं था और नये पेशे के लिए रास्ता रोका हुआ था। हाँ, वे मर सकते थे; असह्य हालत से बचने का यह रास्ता तो हमेशा खुला होता है। और वे लोग करोड़ों की तादाद में मरे भी। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिङ्क ने १८३४ में कहा, "व्यापार के इतिहास में तकलीफ़ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है। जुलाहों की हड्डियाँ हिंदुस्तान के मैदानों को सफ़ेद किये हुए हैं।"

फिर भी उनमें से बहुत बड़ी तादाद में लोग बच रहे, और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश नीति देश के अंदरूनी हिस्सों में फैलती गई और बेकारी पैदा हुई ऐसे

लोगों की तादाद बढ़ती गई। इन झुंड-के-झुंड कारीगरों के पास कोई काम नहीं था और उनकी सारी पुरानी कारीगरी बेकार थी। उन लोगों ने ज़मीन की तरफ़ निगाह उठाई, क्योंकि ज़मीन अब भी मौजूद थी। लेकिन ज़मीन पूरी तौर पर घिरी हुई थी, वह उनको फ़ायदे के साथ खपा नहीं सकती थी। इस तरह वे ज़मीन पर एक बोझ बन गए, और वह बोझ बढ़ता गया और उसके साथ ही देश की ग़रीबी बढ़ती गई और रहन-सहन का मापदंड बेहद गिर गया। हुनरदारों और कारीगरों के ज़मीन पर ज़बर्दस्ती वापिस आने के आंदोलन से कृषि और उद्योग-धंधों का संतुलन बिगड़ता गया। धीरे-धीरे लोगों के लिए खेती ही अकेला धंधा रह गया; क्योंकि और कोई ऐसा धंधा या काम नहीं था जिससे पैसा पैदा किया जा सके।

हिंदुस्तान में धीरे-धीरे देहात बढ़ता गया। हर प्रगतिशील देश म पिछली सदी में खेती से उद्योग-धंधों की तरफ़ और गांव से क़स्बे के लिए आबादी का तबादला हुआ है, लेकिन ब्रिटिश नीति की वजह से यहां उलटी ही बात थी। इस संबंध में आंकड़े ध्यान देने लायक हैं। उन्नीसवीं सदी के बाच में, यह बताया जाता है कि आबादी का ५१ फ़ीसदी खेती पर निर्भर था; हाल ही में इसके अनुपात का अंदाज़ है ७४ फ़ीसदी (यह अंदाज़ लड़ाई छिड़ने से पहले का है)। हालांकि लड़ाई के दौरान म औद्योगिक काम में बहुत लोग लगे हैं, फिर भी आबादी की बढ़वार की वजह से १६४१ की मर्दुम-शुमारी के मुताबिक़ खेती पर गुज़र करने वाले लोगों का अनुपात बढ़ गया है। कुछ बड़े-बड़े शहरों की बढ़ती से (जो कि खास तौर से छोटे क़स्बों की आबादी के तबादले से हुई है) एक सरसरी निगाह से देखने वाले को ग़लतफ़हमी हो सकती है और उससे उसे हिंदुस्तानी हालतों का ग़लत अंदाज़ होगा।

इस तरह हिंदुस्तानी जनता की भयंकर ग़रीबी की यह असली बुनियादी वजह है। और यह अपेक्षाकृत हाल के ही वक़्त की है। दूसरी वजहें, जिन से यह ग़रीबी बढ़ी है, वे ख़ुद—बीमारी और निरक्षरता—इस ग़रीबी का, अपर्याप्त भोजन आदि का, परिणाम हैं। बहुत ज्यादा आबादी होना एक दुर्भाग्य की बात है, और जहां कहीं ज़रूरी हो सकता हो इसको कम करने के उपाय काम में लाने चाहिएं, फिर भी यहां की आबादी के घनत्व का उद्योग-धंधों में बढ़े-चढ़े देशों की आबादी से मिलान किया जा सकता है। यह आबादी ज़रूरत से ज़्यादा सिर्फ़ उसी देश के लिए है जो खेती पर ज़रूरत से ज़्यादा निर्भर है, और एक उचित अर्थ-व्यवस्था में सारी आबादी उपयोगी काम में लग सकती है और उससे देश की सम्पत्ति बढ़ेगी। असलियत में घनी आबादी तो कुछ ख़ास हिस्सों में जैसे बंगाल में, और गंगा के मैदानों में ही है, और बहुत से विस्तृत प्रदेश अब भी छितरे हुए हैं। यहां यह बात याद रखने की है कि ग्रेट

ब्रिटेन हिंदुस्तान के मुक़ाबले में दूने से भी ज्यादा घना बसा हुआ है।

उद्योग-धंधों का संकट तेज़ी से खेती के काम में भी फैल गया और वह वहां पर एक स्थायी संकट हो गया। (बंटवारे की वजह से) खेत दिन-ब-दिन ज्यादा छोटे और इतने ज्यादा बिखरे हुए होने लगे कि अंदाज़ नहीं किया जा सकता। खेतिहरी कर्ज़ का बोझ बढ़ने लगा और ज़मीन अक्सर साहूकारों के कब्ज़े में पहुंच जाती। दसियों लाख की तादाद में बे-ज़मीन मज़दूर बढ़ गए। हिंदुस्तान एक औद्योगिक पूंजीवादी हुकूमत के मातहत था। लेकिन उसकी अर्थ-व्यवस्था उस युग की थी जिसमें पूंजीवाद शुरू नहीं हुआ था, फिर भी उस अर्थ-व्यवस्था में से कई एक ऐसी चीज़ें निकली हुई थीं, जिनसे पैसा पैदा किया जा सकता था। हिंदुस्तान आधुनिक औद्योगिक पूंजीवाद का बेबस एजेंट बन गया, जिसमें उसकी सारी बुराइयां तो थीं लेकिन फ़ायदा एक भी नहीं था।

जब उद्योग-धंधों से पहले की अर्थ-व्यवस्था बदलकर पूंजीवादी औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था आती है तो जन-साधारण को अपनी तकलीफ़ की शक्ल में एक बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ती है, और उसमें बहुत मुश्किलें होती हैं। शुरू में तो यह बात ख़ास तौर से थी, जब कि ऐसी रद्दो-बदल के लिए या उसके दुष्परिणामों को कम करने के लिए कोई योजना नहीं बनाई जाती थी, और हर एक चीज़ व्यक्तिगत सूझ और व्यक्तिगत प्रयत्न पर छोड़ दी जाती थी। इस रद्दो-बदल के दौरान में इंग्लैंड में भी यही मुश्किल थी, लेकिन कुल मिलाकर यह बहुत ज्यादा नहीं थी, क्योंकि रद्दो-बदल बड़ी तेज़ी से हुई और जो कुछ बेकारी हुई वह फ़ौरन ही नये कार-बार में खप गई। लेकिन इसके माने यह नहीं हैं कि इंसानी तकलीफ़ की शक्ल में उसकी क़ीमत अदा नहीं की गई। असलियत में उसका पूरा-पूरा भुगतान हुआ, लेकिन वह हुआ दूसरे लोगों के ज़रिए, ख़ास तौर से हिंदुस्तान की जनता के ज़रिए। उसकी शक्ल थी अकाल, मौत, बेकारी। यह कहा जा सकता है कि पच्छिमी यूरोप के औद्योगीकरण के सिलसिले में ज्यादातर क़ीमत हिंदुस्तान ने, चीन ने, और दूसरे उपनिवेशों ने दी, जिनकी अर्थ-व्यवस्था के संचालन पर यूरोपियन ताक़तों का असर था।

यह बात ज़ाहिर है कि औद्योगिक तरक्क़ी के लिए हिंदुस्तान में बराबर साधन रहे हैं। यहां संगठन-सामर्थ्य है, टेकनीकल योग्यता है, हुनरदार काम करने वाले हैं और हिंदुस्तान के लगातार शोषण के बाद भी कुछ पूंजी बच रही है। ब्रिटिश पार्लमेंट की जांच कमेटी के सामने सन् १८४० में गवाही देते हुए इतिहासकार मांटगुमरी मार्टिन ने कहा : "हिंदुस्तान की औद्योगिक सामर्थ्य उतनी ही है जितनी कि उसकी कृषि सामर्थ्य। और वह शख़्स जो उसे खेतिहर

देश की ही हैसियत में लाना चाहता है वह उसे सभ्यता के पैमाने में गिराना चाहता है।" और हिंदुस्तान में अंग्रेजों ने ठीक यही चीज़ करने की जी-जान से, बराबर कोशिश की और हिंदुस्तान में सौ पचास बरस की हुकूमत के बाद उनको कितनी कामयाबी मिली है इसका अंदाज़ हिंदुस्तान की मौजूदा हालत से हो सकता है। जब से हिंदुस्तान में आधुनिक उद्योग-धंधों को बढ़ाने की मांग हुई है (और मेरा ऐसा ख़्याल है कि यह मांग कम-से-कम १०० बरस पुरानी है), हम से यह कहा जाता है कि हिंदुस्तान तो ख़ास तौर से खेतिहर देश है और यह उसके (हिंदुस्तान के) ही हित में है कि वह खेती से चिपका रहे। औद्योगिक बढ़वार से संतुलन बिगड़ सकता है और उससे उसके ख़ास व्यवसाय--खेती को--नुकसान हो सकता है। ब्रिटिश उद्योगपतियों और अर्थ-शास्त्रियों ने हिंदुस्तान के किसान के लिए जो चिंता प्रकट की है वह तो सच-मुच कृतज्ञता की चीज़ है। इस बात को ध्यान में रखते हुए, साथ ही हिंदु-स्तान की ब्रिटिश सरकार ने जो उसके लिए बड़ा भारी फ़िक्र दिखाया है, उसको ध्यान में रखते हुए कोई भी व्यक्ति सिर्फ़ इस नतीजे पर पहुंचेगा कि किसी सर्व शक्तिमान् दुर्भाग्य ने, किसी मानवोपरि शक्ति ने उनके इरादों और उपायों को उलट दिया है और उस किसान को पृथ्वीतल के सबसे ज्यादा ग़रीब और सबसे ज़्यादा दुखी प्राणियों में से एक बना दिया है।

अब किसी भी शख़्स के लिए हिंदुस्तान की औद्योगिक तरक्क़ी को रोकना मुश्किल है, लेकिन अब भी जब कभी कोई विस्तृत और व्यापक योजना तैयार की जाती है तो हमारे ब्रिटिश दोस्त, जो हम पर अब भी अपनी सलाह की बौछार करते रहते हैं, इस बात की चेतावनी देते हैं कि खेती की अवहेलना न की जाय और उसको पहली जगह दी जाय। मानो काई भी हिंदुस्तानी जिसमें रत्ती भर भी अकल है खेती की अवहेलना कर सकता है, और किसान को भुला सकता है। हिंदुस्तानी किसान से ही हिंदुस्तान नहीं है तो और किससे है। उसकी ही तरक्क़ी और बेहतरी पर हिंदुस्तान की तरक्क़ी निर्भर होगी। लेकिन खेती संबंधी हमारा संकट, जो बहुत गंभीर है, असल में उद्योग के संकट, से जिससे कि वह पैदा हुआ, जुड़ा हुआ है। दोनों का विच्छेद नहीं हो सकता और न उनका अलग-अलग निबटारा किया जा सकता है। उनके बीच जो असंतुलन है उसको दूर करना ज़रूरी है।

आधुनिक उद्योग-धंधों में पनपने की, हिंदुस्तान की सामर्थ्य का अन्दाज़ उस कामयाबी से हो सकता है जो आगे बढ़ने का मौक़ा मिलने पर उसने दिखाई है। दर-असल यह कामयाबी, हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार और ब्रिटेन के स्थापित स्वार्थों के ज़बर्दस्त विरोध के बावजूद हुई है। उसको पहला असली मौक़ा १९१४-१८ की लड़ाई के दौरान में मिला जब कि ब्रिटिश माल

के आने में रुकावट हो गई। हिंदुस्तान ने उसका फ़ायदा उठाया तो, लेकिन ब्रिटिश वजह से वह फ़ायदा अपेक्षाकृत बहुत कम हद तक ही उठाया जा सका। तब से सरकार पर बराबर दबाव रहा है कि हिंदुस्तानी उद्योग-धंधों की तरक्क़ी के लिए सारी रुकावटों और उन स्थापित स्वार्थों को, जो रास्ता रोकते हैं, दूर करके सुविधा दी जाय। ज़ाहिरा तौर पर तो सरकार ने इसे अपना नीति के रूप में मंजूर कर लिया है लेकिन वैसे सरकार ने हर असली तरक्क़ी को और खास तौर से बुनियादी धंधों की तरक्क़ी को रोका है। खुद सन् १९३५ के विधान में यह बात ख़ास तौर से साफ़ कर दी गई थी कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश उद्योग के स्थापित स्वार्थों के सिलसिले में हिंदुस्तानी लेजिस्लेचर कोई दखल नहीं दे सकते थे। लड़ाई से पहले के सालों में बार-बार और बड़ी ज़ोरदार कोशिशें हुई कि बुनियादी और बड़े धंधे शुरू हो जायं लेकिन सबको सरकारी नीति ने मिटा दिया। लेकिन सरकारी रोक की सबसे ज्यादा आश्चर्य-जनक मिसालें लड़ाई के दौरान में, जब कि उत्पादन के लिए लड़ाई की ज़रूरत सबसे बड़ी थी, देखने को मिलीं। हिंदुस्तानी उद्योग के प्रति ब्रिटिश अरुचि को पार कर सकने के लिए ये अहम ज़रूरतें भी काफ़ी नहीं हुई। घट-नाओं के वेग में उस उद्योग की तरक्क़ी हुई है लेकिन दूसरे देशों के उद्योग की तरक्क़ी के मुकाबले में या उस तरक्क़ीके मुक़ाबले में कि जो यहाँ पर मुमकिन थी, यह तरक्क़ी नहीं के बराबर है।

हिंदुस्तानी उद्योग की तरक्क़ी का शुरू में खुला विरोध था और बाद में उसकी जगह छिपे विरोध ने ले ली, और वह भी उतना ही कारगर रहा है। यह सब ठीक उसी तरह था जैसे खुले नज़राने की जगह चुंगी, आबकारी और उत्पादन-कर ने ली और आर्थिक और मुद्रा नीति बनीं, जिनसे हिंदुस्तान के ख़र्च पर ब्रिटेन का लाभ होता था।

बहुत अर्से तक गुलामी में रहने से और आज़ादी के अभाव से कई बुराइयाँ होती हैं और शायद इनमें सबसे बड़ी आन्तरिक क्षेत्र में होती है। नैतिक अध.पतन होता है और जनता का उत्साह ख़त्म हो जाता है। चाहे यह स्पष्ट ही हो लेकिन इसको नापना मुश्किल है। किसी राष्ट्र के आर्थिक ह्रास के क्रम को देखना या उसको नापना ज्यादा आसान है। जब हम हिंदुस्तान में ब्रिटिश आर्थिक नाति को पीछे फिर कर देखते हैं तो यह मालूम होता है कि हिंदुस्तान की जनता की मौजूदा गरीबी, इस नीति का लाज़िमी नतीजा है। इस ग़रीबी के बारे में कोई रहस्य नहीं है; हम उसकी वजहें देख सकते हैं और उन तरीक़ों को भी देख सकते हैं जिनसे मौजूदा हालत आई है।

४ : हिंदुस्तान राजनीतिक और आर्थिक हैसियत से पहली बार एक दूसरे देश का पुछल्ला बनता है।

हिंदुस्तान के लिए यहां पर ब्रिटिश राज्य की स्थापना, एक बिलकुल नई चीज थी और उसका किसी दूसरे हमले से, या राजनीतिक और आर्थिक रद्दो-बदल से मिलान नहीं किया जा सकता था। "हिंदुस्तान पहले भी जीता जा चुका था लेकिन उन लोगों द्वारा जो उसकी सीमाओं के ही अंदर बस गये और जिन्होंने अपने आपको उसकी ज़िन्दगी में शामिल कर लिया। (ठीक उसी तरह जैसे नॉर्मन लोगों ने इंग्लैंड को और मंचू लोगों ने चीन को जीता)। उसने (हिंदुस्तान ने) अपनी आज़ादी कभी भी नहीं खोई थी और वह कभी भी गुलाम नहीं बना था। कहने का मतलब यह है कि वह कभी भी ऐसे आर्थिक या राजनीतिक ढाँचे में नहीं बंधा था जिसका संचालन-केंद्र उसकी सीमाओं के बाहर था और वह कभी भी किसी ऐसे शासक वर्ग के मातहत नहीं रहा था जो हर तरह से स्थायी रूप से विरोधी था।"[1] पहले सारे शासक वर्ग, चाहे वह देश से बाहर से आये हों या देश के अंदर के ही रहे हों, हिंदुस्तान के सामाजिक और आर्थिक जीवन की बनावट के ऐक्य को मंजूर करते और उन्होंने उस ढांचे से अपना मेल बिठाने की कोशिश की। उस शासक वर्ग में हिंदुस्तानियत आ जाती और उसकी जड़ें इस देश में ही गहरी जम जातीं। नये शासक बिलकुल दूसरे ढंग के थे जिनकी बुनियाद दूसरी जगह थी और उनमें और औसत हिंदुस्तानी में एक बड़ी खाई थी जिसका भरना कठिन था। उनकी परंपरा में, उनके दृष्टिकोण में, उनकी आमदनी में और उनके रहन-सहन के ढर्रों में फ़र्क़ था। हिंदुस्तान में आने वाले शुरू के अंग्रेज़ों ने इंग्लैंड से अलग होजाने पर हिंदुस्तान के रहने के बहुत से ढर्रे अपना लिये। लेकिन यह सिर्फ़ एक ऊपरी चीज़ थी और जब हिंदुस्तान और इंग्लैंड में आने-जाने की सुविधायें बढ़ गईं तो इसको भी इरादतन छोड़ दिया गया। यह महसूस किया गया कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासक वर्ग को हिंदुस्तानियों से बिलकुल अलग, एक अपनी ही ऊँची दुनिया में रहते हुए अपनी शान बनाये रखनी चाहिए। दो दुनिया थीं : एक अंग्रेज़ अफ़सरों की दुनिया और दूसरी हिंदुस्तान के करोड़ों आदमियों की दुनिया, और उन दोनों में सिवाय एक दूसरे की नफ़रत के और कोई एक-सी बात नहीं थी। पहले जातियाँ एक दूसरे में घुल गई थीं, या कम-से-कम ऐसे ढाँचे में बैठ गई थीं, जिसमें लोग एक-दूसरे पर भरोसा करते थे। अब भेद-भाव का बोल-बाला था और वह इस बात से और बढ़ गया कि अधिपति

---

१ के. एस. शेल्वंकर : "दि प्राबलम अव् इंडिया" (पेनग्विन स्पेशल, लंदन १९४०)

जाति के पास राजनीतिक और आर्थिक शक्ति थी और उसमें किसी तरह की रुकावट नहीं थी और न उस पर कोई प्रतिबंध था।

नया पूंजीवाद सारी दुनिया में जो बाज़ार तैयार कर रहा था उस से हर सूरत में हिंदुस्तान के आर्थिक ढांचे पर असर होता। ऐसे गांव, जहां कि बाहरी मदद की जरूरत न थी, और जहां परंपरा से धंधे आपस में बंटे हुए थे, अब अपनी पुरानी शक्ल में बच नहीं सकते थे। लेकिन जो तब्दीली हुई वह स्वाभाविक क्रम में नहीं थी और उसने हिंदुस्तानी समाज की सारी आर्थिक बुनियाद को तहस-नहस कर दिया। एक ऐसा ढांचा जिसके पीछे सामाजिक अनुमति और नियंत्रण था, और जो जनता की सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा था, अचानक ही अपने आप बदल दिया गया और एक दूसरा ढांचा, जिसका संचालन बाहर से होता था, लाद दिया गया। हिंदुस्तान दुनिया के बाज़ार में नहीं आया बल्कि वह ब्रिटिश ढांचे का एक नौ-आबादी और खेतिहरी की हैसियत रखने वाला पुछल्ला बन गया।

गावों का संगठन, जो अब तक हिंदुस्तानी अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद में रहा था छिन्न-भिन्न हो गया और उसके आर्थिक और व्यवस्था-संबंधी काम दोनों ही जाते रहे। सन् १८३० में सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने, जो हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों में सब से क़ाबिल लोगों मे थे, इन गांव के संगठनों के बारे में जो शब्द कहे हैं वह अक्सर दुहराए गए हैं, "ग्राम्य जातियां छोटे-छोटे प्रजातंत्रों की तरह हैं जिनके पास अपनी ज़रूरत की करीब-करीब सभी चीज़ें हैं। वे बाहरी रिश्तों से करीब-करीब आज़ाद हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनका स्थायित्व वहां भी है जहां और चीज़ों का नहीं है। इन ग्राम्य जातियों के, जिनमें हर एक जाति की एक अलग आज़ाद सत्ता है, इस संघ से, बहुत ऊँचे दर्जे का सुख और सुविधाएँ प्राप्य हैं और बहुत हद तक आज़ादी और स्वावलंबन का उपयोग होता है।"

गांवों के धंधों की बर्बादी से इन लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन बिगड़ गया, श्रम का परंपरा से चला आया विभाजन टूट गया और अलग-अलग काम वाले आदमियों की इस बहुत बड़ी तादाद को किसी समुदाय के काम म आसानी से नहीं लगाया जा सकता था। जमींदारी प्रथा के जारी करने से ज़मीन की मालिकी के बारे में एक बिलकुल नई धारणा बनी और उससे इन लोगों पर एक और ज़बर्दस्त चोट हुई। अब तक जो धारणा थी उस में ज़मीन पर तो इतना नहीं बल्कि ज़मीन की उपज पर ख़ास तौर से सामूहिक स्वामित्व था। शायद अंग्रेज़ गवर्नर इसको पूरी-पूरी तरह समझ नहीं पाए, लेकिन शायद कुछ अपनी वजहों से उन्होंने ख़ास तौर पर इरादतन अंग्रेज़ी व्यवस्था जारी की। वे ख़ुद भी तो अंग्रेज़ों के ज़मींदार-

वर्ग के प्रतिनिधि थे। शुरू में तो उन्होंने छोटे-छोटे अर्सों के लिए मालगुज़ार नियुक्त किए। यानी वे लोग जिन पर ज़मीन का लगान या मालगुज़ारी वसूल करने और उसको सरकार को अदा करने की ज़िम्मेदारी थी। बाद में यही लोग बढ़कर ज़मींदार हो गये। ज़मीन और उसकी उपज पर से गांव वालों का काबू हटा दिया गया। अब तक उस समूची जाति के लिए जो विशेष हित या विशेष स्वार्थ था, अब वह इस नये ज़मीन के मालिक की निजी सम्पत्ति होगई। इससे ग्राम्य जाति की मिली-जुली और सहयोगपूर्ण ज़िंदगी की व्यवस्था टूट गई और धीरे-धीरे सहयोगपूर्ण काम और सेवाओं का ढाँचा भी ग़ायब होने लगा।

ज़मीन को इस ढंग से जायदाद बना देने से सिर्फ़ एक बड़ा आर्थिक परिवर्तन ही नहीं हुआ बल्कि उसका असर ज़्यादा गहरा हुआ और उसने सहयोग-पूर्ण सामुदायिक सामाजिक ढांचे की सारी हिंदुस्तानी धारणा पर ही चोट की। ज़मीन के मालिकों का एक नया वर्ग सामने आया : एक ऐसा वर्ग जिसको ब्रिटिश सरकार ने खड़ा किया था और जो बहुत हद तक उस सरकार से मिला-जुला था। पुराने ढांचे के टूटने से नई समस्याएं पैदा हुई और शायद इस नई हिंदू-मुस्लिम समस्या की शुरुआत वहीं पर पाई जा सकती है। ज़मीं-दारी प्रथा पहले-पहल बंगाल और बिहार में जारी की गई, जहां उस ढांचे में जो स्थायी बंदोबस्त के नाम से मशहूर है, बड़े-बड़े ज़मींदार बनाये गए। बाद में यह महसूस किया गया कि यह व्यवस्था सरकार के लिए फ़ायदेमंद नहीं है; क्यों-कि मालगुज़ारी तै थी, और बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इसलिए हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में कुछ निश्चित समय के ही लिए नया बंदोबस्त किया गया। यहां समय-समय पर मालगुज़ारी बढ़ती रही। कुछ सूबों में किसानों को ही मालिक बनाया गया। मालगुज़ारी की वसूलयाबी में बेहद सख़्ती की वजह से सभी जगह और ख़ास तौर से बंगाल में यह नतीजा हुआ कि पुराने ज़मीन के मालिक बर्बाद हो गए, और उनकी जगह नए मालदार व्यापारियों ने ले ली। इस तरह बंगाल ख़ासतौर से हिंदू जमींदारों का सूबा हो गया और हालांकि उनके काश्तकार हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे, लेकिन उनमें ज़्यादातर मुसलमान ही थे।

अंग्रेज़ों ने अपने अंग्रेज़ी नमूने के बड़े-बड़े ज़मींदार बनाए और उसकी ख़ास वजह यह थी कि कुछ थोड़े से आदमियों से बरतना और निबटना कहीं ज़्यादा आसान था, बनिस्बत इसके कि काश्तकारों की एक बहुत बड़ी तादाद से सीधा व्यवहार किया जाय। मक़सद तो यह था कि लगान की शक्ल में, ज़्यादा-से ज़्यादा रुपया जल्दी-से-जल्दी वसूल किया जाय। अगर ज़मीन का मालिक ठीक समय में काम न कर पाता तो फौरन उसको निकाल दिया जाता और उसकी जगह दूसरे को दे दी जाती। साथ ही यह बात भी ज़रूरा समझी

गई कि एक ऐसा वर्ग भी पैदा कर दिया जाय जिसके स्वार्थ और अंग्रेज़ों के स्वार्थ एक हों। हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों के दिमाग़ में विद्रोह का डर भरा हुआ था, और उन्होंने अपने कागज़ात में इसका बार-बार ज़िक्र किया। गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने, १८२९ में, कहा था, "अगर व्यापक सार्वजनिक उपद्रव या क्रांति के खिलाफ़ सुरक्षा का अभाव था तो मैं यह कहूंगा कि हालांकि स्थायी बंदोबस्त कई ढंग से ख़राब रहा है, लेकिन उसमें कम-से-कम यह फ़ायदा ज़रूर है कि उसने मालदार ज़मींदारों का एक ऐसा बहुत बड़ा समुदाय यक़ीनी तौर पर पैदा कर दिया है जिसका ब्रिटिश राज्य के जारी रखने मे बहुत बड़ा स्वार्थ है और जिसका आम जनता पर पूरा क़ाबू है।"

इस तरह ब्रिटिश राज्य ने ऐसे वर्ग बनाए और स्थापित स्वार्थ क़ायम किए, जो उस राज्य से बंधे हुए थे और ऐसी रियायतें या विशेषाधिकार दिए जो उस राज्य के बने रहने पर ही निर्भर थे, और उनके ज़रिए उसने (ब्रिटिश राज्य ने) अपने आपको सुदृढ़ किया। ज़मींदार थे, राजा और नवाब लोग थे और साथ ही सरकार के विभिन्न महकमों में पटवारी और गांव के मुखिया से लेकर और बड़े-बड़े अहलकार और नौकर थे। सरकार के दो ख़ास महकमे थे, एक मालगुज़ारी का, दूसरा पुलिस का। इन दोनों महकमों के सिर पर हर जिले में कलक्टर या जिला मजिस्ट्रेट होता था, जो कि हुकूमत की धुरी था। अपने जिले में यह निरंकुश रूप से काम करता और उसके हाथों में पुलिस, न्याय, मालगुज़ारी और इंतज़ाम के सारे कामों की बागडोर होती। अगर उसके हलके से लगी हुई कोई छोटी-सी देशी रियासत होती तो वह उसके लिए ब्रिटिश एजेंट का काम देता।

इसके अलावा हिंदुस्तानी फ़ौज थी, जिसमें अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों सिपाही होते, लेकिन अक्सर सिर्फ़ अंग्रेज़ ही होते। इसका बराबर ख़ास तौर से १८५७ के विद्रोह के बाद पुनर्संगठन किया गया, और आख़िरकार यह ब्रिटिश फौज की एक संस्था बन गई। इसका इन्तज़ाम इस तरह किया गया कि उसके मुख़्तलिफ़ हिस्सों में एक सम-तौल बना रहे और बड़ी जगहें अंग्रेज़ों के पास रहें। "मुख्य बात तो यह है कि काफ़ी यूरोपीय फ़ौजों के जरिये स्थिति पर क़ाबू रहे, नहीं तो मुल्क के लोगों का एक-दूसरे के ख़िलाफ़ जोड़-तोड़ लगाया जाय।" यह बात १८५८ की फ़ौज के पुनर्संगठन के सिलसिले में सरकारी रिपोर्ट में कही गई है। इस फ़ौज का सबसे पहला काम वह था जो एक कब्ज़ा बनाये रखने वाली फ़ौज का होता है। इसको 'अंदरूनी सुरक्षा-फ़ौज' कहा जाता था और इसका ज्यादा हिस्सा ब्रिटिश था। सरहदी सूबे में, हिंदुस्तानी खर्चे पर, अंग्रेज़ी फ़ौजों को सीखने का मैदान क़ायम हुआ था। 'फ़ील्ड आर्मी', जिसमें ज्यादातर हिंदुस्तानी थे, विदेशों में लड़ने के लिए थी, और उसने कई ब्रिटिश

साम्राज्यवादी लड़ाइयों में, हिस्सा लिया और इसके खर्चे का बोझ हिंदुस्तान पर डाला गया। इस बात का भी इन्तज़ाम किया गया कि हिंदुस्तानी फ़ौज बाक़ी आबादी से अलग रहे।

इस तरह हिंदुस्तान को (अंग्रेजों द्वारा) अपने जीते जाने का, फिर ईस्ट इंडिया कंपनी से ब्रिटिश ताज के हाथों में पहुँचने का, ब्रिटिश साम्राज्य का बर्मा आदि दूसरी जगहों में फैलने का, अफ्रीका, फ़ारस आदि पर चढ़ाई का और खुद हिंदुस्तानियों से ही अपनी हिफाज़त का ख़र्च भुगतना पड़ा। साम्राज्यवादी अफ़सरों के लिए उसे सिर्फ़ फ़ौजों के अड्डे की तरह ही नहीं बरता गया। और उसके लिए उसे कुछ देना तो दूर रहा बल्कि इसके अलावा ब्रिटिश फ़ौज की इंग्लैंड में शिक्षा के लिए भी उसको ख़र्च देना होता था। इस रक़म को 'कैपिटेशन' शीर्षक में लिया जाता था। असलियत में ब्रिटेन के हर ढंग के कामों का, मसलन चीन और फ़ारस में कूटनीतिज्ञ या राजनीतिक प्रतिनिधियों के रखने का, ख़र्च हिंदुस्तान से इंग्लैंड तक की टेलीग्राफ़ लाइन का पूरा ख़र्च, भूमध्य सागर में जहाज़ी बेड़े को रखने के ख़र्च का एक हिस्सा और यहाँ तक कि लंदन में तुर्की के सुल्तान का स्वागत करने तक का ख़र्च हिंदुस्तान को ही देना होता था।

यक़ीनी तौर पर हिंदुस्तान में रेलों का बनाना बहुत ज़रूरी और अच्छा था; लेकिन उसमें बेहद फ़िज़ूलखर्ची की गई। हिंदुस्तानी सरकार ने उस सारी पूंजी पर, जो उसमें लगी, ५% ब्याज देने की गारण्टी कर दी और कितने ख़र्चे की वाजिब ढंग से ज़रूरत थी इसका अंदाज़ या इसकी जाँच करना भी ज़रूरी नहीं समझा। सारी ख़रीदारियाँ इंग्लैंड में हुई।

सरकारी सिविल ढाँचा भी फ़िज़ूलखर्ची से भरा हुआ था और उसमें ऊँची तनख्वाहों वाली जगहें यूरोपियनों के लिए सुरक्षित थीं। हुकूमती मशीन के हिंदुस्तानी बनाने की रफ़्तार बहुत धीमी थी, और वह भी सिर्फ़ बीसवीं सदी में ही नज़र आई। यह प्रक्रिया हिंदुस्तानी हाथों में ताकत लाने के बजाय ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने का एक और दूसरा तरीका साबित हुई। असली मार्के की जगहें ब्रिटिश हाथों में बनी रहीं और हुकूमत में हिंदुस्तानी ब्रिटिश राज्य के एजेण्टों की तरह ही काम कर सकते थे।

इन सब तरीकों के अलावा वह नीति थी जो ब्रिटिश राज्य के युग में बराबर जान-बूझ कर बरती गई, जिसमें हिंदुस्तानियों में फूट डाली गई और एक गिरोह को, दूसरे गिरोह पर चोट पहुँचाते हुए, बढावा दिया गया। ब्रिटिश राज्य के शुरू के ज़माने में इस नीति को खुले तौर पर मंजूर किया गया और अस्ल में एक साम्राज्यवादी ताकत के लिए यह नीति स्वाभाविक थी। राष्ट्रीय आंदोलन की तरक्क़ी के बाद उस नीति ने एक फ़ितरती और ज्यादा खतरनाक

शक्ल ले ली,और हालांकि उस नीति की मौजूदगी को माना नहीं गया, लेकिन उसका पहले से भी ज्यादा तेज़ी के साथ बरता गया।

हमारी आज की क़रीब-क़रीब सारी बड़ी समस्याएं मसलन राजा और नवाब; अल्पसंख्यक समस्या, विभिन्न देशी और विदेशी स्थापित स्वार्थ; उद्योग-धंधों का अभाव और खेती की अवहेलना; समाज-संबंधी नौकरियों का बेहद पिछड़ापन और जनता की भयंकर गरीबी, ब्रिटिश राज्य के दौरान में ही और ब्रिटिश नीति के परिणाम स्वरूप पैदा हुई हैं। शिक्षा की तरफ़ एक ख़ास ढंग का रुख़ रहा है। केये की 'लाइफ़ अव् मेटकाफ़' में यह कहा गया है कि, "ज्ञान के विस्तार का यह डर एक बड़ा रोग बन गया......जो सरकारी अधिकारियों को हर तरह की चिंता म डालकर बेहद परेशान करता और छापेख़ानों और बाइबिलों की बाबत सोचकर उनके रोंगटे खड़े हो जाते। उन दिनों हमारी यह नीति थी कि हिंदुस्तान के रहने वालों को ज्यादा-से-ज्यादा बर्बरता-पूर्ण हालत में और अंधेरे में रखा जाय, और उनमें किसी भी ढंग से ज्ञान का प्रकाश फैलाने की कोशिश का, चाहे वह हमारी तरफ़ से होती या और किसी तरफ़ से, ज़ोरदार विरोध किया जाता।"[1]

साम्राज्यवाद को इसी ढंग से काम करना होता है, नहीं तो वह साम्राज्यवाद नहीं रहता। आधुनिक ढंग के आर्थिक साम्राज्यवाद से नये ढंग का आर्थिक शोषण शुरू हुआ जो पहले युगों में प्रचलित नहीं था। उन्नीसवीं सदी में हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के इतिहास से एक हिंदुस्तानी को लाज़िमी तौर पर मायूसी और नाराज़गी होगी, फिर भी कितने ही क्षेत्रों में अंग्रेज़ों की श्रेष्ठता का, यहां तक कि हमारी कमज़ोरियों और फूट का भी फ़ायदा उठाने की उनकी सामर्थ्य का पता लगता है। वह जनता, जो कमज़ोर होती है और जो समय की चाल में पीछे रह जाती है, परेशानियों को न्यौता देती है, और अंत में वह खुद ही दोषी होती है। अगर उन परिस्थितियों में, घटनाओं के स्वाभाविक क्रम में, ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके नतीजों की आशा की जा सकती थी तो साथ ही उसका विरोध भी लाज़िमी था, और उन दोनों में अन्तिम संघर्ष भी लाज़िमी था।

५ : हिंदुस्तानी रियासतें

आज हिंदुस्तान में हमारी एक बहुत बड़ी समस्या रजवाड़ों या देशी रियासतों की है। ये रियासतें दुनिया भर में अपने ढंग की अनोखी हैं और उनमें आपस में राजनीतिक और सामाजिक हालतों में, और लम्बाई-चौड़ाई में, बहुत बड़ा फ़र्क़ है। गिनती में वे ६०१ हैं। इनमें से क़रीब पंद्रह काफ़ी बड़ी

---

१ एडवर्ड टामसन द्वारा उद्धरित।

समझी जा सकती हैं, और इनमें सबसे बड़ी रियासतें हैं, हैदराबाद, काश्मीर, मैसूर, त्रावणकोर, बड़ौदा, ग्वालियर, इंदौर, कोचीन, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, भोपाल और पटियाला। तब कुछ मंझोली रियासतें हैं, और फिर कई सौ छोटी-छोटी रियासतें हैं, जिनके रक़बे बहुत कम हैं। यहां तक कि उनमें से कुछ तो नक्शे में सुई की नोंक से भी ज्यादा बड़ी नहीं है। ये छोटी रियासतें ज़्यादातर काठियावाड़, पच्छिमी हिंदुस्तान, और पंजाब में है।

इनमें से कुछ रियासतें इतनी बड़ी हैं जितना कि फ्रांस है और कुछ एक औसत किसान के खेत के ही बराबर हैं। लेकिन उनमें इसके अलावा और भी कितने ही ढंग के फ़र्क़ हैं। उद्योग-धंधों के लिहाज़ से मैसूर सबसे ज़्यादा उन्नत है; शिक्षा के लिहाज़ से मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन ब्रिटिश भारत से बहुत आगे हैं।[1] वैसे ज़्यादातर रियासतें बहुत ज़्यादा पिछड़ी हुई हैं और कुछ तो बिलकुल सामंतवादी है। वे सभी निरंकुश हैं हालांकि उनमें से कुछ ने आम लोगों के ज़रिए चुना हुई कौंसिलें क़ायम कर दी है जिनके अधिकार बहुत ज़्यादा सीमित हैं। हैदराबाद में, जो कि सबसे बड़ी रियासत है, एक अजीब ढंग की सामंतवादी हुकूमत है और वहां पर नागरिक स्वतंत्रता तो नहीं के बराबर है। यही दशा राजपूताना और पंजाब की ज़्यादातर रियासतों की है। नागरिक स्वतंत्रता का अभाव तो सभी रियासतों में दिखाई देता है।

ये रियासतें इकट्ठी नहीं हैं; वे सारे हिंदुस्तान में फैली हुई हैं, और टापुओं की तरह हैं; और ग़ैर रियासती हिस्सों से घिरी हुई हैं। उनकी बहुत बड़ी तादाद तो एक अर्धस्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था को भी क़ायम रखने में असमर्थ है; यहां तक कि उनमें से सबसे बड़ी रियासतें भी अपनी स्थिति की वजह से, अपने पड़ौसी हिस्सों के पूरे-पूरे सहयोग के बिना अपनी अर्थ-व्यवस्था नहीं चला सकतीं। अगर रियासती और ग़ैर-रियासती हिंदुस्तान में आर्थिक-संघर्ष हो तो रियासतों को आर्थिक प्रतिबंधों और टैक्स वग़ैरह के ज़रिए झुकाया जा सकता है। यह बात बिलकुल साफ़ है कि राजनीतिक और आर्थिक दोनों

---

१ सार्वजनिक शिक्षा के लिहाज़ से त्रावणकोर, कोचीन, मैसूर और बड़ौदा ब्रिटिश भारत से बहुत आगे हैं। यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि त्रावणकोर में सार्वजनिक-शिक्षा का संगठन सन् १८०१ से शुरू हुआ (इंग्लैंड में यह सन् १८७० से शुरू हुआ)। इस वक़्त त्रावणकोर में पुरुषों की साक्षरता ५८ प्रतिशत है और स्त्रियों की साक्षरता ४१ प्रतिशत है। ब्रिटिश भारत की साक्षरता से यह चौगुनी से भी ज्यादा है। त्रावणकोर में सार्वजनिक स्वास्थ्य का भी संगठन ज्यादा अच्छा है। त्रावणकोर में सार्वजनिक सेवाओं और कार्रवाइयों में स्त्रियां एक अहम हिस्सा लेती हैं।

ही दृष्टि से ये रियासतें, यहां तक कि उनमें से सबसे बड़ी रियासतें भी, अलग नहीं की जा सकतीं, और उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता। इस तरह उनकी गाड़ी चल नहीं सकती, और साथ ही इसकी वजह से बाक़ी हिंदुस्तान को भी बहुत बड़ा नुकसान होगा। सारे हिंदुस्तान में वे विरोधी प्रदेश हो जायेंगे और अगर उन्होंने हिफ़ाजत के लिए विदेशी ताकत का सहारा लिया तो यह बात ख़ुद आज़ाद हिंदुस्तान के लिए ख़तरनाक होगी। असलियत में अगर सारा ही हिंदुस्तान, जिसमें रियासतें भी शामिल हैं, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक ही ऐसी सत्ता के अधीन न होता जो कि उनकी रक्षा करती है, तो ये रियासतें तो आज ज़िंदा भी न होतीं। उस मुमकिन संघर्ष के अलावा, जो रियासती और ग़ैर-रियासती हिंदुस्तान में होता रहता, यह बात याद रखने की है कि रियासत के निरंकुश शासक पर, उसकी ही प्रजा द्वारा, जो स्वतंत्र संस्थाओं की मांग करती, दबाव पड़ता। इस आज़ादी के हासिल करने की कोशिशें ब्रिटिश ताक़त की मदद से दबा दी गई है, या रोक रखी गई हैं।

अपनी बनावट की वजह से ख़ुद उन्नीसवीं सदी में ही ये रियासतें उन परिस्थितियों में बेमेल हो गई। आज की हालतों में हिंदुस्तान को बीसियों पृथक् और स्वतंत्र इकाइयों में बांटने की योजना भी नामुमकिन है। इससे सिर्फ़ सदा-सदा का संघर्ष ही नहीं पैदा होगा, बल्कि सारी योजना-बद्ध आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति भी नामुमकिन हो जावेगी। यहां हमको यह बात याद रखनी चाहिए कि जब ये रियासतें बनीं, और जब इन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी से संधियां कीं, तो उस वक्त उन्नीसवीं सदी के शुरुआत में यूरोप बहुत से छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। तब से कई लड़ाइयों और कई क्रांतियों ने यूरोप की शक्ति ही बदल दी है, और आज भी इसकी शक्ल बदल रही है, लेकिन बाहरी दबाव से हिंदुस्तान की शक्ल तो पत्थर की तरह जड़ हो गई थी, और उसको बदलने नहीं दिया गया। यह बात बिलकुल वाहियात मालूम होती है कि हम १४० बरस पहले की किसी संधि को उठा लें, जो आमतौर पर लड़ाई के मैदान में या उसके फ़ौरन बाद दो प्रतिद्वंद्वी सेनापतियों में तै हुई, और यह कहें कि यह अस्थायी समझौता तो हमेशा चलेगा। उस सुलहनामे में रियासती जनता को कुछ कहने का मौक़ा नहीं मिला था, और उस वक़्त एक तरफ़ एक ऐसी व्यापारी संस्था थी जिसका सिर्फ़ अपने स्वार्थों से या अपने मुनाफ़े से ही ताल्लुक़ था। इस व्यापारिक संस्था ने ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट के एजेंट की तरह काम नहीं किया, बल्कि सिद्धांत रूप में उसने उस दिल्ली-सम्राट् के एजेंट की तरह काम किया जो कि शक्ति और अधिकार का स्रोत समझा जाता था, हालांकि वैसे ख़ुद वह बिलकुल अशक्त था। ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट का इन सुलहनामों से कोई भी ताल्लुक़ नहीं था। समय-समय पर जब ईस्ट

इंडिया कंपनी की सनद फिर से चालू की जाती, सिर्फ़ उसी वक़्त पार्लमेंट हिंदुस्तानी मामलों पर सोच-विचार करती थी। इस बात से कि ईस्ट इंडिया कंपनी हिंदुस्तान में उस अधिकार के बल-बूते पर काम कर रही थी जो कि मुग़ल सम्राट् ने 'दीवानी' के रूप में दिया था, वह ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट के सीधे हस्तक्षेप से मुक्त थी। हां, एक दूसरे ढंग से अगर पार्लमेंट चाहती तो चार्टर को रद्द कर सकती थी, या उसे फिर से जारी करते वक़्त नई शर्तें लगा सकती थी। यह ख़्याल कि इंग्लैंड का बादशाह, या पार्लमेंट उसूली तौर पर नाम-मात्र के दिल्ली के सम्राट् के एजेंट या मातहत की तरह काम करें, इंग्लैंड में पसंद नहीं किया गया, और इसलिए वह बराबर ईस्ट इंडिया कंपनी के कामों से अलहदा रहा। हिंदुस्तानी लड़ाइयों में जो रुपया ख़र्च हुआ वह हिंदुस्तानी रुपया था, और उसको ईस्ट इंडिया कंपनी ने ही वसूल किया और उसी ने उसको ख़र्च किया।

बाद में जब ईस्ट इंडिया कंपनी के क़ब्ज़े में आये हुए प्रदेश का क्षेत्रफल बढ़ गया और उसका राज्य सुदृढ़ हो गया तो ब्रिटिश पार्लमेंट ने हिंदुस्तानी मामलों में ज्यादा दिलचस्पी लेना शुरू किया। सन् १८५८ म हिंदुस्तानी ग़दर और विद्रोह के धक्के के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदुस्तान का राज्य (हिंदुस्तान के ख़र्चे पर, एवज़ में रुपया पाकर) ब्रिटिश ताज को सौंप दिया। उस तबादले में हिंदुस्तानी रियासतों और बाक़ी हिंदुस्तान को अलग-अलग नहीं माना गया। सारे हिंदुस्तान को एक इकाई की तरह बरता गया और हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तानी सरकार के ज़रिए काम करती, जिसका प्रभुत्व रियासतों के ऊपर भी था। ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट से इनका कोई अलग रिश्ता नहीं था। वे तो हर तरह से उस सरकारी ढांचे के हिस्से थे, जिसकी नुमाइंदगी हिंदुस्तानी सरकार करती थी। बाद के बरसों में इस सरकार ने जब कभी उसकी बदलती हुई नीति के लिए ऐसा मुनासिब मालूम हुआ, इन सुलहनामों की अवहेलना की और रियासतों के ऊपर अपना आधिपत्य जमा लिया।

इस तरह जहां तक देशी रियासतों का सवाल है, ब्रिटिश ताज तो उस तस्वीर में मौजूद ही नहीं था। यह तो सिर्फ़ हाल के ही बरसों की बात है कि रियासतों की तरफ़ से किसी ढंग की आज़ादी का हक़ जताया गया है, और यह कहा गया है कि हिंदुस्तान सरकार के अलावा उनका ब्रिटिश ताज से विशेष संबंध है। यहां एक ध्यान देने की बात यह है कि ये सुलहनामे तो सिर्फ़ कुछ रियासतों के साथ हैं; सिर्फ़ चालीस रियासतें ही संधियों से ताल्लुक़ रखती हैं। और बाक़ियों को तो सनदें मिली हुई हैं। हिंदुस्तानी रियासतों का आबादी का तीन-चौथाई इन चालीस रियासतों में है और उनमें से छै में इस आबादी

का हिस्सा एक तिहाई से भी ज्यादा है।[1]

सन् १९३५ के गवर्नमेंट अव् इंडिया एक्ट में पहली बार ब्रिटिश पार्लामेंट का रियासतों और बाकी हिंदुस्तान के साथ संबंध में कुछ भेद-भाव किया गया। रियासतों को हिंदुस्तान सरकार के निरीक्षण और नियंत्रण से हटाकर वाइसराय के मातहत कर दिया गया और उसको इस सिलसिले में राजा का प्रतिनिधि (क्राउन रेप्रेंजेंटेटिव) कहा गया। साथ ही वाइसराय हिंदुस्तानी सरकार का अध्यक्ष भी था। हिंदुस्तान सरकार का राजनीतिक विभाग, जिस पर रियासतों की जिम्मेदारी थी, अब वाइसराय की एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के नीचे से हटकर सिर्फ़ वाइसराय के ही मातहत कर दिया गया।

इन रियासतों की सत्ता कैसे शुरू हुई? कुछ तो बिलकुल नई हैं, जिनको अंग्रेज़ों ने ही बनाया है; और कुछ मुग़ल सम्राट् की बनाई हुई हैं, और अंग्रेज़ों ने उनको सामंतवादी शासक के रूप में बने रहने दिया; लेकिन कुछ को ख़ास तौर से मराठा सरदारों को, अंग्रेज़ी फ़ौजों ने हराया और फिर उनको सामंत पद दिया। क़रीब-क़रीब इन सभी का पता ब्रिटिश राज्य के, आदिकाल में मिल सकता है; उनका इतिहास इससे ज्यादा पुराना नहीं है। अगर कुछ वक़्त के लिए उनकी स्वतंत्र सत्ता रही भी, तो वह आज़ादी सिर्फ़ थोड़े से ही अर्से के लिए रही और वह आज़ादी लड़ाई से या लड़ाई की धमकी से ख़त्म हो गई। इनमें से कुछ रियासतें—और ये रियासतें ख़ास तौर से राजपूताने में हैं—मुग़लों के वक़्त से पहले की हैं। त्रावणकोर का एक बहुत पुराना, क़रीब १००० बरस का इतिहास है। कुछ राजपूत वंश ऐतिहासिक काल से भी पहले के बताए जाते हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्यवंशी हैं और उनका वंश-वृक्ष उसी तरह है जैसे जापान के मिकाडो का। लेकिन यह राजपूत सरदार मुग़ल-सामंत बन गए, बाद में मराठों के मातहत हुए और आख़िर में अंग्रेज़ों के मातहत हो गए। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधियों ने "अब राजाओं को अपनी ठीक जगह पर ला दिया, और उस अव्यवस्था से, जिसमें वह डूबे हुए थे, उनको ऊपर उठा दिया। जब उनको इस तरह उठाकर फिर से स्थापित किया तो ये राजे इतने असहाय और बेबस थे जितनी कि दुनिया के शुरू वक़्त से आज तक कोई भी ताक़त रही हो। अगर ब्रिटिश सरकार ने दख़ल न दिया होता तो राजपूत रियासतें ग़ायब हो गई होतीं और मराठा रियासतें

---

[1] यह छै रियासतें हैं: हैदराबाद (१ करोड़ बीस लाख और १ करोड़, ३० लाख के बीच में) मैसूर (७५ लाख), त्रावणकोर (६२½ लाख), बड़ौदा (४० लाख), काश्मीर (३० लाख), ग्वालियर (३० लाख), कुल मिलाकर ३ करोड़ ६० लाख। सब हिंदुस्तानी रियासतों की आबादी ९ करोड़ है।

टूट-फूट गई होतीं। जहां तक अवध या निज़ाम के राज्यों का सवाल है उनका तो कोई अस्तित्व ही नहीं था। वे तो जिंदा सिर्फ़ इसी वजह से मालूम देती थीं, कि उनकी रक्षक शक्ति उनमें सांस फूंकती जाती थी।[1]

आज की प्रमुख रियासत हैदराबाद शुरू में छोटी-सी थी। उसकी सीमायें टीपू सुल्तान की हार के बाद और मराठा युद्ध के बाद बढ़ाई गईं। यह बढ़ती अंग्रेज़ों की वजह से हुई और इस खुली शर्त पर कि निज़ाम उनकी मातहती में काम करेगा। असलियत में टीपू की हार के बाद उसके राज्य का हिस्सा पहले मराठा नेता पेशवा को नज़र किया गया था, लेकिन उसने इन शर्तों पर लेने से इंकार कर दिया।

दूसरी सबसे बड़ी रियासत, काश्मीर को सिख-युद्ध के बाद, ईस्ट इंडिया कंपनी ने, मौजूदा महाराजा के परदादे को बेच दिया था। बाद में हुकूमत में बद-इंतज़ामी को बहाना लेकर, उसको ब्रिटिश नियंत्रण में ले लिया गया। बाद में महाराजा के अधिकार उसको वापिस लौटा दिए गए। मैसूर की मौजूदा रियासत को टीपू के साथ लड़ाइयों के बाद, अंग्रेज़ों ने बनाया। बहुत अर्से तक वह खुद ब्रिटिश हुकूमत में ही रही।

अगर हिंदुस्तान में सचमुच ही कोई आज़ाद राज्य है तो वह है नैपाल; जो कि उत्तरी-पूर्वी सीमा पर है, और उसकी स्थिति अफ़गानिस्तान से मिलती-जुलती है। हां एक तरह से वह सारे हिंदुस्तान से अलहदा है। और सब रियासतें तो उस घेरे में आ गईं जिसको 'सहायक संधि' के नाम से पुकारा जाता है, जिसमें सारी असली ताकत ब्रिटिश सरकार के हाथों में होती और वह रेज़ीडेंट या एजेंट के ज़रिए काम करती। अक्सर राजा के मंत्री भी ब्रिटिश पदाधिकारी होते, जिनको उसके ऊपर ज़बरदस्ती लाद दिया जाता। लेकिन सुशासन और सुधार की सारी ज़िम्मेदारी उस शासक पर ही होती जो इन परिस्थितियों में दुनिया में सबसे ज़्यादा दृढ़ निश्चयी होने पर भी कुछ नहीं कर सकता था (और आमतौर से उस शासक में न तो कोई निश्चय ही होता, और न कोई योग्यता ही होती)। हिंदुस्तानी रजवाड़ों के बारे में सन् १८४६ में हैनरी लॉरेंस

---

१ 'दि मेकिंग अव् इंडियन प्रिंसेज़' पृष्ठ २७०-७१। इस किताब म और टामसन की 'लाइफ़ अव लॉर्ड मेटकाफ़', में हैदराबाद में ब्रिटिश नियंत्रण और छल का स्पष्ट चित्रण है। हिंदुस्तानी रियासतों के मसले पर गौर करने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त की हुई बटलर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा : "यह ऐतिहासिक सच नहीं है कि जब हिंदुस्तानी रियासतें ब्रिटिश ताक़त के संपर्क में आईं तो वह आज़ाद थीं। कुछ को अंग्रेज़ों ने बचा लिया, और कुछ रियासतों को उन्होंने बनाया भी।"

ने लिखा था "अगर निश्चित रूप से बद-अमली क़ायम करने की कोई तरकीब थी तो वह देशी राजा और मंत्री के उस शासन में थी जो कि विदेशी संगीनों की मदद पर निर्भर था, और जिसका नियंत्रण ब्रिटिश रेज़ीडेंट द्वारा होता था। अगर ये सब योग्य होते, समझदार होते, और साथ ही भले होते तो भी सरकारी गाड़ी के पहिए शायद ही आसानी से चल सकते। अगर एक ही इंसाफ़-पसंद हाकिम, चाहे वह यूरोपीय हो या हिंदुस्तानी, ढूंढ़ पाना मुश्किल है, तब ऐसे तीन आदमी, जो एक साथ मिलकर काम कर सकें, कहां मिल सकते हैं? तीनों बेहद शैतानी कर सकते हैं, लेकिन उनमें से एक शख़्स भी अगर दूसरा रुकावटें डाले, तो भलाई कर ही नहीं सकता।"

इससे भी पहले, सन् १८१७ में, सर टामस मनरो ने, गवर्नर जनरल का लिखा था : "सहायक फ़ौजों को काम में लाने के सिलसिले में कई बहुत बड़ी आपत्तियां हैं। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति यह होती है कि हर ऐसे देश की सरकार जहां उस फ़ौज का इस्तैमाल होता है, कमज़ोर और अत्याचारी हो जाती है, वहां समाज के उच्च वर्गों में आत्म-सम्मान की भावना ग़ायब हो जाती है और वहां की सारी जनता का अधःपतन होता है और ग़रीबी बहुत बढ़ जाती है। हिंदुस्तान में कुशासन का आमतौर पर इलाज यह है कि महलों मे शांतिपूर्ण क्रांति हो या खुला हिंसात्मक विद्रोह हो या विदेशी आक्रमण और आधिपत्य हो। लेकिन ब्रिटिश फ़ौज की मौजूदगी से उस इलाज का कोई मौक़ा नहीं रहता; क्योंकि वह फ़ौज घरेलू और बाहरी दुश्मनों के बावजूद उस राजा को तख़्त पर बिठाए रखती है। वह उसको आलसी बना देती है क्योंकि वह अपनी हिफ़ाज़त के लिए ग़ैर आदमियों पर भरोसा करता है; वह शासक ज़ालिम और लालची बन जाता है, क्योंकि उसे यह दिखाया जाता है कि अब उसे अपनी प्रजा की नफ़रत का कोई डर नहीं है। जहां कहीं इस 'सहायक संधि' की प्रथा को अपनाया जाता है, वहां पर, अगर शासक असाधारण योग्यता का आदमी हो तो शायद बात दूसरी हो, लेकिन वैसे तो उस संधि की छाप गावों की बर्बादी और घटती हुई आबादो में दिखाई देती है।............अगर खुद वह राजा उस (ब्रिटिश) संधि का पूरी-पूरी तरह पालन करने को तैयार भी हो तो उसके कुछ ख़ास ऐसे पदाधिकारी ज़रूर निकल आवेंगे जो उसको उस संधि को तोड़ने को विवश करेंगे। जब तक कि देश म कहीं भी ऊंचे दर्जे की आज़ादी है जो विदेशियों के नियंत्रण को हटा देना चाहती है, तब तक ऐसे सलाहकर भी मिल जाएँगे। हिंदुस्तान के निवासियों के बारे में मेरी अच्छी राय है और मैं नहीं समझता कि यह भावना कभी बिलकुल ही ग़ायब हो जावेगी। और इसलिए मुझे इस बात में कोई शक नहीं है कि यह प्रथा हर जगह अपना पूरा असर दिखावेगी और हर राज्य को जिसकी रक्षा की यह

ज़िम्मेदारी लेती है बर्बाद कर देगी।"[1]

ऐसी शिकायतों के बावजूद हिंदुस्तानी रियासतों के सिलसिले में यह नीति बनी और उसका नतीजा लाज़िमी तौर पर यह हुआ कि अत्याचार और अनीति की बढ़ती हुई। इन रियासतों की सरकारें अक्सर ख़राब होती थीं, लेकिन हर सूरत में वे बिलकुल लाचार भी होती थीं। इन रियासतों में कुछ ब्रिटिश रेज़ीडेंट या एजेंट मेटकाफ़ की तरह ईमानदार और भले होते थे, लेकिन आम-तौर पर उनमें इन दोनों म से एक भी बात नहीं थी, और वे बिना किसी जिम्मेदारी के अपने विशेषाधिकारों का इस्तैमाल करते थे। इन अंग्रेज साह-सिकों ने, जो अपनी क़ौमियत और सरकारी मदद की वजह से अपने को मह-फ़ूज़ समझते थे, रियासती ख़जानों में गज़ब कर दिया। उन्नीसवीं सदी के पहले पचास बरसों में, इन रियासतों में और ख़ास तौर से अवध और हैदरा-बाद में, जो कुछ हुआ उस पर यक़ान करना मुश्किल है। सन् १८५७ के ग़दर से कुछ ही पहले, अवध ब्रिटिश भारत में छीनकर शामिल किया गया।

उस वक्त ब्रिटिश नीति इस तरह क़ब्ज़ा करने के पक्ष में थी और ब्रिटिश हुकूमत के द्वारा रियासत को हथियाने के लिए हर बहाने का फ़ायदा उठाया जाता। लेकिन १८५७ के ग़दर और महाविद्रोह ने, रियासती मामलों में उस नीति की क़ीमत ब्रिटिश सरकार को जता दी। कुछ छोटे-छोटे अप-वादों को छोड़कर, हिंदुस्तानी रजवाड़े, उस विद्रोह से अलग ही नहीं रहे, बल्कि उन्होंने कुछ जगहों पर अंग्रेज़ों को उसे कुचलने में मदद दी। इससे ब्रिटिश नीति का रियासतों की तरफ़ रुख़ बदल गया, और यह तै किया गया कि उन को बनाए रखा जाय, और यही नहीं बल्कि उनको और ज्यादा मज़बूत किया जाय।

ब्रिटिश 'प्रभुत्व' के सिद्धांत की घोषणा की गई, और अमली तौर पर हिंदुस्तान सरकार के राजनीतिक विभाग का रियासतों पर बराबर सख़्ती के साथ नियंत्रण रहा है। राजाओं को हटा दिया गया है और उनके अधिकार छीन लिये गए हैं, ब्रिटिश नौकरियों में से लिये गए मंत्री उन पर लाद दिये गए हैं। रियासतों में ऐसे बहुत से मंत्री काम कर रहे हैं और वे अपनी ज़िम्मेदारी अपने नाम-मात्र के अध्यक्ष उस राजा के मुक़ाबले में ब्रिटिश सत्ता के प्रति कहीं ज्यादा समझते हैं।

कुछ राजा अच्छे हैं, कुछ बुरे हैं; लेकिन अच्छे राजाओं को हर क़दम पर रोक दिया जाता है। वर्ग के रूप में वे पिछड़े हुए हैं, उनका दृष्टिकोण

---

१ टामसन द्वारा 'दि मेकिंग अव् दि इंडियन प्रिंसेज़' में पृष्ठ २२-२३ पर उद्धरित।

सामंतवादी है, और ब्रिटिश सरकार के साथ व्यवहार के अतिरिक्त जब कि वह ख़ास तौर से अदब से पेश आते हैं, उनके ढंग हुकूमत-परस्ती के हैं। शेल्वंकर ने हिंदुस्तानी रियासतों के बारे में सही ही कहा है, कि, "वे हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों का पांचवां दस्ता हैं।"

६ : हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की विरोधात्मक बातें : राममोहन राय : समाचार पत्र : सर विलियम जोन्स : बंगाल में अंगरेज़ी शिक्षा

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के इतिहास पर ग़ौर करते हुए हमको पग-पग पर एक खास विरोधाभास दिखाई देता है। अंग्रेज़ों का हिंदुस्तान में इसलिए आधिपत्य हुआ और वे दुनिया की एक प्रमुख शक्ति इसलिए बन गए कि वे बड़ी मशीनों की नई औद्योगिक संस्कृति के अगुआ थे। वे एक ऐसी नई ऐतिहासिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे जो दुनिया को बदलने जा रही थी, और हालांकि उनको पता नहीं था, वे परिवर्त्तन और क्रांति के प्रतिनिधि थे। फिर भी सिवाय उस रद्दो-बदल के जो उन्हें अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और देश और जनता का अपने फ़ायदे के लिए शोषण करने के सिलसिले में ज़रूरी मालूम हुईं, उन्होंने हर तरह की रद्दो-बदल को जान-बूझ कर रोका। उनका उद्देश्य और दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी था। कुछ हद तक तो उसकी वजह, उस सामाजिक वर्ग की पृष्ठभूमि थी, जिसके कि वे सदस्य थे; लेकिन ख़ास तौर से उसकी वजह यह थी कि वे जान-बूझकर प्रगतिशील दिशा में रद्दो-बदल को रोकना चाहते थे। क्योंकि उस रद्दो-बदल से हिंदुस्तानी जनता मज़बूत होती और उसका नतीजा यह होता कि हिंदुस्तान पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व घट जाय। जनता का डर उनकी सारी विचार-धारा और सारी नीति म समाया हुआ था; क्योंकि न तो वे उस जनता में घुलना-मिलना ही चाहते थे और न वे ऐसा कर ही सकते थे। उनको तो एक विदेशी शासक समुदाय की तरह अलग, और एक बिलकुल जुदा और विरोधी जनता से घिरा रहना था। परिवर्त्तन हुए और कुछ तो प्रगतिशील दिशाओं में भी हुए, लेकिन वे ब्रिटिश नीति के बावजूद हुए, हालांकि उनको उत्तेजना, पच्छिम के संपर्क में आने से अंग्रेज़ों द्वारा ही मिली।

व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज़ों ने, जिनमें शिक्षा-प्रसार में दिलचस्पी रखने वाले लोग भी थे, पूर्व में दिलचस्पी रखने वाले लोग थे, सम्पादक थे और मिशनरी लोग थे, और साथ ही और दूसरे आदमियों ने हिंदुस्तान में पच्छिमी संस्कृति लाने में एक अहम हिस्सा लिया, और अपनी इस कोशिश म उनको अक्सर खुद अपनी सरकार से झगड़ना पड़ा। उस सरकार को आधुनिक शिक्षा-

प्रसार के असर का डर था और इसी से उसने उसके रास्ते में बहुत-सी अड़-चनें डालीं, फिर भी हिंदुस्तान में अंग्रेजी विचार, साहित्य और राजनीतिक परं-परा का प्रवेश करा देने का श्रेय उन योग्य और उत्सुक अंग्रेजों को है जिन्होंने अपने चारों तरफ़ हिंदुस्तानी विद्यार्थियों के उत्साही समुदायों को इकट्ठा किया और जिन्होंने अपनी संस्कृति के फैलाने की बड़ी ज़ोरदार कोशिशें कीं। (जब मैं अंग्रेज लफ़्ज़ कहता हूं तो उसमें सारे ग्रेट ब्रिटेन के निवासियों और आयर्लैंड के रहने वालों को शामिल करता हूं, हालांकि मैं यह जानता हूं कि यह ग़लत और अनुचित है। लेकिन मुझे ब्रिटिश लफ़्ज़ नापसंद है और शायद उस लफ़्ज़ में आयर्लैंड का समावेश नहीं होता। आयर्लैंड, स्काटलैंड और वेल्स के निवा-सियों के सामने मैं क्षमा-प्रार्थी हूं। हिंदुस्तान में उन सबका व्यवहार एक-सा रहा है और यहां उन सबको एक ही समुदाय की तरह देखा गया है।) खुद ब्रिटिश सरकार भी, जिसको शिक्षा नापसंद थी, परिस्थितियों से विवश हुई और उसको अपने बढ़ते हुए काम के लिए क्लर्कों के तैयार करने और उनको शिक्षा देने का इन्तज़ाम करना पड़ा। इन छोटी-छोटी जगहों में काम करने के लिए इंग्लैंड से बड़ी तादाद में आदमियों को लाकर रखना उसकी बिसात के बाहर था। इस तरह धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार हुआ, और हालांकि वह बहुत सीमित थी और ग़लत ढंग की थी, फिर भी उसने नए और सक्रिय विचारों के लिए दिमाग़ को खोल दिया।

छापने की मशीन को, और अस्ल में हर एक मशीन को ही, हिंदुस्तानी दिमाग़ के लिए भड़कीला और ख़तरनाक समझा गया। उनको किसी भी ढंग से बढ़ावा नहीं देना था क्योंकि उससे औद्योगिक तरक्क़ी हो सकती थी, और राजद्रोह फैल सकता था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार हैदराबाद के निज़ाम ने विलायती मशीन देखने की इच्छा प्रकट की, तो इस पर वहां के रेजीडेंट ने उसके लिए एक छापने की मशीन और एक हवा भरने का पम्प मँगा दिया। निजाम की क्षणिक उत्सुकता के शांत हो जाने के बाद ये चीज़ें एक तरफ़ कर दी गईं। लेकिन जब कलकत्ते की सरकार ने यह सुना तो उसने रेजीडेंट के प्रति अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की और एक हिंदुस्तानी रियासत में छापने की मशीन चलाने पर तो उसको खास तौर से फटकारा। इस पर रेज़ीडेंट ने कहा कि अगर सरकार चाहे तो वह उस मशीन को खुफ़िया तौर पर तुड़वा सकती है।

लेकिन जहां निजी छापेखानों को बढ़ावा नहीं दिया गया, वहां साथ ही सरकार का काम बिना छपाई के चल नहीं सकता था और इसलिए कलकत्ता, मद्रास और दूसरी जगहों में सरकारी छापेखाने खोले गए। पहला ज़ाती छापा-खाना बैप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में चलाया, और पहला अखबार एक अंग्रेज ने कलकत्ते में सन् १७८० में निकाला।

ये और ऐसी ही और दूसरी तब्दीलियां धीरे-धीरे हुईं, और हिंदुस्तानी दिमाग़ पर उनका असर हुआ। उससे 'आधुनिक' चेतना फैली। सीधे तौर पर तो यूरोप के विचारों से हिंदुस्तान का एक बहुत छोटा-सा ही समुदाय प्रभावित हुआ, क्योंकि हिंदुस्तान तो अपनी निजी दार्शनिक पृष्ठभूमि से चिपका रहा, जिसको वह पच्छिमी पृष्ठभूमि से अच्छा समझता था। पच्छिम का असली असर और आघात तो ज़िंदगी के अमली पहलू पर हुआ, जो साफ़ तौर पर पूर्व से बेहतर था। नए तरीक़ों की—रेल, छापेखानों, दूसरी मशीनों और लड़ाई के ज्यादा होशियारी के तरीक़ों की—अवहेलना नहीं की जा सकती थी। य तरीक़े, परोक्ष रूप से पुराने तरीक़ों को धकेल कर ऊपर आ गए और हिंदुस्तान के दिमाग़ में संघर्ष पैदा हुआ। सबसे ज्यादा स्पष्ट और गहरी रद्दो-बदल यह थी कि पुरानी खेतिहरी की व्यवस्था हट गई और उसकी जगह व्यक्तिगत सम्पत्ति और जमींदारी की विचार-धारा ने ली, अर्थ-व्यवस्था में रुपए का लालच हुआ और ज़मीन एक खरीदारी की चीज़ हो गई। जो चीज़ पहले रिवाज़ से मज़बूती से जमी हुई थी अब रुपए से उखड़ गई।

खेती संबंधी, शिक्षा संबंधी, टेक्नीकल और दिमाग़ी यह सभी तब्दीलियां हिंदुस्तान के और दूसरे बड़े हिस्सों से बहुत पहले बंगाल में देखने में आईं। उसकी वजह यह थी कि बंगाल में और दूसरे प्रदेशों के मुक़ाबले ब्रिटिश राज्य ५० बरस पहले क़ायम हा चुका था। इसी से अठारहवीं सदी के पिछले पचास बरसों में और उन्नीसवीं सदी के पहले पचास बरसों में, बंगाल ने ब्रिटिश भारतीय जीवन म एक प्रमुख भाग लिया। बंगाल सिर्फ़ ब्रिटिश हुकूमत का ही केन्द्र नहीं था बल्कि उसन अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिंदुस्तानियों के पहले दल को तैयार किया, जो ब्रिटिश ताक़त की छाया म ही हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों म फैल गए। बंगाल में उन्नीसवीं सदी में कितने ही महापुरुष पैदा हुए, जिन्होंने बाक़ी हिंदुस्तान का सांस्कृतिक और राजनीतिक मामलों म पथ-प्रदर्शन किया, और उन्हीं की कोशिशों से आगे चलकर नया राष्ट्रीय आंदोलन साकार हुआ। बंगाल को ब्रिटिश राज्य का ज्यादा लंबी जानकारी ही नहीं थी, बल्कि उसको ब्रिटिश राज्य के उस शुरू के वक़्त का भी तजुर्बा था जब कि वह बहुत ज्यादा सख़्त और लचीला था। उसने इस राज्य को मंजूर कर लिया था और उत्तरी और मध्य भारत के सिर झुकाने के बहुत पहले ही उसने उस राज्य से अपना मेल बिठा लिया था। सन् १८५७ के महा विद्रोह का बंगाल में क़रीब-क़रीब नहीं के बराबर असर था वैसे उस विद्रोह की पहली चिनगारी संयोग से कलकत्ते के पास दमदम में प्रकट हुई।

ब्रिटिश राज्य से पहले बंगाल मुग़ल साम्राज्य का एक बाहरी सूबा था। उसकी अहमियत थी लेकिन वह केन्द्र से कटा हुआ-सा था। मध्य कालीन

युग के शुरू में वहां के हिंदुओं में कई गंदे ढंग की पूजाएं और तांत्रिक रस्म चालू थीं। तब हिंदू सुधार आंदोलन शुरू हुआ और उसका सामाजिक रीतियों और कानूनों पर असर हुआ, यहां तक कि कुछ दूसरी जगहों में भी विरासत के कुछ मान्य नियम कुछ हद तक बदल गए। चैतन्य ने, जो एक बड़े विद्वान् थे और बड़ी निष्ठा और भावना के व्यक्ति थे, श्रद्धा की बुनियाद पर एक ढंग का वैष्णववाद स्थापित किया और बंगाल की जनता पर बहुत प्रभाव डाला। बंगालियों में ऊंची बौद्धिक प्रतिभा और उतनी ही दृढ़ भावुकता का एक विचित्र सम्मिश्रण हुआ। उन्नीसवीं सदी के पिछले बरसों में प्रेम और मानव-सेवा की निष्ठा की इस परम्परा के एक दूसरे संत-स्वभाव के व्यक्ति रामकृष्ण परमहंस थे। उनके नाम पर एक सेवा की संस्था स्थापित हुई जिसकी सामाजिक सेवाओं का लेखा बेजोड़ है। रामकृष्ण मिशन के सदस्य पुराने फ्रेंसिस्कनों की तरह धैर्य और प्रेम के साथ सेवा करने के आदर्श से भरे हुए हैं, और क्वेकरों की तरह वे कुशल हैं, और उनमें दिखावा नहीं है। वे लोग अस्पताल और शिक्षा संबंधी संस्थाएं चलाते हैं, और जब कभी हिंदुस्तान में कहीं भी और कभी-कभी विदेशों में कोई व्यापक दुर्घटना होती है, तो वे वहां की पीड़ित जनता को सहारा देने में और उनकी सेवा करने में लग जाते हैं।

रामकृष्ण पुरानी हिंदुस्तानी परंपरा के प्रतिनिधि थे। उनसे पहले, अट्ठारहवीं सदी में ही बंगाल में एक और प्रमुख व्यक्ति हो चुके थे। वह थे राजा राममोहन राय। वह एक नए ढंग के आदमी थे। उनमें पुरानी और नई दोनों ही तरह की शिक्षा का मेल था। वे हिंदुस्तानी विचार-धारा और हिंदुस्तानी दर्शन-शास्त्र से सुपरिचित थे, और साथ ही वे संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के विद्वान् थे। वे उस हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की उपज थे जो उस समय हिंदुस्तान के सांस्कृतिक वर्ग के लोगों में फैली थी। हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के आने से और साथ ही उसकी कई तरह की श्रेष्ठता की वजह से, राममोहन राय के जिज्ञासु और साहसी मस्तिष्क ने, उनकी संस्कृति के आधारों को जानना चाहा। उन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ी, लेकिन इतना काफ़ी न थी; उन्होंने पश्चिम के धर्म और वहां की संस्कृति के स्रोत को खोज पाने के लिए यूनानी, लातीनी और इब्रानी भाषायें पढ़ीं। हालांकि उस वक्त शास्त्रीय परिवर्त्तन इतने जाहिर नहीं थे जितने कि वे बाद में हुए, फिर भी पच्छिमी सभ्यता के शास्त्रीय पहलू और विज्ञान की तरफ़ उनका खिचाव हुआ। दार्शनिक और विद्वत्तापूर्ण रुचि की वजह से राममोहन राय लाज़िमी तौर पर पुराने साहित्य की ओर झुके। उनके बारे में जिक्र करते हुए पूर्वी विषयों के जानकार मोनियर विलयम्स ने कहा है : "दुनिया के वह पहले आदमी हैं, जिन्होंने धर्मों का आपस में मिलान करते हुए अध्ययन करने की परिपाटी में खोज की।" फिर भी, साथ-ही-साथ, वे शिक्षा को

आधुनिक ढांचे में ढालने के लिए चिंतित थे; और वे उसे पुरानी परिपाटी के चंगुल से निकालना चाहते थे। उन शुरू के दिनों में भी वे वैज्ञानिक तरीक़ों के पक्ष में थे, और उन्होंने गवर्नर जनरल को गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन, जाव-विज्ञान आदि दूसरी उपयोगी विद्याओं की, शिक्षा की ज़रूरत पर जोर देते हुए लिखा।

वे केवल एक विद्वान् और अन्वेषक ही नहीं थे; इनके अलावा वे एक सुधारक थे। शुरू के दिनों में उन पर इस्लाम का असर हुआ था, और बाद में कुछ हद तक ईसाई धर्म का, लेकिन फिर भी वह अपने धर्म में दृढ़ता के साथ जमे रहे। हां उस धर्म को उन्होंने उन कुरीतियों और कुप्रथाओं से, जो उस वक़्त उससे जुड़ गई थीं, छुड़ाने की कोशिश की। सती प्रथा को बंद करने के लिए उन्हीं के आंदोलन की वजह से खास तौर से सरकार ने उस पर रोक लगाई। यह सती प्रथा, जिसम स्त्रियों को पति के साथ चिता पर जलाया जाता था, कभी भी व्यापक नहीं थी। ऊंचे वर्ग में कभी-कभी ऐसी घटनाएं हो जाया करती थीं। शायद यह रिवाज हिंदुस्तान में तातारों के साथ आया। उनमें यह रिवाज था कि मालिक के मरने के बाद उसके नौकर अपने आपको मार डालते। शुरू के संस्कृत साहित्य में सती प्रथा को बुरा कहा गया है। अकबर ने उसे रोकने की कोशिश की और मराठे भी उसके खिलाफ़ थे।

राममोहन राय हिंदुस्तानी अखबारों के क़ायम करने वालों में एक थे। सन् १८८० के बाद हिंदुस्तान के अंग्रेजों ने कई अखबार निकाले। ये आमतौर पर सरकार की कड़ी आलोचना करते और सरकार से अक्सर उनका झगड़ा होता और उन पर सेंसर रहता। हिंदुस्तान में अखबारों की आजादी के लिए सबसे पहले अंग्रेजों ने आवाज उठाई। इन अंग्रेजों मे से एक जेम्स सिल्क बकिंघम थे, जिनकी अब भी याद की जाती है। सरकार की बजह से इनको हिंदुस्तान छोड़कर बाहर जाना पड़ा। पहला अखबार, जिस पर हिंदुस्तानी नियंत्रण था और जिसका संपादन भी हिंदुस्तानियों ने किया, सन् १८१८ में (अंग्रेजी भाषा में) निकला। और उसी साल श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट पादरियों ने बंगला में दो पत्र—एक मासिक और एक साप्ताहिक-निकाले। हिंदुस्तानी भाषा में सामयिक रूप से निकलने वाले यह पहले पत्र थे। उसके बाद अंग्रेजी में और हिंदुस्तानी भाषाओं में कई अखबार और कई सामयिक पत्र कलकत्ता, बंबई और मद्रास से कुछ ही समय के अंदर निकलने लगे।

इसी बीच में अखबारों की आजादी के लिए लड़ाई शुरू हो चुकी थी, वह कितने ही उतार-चढ़ाव के साथ अब तक जारी है। सन् १८१८ में सुपरिचित रेगुलेशन नं० ३ का जन्म हुआ जिसके मुताबिक किसी शख्स को बिना मुकदमा चलाए नजरबंद किया जा सकता था। यह रेगुलेशन आज

भी अमल म लाया जाता ह, और बहुत से आदमी इस १२६ बरस पहले की धारा के अनुसार जेल में रखे जाते हैं।

राममोहन राय का कई अख़बारों से संबंध था उन्होंने अंग्रेज़ी और बंगला इन दो भाषाओं की मिली-जली एक पत्रिका निकाली और बाद में उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र फ़ारसी भाषा म प्रकाशित किया। जिसका सारे हिंदुस्तान में चलन हो सके, उस वक्त हिंदुस्तान में फ़ारसी ही सारे संस्कृत-समाज की भाषा थी। लेकिन १८२३ में प्रेस नियंत्रण के लिए नये कानून बनने पर, इसको बंद होना पड़ा। राममोहन राय ने और दूसरे आदमियों ने इन कानूनों का ज़ोरदार विरोध किया; यहां तक कि उन्होंने इंग्लैंड में मंत्रिमंडल के पास एक अर्ज़ी भेजी।

राममोहन राय के संपादकीय काम का, ख़ास तौर से उनके सुधार आंदोलन से संबंध था। कट्टर समुदायों को उनका समन्वयकारी और विश्व-बंधत्व का दृष्टि-बिंदु बहुत नापसंद था और वे उनके बहुत से सुधारों का भी विरोध करते थे। लेकिन उनके अपने भी कट्टर समर्थक थे। इन्हीं में ठाकुर कुटुंब भी था। जिसने बाद म बंगाल की नई जागृति में एक ख़ास हिस्सा लिया। राममोहन राय दिल्ली सम्राट् की ओर से इंग्लैंड गए, और वहां ब्रिस्टल म ही उनकी मृत्यु हो गई।

राममोहन राय ने, और ठाकुर-कुटुंब ने अंग्रेज़ी घर पर पढ़ी। कोई अंग्रेज़ी स्कूल या कालेज उस वक़्त नहीं थे, और सरकारी नीति हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी सिखाने के सख़्त ख़िलाफ थी। सन् १७८१ में सरकार ने कलकत्ते में हिंदू कालेज और कलकत्ता मदरसा क़ायम किया। पहली संस्था संस्कृत की पढ़ाई के लिए थी, और दूसरी संस्था अरबी की पढ़ाई के लिए। सन् १७८१ में बनारस में एक संस्कृत कॉलेज खोला गया। शायद १८१० के बाद ईसाई पादरियों की तरफ़से अंग्रेज़ी सिखाने के लिए कुछ स्कूल खुले। सन्१८१० के बाद सरकारी हलक़ों में भी ऐसे ख़याल के लोग हुए जो अंग्रेज़ी पढ़ाने के तरफ़-दार थे, लेकिन उनके मत का विरोध किया गया। जो भी हो तजुर्बे के तौर पर, दिल्ली के अरबी स्कूल में अंग्रेज़ी दर्जे भी शुरू किये गए और ऐसे दर्जे कलकत्ते की कुछ संस्थाओं में भी खोले गए। अंग्रेज़ी पढ़ाने के पक्ष में अंतिम निर्णय सन् १८३५ के फ़रवरी के मैकॉले के शिक्षा संबंधी नोट से हुआ। बाद में कलकत्ते में प्रसीडेंसी कालेज कायम हुआ। सन् १८५७ में कलकत्ता, बंबई और मद्रास की यूनिवर्सिटियों का काम शुरू हुआ।

अगर एक तरफ़ हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी पढ़ाने के खिलाफ़ थी तो दूसरी तरफ़ ब्राह्मण विद्वान् कुछ दूसरे ही कारणों से अंग्रेज़ों के संस्कृत पढ़ाने के और भी ज्यादा ख़िलाफ़ थे। जब सर विलियम

जोन्स, जो पहले से ही कई भाषाएँ जानते थे और जो एक बड़े विद्वान् थे, हिंदुस्तान की सुप्रीम कोर्ट के जज बनकर आए तो उन्होंने संस्कृत सीखने की अपनी इच्छा प्रकट की। और हालांकि बहुत बड़ा पारितोषिक देने को कहा गया, लेकिन कोई भी ब्राह्मण, एक विदेशी और विधर्मी को देववाणी सिखाने को तैयार नहीं हुआ। जोन्स को आखिर बहुत मुश्किलों से एक अ-ब्राह्मण वैद्य मिले जो अपनी खास शर्तों पर ही संस्कृत पढ़ाने को तैयार थे। हिंदुस्तान की प्राचीन भाषा को सीखने के लिए जोन्स इतने ज्यादा उत्सुक थे कि उन्होंने सारी शर्तें मान लीं। संस्कृत ने और खास तौर से पुराने भारतीय नाटकों ने उनको मोह लिया। उन्हीं के लेखों और अनुवादों से यूरोप को पहली बार संस्कृत साहित्य के भंडार की झलक मिली। सन् १७८४ में जोन्स ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी क़ायम की जो बाद में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कहलाई। हिंदुस्तान अपने प्राचीन साहित्य की खोज के लिए जोन्स और दूसरे यूरोपीय विद्वानों का बहुत एहसानमंद है। यह सही है कि हर युग में उस साहित्य के ज्यादा हिस्से से लोग परिचित थे, लेकिन उनकी जानकारी कुछ खास समुदायों तक ही सीमित थी, और सांस्कृतिक क्षेत्र में फ़ारसी का आधिपत्य हो जाने से लोगों का ध्यान उधर से हट गया था। हस्तलिखित ग्रंथों की तलाश से बहुत-से अपरिचित ग्रंथ सामने आए और आधुनिक आलोचना पूर्ण ढंग के अपनाने से इस विस्तृत साहित्य को, जो सामने आया, एक नई पृष्ठ-भूमि मिली।

छापने की मशीन के चलन और उपयोग से प्रचलित हिंदुस्तानी भाषाओं की वृद्धि को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। इनमें से कुछ भाषाएँ, मसलन हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल, और तेलगू बहुत अर्से से सिर्फ़ प्रचलित ही नहीं थीं बल्कि उनमें साहित्य-निर्माण हो चुका था। उनकी बहुत-सी किताबें आम जनता में खूब प्रचलित थीं। ज्यादातर ये महाकाव्य या कविताएं या गीतों और भजनों के संग्रह के रूप में होती, जिनको आसानी से याद रखा जा सकता था। उनमें उस वक़्त करीब-करीब कोई गद्य साहित्य नहीं था। ज्यादा गंभीर लेख संस्कृत और फ़ारसी में होते थे, और हर सुसंस्कृत आदमी के लिए उनमें से किसी एक को जानना जरूरी था। इन दो प्राचीन भाषाओं का एक प्रभाव-स्थान रहा और उनसे आम लोगों की प्रांतीय भाषाओं की तरक्क़ी में रुकावट हुई। किताबों की छपाई से और अखबारों से इन प्राचीन भाषाओं का गढ़ टूटा और फ़ौरन ही प्रांतीय भाषाओं में गद्य-साहित्य की तरक्क़ी हुई। उस वक़्त के ईसाई पादरियों ने, खास तौर से श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट मिशनरियों ने इस काम में बहुत मदद की। ग़ैर-सरकारी तौर पर पहले-पहल उन्होंने ही छापेखाने कायम किये थे और बाइबिल को हिंदुस्तानी भाषाओं में, गद्य में अनुवाद करने

की उनकी कोशिशों को काफ़ी कामयाबी मिली।

सुपरिचित भाषाओं से काम लेने में कोई मुश्किल नहीं थी। लेकिन ईसाई पादरी और भी आगे बढ़े और उन्होंने कुछ छोटी और अविकसित भाषाओं को भी अपनाया और उनको स्वरूप दिया। उन भाषाओं के लिए उन्होंने व्याकरण बनाए और शब्द-कोष तैयार किये। यहां तक कि उन्होंने पहाड़ियों और जंगल के आदिवासियों की बोल-चाल की भाषा को सीखा और उसके लिए लिपि भी निकाली। इस तरह हालांकि, ईसाई धर्म-प्रचारकों का काम हिंदुस्तान में हमेशा ही प्रशंसनीय नहीं रहा लेकिन इस मामले में और साथ ही लोक-साहित्य के संकलन के सिलसिले में उन्होंने सचमुच ही हिंदुस्तान की बहुत सेवा की है।

शिक्षा-प्रसार के सिलसिले में ईस्ट इंडिया कंपनी को जो झिझक थी वह सही साबित हुई, क्योंकि सन् १८३० में कलकत्ते के हिंदू कॉलेज के विद्यार्थियों की एक टोली ने कुछ सुधारों की मांग की। (इस कॉलेज में सिर्फ़ संस्कृत ही पढ़ाई जाती थी और अंग्रेजी बिलकुल नहीं पढ़ाई जाती थी।) उन्होंने कंपनी की राजनीतिक ताकत को सीमित करने और अनिवार्य रूप से मुफ़्त शिक्षा देने की मांग की। हिंदुस्तान में निःशुल्क शिक्षा अति प्राचीन समय से परिचित थी। वह शिक्षा पुरानी लकीर की थी, और कोई बहुत अच्छी या लाभदायक नहीं थी, लेकिन वह बिना किसी खर्च के गरीब विद्यार्थी को भी मिलती थी। उसमें शिक्षक की कुछ व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती थी। इस मामले में हिंदू और मुस्लिम परंपराएं एक-सी थीं।

जहां एक ओर इस नई शिक्षा के प्रसार को जान-बूझकर रोका गया, वहां बंगाल में पुरानी शिक्षा बहुत हद तक खत्म कर दी गई थी। जब बंगाल में अंग्रेज़ अधिकारी बन बैठे तब मुआफी की ज़मीनें बहुत बड़ी तादाद में थीं, यानी उन ज़मीनों का सरकार को कोई टैक्स नहीं दिया जाता था। इनमें से बहुत-सी व्यक्तिगत थीं, लेकिन ज्यादातर शिक्षा संबंधी संस्थाओं के लिए दान के रूप में थीं। उन पर पुराने ढंग के प्रारंभिक स्कूलों की एक बहुत बड़ी तादाद गज़र करती थी। इनके अलावा कुछ ऊंची शिक्षा की फ़ारसी की संस्थाएं थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी इस बात के लिए चिंतित थी कि जल्दी से रुपया बनाया जाय ताकि इंग्लैंड में हिस्सेदारों को डिविडेण्ड दिये जासकें। डाइरेक्टरों का बराबर तकाज़ा बना रहता था। इसलिए जान-बूझकर यह नीति बरती गई कि इन मुआफ़ी की ज़मीनों को ज़ब्त कर लिया जाय। उनकी मुआफ़ी के असली सबूत मांगे गए लेकिन वे पुरानी सनदें या तो खो गई थीं या उनको दीमक ने खा लिया था, इसलिए वे मुआफ़ी रद कर दी गईं, उन लोगों से कब्ज़ा छीन लिया गया और स्कूलों और कॉलिजों की गुज़र की आमदनी खत्म हो गई। इस तरह एक बहुत बड़ा रक़बा छीना गया और बहुत से पुराने घराने बर्बाद हो

गए। वे शिक्षण-संस्थाएं जो इस मुग्राफ़ी पर गुज़र करती थीं ख़त्म हो गईं ग्रौर उनसे ताल्लुक रखने वाले ग्रध्यापकों की एक बहुत बड़ी तादाद बेकार हो गई।

इस तरीके से बंगाल की पुरानी सामंतवादी जमात, जिसमें हिंदू ग्रौर मुसलमान दोनों ही थे, ग्रौर साथ ही वे लोग, जो इनके सहारे गुज़र करते थे, बर्बाद हुए। एक वर्ग के रूप में मुसलमान ज्यादा सामंतवादी थे ग्रौर मुग्राफ़ी का फ़ायदा उठाने वाले भी ज्यादातर वही थे, इसलिए हिंदुग्रों के मुक़ाबले में उनकी ज्यादा हानि हुई। हिंदुग्रों में मध्यम वर्ग के लोगों की मसलमानों के मुकाबले में कहीं ज्यादा बड़ी तादाद थी जो व्यापार ग्रौर व्यवसाय में या दूसरे पेशों में लगी हुई थी। ये लोग दूसरी चीज़ों से ज़्यादा ग्रासानी से मेल बिठा सकते थे ग्रौर उन्होंने तेज़ी से अंग्रेज़ी शिक्षा को ग्रपनाया। साथ ही वे अंग्रेजों के लिए छोटी नौकरियों में ज़्यादा उपयोगी थे। मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा से ग्रलग रहे ग्रौर बंगाल में ख़ुद अंग्रेज़ी शासक उनके ख़िलाफ़ थे। उनको यह डर था कि पुराने शासक वर्ग के बचे हुए ये हिस्से कहीं उपद्रव न करें। इस तरह शुरू में बंगाली हिंदुग्रों को छोटी सरकारी नौकरियों में एकाधिपत्य मिल गया ग्रौर वे लोग उत्तरी सूबों में भी भेजे गए। बाद में पुराने घरानों के कुछ बचे हुए मुसलमानों को भी इन नौकरियों में शामिल कर लिया गया।

अंग्रेज़ी शिक्षा से हिंदुस्तानी क्षितिज विस्तृत हुग्रा, अंग्रेज़ी साहित्य ग्रौर संस्थाग्रों के लिए दिल म इज़्ज़त हुई, हिंदुस्तानी ज़िंदगी के कुछ पहलुग्रों ग्रौर उसकी कुछ रीतियों के ख़िलाफ़ विद्रोह हुग्रा ग्रौर राजनीतिक सुधार की मांग बढ़ी। इस नई पेशेवर जमात ने राजनीतिक हलचल में नेतृत्व किया, ग्रौर सरकार के सामने ग्रपने पक्ष को रखा। ग्रस्ल में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे इन पेशेवर लोगों का एक नया वर्ग बन गया ग्रौर जो ग्रागे चलकर सारे ही हिंदुस्तान में फैलने वाला था। यह एक ऐसा वर्ग था जिस पर पच्छिमी विचारों ग्रौर तरीक़ों का ग्रसर था ग्रौर जो ग्राम लोगों से ग्रलग रहा करता था। सन् १८५२ में कलकत्ते में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन कायम हुई। यह इंडियन नेशनल कांग्रेस का पूर्वाभास थी, लेकिन ग्रभी सन् १८८५ में होने वाली कांग्रेस की शुरुग्रात तक तो एक पीढ़ी का ग्रर्सा पड़ा था। इस ग्रर्से में १८५७-५८ का विद्रोह हुग्रा, उसका दमन हुग्रा, ग्रौर उसके नतीजे सामने ग्राए। उस सदी के बीच में बंगाल में ग्रौर उत्तरी ग्रौर केन्द्रीय हिंदुस्तान में जो फ़र्क था वह यह था कि जहां एक तरफ़ बंगाल में नए पढ़े-लिखे (ख़ास तौर से हिंदू लोग) अंग्रेज़ी साहित्य ग्रौर विचारों से प्रभावित हो चुके थे, ग्रौर राजनीतिक वैधानिक सुधार के लिए इंग्लैंड की तरफ़ ग्रांखें उठाए हुए थे, वहां दूसरी तरफ़ ये दूसरे हिस्से विद्रोह की भावनाग्रों से खौल रहे थे।

और जगहों के मुक़ाबले में बंगाल में ब्रिटिश राज्य का और पच्छिम का असर ज़्यादा साफ़ दिखाई देता है। खेतिहरी अर्थ-व्यवस्था बिलकुल टूट गई थी, और पुराना सामंतवादी वर्ग ख़त्म कर दिया गया था। उनकी जगह नए ज़मीन के मालिक आ गए थ, जिनका ज़मीन से परंपरा का लगाव बहुत ही कम था, और जिनमें पुराने सामंतवादी ज़मींदारों के गुण तो क़रीब,क़रीब कोई भी नहीं थे, लेकिन जिनमें उनकी ज़्यादातर बुराइयां ज़रूर थीं। किसानों को अकाल और लूट का सामना करना पड़ा, और वे बेहद ग़रीब हो गए। तरह-तरह के कारीगर लोगों की जमात तो क़रीब-क़रीब मिटा ही दी गई। इन टूटी-फूटी बुनियादों पर ऐसे नए समुदाय और नए वर्ग खड़े हुए जो कि ब्रिटिश राज्य की उपज थे और जो उससे कितने ही रूपों में संबंधित थे। साथ ही वे सौदागर लोग थे, जो ब्रिटिश कार-बार और तिजारत के दलाल थे और जो उसकी जूठन से फ़ायदा उठाते थे। इनके अलावा छोटी नौकरियों में और विद्वत्तापूर्ण व्यवसायों में वे पढ़े-लिखे लोग थे जो विभिन्न परिमाण में अंग्रेज़ी विचारों से प्रभावित हुए थे और जो प्रगति के लिए ब्रिटिश ताक़त की तरफ़ आशा से आंखें लगाए हुए थे। इनमें हिंदू समाज के सामाजिक ढांचे और उसकी कट्टर रीतियों के खिलाफ़ विद्रोह हुआ। उन्होंने प्रेरणा के लिए अंग्रेज़ी उदारता और संस्थाओं की तरफ़ आंखें उठाई।

बंगाल के हिंदुओं के ऊपरी दर्जे पर यह असर हुआ। हिंदुओं की आम जनता पर कोई ज़ाहिरा असर नहीं हुआ और शायद वहां के हिंदू नेताओं ने भी आम जनता के बारे में कुछ नहीं सोचा। कुछ गिने-चुने आदमियों को छोड़-कर, मुसलमानों पर कोई असर नहीं हुआ, और वे जान-बूझकर इस नई शिक्षा से अलहदा रहे। वह पहले भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, अब और भी ज्यादा पिछड़ गए। उन्नीसवीं सदी में बंगाल मे कितने ही प्रतिभाशाली हिंदू हुए, लेकिन उस दौरान में बंगाल में उस प्रतिभा का शायद एक भी मुसल-मान नेता नहीं हुआ। जहां तक आम जनता का सवाल है, हिंदुओं और मुसलमानों में कोई भी ख़ास फ़र्क नहीं था। उन दोनों में आदतों का, रहन-सहन का, भाषा का, ग़रीबी और तकलीफ का एक-सा पन था। असलियत में हिंदुस्तान भर में कहीं भी हिंदुओं और मुसलमानों में इतना कम अंतर नहीं था जितना कि बंगाल में। शायद ६८ फ़ीसदी मुसलमान, पहले हिंदू थे और अब उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया था और वे आम तौर पर समाज के सब-से निचले दर्जे के थे। जन संख्या के लिहाज से शायद मुसलमान हिंदुओं के मुक़ाबले में कुछ ज़्यादा थे। (आजकल बंगाल में आबादी का अनुपात यह है : ५३ फ़ीसदी मुसलमान, ४६ फ़ीसदी हिंदू, १ फ़ीसदी और दूसरे लोग।)

ब्रिटिश संबंध के शुरू के ये सब नतीजे, और विभिन्न आर्थिक, सामा-

जिक, बौद्धिक और राजनीतिक आंदोलन, जो उनकी वजह से बंगाल म हुए, हिंदुस्तान म और दूसरी जगहों में भी दिखाई देते हैं, लेकिन कम और अलग-अलग परिमाण में। दूसरी जगहों में सामंतवादी ढांचे का और पुरानी अर्थ-व्यवस्था का खात्मा धीरे-धीरे हुआ, और मुक़ाबले म कम हद तक हुआ। असलियत में उस ढांचे ने विद्रोह किया और यहां तक कि कुचले जाने के बाद भी वह थोड़ा-बहुत बच रहा। उत्तरी हिंदुस्तान के मुसलमान, बंगाल के अपने धर्म भाइयों के मुक़ाबले में सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ऊँचे थे, लेकिन पच्छिमी शिक्षा से वे भी अलहदा रहे। हिंदुओं ने इस शिक्षा को ज्यादा आसानी से अपनाया और वे पच्छिमी विचारों से ज्यादा प्रभावित हुए। छोटी सरकारी नौकरियों में और दूसरे अच्छे पेशों में मुसलमानों के मुक़ाबले में हिंदू कहीं ज्यादा थे। सिर्फ़ पंजाब में ही यह फ़र्क इतना ज्यादा नहीं था।

सन् १८५७-५८ मे विद्रोह भड़का, और उसे कुचल दिया गया; लेकिन बंगाल क़रीब-क़रीब उससे अछूता रहा। पूरी उन्नीसवीं सदी में, वहां अंग्रेजी पढ़ी-लिखी जमात ने, इंग्लैंड की तरफ़ श्रद्धा से देखा, और उन्होंने इंग्लैंड की मदद से और उसके सहयोग से आगे बढ़ने की आशा की। संस्कृति के मैदान में एक नई जागृति हुई और बंगला भाषा की असाधारण उन्नति हुई और बंगाल के नेता राजनीतिक हिंदुस्तान के नेता के रूप में सामन आए।

उन दिनों बंगाल के दिमाग़ में इंग्लैंड के प्रति जो आदर और विश्वास भरा हुआ था, उसकी और साथ ही, सुदृढ़ सामाजिक रीतियों के ख़िलाफ़ विद्रोह की झलक उस हृदय-स्पर्शी संदेश से मिलती है, जो अपनी मृत्यु से कुछ महीन पहले, अपनी अस्सीवीं वर्ष-गां पर (मई १९४१ में) श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने दिया। उन्होंने कहा "जब मैं पीछे मुड़कर अपने जीवन के युग को देखता हूं, और अपने बचपन की बढ़वार के इतिहास को स्पष्टता से देखता हूं तो उस परिवर्तन को देखकर, जो मेरे अपने रुख़ में हुआ और जो मेरे देशवासियों की मनोवृत्ति में हुआ है—एक ऐसा परिवर्तन जिसके अंदर एक अत्यंत दुःख का कारण निहित है—तो मैं चकित रह जाता हूं।

"मानव के बृहत्तर संसार से हमारा सीधा संपर्क उस अंग्रेज जनता के तत्कालीन इतिहास से जुड़ा हुआ है, जिससे उन शुरू के दिनों में हमारा परि-चय हुआ। विशेष रूप से उन्हीं के विस्तृत साहित्य के द्वारा हमने अपने हिंदु-स्तानी तटों पर आने वाले इन आगंतुकों के बारे में अपने विचार बनाए। उन दिनों हमको जिस ढंग की शिक्षा दी जाती थी, न तो वह काफ़ी थी और न वह कई तरह की थी और उसमें वैज्ञानिक जिज्ञासा की भावना भी ज़ाहिर नहीं होती थी। इस तरह उनका क्षेत्र ख़ास तौर से सीमित होने की वजह से उन दिनों के पढ़े-लिखे आदमी अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य की ओर जाते।

उनके दिन और रात, बर्क के ओजस्वी भाषणों से, मैकॉले के लंबे-लंबे वाक्यों से, शेक्सपीयर के ड्रामा, बायरन के काव्य और ख़ास तौर से उन्नीसवीं सदी की अंग्रेज़ी राजनीति की उदारता की विवेचना से जगमगाते रहते।

"हालांकि उस सयय अपनी राष्ट्रीय आज़ादी पाने की कुछ दूसरी कोशिशें की जा रही थीं; लेकिन दिल में अंग्रेज़ी जाति की उदारता में हमारा विश्वास लुप्त नहीं हुआ था। हमारे नेताओं के दिलों में यह यक़ीन इतना पक्का जमा हुआ था कि उनको यह आशा थी कि विजेता अपनी ही मेहरबानी से विजित जनता की आज़ादी का रास्ता खोल देगा। इस विश्वास की बुनियाद इस बात पर थी कि उस वक़्त इंग्लैंड में उन सब लोगों को शरण मिल जाती थी, जिनको सरकारी कोप की वजह से अपने देश को छोड़कर भागना होता था। उन राजनीतिक सत्यार्थियों का, जिन्होंने अपनी जनता की इज़्ज़त के लिए मुसीबतें उठाई थीं, इंग्लैंड में खुला स्वागत होता था। अंग्रेज़ों के स्वभाव में इस उदार मानबता की अभिव्यक्ति से मैं प्रभावित हुआ और इस तरह मैंने उनको अपने सर्वोच्च सम्मान का आसन दिया। उनके राष्ट्रीय स्वभाव की यह उदारता साम्राज्यवादी अहंकार से अभी कलुषित नहीं हुई थी। क़रीब इसी वक़्त जब मैं लड़का ही था, इंग्लैंड में मुझे पार्लमेंट में और बाहर भी जॉन ब्राइट के भाषण सुनने के अवसर मिले। उन व्याख्यानों की ज़बर्दस्त उदारता ने, जो सारी संकरी राष्ट्रीय सीमाओं को पार किये हुए थी, मेरे दिमाग़ पर इतनी गहरी छाप डाली कि आज भी, जब कि सारा माया जाल हट गया है, उसका थोड़ा-सा असर बना हुआ है।

"सचमुच ही अपने शासकों की दया पर घृणास्पद निर्भरता की भावना कोई अभिमान की चाज़ नहीं थी। हां जो बात ख़ास थी, वह यह थी कि हमने माननीय महानता को, चाहे उसकी अभिव्यक्ति एक विदेशी आदमी में ही क्यों न हुई हो, जी-जान से मंजूर किया। मानवता के सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ उपहारों पर किसी विशेष जाति या विशेष देश का एकाधिपत्य नहीं हो सकता। उनके क्षेत्र को न तो सीमित ही किया जा सकता है और न वे कंजूस के ज़मीन में गड़े हुए संग्रह की तरह हो सकते हैं। यही वजह है कि अंग्रेज़ी साहित्य, जिसने गुज़रे हुए ज़माने में हमारे दिमाग़ का पोषण किया, अब भी हमारे अंतरतम में गूंजता है।"

आगे चलकर श्री रवींद्रनाथ जातीय परंपरा से निर्धारित उचित व्यवहार के भारतीय आदर्श की चर्चा करते हैं, "स्वयं-संकीर्ण और दीर्घ काल से संमानित इन सामाजिक रीतियों का जन्म उस सीमित भौगोलिक प्रदेश में हुआ और वहीं पर इनका चलन रहा जो कि सरस्वती और द्रिसद्वती नदियों के बीच में था और उसको ब्रह्मवर्त्त कहा जाता था इस तरह आडंबरपूर्ण व्यवहार-

वाद धीरे-धीरे स्वतंत्र विचार पर छा गया और 'उचित व्यवहार' का वह विचार, जो मनु को ब्रह्मवर्त्त में सुस्थापित मिला, धीरे-धीरे सामाजिक अत्याचार के रूप में परिणत हो गया।

"मेरे बचपन के दिनों में बंगाल के संस्कृत और पढ़े-लिखे समुदाय में, जो अंग्रेज़ी शिक्षा में पला था, समाज के इन कठोर नियमों के विरुद्ध विद्रोह की भावना भरी हुई थी।..............उन्होंने व्यवहार के इन निश्चित नियमों के स्थान पर अंग्रेज़ी अर्थ में, सभ्यता के अर्थ को मंजूर कर लिया।

खुद हमारे ही घराने में केवल उसके तार्किक और नैतिक वेग के कारण इस भावना-परिवर्त्तन का स्वागत किया गया और उसका प्रभाव हमारे जीवन के हर एक क्षेत्र में महसूस हुआ। उस वातावरण के जन्म लेने की वजह से और साहित्य में हमारा एक आंतरिक पक्षपात होने के कारण, मैंने अंग्रेज़ी को अपने हृदयासन पर बिठा दिया। इस तरह मेरे जीवन के पहले अध्याय समाप्त हुए। तब वह समय आया जब हमारी दिशायें भिन्न हुईं; और उस वक़्त धोखे को जानकर बड़ी तकलीफ़ हुई। उसके बाद मुझे दिन-ब-दिन यह देखने को ज़्यादा मिला कि वे लोग, जो सभ्यता की सर्वोच्च सचाइयों को मंजूर करते हैं, राष्ट्रीय स्वार्थ का सवाल आने पर कितनी आसानी से अपने-आपको उनसे अलग कर लेते हैं।"

७ : सन् १८५७ का बड़ा ग़दर : जातीय अहंकार

क़रीब एक सदी तक ब्रिटिश हुकूमत में रहकर बंगाल ने उससे अपना मेल बिठा लिया था। किसान अकाल से बर्बाद हो गए थे, और नए आर्थिक बोझों से पिस रहे थे। नए पढ़े-लिखे लोग पच्छिम की तरफ़ देख रहे थे और यह उम्मीद कर रहे थे कि अंग्रेज़ी उदारता के ज़रिये तरक्क़ी होगी। यही बात कमो-बेश दक्खिनी और पच्छिमी हिंदुस्तान में, मद्रास और बंबई में थी। लेकिन उत्तरी सूबों में इस तरह का कोई भी झुकाव या फ़रमाबरदारी नहीं थी और विद्रोह की भावना आम जनता में, और ख़ास तौर से सामंतवादी सरदारों और उनके अनुयायियों में बढ़ रही थी। जनता में भी असंतोष और ज़ोरदार ब्रिटिश विरोधी भावनाएं ख़ूब फैली थीं। ऊँचे वर्ग के लोगों को इन विदेशियों की अकड़ और उनका अपमान-जनक व्यवहार बहुत अखरता। जनता को ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों के लालच या अनजानपन की वजह से बहुत मुसी-बतें उठानी पड़तीं। ये अफ़सर उनकी बहुत अर्से से प्रचलित रीतियों की अव-हेलना करते और देशवासियों के विचारों का कोई ध्यान ही नहीं देते। एक बहुत बड़ी आबादी पर मनमानी करने की ताक़त से उनके दिमाग़ फिर गए थे और उन्हें कोई भी रोक या लगाम बर्दाश्त नहीं थी। यहां तक कि नई

सिर्फ़ एक फ़ौजी बग़ावत से कहीं ज्यादा बड़ी चीज़ थी। उसने बड़ी तेज़ी से विद्रोह का रूप ले लिया, और वह हिंदुस्तानी आज़ादी की लड़ाई हो गई। आम जनता के सार्वजनिक विद्रोह के रूप में यह लड़ाई दिल्ली, (वर्तमान) संयुक्त-प्रांत, बिहार, और मध्य हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों तक ही सीमित था। खास तौर से तो यह एक सामंतवादी विद्रोह था जिसके अगुआ सामंतवादी सरदार या उनके साथी थे और जिसमें विदेशी-विरोधी व्यापक भावनाओं से सहायता मिली। लाज़िमी तौर पर इसकी निगाह बचे-खुचे मग़ल राजवंश पर थी, जो कि अब भी दिल्ली के महलों में था; लेकिन दुर्बल, आशक्त और बूढ़ा हो गया था। इस विद्रोह में हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ने ही हिस्सा लिया।

इस विद्रोह में ब्रिटिश हुकूमत को अपना पूरा-पूरा जोर लगाना पड़ा। लेकिन आखिर म उसका दमन हिंदुस्तानी मदद से हुआ। पुरानी हुकूमत की सारी पैदायशी कमजोरियां ऊपर आगईं। यह हुकूमत विदेशी राज्य को उखाड़ फेंकने का अपनी आखिरी जी-तोड़ कोशिश कर रही थी। सामंतवादी सरदारों को विस्तृत प्रदेशों मे आम जनता की सहानुभूति प्राप्त थी, लेकिन वे लाचार थे, असंगठित थे और उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श या सामूहिक हितकर मकसद नहीं था। इतिहास में वे अपना काम पूरा कर चुके थे और आग उनके लिए कोई जगह नहीं थी। उनमे ऐसे भी बहुत से लोग थे जिनकी विदेशी राज्य के खिलाफ़ होने वाले विद्रोह से सहानुभूति तो था, लेकिन जिन्होंने सयानेपन से काम लिया और अलग खड़े हुए इस बात को देखते रहे कि कौन-सा पक्ष अधिक सबल है और किसकी जीत की संभावना है। बहुत से लोगों ने देश-द्रोहियों का काम किया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रजवाड़ या तो अलग रहे, या उन्होंने अंग्रेज़ों की मदद की; क्योंकि जो कुछ भी उनके पास था, उसे जोखिम में डालने में उन्हें डर लगता था। नेताओं में कोई भी क़ौमी एकता लाने वाली भावना नहीं थी, सिर्फ़ एक विदेशी विरोधी भावना थी और उसके साथ अपने सामंतवादी विशेषाधिकारों को बनाए रखने की इच्छा थी; और ये उस राष्ट्रीय भावना की जगह नहीं ले सकती थीं।

अंग्रेज़ों को गुरखों का मदद मिली लेकिन उससे भी ज्यादा ताज्जुब की बात यह है कि उन्हें सिखों की मदद मिली। सिख उनके दुश्मन रहे थे और अंग्रेज़ों ने कुछ ही बरस पहले उनको हराया था। यह सचमुच ही अंग्रेज़ों के लिए एक तारीफ़ की बात थी या बुराई की, यह अपने-अपने खयाल की बात है। हां, यह जरूर ज़ाहिर है कि उस वक्त हिंदुस्तानी जनता को एक सूत्र में बांधने वाली कौमी भावना की कमी थी। आजकल जैसी क़ौमियत तो अभी आने को थी; अभा हिंदुस्तान को बहुत तकलीफ़ और मुसीबतें सहनी थीं, जब कि वह

उस सबक को सीखता तो उसे सच्ची आज़ादी देता। किसी पराजित आदर्श के लिए यानी सामंतवादी ढांचे के लिए लड़ने से आज़ादी हासिल नहीं हो सकती थी।

विद्रोह में छापामार लड़ाई करने वाले कुछ मार्के के नेता सामने आए। उनमें एक तो फ़ीरोज़शाह था; जो दिल्ली के बहादुरशाह का रिश्तेदार था। लेकिन उनमें सबसे ज्यादा प्रतिभावान् नेता था तांत्या टोपी, जिसने अंग्रेज़ों को उस वक्त भी कितने ही महीनों तक परेशान किया, जब कि हार उसके सामने साफ़ तौर पर दिखाई देरही थी। आख़िर में जब वह नर्मदा को पार करके मराठा प्रदेशों में अपने ही आदमियों से स्वागत और सहायता पाने की आशा से पहुंचा तो सिर्फ़ उसका स्वागत ही नहीं हुआ, बल्कि उसके साथ दग़ा भी की गई। इन सबके ऊपर एक नाम और है जिसके लिए आम जनता के लिए अब भी इज्ज़त है और वह नाम है लक्ष्मीबाई का, जो झांसी की रानी थी; जिसकी उम्र बीस बरस की थी और जो लड़ते-लड़ते मर गई। उन अंग्रेज़ सेनापतियों ने, जिन्होंने उसका मुक़ाबला किया, उसके बारे में यह कहा कि वह बाग़ी नेताओं में 'सर्वोत्तम और सबसे ज्यादा बहादुर' थी।

ग़दर के अंग्रेज़ी स्मारक कानपुर में और दूसरी जगहों में बना दिये गए हैं। उन हिंदुस्तानियों के, जिन्होंने अपनी जानें दीं, कोई स्मारक नहीं है। कभी-कभी विद्रोही हिंदुस्तानियों ने बड़ा क्रूर और बर्बरता-पूर्ण व्यवहार किया; वे लोग असंगठित थे, दबे हुए थे और वे अक्सर ब्रिटिश अत्याचारों की खबरों से नाराज़ हो उठते थे। लेकिन इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है। जिसने हिंदुस्तान के दिमाग़ पर अपनी छाप डाली और मेरे सूबे में तो खास तौर से, गांवों और कस्बों में, उसकी याद बनी हुई है। हर शख़्स उसको भूल जाना चाहेगा, क्योंकि वह एक बड़ी भयानक और घृणास्पद तस्वीर है और अगर्चे वर्तमान युद्ध में नाजियों द्वारा बर्बरता के नए मापदंड बन गए हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसमें इंसान अपनी बुरी-से-बुरी शक्ल में सामने आता है। लेकिन उसको सिर्फ़ उस वक़्त ही भुलाया जा सकता है और उसके बाद उस वक़्त ही वह अनासक्तिपूर्ण और अव्यक्तिगत हो सकती है जब कि वह सचमुच ही गुज़रे जमाने की चीज़ हो जाय और उसका मौजूदा वक़्त से कोई ताल्लुक़ न रहे। लेकिन जब याद दिलाने वाली कड़ियां मौजूद हैं और जब कि उन घटनाओं के पीछे की भावना बनी हुई है और दिखाई देती है तो हमारी जनता में उनकी याद भी बनी रहेगी और उसका असर दिखाई देगा। तस्वीर को ढक देने की कोशिश से वह मिट नहीं जाती, बल्कि वह दिमाग़ में और भी ज्यादा गहरी घुस जाती थी। सिर्फ़ स्वाभाविक रूप से उससे बरतने पर ही उसका असर कम किया जा सकता है।

विद्रोह और उसके दमन का, इतिहास में बहुत ही ग़लत और झूठा चित्र दिया गया है। उसके बारे में हिंदुस्तानी क्या सोचते हैं, यह बात किताब के पन्नों में शायद ही कहीं पता लगती हो। सावरकर ने 'दि हिस्ट्री अव् दि वार अव् इंडियन इंडिपेंडेंस' नामक किताब करीब तीस साल पहले लिखी, लेकिन वह किताब फौरन ही जब्त कर ली गई और वह अब भी ज़ब्त है। कुछ स्पष्टभाषा और संमाननीय अंग्रेज इतिहासकारों ने कभी-कभी परदा उठाया है और हमको उस जातीय अहंकार और उस हुकूमती मनोवृत्ति की झलक मिली है जो एक बहुत बड़े पैमाने पर व्यापक थी। केये और मैलेसन की 'हिस्ट्री अव् दि म्यूटिनी" में और टामसन और गैरेट की 'राइज़ एंड फ़ुलफ़िलमेंट अव् ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में जो बयान दिये गए हैं उनकी भयंकरता से आदमी बेचैन हो उठता है। "हर एक हिंदुस्तानी, जो अंग्रेजों की तरफ़ से लड़ नहीं रहा था औरतों और बच्चों का हत्यारा माना गया। दिल्ली के रहने वालों का (और उनमें ऐसे भी लोग थे जो हमारी सफलता की खुली तौर पर अपनी इच्छा प्रकट करते थे) कत्ले-आम करने का हुक्म दे दिया गया।" तैमूर और नादिरशाह के दिन याद आ गए लेकिन यह नया आतंक तो इतने ज्यादा वक़्त तक रहा और इतने बड़े हिस्सों में कि उनके कारनामे भी फीके पड़ गए। लूट-मार की सरकारी तौर पर एक हफ़्ते के लिए इजाज़त मिली और वह करीब एक महीने तक जारी रही। उसके साथ कत्ले-आम भी जारी था।

ख़ुद इलाहाबाद के मेरे ही शहर और ज़िले में और उसके पड़ौस में जनरल नील ने अपने ख़ूनी मुकदमे किये। "सिपाही और ग़ैर सिपाही सभी ख़ूनी मुकदमे कर रहे थे और वे उम्र या स्त्री-पुरुष का लिहाज़ किये बग़ैर बिना मुकदमे के ही देशी आदमियों का कत्ल कर रहे थे। हमारी ब्रिटिश पार्लमेंट के पुराने कागज़ों में गवर्नर जनरल की रिपोर्टों में यह बात दर्ज है, "कि बाग़ियों की तरह बूढ़ी औरतों और बच्चों का भी बलिदान कर दिया जाता ह। उनको इरादतन फांसी नहीं दी गई बल्कि गांवों में आग लगाकर ही उनको मार डाला गया......और जो बच रहे उनको गोली मार दी गई। फांसी देने वाले स्वयंसेवकों के दल जिले में गए और उस वक़्त शौक़िया फांसी देने वालों की कमी नहीं थी। एक शख़्स ने तो बड़ी तारीफ़ के साथ उन लोगों की गिनती बताई जिनको उसने एक 'कलात्मक ढंग से' ख़त्म कर दिया था। कुछ को उसने आम के पेड़ों पर लटकाकर फांसी दे दी थी, कुछ को उसने हाथी की पीठ पर से पटक दिया था और इस जंगली न्याय के शिकार हुए लोगों को तफ़रीह के लिए आठ के अंक की शकल में एक साथ बांधा था। यही बात कानपुर में हुई, लखनऊ में हुई और दूसरी जगहों में हुई।

जनरल नील की उसके कृतज्ञ देशवासियों द्वारा मूर्ति खड़ी की गई—हिंदुस्तान के खर्चे से। वह मूर्ति तो ब्रिटिश राज्य का सच्चा प्रतीक है जैसा कि वह उस वक्त था और बाद में रहा। निकॉल्सन की मूर्ति पुरानी दिल्ली में अब भी नंगी तलवार ताने खड़ी है।

इस पुराने इतिहास का जिक्र करना बुरा है लेकिन उन घटनाओं के पीछे जो भावना थी, वह उन घटनाओं के साथ ही खत्म नहीं हुई। वह बाक़ी बच रही और अब भी जब कभी कोई संकट आता है तो वही चीज़ फिर दिखाई देती है। अमृतसर और जलियां वाले बाग़ के बारे में दुनिया जानती है लेकिन ग़दर के बाद जो कुछ हुआ है उसका उसको पता नहीं है, यहां तक कि उसका भी जो कि हमारे ही ज़माने में हुआ है और जिसने नई पीढ़ी में तीखापन भर दिया है। साम्राज्यवाद और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर राज्य बुरा होता है। वही बात जातीय अहंकार के साथ है। लेकिन अगर साम्राज्यवाद और जातीय अहंकार जुड़ जावें तो उनसे तो एक बहुत ही भयंकर हालत होगी और आख़िर में उससे संबंधित सभी लोगों का अधःपतन होगा। इंग्लैंड के भविष्य के इतिहासकारों को इस बात पर ग़ौर करना होगा कि इंग्लैंड के पतन में उसके साम्राज्यवाद और उसके जातीय अहंकार का कितना असर रहा—उन चीज़ों का असर जिन्होंने उसके सार्वजनिक जीवन को दूषित कर दिया था और जिन्होंने उसे अपने ही इतिहास और साहित्य के पाठों का विस्मरण करा दिया था।

जब से हिटलर मशहूर हुआ और जर्मनी का डिक्टेटर बना, हमको जातीय अहंकार के बारे में बहुत-कुछ सुनने को मिला है। उन सिद्धांतों की निंदा की गई है, और आज भी संयुक्त राष्ट्र के नेता उनकी निंदा करते हैं। जीव-विज्ञान के विशेषज्ञ बताते हैं, जातीयता एक कोरी काल्पनिक चीज़ है, और अधिपति जाति जैसी कोई चीज नहीं है। लेकिन जब से ब्रिटिश राज्य शुरू हुआ है हमको हिंदुस्तान में जातीय अहंकार की सारी शक्लें देखने को मिली हैं। इस हुकूमत का सारा आदर्शवाद उस अधिपति जाति के सिद्धांत पर था और सरकारी ढांचा उसी की बुनियाद पर खड़ा था। असलियत में अधिपति जाति की भावना तो साम्राज्यवाद में जन्मजात है। उसमें कोई धोखा नहीं था, जो लोग हुकूमत कर रहे थे उन्होंने इसकी स्पष्ट शब्दों में घोषणा की। शब्दों से ज्यादा ताक़त उस बर्ताव में थी जो कि जनता के साथ किया जाता था। पीढ़ी के बाद पीढ़ी में, एक के बाद दूसरे साल में, हिंदुस्तान के साथ एक राष्ट्र के रूप में और हिंदुस्तानियों के साथ व्यक्तिगत रूप में बेइज्ज़ती और नफ़रत से भरा हुआ बर्ताव किया गया है। हमको बताया जाता था कि अंग्रेज़ों की एक शाही जाति था जिसको हम पर हुकमत करने

का और हमको गुलामी में रखने का दैवी अधिकार मिला हुआ था; जब हम विरोध करते तो हमको शाही जाति के सिंह स्वभाव की याद दिलाई जाती। एक हिंदुस्तानी की तरह यह लिखते हुए मुझे शर्म महसूस होता है क्योंकि उसकी याद से तकलीफ़ पहुंचती है और जिस बात से और भी ज्यादा तकलीफ़ होती है वह यह है कि इस बेइज्ज़ती के सामने हमने इतने अर्से तक सिर झुकाया और उसको बर्दाश्त किया। इसके ख़िलाफ़ मैंने तो किसी भी ढंग के विरोध को पसंद किया होता चाहे उसका नतीजा कुछ ही क्यों न होता। और फिर भी यह अच्छा है कि अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी दोनों ही उसको जान लें क्योंकि यह तो इंग्लैंड के हिंदुस्तान के साथ संबंध की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। मनोवृत्ति का अहमियत होती है और जातीय स्मृतियां गहरी होती हैं।

एक उदाहरण स्वरूप उद्धरण से हम यह महसूस कर सकगे कि हिंदुस्तान में ज्यादातर अंग्रेज़ों के क्या ख़याल हैं और वे किस तरह बर्ताव करते हैं। सन् १८८३ में इल्बर्ट बिल आंदोलन के समय सेटनकर ने, जो हिंदुस्तान सरकार के विदेश-मंत्री रहे थे, एलान किया कि 'इस बिल से उस प्रिय विश्वास पर बलात्कार होता है जो कि हिंदुस्तान में हर अंग्रेज़ के दिल में है, चाहे वह कितनी ही बड़ी जगह पर हो या छोटी जगह पर हो, चाहे वह चीफ़ कमिश्नर हो या वाइसराय हो या एक मामूली पौधे लगाने वाला हो कि वह उस जाति का सदस्य है जिसको ईश्वर ने जीतने और हुकूमत करने के लिए बनाया है।'[१]

८ : ब्रिटिश हुकूमत की तरक़ीब : संतुलन

सन् १८५७-५८ का विद्रोह खास तौर से एक सामंतवादी उठान था, वैसे हालांकि उसमें कुछ राष्ट्रीयता से प्रेरित हिस्से भी थे। फिर भी, साथ-ही-साथ रजवाड़ों की और दूसरे सामंतवादी सरदारों की मदद से अंग्रेज़ उसको कुचलने में कामयाब हुए। जो लोग विद्रोह में शामिल हुए, वे आम तौर पर वे थे जिनके विशेष अधिकारों को या जिनकी ताक़तों को ब्रिटिश हुकूमत ने छीन लिया था, या वे लोग थे जिनको इस बात का डर था कि कहीं उनकी क़िस्मत दूसरे सरदारों की-सी न हो। ब्रिटिश नीति ने कुछ झिझक के बाद इस पक्ष में फैसला किया था कि धीरे-धीरे राजा और नवाबों की हुकूमत खत्म कर दी जाय और सारे देश में सीधे ब्रिटिश राज्य को क़ायम कर लिया जाय। विद्रोह से इस नीति में रद्दो-बदल हुई, सिर्फ़ राजा और नवाबों के ही

---

१ एडवर्ड टामसन द्वारा 'राइज़ एंड फुलफ़िलमेंट आव ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में उद्धरित।

पक्ष में नहीं, बल्कि ताल्लुक़ेदारों और बड़े ज़मींदारों के भी पक्ष में। यह महसूस किया गया कि इन सामंती या अर्ध सामंती सरदारों के ज़रिए आम जनता पर क़ाबू करना ज्यादा आसान है। अवध के ये ताल्लुक़ेदार, मुग़लों के मालगुज़ार काश्तकार रहे थे, लेकिन केंद्रीय हुकूमत के कमज़ोर हो जाने से ये लोग सामंतवादी जमींदारों की तरह काम करने लगे थे। क़रीब-क़रीब वे सभी विद्रोह में शामिल हुए। हां, उनमें से कुछ ऐसे होशियार लोग भी थे जिन्होंने अपनी बचत का रास्ता बनाए रखा। उनकी बग़ावत के बावजूद ब्रिटिश हुकूमत ने उनको (कुछ अपवादों को छोड़कर) फिर से क़ायम करना चाहा और अच्छी सेवा और वफ़ादारी की शर्त पर उनको फिर से उनकी जागीरें लौटाने का फ़ैसला किया। इस तरह से ये ताल्लुक़दार जो अपने आपको अवध के सामन्त कहने में फ़क्र महसूस करते हैं, ब्रिटिश हुकूमत के खंभे बन गए।

हालांकि विद्रोह का सीधा असर तो देश के कुछ हिस्सों पर ही हुआ लेकिन उसने सारे हिंदुस्तान को और ख़ास तौर से ब्रिटिश हुकूमत को झकझोर दिया। सरकार ने फिर से सारे ढांचे का संगठन किया। ब्रिटिश ताज ने यानी पार्लमेंट ने देश को ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों में ले लिया। हिंदुस्तानी फ़ौज, जिसने ग़दर की शुरूआत की थी, नए सिरे से संगठित हुई। ब्रिटिश राज्य, जो अब अच्छी तरह क़ायम हो चुका था, उसकी प्रणाली अब स्पष्ट की गई, दृढ़ की गई और उसके अनुसार काम किया जाने लगा। उसकी बुनियादी बातें यह थीं: ऐसे स्थापित स्वार्थों को क़ायम करना और उनकी हिफ़ाजत करना, जो ब्रिटिश हुकूमत से बंध हुए थे, और यहां के विभिन्न हिस्सों में संतुलन बनाए रखने की नीति और फूट डालने वाली प्रवत्तियों को बढ़ावा देना।

राजे और बड़े जमींदार वे बुनियादी स्थापित स्वार्थ थे जो इस तरह पैदा किए गए और जिनको बढावा दिया गया। लेकिन एक नया वर्ग और था जो ब्रिटिश हुकूमत से बंधा हुआ था और अब उसकी अहमियत बढ़ी। यह वर्ग उन हिंदुस्तानियों का था जो नौकरियों में और ख़ास तौर से छोटी जगहों पर थे। पहले तो जहां तक मुमकिन हो सकता था हिंदुस्तानियों को भर्ती ही नहीं किया जाता था, और मुनरो ने उनकी भर्ती के पक्ष में जोर दिया था। अब तजुर्बे से यह बात ज़ाहिर हो गई कि भर्ती किए हुए हिंदुस्तानी ब्रिटिश हुकूमत पर इतने ज्यादा निर्भर होते थे कि उन पर भरोसा किया जा सकता था और उनको हुकूमत के एजेंट की तरह बरता जा सकता था। ग़दर से पहले के दिनों में छोटी नौकरियों के ज्यादातर हिंदुस्तानी सदस्य बंगाली रहे थे। ये लोग उत्तरी सूबों में जहां कहीं भी ब्रिटिश हुकूमत के सिविल या फ़ौजी दफ़्तरों में क्लर्कों की जरूरत होती भेज दिए जाते और इस तरह ये

सब जगह फैल गए थे। संयुक्त प्रांत, दिल्ली और यहां तक कि पंजाब में जहां-जहां हुकूमती या फ़ौजी अड्डे थे इन लोगों की नौ-आबादियां बस गईं। ये बंगाली ब्रिटिश फ़ौजों के साथ रहते और उनके बड़े वफ़ादार नौकर साबित हुए। विद्रोह करने वालों ने इनका अंग्रज़ी ताक़त से लगाव मान लिया था और विद्रोही उनसे बहुत ज़्यादा नफ़रत करते थे और उनको गालियां देते थे।

इस तरह पर नीचे की नौकरियों में हिंदुस्तानीपने का सिलसिला शुरू हो गया था, अगर्चे सभी असली ताक़त अंग्रेज़ों के हाथ में थी। ज्यों-ज्यों अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हुआ, नौकरियों में बंगालियों का एकाधिपत्य कम हुआ और हुकूमत के न्याय और व्यवस्था संबंधी दोनों ही महकमों में और दूसरे हिंदुस्तानी भी आए। यह भारतीयकरण ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने का सबसे ज़्यादा कारगर तरीक़ा हो गया। इस तरह हर जगह एक ऐसी सिविल फ़ौज या एक ऐसा सिविल अड्डा बन गया जो कब्ज़ा करने वाली हथियारबंद फ़ौज से भी ज़्यादा अहम थी। इस सिविल फ़ौज में कुछ ऐसे भी लोग थे, जो योग्य थे और जिनमें देशभक्ति और राष्ट्रीय प्रवृत्ति थी, लेकिन सिपाही की तरह, जो व्यक्तिगत हैसियत से देशभक्त हो सकता था, वे नियम और अनुशासन से बंधे हुए थे और हुक्म उदूली, विश्वासघात और विद्रोह का दंड बहुत कठोर था। सिर्फ यह सिविल फ़ौज ही नहीं बनी बल्कि उसमें भर्ती होने की उम्मीद का एक बहुत बड़ी तादाद पर, जो दिनों-दिन बढ़ रही थी, असर हुआ, और उस असर ने उन लोगों को बिगाड़ दिया। उसमें एक ढंग का रौब था, एक ढंग की सुरक्षा थी और नौकरी ख़त्म होने के बाद पेंशन का इंतज़ाम था और अगर अपने अफ़सरों के सामने काफ़ी अदब दिखाया जाता तो और दूसरी ख़ामियों की वजह से कोई ख़तरा नहीं था। यह सिविल नौकर ब्रिटिश हुकूमत और जनता के बीच में बिचौलिए थे। और अगर उनको अपने अफ़सरों का अदब करना पड़ता था तो वह भी अपना जगह पर अपने मातहतों से और आम जनता से अदब करा सकते थे।

आमदनी के दूसरे जरियों के अभाव में सरकारी नौकरियों की अहमियत और भी ज्यादा हो गई। कुछ लोग वकील या डाक्टर हो सकते थे लेकिन सिर्फ़ उसी की वजह से कामयाबी होना कोई ज़रूरी नहीं था। उद्योग-धंधे तो, न के बराबर थे। तिजारत कुछ ख़ास वर्गों के हाथों में थी और उनमें उसके लिए एक ख़ास सूझ थी। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्हीं लोगों के हाथों में रहती और वे लोग एक-दूसरे को मदद करते। नई शिक्षा से तिजारत या उद्योग-धंधे के लिए कोई योग्यता नहीं साबित होती थी; उसकी निगाह तो ख़ास तौर से सरकारी नौकरी पर थी। शिक्षा इतनी संकरी थी कि किसी दूसरे पेशे की

उस में गुंजायश नहीं थी; समाज संबंधी नौकरियों का करीब-करीब कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस तरह सिर्फ़ सरकारी नौकरी ही बाकी बची लेकिन ज्यों-ज्यों कॉलेज के ग्रेजुएटों की संख्या बढ़ी, इन सरकारी नौकरियों में भी उन लोगों का खपना मुश्किल हो गया। और उनमें पहुंचने के लिए भयंकर प्रतियोगिता होने लगा। बेकार ग्रेजुएटों का एक ऐसा गिरोह हो गया जिसमें से सरकार हमेशा ही अपने लिए आदमी ले सकता थी; जो लोग नौकरियों में थे उनकी सुरक्षा के लिए ये लोग एक ख़तरा बन गए। इस तरह ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तान में सबसे बड़ी नौकरी देने वाली संस्था ही नहीं थी बल्कि नौकरी देने वाली (रेलों की नौकरियां भी इसमें शामिल हैं) सिर्फ़ वही एक बड़ी संस्था थी। इस तरह एक बहुत बड़ा नौकरशाही ढांचा तैयार हो गया जिसकी व्यवस्था और जिसका नियंत्रण चोटी के आदमियों के जरिए होता था। ये मेहरबानी देश पर ब्रिटिश पंजा कसने के लिए की गई। उसके ज़रिए अपने विरोधी हिस्सों को कुचलना था और साथ ही उन लोगों में जो सरकारी नौकरियों की तरफ़ आंखें उठाए हुए थे, फूट और होड़ पैदा करना था। उस की वजह से नैतिक अधःपतन हुआ, संघर्ष हुआ; क्योंकि सरकार विभिन्न समुदायों को आपस में लड़ा सकती थी।

संतुलन की नीति को हिंदुस्तानी फ़ौज में इरादतन बढ़ावा दिया गया। विभिन्न समुदायों को इस तरह रखा कि उनमें राष्ट्रीय ऐक्य की भावना न उठ सके। जातीय और साम्प्रदायिक वफ़ादारी को बढ़ावा दिया गया। फ़ौज को आम जनता से बिलकुल अलग रखने की हर-एक कोशिश की गई; यहां तक कि मामूली अखबार भी हिंदुस्तानी सिपाहियों तक पहुँचने नही दिए जाते थे। सारी ख़ास-ख़ास जगहें अंग्रेजों के हाथों में रखी जाती और किसी भी हिंदुस्तानी को किंग्स कमीशन नहीं मिल सकता था। एक ग़ैर--तजुर्बेकार अंग्रेज फ़ौजी ज्यादा-से-ज्यादा तजर्बेकार और पुराने हिंदुस्तानी—ग़ैर कमीशन अफ़सर से या वायसराय कमीशन वाले अफ़सर से बड़ा होता। फ़ौजी हैडक्वार्टर्स में सिवाय हिसाब के महकमे में एक मामूली से क्लर्क की जगह के और हिंदुस्तानियों को कोई जगह नहीं दी जाती था। और ज़्यादा सुरक्षा के लिए यह नीति थी कि लड़ाई के ज्यादा कारगर हथियार हिंदुस्तानियों को दिए ही नहीं जाते; वे तो हिंदुस्तान की ब्रिटिश फ़ौजों के लिए ही होते। हिंदुस्तान के हर महत्त्वपूर्ण केंद्र में हिंदुस्तानी पलटन के साथ इन ब्रिटिश टुकड़ियों को, जिन्हें 'अंदरूनी सुरक्षा फ़ौज' कहा जाता था, ज़रूर रखा जाता। इनका काम था अराजकता का दमन करना और जनता को आतंकित करना। एक ओर तो यह अंदरूनी फ़ौज थी जिस में अंग्रेजों की प्रधानता थी और यह फ़ौज देश में कब्ज़ा कायम रखने का काम करती। दूसरी ओर हिंदुस्तानी फ़ौज का ज्यादातर हिस्सा

फ़ील्ड आर्मी की तरह काम करता यानी उसका संगठन देश के बाहर लड़ाई लड़ने के लिए होता। हिंदुस्तानी सिपाहियों की भर्ती कुछ ख़ास जमातों से ही की जाती थी जो कि ख़ास तौर से उत्तरी हिंदुस्तान में थी और जिनको लड़ाकू जाति कहा जाता था।

एक बार फिर हमको हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य का जन्मजात विरोधाभास दिखाई देता है। उन्होंने सारे देश को एक राजनीतिक सूत्र में बांधा और इस तरह वे नई सक्रिय शक्तियां फूट पड़ीं जिन्होंने सिर्फ़ उस ऐक्य की ही बाबत नहीं सोचा बल्कि उहोंने हिंदुस्तान की आज़ादी पर लक्ष्य किया। दूसरी तरफ़ ब्रिटिश हुकूमत ने उसी एके को, जो उन्होंने ख़ुद ही पैदा किया था, तोड़-फोड़ देने की कोशिश की। उस वक़्त राजनीतिक दृष्टि से उस फूट के माने हिंदुस्तान के बंटवारे के नहीं थे। उसका मक़सद तो राष्ट्रवादी हिस्सों को कमज़ोर करना था ताकि सारे देश पर ब्रिटिश राज्य बना रहे। फिर भी विच्छेद के लिए यह एक कोशिश तो थी ही; क्योंकि हिंदुस्तानी रियासतों को इतनी ज्यादा अहमियत दे दी गई जितनी कि उन्हें पहले कभी भी नहीं मिली थी। प्रतिक्रियावादी हिस्सों को बढ़ावा दिया गया और उनकी सहायता की आशा की गई। विभाजन को, और हर-एक समुदाय को हर दूसरे समुदाय के ख़िलाफ़ प्रोत्साहन दिया गया। धार्मिक या प्रांतीय बुनियाद पर ऐक्य को मिटाने वाली प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दिया गया और देशद्रोहियों के वर्ग का, जो अपने पर असर डालने वाली हर रद्दो-बदल से घबराता था, संगठन किया गया। एक विदेशी साम्राज्यवादी ताक़त के लिए यह एक स्वाभाविक नीति थी, और हालांकि हिंदुस्तानी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वह बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचाने वाली थी, फिर भी उस पर ताज्जुब करना एक नासमझी होगी। लेकिन इस सचाई को जान लेना भी ज़रूरी है, क्योंकि उसके बिना हम बाद की घटनाओं को समझ नहीं सकते। इसी नीति से हिंदुस्तान की राष्ट्रीय ज़िंदगी के वे अहम हिस्से पैदा हुए जिनकी आजकल हमको अक्सर याद दिलाई जाती है। उनको इसीलिए पैदा किया गया था, और उनको इसीलिए बढ़ावा दिया गया था कि उनमें मतभेद हो, और फूट हो, और अब यह कहा जाता है कि उनमें तो एका ही नहीं होता।

ब्रिटिश ताक़त के हिंदुस्तान के प्रतिक्रियावादियों के साथ इस स्वाभाविक गठबंधन से वह ताक़त उनके प्रतिक्रियावादियों की हिमायती होगई और उसने उन बहुत-सी प्रथाओं को बने रहने में सहारा दिया जिनकी वह वैसे निंदा ही करती थी। जिस वक़्त अंग्रेज़ आए, हिंदुस्तान रिवाजों से बंधा हुआ था और पुराने रिवाजों का अत्याचार अक्सर एक भयंकर चीज़ होती है। फिर भी रिवाज बदलते हैं और उन्हें मजबूरन बदलते हुए वातावरण से

कुछ-न-कुछ हद तक मेल बिठाना होता है। रिवाज ही ज्यादातर हिंदू क़ानून थे और ज्यों-ज्यों रिवाज बदलते गए क़ानून में भी तब्दीली होती गई। असलियत में हिंदू क़ानून में ऐसी कोई बात ही नहीं थी जिसको रिवाज से बदला न जा सके। अंग्रेजों ने इस रिवाजी लचीले क़ानून की जगह उन अदालती फ़ैसलों को दे दी जिनकी बुनियाद पुराने ग्रंथों पर थी। ये फ़ैसले नमूने बन गए और इनका सख्ती से पालन करना था। सिद्धांत रूप से तो यह एक फ़ायदे की बात थी क्योंकि इससे ज़्यादा एकसापन आ गया और निश्चितता भी ज़्यादा हो गई। लेकिन जिस ढंग से यह किया गया था, उसका नतीजा यह हुआ कि बाद के रिवाजों का ध्यान रखे बिना, प्राचीन क़ानून को स्थायी बना दिया गया। इस तरह पुराना क़ानून जो बहुत-सी जगहों पर कुछ हद तक रिवाजों से बदल दिया गया था और इस तरह जिसका जीवन शेष हो गया था, पत्थर की तरह जड़वत् कर दिया गया और उसमें सुपरिचित पारंपरिक ढंग से परिवर्तन लाने वाली हर एक प्रवृत्ति का दमन किया गया। वैसे हर एक समुदाय के लिए अब भी इस बात का मौका था कि वह इस बात को साबित करे कि कोई खास रिवाज क़ानून से भी बढ़कर है लेकिन क़ानूनी अदालतों में यह बात साबित करना बेहद मुश्किल था। रद्दो-बदल सिर्फ नये क़ानून से हो सकती थी, लेकिन ब्रिटिश सरकार को, जिसको कि क़ानून बनाने का अधिकार था, अपने सहायक अनुदार हिस्सों को विरोधी बनाने की कोई इच्छा नहीं थी। बाद में जब आंशिक रूप में निर्वाचित असेम्बलियों को क़ानून बनाने के कुछ अधिकार दिये गए तो हर ऐसी कोशिश पर जिससे समाज-सुधार-संबंधी क़ानून बन सकते थे, अधिकारियों ने नाराज़गी ज़ाहिर की और उन कोशिशों को सख्ती से दबाया गया।

९ : उद्योग-धंधों की तरक्क़ी : प्रांतीय भेद-भाव

सन् १८५७-५८ के विद्रोह के असर से हिंदुस्तान धीरे-धीरे पनपा। ब्रिटिश नीति के बावजूद, ज़बर्दस्त ताक़तें काम कर रही थीं और हिंदुस्तान को बदल रही थीं, और एक नई सामाजिक सजगता आ रही थी। हिंदुस्तान के राजनीतिक एके से, पच्छिम के साथ संपर्क से, विज्ञान और मशीनों में तरक्क़ी की वजह से, यहां तक कि सारे देश में उसी ग़ुलामी के दुर्भाग्य से, नई विचार-धारा बनी, धीरे-धीरे उद्योग-धंधों की तरक्क़ी हुई और क़ौमी आज़ादी के लिए एक नया आंदोलन खड़ा हुआ। हिंदुस्तान की जागृति दोहरी थी : उसने पच्छिम की तरफ़ निगाह की, और साथ ही उसने अपनी तरफ़, अपने गुज़रे हुए ज़माने की तरफ़ निगाह की।

हिंदुस्तान में रेलों के आने से औद्योगिक युग का निश्चित पहलू सामने

आया; अब तक ब्रिटेन के तैयार माल की शक्ल में उसका नकारात्मक पहलू ही सामने आया था। सन् १८६० में हिंदुस्तान में औद्योगीकरण रोकने की गरज़ से, मशीन के आयात पर जो चुंगी लगी हुई थी, हटा दी गई और बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों का शुरुआत हुई। इनमें ख़ास तौर से ब्रिटिश पूंजी लगी थी। सबसे पहले बंगाल का जूट उद्योग शुरू हुआ और इसका संचालन-केंद्र स्कॉटलैंड में डंडा में था। उसके बहुत बाद अहमदाबाद और बंबई में कपड़े की मिलें चालू हुईं। इनमें ज़्यादातर हिंदुस्तानी पूंजी थी और इन पर हिंदुस्तानी नियंत्रण था। इसके बाद खानों का नंबर आया। हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बराबर अड़चनें डालती रहा। हिंदुस्तानी कपड़े के माल पर एक उत्पादन-कर लगाया गया ताकि वह हिंदुस्तान में भी लंकाशायर के सूती माल से मुक़ाबला न कर सके। हिंदुस्तान-सरकार की नाति एक पुलिस सर-कार की नीति थी। यह बात इस तथ्य से सब से ज़्यादा ज़ाहिर होती है कि बीसवीं सदी तक उसमें खेती, उद्योग-धंधों, और व्यापार से ताल्लुक़ रखने वाला कोई महकमा ही नहीं था। जहां तक मेरा ख़्याल है, केंद्रीय सरकार में खेती का महकमा, ख़ास तौर से उस दान से चालू किया गया जो एक अमे-रिकन दर्शक ने हिंदुस्तान में खेती की तरक्क़ी के लिए दिया। (यह महकमा अब भी बहुत छोटा है)। उसके कुछ ही बाद सन् १६०५ में उद्योग और व्या-पार के लिए एक महकमा खोला गया। लेकिन ये महकमे बहुत थोड़ा काम करते थे। उद्योग-धंधों की तरक्क़ा को जान-बूझकर रोका गया और हिंदुस्ताम की स्वाभाविक आर्थिक उन्नति को बांध दिया गया।

हालांकि हिंदुस्तान की आम जनता बेहद ग़रीब थी और उसकी ग़रीबी बढ़ती जा रही थी लेकिन चोटी पर के थोड़े-से आदमी इन नई हालतों में खूब समृद्ध हो रहे थे और पूंजी इकट्ठी कर रहे थे। इन्हीं लोगों ने राजनीतिक सुधारों की और पूंजी लगाने के मौक़ों की मांग की। राजनीतिक क्षेत्र में सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस क़ायम हुई। उद्योग-धंधे और व्यवसाय धीरे-धीरे बढ़े, और यहां एक बड़ी दिलचस्प बात यह है कि जिन लोगों ने इस काम को शुरू किया, वे वही लोग थे जो पीढी-दरपीढ़ी, सैकड़ों बरस से उद्योग-धंधों में और व्यवसाय में लगे हुए थे। कपड़े के कारबार का नया केंद्र अहमदाबाद, मुग़लों के ज़माने में, बल्कि उससे भी पहले से, एक मशहूर माल तैयार करने वाला तिजारती केंद्र था, और उसका तैयार माल विदेशों में जाता था। अफ्रीका और फ़ारस की खाड़ी के देशों से व्यापार करने के लिए अहमदाबाद के इन पुराने सौदागरों के पास अपने निजी जहाज़ थे। पास ही में भड़ोंच नाम का बंदरगाह, यूनान और रोम के दिनों में भी मशहूर था।

गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ के आदमी बहुत पुराने ज़माने से

माल तैयार कराते थे, तिजारत और सौदागरी करते थे और समुद्र पार कर दूसरी जगहों को आते-जाते रहते थे। हिंदुस्तान म बहुत से परिवर्तन हुए, लेकिन नई हालतों से अपना मेल बिठाते हुए वे अपना तिजारती काम बराबर करते रहे। आजकल वे उद्योग और व्यवसाय के काम में सबसे ज्यादा आगे बढ़े हुए लोगों में से हैं। पारसी लोग जो तेरह सौ बरस पहले गुजरात में आकर बसे, इस सिलसिले में गुजराती कहे जा सकते हैं। (उनकी भाषा बहुत समय से गुजराती है।) मुसलमानों में उद्योग और तिजारत म सब से ज्यादा बढ़े हुए लोग, खोजा, मैमन और बोहरा वर्ग के हैं। यह सब हिंदू थे, बाद में इन्होंने इस्लाम को अपनाया, और ये सब शुरू में गुजरात काठियावाड़ या कच्छ के ही रहने वाले थे। इन गुजरातियों की हिंदुस्तानी उद्योग और कार-बार में ही प्रधानता नहीं है, बल्कि वे बर्मा, लंका, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका आदि दूसरे देशों में भी फैल गए हैं।

राजपूताने के मारवाड़ियों का अंदरूनी तिजारत पर नियंत्रण रहता और वे हिंदुस्तान के सारे संचालन केंद्रों में पाए जाते। वे लोग बड़ी-बड़ी पूंजी वाले थे और साथ ही देहाती साहूकार थे। परिचित मारवाड़ी कोठी के रुक्क़े की हिंदुस्तान में हर जगह, और यहां तक कि विदेशों में भी साख होती। हिंदुस्तान में मारवाड़ी अब भी बड़ी पूंजी के प्रतिनिधि हैं और इधर तो उद्योग-धंधों को भी उन्होंने अपने हाथों में ले लिया है।

उत्तर-पच्छिम के सिंधियों की भी एक पुरानी व्यावसायिक परंपरा है। शिकारपुर या हैदराबाद में उनका प्रधान केंद्र होता, और वे मध्य एशिया म और दूसरी जगहों में आते-जाते। आज (लड़ाई छिड़ने से पहले) दुनिया भर में शायद ही कोई ऐसा बंदरगाह होगा जहां कम-से-कम एक-दो सिंधी दुकानें न हों। कुछ पंजाबियों की भी एक लंबा व्यापारी परंपरा है।

मद्रास के चेट्टी लोग भी, बहुत पुराने ज़माने से व्यवसाय में ख़ास-तौर से साहूकारी में बढ़े-चढ़े रहे है। चेट्टी शब्द संस्कृत के 'श्रेष्ठी' से बना है, जिसके मानी हैं, सौदागरी समुदाय का नेता। प्रचलित 'सेठ' शब्द भी श्रेष्ठी से बना है। मद्रास के चेट्टियों ने सिर्फ़ दक्षिण हिंदुस्तान में ही एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा नहीं लिया, बल्कि वे सारे बर्मा में यहां तक कि उसके देहातों में भी फैले हुए हैं।

साथ ही हर सूबे में व्यापार और व्यवसाय ज्यादातर पुराने वैश्य वर्ग के हाथों में था। ये लोग व्यापार में बहुत पुराने ज़माने से लगे हुए थे। वे लोग थोक माल बेचते, फुटकर माल बेचते और साहूकारी करते। हर गांव मे एक बनिए की दुकान होती जो देहाती ज़िंदगी की ज़रूरत की चीजें बेचता, और गांव वालों को काफ़ी सूद पर कर्ज़ देता। देहाती कर्ज़ का ढांचा क़रीब-क़रीब

पूरी तरह से इन बनियों के हा हाथों में था। उत्तर-पच्छिम के ग्राज़ाद प्रदेश में भी ये लोग बस गए, ग्रौर इन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किए। ज्यों-ज्यों ग़रीबी बढ़ी, देहाती कर्ज़ भी तेज़ी से बढ़ा ग्रौर साहूकारों ने ज़मीन को गिरवी रखवा लिया ग्रौर ग्रागे चलकर उसमें से ज़्यादातर पर ग्रपना कब्ज़ा कर लिया। इस तरह साहूकार ज़मींदार भी बन गए।

ज्यों-ज्यों नए लोग विभिन्न व्यापारों में घुसे, व्यावसायिक, व्यापारी ग्रौर साहूकारी वर्गों की ग्रलग सत्ता धुंधली होने लगी। लेकिन वह सत्ता बनी बराबर रही, ग्रौर ग्राज भी वह दिखाई देती है। इसकी वजह वर्ण-व्यवस्था है, या परंपरा का बंधन है, या विरासत में पाई हुई योग्यता है, या ये सब बातें मिलकर ही इसका कारण हैं, यह ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। बेशक ब्राह्मणों में ग्रौर क्षत्रियों में व्यापार को, एक नीची नज़र से देखा गया। यहां तक कि धन-संग्रह को भी ग्रच्छा नहीं समझा गया। सामंतवादी युग की तरह ज़मीन के कब्ज़े को सामाजिक हैसियत का प्रतीक समझा जाता था। ल्म की, चाहे उसके साथ ज़मीन पर ग्रधिकार न भी हो, सब जगह इज्ज़त की जाती थी। ब्रिटिश हुकूमत के ज़माने में सरकारी नौकरी में ग्रमन था, रुतबा था ग्रौर शान थी। बाद में जब हिंदुस्तानियों को इंडियन सिविल सर्विस में घुसने की छूट मिली तो यह नौकरी, जिसको 'स्वर्गीय' बताया जाता था--जिसका स्वर्ग लंदन का व्हाइट हॉल था--अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के लिए इंद्र-लोक की तरह हो गई। ग्रालिम पेशों के लिए भी इज्ज़त थी लेकिन इनमें खासतौर से कुछ वकीलों ने नई ग्रदालतों में बड़ा रुपया कमाया था ग्रौर उनका बहुत रौब-दाब था ग्रौर उनकी बहुत ऊंची हैसियत थी, इसलिए नौजवानों का वकालत की तरफ़ खिंचाव हुग्रा। लाज़िमी तौर पर राजनीतिक ग्रौर समाज-सुधार ग्रांदोलनों में इन वकीलों ने खास हिस्सा लिया।

सबसे पहले बंगालियों ने वकालत शुरू की ग्रौर उनमें से कुछ लोग बहुत ज्यादा कामयाब हुए, ग्रौर उन्होंने वकालत पर जादू-सा कर दिया। वे लोग राजनीतिक नेता भी थे। रुझान न होने से या दूसरी वजहों से वे बढ़ते हुए उद्योग-धंधों से ग्रपना मेल नहीं बिठा सके। उसका नतीजा यह हुग्रा कि जब देश की ज़िंदगी में उद्योग-धंधे एक ग्रहम हिस्सा लेने लगे, ग्रौर राजनीति पर गहरा ग्रसर डालने लगे तो राजनीति के मैदान में बंगाल की, पहले का ग्रह-मियत घटने लगी, पहले सरकारी नौकरी की तरह या ग्रौर दूसरी हैसियत से बंगाली ग्रपने सूबे के बाहर जाते थे। ग्रब वह धारा उल्टी हो गई ग्रौर दूसरे सूबों के ग्रादमा बंगाल में, ग्रौर खास तौर से कलकत्ते में, ग्राने लगे, ग्रौर वे वहां की तिजारती ग्रौर व्यावसायिक ज़िंदगी में समा गए। कलकत्ता ब्रिटिश पूंजी ग्रौर उद्योग का खास केंद्र रहा है ग्रौर ग्रब भी है ग्रौर वहां के कारबार में अंग्रेज़

और स्कॉटलैंड वालों का आधिपत्य है। लेकिन अब मारवाड़ी और गुजराती भी उनकी बराबरी पर पहुंच रहे हैं। यहां तक कि कलकत्ते में छोटे-छोटे काम भी ग़ैर बंगालियों के हाथों में हैं। कलकत्ते के हज़ारों टैक्सी ड्राइवर क़रीब-क़रीब बिना किसी अपवाद के सभी पंजाब के सिख हैं।

बंबई, हिंदुस्तानियों के हाथों में उद्योग, व्यवसाय, बेंकिंग, बीमा आदि का प्रधान केंद्र बन गया। इन सब कामों में पारसी, गुजराती, मारवाड़ी अगुआ थे। यहां एक ख़ास बात यह है कि महाराष्ट्रों या मराठों ने इन कामों में क़रीब-क़रीब कोई हिस्सा नहीं लिया। बंबई अब एक बहुत बड़ा शहर है जहां सब जगह के लोग रहते हैं, लेकिन वहां की ज्यादातर आबादी गुजराती और महाराष्ट्रीय है। मराठों ने पांडित्य और बड़े पेशों में प्रतिभा दिखाई है; जैसी कि आशा की जा सकती है वे अच्छे सिपाही होते हैं; उनमें बहुत बड़ी तादाद में लोग कपड़े की मिलों में मज़दूरों की तरह भी काम करते हैं। वे लोग मेहनती होते हैं और मजबूत होते हैं और सारे सूबे को देखते हुए ग़रीब हैं; उनको शिवाजी की परंपरा का और अपने पुरखों के कारनामों का अभिमान है। गुजरातियों का शरीर कोमल होता है; वे ज़्यादा शिष्ट और धनी होते हैं और व्यापार और व्यवसाय तो मानो उनके लिए घर का काम है। शायद ये फ़र्क़ ख़ासतौर से भौगोलिक हैं। मराठा प्रदेश बीहड़ और उजाड़ है, और गुजरात धनी है और उपजाऊ है।

हिंदुस्तान के जुदा-जुदा हिस्सों में ये और ऐसे ही और दूसरे फ़र्क़ दिखाई देते है। ये फ़र्क़ अब भी बने हुए हैं हालांकि वैसे वह धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। मद्रास बड़े मेधावियों का सूबा है, उसने बड़े-बड़े दार्शनिक, गणितज्ञ और वैज्ञानिक पैदा किए हैं। बंबई अब क़रीब-क़रीब पूरी तरह से अपनी सारी भलाइयों और बुराइयों के साथ व्यापार में लगा हुआ है। बंगाल उद्योग और व्यापार मे पिछड़ा हुआ है लेकिन उसने कुछ बढ़िया वैज्ञानिकों को पैदा किया है। उसकी प्रतिभा ख़ासतौर से कला और साहित्य म प्रकट हुई है। पंजाब में कोई प्रमुख व्यक्ति नहीं हुआ लेकिन वह एक आगे बढ़ने वाला सूबा है और कई क्षेत्रों में उन्नति कर रहा है। वहां के लोग होशियार होते हैं और अच्छे मिस्त्री बन सकते हैं और वह छोटे व्यापार या छोटे धंधों में कामयाब होते हैं। संयक्त प्रांत और दिल्ली में एक अजीब खिचड़ी है; और कुछ लिहाज़ से यह सब हिंदु-स्तान का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे पुरानी संस्कृति के केंद्र है और साथ ही उस ईरानी संस्कृति के भी, जो मुग़ल और अफ़ग़ान युग में यहां आई। इसीलिए इन दानों का मेल-जोल यहां सबसे ज्यादा दिखाई देता है और उसमें पच्छिमी संस्कृति भी आकर मिल गई है। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों के मुक़ाबले यहां सबसे कम प्रांतीयता है। बहुत अर्से से उन्होंने अपने को हिंदुस्तान का दिल

समझा है और दूसरे लोगों ने भी उसको इसी तरह देखा है। ग्राम बातचीत में उनको ग्रक्सर हिंदुस्तान कहा जाता है।

यह बात ध्यान रखने की है कि ये फ़र्क़ भौगोलिक हैं, धार्मिक नहीं। एक बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमान के मुक़ाबले, बंगाली हिंदू से ज़्यादा मिलता-जुलता है; यही बात दूसरे लोगों के साथ है। ग्रगर हिंदुस्तान में या ग्रौर कहीं, बहुत-से बंगाली मुसलमान ग्रौर हिंदू एक साथ मिलें तो फ़ौरन ही एक जगह इकट्ठे हो जायंगे ग्रौर बड़ा ग्रपनापन-सा महसूस करेंगे। पंजाबी भी, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान या सिख, यही करेंगे। बंबई प्रेसीडेंसी के मुसलमानों (खोजा, मैमन ग्रौर बौहरों) में बहुत से हिंदू रिवाज हैं। खोजों को (जो कि ग्राग़ा ख़ां के ग्रनुयायी हैं) ग्रौर बौहरों को उत्तर के मुसलमान, कट्टर मुसलमान नहीं मानते।

वैसे तो सभी मुसलमान, लेकिन ख़ास तौर से बंगाल ग्रौर उत्तर के मुसलमान, बहुत ग्रर्से तक सिर्फ़ अंग्रेज़ी शिक्षा से दूर ही नहीं रहे बल्कि उन्होंने उद्योग-धंधों की तरक्क़ी में भी बहुत कम हिस्सा लिया। कुछ हद तक तो इसकी वजह उनकी सामंतवादी विचार-धारा थी ग्रौर कुछ हद तक इसकी वजह, (रोमन कैथोलिक धर्म की तरह) इस्लाम की सूद लेने के लिए मनाही थी। लेकिन ग्रजीब-सी बात है कि सबसे ज़्यादा शैतान साहूकार, पठानों की एक ख़ास जाति के लोग हैं जो कि सरहद के रहने वाले हैं। इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले पचास वर्षों में मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा में पिछड़े हुए थे, ग्रौर इसी वजह से पच्छिमी विचारों में, साथ ही सरकारी नौकरी ग्रौर उद्योग-धंधों में पिछड़े हुए थे।

हिंदुस्तान में उद्योग-धंधों की तरक्क़ी ने, हालांकि वह बहुत धीमी ग्रौर रुकी हुई थी, प्रगति दिखाई ग्रौर ग्रपनी तरफ़ लोगों का ध्यान ग्राकर्षित किया। फिर भी ग्राम जनता की ग़रीबी के मसले पर या धरती के भार पर कोई भी फ़र्क़ नहीं पड़ा। उन करोड़ों ग्रादमियों में से, जो बेकार थे या ग्राधे-बेकार थे, कुछ लाख ग्रादमी उद्योग-धंधों में चले गए। लेकिन यह तब्दीली इतनी ज़रा-सी थी कि हिंदुस्तान के बढ़ते हुए देहातों पर इसका कोई ग्रसर नहीं हुग्रा। व्यापक बेकारी ग्रौर ज़मीन पर दबाव का नतीजा यह हुग्रा कि मज़दूर बहुत बड़ी तादाद में, ग्रपमानजनक हालतों में भी काम करने के लिए विदेशों में गए। वे दक्षिण ग्रफ़्रीका, फ़ीजी, ट्रिनिडाड, जमैका, गायना, मौरीशस, लंका बर्मा ग्रौर मलाया गए। वे छोटे-छोटे समुदाय या व्यक्ति, जिनको यहां पर विदेशी राज्य में तरक्क़ी ग्रौर बहतरी का मौका मिला, ग्राम जनता से ग्रलग कर दिये गए ग्रौर ग्राम जनता की हालत बदतर होती गई। इन समुदायों के पास थोड़ी-सी पूंजी इकट्ठी हुई, ग्रौर ग्रागे उन्नति के लिए ठीक वातावरण

तैयार किया गया। लेकिन ग़रीबी और बेकारी के बुनियादी मसले ज्यों-के-त्यों बने रहे।

१०: हिंदुओं और मुसलमानों में सुधार और दूसरे आंदोलन

'टेकनिकल' तब्दीलियों और उनके ज़ोरदार नतीजों की शकल म पच्छिम की असली टक्कर हिंदुस्तान से उन्नीसवीं सदी में हुई। विचारों के मैदान में भी धक्का लगा और रद्दो-बदल हुई, और वह क्षितिज, जो बहुत अर्से से एक सँकरे खोल में घिरा हुआ था, विस्तृत हुआ। पहली प्रतिक्रिया अल्प-संख्यक अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्ग तक ही सीमित थी, और उसमें करीब-करीब हर पच्छिमी चीज़ के लिए तारीफ़ थी और स्वीकृति थी। हिंदू-धर्म की कुछ सामाजिक प्रथाओं और रीतियों से नाराज़गी का वजह से बहुत से हिंदू ईसाई धर्म की ओर खिचे और बंगाल में कुछ मशहूर आदमियों ने भी अपना धर्म बदल लिया। इसलिए राजा राममोहनराय ने इस बात की कोशिश की कि हिंदूधर्म को इस नए वातावरण के अनुरूप किया जाय, और उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की, जिसकी बुनियाद समाज-सुधार पर थी, और जिसे अक़्ल क़ुबूल कर सकती थी। उनके उत्तराधिकारी केशवचंद्रसेन ने उसमें ईसाई दृष्टिकोण को बढ़ा दिया। ब्रह्मसमाज का बंगाल के नए, बढ़ते हुए मध्यम वर्ग पर असर हुआ, लेकिन एक धार्मिक विश्वास के रूप में वह बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित रहा, और हां, इन लोगों में कुछ प्रमुख व्यक्ति थे और कुछ प्रमुख घराने थे। ये घराने भी, हालांकि इनकी धार्मिक और सामाजिक सुधार में बेहद उत्सुकता थी, धीरे-धीरे वेदांत के पुराने हिंदुस्तानी दार्शनिक आदर्शों की तरफ़ लौटते हुए दिखाई दिए।

हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी ऐसी ही रुझानें, काम कर रही थीं और हिंदू धर्म के उस समय प्रचलित सख़्त सामाजिक ढांचे और बहुरूपिया स्वभाव के ख़िलाफ़ असंतोष था। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में एक बहुत बड़ा सुधार--आंदोलन शुरू किया गया। इसको शुरू करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती, गुजरात के रहने वाले थे, लेकिन इस आंदोलन का सबसे ज़्यादा असर पंजाब के हिंदुओं पर हुआ। यह सुधार-आंदोलन था आर्य समाज का और इसकी पुकार थी कि 'वेदों की ओर चलो।' इस पुकार के, अस्लि-यत में ये माने थे कि वेदों के समय के आर्य-धर्म में बाद में जो कुछ बातें जुड़ गई थीं उनको अलग कर दिया जाय। बाद में वेदांत दर्शन जिस स्वरूप में उन्नत हुआ, उसकी, अद्वैतवाद की केंद्राय विचार-धारा की, 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' के दृष्टिकोण की, और साथ ही और बहुत-सी तब्दीलियों की ज़ोरदार

निंदा की गई। यहां तक कि वेदों की भी एक ख़ास ढंग से व्याख्या की गई। आर्यसमाज, इस्लाम, और ईसाई धर्म की, ख़ास तौर से इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में था। इसमें अंदर से सुधार के लिए आंदोलन था और धर्म-युद्ध था और साथ ही बाहरी हमलों के ख़िलाफ़ हिफ़ाज़त के लिए यह एक सुरक्षा-संगठन था। इसने हिंदू धर्म में विधर्मियों की शुद्धि करके अपनाने की प्रथा डाली और इस तरह अपने दीन में शामिल करने वाले दूसरे धर्मों से उसके झगड़ों की संभावना हो गई। आर्यसमाज, जिसमें बहुत-सी बातें इस्लाम से मिलती-जुलती थीं, हर हिंदू चीज़ का हिमायती हो गया। उसे दूसरे धर्मों का हिंदू धर्म पर संक्रमण बर्दाश्त नहीं था। यहां पर एक ख़ास बात है कि ख़ास तौर से पंजाब और संयुक्त प्रांत के मध्यम वर्ग के हिंदुओं में यह फैला। एक वक़्त ऐसा भी था जब कि सरकार इसको राजनीतिक क्रांतिकारी आंदोलन समझती थी, लेकिन सरकारी नौकरों की बहुत बड़ी तादाद ने इसका बिलकुल मान्य बना दिया। लड़के-लड़कियों के शिक्षा-प्रसार में इसने बहुत अच्छा काम किया है। साथ ही स्त्रियों की हालत सुधारने में और दलित जातियों की हैसियत और मान्यता को उठाने में भी इसने बहुत अच्छा काम किया है।

क़रीब-क़रीब स्वामी दयानंद के ही ज़माने में, बंगाल में एक दूसरे ही ढंग की शख़्सियत सामने आई और उसकी ज़िंदगी ने बहुत-से नए अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों पर असर डाला। यह शख़्सियत थी श्री रामकृष्ण परमहंस की, जो बहुत सादा आदमी थे, कोई विद्वान् भी नही थे और वैसे उन्हें समाज-सुधार में भी कोई दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन वह निष्ठा वाले आदमी थे। वह चैतन्य और दूसरे भारतीय संतों की ही परंपरा में थे। ख़ास तौर से तो वह धार्मिक थे लेकिन बहुत ही उदार, और आत्म-साक्षात्कार की अपनी खोज में वे मुसलमान और ईसाई तत्त्वज्ञों के पास गए और उनके पास वर्षों तक रहे और उनके कठोर नियम अनुशासन का पालन किया। कलकत्ते में कालीघाट में वह बसे और उनके असाधारण व्यक्तित्व और चरित्र ने धीरे-धीरे लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचा। जो लोग इनको देखने गए, यहां तक कि वे लोग भी जो उन पर हँसा करते थे, जब उनके पास गए तो उनसे बहुत ज्यादा प्रभावित हुए और ऐसे बहुत से लोगों ने, जो पच्छिमी रंग में पूरी तरह रंग गए थे, वहां पहुंचकर यह महसूस किया कि कोई एक ऐसी चीज़ भी थी जो उनसे छूट गई थी। धार्मिक विश्वास की बुनियादी बातों पर ज़ोर देते हुए उन्होंने हिंदू-धर्म और दर्शन के जुदा-जुदा पहलुओं को एक दूसरे के साथ जोड़ दिया। ऐसा जान पड़ता था कि उनके व्यक्तित्व से उन सबकी नुमाइंदगी होती थी। असलियत म उनके क्षेत्र में दूसरे धर्म भी संमिलित थे। वे हर तरह की सांप्रदायिकता के खिलाफ़ थे और उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि सभी रास्ते

सच की तरफ़ ले जाते है। वे कुछ उन संतों की तरह थे जिनके बारे में एशिया और यूरोप के पुराने इतिहास में हमको पढ़ने को मिलता था। आधुनिक जीवन के संदर्भ में उनको समझना कठिन है, फिर भी वे हिंदुस्तान के बहुरंगे सांचे के अनुरूप थे और यहां के बहुत से आदमियों के हृदय में उनके प्रति इज्ज़त और श्रद्धा थी, और उनके व्यक्तित्व के चारों ओर एक दिव्य ज्योति थी। जिन लोगों ने उनको देखा, उन पर उनके व्यक्तित्व ने असर डाला और बहुत से लोगों पर, जिन्होंने उनको नहीं देखा, उनकी ज़िंदगी की कहानी का असर हुआ है। इन दूसरी तरह के लोगों में एक रोम्यां रोलां हैं, जिन्होंने परमहंस जी की और उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानंद की जीवनियां लिखी हैं।

विवेकानंद ने अपने गुरुभाइयों के साथ सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसमें साम्प्रदायिकता नहीं है। विवेकानंद का आधार पुराने ज़माने में था, और उनमें हिंदुस्तान की देन का अभिमान था, लेकिन साथ ही ज़िंदगी के मसलों को हल करने का उनका ढंग इस ज़माने का था, और वह हिंदुस्तान के गुज़रे हुए और मौजूदा ज़माने की खाई पर एक पुल की तरह थे। बंगला और अंग्रेज़ी में वे एक ओजस्वी वक्ता थे और बंगला गद्य और काव्य के एक सुंदर लेखक थे। वे एक ख़ूबसूरत और रौबीले आदमी थे और उनमें शान और गंभीरता भरी हुई थी, उनको अपने में और अपने मिशन में भरोसा था; साथ ही वे सक्रिय और तीव्र शक्ति से भरपूर थे और हिंदुस्तान को आगे बढ़ाने की उनमें गहरी लगन थी। बेबस और गिरे हुए हिंदू दिमाग़ के लिए वे एक जीवनी-औषधि के रूप में आये, और इसको उन्होंने अपने पर भरोसा करना सिखाया और अपने पुराने ज़माने की जानकारी कराई। सन् १८९३ में शिकागो में वे दुनिया भर के धर्म-संमेलन में शामिल हुए। एक साल उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बिताया, यूरोप की यात्रा एथेंस और कुस्तुंतुनिया तक की, और मिस्र, चीन और जापान भी गए। जहां कहीं भी वे गए उन्होंने सिर्फ़ अपनी मौजूदगी से ही नहीं बल्कि जो कुछ कहा, उससे, और अपने कहने के ढंग से, एक हलचल मचा दी। एक बार इस हिंदू संन्यासी को देख लेने के बाद, उसे और उसके संदेश को भुला देना मुश्किल था। अमेरिका में विवेकानंद को 'तूफ़ानी हिंदू' कहा गया। पच्छिमी देशों की अपनी यात्रा का ख़ुद उन पर बहुत असर पड़ा। उन्होंने अंग्रेजों की लगन की और अमरीकी जनता की दृढ़ता और बराबरी की भावना की तारीफ़ की। हिंदुस्तान म अपने एक दोस्त को उन्होंने लिखा, किसी नए विचार के प्रचार के लिए अमेरिका सर्वोत्तम क्षेत्र है। लेकिन पच्छिम के धर्म के स्वरूप ने उनको प्रभावित नहीं किया और भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में उनका विश्वास और भी मज़बूत हो गया। उनके लिहाज़ से हिंदुस्तान अपने पतन के बावजूद, अब भी

'प्रकाश' की नुमाइंदगी करता था।

उन्होंने वेदांत दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार किया और उन्हें इस बात का पक्का यक़ीन था कि विचारशील मानव जाति के लिए आगे चलकर सिर्फ़ वेदांत धर्म ही हो सकता था। वजह यह थी कि वेदांत सिर्फ़ आध्यात्मिक ही नहीं था बल्कि तर्क-संगत था और साथ ही उसका बाहरी दुनिया की वैज्ञानिक खोजों से भी सामंजस्य था। "इस विश्व का सृजन किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया और न वह किसी बाहरी दिमाग़ की कृति है। वह स्वयं-भू, स्वयं-संहारक, स्वयं पोषक, एक अनंत अस्तित्व, ब्रह्म है। "वेदांत का आदर्श, आदमी की एकता और उसकी सहज दैवी प्रकृति का था; मानव में ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है; प्राणियों में मनुष्य सबसे बड़ा है लेकिन 'अदृष्य वेदांत को दैनिक जीवन में सजीव–काव्यमय, हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पौराणिक गाथाओं म से निकलकर उसका साफ़ नैतिक स्वरूप सामने आना चाहिए, और रहस्यपूर्ण योगीपने के भीतर से एक वैज्ञानिक और अमली मनोविज्ञान सामने आना चाहिए।" हिंदुस्तान इसलिए गिर गया था कि उसने अपने आपको सँकरा कर लिया था, और उसने अपने को एक खोल में बंद कर लिया था। इस तरह दूसरे राष्ट्रों से उसका संपर्क छूट गया और उसकी हालत एक जड़ सभ्यता की-सी हो गई। वर्ण-व्यवस्था, जो अपनी शुरू की शक्ल म ज़रूरी और वाञ्छनीय थी और जिसका उद्देश्य व्यक्तित्व और आज़ादी को बढ़ाना था, बेहद गिर गई और अपने मक़सद से ठीक उलटी चलने लगी और उसने आम जनता को कुचला। वर्ण-व्यवस्था एक ढंग का सामाजिक संगठन था, जिसको धर्म से अलग रखना चाहिए था। सामाजिक संगठन में तो समय के साथ परिवर्तन होना चाहिए। विवेकानंद ने कर्म-काण्ड की बेमानी गूढ़ विवेचना की और ख़ास तौर से ऊँचे वर्ण के लोगों की छुआछूत की बहुत जोरों से निंदा की। "हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने का बर्तन है और हमारा धर्म है, 'मुझे न छूओ, मैं पवित्र हूँ'"।

वे राजनीति से अलग रहे, और उन्हें अपने वक़्त के राजनीतिज्ञ नापसंद थे। लेकिन उन्होंने आज़ादी, बराबरी और जनता को उठाने की ज़रूरत पर बार-बार ज़ोर दिया। "सिर्फ़ सोच-विचार और काम-काज की आज़ादी ही ज़िंदगी, तरक्क़ी और खुशहाली की शर्त है। जहां यह आज़ादी नहीं है वहां, उस आदमी को, उस जाति को, उस राष्ट्र को ज़िंदा नहीं रखा जा सकता।" "हिंदुस्तान के लिए अगर कोई आशा है तो वह यहां की आम जनता में है। ऊपरी वर्ग के लोग, भौतिक और नैतिक दृष्टि से मुर्दा हैं।" वे पच्छिमी प्रगति और हिंदुस्तान की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को मिला देना चाहते थे। "यूरोपीय समाज हो और हिंदुस्तान का धर्म हो।" "बराबरी आज़ादी, काम और शक्ति

में तुम्हारी भावनाएं ज्यादा-से-ज्यादा पच्छिमी हों और साथ ही धर्म, संस्कृति और संस्कारों में तुम्हारी नस-नस हिंदुत्व से भरी हो।" दिन-ब-दिन विवेकानंद का अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण बढ़ता गया। "ख़ुद राजनीति और समाज-विज्ञान में जो समस्याएं बीस बरस पहले सिर्फ़ राष्ट्रीय थीं, अब सिर्फ़ राष्ट्रीय आधार पर हल नहीं की जा सकतीं। उनका आकार और परिमाण बेहद बढ़ रहा है। उनका हल सिर्फ़ उसी वक़्त हो सकता है जब उनको अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सुलझाया जाय। आज की आवाज़ है अंतर्राष्ट्रीय संस्था, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, अंतर्राष्ट्रीय क़ानून। इससे एकता ज़ाहिर होती है। उसी तरह पदार्थ के बारे में विज्ञान का नज़रिया दिन-ब-दिन ज़्यादा विस्तृत हो रहा है।" और फिर : "अगर सारी दुनिया साथ न दे तो तरक्क़ी हो भी नहीं सकती; यह चीज़ दिन-ब-दिन ज़्यादा साफ़ होती जा रही है कि कोई भी समस्या जातीय, राष्ट्रीय या और दूसरी संकरी बुनियाद पर हल नहीं हो सकती। हर विचार का इतना बढ़ना होता है कि वह सारी दुनिया में छा जाय और हर मक़सद को इतना ज़्यादा फैलना होता है कि उसके घेरे में सारा मानव जगत, यहां तक कि सारी ज़िंदगी ही समा जाए।" ये सब बातें विवेकानंद के वेदांत दर्शन के दृष्टिकोण के अनुरूप थीं और हिंदुस्तान में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक उन्होंने इसका प्रचार किया। "मुझे इस बात का पक्का यक़ीन है कि कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलहदा करके नहीं रह सकता और जहां कहीं भी, महानता नीति या पवित्रता के झूठे ख़यालों की वजह से ऐसी कोशिश की गई है, वहां अलहदा होने वाले के लिए नतीजा हमेशा ही विनाशकारी रहा है।" "दुनिया के दूसरे राष्ट्रों से हमारा अलहदगी हमारे अध:पतन का कारण है और उसका इलाज सिर्फ़ यही है कि हम फिर से बाकी दुनिया की धारा में शामिल हो जावें। गतिशीलता जीवन का चिह्न है।"

उन्होंने एक जगह लिखा है : "म समाजवादी हूं, लेकिन इसलिए नहीं कि मैं उसे एक पूर्ण (दोषहीन) व्यवस्था समझता हूं बल्कि पूरी रोटी न मिलने से आधी रोटी मिलना ही बेहतर है। दूसरी व्यवस्थाएं आज़माई जा चुकी हैं और उनमें कमी पाई गई है। इसको भी अज़माने दो और कुछ नहीं तो सिर्फ़ इसके नयेपन के हा लिए।"

विवेकानंद ने बहुत-सी बातें कहीं, लेकिन एक चीज़ जिसको उन्होंने अपने व्याख्यानों और लेखों में बराबर कहा है, अभय है। उनकी निगाह में आदमी तरस के क़ाबिल पापी नहीं है बल्कि उसमें ईश्वर का अंश है। तब उसे किसी चीज़ का डर काहे को हो? "अगर दुनिया में कोई पाप है तो वह है दुर्बलता; दुर्बलता को दूर करो, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है।" यह

उपनिषदों का महान् उपदेश था। भय से बुराई और दुःख और पछतावा होता है। यह सब चीज़ें बहुत हो लीं और कोमलता भी बहुत हो ली। "अब हमारे देश को जिन चीज़ों की ज़रूरत है वह हैं लोहे के पुट्ठे, फ़ौलाद की नाड़ियां और ऐसी प्रबल मनःशक्ति जिसको रोका न जा सके। ये सब चीज़ें हों, जो विश्व के रहस्य और भेद के अंदर भी पैठ जाएं और जैसे भी हो अपना काम पूरा कर, चाहे उसके लिए समुद्र के तले जाकर मौत का भी सामना करना पड़े।" उन्होंने "जादू-टोने और रहस्यवाद" की निंदा की और कहा "ये गिल-गिली चीज़ें; उनमें बड़ी सचाई हो सकती है, लेकिन उन्होंने हमको बर्बाद कर दिया है।......और सच की कसौटी यह है—कोई भी चीज़, जो तुम्हें शारीरिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक रूप से कमज़ोर बनाती है, उसको ज़हर की तरह छोड़ दो; उसमें कोई ज़िंदगी नहीं है, वह सच नहीं हो सकती। सच मजबूता लाता है। सच पवित्रता है, ज्ञान है......ये रहस्यवाद, चाहे उनमें थोड़ा-सा सत्य का अंश हो, लेकिन आम तौर पर कमज़ोर बनाते हैं... अपने उपनिषदों पर ध्यान दो जिनमें चमक है, शक्ति है और आभा है। इन रहस्यवादी चीज़ों से, इन कमज़ोर बनाने वाली चीज़ों से अलग हो जाओ। इस फ़िलसफ़े को उठाओ; सबसे बड़े सत्य, दुनिया में सबसे ज़्यादा सरल भी हैं, इतने सरल जितना कि तुम्हारा निजी अस्तित्व।" अंध-विश्वास से सावधान रहो। "अंध विश्वासी मूर्ख की जगह अगर तुम कट्टर नास्तिक हो तो मैं ज़्यादा पसंद करूं।" नास्तिक ज़िंदा होता है, उससे कुछ बन पड़ सकता है। लेकिन जब अंध-विश्वास हममें समा जाता है तो दिमाग़ गायब हो जाता है और तब ज़िंदगी का ख़ात्मा शुरू हो जाता है।...जादू-टोना, और अंध-विश्वास हमेशा ही कमज़ोरी की निशानी है।"[1]

---

[1] इनमें से ज़्यादातर उद्धरण स्वामी विवेकानंद के 'लेक्चर्स फ्राम कोलंबो टु अलमोड़ा' से और 'लैटर्स फ्राम स्वामी विवेकानंद' से लिये गए हैं। ये दोनों ही किताबें अद्वैत आश्रम, मायावती, अलमोड़ा (हिमालय) से प्रकाशित हुई हैं। उन पत्रों में सन् १९४२ के संस्करण में पृष्ठ ३९० पर, एक ख़त ख़ास है, जो विवेकानंद ने एक मुसलमान दोस्त को लिखा था। उसमें वे लिखते हैं :

"हम उसे चाहे वेदांतवाद कहें या और कोई वाद कहें, लेकिन यह सच है कि धर्म और विचार में अद्वैतवाद आख़िरी चीज़ है और यही सिर्फ़ एक ऐसी स्थिति है जहां से कोई आदमी दूसरे धर्मों को भी प्रेम से देख सकता है। हमारा ऐसा विश्वास है कि भविष्य में जाग्रत मानव-जगत् का धर्म यही होगा। इब्रानियों और अरबों के मुकाबले ज़्यादा पुरानी जाति होने की वजह

इस तरह हिंदुस्तान के दक्खिनी सिरे के कुमारी अन्तरीप से लेकर हिमालय तक विवेकानंद ने गर्जना की, और उन्होंने इस काम में अपने आपको खपा डाला, यहां तक कि सन् १९०२ में, जब वह सिर्फ़ उनतालीस बरस के ही थे, उनकी मृत्यु हो गई।

विवेकानंद के ही समकालीन थे रवींद्रनाथ ठाकुर। वैसे वे एक बाद की पीढ़ी के थे। ठाकुर परिवार ने, उन्नीसवीं सदी में, बंगाल में कई सुधार आंदोलनों में ख़ास हिस्सा लिया था। उस घराने में आध्यात्मिक रूप से बहुत उन्नत लोग थे, बढ़िया लेखक और कलाकार थे, लेकिन इनमें रवींद्रनाथ सबसे बढ़ कर हुए। और दर-अस्ल वह रफ़्ता-रफ़्ता इस दर्जे पर पहुंच गए कि हिंदुस्तान भर में उनका कोई सानी न रह गया। रचनात्मक काम के उनके लंबे जीवन ने दो पीढ़ियों को ढक लिया, और हमको ऐसा महसूस होता है मानो वे हमारे ही ज़माने के हों। वे कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे लेकिन वे हिंदुस्तानी जनता की आज़ादी के प्रति इतने सचेत और इतने आसक्त थे कि वे हमेशा ही अपने काव्य और संगीत के शीशमहल में नहीं रह सकते थे। जब-जब वे किसी घटनाक्रम को बर्दाश्त नहीं कर सके, वे बार-बार बाहर आए और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को या अपनी ही जनता को देवदूतों जैसी भाषा में चेतावनी दी। बीसवीं सदी के शुरू के सालों में बंगाल में जो स्वदेशी आंदोलन चला उसमें उन्होंने एक ख़ास हिस्सा लिया और बाद में उस वक़्त भी जब कि उन्होंने अमृतसर के हत्याकांड के समय अपनी 'सर' की पदवी का परि-

---

से, हिंदुओं को और जातियों की अपेक्षा इस सच पर जल्दी पहुंचने का श्रेय मिल सकता है; लेकिन व्यवहार रूप में अद्वैतवाद जिसमें सारे मानव समाज को आत्मवत् बरता जाता है अभी व्यापक रूप से हिंदुओं में आना बाकी है।

"दूसरी तरफ़ हमारा अनुभव यह है कि अगर कभी भी किसी धर्म के अनुयायी इस साम्य पर रोज़ाना की अमली ज़िंदगी में कुछ हद तक पहुंच पाए हैं तो वह इस्लाम के और सिर्फ़ इस्लाम के ही अनुयायी हैं। हां यह बात दूसरी है कि इस बर्ताव के ज़्यादा गहरे सिद्धांतों का, जिन्हें हिंदू आम तौर पर स्पष्ट रूप से देखते हैं, वे लोग न जानते हों और न समझ पाते हों।...

"हमारे यहां के लिए इन दो महाधर्मों का, हिंदू और इस्लाम का सम्मिलन--वेदांत मस्तिष्क और इस्लाम शरीर--ही एक-मात्र आशा है।

"मेरे दिमाग़ के सामने भविष्य के उस पूर्ण भारत की तस्वीर है जो इस अवस्था और संघर्ष से ऊपर उठेगा और जो प्रतिभावान् और और अजेय होगा और जिसमें वेदांत मस्तिष्क और इस्लाम शरीर होगा।" यह ख़त अलमोड़ा से १० जून सन् १८९८ को लिखा गया था।

त्याग किया। शिक्षा के मैदान में उनका जो रचनात्मक काम खामोशी से शुरू हुआ उसने तो 'शांति निकेतन' को भारतीय संस्कृति का एक प्रधान केंद्र ही बना दिया है। हिंदुस्तान के दिमाग़ पर और ख़ास तौर से बाद की नई पीढ़ियों पर उनका बेहद असर हुआ है। सिर्फ़ बंगला ही नहीं, जिसमें कि वे ख़ुद लिखते थे, बल्कि हिंदुस्तान की सभी आधुनिक भाषाएं कुछ हद तक उनकी रचनाओं से प्रभावित हुई हैं। पूर्व और पच्छिम के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने में उन्होंने और किसी भी हिंदुस्तानी के मुक़ाबले ज्यादा मदद की है और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता के आधार को चौड़ा किया है। वे हिंदुस्तान के सब से बड़े अंतर्राष्ट्रीतावादी रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्होंने विश्वास किया है और उसके लिए काम किया है और वे हिंदुस्तान का संदेश दूसरे देशों को ले गए हैं और दूसरे देशों का संदेश अपनी जनता के लिए लाये हैं। फिर भी इस अन्तर्राष्ट्रीयता के होते हुए भी उनके पैर हिंदुस्तान की ज़मीन पर ही मजबूती से जमे रहे हैं और उनका मस्तिष्क उपनिषदों के ज्ञान से ओत-प्रोत रहा है। आम ढर्रे के ख़िलाफ़, ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई, उनका नज़रिया ज़्यादा इन्क़लाबी होता गया। घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी रूसी इन्क़लाब के बड़ कारनामों के वे प्रशंसक थे, ख़ास तौर पर शिक्षा संस्कृति, स्वास्थ्य, और साम्य-भावना के। राष्ट्रीयता एक संकरी निष्ठा है, और राष्ट्रीयता का अधिपति साम्राज्यवाद से संघर्ष होने पर हर ढंग की उलझन और मायूसी होती है। जिस तरह एक दूसरे स्तर पर गांधी ने हिंदुस्तान की बेहद सेवा की है उसी तरह टैगोर ने देश की इस रूप में बड़ी भारी सेवा की है कि उन्होंने जनता को कुछ हद तक उसके सोच-विचार के संकरे घेरे से धकेल कर बाहर निकाला, और उसके दृष्टिकोण को ज्यादा विस्तृत और व्यापक बनाया। रवींद्रनाथ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े मानव-हितैषी थे।

बीसवीं सदा के पहले आधे हिस्से में टैगोर और गांधी यक़ीनी तौर पर हिंदुस्तान के दो ख़ास और मार्के के लोग रहे हैं। उनकी सम और विषम बातों का मिलान शिक्षाप्रद है। कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव या मानसिक गठन में एक दूसरे से इतने ज्यादा जुदा नहीं हो सकते। रवींद्रनाथ एक संभ्रांत कलाकार थे जो आम लोगों से सहानभूति रखने की वजह से लोकतंत्रवादी बन गए थे। वे ख़ास तौर से हिंदुस्तान की सांस्कृतिक परंपरा के नुमाइंदे थे—उस परंपरा के जो ज़िंदगी को उसके पूरे रूप में अंगीकार करती है, और जिसमें नाच और गाने के लिए जगह है। गांधा जी खास तौर से आम जनता के आदमी थे, और क़रीब-क़रीब हिंदुस्तानी किसान का ही स्वरूप थे और वे हिंदुस्तान की दूसरा पुरानी परंपरा के नुमाइंदे थे। यह परंपरा थी संन्यास और त्याग की। फिर भी रवींद्रनाथ ख़ास तौर से विचार-जगत् के आदमी थे और गांधी जी

अनवरत कर्मण्यता के। दोनों का ही अपने-अपने ढंग से विश्व-व्यापी दृष्टिकोण था और साथ ही दोनों ही पूरी तरह हिंदुस्तानी थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे हिंदुस्तान के जुदा-जुदा लेकिन आपस में मेल रखने वाले पहलुओं की नुमाइंदगी करते थे और एक दूसरे के पूरक थे।

रवींद्रनाथ और गांधी जी पर विचार करते हुए हम अपने मौजूदा ज़माने तक आ जाते हैं। लेकिन हम तो एक पहले युग पर विचार कर रहे थे। हम तो यह देख रहे थे कि विवेकानंद ने और दूसरे लोगों ने हिंदुस्तान की विगत कालीन महानता पर जो जोर दिया और उस पर अपना जो अभिमान प्रकट किया उसका आम जनता पर और ख़ास तौर से हिंदुओं पर क्या असर हुआ। विवेकानंद ख़ुद सावधान थे और उन्होंने जनता को भी इस बात से सचेत कर दिया कि वह विगत काल में ही न विचरती रहे, और उन्होंने उससे भविष्य की तरफ़ निगाह उठाने को कहा। उन्होंने लिखा : "हे ईश्वर हमारा यह देश भूतकाल में अपने शाश्वत विचरण से कब मुक्त होगा ?" लेकिन ख़ुद उन्होंने और साथ ही दूसरे लोगों ने उस भूतकाल को आमंत्रित किया था, उसमें एक जादू था और उससे छुटकारा नहीं था।

गुज़रे हुए ज़माने की ओर निगाह उठाने और वहां शांति और पोषण पाने के काम में प्राचीन साहित्य और इतिहास के फिर से अध्ययन से मदद मिली। बाद में पूर्वी समुद्र में हिंदुस्तानी उपनिवेशों की कहानियों से भी इसमें मदद मिली। हिंदू मध्यम वर्ग में, फिर से अपनी आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विरासत में विश्वास बढ़ाने में, श्रीमती एनी बीसेंट का ज़बर्दस्त हाथ रहा। इस सब में एक आध्यात्मिक और धार्मिक भावना मिली हुई थी, लेकिन साथ ही इसमें एक सुदृढ़ राजनीतिक पृष्ठभूमि भी थी। उठता हुआ मध्यम वर्ग राजनीतिक प्रवृत्ति वाला था और उसे धर्म की कोई ख़ास तलाश नहीं थी। उसे एक सांस्कृतिक नींव की ज़रूरत थी जिसे वह पकड़ सकता और जिससे उसे अपनी क्षमता में विश्वास होता, एक ऐसी चीज़ जो उस सारी मायूसी और हीनता को दूर करती जिसको विदेशी जीत और विदेशी हुकूमत ने पैदा किया था। हर देश में राष्ट्रीयता की तरक्की के साथ, धर्म के अलावा एक ऐसी तलाश होती है, और गुज़रे ज़माने पर ध्यान देने की रुझान होती है। ईरान जान-बूझ कर इस्लाम से पहले की अपनी महानता के युग में पैठा है, और इससे उसकी धार्मिक निष्ठा में किसी तरह की कमी नहीं हुई। उस युग में जाने का मक़सद उस वक़्त की याद को ताज़ा करना था। ईरान में मौजूदा राष्ट्रीयता को मज़बूत करने के लिए, उस याद का उपयोग किया गया है। यही बात और दूसरे देशों में भी है। हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने में कितने ही सांस्कृतिक पहलू हैं, और उसकी महानता, सारी हिंदुस्तानी जनता की, चाहे

वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई कुछ भी हो, एक मिली-जुली विरासत है, और उन लोगों के पुरखों ने ही तो उसका निर्माण किया था। यह बात कि बाद में उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया, उनकी इस विरासत को मिटा नहीं देती। ठीक उसी तरह जैसे कि यूनानी जब ईसाई हो गये तब भी उनका अपने पुरखों की महान् उपलब्धियों के लिए अभिमान कम नहीं हुआ और न इटली वाले रोम प्रजातंत्र या रोम साम्राज्य के दिनों को ही अपने धर्म-परिवर्तन के बाद भूले। अगर हिंदुस्तान की सारी जनता न भी इस्लाम या ईसाई मत को अपना लिया होता तब भी वह सांस्कृतिक विरासत उनको उकसान के लिए बनी रहती, और उनको उससे वह गंभीरता और शान मिलती जो मानसिक संघर्ष और जीवन को समस्याओं में होकर निकले हुए एक सभ्य अस्तित्व के लंबे इतिहास से उसकी जनता को मिलती है।

अगर हम एक आज़ाद राष्ट्र रहे होते और देश में मौजूदा वक़्त में सब मिल-जुलकर सामूहिक भविष्य के लिए काम कर रहे होते तो हम सबने इस गुज़रे वक़्त पर बराबर अभिमान के साथ देखा होता। दर-अस्ल मुग़ल ज़माने में बादशाह और उनके खास साथी, नये होने के नाते, इस गुज़रे ज़माने के साथ अपने को मिलाना चाहते थे और दूसरों की तरह उस पर अभिमान महसूस करना चाहते थे। लेकिन इतिहास के संयोग ने और उसकी रविश ने दूसरे ही ढंग से काम किया और जो तब्दीलियाँ हुई उन्होंने स्वाभाविक तरक्क़ी को रोक दिया। इसमें कुछ हद तक मानवीय नीति और दुर्बलताओं की भा मदद थी।। यहां यह उम्मीद की जा सकती है कि पच्छिम के आघात से और वैज्ञानिक और आर्थिक तब्दीली से जो नया मध्यम-वर्ग पैदा हुआ, उसमें हिंदुओं और मुसलमानों में एक-सी ही पृष्ठ-भूमि रहती। कुछ हद तक ऐसा हुआ भी लेकिन कुछ हद तक ऐसे फ़र्क़ भी उठ खड़े हुए जो पहले सामंती और अर्ध-सामंती वर्ग में और आम जनता में या तो थे ही नहीं या अगर थे तो बहुत कम थे। हिंदू और मुसलमान आम जनता में एक-दूसरे में छाँट करना मुश्किल था, और ऊपरी वर्ग में ढंग-ढर्रे हिंदू और मुसलमान दोनों में ही एक थे। यही नहीं, उनकी एक-सी संस्कृति थी, एक-से रिवाज़ थे, और एक-से त्यौहार थे। मध्यम वर्ग मनोवैज्ञानिक रूप से अलग-अलग हुए, और बाद में और दूसरी तरह के फ़र्क़ भी आ गए।

पहली बात तो यह है कि शुरू में मुसलमानों में यह बीच का वर्ग क़रीब-क़रीब था ही नहीं। उनके पच्छिमी शिक्षा, उद्योग और व्यवसाय से अलग रहने की वजह से और सामंतवादी ढर्रे से चिपके रहने की वजह से, हिंदू आगे निकल गये क्योंकि उन्होंने इन सब चीज़ों से फ़ायदा उठाया। ब्रिटिश नीति का झुकाव हिंदुओं के पक्ष में था और मुसलमानों के ख़िलाफ़ था। यह बात पंजाब में नहीं थी, और इसीलिए और जगहों के मुक़ाबले वहां के मुसलमानों

न पच्छिमी तालीम को आसानी से अपनाया। लेकिन पंजाब में अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा होने से पहले ही हिंदू बहुत आगे बढ़ गए थे। इसलिए पंजाब में भी जहांकि हिंदुओं और मुसलमानों के लिए एक-सी हालतें थीं, हिंदू माली हालत के लिहाज़ से आगे थे। विदेशी विरोधी भावनायें हिंदू और मुसलमान, आम जनता और ऊंचे वर्ग में बराबर थीं। सन् १८५७ के बलवे में दोनों ही शामिल थे, लेकिन उसका दमन मुसलमानों को ज्यादा महसूस हुआ। यह सही भी था क्योंकि दोनों के मुक़ाबले में उन्हें ज्यादा नुकसान उठाना पड़ा। इस विद्रोह से दिल्ली की सल्तनत के बने रहने के सपने बिलकुल ख़त्म हो गए। वह सल्तनत तो बहुत पहले, यहां तक कि अंग्रेज़ों के रंगमंच पर आने के पहले ही ख़त्म हो चुकी थी। मराठों न उसे ख़त्म कर दिया था और खुद दिल्ली पर भी उनका नियंत्रण था। पंजाब में रंजीतसिंह का राज्य था। अंग्रेज़ों के दख़ल देने के बिना ही उत्तर में मुग़ल साम्राज्य ख़त्म हो चुका था और दक्खिन में भी वह तितर-बितर हो चुका था। फिर भी नाम मात्र का सम्राट् दिल्ली के महलों में था और हालांकि पहले उसे मराठों से और बाद में अंग्रेज़ों से पेंशन मिलती थी, फिर भी वह मुग़ल वंश का प्रतीक तो था ही। लाज़िमी तौर पर ग़दर के दौरान में बाग़ियों ने इस प्रतीक से फ़ायदा उठाने की कोशिश की अगर्चे वह खुद कमज़ोर था और इसके लिए तैयार नहीं था। उस ग़दर के खात्मे के माने यह हुए कि यह प्रतीक भी ख़त्म हो गया।

ज्यों-ज्यों ग़दर के आतंक के बाद लोग धीरे-धीरे पनपे, उनके दिमाग़ में एक खोखलापन आया और ख़ाली जगह को भरने के लिए किसी चीज़ की ज़रूरत थी। लाज़िमी तौर पर ब्रिटिश हुकूमत का तो मंजूर करना ही था, लेकिन भूतकाल से विच्छेद से सिर्फ़ एक नई सरकार ही सामने नहीं आई बल्कि उसके साथ उलझन और घबराहट आई और आत्म-विश्वास चला गया। अस्लियत में वह विच्छेद तो ग़दर से बहुत पहले हो चुका था और जैसा कि मैं ज़िक्र कर चुका हूं उसकी वजह से बंगाल में और दूसरी जगहों में कई आंदोलन हुए। लेकिन हिंदुओं के मुक़ाबले में मुसलमान ज्यादातर अपने ख़ोल में समाए हुए थे, और पच्छिमी तालीम से बचते थे। वे बराबर इस बात का सपना देखते थे कि पुरानी हालत फिर से वापिस आयगी। अब ग़दर के बाद इस तरह के सपने नहीं देखे जा सकते थे लेकिन सहारे के लिए किसी चीज़ की ज़रूरत थी। नई तालीम से वे अब भी अलग थे। धीरे-धीरे बहुत मुश्किल और बहस-मुबाहसे के बाद सर सैयद अहमद ख़ां ने उनके दिमाग़ को अंग्रेज़ी शिक्षा की तरफ़ मोड़ा, और अलीगढ़ कॉलेज क़ायम किया। सरकारी नौकरी के लिए सिर्फ़ वही एक रास्ता था और इस नौकरी का लालच इतना ज़बर्दस्त साबित हुआ कि पुरानी नाराज़ी और पुरानी धारणाएँ ठहर न सकीं। यह बात कि

हिंदू, शिक्षा में और नौकरियों में बहुत आगे निकल गये थे, नापसंद की गई और ख़ुद वैसा ही करने के लिए एक ज़बर्दस्त दलील साबित हुई। पारसी और हिंदू तो उद्योग-धंधों में भी आगे बढ़ रहे थे लेकिन मुसलमानों की निगाह सिर्फ़ सरकारी नौकरियों की तरफ़ थी।

लेकिन काम-काज की इस नई रुझान ने, जो अस्ल में कुछ थोड़े से ही लोगों तक महदूद थी, उनके दिमाग़ के शक और उलझन को दूर नहीं किया। हिंदुओं ने ऐसी ही हालत में पीछे निगाह डाली थी और प्राचीन युग में शांति की तलाश की थी। पुराना फ़िलसफ़ा, पुरानी कला और पुराने साहित्य और इतिहास से कुछ सकून मिला। राम मोहन राय, दयानंद, विवेकानंद और दूसरे लोगों ने नई विचार-धारा के आंदोलन चलाये थे। जब कि एक ओर तो उन्होंने अंग्रज़ी साहित्य के भरे-पूरे भंडार से लाभ उठाया था, दूसरी ओर उनका दिमाग़ क़दीम संतों और शूरवीरों से भरा हुआ था। उनके दिमाग़ में इनके विचार और काम थे और वे गाथाएं और परंपराएं थी जिनको उन्होंने अपने बचपन से बराबर सीखा था।

इस गुज़रे हुए ज़माने का बहुत कुछ मुसलमान जनता में भी था और वे इन परंपराओं से वाक़िफ़ थे। लेकिन यह बात महसूस की गई और यह ख़ास तौर से मुसलमानों के ऊँचे तबक़े में ही महसूस की गई कि उनके लिए अपने आप को इन अर्ध-धार्मिक परंपराओं के साथ मिलाना ठीक नहीं था, और उनको किसी तरह का भी बढ़ावा देना इस्लाम की भावना के ख़िलाफ़ होगा। उन्होंने अपनी क़ौमी बुनियाद की दूसरी जगह तलाश की। कुछ हद तक उन्हें यह हिंदुस्तान के अफ़गान और मुग़ल-युग में मिली, लेकिन उस खाली जगह को भरने के लिए यह काफ़ी नहीं थी। वे युग हिंदू और मुसलमानों के लिए एक से थे और हिंदुओं के दिमाग़ से विदेशी हस्तक्षेप की भावना ग़ायब हो गई थी। मुग़ल शासकों को हिंदुस्तानी राष्ट्रीय शासकों की तरह देखा गया। हां, औरंगजेब के बारे में अलग-अलग रायें थीं। यहां एक ध्यान देने की बात यह है कि अकबर को जिसकी हिंदू ख़ास तौर से तारीफ़ करते थे, इधर कुछ मुसलमानों ने नापसंद किया है। पिछले साल हिंदुस्तान में उसके जन्म दिन का ४०० वां वार्षिकोत्सव मनाया गया। हर जमात के लोग (और इनमें कुछ मसलमान भी थे) इस जलसे में शामिल हुए, लेकिन मुस्लिम लीग अलहदा रही, क्योंकि अकबर तो हिंदुस्तान के एके का प्रतीक था।

सांस्कृतिक बुनियाद की तलाश में हिंदुस्तानी मुसलमान (यानी उनमें बीच के तबके के कुछ लोग) इस्लामी इतिहास की तरफ़ गए, और वे उस ज़माने में पहुंचे, जब इस्लाम बग़दाद, स्पेन, कुस्तुंतुनियां, मध्य एशिया आदि में विजेता के रूप में छाया हुआ था। इस इतिहास में दिलचस्पी हमेशा रही है

और पड़ौसी इस्लामी देशों से कुछ ताल्लक़ात भी रहे थे। मक्का में हज के लिए यात्री जाते थे, और यहां दूसरे देश के मसलमानों से मुलाक़ात होती थी। लेकिन यह सब ताल्लुक़ महदूद थ, और सतही थे, और इसका हिंदुस्तानी मुसलमानों के आम नज़रिए पर कोई ख़ास असर नहीं हुआ। वह तो सिर्फ़ हिंदुस्तान तक महदूद था। दिल्ली के अफ़गान बादशाहों ने, ख़ास तौर से मुहम्मद तुग़लक ने क़ाहिरा के ख़लीफ़ा को अपना सरपरस्त माना था। बाद में कुस्तुंतुनियां के आटोमन बादशाह ख़लीफ़ा बन गए, लेकिन उनको हिंदुस्तान में माना नहीं जाता था। हिंदुस्तान के मुग़ल बादशाहों ने किसी ख़लीफ़ा को या हिंदुस्तान के बाहर के किसी मजहबी नेता को अपना सरपरस्त नहीं माना। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में मुग़ल ताकत के ख़त्म होने के बाद ही हिंदुस्तान का मस्जिदों में तुर्की के सुल्तान का नाम लिया जाना शुरू हुआ। ग़दर के बाद यह आम रवैया होगया।

इस तरह हिंदुस्तान के मुसलमानों ने, इस्लाम के उस पुराने बड़प्पन से कुछ मनोवैज्ञानिक संतोष पाना चाहा जो कि ख़ास तौर से दूसरे देशों में था। तुर्की के आज़ाद मुस्लिम ताक़त बने रहने पर (और इस वक्त तुर्की ही एक-मात्र आज़ाद मुस्लिम ताक़त थी) उन्होंने अभिमान किया। इस भावना का हिंदुस्तानी कौमियत से कोई संघर्ष या विरोध नहीं था। असल में ख़ुद बहुत से हिंदू इस्लामी इतिहास से सुपरिचित थे, और वे उसके प्रशंसक थे। उन्होंने तुर्की के साथ सहानुभूति प्रकट की क्योंकि उन्होंने उसे यूरोपीय ज्यादतियों का एशियाई शिकार समझा। फिर भी एक भेद था, और हिंदुओं के लिए इस भावना ने वह मनोवैज्ञानिक ज़रूरत पूरी नहीं की जो कि मुसलमानों के लिए पूरी हुई।

ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमान इस झिझक में थे कि किस रास्ते का अपनायें। ब्रिटिश सरकार ने जान-बूझकर उनका हिंदुओं से भी ज़्यादा दमन किया था। इस दमन से ख़ासतौर से मुसलमानों के उस हिस्से पर असर पड़ा था जिससे नया बीच का तबक़ा या 'बूर्जुआ' वर्ग पैदा होता। उन्होंने बहुत मायूसी महसूस की, और वे बहुत ज्यादा ब्रिटिश विरोधी थे, और साथ ही रूढ़िवादी और अनुदार थे। सन् १८७० के बाद उनकी तरफ़ ब्रिटिश नीति में धीरे-धीरे तब्दीली आई और वह उनके मुआफ़िक हुई। इस तब्दीली की ख़ास वजह ब्रिटिश सरकार की संतुलन की नीति थी, जिसको बराबर बरता जा रहा था। फिर भी इस सिलसिले में सर सैयद अहमद खां का भी बहुत बड़ा हाथ था। उनको इस बात का पक्का यक़ीन था कि ब्रिटिश सरकार के सहयोग से ही वे मुसलमानों को ऊपर उठा सकते हैं। वह उन्हें अंग्रेजी तालीम के पक्ष में करने के लिए फ़िक्रमंद थे और उनके कट्टरपन को दूर करना चाहते

थे। उन्होंने जो यूरोपीय सभ्यता देखी थी, उससे वह बहुत प्रभावित थे। असल में उनके यूरोप से लिखे हुए कुछ ख़तों से यह बात ज़ाहिर होती है कि उस सभ्यता से इतने चकाचौंध थे कि उनकी माप-तौल की बुद्धि जाती रही थी।

सर सैयद एक जोशीले सुधारक थे, और वे इस ज़माने के वैज्ञानिक-विचार और इस्लाम में मेल बिठाना चाहते थे। इसके करने के माने यह नहीं थे कि किसी बुनियादी धारणा पर चोट की जाय; बल्कि वह यह चाहते थे कि धर्म-ग्रंथों कि तर्क-संगत व्याख्या की जाय। उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म के बुनियादी एक-से पन की तरफ़ इशारा किया। उन्होंने मुसलमानों में 'परदा' प्रथा की आलोचना की। तुर्की के ख़लीफ़ा के जानिब वफ़ादारी या उसकी मातहती के वे खिलाफ़ थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि वे नई शिक्षा को मुसलमानों में फैलाना चाहते थे। क़ौमी तहरीक़ की शुरुआत ने उनको डरा दिया, क्योंकि उनका यह ख़्याल था कि ब्रिटिश अधिकारियों के विरोध से, उन्हें अपने तालीमी कामों में, अंग्रेज़ों की मदद नहीं मिल सकेगी। उनकी मदद सर सैयद को ज़रूरी मालूम पड़ी। इसलिए उन्होंने मुसलमानों की ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को घटाने की कोशिश की, और उनको नेशनल कांग्रेस से भी, जो उस वक़्त बन रही थी, अलग रखने की कोशिश की। अलीगढ़ कॉलेज का एक ज़ाहिरा मक़सद यह भी था कि वह 'हिंदुस्तान के मुसलमानों को ब्रिटिश ताज की योग्य और उपयोगी प्रजा बनाए।' वे राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ़ इसलिए नहीं थे कि वह एक ऐसी संस्था था जिसमे हिंदुओं की प्रधानता थी; बल्कि इसलिए कि उनके लिहाज़ से वह राजनीतिक दृष्टि से बहुत ज्यादा तेज़ थी (हालांकि उन दिनों कांग्रेस बहुत मामूली विचारों की ही संस्था थी) और वह ब्रिटिश सहायता और सहयोग चाहते थे। उन्होंने यह बात दिखाने की कोशिश की, कि कुल मिलाकर मुसलमानों ने ग़दर में हिस्सा नहीं लिया था, और बहुत से लोग ब्रिटिश ताक़त के प्रति वफ़ादार रहे थे। वे किसी भी लिहाज़ से हिंदू-विरोधी नहीं थे, और न वे सांप्रदायिक अलहदगी चाहते थे। उन्होंने इस बात पर बार-बार ज़ोर दिया कि धार्मिक मतभेदों का कोई भी क़ौमी या राजनीतिक महत्त्व नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा : "क्या तुम सब एक ही देश के रहने वाले नहीं हो।" "याद रक्खो हिंदू और मुसलमान शब्द तो धार्मिक छांट के लिए हैं : वरना सब लोग, हिंदू, मुसलमान और यहां तक कि ईसाई भी जो इस देश में रहते हैं, इस लिहाज़ से सिर्फ़ एक ही क़ौम के लोग है।"

सर सैयद अहमदखां का असर मुसलमानों के ऊंचे तबक़े के कुछ हिस्सों तक ही महदूद था : उनका देहाती या शहरी आम जनता से वास्ता नहीं था। यह आम जनता अपने ऊंचे तबक़े से क़रीब-क़रीब बिलकुल अलहदा थी और वह हिंदू आम जनता के कहीं ज्यादा क़रीब थी। जब कि मुस्लिम ऊंचे वर्ग के

कुछ लोग मुग़ल ज़माने के शासक समुदायों का औलाद थे, दूसरी ओर आम जनता की ऐसी कोई पृष्ठ-भूमि या परंपरा नहीं थी। उनमें से ज्यादातर सबसे निचले दर्जे के हिंदुओं से मुसलमान बने थे, और उनकी बहुत बुरी हालत थी। वे सबसे ज़्यादा ग़रीब थे और सबसे ज़्यादा सताए हुए थे।

सर सैयद के कई क़ाबिल और मशहूर साथी थे। उनके तर्कसंगत काम में उन्हें बहुत से लोगों ने सहयोग दिया। इन सहयोग देने वालों में सैयद चिराग़-अली और नवाब मोहसिन-उल-मुल्क थे। उनके तालीमी कामों की तरफ़ मुंशी करामत अली, दिल्ली के मुँशी ज़काउल्ला, डा० नज़ीर अहमद, मौलाना शिबली नूमानी और शायर हाली, जो उर्दू साहित्य में एक ख़ास जगह रखते हैं, खिंचे। जहां तक मसलमानों में अंग्रेज़ी तालीम शुरू करने का और मुस्लिम दिमाग़ को राजनीतिक आंदोलन से अलग करने का सवाल था, सर सैयद कामयाब हुए। एक मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस शुरू की गई और मुसलमानों के बढ़ते हुए बीच के तबक़े का, जो नौकरियों या दूसरे पेशों में था, इसकी तरफ़ ध्यान गया।

फिर भी बहुत से मशहूर मुसलमान कांग्रेस में शामिल हुए। ब्रिटिश नीति अब निश्चित रूप से मुसलमानों के, या यों कहा जाय मुसलमानों के उन हिस्सों की तरफ़दार हो गई जो क़ौमी आंदोलन के खिलाफ़ थे। लेकिन बीसवीं सदी के शुरू में मुसलमानों की नई पीढ़ी में क़ौमियत और राजनीतिक कार्रवाई के लिए झुकाव मालूम पड़ा। इस तरफ़ से ध्यान हटा कर उसके लिए एक निकासी देने की गरज़ से, सन् १९०६ में ब्रिटिश प्रेरणा से और अंग्रेज़ों के एक ख़ास मददगार आग़ा खां के नेतृत्व में मुस्लिम लीग चालू हुई। लीग के दो ख़ास मक़सद थे। एक तो ब्रिटिश सरकार के जानिब वफ़ादारी, और दूसरे मुस्लिम स्वार्थों की हिफ़ाज़त।

एक बात ध्यान देने की है कि ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों में जितने भी ख़ास आदमी थे (और इनमें ही सर सैयद थे), वे सब पुरानी पारंपरिक शिक्षा की ही उपज थे। हां बाद में उन लोगों ने अंग्रेज़ी भी सीखी और वे नय विचारों के असर में आये। नई पश्चिमी तालीम ने उनमें कोई बड़ी शख़्सियत नहीं पैदा की। ग़ालिब उर्दू के मशहूर शायर थे और हिंदुस्तान में उस सदी के ख़ास लेखकों में से एक थे। वे ग़दर से पहले के जमाने के थे।

बीसवीं सदी के शुरू के सालों में पढ़े-लिखे मुसलमानों में दो धाराएं थीं: एक जो ख़ास तौर से कम उम्र वालों में थी, क़ौमियत की तरफ़ थी और दूसरी हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने से और कुछ हद तक मौजूदा ज़माने से अलग रहती थी और इस्लामी देशों में ख़ास तौर से तुर्की में जहां कि खलीफ़ा रहता था, उसकी ज्यादा दिलचस्पी थी। इस्लामी मुल्कों की तरफ़दार

जिस तहरीक को तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद ने आगे बढ़ाया था उसके कुछ मददगार ऊँचे तबके के मुसलमानों में मिले लेकिन सर सैयद ने इसका विरोध किया और उन्होंने तुर्की और सुल्तान में दिलचस्पी लेने के लिए हिंदुस्तानियों को मना किया। इस नए तुर्क आंदोलन का कई प्रतिक्रियाएं हुईं। हिंदुस्तान के ज्यादातर मुसलमानों ने शुरू में इसको कुछ शक भरी निगाह से देखा और सुल्तान के लिए आम तौर पर हमदर्दी थी। उसको तुर्की में यूरोपीय ताक़तों की जालसाजियों के खिलाफ़ एक रोक की चीज समझा जाता था। लेकिन कुछ दूसरे लोग भी थे और उन्हीं में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद थे जिन्होंने नौजवान तुर्कों का स्वागत किया, और उनके साथ वैधानिक और सामाजिक सुधार का जो भविष्य था उसको पसंद किया। जब त्रिपोली का जंग में सन् १६११ में इटली ने तुर्की पर अचानक हमला किया, और बाद में सन् १६१२-१३ में बाल्कन जंग के वक़्त हिंदुस्तानी मसलमानों म तुर्की के लिए हमदर्दी की एक हैरतअंगेज लहर उठी। वैसे तो यह हमदर्दी सभी हिंदुस्तानियों को थी लेकिन मुसलमानों में यह बहुत ज्यादा थी, और ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो यह उनका अपना सवाल है। आख़िरी बची हुई मुस्लिम ताक़त के ख़ात्मे का अंदेशा था; भविष्य के लिए उनके विश्वास का सब से बड़ा लंगर बर्बाद हो रहा था। डा० एम० ए० अंसारी तुर्की के लिए एक ज़बर्दस्त मेडीकल मिशन ले गए और उसके लिए गरीबों तक ने चंदा दिया; खुद मुसलमानों की बेहतरी की किसी तहरीक के लिए इतनी जल्दी रुपया नहीं इकट्ठा हुआ, जितना कि इस वक़्त तुर्की के लिए हुआ। पहली बड़ी जंग मुसलमानों के लिए एक इम्तिहान के तौर पर थी, क्योंकि तुर्की दूसरी तरफ़ था। उन्होंने अपनी बेबसी महसूस की; वे कुछ कर ही नहीं सकते थे। जब लड़ाई ख़त्म हुई तो उनके दबे हुए जज्बे ख़िलाफ़त आंदोलन के रूप में फूट पड़े।

हिंदुस्तान के मुसलमानी दिमाग़ की तरक्क़ी में, सन् १६१२ भी एक खास साल है क्योंकि उसमें दो नए साप्ताहिक निकलने शुरू हुए। उनमें से एक तो 'अल हिलाल' था जो कि उर्दू में था और दूसरा अंग्रेज़ी में 'दि कामरेड' था। 'अल हिलाल' को मौलाना अबुल कलाम आज़ाद (वर्तमान कांग्रेस सभापति) ने चलाया था। वे एक चौबीस बरस के नौजवान थे। उनकी शुरू की पढ़ाई-लिखाई क़ाहरा म अल-अज़हर यूनिवर्सिटी में हुई थी और जिस वक़्त कि वे पंद्रह और बीस बरस के ही बीच में थे उसी वक़्त वे अपनी अरबी और फ़ारसी की क़ाबलियत के लिए मशहूर हो गए थे। इसके अलावा उनको हिंदुस्तान के बाहर की इस्लामी दुनिया की अच्छी जानकारी थी और उन्हें उन सुधार आंदोलनों का पूरा पता था, जो वहां पर चल रहे थे। साथ ही उन्हें यूरोपीय मामलों की भी जानकारी थी। उनका नज़रिया बुद्धिवादी था और

साथ ही इस्लामी साहित्य और इतिहास की उन्हें पूरी जानकारी थी। उन्होंने इस्लामी धर्म-ग्रंथों की बुद्धिवादी नज़रिये से व्याख्या की। इस्लामी परंपरा से वे छके हुए थे और उनका मिश्र, तुर्की, सीरिया, फ़िलिस्तीन, ईराक और ईरान के मशहूर मुस्लिम नेताओं और सुधारकों से ज़ाती मेल था। इन देशों के इखलाकी और राजनीतिक हालात का उनपर बहुत ज्यादा असर था। अपने लेखों की वजह से इस्लामी देशों में और किसी हिंदुस्तानी मुसलमान की अपेक्षा वे ज्यादा परिचित थे। उन लड़ाइयों में जिनमें तुर्की फंस गया, उनकी बेहद दिलचस्पी हुई, और उनकी हमदर्दी तुर्की के लिए सामने आई। लेकिन उनके ढंग में और नज़रिए में और दूसरे बुजुर्ग मसलमान नेताओं के नज़रिए में फ़र्क था। उनका नज़रिया ज़्यादा विस्तृत और तर्क-संगत था' और इसकी वजह से न तो उसमें सामंतवाद था और न सँकरी धार्मिकता और न सांप्रदायिक अलहदगी। इसने उनको लाज़िमी तौर पर हिंदुस्तानी क़ौमियत का हामी बना दिया। उन्होंने तुर्की में और दूसरे इस्लामी देशों में क़ौमियत की तरक्क़ी को खुद देखा था। उस जानकारी का उन्होंने हिंदुस्तान में इस्तैमाल किया। और उन्हें हिंदुस्तानी क़ौमी आंदोलन का वही रुख दिखाई दिया। हिंदुस्तान के दूसरे मुसलमाना को इन देशों के आंदोलनों की शायद ही जानकारी रही हो और वे अपने सामंतवादी वातावरण में घिरे रहे। वे सिर्फ़ मज़हबी नज़र मे चीजों को देखते थे, और तुर्की के साथ उनकी हमदर्दी सिर्फ़ धर्म के नाते थी। इस ज़बर्दस्त हमदर्दी के बावजद वह तुर्की की क़ौमी और ग़ैर मज़हबी तहरीकों के साथ न थे।

अबुल कलाम आज़ाद ने अपन हफ़्तेवार रिसाले 'अल-हिलाल' में एक नई भाषा में बात की। वह भाषा सिर्फ़ विचार या नज़रिए के लिहाज़ से ही नई नहीं थी, बल्कि उसका गठन भी दूसरे ढंग का था। उसकी वजह यह थी कि आज़ाद की शैली में जोर था, मर्दानगी थी और अपनी फ़ारसी पृष्ठभूमि के कारण कभी-कभी वह समझने में कुछ मुश्किल होती थी। उन्होंने नए विचारों के लिए नई शब्दावली का इस्तैमाल किया और उर्दू भाषा आज जैसी भी है, उसको बनाने में, एक निश्चित असर डाला। मुसलमानों के पुराने कट्टरपंथी नेताओं में इस सब के लिए अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई, और उन्होंने आज़ाद के विचारों और उनके नज़रिए की आलोचना की। लेकिन उनमें से क़ाबिल-से-क़ाबिल लोग भी आज़ाद से बहस या दलील में, यहां तक कि धर्म-ग्रंथों और पुरानी परंपराओं की बुनियाद पर भी, आसानी से टक्कर नहीं ले सकते थे। वजह यह थी, कि इन चीज़ों के बारे में, उनके मुकाबले में आज़ाद की जानकारी ज्यादा थी। उनमें मध्य युग के इल्म, अठारहवीं सदी के तर्कवाद और मौजूदा ज़माने के नज़रिए का एक अजीब मेल था।

पुरानी पीढ़ी के कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने आज़ाद के लेखों को पसंद किया। इनमें एक तो विद्वान् मौलाना शिबली नूमानी थे जो खुद तुर्की घूम-कर आये थे और जो अलीगढ़ कॉलेज के सिलसिले में सर सैयद अहमद खां के साथ थे। जो भी हो, अलीगढ़ कॉलेज की परंपरा बिलकुल जुदा थी। वह राज-नीतिक और सामाजिक दोनों ही नज़र से अनुदार थी। उसके ट्रस्टी नवाब और जमींदार थे, जो सामंतवादी ढांचे के ही नुमाइंदे थे। एक के बाद दूसरे ऐसे अंग्रेज़ प्रिंसिपलों के अधीन रह कर जो सरकारी हलकों से नज़दीकी ताल्लुक रखते थे, इसमें अलहदगी के रुझान ने तरक्क़ी का और क़ौमियत के ख़िलाफ़ और कांग्रेस के ख़िलाफ़ नज़रिया क़ायम हो गया। वहां के तालिब-इल्मों के सामने जो ख़ास मक़सद रखा गया वह सरकारी नौकरियों में जगह पाने का था। उसके लिए सरकारी मदद करने का रुख़ ज़रूरी था, और उसमें क़ौमि-यत और बग़ावत की गुंजाइश नहीं थी। अलीगढ़ कॉलेज का समुदाय अब नए पढ़े-लिखे मुसलमानों का नेतृत्व कर रहा था, और उसने कभी-कभी खुले आम लेकिन ज़्यादातर परदे के पीछे से क़रीब-क़रीब हर मुस्लिम आंदोलन पर असर डाला। बहुत कुछ यह उन्हीं की कोशिशों का नतीजा था कि मुस्लिम लीग का जन्म हुआ।

अबुल कलाम आज़ाद ने कट्टरता के और क़ौमियत के विरोधी इस गढ़ पर हमला किया। सीधे तौर पर नहीं, बल्कि ऐसे विचारों का प्रचार करके जो अलीगढ़ की परंपरा को ही खोखला कर देते। मुसलमानों के दिमाग़दार लोगों के दायरे में इस नौजवान लेखक और संपादक ने हलचल मचा दी। नई पीढ़ी के दिमाग़ में उनके शब्दों से एक उबाल पदा हुआ। यह उबाल तुर्की मिस्र, ईरान और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन की घटनाओं से पहले ही शुरू हो चुका था। आज़ाद ने उसको एक निश्चित धारा दी, और उन्होंने यह जताया कि इस्लाम और इस्लामी देशों से सहानुभूति में, और हिंदुस्तानी क़ौमियत में कोई संघर्ष नहीं था। इससे मुस्लिम लीग को कांग्रेस के पास लाने में मदद मिली। आज़ाद खुद भी, लीग के पहले ही जलसे में, जब कि वह लड़के ही थे, शरीक हुए थे।

ब्रिटिश सरकार के नुमाइंदों ने 'अल हिलाल' को पसंद नहीं किया। प्रेस एक्ट के मातहत उससे ज़मानत मांगी गई और आखिर सन् १९१४ में उसका प्रेस ज़ब्त कर लिया गया। इस तरह दो साल की छोटी-सी ज़िंदगी के बाद 'अल हिलाल' ख़त्म हो गया। इसके बाद आज़ाद ने एक दूसरा साप्ता-हिक 'अल-बलाग़' निकाला लेकिन ब्रिटिश सरकार द्वारा आज़ाद के कैद किये जाने पर, यह भी सन १९१६ में ख़त्म हो गया। चार साल तक वे कैद में रखे गए और जब वह बाहर आए, तो उन्हों ने फ़ौरन ही नेशनल कांग्रेस के नेताओं

में अपनी जगह हासिल कर ली। तब से वे बराबर, कांग्रेस की सबसे ऊँची कार्य-कारिणी में रहे, और उस वक़्त भी अपनी कम उम्र के होते हुए, वे कांग्रेस के बड़ों में गिने गए। क़ौमी और राजनीतिक मामलों में और साथ ही साम्प्रदायिक या अल्पसंख्यक समस्या के सिलसिले म उनकी सलाह की बहुत क़द्र की जाती है। दो बार वे कांग्रेस के सभापति रहे हैं, और कई बार उन्होंने लंबी मुद्दतें जेल में बिताई हैं।

दूसरा साप्ताहिक जो सन् १९१२ में 'अल हिलाल' से कुछ महीने पहले शुरू किया गया, वह था 'कॉमरेड'। यह अंग्रेज़ी में था और इसने ख़ासतौर से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मुसलमानों की नई पीढ़ी पर असर डाला। इसके संपादक थे मौलाना मुहम्मद अली जिन में इस्लामी परंपरा और ऑक्सफ़ोर्ड की शिक्षा का एक अजीब मेल था। शुरू में वे अलीगढ़ परंपरा के समर्थक थे और उग्र राजनीति के ख़िलाफ़ थे। लेकिन उनकी शख़्सियत ज़ोरदार थी और वह इस गतिहीन ढांचे में बंद नहीं रह सकती थी। उनकी भाषा में ओज था। सन् १९११ में बंग-भंग के रद हो जाने से उनको धक्का पहुंचा, और ब्रिटिश सरकार के बारे में उनका यकीन हिल गया था। बाल्कन लड़ाई के समय वे चुप न रह सके और उन्होंने तुर्की अ।र उसकी इस्लामी परंपरा की तरफ़दारी में ज़ोरों से लिखा। धीरे-धीरे उनकी ब्रिटिश-विरोधी भावना बढ़ती गई और पहले बड़े युद्ध में तुर्की के शामिल होने पर ये भावना अपने शिखर पर पहुंच गई। 'कामरेड' में एक मशहूर और बेहद लंबा लेख 'तुर्की का फैसला' (दि च्वाइस अव् दि टर्क्स) शीर्षक उन्होंने लिखा। (उनके लेख और व्याख्यान छोटे नहीं होते थे)। इस लेख की वजह से 'कॉमरेड' की ज़िंदगी ख़त्म हो गई, सरकार ने उस को रोक दिया। उसके कुछ ही बाद सरकार ने उनको और उन के भाई शौकत अली को गिरफ़्तार कर लिया और उनको लड़ाई ख़त्म होने के एक साल बाद तक क़ैद रखा। सन् १९१९ के आख़िर में वे छोड़े गए और वे दोनों फ़ौरन ही कांग्रेस में शरीक हो गए। सन् १९२० के बाद में, कुछ वर्षों तक, अली भाइयों ने ख़िलाफ़त आंदोलन और कांग्रेसी राजनीति में एक अहम हिस्सा लिया, और उसके लिए जेल भी गए। मुहम्मदअली कांग्रेस के एक सालाना जलसे में सभापति रहे और कई वर्षों तक वे उसकी कार्य-कारिणी के मेम्बर रहे। सन् १९३० में उनकी मृत्यु हो गई।

मुहम्मदअली में जो तब्दीली हुई, वह हिंदुस्तानी मुसलमानों की बदलती हुई मनोवृत्ति का प्रतीक थी। यहां तक कि मुस्लिम लीग भी, जिसकी स्थापना मुसलमानों को क़ौमी रुझान से अलग रखने को हुई थी, और जिसका नियंत्रण पूरी तरह अर्ध-सामंती और प्रतिक्रियावादी लागों के ज़रिए होता था, नई पीढ़ी के दबाव को मानने को मजबूर हुई। हालांकि वह रज़ामंद

तो नहीं थी, लेकिन फिर भी वह राष्ट्रीयता के बहाव में बह रही थी और वह कांग्रेस के नज़दीक आती जा रही थी। सन् १९१३ में उसने सरकार की जानिब वफ़ादारी की अपनी नीति बदली, और हिंदुस्तान के लिए ख़ुदमुख़्तारी की मांग की। मौलाना आज़ाद ने 'अल हिलाल' में अपने तेजस्वी लेखों से इस परिवर्तन के पक्ष में वकालत की थी।

११ : कमाल पाशा : एशिया में राष्ट्रीयता : इक़बाल

हिंदुस्तान के मुसलमान और हिंदुओं, दोनों में ही कमाल पाशा क़ुदरती तौर पर बहुत प्रिय था। उसने तुर्की को विदेशी आधिपत्य और अंदरूनी फूट से ही नहीं बचाया था बल्कि उसने यूरोप की साम्राज्यवादी ताक़तों को और ख़ास तौर से इंग्लिस्तान की चालों को बेकार कर दिया था। लेकिन ज्यों-ज्यों अतातुर्क की नीति सामने आई, और उसने मज़हब को हटाया और सुल्तान-पद और ख़िलाफ़त को ख़त्म किया और एक ग़ैर मज़हबी सरकार क़ायम की; जहां तक ज्यादा कट्टर मुसलमानों का सवाल है, वह प्रशंसा घट गई, और उन-में आधुनिकवाद की नीति के ख़िलाफ़ एक नाराज़ी पैदा हुई। लेकिन दूसरी तरफ़ इसी नीति ने उसे हिंदू और मुसलमान दोनों ही की नई पीढ़ी में ज्यादा प्रिय बना दिया। हिंदुस्तानी मुसलमानों के दिमाग़ में ग़दर के बाद धीरे-धीरे जो सपने-जैसा ढांचा तैयार हुआ था, उसे अतातुर्क ने कुछ हद तक मिटा दिया। फिर एक ढंग का खोखलापन पैदा हुआ। बहुत से मुसलमानों ने इस ख़ाली जगह को क़ौमी आंदोलन में शरीक़ होकर भरा, और बहुत से लोग उसमें पहले ही शरीक़ हो चुके थे; दूसरे लोग अलग रहे और वे झिझकते रहे, और संशय में पड़े रहे। असली संघर्ष तो सामंतवादी विचार-धारा में और मौजूदा ज़माने की रुझानों में था। सार्वजनिक ख़िलाफ़त आंदोलन ने उस वक्त सामंतवादी नेतृत्व को एक ओर हटा दिया था, लेकिन ख़ुद उस आंदोलन की, आम जनता की ज़रूरतों में और सामाजिक और आर्थिक हालतों में कोई ठोस बुनियाद न थी। उसका केंद्र दूसरी जगह था और जब अतातुर्क ने उस बुनियाद को ही ख़त्म कर दिया तो ऊपरी ढांचा गिर पड़ा, तब आम मुस्लिम जनता भौंचक्की रह गई, और उसकी किसी राजनीतिक कार्रवाई के लिए तबियत नहीं रही। पुराने सामंतवादी नेता, जो नीचे पड़े हुए थे, फिर ब्रिटिश नीति की मदद से, जो उन्हें हमेशा ही सहारा देती रहती है, सामने आए। लेकिन वह निर्विवाद नेतृत्व की अपनी पुरानी स्थिति पर फिर नहीं पहुंच सके, क्योंकि अब हालतें बदल गई थीं। देर में सही लेकिन अब मुसलमानों में एक बीच का वर्ग ऊपर आ रहा था, और राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व मे सार्वजनिक राजनीतिक आंदोलन के अनुभव से भी एक बहुत बड़ा फ़र्क़ पैदा हो गया था।

अगर्चे आम मुस्लिम जनता और नये मध्यम वर्ग के रुझान के बनाने में, ख़ास तौर से घटना-प्रवाह का हाथ था फिर भी मध्यम वर्ग को, और ख़ास तौर से उसकी नई पीढ़ी को प्रभावित करने में सर मुहम्मद इक़बाल का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। आम जनता पर उनका शायद ही असर हुआ हो। इक़-बाल ने उर्दू में जोशीली राष्ट्रीय कविताएं लिखना शुरू किया और वे कविताएं बहुत प्रचलित हो गईं। बाल्कन युद्ध के दौरान में उन्होंने इस्लामी विषयों की तरफ़ ध्यान दिया। तत्कालीन परिस्थितियों से, और मुलसमानों की सामूहिक भावना से वे प्रभावित हुए थे, और उन्होंने ख़ुद इन भावनाओं पर असर डाला और उनकी तेज़ी को बढ़ाया। फिर भी वे एक सार्वजनिक नेता नहीं थे; वह एक कवि थे, एक विचारक और दार्शनिक थे, और पुराने सामंतवादी ढांचे से उनका लगाव था। उनका घराना शुरू में काश्मीरी ब्राह्मण था। फ़ारसी और उर्दू दोनों की ही कविता में, उन्होंने मुसलमान पढ़े-लिखे लोगों को एक दार्शनिक पृष्ठभूमि दी, और इस तरह उनके दिमाग़ को अलहदगी की दिशा में हटाया। इसमें शक नहीं कि उनकी शौहरत उनके काव्य की वजह से थी, लेकिन इससे भी ज्यादा बड़ी वजह यह थी कि उस वक़्त जब कि मुस्लिम दिमाग़ सहारे के लिए किसी लंगर की तलाश में था, उन्होंने उसकी ज़रूरत को पूरा किया। पुराने इस्लाम-देशीय आदर्श में अब कोई मान नहीं रहे थे; अब ख़िलाफ़त नहीं थी और सभी इस्लामी देश और ख़ास तौर से तुर्की बहुत ज्यादा क़ौमी विचार के थे और उन्हें दूसरे देशों की इस्लामी जनता की ज़रा भी फ़िक्र नहीं थी। और दूसरी जगहों की तरह एशिया मे भी राष्ट्रीयता का ज़ोर था। हिंदुस्तान में राष्ट्रीय आंदोलन ताक़तवर हो गया था, और उसने ब्रिटिश हुकूमत को बराबर चुनौती दी। उस राष्ट्रीयता ने हिंदुस्तान के मुस्लिम दिमाग़ को ख़ूब लुभाया। आज़ादी की लड़ाई में मुसलमानों की बड़ी तादाद ने ख़ास हिस्सा लिया था। फिर भी हिंदुस्तानी क़ौमियत पर हिंदू हावी थे और उसके स्वरूप में हिंदूपन था। इससे मुस्लिम दिमाग़ में एक संघर्ष उठ खड़ा हुआ; बहुत से लोगों ने उस क़ौमियत को मंजूर किया, और उन्होंने उसे अपनी वांछित दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश की। बहुत से लोगों की उसके साथ सहानुभूति थी, लेकिन वह अनिश्चित से अलग बने रहे। फिर भी, ऐसे भी बहुत से लोग थे, जो उस अलहदगी की दिशा में बहने लगे जिसके लिए इक़बाल के काव्यमय और फ़िलसफ़ियाना नज़रिए ने उनको तैयार किया था।

जहां तक मेरा ख़याल है यही वह पृष्ठभूमि है, जिसमें से इधर हाल के बरसों में हिंदुस्तान के बंटवारे की आवाज़ उठी है। और बहुत-सी वजहें थीं, और हर तरफ़ की ग़लतियां थीं, साथ ही ख़ास तौर से ब्रिटिश सरकार की अलहदगी पैदा करने की वह नीति थी, जो जान-बूझकर बरता गई थी। लेकिन

इस सब के पीछे यह मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि थी जो और दूसरे ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त, हिंदुस्तान में मुस्लिम मध्यम वर्ग के देर से जन्म लेने के कारण पैदा हुई थी। विदेशी हुकूमत के खिलाफ़ राष्ट्रीय संघर्ष के अलावा हिंदुस्तान में जो अंदरूनी संघर्ष है, वह असलियत में सामंतवादी ढांचे के बचे हुए हिस्सों और आधुनिक विचार और संस्थाओं में है। यह संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर है और साथ ही हर बड़े समुदाय में, मसलन हिंदू, मुसलमान आदि में है। राष्ट्रीय आंदोलन, जिसकी नुमाइंदगी खास तौर से राष्ट्रीय कांग्रेस करती है, यक़ीनी तौर पर विचारों और संस्थाओं से मेल बिठाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति करता है। हां उसमें कुछ पुरानी बुनियादों से भी मेल बिठाने की कोशिश है। इसी वजह से उसकी ओर सभी तरह के लोग आकर्षित हुए, वैसे उनमें आपस में बहुत फ़र्क़ है। जहां तक हिंदुओं का सवाल है एक कड़े सामाजिक ढांचे ने तरक़्क़ी के रास्ते में रुकावट डाली है, और यही नहीं बल्कि दूसरे समुदायों को डरा दिया है। लेकिन यह सामाजिक ढांचा खुद खोखला हो गया है, और इसका कड़ापन तेज़ी से ग़ायब हो रहा है। जो भी हो, अब वह इतना ताक़तवर नहीं है, कि व्यापक राजनीतिक और सामाजिक मानों में उस राष्ट्रीय आंदोलन की बढ़ती को रोक सके, जिसमें अब इतना वेग पैदा हो गया है कि वह सब, अड़चनों के बावजूद अपने रास्ते पर आगे बढ़ता जाता है। मुसलमानों में सामंतवादी हिस्से ताक़तवर बने रहे हैं, और वे आम मुस्लिम जनता पर आम तौर से अपना नेतापन बनाये रखने में कामयाब हुए हैं। हिंदू और मुसलमान मध्यम वर्ग की तरक्की में क़रीब-क़रीब एक पीढ़ी का फ़र्क़ है, और वह फ़र्क़ राजनीतिक, आर्थिक और कई दूसरी दिशाओं में ज़ाहिर होता है। इसी पिछड़ेपन की वजह से मुसलमानों में डर की मनोवृत्ति पैदा होती है।

पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बंटवारे का प्रस्ताव इस पिछड़ेपन का हल नहीं है। यह बात दूसरी है कि कुछ लोगों की भावुकता को यह प्रस्ताव बहुत रुचिकर हो। उससे तो इस बात की संभावना ज्यादा है कि कुछ वक़्त के लिए सामंतवादी हिस्सों का पंजा और ज्यादा मज़बूत हो जायगा, और उससे मुसलमानों की आर्थिक प्रगति में देरी होगी। इक़बाल, पाकिस्तान की सबसे पहले सलाह देने वालों में से एक थे, फिर भी ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने उसके जन्म-जात क़तरे और उसके निकम्मेपन को महसूस कर लिया था। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि बातचीत के सिलसिले में इक़बाल ने उनको बताया कि उन्होंने मुस्लिम लीग के अधिवेशन के सभापति होने के नाते पाकिस्तान की सलाह दी थी, लेकिन उन्हें इस बात का यक़ीन था कि पाकिस्तान कुल मिलाकर सारे हिंदुस्तान के ही लिए और ख़ास तौर से मुसलमानों के लिए घातक

होगा। शायद उनके विचार बदल गए थे, या शायद पहले उन्होंने इस मामले पर ज़्यादा ग़ौर ही नहीं किया था क्योंकि उस वक़्त उसकी कोई अहमियत नहीं थी। पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बंटवारे की बाद में पैदा हुई शक़्ल से ज़िंदगी के उनके नज़रिये का मेल ही नहीं बैठता।

अपने आख़िरी बरसों में इक़बाल समाजवाद की तरफ़ दिन-ब-दिन ज़्यादा झुके। सोवियट-रूस की बहुत बड़ी प्रगति ने उनको आकर्षित किया। यहां तक कि उनके काव्य की भी दिशा बदली। अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले जब कि वह रोग-शय्या पर पड़े थे, उन्होंने मुझे बुलाया, और मैंने ख़ुशी से उनके बुलावे की तामील की। ज्यों-ज्यों हम दोनों ने बहुत-सी चीज़ों पर बातचीत की, मैंने यह महसूस किया कि बहुत से फ़र्क़ों के बावजूद, हम दोनों में बहुत-सी बातें एक-सी थीं और हमारे लिए एक साथ काम करना आसान होता। वह पुरानी बातों को याद कर रहे थे और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ जाते। मैं उनकी बात चुपचाप सुनता रहा, और ख़ुद बहुत कम बोला। मैंने उनकी और उनकी कविता की तारीफ़ की, और मुझे यह महसूस करके बहुत ख़ुशी हुई कि वे मुझे पसंद करते थे, और मेरे बारे में उनकी अच्छी राय थी। बिछुड़ने से पहले उन्होंने मुझसे कहा : "तुम में और जिन्ना में क्या बात एक-सी है ? वह एक राजनीतिज्ञ है, और तुम देशभक्त हो।" मेरी ऐसी आशा है कि अब भी मेरे और मि० जिन्ना के अंदर बहुत-सी एक-सी बातें हैं। जहां तक मेरे देशभक्त होने का सवाल है, मुझे नहीं मालूम कि इन दिनों में, कम-से-कम इस शब्द के संकुचित मानों में यह कोई एक विशेषता की बात है। हिंदुस्तान से मैं बहुत आसक्त हूं और मैंने बहुत अर्से से ऐसा महसूस किया है कि अपनी समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए राष्ट्रीय प्रेम के अलावा और किसी चीज़ की भी ज़रूरत है। सारी दुनिया की समस्याओं को सुलझाने के लिए तो यह और भी ज़्यादा ज़रूरी है। लेकिन इस बात में इक़बाल सही थे कि मैं कोई राजनीतिज्ञ नहीं था, अगर्चे मैं राजनीति के शिकंजे में आ गया था, और उसका शिकार बन गया था।

१२ : भारी उद्योग-धंधों की शुरुआत : तिलक और गोखले : पृथक् निर्वाचन

हिंदू-मुस्लिम समस्याओं की ओर पाकिस्तान और बंटवारे की नई मांग की पृष्ठभूमि को समझ पाने की ख़्वाहिश से, मैं क़रीब आधी सदी आगे बढ़ आया। इस अर्से में बहुत-सी तब्दीलियां हुईं। ये तब्दीलियां सरकार के ऊपरी ढांचे में उतनी नहीं हुईं जितनी कि जनता के दिमाग़ में। कुछ मामूली वैधानिक सुधार ज़रूर हुए, और अक्सर इनका दिखावा होता है, लेकिन उनसे

ब्रिटिश राज्य के हुकूमतपरस्ती के ढंग में कोई भी फ़र्क नहीं आया। न उन्होंनें ग़रीबी और बेकारी के मसलों को ही छुआ। सन् १९११ में, जमशेद जी टाटा ने, लोहे और फ़ौलाद का कारख़ाना उस जगह पर क़ायम करके, जो बाद में जमशेदपुर कहलाया, हिंदुस्तान में भारी धंधों की नींव डाली। सरकार ने इस कारखाने को और दूसरे उद्योग-धंधों को शुरू करने की कोशिशों को नापसंदगी की निगाह से देखा और उनको किसी भी ढंग से प्रोत्साहन नहीं दिया। अमेरिकन विशेषज्ञों की ही मदद से यह लोहे और फ़ौलाद का उद्योग शुरू हुआ। उसका बचपन बड़ी डावांडोल हालत में बीता, लेकिन बाद में १९१४–१८ का महायुद्ध उसकी मदद को आ गया। बाद में फिर यह मुरझाने लगा और ऐसा ख़तरा मालूम दिया कि यह अंग्रेज़ साहूकारों के हाथ में पहुंच जायगा, लेकिन क़ौमी दबाव ने इसको बचा लिया।

हिंदुस्तान में कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों की जमात बढ़ रही थी। वह असंगठित थी और बेबस थी और यह जमात उन किसानों में से ही तैयार हुई थी, जिनका रहन-सहन का मापदंड बेहद नीचा था और इस बात से उनकी मज़दूरी की बढ़ती में या उनकी दशा-सुधार में रुकावट हुई। जहां तक बे-हुनरदार मज़दूरों का सवाल है करोड़ों बेकार आदमी थे और उनमें से काम करने वाले आदमियों को रखा जा सकता था और ऐसी हालत में कोई हड़ताल कामयाब नहीं हो सकती थी। सबसे पहली ट्रेड यूनियन कांग्रेस सन् १९२० के आसपास शुरू हुई। इस मज़दूर जमात की गिनती इतनी काफ़ी नहीं था कि उससे हिंदुस्तानी राजनीतिक मैदान में कोई असर पड़ता। किसानों और ज़मीन के मज़दूरों के मुक़ाबले में वह नहीं के बराबर थे। सन् १९२० के बाद, कारख़ानों के मज़दूरों की आवाज़ सुनाई पड़ने लगी, लेकिन वह बहुत कमज़ोर थी। अगर रूसी क्रांति ने लोगों को कारखानों के मज़दूरों को अहमियत देने के लिए मजबूर न किया होता तो, शायद उसकी अवहेलना कर दी जाती। कुछ बड़ी और सुसंगठित हड़तालों की तरफ़ भी ध्यान गया।

किसान, अगर्चे वह सभी जगह थे और उनकी समस्या हिंदुस्तान में सबसे बड़ी था, इससे भी ज्यादा खामोश थे और उनको राजनीतिक नेताओं और सरकार दोनों ने ही भुला दिया था। राजनीतिक आंदोलन में शुरू में ऊपरा मध्यम वर्ग के आदर्शवादी रुझानों का और ख़ास तौर से पेशेवर जमातों का और उन लोगों का, जो नई हुकूमती मशीन में जगह पाना चाहते थे, ज़ोर था। जब राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसको सन् १८८८ में क़ायम किया गया था, बालिग़ हुई तो एक नया नेतृत्व सामने आया, जो पिछले के मुक़ाबले में ज्यादा ज़ोरदार और निचले मध्यम वर्ग के लोगों, विद्यार्थियों और नौजवानों का ज्यादा बड़ी तादाद की नुमाइंदगी करने वाला था। बंग-भंग के

ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त आंदोलन में क़ाबिल और ज़ोरदार इस तरह के कई नेता समने आए; लेकिन नये युग के सच्चे प्रतीक महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक थे। पुराने नेतृत्व का प्रतिनिधित्व भी एक महाराष्ट्रीय सज्जन करते थे। इन का नाम था गोपाल कृष्ण गोखले। इनकी उम्र तो ज्यादा नहीं थी, लेकिन ये थे बड़े योग्य। क्रांतिकारी नारे हवा में गूंज रहे थे। मिज़ाज़ बिगड़े हुए थे और संघर्ष लाज़िमी था। इस संघर्ष को बचाने की गरज़ से कांग्रेस के बुज़ुर्ग, दादा भाई नौरोज़ी, जिनकी सब इज्ज़त करते थे और जिनको सारे देश का ही बज़ुर्ग माना जाता था और जो कि अपनी उम्र की वजह से इस काम से अलग हो गए थ, फिर सामने आए। लेकिन यह बचाव थोड़े दिनों को ही हुआ और सन् १९०७ में संघर्ष हुआ और उसमें ज़ाहिरा तौर पर पुराने उदार दल की जीत हुई। लेकिन इसकी जीत इस वज़ह से हुई कि संस्था के संगठन पर उसका नियंत्रण था और कांग्रेस में मत-निर्वाचन बहुत सँकरा था। इस बात में कोई भी शक नहीं था, कि हिंदुस्तान में राजनीतिक दृष्टि से जगे हुए लोगों का ज़्यादातर हिस्सा तिलक और उनके समुदाय की तरफ़दारी में था। कांग्रेस की अहमियत काफ़ी घट गई, और उसकी दिलचस्पी दूसरे मामलों में हो गई। बंगाल में आतंकवादी काम सामने आया। रूसी और आयरिश क्रांतिकारियों का अनुकरण किया जा रहा था।

इन क्रांतिकारी विचारों का मुसलमान नौजवानों पर भी असर हो रहा था। अलीगढ़ कॉलेज ने इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की और इसी वक़्त सरकारी प्ररणा से आगाख़ां ने और दूसरे लोगों ने मुसलमानों के लिए एक राजनीतिक प्लेटफ़ार्म बनाने और इस तरह उनको कांग्रेस से अलग रखने के लिए मुस्लिम लीग को शुरू किया। इससे भी ज़्यादा अहमियत की बात यह थी कि मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन का फैसला किया गया। हिंदुस्तान के भविष्य पर यह एक असर डालने वाली चीज़ थी। भविष्य में मुसलमान सिर्फ़ पृथक् मुसलमान-निर्वाचिन-क्षेत्रों से ही खड़े हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारों तरफ़ एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाकी हिंदुस्तान से अलहदा कर दिया गया। इस तरह आपस में घुल-मिल कर एक हो जाने की वह प्रक्रिया जो सदियों से चल रही थी और जो वैज्ञानिक प्रगति से लाज़िमी तौर पर तेज़ हो रही थी अब उलट दी गई। यह दीवार शुरू में छोटी-सी थी क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्र संकुचित था लेकिन हर बार मत निर्वाचन के बढ़ने से वह दीवार बढ़ती गई और उससे सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढांचे पर इस तरह असर पड़ा, मानो सारे ढांचे में घुन लग गया हो। इससे म्यूनिसिपल और मुकामी स्वराज संस्थाओं में ज़हर फैला और आख़िर में बेहद ग़लत ढंग का विभाजन हुआ। काफ़ी बाद में

पृथक् मुस्लिम ट्रेड यूनियन बनी, अलग विद्यार्थी-संगठन बने, और अलग व्यापारी चैंबर क़ायम हुए। चूंकि मुसलमान इन सारे कामों में पिछड़े हुए थे, इसलिए ये संस्थाएं ख़ुद-ब-ख़ुद पैदा नहीं हुईं, बल्कि इनको ऊपर से कृत्रिम रूप से बनाया गया और उनका नेतृत्व पुराने ढंग के अर्ध-सामंती लोगों के हाथों में रहा। इस तरह कुछ हद तक मुस्लिम मध्यम वर्ग यहां तक कि आम मुस्लिम वर्ग भी तरक़्क़ी की उन धाराओं से अलग हो गया जो कि बाक़ी हिंदुस्तान पर असर डाल रही थीं। हिंदुस्तान में ऐसे बहुत से स्थापित स्वार्थ थे, जिनको ब्रिटिश सरकार ने पैदा किया था, या जिनकी उसने हिफ़ाज़त की थी। अब पृथक्-निर्वाचन क्षेत्रों का एक नया और ज़बर्दस्त स्थापित स्वार्थ पैदा किया गया।

यह कोई ऐसी अस्थायी ख़राबी नहीं थी, जो कि बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना के साथ ख़त्म हो जाती। सरकारी नीति से पोषण पाकर वह बढ़ी और चारों तरफ़ फैली; यहां तक कि उसने देश की सारी असली समस्याओं को, चाहे वे राजनीतिक हों या सामाजिक या आर्थिक, ढक लिया। इससे बंटवारे पैदा हुए और भद पैदा हुए और वह भी ऐसी जगहों में जहां कि पहले उनका नाम भी नहीं था। इससे असलियत में संरक्षित समुदाय ही कमज़ोर हो गया; क्योंकि उसमें कृत्रिम सहारे पर खड़ा होने की प्रवृत्ति बढ़ी, और वहां आत्म निर्भरता की बात सोची ही नहां गई।

ऐसे समुदायों और अल्पसंख्यकों को, जो शिक्षा की दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, बरतने की स्पष्ट नीति यह थी कि उनको अपनी कमी पूरी करने की हर ढंग से मदद की जाती। ख़ास तौर से इस काम में एक प्रगतिशील शिक्षण-नीति से मदद मिलती। मुसलमानों के लिए और दूसरे अल्प-संख्यकों के लिए, या दलित वर्ग के लिए, जिसको इसकी सबसे ज्यादा ज़रूरत था, ऐसी कोई भी चीज़ नहीं की गई। सारी दलील नौकरियों में छोटी-छोटी जगहों के लिए थी और बजाय मापदंड ऊंचा उठाने के लिए अक्सर योग्यता का बलिदान किया जाता।

इस तरह पृथक् निर्वाचन से वे समुदाय, जो कमज़ोर थे या पिछड़े हुए थे, और ज्यादा कमज़ोर हो गए। उससे अलहदगी की भावना को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय एके की तरक़्क़ी में रुकावट पड़ी। पृथक् निर्वाचन के मानी थे लोकतंत्र से इंकार। उसने अत्यंत प्रतिक्रियावादी ढंग के नये स्थापित स्वार्थ पैदा किये, उससे मापदंड नीचे हो गए, और उसने सारे ही देश के सामने जो असली आर्थिक समस्याएं थीं, उनसे ध्यान हटा दिया। ये पृथक्-निर्वाचन-क्षेत्र मुसलमानों से शुरू हुए और बाद में ये दूसरे अल्प-संख्यकों और दूसरे समुदायों में भी फैल गए। यहां तक कि हिंदुस्तान इन अलग-अलग हिस्सों का एक जम-

घट बन गया। शायद उन्होंने कुछ वक़्त के लिए थोड़ा-सा फ़ायदा किया भी हो, वैसे मुझे ख़ुद तो ऐसा कोई फ़ायदा नज़र नहीं आता। लेकिन हिंदुस्तानी ज़िंदगी के हर महकमे को उन्होंने निस्संदेह रूप से एक ज़बर्दस्त चोट पहुंचाई है। उनसे हर ढंग की अलहदगी की प्रवृत्तियां पैदा हुई हैं, और आख़िर में हिंदुस्तान के ही बंटवारे की मांग की गई है।

ये पृथक्-निर्वाचन-क्षेत्र शुरू करने के वक़्त लॉर्ड मॉर्ले भारत-मंत्री थे इन्होंने पहले तो इसका विरोध किया; लेकिन आगे चलकर वाइसराय के दबाव की वजह से वे इसके लिए रज़ामंद हो गए। इस ढंग के अंदर जो जन्म-जात ख़तरे हैं, उनका उन्होंने अपनी डायरी में ज़िक्र किया है और यह बताया है कि उनसे प्रतिनिधि संस्थाओं की तरक़्क़ी में लाजिमी तौर से देर होगी। शायद इसी चीज को वाइसराय और उनके साथी चाहते थे। हिंदुस्तानी वैधानिक सुधारों पर मांण्टेगू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट में सांप्रदायिक निर्वाचन के ख़तरों पर फिर ज़ोर दिया गया है। "संप्रदायों और वर्गों के आधार पर बंटवारे के माने, ऐसे राजनीतिक दल तैयार करना है जो एक-दूसरे के ख़िलाफ़ संगठित हैं। उससे लोग चीज़ों को नागरिक की दृष्टि से नहीं बल्कि बंटवारे की दृष्टि से देखते हैं।······इसीलिए हमारी निगाह में सांप्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र का एक ढांचा स्वशासन के सिद्धांत की तरक़्क़ी के लिए एक बहुत ज़बर्दस्त रुकावट है।"

: ८ :

आख़िरी पहलू (२)

राष्ट्रीयता बनाम अंतर्राष्ट्रीयता

१ : मध्यम वर्ग की बेबसी : गांधीजी का आना

पहला महायुद्ध शुरू हुआ। राजनीति उतार पर थी। उसकी ख़ास वजह यह था कि कांग्रेस दो हिस्सों—गरम दल और नरम दल—में बंटी हुई थी। साथ ही उसकी वजह यह भी थी कि युद्ध के ज़माने का रुकावटें और पाबंदियां थीं। फिर भी एक प्रवृत्ति ख़ास तौर से नज़र आ रही थी। मुसलमानों में बढ़ते हुए मध्यम वर्ग की विचार-धारा अधिकाधिक राष्ट्रवादी होती जा रही थी और वह मध्यम वर्ग मुस्लिम लीग को कांग्रेस की तरफ़ धकेल रहा था। यहां तक कि उन दोनों ने हाथ भी मिला लिये।

लड़ाई के दौरान में उद्योग-धंधे बढ़े और उनमें बहुत ज्यादा मुनाफ़ा हुआ। बंगाल की जूट की मिलों में १०० फ़ीसदी से लेकर २०० फ़ीसदी तक सालाना मुनाफा हुआ। इस मुनाफ़े का कुछ हिस्सा तो लंदन और डंडी में विदेशी पूंजी के मालिकों के पास चला गया और कुछ हिस्से से हिंदुस्तानी करोड़पति और भी मालदार हुए। फिर भी, उन मज़दूरों की, जिनकी बदौलत यह मुनाफ़ा हुआ था, रहने की हैसियत इतनी गिरी हुई थी कि उस पर यक़ीन नहीं हो सकता। उनके रहने की कोठरियां बेहद गंदी और बीमारी पैदा करने वाली थीं। उनमें न तो कोई खिड़की होती और न कोई धुआं निकलने का रास्ता ही होता। वहां न कोई रोशनी का इंतज़ाम था, न पानी का और न वहां पर सफ़ाई का ही कोई इंतज़ाम था। और यह सब उस कलकत्ते के नज़दीक ही था जिसको महलों का शहर कहा जाता था और जिस पर विदेशी पूंजी का आधिपत्य था। बंबई में हिंदुस्तानी पूंजी ज्यादा नज़र आती थी। एक जांच कमीशन के मुताबिक़ वहां १५ फ़ीट लंबे और १२ फ़ीट चौड़े एक कमरे में ६ कुटुंब, यानी कुल मिलाकर ३०, बड़े और छोटे प्राणी एक साथ गुज़र करते थे। इनमें से तीन औरतों का प्रसव-काल नज़दीक था

और उस अकेले कमरे में हर कुटुंब का अलग-अलग चूल्हा था। यह एक विशेष उदाहरण है, किंतु यह कोई बहुत असाधारण अपवाद नहीं है। उन्नीस सौ बीस और तीस के बीच के, जब कि कुछ सुधार भी हो चुके थ, इन उदाहरणों से उस वक़्त की हालत का पता लगता है। इन सुधारों के पहले क्या हालत रही होगी यह सोचकर कल्पना भी ठिठककर रह जाती है।'[1]

कारख़ाने के मज़दूरों की ये अंधेरी कोठरियां मैंने देखी थीं। मुझे याद है मैं वहां सांस लेने के लिए छटपटाने लगा था और जब बाहर आया तो नाराज़ी और नफ़रत से भरा हुआ था। मुझे याद है एक बार मैं झरिया की कोयले की खान में अंदर घुसा था और मैंने वहां मज़दूर-औरतों की हालत देखी थी। इस तसवीर को मैं कभी भी भुला नहीं सकता और न मैं उस चोट को ही भुला सकता हूं जो इंसानों को इस तरह काम करते देखकर मुझे लगी। बाद में औरतों को ज़मीन के अंदर काम करने पर रोक लगा दी गई। लेकिन अब फिर वह रोक हट गई है चूंकि कहा यह जाता है कि लड़ाई की ज़रूरतों की वजह से और ज़्यादा मज़दूरों की ज़रूरत हो गई है। इतने पर भी दसियों लाख आदमी भूखे रहते हैं और बेकार हैं। आदमियों की कोई कमी नहीं है। लेकिन मज़दूरी इतनी कम है और काम करने की शर्तें इतनी बुरी हैं कि काम की तरफ़ कोई खिचाव नहीं होता।

सन् १६२८ में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस का भेजा हुआ एक शिष्ट-मंडल हिंदुस्तान आया। अपनी रिपोर्ट में उसने कहा कि 'आसाम की चाय में सालहों साल दस लाख हिंदुस्तानियों का पसीना, भूख, और मायूसी शामिल होती है।' सन् १६२७-२८ की रिपोर्ट में बंगाल के तंदुरुस्ती के महकमे के डायरेक्टर ने कहा कि उस सूबे का किसान वर्ग 'एक ऐसी ख़ूराक पर गुज़र कर रहा है जिस पर चूहे भी पांच हफ्ते से ज़्यादा ज़िंदा नहीं रह सकते।'

आख़िर पहला महायुद्ध ख़त्म हुआ और शांति के साथ चैन और तरक्क़ी आने की बजाय दमनकारी क़ानून और पंजाब में फ़ौजी क़ानून आए। हमारी जनता में बइज़्ज़ती की तीखी भावना और बेहद नाराज़ी भरी हुई थी। उस वक़्त जब कि देश की मर्दानगी को कुचला जा रहा था और लगातार शोषण की निर्दय प्रक्रिया से हमारी ग़रीबी बढ़ रही थी और हमारी शक्ति ज़ाया हो रही थी, सुधारों और नौकरियों के भारतीयकरण की लंबी-चौड़ी बातचीत

---

१ यह उद्धरण और बयान बा० शिवराव की 'दि इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया' (एलेन एंड अनविन, लंदन—सन् १६३६) से लिया गया है। इसमें हिंदुस्तान के मज़दूरों के मसलों और उनके रहने की हालतों पर ग़ौर किया गया है।

करना हमारी हंसी उड़ाना और अपमान करना था। हम लोग एक बेबस क़ौम बन गए थे।

लेकिन हम कर क्या सकते थे और इस कुटिल तरीक़े को कैसे रोकते ? ऐसा मालूम पड़ता था कि किसी सर्वशक्तिमान् राक्षस के चंगुल में हम बेबस हैं, हमारे जिस्म के हिस्सों को लकवा मार गया है और हमारे दिमाग़ मुर्दा हो गए हैं। किसान वर्ग दब्बू था और उसमें डर समाया हुआ था, कारख़ाने के मज़दूरों की हालत भी कोई बेहतर न थी। मध्यवर्ग के और पढ़े-लिखे लोग जो इस अंधेरे वातावरण में रोशनी दिखा सकते थे, ख़ुद ही इस अंधेरे में डूबे हुए थे। कुछ हद तक तो उनकी हालत किसानों से भी ज़्यादा दयनीय थी। असंगठित दिमाग़दार लोगों की एक बड़ी तादाद किसी किस्म का हाथ का काम या वैज्ञानिक हुनर नहीं जानती थी और वह खेतों से अलहदा थी। उन लोगों ने भी मायस, बेबस, बेकार लोगों की जमात की गिनती को बढ़ाया और वे लोग दलदल में दिन-ब-दिन ज़्यादा नीचे धुसते गए। कुछ मुट्ठी-भर कामयाब वकीलों, डाक्टरों, इंजीनियरों या क्लर्कों से आम जनता म क्या फ़र्क़ आ सकता था। किसान भूखे रहते थे, लेकिन अपने वातावरण के ख़िलाफ़ सदियों से एक बेजोड़ संघर्ष करते-करते उनमें बर्दाश्त करना आ गया था, यहां तक कि ग़रीब और भूखे होने पर भी उनमें एक ख़ास ढंग की ख़ामोशी की शान थी और सर्वशक्तिमान् भाग्य के आगे सिर झुकाने की भावना थी। यह बात मध्यम वर्ग में और ख़ास तौर से नये छोटे से बुर्जुआ वर्ग में नहीं थी क्योंकि इनकी पृष्ठभूमि उनकी जैसी नहीं थी। वे लोग पूरी तरह पनप भी नहीं पाये थे कि पानी फिर गया। उनकी समझ में ही नहीं आता था कि किधर नज़र डालें; क्योंकि उनको पुराने या नये किसी में भी उम्मीद दिखाई नहीं दे रही थी। हालांकि तकलीफ थी लेकिन उनका सामाजिक उद्देश्य से कोई मेल नहीं था, कोई सार्थक काम करने का संतोष भी उन्हें हासिल न था। रिवाजों के भार से दबे होने के नाते वे जन्म से पुराने तो थे किंतु उनमें पुरानी संस्कृति का अभाव था। आधुनिक विचार उन्हें आकर्षित करता था लेकिन उनमें उसके अंदरूनी तत्त्व, आधुनिक सामाजिक और वैज्ञानिक चेतना की कमी थी। कुछ लोगों ने तो गुज़रे ज़माने के मुर्दा ढांचे को मज़बूती से पकड़े रहने की कोशिश की और उसने मौजूदा तकलीफ से राहत पाने की उम्मीद की। किंतु वहां चैन कैसे मिल सकता था क्योंकि जैसा श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा है, हमको अपने भीतर मुर्दा चीज़ों को नहीं पालना चाहिए, क्योंकि मुर्दा तो मुर्दापन लाने वाला है। दूसरे लोगों ने पच्छिम की असफल और फीकी नक़ल की। इस तरह मन और शरीर की सुरक्षा के लिए पागलों की तरह कहीं पैर रखने की जगह तलाश करते रहे पर उसे पा न सकने के कारण, वे लोग हिंदुस्तानी ज़िंदगी के अंधेरे

सागर में बे सहारा लोगों की तरह बिना मक़सद के तैरते रहे।

हम क्या कर सकते थे ? ग़रीबी और पस्त हिम्मती की इस दलदल से जो हिंदुस्तान को अपने अंदर खींचे जाती थी हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे ? उत्तजना, तकलीफ़ और उलझन के कुछ बरसों से ही नहीं बल्कि लम्बी पीढ़ियों से हमारी जनता ने अपने खून और मेहनत, आंसू और पसीने की भेंट दी थी। हिंदुस्तान के शरीर और आत्मा में यह प्रक्रिया बहुत गहरी घुस गई थी और उसने हमारे सामाजिक जीवन के हर एक पहलू में ज़हर डाल दिया था। यह सब उस बीमारी की तरह था, जो नस, नाड़ियों और फेफड़ों का क्षय करती है और जिसमें मौत धीरे-धीरे (लेकिन यक़ीनी तौर पर) होती है। कभी-कभी हम यह सोचते थे कि कोई ज़ाहिरा और ज्यादा तेज़ तरीक़ा, मसलन हैज़ा या प्लेग, बेहतर होता। लेकिन वह एक आया-गया ख्याल था। वजह यह है कि सिर्फ़ साहसिकता से हम कहीं नहीं पहुंच सकते और गहरी पैठी हुई बीमारियों के ऊपर इलाज से कोई नतीजा नहीं होता।

और तब गांधीजी का आना हुआ। गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखोंके सामने से परदे को हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह से थे, जिसने बहुत-सी चीज़ों को, ख़ासतौर से मजदूरों के दिमाग़ को उलट-पुलट दिया। गांधी जी ऊपर से आए हुए नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तान का करोड़ों आदमियों की आबादी में से ही उपजे थे। उनकी भाषा वही थी जो आम लोगों की थी और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी डरावनी हालत की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने कहा कि तुम लोग जो किसानों और मज़दूरों के शोषण पर गुज़र करते हो, उनके ऊपर से हट जाओ; उस व्यवस्था को, जो ग़रीबी और तकलीफ़ की जड़ है, दूर करो। तब राजनीतिक आज़ादी की एक नई शक्ल सामने आई और उसमे एक नया मानी पैदा हुआ। उनकी ज्यादातर बातों को हमने आंशिक रूप में माना और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं माना। लेकिन यह सब एक गौण बात थी। उनकी सीख का सार था निर्भयता और सच; और इन दोनों के साथ सक्रियता मिली हुई थी और उसमें हमेशा आम लोगों की बेहतरी का ख्याल था। हमारी प्राचीन पुस्तकों में यह कहा गया था कि किसी आदमी या किसी राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा उपहार है अभय--निर्भयता--सिर्फ़ शारीरिक हिम्मत ही नहीं बल्कि दिमाग़ से डर का हट जाना। हमारे इतिहास के ही प्रभात में जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जनता के नेताओं का काम उसको (जनता को) निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश राज्य के अंदर हिंदुस्तान में जो सबसे अहम लहर थी

समें डर, कुचलने वाला, दम घोटन वाला, मिटा देने वाला डर था; फ़ौज ा, पुलिस का, चारों तरफ़ फैले हुए खुफ़िया विभाग का डर था; अफ़सरों की ामात का डर था; कुचलने वाले क़ानूनों और जेल का डर था; ज़मींदार के ारिंदे का डर था; साहूकार का डर था; बेकारी और भूखे मरने का डर था; ो हमेशा ही नज़दीक बने रहते थे। चारों तरफ़ समाए हुए इस डर के ही खलाफ़ गांधी की शांत किंतु दृढ़ आवाज़ उठी; 'डरो मत।' क्या यह ऐसी ासान बात थी? नहीं फिर भी डर के अपने कल्पना-चित्र होते हैं और वे स्लियत से भी ज्यादा डरावने होते हैं और अगर ठंडे दिमाग़ से असलियत का वेश्लेषण किया जाय और उसके नतीजों को खुशी से भुगतने को तैयार रहा ााय तो उसका बहुत-सा आतंक अपने आप खत्म हो जाता है।

इस तरह मानो अचानक ही लोगों के ऊपर से डर का काला लबादा ्टा दिया गया; यह नहीं कि वह पूरी तरह हटा दिया गया, लेकिन फिर भी क बहुत बड़े, एक हैरत-अंगेज़ हद तक तो हटा ही दिया गया। चूंकि डर फूठ का करीबी दोस्त है, इसलिए निडरता के साथ सच आता ही है। हिंदु-स्तान की जनता जैसी भी थी, उससे कोई बहुत ज्यादा सच बोलने वाली नहीं बन गई; और न उस जनता ने रातों-रात अपने बुनियादी स्वभाव को ही बदल लिया। फिर भी एक बड़ी तब्दीली दिखाई पड़ी, क्योंकि झूठ और लुक-छिपकर काम करने की ज़रूरत कम हो गई। यह तब्दीली मानो वैज्ञानिक थी, ठीक इस ढंग से मानो कोई मनो-विश्लेषक प्रक्रिया का विशेषज्ञ रोगी के भूतकाल में गहरा घुस गया हो और उसने उस रोगी की मानसिक विकृति के कारण को जानकर, उसे रोगी के सामने खोल दिया हो और इस तरह उसको उसके बोझ से छुटकारा दिला दिया हो।

साथ ही वह मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी थी जिसमें उस विदेशी राज्य के सामने लंबे अर्से से फिर झुकाए रखने पर शर्म महसूस हुई, जिसने हमें गिरा दिया था और जिसने हमारी बेइज्ज़ती की थी। इसमें यह इरादा भी मिला हुआ था कि चाहे नतीजा कुछ भी हो, अब आगे सिर न झुकाया जाय।

जैसे हम पहले थे उसके मुक़ाबले हम कोई बहुत ज्यादा सच्चे नहीं बन गए, लेकिन अटल सच के प्रतीक गांधीजी बराबर हमारे सामने थे जो हमको ऊपर खींचते थे और जो सच पर डटे रहने की हमें लाज दिलाते थे। सच क्या है? पक्के तौर पर मैं यह नहीं जानता, और शायद हमारे सच सापेक्षिक हैं और पूरा-पूरा सत्य हमारी पहुंच के परे है। अलग-अलग आदमी सच को अलग-अलग तरह से लेते हैं और हर आदमी पर अपनी-अपनी पृष्ठभूमि, शिक्षा और प्रवृत्तियों का अहम असर होता है। वही बात गांधी जी के साथ लागू

है। लेकिन आदमी के लिए कम-से-कम वह तो सच है ही जो कि वह खुद महसूस करता है, और जो कि वह खुद समझता है। इस परिभाषा के अनुसार, गांधी जी की तरह सत्य की धारणा रखने वाले किसी भी शख्स को मैं नहीं जानता। राजनीतिज्ञ के लिए यह गुण बहुत खतरनाक है क्योंकि इस तरह तो वह अपन दिमाग़ को खोलकर सामने रख देता है और जनता के उस दिमाग़ के बदलते हुए पहलुओं को देखने देता है।

हिंदुस्तान में अलग-अलग हद तक गांधीजी ने करोड़ों आदमियों पर असर डाला; कुछ लोगों ने तो अपनी ज़िंदगी का ताना-बाना पूरी तरह बदल दिया, दूसरे लोगों पर थोड़ा-सा असर हुआ और वह असर पूरी तरह तो नहीं लेकिन फिर भी मिट गया। वजह यह थी कि उसका कुछ हिस्सा पूरी तरह अलहदा भी नहीं किया जा सकता था। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं और हर एक आदमी इस सवाल का अपना अलग जवाब देगा। कुछ लोग तो शायद क़रीब-क़रीब एल्किबियेडीज़ के शब्दों में कहें : "सके अलावा जब हम किसी को बात करते देखते हैं तो चाहे वह कितना ही ओजस्वी वक्ता क्यों न हो हम उसकी बात की रत्ती भर भी परवाह नहीं करते। लेकिन जब हम तुमको सुनते हैं या किसी को तुम्हारी बात दोहराते हुए सुनते हैं, तो चाहे उसके कहने का ढंग कितना ही भद्दा क्यों न हो और चाहे सुनने वाला मर्द, औरत या बच्चा हो, हम भौंचक्के रह जाते हैं और ऐसा मालूम होता है कि हम पर जादू कर दिया गया हो। और सज्जनो, जहां तक मेरा अपना सवाल है अगर मझे यह डर न हो कि आप यह कहेंगे कि मैं बिलकुल पागल हो गया हूं तो मैं कसम खाकर कह सकता हूं कि उसके लफ़्ज़ों ने मेरे ऊपर कैसा असाधारण असर डाला—और अगर फिर वह दोहराए जावें तो आज भी उनका वही असर होगा। ठीक उस वक़्त जब कि मैं उसे बोलते हुए सुनता हूं तो मैं एक ढंग के पवित्र आवेश से उत्तेजित हो उठता हूं जो कोरीबैंट की उत्तेजना से भी बदतर है और मेरा दिल फ़ौरन जुबान पर आ जाता है और मेरी आंखों में आंसू आ जाते हैं—आह, यह सिर्फ़ मेरे साथ ही नहीं होता बल्कि यही हाल और बहुत से लोगों का भी होता है।

'हां, मैंने पेरिक्लीज और दूसरे बड़े ओजस्वी वक्ताओं को भी सुना है, और मेरा ख्याल था कि वे सब बहुत ओजस्वी थे; लेकिन उनमें से किसी का भी मेरे ऊपर असर नहीं हुआ; मेरी समूची आत्मा को वे कभी भी उलट नहीं पाये और न उनके असर से मैंने ऐसा ही महसूस किया कि मैं हीनतम से भी हीन हूँ; लेकिन इधर इस पिछले दिन से मेरे दिमाग़ की हालत ऐसी हो गई है कि मैं महसूस करता हूँ कि मैं अब तक जिस ढंग से रहता आया हूँ, अब आगे उसी तरह मैं नहीं रह सकता।

'और एक चीज़ मैंने किसी और के साथ महसूस नहीं की—एक ऐसी चीज़ जिसकी तुम मुझमें उम्मीद भी नहीं कर सकते हो और वह है एक तरह की शर्मिंदगी। दुनिया में सिर्फ़ सुक़रात ही ऐसा आदमी है जो मुझे शर्मिंदा महसूस करा सकता है। क्योंकि उससे बचने की कोई तरकीब नहीं है। इसलिए मैं जानता हूँ कि मुझे काम को उसी तरह करना चाहिए जैसे कि वह करने को कहता है। फिर भी ज्यों ही मैं उसकी नज़र से हट जाता हूँ तो मैं इस बात की परवाह नहीं करता कि मैं भेड़-चाल चलने के लिए क्या करता हूं। इसलिए मैं फ़रार ग़ुलाम की तरह भाग जाता हूँ और जब तक मुमकिन हो सकता है उसकी पकड़ के बाहर रहता हूं। और जब मैं फिर दूसरी बार मिलता हूँ तो मुझे वह सब बातें याद आ जाती हैं जो मुझे पहली बार मंजूर करनी पड़ती थीं, और तब कुदरतन मैं अपने को शर्मिंदा महसूस करता हूं।

'यही कि मैं सांप से भी ज्यादा जहरीली चीज़ का काटा हुआ हूँ; दरअस्ल इससे ज़्यादा पीड़ा पहुंचाने वाली काट हो ही नहीं सकती। मैं दिल में या दिमाग़ में या उसे तुम चाहे जो कुछ कहो, डस लिया गया हूँ............'।[1]

२ : गांधीजी के नेतृत्व में कांगरेस एक गतिशील संस्था बन जाती है

कांग्रेस संस्था में गांधीजी पहली बार दाख़िल हुए और फ़ौरन ही उस संस्था के विधान में पूरी तरह तब्दीली आई। उन्होंने कांग्रेस को लोकतंत्री और सार्वजनिक संस्था बना दिया। वैसे तो पहले भी वह लोकतंत्री थी लेकिन पहले उसके मतदाताओं का क्षेत्र संकुचित था, और वह केवल बड़े लोगों तक ही सीमित थी। अब उसमें किसान भी आए और अपनी नई शक्ल में अब वह किसानों का एक बहुत बड़ी संस्था मालूम पड़ने लगी और उसमें बीच के दर्जे के लोगों का, हालांकि उनकी तादाद थोड़ी थी, काफ़ी ज़ोर था यह खेतिहर पहलू बढ़ना था। कारखानों के मज़दूर भी उसमें आए लेकिन वह सिर्फ़ अपनी व्यक्तिगत हैसियत में, न कि अपने पृथक् और संगठित रूप में।

इस संस्था का मक़सद और उसकी बुनियाद था सक्रियता। ऐसा सक्रियता जिसकी बुनियाद शांतिपूर्ण ढंग पर थी। अब तक जो रवैया था वह यह था, सिर्फ़ बात करना और प्रस्ताव पास करना, या आतंकवादी काम करना। इन दोनों को ही अलग हटा दिया और आतंकवाद की तो ख़ास तौर से निंदा की गई, क्योंकि वह तो कांग्रेस की बुनियादी नीति के खिलाफ़ था। काम करने का एक नया तरीक़ा निकाला गया जो वैसे तो बिलकुल शांतिपूर्ण था लेकिन साथ ही उसमें जिस चीज़ को ग़लत समझा जाता था उसके सामने सिर

---

१ 'दि फाइव डाइलॉग्स अव् प्लेटो' (एव्रीमैंस लाइब्रेरी)।

झुकाना मंजूर नहीं किया गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि तरीके में जो तकलीफ़ और मुसीबतें थीं उनको बर्दाश्त करने का रज़ामंदी थी। गांधीजी एक अजीब किस्म के शांत आदमी थे क्योंकि वह तो सक्रिय थे और उनमें गतिशील शक्ति भरी हुई थी। क़िस्मत या जो कुछ वह बुरा समझते थे उसके सामने उनमें सिर झुकाने की भावना नहीं थी। उनमें मुक़ाबला करने की ताक़त भरी हुई थी। हां उनका ढंग शांतिपूर्ण और मीठा था।

सक्रियता की पुकार दोहरी थी। ज़ाहिर है विदेशी राज्य को चुनौती देने और उसका मुक़ाबला करने की सक्रियता तो थी ही; साथ ही अपना निजी सामाजिक कुरीतियों का मुक़ाबला करने की सक्रियता भी थी। कांग्रेस के बुनियादी मक़सद—हिंदुस्तान की आज़ादी—के अलावा और शांतिपूर्ण सक्रियता के साथ, कांग्रेस के खास आधार थे, क़ौमी एकता; जिसमें अल्पसंख्यकों के मसलों को हल करना शामिल था, और दलित जातियों को ऊपर उठाकर छूत-छात के अभिशाप को खत्म करना।

ब्रिटिश राज्य की असली बुनियाद डर, रौब और उस सहयोग पर थी जो वे लोग मन या बेमन से देते थे, जिनके स्थापित स्वार्थ ब्रिटिश राज्य में केंद्रित थे। गांधी जी ने इन बुनियादों पर चोट की। उन्होंने कहा कि ख़िताबों को छोड़ो; और अगर्चे बहुत ज्यादा लोगों ने ख़िताब नहीं छोड़े फिर भी अंग्रेज़ों द्वारा दिये हुए ख़िताबों की आम इज्ज़त ग़ायब हो गई और यह अधःपतन के प्रतीक बन गए। नया मापदण्ड बना और नया मूल्यांकन हुआ और वाइसराय के दरबार और रजवाड़ों की शान और सजावटें, जो इतना असर डाला करती थीं, अब जनता की हद दर्जे की ग़रीबी और तकलीफ़ के वातावरण में बेहद भद्दी, नामुनासिब यहां तक कि लज्जाजनक मालूम पड़ने लगीं। अमीर आदमी अपनी दौलत का शानदार दिखावा करने के लिए उत्सुक नहीं थे। कम-से-कम ऊपरी तौर पर उनमें से बहुत से लोगों ने अपना रहन-सहन सादा बनाया और सिर्फ़ उनकी पोशाक से उनमें और मुक़ाबले में मामूली आदमियों में कोई फ़र्क नहीं मालूम पड़ सकता था।

कांग्रेस के पुराने नेता जो एक अलग और ज्यादा निष्क्रिय परंपरा म पले हुए थे, इस नई रद्दो-बदल को आसानी से अपना नहीं सके और आम जनता के उभार से उन्हें परेशानी हुई। फिर भी विचारों और भावनाओं की जो लहर देश में बही, वह इतनी जबर्दस्त थी कि वे लोग भी कुछ हद तक उसके नशे से भर गए। बहुत थोड़े से लोग बाहर निकल गए और उनमें एक मि० एम० ए० जिन्ना भी थे। उन्होंने कांग्रेस को, हिंदू-मुस्लिम सवाल में किसी राय के फ़र्क की वजह से नहीं छोड़ा, बल्कि कांग्रेस को इस वजह से छोड़ा कि वह नई और अधिक उन्नत विचार-धारा से मेल नहीं बिठा सके। इससे भी

ज़्यादा बड़ी वजह यह थी कि उनको हिंदुस्तानी में बोलने वाले, सादगी से रहने वाले लोगों से, जिनकी कांग्रेस में भीड़ बढ़ रही थी, नफ़रत थी। राज-नीति के संबंध में उनका ख़्याल उस ऊंचे ढंग का था जो लेजिस्लेटिव एसेम्बली के कमरे या कमेटी के कमरों के अनुरूप हो। कुछ बरसों तक तो वे मैदान से बिलकुल अलग मालूम दिये, यहां तक कि उन्होंने हमेशा के लिए हिंदुस्तान छोड़ने का इरादा कर लिया। वे इंग्लैंड में बस गए और वहां उन्होंने कई बरस बिताये।

यह कहा जाता है, और मेरे ख़्याल से यह सच भी है, कि हिंदुस्तानी स्वभाव ख़ास तौर से ख़ामोशी का है। शायद पुरानी जातियों का ज़िंदगी की तरफ़ यही रुख़ बन जाता है; फिलॉसफ़ी का लंबी परंपरा भी शायद उसी तरफ़ ले जाती है। फिर भी गांधीजी, जो बिलकुल हिंदुस्तानी सांचे में ढले हुए हैं, इस खामोशी से बिलकुल उलटे हैं। शक्ति और सक्रियता के तो वह महारथी रहे हैं और वह एक ऐसे शख़्स हैं जो अपने आपको ही आगे नहीं बढ़ाते बल्कि दूसरों को भी आगे बढ़ाते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूं, हिंदुस्तानी जनता की निष्क्रियता से लड़ने और उसे दूर करने की जितनी कोशिश उन्होंने की ह, उतनी और किसी ने नहीं की।

उन्होंने हमको गांवों में भेजा, और सक्रियता के नये संदेश को ले जाने वाले अनगिनत दूतों के काम-काज से देहात में चहल-पहल मच गई। किसान को झकझोरा गया और वह अपनी निष्क्रियता के खोल से बाहर निकलने लगा। हम लोगों पर असर दूसरा था लेकिन कम गहरा नहीं था, क्योंकि अस्लियत यह है कि हमने पहली बार ग्रामीण को कच्ची झोंपड़ी और भूख की उस छाया से जा उसका हमेशा पीछा करती रहती थी, चिपटे हुए देखा। हमने किताबों और विद्वत्तापूर्ण भाषणों के मुक़ाबले, अपना हिंदुस्तानी अर्थ-शास्त्र इन आँखों देखी हालतों से ज्यादा जाना। वह भावानात्मक अनुभव जो हमको पहले हो चुका था वह अब पक्का हुआ और उसके सबूत सामने आए। इसलिए आगे चलकर हमारे विचारों में और चाहे जो रद्दो-बदल होती, अब अपनी ज़िंदगी के पुराने ढर्रे और पुराने मापदण्ड को वापिस नहीं लौटा जा सकता था।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे मामलों में गांधीजी के विचार बहुत सख़्त थे। उन्होंने इन सबको कांग्रेस पर लादने की कोशिश नहीं की। हां उन्होंने अपनी विचार-धारा का बराबर पोषण किया और इस प्रक्रिया में कभी-कभी अपने लेखों के द्वारा उसमें रद्दो-बदल भी की, लेकिन कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में पैठाने की कोशिश की। वह बड़ी-सावधानी से आगे बढ़े क्योंकि वह जनता को अपने साथ ले चलना चाहते थे। कभी वह कांग्रेस के

लिहाज़ से बहुत आगे बढ़ जाते और उनको पीछे आना होता। उनके विचारों को अक्षरशः तो बहुत लोगों ने नहीं माना और कुछ लोगों का तो उसके बुनियादी दृष्टिकोण से ही मतभेद था। लेकिन उस वक़्त की मौजूदा परिस्थितियों के अनुकूल होने की वजह से वे जिस बदली हुई शक्ल में कांग्रेस में आए, उस तरह बहुत लोगों न उनको मंजूर कर लिया। दो तरह से, उनके विचारों की पृष्ठभूमि का धुंधला लेकिन बहुत काफ़ी असर हुआ। एक तो यह कि हर चीज़ की बुनियादी कसौटी यह थी कि वह आम जनता को किस हद तक फ़ायदा पहुंचाती है, और दूसरी यह कि चाहे उद्देश्य सही ही क्यों न हो लेकिन साधनों का हमेशा ख़याल होना चाहिए और उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि साधन का असर उद्देश्य पर पड़ता है और यह उद्देश्य में तब्दीली पैदा कर सकते हैं।

गांधीजी, ख़ास तौर से, एक धार्मिक आदमी थे, जो अपने अस्तित्व के अंतरतम से भी हिंदू थे, फिर भी धर्म के उनके दृष्टिकोण का किसी परंपरा, किसी कर्म-काण्ड या किसी प्रचलित धारणा से कोई भी संबंध नहीं था।[1] बुनियादी तौर पर उनका ताल्लुक़ तो उस नैतिक कानून से था जिसको उन्होंने प्रेम या सत्य के कानून का नाम दिया है। सत्य और अहिंसा उनको एक ही चीज़ या एक ही चीज़ के अलग-अलग पहलू मालूम देते हैं और उसके लिए दोनों में से एक ही शब्द में दोनों के माने आ जाते हैं। हिंदू धर्म की बुनियादी भावना को समझने का दावा करते हुए भी वह ऐसा हर क्रिया और हर चीज़ को नामंज़ूर कर देते हैं जो उनकी उचित आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाती। उनका कहना है कि यह चीज़ें या तो बाद में जोड़ दी गई हैं या बिगड़ी हुई शक्लों में हैं। गांधी जी ने कहा है 'उस प्रचलित ढंग या रीति का जिसको मैं समझ नहीं सकता हूँ या नैतिक बुनियाद पर मैं जिसकी हिमायत नहीं कर

---

[1] जनवरी १९२८ में फ़ेडरेशन अव् इण्टरनेशनल फ़ेलोशिप में गांधी जी ने बताया कि, "लंबे अध्ययन और तजुर्बे के बाद मैं इन नतीजों पर पहुंचा हूं कि : (१) सब धर्म सच्चे हैं (२) सब धर्मों में थोड़ी-बहुत गलतियां भी हैं (३) सभी धर्म मुझको इतने ही प्यारे हैं जितना खुद मेरा हिंदू धर्म। दूसरे धर्मों के लिए भी मेरी उतनी ही श्रद्धा है जितनी कि ख़ुद अपने धर्म के लिए है। इसलिए धर्म-परिवर्तन का ख्याल नामुमकिन है............दूसरों के लिए हमारी प्रार्थना यह कभी नहीं होनी चाहिए : 'प्रभो! दूसरों को भी तू यही ज्ञान-ज्योति दे जो तूने मुझको दी है!' बल्कि, 'उनकी सर्वोच्च उन्नति के लिए उन्हें जितने भी सच और प्रकाश की ज़रूरत है, वह सब तू उनको दे।'

सकता हूं, मैं गुलाम होने को तैयार नहीं हूं।' और इस तरह अमली तौर पर अपनी पसंद का रास्ता अपनाने के लिए वह असाधारण रूप में स्वतंत्र हैं। उस रास्ते को बदलने के लिए, उससे अपना मल बिठाने के लिए और ज़िंदगी और काम के अपने फ़िलसफे में तरक्क़ी करने के लिए वह आज़ाद हैं। लेकिन इस चीज म जिस बुनियाद पर फैसला होता है, वह तो वह नैतिक क़ानून है जो उनकी समझ म आया है। वह फ़िलसफ़ा सही है या ग़लत है, इस पर बहस की जा सकती है, लेकिन वह उस बुनियादी पैमाने को हर चीज़ के लिए और ख़ास तौर से अपने लिए इस्तैमाल करने पर ज़ोर देते हैं। औसत आदमी के लिए, राजनीति में और ज़िंदगी के दूसरे पहलुओं में इससे परेशानी होती है और अक्सर ग़लतफ़हमियां होती हैं। लेकिन किसी भी परेशानी की वजह से वह अपनी पसंद के सीधे रास्ते से नहीं हटते। हां, एक ख़ास हद तक वह बदलती हुई हालत से बराबर अपना मेल बिठाते रहते हैं। जिस सुधार और जिस नसीहत की वह दूसरों को सलाह देते हैं उस पर वह पहले ख़ुद अमल करते हैं। वह हमेशा चीज़ों को अपने आप से शुरू करते हैं और उनके लफ़्ज़ों और कामों में इस तरह का मेल होता है जैसा कि हाथ में और दस्ताने में होता ह। और इसलिए चाहे जो कुछ होता रहे, उनका समूचा व्यक्तित्व कभी भी ग़ायब नहीं होता, और उनकी ज़िंदगी और कामों में हमेशा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई देती है। अपनी नाकामियों में भी वह ऊँचे उठते दिखते हैं।

अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार जिस सांचे में वह हिंदुस्तान को ढालने जारहे थे वह क्या था। 'मैं उस हिंदुस्तान के लिए काम करूंगा जिसमें ग़रीब-से-ग़रीब भी यह महसूस करेगा कि यह उसका देश है और जिसके निर्माण में उसकी खुद की कारगर आवाज़ है; ऐसा हिंदुस्तान जिसमें सारी जातियां आपसी मुहब्बत के साथ रहेंगी।······ऐसे हिंदुस्तान में छुआ-छूत के या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी जगह नहीं हो सकती।······ स्त्रियों को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो कि पुरुषों के हैं।······जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हूं वह यह है।' जहां एक तरफ़ ख़ुद उन्हें अपनी हिंदू विरासत का अभिमान था, वहां, साथ ही उन्होंने हिंदू धर्म को एक विश्व-व्यापी रूप देने की कोशिश की और सच के घेरे में सब धर्मों को शामिल किया। अपनी सांस्कृतिक विरासत को संकरा करने से उन्होंने इंकार किया। उन्होंने लिखा है, "हिंदुस्तानी संस्कृति न तो बिलकुल हिंदू ही है और न बिलकुल मुसलमानी।" आगे चलकर वह कहते हैं, 'मैं चाहता हूं मेरे घर में सब देशों की संस्कृति ज्यादा-से-ज्यादा आज़ादी के साथ फैले। लेकिन उनमें से कोई भी मुझे बहा ले जाय यह मैं न चाहूंगा। दूसरे लोगों के मकानों में एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे आदमी की तरह रहने को मैं तैयार नहीं हूं।' आधुनिक

विचार-धारा का उन पर असर तो हुआ है, लेकिन उन्होंने अपनी जड़ों को कटने न दिया और वह उनको मज़बूती से पकड़े रहे हैं।

और इस तरह उन्होंने पच्छिमी ढंग से प्रभावित, चोटी के मुट्ठी-भर लोगों में और जनता में, रुकावटों को तोड़ने की और फिर से अंदरूनी मेल क़ायम करने की कोशिश की। उन्होंने पुरानी जड़ों के सजीव हिस्सों को खोजकर, उनके ऊपर नई इमारत को खड़ी करने, और आम जनता को उनकी नींद और निष्क्रिय दशा से सचेत कर सक्रिय बनाने की कोशिश की। उनका एक निश्चित रास्ता था फिर भी उनकी प्रकृति के कई पहलू थे। इसमें दूसरों पर जिस चीज़ की ख़ास तौर से छापें पड़ती थी वह यह थीं कि गांधी जी ने सर्व साधारण से अपने आपको एकाकार कर दिया था, और वह उनके अंतरंग की तरह देख सकते थे। हिंदुस्तान के ही नहीं बल्कि दुनिया भर के ग़रीब और लुटे हुए लोगों के साथ उनकी हैरत अंगेज़-हमदर्दी थी। इन गिरे हुए लोगों को उठाने की लगन के सामने, और दूसरी चीज़ों की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। 'एक अध-भूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, न कला और न संगठन।' 'करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज़ भी काम की हो सकती है, वही मेरे दिमाग़ में ख़ूबसूरत चीज़ है। आज हम सबसे पहले ज़िंदगी देने वाली चीजों को महत्त्व दें, और उसके बाद ज़िंदगी के सारे अलंकार और उसकी सारी परिष्कृतियाँ अपने आप आ जावेंगी।.........मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूँ जो करोड़ों आदमियों के लिए काम का हो।' इन दुखी और अपहरित आदमियों के मसले उनके दिमाग़ को घेरे रहे और सारी चीजें इन्हीं के चारों तरफ़ घूमती हुई मालूम दीं। 'करोड़ों आदमियों के लिए यह एक शाश्वत चौकीदारी है। एक शाश्वत मूर्च्छा है।' गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि 'हर आंख से हर एक आंसू पोंछ दिया जावे।'

यह कोई अचंभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्य-जनक रूप से मज़बूत आदमी ने, जिसमें आत्म-विश्वास है और एक असाधारण ढंग की ताक़त भरी हुई है और जो हर इंसान की बराबरी और आज़ादी का हिमायती है, और जिसके पैमाने में ग़रीब-से-ग़रीब आदमी का ख़्याल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुम्बक की तरह उनको अपनी तरफ़ खींचा। उनको वह ऐसा महसूस हुआ कि वह विगत और भविष्य को जोड़ने वाली कड़ी हो और जिसका वजह से ऐसा महसूस हुआ कि दुःख भरा वर्तमान भविष्य के लिए सीढ़ी की तरह है। यह बात सिर्फ़ सर्व साधारण में ही नहीं पैदा हुई, बल्कि दिमाग़दार और दूसरे लोगों में हुई। हां, यह ज़रूर है कि इन लोगों के दिमाग़ में अक्सर परेशानी और उलझन हुई, और अपनी ज़िंदगी भर की आदतों में रद्दो-बदल करने में उनको ज़्यादा मुश्किल मालूम दी। इस तरह उन्होंने न सिर्फ़

अपने अनुयायियों में बल्कि अपने विपक्षियों में भी और उन बहुत से ग़ैर-तरफ़दार लोगों में जो सोचने और काम करने के बारे में कोई फ़ैसला नहीं कर सके, एक मनोवैज्ञानिक क्रांति पैदा की।

कांग्रेस गांधीजी के कहने में थी, लेकिन यह एक अजीब ढंग का क़ाबू था, क्योंकि कांग्रेस सक्रिय थी, क्रांतिकारी थी और कई पहलुओं वाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ़ नहीं ले जाई जा सकती थी। अक्सर गांधी जी ने ऐसी स्थिति को झुक-कर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की तबियत पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने खिलाफ़ फैसलों को भी मंजूर कर लिया। अपने लिए कुछ अहम मामलों में गांधी जी ज़िद्दी थे, और कई मौकों पर उनमें और कांग्रेस में नाता टूट गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की आज़ादी और जोशीली क़ौमियत के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को ग़ुलाम बनाने वाले सभी लोगों के, वह कभी न झुकने वाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को मंजूर करते थे--वैसे चाहे वे बहुत से मामलों में गांधी जी से सहमत न रहते हों। जिस वक़्त कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस वक़्त लोगों ने उनके नेतृत्व को हमेशा ही मंजूर नहीं किया, लेकिन जब संघर्ष लाज़िमी हुआ तो वह प्रतीक सबसे ज़्यादा अहम बन गया और बाकी सब चाज़ें गौण हो गई।

इस तरह १९२० में नेशनल कांग्रेस और बहुत हद तक सारे देश ने इस नये, अनदेखे रास्ते को अपनाया, और उसकी ब्रिटिश ताक़त के साथ बार-बार लड़ाई हुई। इस नये ढंग में और उस हालत में, जो पैदा हो गई थी, संघर्ष का बीज था। लेकिन इसके पीछे राजनीतिक चालें या पैंतरे नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तानी जनता को मज़बूत बनाने की ख़्वाहिश थी, क्योंकि उस ताक़त के ही बूते पर वे आज़ादी हासिल कर सकते थे और उसको क़ायम रख सकते थे। एक के बाद दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन हुआ, और उसमें बेहद मुसीबतें उठानी पड़ीं। लेकिन उन मुसीबतों को ख़ुद न्योता दिया गया था, और इसीलिए उनसे ताक़त मिलती थी। ये मुसीबतें उस क़िस्म की नहीं थीं, जो ग़ैर-रजामंद आदमी को दबोच देती हैं और जिनका नतीजा होता है मायूसी और पस्त-हिम्मती। सरकारी दमन के भयानक, विस्तृत जाल में पकड़े जाने की वजह से ग़ैर-रज़ामंद आदमियों को भी मुसीबतें उठानी पड़ीं और कभी-कभी तो रज़ामंद आदमी भी हार मान गए, और झुक गए। लेकिन बहुत से लोग सच्चे और मज़बूत बने रहे और इस सारे तजुर्बे की वजह से, और भी ज़्यादा पक्के हो गए। किसी वक़्त भी, यहां तक कि अपने बुरे दिनों में भी, कांग्रेस किसी बड़ी ताक़त या विदेशी

हुकूमत के सामने झुकी नहीं। हिंदुस्तान की आज़ादी की तड़पन और विदेशी हुकूमत की मुख़ालिफ़त की वह प्रतीक बनी रही। यही वजह थी कि ज़्यादातर हिंदुस्तानियों की उसके साथ हमदर्दी थी। चाहे उनमें से बहुत से आदमी बहुत कमज़ोर रहे हों, या अपनी परिस्थितियों में वे ख़ुद कुछ भी न करने के लिए मजबूर रहे हों, फिर भी नेतृत्व के लिए उनकी निगाह कांग्रेस की तरफ़ थी। कुछ लिहाज़ से कांग्रेस एक पार्टी थी; साथ ही वह कई पार्टियों के लिए एक मिला हुआ प्लेटफ़ार्म रही है; लेकिन ख़ास तौर से वह सिर्फ़ इतने से कुछ ज़्यादा माने रखती है, क्योंकि वह तो हमारी जनता की बहुत बड़ी तादाद की सबसे भीतरी ख़्वाहिश की नुमाइंदगी करती थी। हालांकि उसकी फ़ेहरिस्त में मेंबरों की गिनती बहुत बड़ी थी, फिर भा उसकी व्यापकता की उस गिनती से बहुत कम झलक मिलती है। मेंबर होना लोगों की शामिल होने की तबियत पर नहीं बल्कि दूर-दूर के गांवों में हमार। पहुंच पर निर्भर था। अक्सर (आज-कल की तरह) हम एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था रहे हैं—क़ानून की निगाह में हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है, और पुलिस हमारी किताबों और काग़ज़ों को उठा ले गई है।

उस वक़्त भी जब सविनय अवज्ञा आंदोलन जारी नहीं था, हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकारी मशीन से असहयोग का आम रुख बराबर बना रहा। हां उस वक़्त उसका आक्रामक पहलू हट गया। इसके माने यह नहीं ह कि अंग्रेज़ों से असहयोग हो। जब बहुत से सूबों में कांग्रेसी सरकारें क़ायम हुई तो लाज़िमी तौर पर सरकारी और इंतज़ामी मामलों में काफ़ी सहयोग हुआ। लेकिन इतने पर भी वह पृष्ठभूमि ज़्यादा नहीं बदली, और सरकारी कामों के अलावा कांग्रेसियों का क्या व्यवहार हो इस बारे में हिदायतें दी गई थीं। हालाँकि कभी-कभी अस्थायी समझौता या मेल लाज़िमी हो जाता था लेकिन फिर भी हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता और विदेशी साम्राज्यवाद में कोई स्थायी शांति नहीं हो सकती थी। आज़ाद हिंदुस्तान इंग्लैंड को सिर्फ़ बराबरी के दर्जे पर ही सहयोग दे सकता था।

३ : सूबों की कांगरेसी सरकारें

ब्रिटिश पार्लमेंट ने कई साल तक कमीशन और कमेटियों के काम के बाद, और साथ ही बहस के बाद, सन १९३५ में एक गवर्नमेंट अव् इंडिया एक्ट पास किया। इस एक्ट में एक ढंग की प्रांतीय स्वाधीनता और संघीय ढांचे का इंतज़ाम किया गया था, लेकिन इसमें इतने रोक और पेंच थे कि राजनीतिक और आर्थिक दोनों तरह की सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथों में ज्यों-की-त्यों बनी रही। सच तो यह है, कि कई ढंग से उस एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल की

ताक़त को, जो ब्रिटिश सरकार के सामने ही जवाबदेह थी, बढ़ा दिया था, और उसकी बुनियाद को मज़बूत कर दिया था। संघीय ढांचा एक ऐसी शक़्ल में था कि उसकी असली तरक़्क़ी नामुमकिन थी। ब्रिटिश सत्ता से संचालित उस हुकूमती ढांचे में दखल देने या उसमें सुधार करने के लिए हिंदुस्तानी जनता के नुमाइंदों को कोई रास्ता ही नहीं छोड़ा था। उसमें किसी ढंग की ढील या तब्दीली, सिर्फ़ ब्रिटिश पार्लमेंट के ज़रिए हो सकती थी। इस तरह इस ढांचे के प्रतिक्रियावादी होने के साथ ही उसमें स्वविकास का तो कोई भी बीज नहीं था, ताकि किसी क्रांतिकारी परिवर्त्तन की नौबत न आए। इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से, जमींदारों से और हिंदुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातों से दोस्ती और भी ज़्यादा मज़बूत हो गई। पृथक् निर्वाचन-पद्धति को इससे बढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। इस एक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग और जहाज़ी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अब और ज़्यादा सुदृढ़ कर दिया। इस संकट में ऐसी धाराएं साफ़ तौर पर रख दी गई कि उनकी इस हैसियत पर कोई रोक या पाबंदियां नहीं लगाई जा सकती थीं। इस प्रतिबंध को जो नाम दिया गया था वह यह था कि कोई भेद-भाव नहीं बरता जायगा।[१] इस क़ानून के मुताबिक भारतीय राजस्व, फ़ौज और विदेशी नीति के सारे मामलों में पूरा नियंत्रण ब्रिटिश हाथों में ज्यों-का-त्यों बना रहा। इस विधान ने वाइसराय को पहले से कहीं ज़्यादा ताक़त सौंप दी।

प्रांतीय स्वाधीनता के सीमित क्षेत्र में ज़्यादा अधिकार हस्तांतरित किये गए, या कम-से-कम ऐसा मालूम तो पड़ा ही। ताहम एक सार्वजनिक सरकार की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उस पर ग़ैर जिम्मेदार केंद्रीय हुकूमत और

---

१ हिंदुस्तान में ब्रिटिश उद्योग और व्यापार के प्रतिनिधि, इन प्रतिबंधी धाराओं को हटाने का अब भी भयंकर विरोध करते हैं। ब्रिटिश विरोध के होते हुए भी अप्रैल १९४५ में केंद्रीय असेंबली में, इन प्रतिबंधों को हटाने का प्रस्ताव पास किया गया। हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता और सारी हिंदुस्तानी जमातें इनको हटाने की कट्टर पक्षपाती हैं और हिंदुस्तानी उद्योगपति तो इस सिलसिले में ज़्यादा चिंतित हैं। फिर भी यह बात ध्यान देने की है कि लंका में कुछ हिंदुस्तानी व्यापारी अपने लिए वैसा ही संरक्षण मांग रहे हैं जो कि ख़ुद अपने देश में ब्रिटिश व्यवसायियों को दे दिये जाने पर खलते हैं। निजी-लाभ के बहाव में आदमी न्याय और इंसाफ़ के लिए ही सिर्फ अंधा नहीं होजाता बल्कि मामूली अक़्ल की बात और सीधी-सादी दलील भी उसे नज़र नहीं आती।

वाइसराय की ताक़तोंकी रोक-थाम लगी हुई थी। वाइसराय की तरह प्रांतीय गवर्नर भी दखल दे सकते थे, किसी कानून को रोक सकते थे, और अपने निजी फ़ैसले और अधिकार के बल पर जनता के नुमाइंदे मंत्रियों और सूबों का असें-बलियों के साफ़ विरोध के होते हुए भी कोई नया कानून जारी कर सकते थे। सरकारी आमदनी का एक बहुत बड़ा हिस्सा कुछ स्थापित स्वार्थों के लिए तै था, और उसमें हाथ भी नहीं लगाया जा सकता था। बड़ी नौकरियों और पुलिस का बचाव किया गया था और मंत्री लोग उनको छू भी नहीं सकते थे। उनका नज़रिया हुकूमतपरस्ती का था और अपने पथ-निर्देश के लिए पहले की ही तरह मंत्रियों की जगह उनकी निगाह गवर्नर की तरफ़ रहती थी। लेकिन फिर भी यही लोग थे जिनके ज़रिये सार्वजनिक सरकारों को काम करना था। सरकार का सारा जटिल ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहा; ऊपर गवर्नर से लेकर मामूली अहलकार और पुलिस के आदमी तक—उस ढांचे में कोई भी तब्दीली नहीं हुई। बस सिर्फ़ उनके बीच में किसी जगह पर चुनी हुई असेंबली के प्रति जिम्मेदार कुछ मंत्री बिठा दिये गए थे, जो अपनी शक्ति भर काम करते थे। अगर गवर्नर (जो ब्रिटिश सत्ता का प्रतिनिधि था), और उसके नीचे काम काम करने वाले सरकारी नौकर मंत्रियों का पूरा-पूरा साथ देते तो सरकारी मशीन आसानी से चल सकती थी। वरना-----और इसकी संभावना भी बहुत ज्यादा थी चूंकि पुरानी हुकूमतपरस्त पुलिस-सरकार और सार्वजनिक सरकार के रवैये में बहुत बड़ा फ़र्क़ होता है--उनमें बराबर कशम-कश और संघर्ष होना लाज़िमी था। यहां तक कि उस वक़्त भी जब कि गवर्नर और नौकरियों और सार्वजनिक सरकार की नीति में कोई साफ़ मतभेद नहीं हो, वे लोग उस सर-कार के कार्य में रुकावट डाल सकते थे, देर कर सकते थे, उसको तोड़-मरोड़ सकते थे, यहां तक कि उस पर पानी फेर सकते थे। कानूनी तौर पर ऐसी कोई चीज नहीं थी जो गवर्नर या वाइसराय को अपने मनमाने ढंग से काम करने से रोक सकती, और इसमें चाहे मंत्रियों और असेंबली का सक्रिय विरोध ही क्यों न हो; संघर्ष का डर ही सिर्फ़ एक कारगर रोक थी। मंत्री लोग इस्तीफ़ा दे सकते थे, और असेंबली में और कोई वर्ग बहुमत को अपनी ओर कर नहीं सकता था, और तब सार्वजनिक आंदोलन हो सकते थे। यह तो वही पुराना वैधानिक संघर्ष था जो निरंकुश राजा और पार्लमेंट में, दूसरे देशों में अक्सर होता आया है, और जिससे क्रांतियां हुई हैं और राजा को दबना पड़ा है। और सब बातों के साथ ही यहां पर तो राजा एक विदेशी सत्ता थी, जिसको विदेशी फ़ौज और आर्थिक ताक़त का सहारा था, और जिसको विशेष स्वार्थ वाले समुदायों और उन जी-हुज़ूरों से जिनको उसने इस देश में पैदा किया था, मदद मिलती थी।

इसी वक़्त, हिंदुस्तान से बर्मा अलहदा किया गया। बर्मा में ब्रिटिश और हिंदुस्तानी, और कुछ हद तक चीनी, आर्थिक और व्यावसायिक स्वार्थों से संघर्ष रहा था। इसीलिए यह ब्रिटिश नीति रही थी कि बर्मावासियों में भारतीय-विरोधी और चीनी-विरोधी भावनाओं को बढ़ावा दिया जाय। कुछ वक़्त तक तो इस नीति से मदद मिली, लेकिन जब यह आज़ादी से इंकार के साथ जुड़ गई, तो उसका नतीजा यह हुआ कि बर्मा में एक ज़बर्दस्त आंदोलन जापानियों के पक्ष में शुरू हो गया, और जब १९४२ में जापानियों ने हमला किया, तो यह ऊपर सतह पर आ गया।

हिंदुस्तानी विचार-धारा के हर एक हिस्से ने, १९३५ के एक्ट का प्रबल विरोध किया। उसमें उस हिस्से की, जो प्रांतीय स्वाधीनता से संबंधित था, तीखी आलोचना की गई, क्योंकि उसमें बहुत से रोक-थाम थे और उसमें गवर्नर और वाइसराय को विशेषाधिकार दिये गए थे। उसमें संघीय ढांचे से ताल्लुक़ रखने वाला हिस्सा और भी ज्यादा खला। स्वयं संघीय विधान का विरोध नहीं किया गया, क्योंकि यह तो आम तौर पर माना जाता था कि हिंदुस्तान के लिए संघीय ढांचा मौजूं था, लेकिन जिस संघीय ढांचे का प्रस्ताव किया गया था, उसमें ब्रिटिश राज्य और हिंदुस्तान में स्थापित स्वार्थों को मज़बूत किया गया था। सिर्फ़ प्रांतीय स्वाधीनता से ताल्लुक़ रखने वाला हिस्सा अमल में लाया गया और कांग्रेस ने चुनाव लड़ने का फ़ैसला किया। लेकिन इस सवाल पर कि उक्त एक्ट की सीमाओं के अंदर ही प्रांतीय हुकूमत की जिम्मेदारी ली जाय या नहीं, कांग्रेस के अंदर बड़ी तीखी बहस हुई। ज्यादातर सूबों में चुनाव में कांग्रेस की ज़बर्दस्त कामयाबी हुई, फिर भी जब तक यह बात साफ़ न हो जाय कि गवर्नर या वाइसराय का हस्तक्षेप नहीं होगा, मंत्रि-मंडल की ज़िम्मेदारी लेने में झिझक थी। कुछ महीनों के बाद कुछ अस्पष्ट आश्वासन इस संबंध में दिये गए, और जुलाई १९३७ में कांग्रेसी सरकारें कायम हुई। आख़िर में, ग्यारह में से आठ सूबे में ऐसी सरकारें बनी, और जो सूबे बाक़ी बचे, वे थे बंगाल, सिंध और पंजाब। सिंध का सूबा हाल ही में बनाया गया था छोटा-सा और एक ढंग से ग़ैर-मुस्तक़िल था। बंगाल में जहां तक धारा-सभा का सवाल है, कांग्रेस अकेले तो सबसे बड़ी पार्टी थी, लेकिन कुल मिलाकर वह बहुसंख्यक नहीं थी इसलिए वह शासन-कार्य में शामिल नहीं हुई। हिंदुस्तान में ब्रिटिश पूंजी का बंगाल (या कलकत्ता कहना ज्यादा सही होगा) प्रधान केंद्र होने की वजह से यूरोपीय व्यवसायी वर्गों को हैरत-अंगेज़ ढंग से ज्यादा नुमाइंदगी दी गई थी। गिनती में वे सिर्फ़ मुट्ठी-भर हैं (शायद कुछ हज़ार ही) फिर भी उनको २५ जगहें दी गई हैं, जब कि सारे सूबे की आम ग़ैर-मुसलमानी आबादी को, जो एक

करोड़ ७० लाख है, ५० जगहें दी गई हैं। इस गिनती में शिडूलवाली जातियों की आबादी शामिल नहीं है। बंगाल का राजनीति में, धारा-सभा में इस ब्रिटिश दल की एक अहम जगह है, और वह मंत्रिमण्डल को बना-बिगाड़ सकता है।

यह बात साफ़ है, कि हिंदुस्तानी मसले के अस्थायी हल की हालत में भी कांग्रेस १९३५ के एक्ट को मंजूर नहीं कर सकती थी। उसकी प्रतिज्ञा आज़ादी के लिए थी, और उसे इस एक्ट से लड़ना था। फिर भी अधिकांश ने यही तय किया कि सूबे की स्वाधीनता के कार्य-क्रम को चलाया जाय। इस तरह उसकी दुहरी नीति थी : एक तो आज़ादी की लड़ाई को ज़ारी रखना, और दूसरे धारा-सभा के ज़रिए रचनात्मक काम और सुधार करना। खेतिहर जनता के सवाल पर, खास तौर से, फ़ौरन ही ध्यान देना ज़रूरी था।

हालांकि कांग्रेस का शुमार के लिहाज़ से बहुमत था और इसलिए एक तरह से, ज़रूरी न होते हुए भी, इस सवाल पर भी ग़ौर किया गया कि कांग्रेसी दूसरे दलों को अपने साथ मिलाकर संयुक्त सरकार बनाएं। फिर भी सरकारी काम में ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों को अपने साथ ले लेना ज़्यादा अच्छा था। हमेशा ही, कैसी भी मिली-जुली सरकार बनाने में कोई खास बाधा नहीं है, और अस्ल में सरहदी सूबे में और आसाम में ऐसी सरकार बनाने की बात मान भी ली गई। सच तो यह है कि कांग्रेस खुद एक ढंग की सम्मिलित संस्था या संयुक्त मोर्चा थी जिसमें बहुत से दल थे, और वे हिंदुस्तान की आज़ादी की लगन से एक साथ बंधे हुए थे। अपने अंदर इस ढंग की भिन्नता के होते हुए भी, उसमें एक अनुशासन और एक सामाजिक दृष्टिकोण था, और एक अपने शांतिपूर्ण ढंग से लड़ने की सामर्थ्य थी। इससे ज़्यादा बड़े सम्मेलन के माने थे ऐसे लोगों के साथ मिलना जिनका राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण बिलकुल जुदा था और जिनकी खास तौर से दफ़्तरों में या मंत्री-पद में दिल-चस्पी थी। उस हालत में संघर्ष तो शुरू से था—संघर्ष ब्रिटिश हितों के प्रतिनिधियों से, वाइसराय और गवर्नर से और दूसरे बड़े-बड़े अफ़सरों से; साथ ही ज़मीन में और उद्योग-धंधों में स्थापित स्वार्थों से, किसानों के मामलों में, या मज़दूरों की हालतों पर, संघर्ष था। ग़ैर-कांग्रेसी हिस्से आम तौर पर राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से अनुदार थे, और उनमें से कुछ ता विशुद्ध अवसरवादी थे। अगर ऐसे हिस्से सरकार में शामिल होते, तो वे हमारे सारे सामाजिक कार्य-क्रम को रद्द कर देते या कम-से-कम उसमें अड़चनें डालते, और उसमें देर करते। यही नहीं दूसरे मंत्रियों की पीठ पीछे गवर्नर के साथ षड्यंत्र भी हो सकते थे। ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ संयुक्त मोर्चा जरूरी था। इसमें किसी तरह की भी फूट हमारे मक़सद के लिए नुक़सान पहुंचाने वाली होती। न आपस में बांधने वाला कोई सीमट ही होता, और न कोई परस्पर मान्य

निष्ठा ही होती, और न कोई एक आदर्श होता और मंत्रियों के व्यक्तिगत रूप म अलग-अलग दृष्टिकोण होते, और वे मंत्री अलग-अलग दिशाओं में चलते। स्वाभाविक तौर पर हमारे सार्वजनिक जीवन में ऐसे बहुत से लोग शामिल थे, जो सिर्फ़ राजनीतिज्ञ थे, और उससे ज्यादा कुछ नहीं थे, और वे अच्छे और बुरे दोनों ही मानों में अपना हित साधने वाले मौकापरस्त लोग थे। कांग्रेस में और साथ ही और दूसरी संस्थाओं में क़ाबिल लगन वाले और देश-भक्त स्त्री-पुरुष और साथ ही मतलबी और मौकापरस्त लोग भी थे। लेकिन १९२० के बाद से कांग्रेस वैधानिक राजनीतिक संस्था से कहीं ज्यादा बड़ी चीज़ रही थी, और वास्तविक अथवा निहित क्रांतिकारी काम का वायु-मंडल उसे घेरे रहता था, और वह अक्सर क़ानून के दायरे से बाहर हो जाती थी। महज़ इसलिए कि इस काम का हिंसा, गुप्त-मंत्रणा या षड्यंत्र या क्रांतिकारी काम की अन्य साधारण बातों से कोई ताल्लुक नहीं था, कांग्रेस कुछ कम क्रांतिकारी नही थी। यह बात दूसरी है कि उसकी नीति सही थी या ग़लत, कारगर था या नहीं और इस पर बहस की जा सकती ह, लेकिन यह बात साफ़ है कि उसमें होश भरा जोश था, और एक बहुत ऊंचे दर्जे की सहनशीलता थी। शायद हिम्मत से थोड़ी देर के लिए हिंसात्मक काम के उफान में शामिल होना आसान है, और उसमें मौत तक का स्वागत हो सकता है। लेकिन इसके मुक़ाबले मं, दिन-प्रतिदिन, माह-प्रतिमाह, वर्ष-प्रति-वर्ष केवल अपनी ही इच्छा से जीवन के उपहारों को छोड़कर जीवन को चलाना ज़्यादा मश्किल है। यह एक ऐसा इम्तहान है जिसमें किसी भी जगह शायद गिने-चुने आदमी ही कामयाब हो सकें, और यह एक अचंभे की बात है कि हिंदुस्तान में इतने आदमी कामयाब हुए हैं।

धारा सभा में कांग्रेस-पार्टियां इस बात के लिए चिंतित थी कि किसी संकट के घिरने से पहले, मजदूरों और किसानों के पक्ष में, नई कानूनी धाराएं बना दें। किसी मंडराते हुए संकट की भावना बराबर मौजूद थी; संकट तो उसमें बीज रूप से था ही। करीब-करीब हर सूबे में एक और धारा-सभा थी, जो बहुत सीमित निर्वाचन पर निर्भर थी, और इस तरह उसमें ज़मीन या उद्योग से संबंधित स्थापित स्वार्थो की नुमाइंदगी थी। प्रगतिशील कानून बनाने पर और दूसरे ढंग की रोक थी। संयुक्त सरकारों से ये सारी परेशानियां बढ़ जातीं, और यह तय किया गया कि सिवाय सरहदी सूबे और आसाम के शरू में ऐसा न किया जाय।

किसी भी सूरत से यह फ़ैसला आख़िरी फ़ैसला नहीं था, और तब्दीली की गुंजाइश बराबर ध्यान में रखी गई, लेकिन तेज़ी से बदलती हुई हालतों ने इस तब्दीली को ज्यादा मुश्किल बना दिया, और सूबे की कांग्रेसी सरकारें

उन बहुत से मसलों में, जिन पर फ़ौरन ही ध्यान देने की ज़रूरत थी, फंस गई। बाद के बरसों में, उस फ़ैसले की अक़्लमंदी पर बहुत बहस हुई है, और उस पर अलग-अलग रायें हैं। किसी घटना के समाप्त होने पर अक़्लमंद होना ज्यादा आसान है, लेकिन अब भी मेरा अपना ख़्याल यही है कि राजनीतिक नज़र से और परिस्थितियों के लिहाज़ से हमारे लिए वह फ़ैसला क़ुदरती था, और जा था। फिर भी यह सच है कि फ़िरकेवार सवाल पर उसका बहुत बुरा असर पड़ा, और उसकी वजह से बहुत से मुसलमानों में शिकायत और अलहदगी का सवाल पैदा हुआ। इससे बहुत से प्रतिक्रियावादी दलों ने फ़ायदा उठाया और उन्होंने कुछ ख़ास दलों में अपनी स्थिति मज़बूत कर ली।

राजनीतिक या वैधानिक नज़र से, इस नये एक्ट से और सूबों में कांग्रेसी सरकारों के क़ायम होने से, सरकारी ब्रिटिश ढांचे में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं हुआ। असली ताक़त वहीं रही, जहां कि वह एक लंबे अर्से से थी लेकिन मनोवैज्ञानिक नज़रिये से एक बहुत बड़ा फ़र्क़ हुआ, और ऐसा मालूम पड़ा मानो देश में बिजली दौड़ गई हो। शहरों के मुक़ाबले देहात में यह तब्दीली ज्यादा नज़र आई। हां, शहरों के औद्योगिक केंद्रों के मज़दूरों में भी यही प्रतिक्रिया हुई। एक इस ढंग की भावना थी, मानो जनता को कुचलने वाला बहुत बड़ा बोझ हट गया हो, और बहुत चैन हो; बहुत अर्से से दबी हुई सामूहिक शक्ति को छुटकारा मिला और वह चारों तरफ़ नज़र आती थी। कम-से-कम कुछ वक़्त के लिए पुलिस और ख़ुफ़िया विभाग का डर ग़ायब हो गया, यहां तक कि ग़रीब-से-ग़रीब किसान में भी आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की भावना बढ़ी। पहली बार उसने यह महसूस किया कि उसकी भी अहमियत है, और उसको भुलाया नहीं जा सकता। अब सरकार कोई अनजान दैत्य की तरह नहीं थी जो उससे अफ़सरों से अनगिनत तहों से अलहदा थी, और जिस पर असर डालना तो दूर रहा जिस पर आसानी से पहुंचा भी नहीं जा सकता था, और जिसके अफ़सर उसको ज़्यादा-से-ज्यादा चूसने पर तुले हुए थे। समर्थ के आसन पर अब उन लोगों का क़ब्ज़ा था, जिनको उसने अक्सर देखा था, सुना था, और जिनसे उसने बातचीत की थी; कभी-कभी वे लोग साथ-साथ जेल में भी रहे थे, और उनमें आपस में साथियों की-सी भावना थी।

सूबे की सरकारों के ख़ास केंद्र में, पुरानी हुकूमत के गढ़ में, कई प्रतीक-स्वरूप दृश्य देखे गए। इनका नाम था प्रांतीय सेक्रेटेरियट; और यहीं सारे बड़े-बड़े दफ़्तर थे, और यह जगह बहुत ऊंची और लोगों की पहुंच से परे समझी जाती थी, और यहां से ऐसे गुप्त हुक्म निकलते थे जिनको कोई चुनौती नहीं दे सकता था। पुलिस के आदमी या लाल वर्दी वाले अर्दली, जिनकी कमर की चपरासों में चमकती हुई कटारें लटकती थीं, इन पर पहरा देते थे, और

सिर्फ़ वही लोग, जो खुश किस्मत थे या बहुत साहसी थे, और या जो बहुत बड़ी तिजौरियों वाले थे, इनको पार कर अंदर पहुंच सकते थे। अब अचानक ही गांव के और शहर के झुंड-के-झुंड लोग इन पवित्र हदों में घुसते और जहां मन चाहे घूमते। उनकी हर एक चीज़ में दिलचस्पी थी; वे असेंबली चैंबर में गए, जहाँ कि मेंबर लोग काम-काज करते थे; उन्होंने मंत्रियों के कमरों में भी नज़र डाली। उनको रोकना मुश्किल था, क्योंकि वे अपने आपको बाहर का नहीं समझते थे; और हालांकि यह उनके लिए बहुत जटिल था, और उनको समझना मुश्किल था, फिर भी उनमें एक स्वामित्व की भावना थी। पुलिस के आदमी और चमकती हुई कटारों वाले अर्दली जड़वत् थे; पुराने मापदंड गिर गए थे; यूरोपीय पोशाक की, जो कि ओहदा और हुकूमत की निशानी थी, अब अहमियत नहीं थी। असेम्बली के मेंबरों और शहर और देहात से आने वाले आदमियों में छांट करना मुश्किल था। अक्सर उन लोगों की पोशाक एक-सी ही होती थी। आम तौर पर हाथ का बना हुआ कपड़ा होता था, और सिर पर सुपरिचित गांधी टोपी होती थी।

पंजाब और बंगाल में, जहां कि मंत्रि मण्डल कई महीने पहले बन चुके थे, दूसरी ही हालत थी। वहां की रफ़्तार में कोई रुकावट नहीं पैदा हुई और तब्दीली बिलकुल खामोशी से हुई थी, और ज़िंदगी के ढंग में कोई भी फ़र्क नहीं हुआ था। खास तौर से पंजाब में पुराना रवैया जारी था, और ज़्यादातर मंत्री नय नहीं थे। वह पहले भी ऊंचे अफ़सर रह चुके थे, और अब भी थे। उनमें और ब्रिटिश हुकूमत में कोई भी संघर्ष या तनातनी नहीं थी, क्योंकि राजनीतिक नज़र से उस हुकूमत की प्रधानता थी।

नागरिक स्वतंत्रता और राजनीतिक कैदियों के सिलसिले में कांग्रेसी सूबों और पंजाब और बंगाल में जो फ़र्क था वह फ़ौरन ही ज़ाहिर हो गया। पंजाब और बंगाल दोनों ही सूबों में पुलिस और खुफ़िया विभाग के राज में किसी तरह की ढील नहीं हुई, और न राजनीतिक कैदियों को छुटकारा ही मिला। बंगाल में, जहां कि मंत्रि-मंडल अक्सर यूरोपीय वोटों के सहारे चलता था, इन सबके अलावा हज़ारों नज़रबंद थे यानी ऐसे स्त्री और पुरुष जिनको अनिश्चित काल के लिए बिना मुकदमा चलाये ही जेल में वर्षों से बंद कर रखा गया था। इसके बा-अक्स कांग्रेसी सूबों में, जो सबसे पहला क़दम उठाया गया, उससे राजनीतिक क़ैदियों की रिहाई हुई। इनमें से कुछ लोगों के मामलों में, जो हिंसात्मक कार्रवाइयों के लिए कैद किये गए थे, गवर्नर के सहमत होने से इंकार करने की वजह से देरी हुई। इसी मामले पर १९३८ के शुरू में बात बहुत बढ़ गई, और दो कांग्रेसी सरकारों ने (संयुक्त प्रांत और बिहार में) अपने इस्तीफ़े भी पेश कर दिये। इस पर गवर्नर ने अपना विरोध वापिस लिया

और क़ैदी छोड़ दिये गए।

४ : हिंदुस्तान में—ब्रिटिश अनुदारता बनाम हिंदुस्तानी सरगर्मी

नई प्रांतीय असेंबलियों में, देहाती हलक़ों की नुमाइंदगी बहुत ज़्यादा थी, और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि उन सब में कृषि-संबंधी सुधारों की मांग हुई। स्थायी बंदोबस्त और दूसरे कारणों से बंगाल में काश्तकारों की हालत सब जगह से ज़्यादा ख़राब थी। उनके बाद उन बड़े-बड़े सूबों का नंबर था, जहां ज़मींदारी-प्रथा थी। इनमें ख़ास सूबे थे बिहार और संयुक्त-प्रांत। उसके बाद वे सूबे थे जहां शुरू में काश्तकार को ख़ुद जमीन का मालिक बनाया गया था, लेकिन जहां बड़ी-बड़ी जमीदारियां भी बन गईं थीं। ये सूबे थे मद्रास, बंबई, और पंजाब। बंगाल म हर कारगर सुधार के रास्ते में स्थायी बंदोबस्त की अड़चन थी। क़रीब-क़रीब सभी आदमी इस मामले में एकमत हैं, कि स्थायी बंदोबस्त ख़त्म हो जाना चाहिए, यहां तक कि एक सरकारी कमीशन ने इसको ख़त्म करने की सिफ़ारिश की है लेकिन स्थापित स्वार्थों वाले ऐसा इंतज़ाम करते हैं कि यह तब्दीली रुक जाती है या उसमें देर हो जाती है। इस मामले में पंजाब ख़ुशकिस्मत रहा क्योंकि उसको नई जमीन मिल गई।

कांग्रेस के लिए कृषि-संबंधी सवाल ख़ास सामाजिक मसला था और उसके अध्ययन और इस संबंध में नीति बनाने के लिए काफ़ी समय दिया गया था। यह नीति हर सूबे में अलग-अलग थी, क्योंकि हर सूबे की हालत अलग-अलग थी, और साथ ही सूबों की कांग्रेस कमेटियों में वर्ग-मिश्रण अलग-अलग था। केंद्रीय संस्था द्वारा निर्धारित एक अखिल भारतीय नीति थी, जिसमें हर सूबे ने अपनी हालत विशेष को ध्यान में रखकर, और बातें जोड़ लीं। इस लिहाज़ से संयुक्त-प्रांतीय कांग्रेस सबसे आगे थी, और वह इस नतीजे पर पहुंच गई थी कि ज़मींदारी प्रथा को ख़त्म कर देना चाहिए। गवर्नर और वाइसराय के विशेषाधिकारों और सूबे की ऊपरी धारा-सभाओं को, जिनमें ज़्यादातर ज़मींदार थे, छोड़ने पर भी. १९३५ के गवर्नमेंट अव् इंडिया एक्ट के मातहत ऐसा करना नामुमकिन था। इसलिए इस ढांचे के ऊपरी घेरे के अंदर ही तब्दीली करनी थी। हां, यह बात दूसरी थी कि कोई क्रांतिकारी बात उठ खड़ी हो, और वह ख़ुद इस प्रथा को ख़त्म कर दे। इसलिए सुधार करना मुश्किल हो गया, और उसमें बहुत-सी उलझनें पैदा हुईं और इसमें आशा से अधिक समय लगा।

फिर भी कृषि-संबंधी महत्त्वपूर्ण सुधार किये गए, और साथ ही देहाती

कर्ज़ की समस्या पर भी प्रहार किया गया। इसी तरह कारखानों में मज़दूरों की हालत, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफ़ाई, स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं, प्रारंभिक और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा, साक्षरता, उद्योग, ग्रामोन्नति आदि दूसरे मसलों को सुलझाया गया। पहली सरकारों ने इन सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं को भुला दिया था, और ध्यान से उतार दिया था; उनका काम तो पुलिस और कर-वसूली विभाग को कुशल बनाना था, और वे बाक़ी विभागों को अपने ढंग से चलने की इजाज़त देती थीं। कभी-कभी थोड़ी-सी कोशिश की गई थी, और कमीशन और जांच-कमेटियां नियुक्त की गई थीं, और ये बरसों के सफ़र और मेहनत के बाद लंबी-चौड़ी रिपोर्टें तैयार करतीं। तब वे रिपोर्टें अपनी-अपनी दराजों में रख दी जातीं, और उन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाती। यही नहीं बल्कि बार-बार सार्वजनिक मांग के होते हुए भी सही और पूरे आंकड़े भी इकट्ठे नहीं किये गए थे। किसी भी दिशा म प्रगति करने के मामले में, इन आंकड़ों की कमी और पूरी-पूरा ख़बर के अभाव से बड़ी भारी रुकावट रही है। इस तरह आम हुकूमती काम के अलावा प्रांतीय सरकारों के सामने काम का पहाड़ था, जो बरसों की लापरवाही का नतीजा था, और हर तरफ़ ऐसी समस्याएं थी जिन पर फ़ौरन ध्यान देना ज़रूरी था। पुलिस-सरकार को बदलकर, जन-नियंत्रित सरकार बनाना था। एक तो वैसे ही यह काम कोई आसान काम नहीं था, फिर उनके महदूद अधिकारों की वजह से, लोगों की गरीबी की वजह से और प्रांतीय और केंद्रीय सरकार के (जो वाइसराय के मातहत पूरी तरह स्वेच्छाचारी और हुकूमत-परस्त थी), जुदा दृष्टिकोण होने की वजह से, यह काम और भी ज़्यादा मुश्किल हो गया।

इन सब ख़ामियों और रुकावटों को हम जानते थे और हम अपने दिल म यह महसूस करते थे कि जब तक हालतों में जड़ से तब्दीली न आयें, तब तक हम ज़्यादा बड़ा काम नहीं कर सकते थे, और इसीलिए आज़ादी की प्रबल इच्छा थी, फिर भी आगे बढ़ने की लालसा हममें भरी हुई थी, और हमारी ख़्वाहिश थी कि दूसरे देशों को, जो कई ढंग से आगे बढ़े हुए थे, हम दौड़कर पकड़ लें। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका हमारे सामने था, और यही नहीं कुछ पूर्वीय देश भी थे, जो तेज़ी से आगे बढ़ रहे थे। लेकिन हमारे सामने जो सबसे बड़ी मिसाल थी वह यह थी सोवियट यूनियन की; जिसने लड़ाई, आंतरिक संघर्ष और अदम्य प्रतीत होने वाली कठिनाइयों से भरे बीस बरस के अंदर ही बड़ी भारी तरक्क़ी की थी। साम्यवाद की तरफ़ कुछ लोग खिंचे और कुछ लोग नहीं भी खिंचे थे, लेकिन सब लोग शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य-प्रबंध, शरीर-रक्षा और उपजातियों के मसलों के हल के बारे में सोवियट यूनियन की प्रगति

की ओर खिंचे थे। वे लोग पुराने पचड़ों से सोवियट यूनियन के एक नये संसार बनाने के आश्चर्य-पूर्ण भगीरथ प्रयत्न से प्रभावित थे। यहां तक कि श्री रवींद्र-नाथ ठाकुर, जो बहुत ज़्यादा व्यक्तिवादी थे, और जो साम्यवाद के कुछ पहलुओं से ख़ुश नहीं थे, इस नई सभ्यता के प्रशंसक बन गए, और उन्होंने अपने देश की मौजूदा अवस्था के साथ उसका मिलान किया। अपने आख़िरी संदेशे में, जो उन्होंने मृत्यु-शय्या से दिया था, उन्होंने सोवियट रूस की उस लगन और उसकी बारहा कोशिशों की चर्चा की 'जिससे उसने रोग और निरक्षरता का मुक़ाबला किया, और अज्ञान और निर्धनता को मिटाने में कामयाबी हासिल की और एक महादेश के मुंह पर से हीनता की भावना को मिटा दिया। उसकी सभ्यता वर्गों और मतों के आपस के भेद-भावों से बिलकुल मुक्त है। उसकी तेज़ और आश्चर्यपूर्ण प्रगति से मुझे एक साथ ही प्रसन्नता और ईर्ष्या दोनों हुईं...... जब मैं दूसरी जगह दो सौ उपजातियां देखता हूं, जो कुछ बरस पहले ही विकास के जुदा-जुदा स्तरों पर थीं और जो अब एक साथ प्रेम पूर्वक आगे बढ़ रही हैं, और जब मैं अपने देश की तरफ़ देखता हूं जहां विकसित और बुद्धिमान् मनुष्य बर्बरता के बहाव में बह रहे हैं तो मुझे विवश होकर दोनों जगहों की सरकारों का फ़र्क़ दिखाई देता है--एक सहयोग के सहारे चलता है, और दूसरे की बुनियाद शोषण पर है, और इसी वजह से यह भेद-भाव मुमकिन है।'

अगर दूसरे लोग यह कर सकते हैं तो हम क्यों नहीं कर सकते ? हमें अपनी सामर्थ्य में, अपनी बुद्धि में, अपनी लगन में, अपनी सहनशीलता में और सफलता में भरोसा था। हम अपनी मुश्किलों को, अपनी ग़रीबी और पिछड़ेपन को, अपने प्रतिक्रियावादी दलों और वर्गों को और आपसी फ़र्कों को जानते थे फिर भी हम उनका सामना कर उन्हें जीत सकते हैं। हम जानते थे कि क़ीमत बहुत मंहगी है, फिर भी हम उसे देने के लिए तैयार थे, क्योंकि अपनी मौजूदा हालत में जो कीमत हम रोज़ाना चुका रहे थे उससे ज़्यादा और कोई क़ीमत नहीं हो सकता थी। लेकिन हम अपनी भी नई समस्याओं का हल किस तरह शुरू करते, जब कि हर घुमाव पर ब्रिटिश राज्य और ब्रिटिश आधिपत्य की समस्या का, हमको सामना करना पड़ता, और जो हमारे हर प्रयत्न को बेकार कर देता।

फिर भी चूंकि इन सूबों की सरकारों में हमारे लिए अवसर था, (चाहे वह कितना ही सीमित और संकुचित क्यों न हो) हम उससे पूरा-पूरा फ़ायदा उठाना चाहते थे। लेकिन हमारे मंत्रियों के लिए यह बड़ा जी तोड़ने वाला काम था। वे बेहद काम और जिम्मेदारी से घिरे हुए थे, क्योंकि न तो उनमें सामंजस्य था और न समान दृष्टिकोण था। बदक़िस्मती से इन मंत्रियों की संस्था बहुत छोटी थी। उनसे यह उम्मेद की जाती थी कि वे सादा रहन-सहन

का और सार्वजनिक ख़र्च में किफ़ायत की मिसाल पेश करेंगे। उनकी तनख्वाहें थोड़ी थीं और एक विचित्र दृश्य दिखाई देता कि उस मंत्री के सेक्रेटरी या दूसरे मातहत लोग, जो इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे, तनख़्वाह और भत्ता मिलाकर इतना रुपया पाते थे, जो मंत्रियों के वेतन से चार या पांच गुना था। हम लोग सिविल सर्विस वालों की तनख़्वाह में हाथ भी नहीं लगा सकते थे। यही नहीं, रेल से मंत्री दूसरे या कभी-कभी तीसरे दर्जे में सफ़र करता, जब कि उसका सहकारी उसी गाड़ी में पहले दर्जे में या ठाट के साथ रिजर्व डिब्बे में सफ़र करता।

अक्सर यह कहा गया है कि केंद्रीय कांग्रेस-कार्यकारिणी ने ऊपर से हुक्म जारी करके इन सूबों की सरकारों के काम म बराबर दखल दिया। यह बिलकुल ग़लत बात है। अंदरूनी इंतज़ाम में कोई भी हस्तक्षेप नहीं था। कांग्रेस-कार्यकारिणी जो चीज़ चाहती थी वह यह थी कि सारे बुनियादी राजनीतिक मामलों में सब सूबों की सरकारों की एक-सी नीति हो, और वह कांग्रेसी कार्यक्रम, जो चुनाव के घोषणा-पत्र में रखा गया था, जहां तक मुमकिन हो, आगे बढ़ाया जाय। खास तौर से गवर्नरों और हिंदुस्तान-सरकार के प्रति इनकी नीति एक-सी होती थी।

केंद्रीय सरकार में, जो अब भी बिलकुल ग़ैर-ज़िम्मेदार और हुकूमत-परस्त थी, कोई रद्दो-बदल किये बिना प्रांतीय स्वाधीनता का कार्यक्रम चालू करने का एक ज्यादा मुमकिन नतीजा यह था कि प्रांतीयता और भेद की तरक्क़ी हो, और इस तरह हिंदुस्तानी एकता की भावना कम हो। तोड़-फोड़ वाले हिस्सों और प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने की अपनी नीति को आगे बढ़ाते वक़्त शायद यह बात ब्रिटिश सरकार के ध्यान में थी। हिंदुस्तान-सरकार, जो न तो हटाई जा सकती थी और जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पुरानी परिपाटी की नुमाइंदगी करती थी, अब चट्टान की तरह मज़बूती के साथ जमी हुई थी, और हर सूबे की सरकार के साथ उसकी एक-सी नीति थी। नई दिल्ली और शिमला की हिदायतों के मुताबिक गवर्नर भी उसी तरह काम करते थे। यदि कांग्रेसी सूबों की सरकारों की प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई होती, और सबकी अपनी निजी नीति होती, तो उनका क़िस्सा अलग-अलग ख़त्म कर दिया जाता। इसलिए यह लाज़िमी था कि ये सूबों की सरकारें एक साथ रहें, और हिंदुस्तान-सरकार के सामने एक मिला-जुला मोर्चा लें। दूसरी तरफ़ खुद हिंदुस्तान-सरकार भी इस बात की फ़िक्र में थी कि इनका आपसी सहयोग टूट जाय और वह हर सूबे की सरकार से अलग-अलग निबटना चाहती थी, और वह दूसरी जगह मिलते-जुलते मसलों का ज़िक्र भी नहीं उठाना चाहती थी।

अगस्त १९३७ में, कांग्रेसी सूबों की सरकारों के क़ायम होने के बाद

फ़ौरन ही कांग्रेस-कार्य-समिति ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया :

"कार्य-समिति कांग्रेसी मंत्रियों से इस बात की सिफ़ारिश करती है कि वे विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त करें, जो उन ज़रूरी और अहम मसलों पर ग़ौर करे, जिनका हल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और सामाजिक विधान की किसी भी योजना के लिए ज़रूरी है। इस हल के लिए व्यापक छान-बीन करनी होगी, और आंकड़े इकट्ठे करने होंगे, और साथ ही एक सुस्पष्ट और सुनिश्चित सामाजिक आदर्श ज़रूरी होगा। इनमें से बहुत से मसलों का प्रांतीय आधार पर पूरा-पूरा हल नहीं होगा, क्योंकि एक दूसरे से लगे हुए प्रांतों के हित आपस में घुले-मिले हैं। नदियों की विस्तृत जांच करना है, ताकि ऐसी नीति निर्धारित हो सके कि विनाशकारी बाढ़े रोकी जा सकें और उनके पानी से सिंचाई के काम में फ़ायदा उठाया जा सके, ज़मीन के ख़राब होने का मसला सोचा जा सके, मलेरिया रोका जा सके और पानी से बिजली पैदा करने की या ऐसी ही और दूसरी योजनाओं पर ग़ौर हो सके। इस मक़सद के लिए पूरी नदी की घाटी की जांच और छान-बीन हो, और बड़े पैमाने पर सरकारी तौर से योजना बने। उद्योग-धंधों की तरक्क़ी और नियंत्रण के लिए कितने ही सूबों को मिल-जुल कर एक साथ काम करना ज़रूरी है। इसलिए कार्य-समिति यह सलाह देती है, कि पहले विशेषज्ञों की अंतर्प्रान्तीय कमेटी नियुक्त की जाय, जो समस्याओं की साधारण प्रकृति पर ग़ौर करे, और वह अपनी राय ज़ाहिर करे कि किस तरह और किस ढंग से उनको हल करने के लिए आगे बढ़ा जाय। विशेषज्ञों की यह कमेटी अलग-अलग समस्याओं के लिए अलग-अलग कमेटी या बोर्ड तैनात करने की सलाह दे सकती है, और ये कमेटियां संबंधित प्रांतीय सरकारों को मिल-जुल कर काम करने और कार्यक्रम के संबंध में सलाह दे सकती हैं।"

इस प्रस्ताव से उस सलाह की झलक मिलती है जो किसी वक़्त सूबों की सरकारों को दी गई थी। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में सूबों की सरकारों में आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए कांग्रेस-कार्य-समिति कितनी ख़्वाहिशमंद थी। हालांकि सलाह कांग्रेसी सरकारों के नाम दी गई थी, फिर भी वह सिर्फ़ उन्हीं तक सीमित नहीं थी। नदियों की विस्तृत जांच में सूबों की सीमाएं टूट जाती थीं; गंगा नदी की घाटी की जांच और गंगा नदी-कमीशन नियुक्त करना उसी वक़्त संभव था जब कि तीन प्रांतीय सरकारें, यानी संयुक्त प्रांत, बिहार और बंगाल एक दूसरे का साथ दें। इस काम का बेहद महत्त्व है और आज भी यह करना बाकी है।

इस प्रस्ताव से यह भी ज़ाहिर है कि कांग्रेस बड़े पैमाने पर उठाई गई सरकारी योजना को कितना महत्त्व देती है। जब तक केंद्रीय सरकार सार्व-

जनिक नियंत्रण में नहीं थी, और जब तक सूबों की सरकारों पर से बेड़ियां नहीं हटतीं, तब तक इस तरह की योजना बनाना असंभव था। फिर भी हमें ऐसी उम्मीद थी कि कुछ ज़रूरी प्रारंभिक कार्य किया जा सकता है, और भविष्य की योजनाओं की बुनियाद रखी जा सकती है। १६३८ के आख़िरी महीनों में, नेशनल प्लानिंग कमेटी (राष्ट्रीय योजना-निर्माण कमेटी) बनी और मैं उसका सभापति हुआ।

मैं अक्सर कांग्रेसी सरकारों के काम की आलोचना करता, और उनकी प्रगति के धीमेपन पर झुंझलाता। लेकिन अब सिंहावलोकन करते हुए, उनके कारनामों पर, जो उन्होंने सवा दो साल के छोटे-से अर्से में दिखाये, मैं आश्चर्य में पड़ जाता हूं। उनके ये कारनामे उन अनगिनित मुश्किलों के बावजूद थे जो उन्हें बराबर घेरे रहती थीं। बदकिस्मती से उनके कुछ अहम कामों का नतीजा नहीं निकल पाया, क्योंकि जिस वक्त वह पूरा होने को था उन लोगों ने इस्तीफ़ा दे दिया, और बाद में उनके वारिस ने, यानी ब्रिटिश गवर्नर ने, उस काम को ढहा दिया। खेतिहर और मज़दूर दोनों ही तरह की जनता को फ़ायदा हुआ, और उनका ताक़त बढ़ गई। एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और गहरी उपलब्धि यह थी कि बुनियादी शिक्षा नाम की एक सार्वजनिक शिक्षा-प्रणाली को शुरू कर दिया गया। इसकी बुनियाद सिर्फ़ शिक्षा के नवीनतम सिद्धांत पर ही नहीं थी, बल्कि हिंदुस्तानी हालतों के लिए यह ख़ास तौर से मौज़ूं थीं।

हर एक स्थापित स्वार्थ ने प्रगतिशील परिवर्तन के रास्ते में अड़चनें डालीं। कानपुर के सूती कपड़े के कारख़ानों में मज़दूरों की हालतों के सिलसिले में जांच करने के लिए संयुक्त प्रांतीय सरकार ने एक कमेटी मुक़र्रर की। इस कमेटी के साथ मिल-मालिकों ने (ख़ासकर यूरोपीय आदमियों ने, वैसे तो उनमें कुछ हिंदुस्तानी भी शामिल थे) ज्यादा-से-ज्यादा अशिष्ट बर्ताव किया, और उन्होंने बहुत-सी बातें और आंकड़े बताने से इंकार कर दिया। मज़दूरों को बहुत अर्से से मिल-मालिकों और सरकार के संगठित विरोध का सामना करना पड़ा था, और पुलिस मिल-मालिकों की मदद को हमेशा तैयार रहती थी। इसलिए इस नीति में कांग्रेसी सरकारों ने जो रद्दो-बदल की वह मिल-मालिकों को नागवार मालूम हुई। श्री. बी. शिवराव, जो हिंदुस्तान में मज़दूरों के आंदोलन से बहुत अर्से से जानकारी रखते हैं, और जो उनमें उदार दली हैं, हिंदुस्तान में मिल-मालिकों की चाल के बारे में लिखते हैं :

"हड़ताल के मौक़ों पर मिल-मालिकों में जो औचित्य-अभाव और कार्यक्षमता दिखाई देती है, और जिस तरह पुलिस की मदद ली जाती है, उस पर उन लोगों को, जो हिंदुस्तानी परिस्थितियों से अपरिचित हैं, विश्वास नहीं होगा।"

ज़्यादातर देशों का सरकार, जैसी कि वह है, मिल-मालिकों की तरफ़ झुकी हुई है। श्री. शिवराव बताते हैं कि हिंदुस्तान में इसकी एक ख़ास वजह और है—"व्यक्तिगत ईर्ष्या के अलावा कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदुस्तान में हाक़िम लोगों में इस बात का डर सवार रहता है कि यदि ट्रेड यूनियनों को बढ़ने का मौक़ा दिया जाय तो उनसे सार्वजनिक जागृति होगी; और थोड़े-थोड़े अर्से बाद हिंदुस्तान में जो राजनीतिक संघर्ष उभर उठता है, मसलन असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलन, तो उन लोगों ने शायद यह महसूस किया है कि इस हालत मे जन-संगठन के सिलसिले में कोई ख़तरे का मौक़ा देना मुनासिब नहीं है।"[१]

सरकारें नीति निश्चय करती हैं, लेजिस्लेचर क़ानून बनाते हैं; लेकिन इस नीति को अमल में लाना और इन क़ानूनों को लागू करना, आख़िर में स्थायी नौकरियों और इंतज़ामी महकमों पर निर्भर होता है। प्रांतीय सरकारों को इस तरह लाज़िमी तौर पर स्थायी नौकरियों और ख़ास तौर से इंडियन सिविल सर्विस और पुलिस पर भरोसा करना पड़ता था। ये नौकरियां एक हुकूमत-परस्ती की और जुदा परंपरा में पली थीं, और वे इस नये वातावरण को और जनता को अपने अधिकारों पर ज़ोर देने की प्रवृत्ति को नापसंद करती थीं। उन्हें यह बात नापसँद थी कि उनकी निजी अहमियत कम हो और वे उन लोगों के मातहत हों जिनको वे गिरफ़्तार करने और जेल भेजने के आदी थे। शुरू-शुरू में तो उनमें शंकाएं उपजीं कि न जाने क्या होगा। लेकिन कोई ख़ास क्रांतिकारी बात नहीं हुई, और धीरे-धीरे वे अपने पुराने ढर्रे पर जम गए। मंत्रियों के लिए उन लोगों के काम में दख़ल देना आसान नहीं था, और कुछ ख़ास हालतों में साफ़ सबूत होने पर ही वे ऐसा कर सकते थे। नौकरियों का एक घनिष्ठ संघ था और अगर किसी आदमी का तबादला किया जाता ता उसकी जगह आने वाला आदमी भी संभवतः उसी ढंग से काम करता। नौकरियों की पुरानी प्रतिक्रियावादी और निरंकुश मनोवृत्ति को अचानक ही पूरी तरह बदलना नामुमकिन था। कुछ शख़्स बदल सकते थे, कुछ नई हालतों से मेल बिठाने की कोशिश कर सकते थे, लेकिन उनकी एक बहुत बड़ी तादाद दूसरे ही ढंग से सोचती थी और हमेशा एक दूसरे ही ढंग से काम करती आई थी। उनमें अचानक ही ऐसा महान् परिवर्तन कैसे हो सकता था, और वे एकदम एक नई परंपरा के कट्टर हामी कैसे हो सकते थे? ज़्यादा-से-ज़्यादा उनकी एक जड़ और निश्चेष्ट निष्ठा हो सकती थी; असलियत के बमूजिब इस नये काम में उनका कोई ख़ास उत्साह हो ही नहीं सकता था,

---

१ बी. शिवराव, 'दि इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया' (लंदन, १९३९)

क्योंकि एक तो उनका उसमें विश्वास ही नहीं था, और दूसरे, उससे उनके निजी स्थापित स्वार्थों को भी धक्का लगता था। बदक़िस्मती से आम तौर पर इस निश्चेष्ट निष्ठा का भी अभाव था।

सिविल सर्विस के बड़े सदस्यों में, जो हुकूमतपरस्ती के ढंग और निरंकुश शासन के आदी थे, एक ऐसी भावना थी कि ये मंत्री लोग और असेंबली के मेंबर एक ऐसे मैदान में दख़ल देने वाले थे जो बिलकुल उन्हीं (सिविल सर्विस वालों) के लिए रिज़र्व हो चुका था। यह पुरानी धारणा, कि वे स्थायी नौकरियां और ख़ास तौर से उनका ब्रिटिश अंश ही हिंदुस्तान था और बाकी सब तो महत्त्वहीन और फालतू था, गहरी जमी हुई थी। इन नये आदमियों को बर्दाश्त करना आसान नहीं था और फिर उनसे हुक्म लेना तो और भी ज्यादा मुश्किल था। उनको ऐसा महसूस हुआ जैसा कि एक कट्टर हिंदू को उस वक़्त महसूस होता है जब कि अछूत उनके निजी मंदिर के पवित्र स्थानों में जबर्दस्ती घुस आए हों। जातीय बड़प्पन और शान की इमारत, जो इतनी मेहनत से तैयार की गई थी और जो उनके लिए मज़हब जैसी चाज़ बन गई थी, अब चटख़ रही थी। ऐसा कहा जाता है कि चीनियों का 'चेहरे' में बहुत विश्वास होता है फिर भी मुझे इस बात में शक है कि 'चेहरे' के प्रति उनकी इतनी ममता है जितनी कि हिंदुस्तान में रहने वाले ब्रिटिश लोगों की। इन लोगों के लिए यह व्यक्तिगत, जातीय या राष्ट्रीय शान की ही चीज़ नहीं है; उसका उनके राज्य और स्थापित स्वार्थों से भी घनिष्ठ संबंध है।

फिर भी इन हस्तक्षेप करने वालों को उन्हें बर्दाश्त करना था, लेकिन ज्यों-ज्यों ख़तरे की भावना दूर हटती गई, यह सहनशीलता भी धीरे-धीरे कम होती गई। हुकूमत के हर विभाग में यह रुख़ समाया हुआ था, और राजधानी से दूर जिलों में तो यह ख़ास तौर से ज़ाहिर था और खास तौर से उन महकमों में जो शांति और व्यवस्था से संबंधित थे और जिनके सिलसिले में ज़िला मजिस्ट्रेट और पुलिस को ख़ास हक़ हासिल थे। नागरिक स्वतंत्रता पर कांग्रेसी सरकारों के ज़ोर देने की वजह से मुकामी हाकिमों को बहाना मिल गया, और उन्होंने ऐसी चीज़ें होने दीं जिनके लिए आम तौर पर कोई भी सरकार इजाज़त नहीं देती। अस्ल में मुझे तो इस बात का पक्का यक़ीन है कि मौकों पर तो इन अवांछनीय घटनाओं के लिए मुक़ामी हाकिमों या पुलिस से बढ़ावा मिला। जो बहुत से फ़िरक़ेवार झगड़े हुए, उनकी बहुत-सी वजहें थीं, लेकिन यह बात है कि हर मौक़े पर मजिस्ट्रेट और पुलिस निर्दोष नहीं थे। तजुर्बे से यह बात मालूम हुई कि मौक़े पर कुशलता से और फुर्ती से काम लेने से झगड़ा ख़त्म हो गया। जो चीज हमको बार-बार देखने को मिली, वह एक हैरत-अंगेज़ काहिली थी। उन मौकों पर जान-बूझ कर अपने फर्ज़ की अदायगी को

टाल दिया जाता था। यह बात साफ़ हो गई कि उनका उद्देश्य कांग्रेसी सरकारों को बदनाम करना था। संयुक्त प्रांत के औद्योगिक नगर कानपुर में, मुक़ामी हाकिमों की बदइंतज़ामी और निकम्मेपन की एक खास मिसाल सामने आई, और यह बात इरादतन ही हो सकती थी। फ़िरक़ेवार झगड़े, जिससे कभी-कभी मुक़ामी दंगे हो जाया करते थे, १९३० के कुछ पहले के और कुछ बाद के बरसों में नज़र आते थे। कांग्रेसी सरकारों के दफ्तर संभालने के बाद कई ढंग से वह बहुत कम हुए। उसकी शक्ल बदल गई, और अब वह निश्चित रूप से राजनीतिक थी, और अब जान-बूझ कर उसको बढ़ावा दिया जाता था, और उसका संगठन किया जाता था।

सिविल सर्विस की एक खास शोहरत थी जिसे कि ख़ुद उसने फैला रक्खा था, यानी वह बहुत कार्य-कुशल है। लेकिन यह बात साफ़ हो गई कि उस संकरे दायरे के काम के अलावा, जिसके लिए कि वह अभ्यस्त थी, वह बेबस और निकम्मी थी। लोकतंत्री ढंग से काम करने की उसको शिक्षा नहीं मिली थी, और उसको जनता का सहयोग और उसकी सद्भावनाएं नहीं मिल सकती थीं, और साथ ही उसे जनता से डर भी था और नफ़रत भी था। सामाजिक प्रगति की तीव्रगामी, बड़ी योजनाओं का उसको कोई अंदाज़ नहीं था और वह अपनी कल्पना-हीनता और अपने साहबी ढंग से उनमें सिर्फ़ अड़चन ही डाल सकती थी। कुछ लोगों को छोड़कर, ऊंची नौकरियों के अंग्रेज़ों और हिंदुस्तानियों, दोनों पर ही, यह बात लागू थी। उन नये कामों के लिए जो उनके सामने थे, वे हैरत-अंगेज़ ढंग से ना-मौज़ूं थे।

वैसे तो जन-प्रतिनिधियों मे भी बहुत अयोग्यता और बहुत-सी ख़ामियां थीं। लेकिन शक्ति और उत्साह से, जन-साधारण के संपर्क में यह कमी पूरी हो जाती थी। उन लोगों की ख़्वाहिश थी और उनमें यह ताक़त थी कि अपनी निजी ग़लतियों से आगे के लिए सबक़ पढ़ते। उनमें शक्ति थी, छलकती हुई ज़िंदगी थी, तनाव का ध्यान था, काम को क़िसी-न-किसी तरह पूरा करने की ख़्वाहिश थी। ब्रिटिश शासक वर्ग और उनके साथियों की उपेक्षा और अनुदारता से मिलान करते हुए, एक विचित्र असाम्य दिखाई देता था। इस तरह हिंदुस्तान में, जो परंपराओं का देश था, एक व्यंग-चित्र दिखाई दिया। अंग्रेज़ जो एक सक्रिय समाज के नुमाइंदे की हैसियत से यहां आए थे, वे अब निष्क्रिय समाज के अपरिवर्त्तनशील परंपरा के खास खंभे बन गए थे। हिंदुस्तानियों में ऐसे बहुत-से लोग थे जो नई सक्रिय परंपरा की नुमाइंदगी करते थे और जो सिर्फ़ राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी परिवर्त्तन करने के लिए उत्सुक थे। हां उन हिंदुस्तानियों के पीछे बड़ी-बड़ी ताक़तें काम कर रही थीं, जिनका

शायद खुद उनको भी पता नहीं था। अभिनय के इस व्यंग से यह सच जरूर जाहिर होता था कि गुजरे जमाने में हिंदुस्तान में अंग्रेजों ने चाहे जो सृजनात्मक और प्रगतिशील काम किया हो, लेकिन अब बहुत अर्से से वह खत्म हो गया है, और अब वह हर तरह की तरक्क़ी के लिए रुकावट डालने वाले थे। उनकी अफ़सरी ज़िंदगी का रवैया धीमा था और वह हिंदुस्तान के सामने जो अहम मसले थे, उनका हल करने में असमर्थ थे। यहां तक कि उनके कथन, जिनमें कुछ स्पष्टता और दृढ़ता होती थी, अब अस्तित्वहीन अनुपयुक्त और खोखले होते थे।

एक इस प्रकार का कथन प्रचलित है जिसका ब्रिटिश अधिकारियों ने प्रचार किया है कि अपनी ऊंची नौकरियों के ज़रिए ब्रिटिश सरकार हमको स्वशासन की कठिन और जटिल कला सिखाती रही है। अंग्रेज़ों के यहां आने और हमको सीख देने के हज़ारों बरस पहले हम अपना काम और वह भी काफ़ी कामयाबी के साथ करते आए थे। बेशक हम में कुछ अच्छे गुणों की कमी है। जो कि हममें होने चाहिएं, लेकिन कुछ भूले हुए लोग तो यहां तक कहते हैं कि हमारे अंदर यह कमियां ब्रिटिश हुकूमत के ही दौरान में आगई है। हमारी खामियां चाहे जो हों हमको यह बात साफ़ मालूम देती थी, कि यहां की स्थायी नौकरियां हिंदुस्तान को किसी भी तरक्क़ी की दिशा में ले जाने के लिए बिलकुल असमर्थ हैं, ठीक गुणों ने, जो उनमें थे उनको निकम्मा बना दिया था, क्योंकि पुलिस-राज में जिन गुणों की ज़रूरत होती है, वे उन गुणों से, जिनकी प्रगतिशील लोकतंत्री समाज में ज़रूरत होती है, बिलकुल जुदा होते हैं। इससे पहले कि दूसरों को सिखाने की सोचें उनके लिए अपनी शिक्षा को भूल जाना ज़रूरी था, और उनको लेथे[1] नदी में नहाना था ताकि वह अपने विगत काल को बिलकुल भूल जायं।

निरंकुश केंद्रीय सरकारों के नीचे जन-प्रिय सूबों की सरकारों की अजीब स्थिति थी और इस वजह से तरह-तरह के असाम्य देखने को मिले। कांग्रेसी सरकारें नागरिक स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए फ़िक्रमंद थीं, और उन्होंने सूबों के खुफ़िया विभाग की व्यापक कार्रवाइयों को रोका। इस खुफ़िया विभाग का खास काम राजनीतिज्ञों का और उन लोगों का जिनको सरकार-विरोधी ख्यालों का समझा जाता था, पीछा करना था। जहां एक तरफ़ ये कार्रवाइयां रोक दी गईं, वहां शाही (केंद्रीय) खुफ़िया विभाग बराबर और शायद पहले से भी ज्यादा ज़ोरों के साथ काम करता रहा। सिर्फ़ हमारे ही खतों पर सेंसर

---

१ यूनानी गाथाओं में वर्णित नरक की वह नदी, जिसमें नहाने से नहाने वालों को पिछली बातें भूल जाती हैं। अनु०

नहीं होता था बल्कि मंत्रियों तक के पत्र-व्यवहार का भी सेंसर होता था, लेकिन यह सब चुपचाप होता था, और सरकारी तौर पर मंजूर नहीं किया जाता था। पिछले पच्चीस या इससे भी ज्यादा बरसों से मैंने ऐसा एक भी ख़त नहीं लिखा, जिसको मैंने हिंदुस्तान में डाला हो, फिर चाहे उसे हिंदुस्तान भेजना हो या विदेश, कि जिसको लिखते वक़्त मुझे यह ध्यान न रहा हो कि यह देखा जायगा और शायद इसकी नक़ल भी की जायगी। टेलीफ़ोन पर बात करते हुए भी मुझे इस बात का ध्यान रहता है कि संभवतः मेरी बात-चीत बीच में सुनी जावे। जो ख़त मेरे पास आये हैं उनको भी सेंसर से होकर गुज़रना पड़ा है। इसके माने यह नहीं हैं कि हमेशा ही और हरएक ख़त का सेंसर होता है; कभी-कभी सब ख़तों को देखा गया है और कभी-कभी कुछ छंटे हुए ख़तों को ही देखा गया है। इसका लड़ाई से कोई ताल्लुक़ नहीं है; उस वक़्त तो दोहरा सेंसर होता है।

ख़ुशक़िस्मती से हम लोगों ने हमेशा खुले में काम किया और हमारी राजनीतिक कार्रवाइयों में छिपाने की कोई भी चीज़ नहीं रही। फिर भी इस ख़्याल का बराबर बना रहना कि हमको सुना जायगा, हमारा पीछा किया जायगा और हमारे पत्र-व्यवहार का सेंसर किया जायगा, अच्छा नहीं लगता, उससे झुंझलाहट पैदा होती है और एक तरह की रोक रखनी होती है, जिससे कभी-कभी आपसी रिश्तों पर भी बुरा असर पड़ता है। जिस वक़्त कि सेंसर ऊपर से झांक रहा हो, स्वाभाविक ढंग से लिखना आसान नहीं है।

मंत्रियों को बहुत मेंहनत करनी होती थी और कुछ की तो तंदुरुस्ती ने साथ छोड़ दिया। उनका स्वास्थ्य गिर गया और उनकी सारी ताज़गी ग़ायब हो गई और उनका बिलकुल थका हुआ और मुरझाया हुआ शरीर बाकी बच रहा। लेकिन उद्देश्य के प्रति उनकी निष्ठा उनको खींच ले चली और उन्होंने अपने आई. सी. एस. सेक्रेटरियों और उनके सहकारियों से भी खूब काम कराया; उनके दफ़्तरों की बिजलियां काफ़ी रात तक जलती रहतीं। जब नवंबर १९३९ में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़े दिये तो बहुत से लोगों ने चैन का सांस ली। इसके बाद सरकारी दफ़्तर फिर तीसरे पहर ठीक चार बजे बंद होने लगे और फिर वे उन मठ के कमरों की तरह हो गए जहां ख़ामोशी रहती थी, और जहां जन-साधारण का स्वागत नहीं था। ज़िंदगी का पुराना रवैया और उसकी धीमी रफ़्तार फिर आगई और तीसरे पहर और शाम का वक़्त, पोलो, टेनिस, ब्रिज, आदि क्लब के खेलों के लिए खाली रहता। दुःस्वप्न तिरोहित हो गया था और दैनिक व्यापार और खेल-कूद फिर पुराने ढर्रे से चलाये जा सकते थे। यह सच है कि इस वक़्त सिर्फ़ यूरोप में लड़ाई जारी थी और हिटलर के सैनिकों ने पोलैंड को कुचल दिया था। लेकिन यह

सब तो एक दूर देश में था। फ़ौजी सिपाही अपना फ़र्ज़ अदा कर रहे थे; लड़ रहे थे और मर रहे थे। यहां भी फ़र्ज़ अदा करना था और वह फ़र्ज़ यह था कि गोरे आदमियों के बोझ को शान से और क़ाबलियत से ढोया जाय।

कांग्रेसी सरकारों ने सूबों में थोड़े से अर्से तक काम किया लेकिन उससे ही हमारी यह धारणा और ज़्यादा पक्की हो गई कि हिंदुस्तान म तरक्क़ी के लिए सबसे बड़ा रोड़ा वह राजनीतिक और आर्थिक ढांचा है जो कि अंग्रेजों ने यहां लाद दिया है। यह भी बिलकुल सच था कि बहुत-सी पुरानी आदतें और सामाजिक रीति-रिवाज प्रगति के लिए बाधक थे और उनको हटाना था। फिर भी हिंदुस्तान की अर्थ-व्यवस्था के विकसित होने की जन्म-जात प्रवृत्ति को, इन आदतों और रीति-रिवाजों ने इतना नहीं रोका जितना कि अंग्रेजों के राजनीतिक और आर्थिक घातक फंदे ने। अगर यह फौलादी ढांचा न होता तो विकास लाज़िमी तौर पर होता, और साथ ही बहुत से सामाजिक परिवर्तन होते, और बीते हुए रिवाज वग़ैरह ख़त्म हो जाते। इसीलिए इस ढांचे को हटाने पर ध्यान देना था, और दूसरे मामलों में जो शक्ति ख़र्च की जाती थी उससे फ़ायदा न के बराबर था और वह तो रेगिस्तान में हल चलाने की तरह था। गुज़रे ज़माने की अर्धसामंती जमींदारी प्रणाली पर ही, उस ढांचे की बुनियाद थी और साथ ही वह ढांचा उस प्रणाली की हिफ़ाज़त करता था। ब्रिटिश राजनीतिक और आर्थिक ढांचे से हिंदुस्तान में किसी भी तरह का लोकतंत्र मेल नहीं खाता था और उन दोनों में संघर्ष लाज़िमी था। इसलिए १९३७-३९ का आंशिक लोकतंत्र हमेशा ही संघर्ष के क़रीब बना रहता। इसलिए ब्रिटिश सरकारी मत यह था कि हिंदुस्तान में लोकतंत्र नाकामयाब रहा, क्योंकि वे लोग तो उसको सिर्फ़ इस पैमाने पर ही देख सकते थे कि उनका उस ढांचे पर, उस मूल्यांकन पर और उन स्थापित स्वार्थों पर, जो उन्होंने बनाये थे, क्या असर हुआ। चूंकि जिस लोकतंत्र को वे पसंद कर सकते थे वह दब्बू ढंग का था और जो लोकतंत्र सामने आया उसमें आमूल परिवर्तन करने का इरादा था, इसलिए ब्रिटिश ताक़त के लिए जो रास्ता बचा, वह यही था कि वे फिर से हुकूमत-परस्ती के ढंग पर आ जायं, और लोकतंत्र के सारे बहानों को ख़त्म कर दें। इस दृष्टिकोण की वृद्धि और यूरोप में फ़ासिज़्म के जन्म और तरक्क़ी में एक विशेष साम्य है। यहां तक कि वह क़ानूनी राज, जिस पर अंग्रेज़ लोगों को हिंदुस्तान में अभिमान था, अब ख़त्म हुआ, और उसकी जगह एक ऐसा घेरा-सा डाल दिया गया, जिसमें आर्डिनेंस और विशेषाधिकारों का राज था।

५ : अल्प-संख्यकों का सवाल : मुस्लिम लीग : मिस्टर एम० ए० जिन्ना

पिछले सात बरसों में मुस्लिम लीग की बढ़ती एक असाधारण घटना है। १९०६ में जब यह शुरू हुई, तो अंग्रेज़ों ने इसको इस इरादे से बढ़ावा दिया कि मुसलमानों की नई पीढ़ी नेशनल कांग्रेस से अलहदा रहे। उसके बाद सामंतवादी अंशों से संचालित, यह एक छोटी-सी उच्च वर्गीय संस्था रही। आम मुस्लिम जनता में इसका कोई असर नहीं था, और न वे इसको जानते थे। खुद अपने विधान से वह एक छोटे से समुदाय तक सीमित थी, और उसके नेतागण स्थायी थे, जो अपने स्थायित्व को बनाये रखते थे। इतने पर भी घटनाओं ने और मुसलमानों में मध्यम वर्ग की बढ़ती ने उसको कांग्रेस की तरफ़ धकेला। पहले महायुद्ध और तुर्की में ख़िलाफ़त और मुस्लिम तीर्थ स्थानों के मसले की वजह से हिंदुस्तान के मुसलमानों पर एक ज़बर्दस्त असर हुआ और वे अत्यंत ब्रिटिश-विरोधी हो गए। मुस्लिम लीग बनी हुई ही इस ढंग से थी कि वह इस जगी हुई और उत्तेजित जनता का कोई पथ-निर्देश या नेतृत्व नही कर सकी। असलियत में मुस्लिम लीग में एक घबराहट पैदा हुई और क़रीब-क़रीब वह ख़त्म हो गई। कांग्रेस के घनिष्ठ संपर्क में एक नई मुसलमान संस्था, ख़िलाफ़त कमेटी, पैदा हुई। बहुत बड़ी तादाद में मुसलमान, कांग्रेस में शरीक हो गए और उसके ज़रिए काम करने लगे। १९२०-२३ के पहले असहयोग आंदोलन के बाद खुद ख़िलाफ़त कमेटी भी रफ़्ता-रफ़्ता मिटने लगी क्योंकि अब उसका आधार--तुर्की खिलाफ़त का मामला--ही ख़त्म हो गया था। राजनीतिक कार्रवाई से मुस्लिम जनता दूर हटने लगी। यह बात हिंदू जनता में भी हुई लेकिन उसका परिमाण कम था। फिर भी मुसलमानों की, ख़ास तौर से बीच के वर्ग के मुसलमानों की बहुत बड़ी तादाद कांग्रेस के ज़रिए काम करती रही।

इस दौरान में कई छोटी-छोटी मुस्लिम संस्थाएं काम करती रहीं और अक्सर उनमें आपस में झगड़े हुए। उन्हें न तो कोई सार्वजनिक सहयोग हासिल था और, सिवाय उस अहमियत के जो ब्रिटिश सरकार ने उन्हें दे दी थी, न उनकी कोई राजनीतिक अहमियत थी। उनका ख़ास काम था विशेष रियायतों और संरक्षणों की मांग करना। वे चाहते थे कि असेंबलियों और नौकरियों में मुसलमानों का ख़ास ख़्याल रखा जाय। यह ठीक है कि इस मामले में वे एक निश्चित मुस्लिम नज़रिए की नुमाइंदगी करते थे क्योंकि शिक्षा नौकरियों और उद्योग में, हिंदुओं के ऊँचे दर्जों और ज़्यादा तादाद की वजह से भी मुसलमानों में घबराहट और नाराज़ी थी। मिस्टर एम० ए० जिन्ना ने भारतीय राजनीति

से विदा ली, और यही नहीं बल्कि हिंदुस्तान से भी विदा ली, और वे इंग्लैंड में जाकर बस गये।

सन् १९३० के दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग बहुत काफ़ी था, अगर्चे वह १९२०-२३ के मुक़ाबले में कम था। इस आंदोलन के सिलसिले में जिन लोगों को जेल भेजा गया, उनम कम-से-कम दस हज़ार मुसलमान थे। उत्तरी-पच्छिमी सरहदी सूबे ने, जो क़रीब-क़रीब पूरे तौर से मुस्लिम सूबा है, (९५% मुस्लिम) इस आंदोलन में, एक ख़ास और अहम हिस्सा लिया। यह ज्यादातर, ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार खां के काम और शख़्सियत की वजह से हुआ, जो इस सूबे के पठानों के माने हुए और प्रिय नेता थे। मौजूदा वक़्त में हिंदुस्तान में जितनी महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, उनमें सब से ज्यादा अचंभा अब्दुल ग़फ़्फ़ार खां के उस कमाल पर है जिससे उन्होंने अपने झगड़ालू और भड़कीले लोगों को राजनीतिक कार्रवाई के शांतिपूर्ण ढंग सिखा दिये, जिनमें बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ती थीं। तकलीफ़ सचमुच ही बेहद थी और उसकी तीखी याद बनी हुई है; फिर भी उनका अनुशासन और आत्म-संयम ऐसा था कि पठानों ने सरकारी ताक़त के ख़िलाफ़ या अपने विरोधियों के ख़िलाफ़ एक भी हिंसा का काम नहीं किया। जिस वक़्त इस बात को ध्यान में रखा जाय कि पठान, जो अपनी बंदूक को अपने भाई से ज्यादा प्यार करता है, जो बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है और जो थोड़ी-सी उत्तेजना पर भी मार डालने के लिए मशहूर है, तब यह आत्म-अनुशासन एक अचरज की चीज़ मालूम होता है।

अब्दुल गफ़्फ़ार खां के नेतृत्व में सरहदी सूबा, राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मज़बूती से जमा रहा और इसी तरह राजनीतिक दृष्टि से जगे हुए मध्यम वर्ग के मुसलमानों ने भी दूसरी जगहों में साथ दिया। किसानों और मज़दूरों में कांग्रेस का असर काफी था। संयुक्त प्रांत जैसे सूबों में यह असर ख़ास तौर से था क्योंकि वहां पर किसान और मज़दूरों के सिलसिले में बहुत बढ़ा-चढ़ा कार्यक्रम था। फिर भी यह बात सच थी कि कुल मिलाकर आम मुस्लिम जनता, फिर से, पुराने, मुक़ामी और सामंतवादी नेताओं की तरफ़ लौट रही थी। ये नेता उस जनता के सामने हिंदू और दूसरे हितों के ख़िलाफ़ मुस्लिम हितों के संरक्षकों के रूप में आए।

सांप्रदायिक समस्या में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का इस तरह मेल बिठाना था कि बहु-संख्यकों की कार्रवाई के खिलाफ़ उन्हें काफ़ी संरक्षण हो। यहां यह बात ध्यान में रखने की है, कि हिंदुस्तान के अल्प-संख्यक, यूरोप की तरह जातीय या राष्ट्रीय अल्प-संख्यक नहीं हैं; वे धार्मिक रूप से अल्प-संख्यक हैं। जातीय रूप से हिंदुस्तान में एक अजीब मिश्रण है, लेकिन यहां

जातीय सवाल न तो उठे हैं और न उठ ही सकते हैं। इन जातीय भिन्नताओं के ऊपर धर्म है जो एक दूसरे में घुला-मिला हुआ है, और उनको अलग-अलग पहचानना अक्सर मुश्किल होता है। ज़ाहिर है धार्मिक दीवारें स्थायी नहीं होतीं क्योंकि एक से दूसरे में धर्म-परिवर्तन हो सकता है और धर्म बदलने से उस आदमी की जातीय पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक और भाषा संबंधी विरासत मिट नहीं सकती। लफ़्ज के असली मानों में, धर्म ने, हिंदुस्तानी राजनीतिक झगड़ों में क़रीब-क़रीब कोई हिस्सा नहीं लिया, हां, वैसे इस लफ़्ज का अक्सर इस्तैमाल किया जाता है, और उससे नाजायज फायदा उठाया जाता है। अपने सहज रूप में धार्मिक मतभेदों से कोई अड़चन नहीं होती क्योंकि उनमें आपस में बहुत भारी सहनशीलता है। राजनीतिक मामलों में धर्म की जगह सांप्रदायिकता ने ले ली है। यह वह संकरी मनोवृत्ति है जिसने अपनी बुनियाद किसी धार्मिक गिरोह पर बना ली है, लेकिन जिसका मक़सद दरअस्ल राजनीतिक ताक़त अपने हाथ में कर लेना और अपने समुदाय को बढ़ावा देना है।

कांग्रेस व और दूसरी संस्थाओं ने मुख्तलिफ़ गिरोहों की रज़ामंदी से इस सांप्रदायिक समस्या को हल करने की बार-बार कोशिश की है। कुछ थोड़ी-सी कामयाबी मिली, लेकिन एक बुनियादी दुश्वारी थी, यानी ब्रिटिश सरकार की मौजूदगी और उसकी नीति। यह कुदरती बात है, ब्रिटिश लोग किसी ऐसे असली समझौते के पक्ष में नहीं थे जिससे वह राजनीतिक आंदोलन, जो अब उनके ख़िलाफ़ व्यापक है, मजबूत हो। एक ऐसी तीन-तरफ़ा स्थिति बन गई थी जिसमें ख़ास रियायतें देकर, सरकार एक-दूसरे को लड़ा सकती थी। अगर और पार्टियां काफ़ी अक़्लमंद होतीं तो उन्होंने इस रुकावट को भी पार कर लिया होता, लेकिन उनमें अक़्लमंदी और दूरदर्शिता की कमी थी। जब-जब वे किसी समझौते पर पहुंचने वाली ही होतीं, तभी सरकार कोई ऐसा क़दम उठाती कि संतुलन बिगड़ जाता।

जिस तरह राष्ट्र-संघ (लीग अव् नेशंस) ने निश्चित किया था, उस तरह अल्पसंख्यकों की हिफ़ाजत के लिए साधारण प्रबंध करने के सिलसिले में कोई झगड़ा नहीं था। सिर्फ़ उतनी ही नहीं बल्कि उससे कुछ ज्यादा बातें मंजूर थीं। धर्म, संस्कृति, भाषा और व्यक्ति और समुदाय के बुनियादी अधिकारों की रक्षा की जाती, और एक ऐसे विधान में जो बराबरी से सब पर लागू होता, बुनियादी वैधानिक उल्लेख के ज़रिए विश्वास दिलाया जाता। इसके अलावा हिंदुस्तान का सारा इतिहास, अल्पसंख्यकों या विचित्र जातीय समुदायों के प्रति सहनशीलता का ही नहीं बल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप में जैसे तीखे धार्मिक झगड़े रहे, और विद्यार्थियों को जैसी सजाएं मिलीं

उस ढंग की चीज़ हिंदुस्तान के इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसलिए धार्मिक और सांस्कृतिक उदारता और सहनशीलता के विचारों को सीखने के लिए हमको कहीं बाहर नहीं जाना था; ये बातें तो हिंदुस्तान की ज़िंदगी में शुरू से थीं। ज़ाती और राजनीतिक अधिकारों के सिलसिले में, हम पर फ्रांसीसी और अमेरिकन क्रांतियों का, और साथ ही ब्रिटिश पार्लमेंट के वैधानिक इतिहास का असर पड़ा था। समाजवादी विचार-धारा और सोवियत् क्रांति का असर तो बाद में हुआ, और उसने हमारी विचार-धारा में आर्थिक दृष्टिकोण को बहुत महत्त्व दे दिया।

व्यक्ति और समुदाय के ऐसे सारे अधिकारों की पूरी हिफ़ाज़त के अलावा यह बात सबको मंजूर थी कि सरकारी तौर पर और व्यक्तिगत साधनों से ऐसी हर एक सामाजिक और पारंपरिक रुकावटों को हटा दिया जाय, जिनसे आपस में दुर्भावनाएं होती हैं, और यह बात मंजूर थी कि शिक्षा के और आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए वर्गों को इस बात में मदद दी जाय कि वे जल्दी-से-जल्दी अपनी कमियों से छुटकारा पा लें। यह बात खास तौर से दलित जातियों पर लागू थी। साथ ही यह बात भी साफ़ थी कि नागरिकता की वे सारी सुविधाएं जो पुरुषों को प्राप्त होंगी, वही स्त्रियों को भी प्राप्त होंगी।

तब क्या बात बाकी थी? यह डर कि बहुसंख्यक, अल्पसंख्यकों को राजनीतिक ढंग से दबा देंगे। साधारणतया इस तादाद के माने थे किसान और मज़दूर, जिसमें हर धर्म के मानने वाले वे आम लोग थे जिनको बहुत अर्से से सिर्फ़ विदेशी राज्य ने ही नहीं बल्कि ख़ुद अपने ऊंचे वर्ग के लोगों ने चूसा था। धर्म और संस्कृति की हिफ़ाज़त का आश्वासन देने के बाद, जो बड़े मसले सामने आते, वे आर्थिक होते, और उनका किसी आदमी के धर्म से कोई ताल्लुक़ न होता; और अगर धर्म ख़ुद किसी स्थापित स्वार्थ की नुमाइंदगी न करे तो धार्मिक झगड़ों का कोई सवाल ही नहीं था, हां वर्ग-युद्ध शायद होते। फिर भी लोग धार्मिक-विच्छेद की दिशाओं में सोचने के ऐसे आदी हो गए थे और सरकारी नीति और सांप्रदायिक व धार्मिक संस्थाओं से इसके लिए बराबर बढ़ावा मिलता रहता था, कि यह डर, कि बहुसंख्यक धार्मिक जाति यानी हिंदू जाति दूसरों को दबा लेगी, बहुत से मुसलमानों के दिमाग़ में बना रहा। यह बात समझ में नहीं आती थी कि मुसलमानों जैसी बड़ी अल्पसंख्यक जाति के हितों को कोई बहुसंख्यक जाति भी किस तरह चोट पहुंचा सकती थी, क्योंकि मुसलमान ख़ास तौर से देश के कुछ हिस्सों में केंद्रित थे, और वे हिस्से स्वाधीन होते। लेकिन भय में तर्क नहीं होता।

मुसलमानों (और बाद में और दूसरे छोटे समुदायों) के लिए अलग निर्वाचन-

क्षेत्र शुरू किय गए और उनको, उनकी आबादी के अनुपात से, अधिक जगहें दी गईं। फिर भी किसी भी आम लोगों की नुमाइंदा असेंबली में ज्यादा जगह देकर अल्प-संख्यकों को बहु-संख्यक नहीं बनाया जा सकता। अस्ल में पृथक् निर्वाचन से संरक्षित समुदाय के लिए स्थिति कुछ खराब हो गई क्योंकि तब बहु-संख्यकों ने उनम दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। उस वक़्त आपसी सोच-विचार का बहुत कम मौक़ा था। संयुक्त निर्वाचन में आपस में मेल बिठाने की लाज़िमी कोशिश होनी चाहिए, क्योंकि तब तो हर एक उम्मीदवार को हर समुदाय का साथ देना होता है। कांग्रेस इस मामले में आगे बढ़ी और उसने घोषणा का, कि किसी ऐसे मामले पर जिसका अल्प-संख्यकों के विशेष हितों से ताल्लुक़ हो, अगर बहु-संख्यकों और धार्मिक अल्प-संख्यकों में मतभेद हुआ तो उसका फ़ैसला बहु-संख्यक वोटों से नहीं होगा बल्कि वह मामला एक निष्पक्ष न्यायालय को या ज़रूरत पड़ने पर किसी अंतर्राष्ट्रीय पंच को सौंपा जाना चाहिए, और उसका फ़ैसला आखिरी होना चाहिए।

समझ में नहीं आता कि किसी भी लोकतंत्री ढांचे में किसी धार्मिक अल्प-संख्यक समुदाय को इससे ज्यादा क्या संरक्षण दिया जा सकता है। साथ ही यह बात याद रखनी चाहिए कि कुछ सूबों में मुसलमान खुद बहु-संख्यक थे और चूंकि वह प्रांत स्वाधीन होते, इसलिए कुछ अखिल भारतीय बातों पर ध्यान रखते हुए, उन सूबों में मुसलमान बहु-संख्यकों को अपनी पसंद के मुताबिक काम करने की पूरी आज़ादी होती। केंद्रीय सरकार में मुसलमानों का लाज़िमी तौर से एक अहम हिस्सा होता। मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों में सांप्रदायिक धार्मिक समस्या उल्टी थी, क्योंकि यहां पर दूसरे अल्प-संख्यकों (यानी हिंदू और सिख लोगों) की, मुसलमान बहु-संख्यकों के ख़िलाफ़ हिफ़ाज़त की मांग थी। इस तरह पंजाब में हिंदू, मुस्लिम और सिखों का त्रिभुज था। अगर मुसलमानों का निर्वाचन-क्षेत्र अलग था तो दूसरे लोग भी अपने लिए ख़ास हिफ़ाज़त की मांग करते। एक बार पृथक् निर्वाचन शुरू कर देने के बाद बटवारे और हिस्से का और उससे पैदा हुई कठनाइयों का कोई ख़ात्मा ही नहीं था। ज़ाहिर है किसी समदाय को ज्यादा नुमाइंदगी देने के मानी यह थे, कि दूसरे समुदाय को घाटा रहे, और उसे अपनी आबादी के अनुपात से कम जगहें मिलें। इसका नतीजा, और ख़ास तौर से बंगाल मे इसका नतीजा, बड़ा अजीब हुआ। वहां यूरोपियनों को बेहद नुमाइंदगी देने की वजह से आम निर्वाचन के लिए दी हुई जगहें बुरी तरह कम हो गईं। इस तरह बंगाल के उस दिमाग़दार हिस्से ने, जिसने हिंदुस्तानी राजनीति और आज़ादी की लड़ाई में एक ख़ास हिस्सा लिया था, अचानक ही यह महसूस किया कि सूबे की धारा-सभा में उसकी स्थिति बहुत कमज़ोर है, और इस स्थिति को क़ानूनी तौर पर निश्चित और सीमित कर

दिया गया है।

कांग्रेस ने बहुत-सी ग़लतियां कीं, लेकिन यह ग़लतियां अपेक्षाकृत छोटे सवालों में या कोशिश के ढंग में थीं। यह बात ज़ाहिर थी कि सिर्फ़ राजनीतिक कारणों से भी कांग्रेस सांप्रदायिक हल निकालने के लिए उत्सुक और चिंतित थी, और इस तरह तरक्क़ी के रास्ते की अड़चनों को दूर करना चाहती थी। विशुद्ध सांप्रदायिक संस्थाओं में, ऐसी कोई उत्सुकता नहीं थी क्योंकि उनके अस्तित्व का मुख्य कारण यह था कि वे अपने-अपने समुदायों की ख़ास मांगों पर ज़ोर दें, और इसका नतीजा यह हुआ कि सारे ढांचे को यथावत् बनाये रखने में उनका एक स्थापित स्वार्थ था। मेंबरों की गिनती के लिहाज़ से कांग्रस में ज़्यादातर हिंदू थे, लेकिन साथ ही उसमें मुसलमान भी बहुत बड़ी तादाद में थे, और दूसरे धार्मिक समुदाय, मसलन सिख और ईसाई वग़ैरह भी थे। इस तरह उसे हर चीज़ पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचना होता था। उसके लिए जो चीज़ सबसे ज़्यादा अहम थी वह थी राष्ट्रीय आज़ादी, और एक स्वाधीन लोकतंत्री राज-सत्ता की स्थापना : वह इस बात को महसूस करती थी कि हिंदुस्तान जैसे विस्तृत और बहु-रंगी देश में ऐसा साधारण लोकतंत्र, जिसमें सारी ताक़त बहु-संख्यक दल पर निर्भर हो, और जिसको अल्प-संख्यकों को कुचलने या उनकी अवहेलना करने का अधिकार हो, न तो संतोष-प्रद ही होगा, और न वांछनीय; वैसे उसे स्थापित करना चाहे संभव ही क्यों न हो। हम लोग एका चाहते थे और उसको मानकर चलते थे, लेकिन हमें इसकी कोई वजह दिखाई नहीं देती थी कि हिंदुस्तान के सांस्कृतिक जीवन की अनेकता और संपन्नता को सिर्फ़ एक सांचे में कस दिया जाय। इसीलिए बहुत हद तक प्रादेशिक स्वाधीनता मान ली गई थी और व्यक्तिगत और सामुदायिक आज़ादी और सांस्कृतिक तरक्क़ी के लिए संरक्षण भी मंज़ूर कर लिये गए थे।

लेकिन दो बुनियादी सवालों पर कांग्रेस दृढ़ थी : राष्ट्रीय-ऐक्य और लोकतंत्र। वे बुनियादें थीं जिन पर कि वह क़ायम हुई थी और ख़ुद आधी सदी के दौर में इन बातों पर ज़ोर दिया था। जहां तक मुझे पता है, कांग्रेस दुनिया भर की ज़्यादा-से-ज़्यादा लोकतंत्रीय संस्थाओं में से एक है। यह बात वैधानिक रूप में भी है और व्यावहारिक रूप में भी। अपनी उन दसियों हज़ार स्थानीय संस्थाओं के ज़रिए जो देश भर में फैली हुई हैं उसने जनता को लोकतंत्रीय ढंग की शिक्षा दी है, और इसमें उसे बहुत बड़ी कामयाबी मिली है। इस बात से कि गांधीजी जैसा जन-प्रिय और प्रभावशाली व्यक्तित्व उससे संबंधित रहा, कांग्रेस के लोकतंत्र में कोई कमी नहीं हुई। संकट और संघर्ष के मौक़ों पर पथ-निर्देश के लिए नेता की ओर देखने की अनिवार्य प्रवृत्ति थी और ऐसा हर एक देश में होता है। साथ ही ऐसे मौक़े यहां बराबर आए। कांग्रेस को हुकूमत-

परस्त संस्था कहने से ज्यादा ग़लत बात और कोई नहीं हो सकती और इस सिलसिले में एक मज़ेदार और ध्यान देने लायक़ बात यह है कि ऐसा दोष आम तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के उन ऊंचे प्रतिनिधियों द्वारा लगाया जाता है जो हिंदुस्तान में निरंकुशता और हुकूमत-परस्ती के प्रतीक हैं।

गुज़रे ज़माने में ब्रिटिश सरकार भी, (कम-से-कम वैधानिक रूप से), हिंदुस्तान के एके और लोकतंत्र की हामी रही है। उसने इस बात में घमंड महसूस किया है कि उसके राज्य से, हिंदुस्तान में राजनीतिक एका हुआ, हालांकि वह एक गुलामी का एका था। इसके अलावा उस सरकार ने हमें बताया कि वह हमको लोकतंत्र के ढंग और ढर्रे सिखा रही थी। लेकिन विचित्र-सी बात है कि उसकी नीति साफ़तौर पर हमें ऐसी दिशा में ले गई है, जिसमें न तो ऐक्य है और न लोकतंत्र। अगस्त १९४० में कांग्रेस-कार्यकारिणी यह घोषणा करने के लिए बाध्य हुई कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति "जनता में दुर्भावनाएं पैदा करती है, और उत्तेजना बढ़ाती है।" ब्रिटिश सरकार के जिम्मेदार लोगों ने हम लोगों को खुले तौर पर यह बताया कि शायद किसी नई व्यवस्था के पक्ष में हिंदुस्तान के एके का बलिदान करना पड़े, और दूसरे यह बात कि लोकतंत्र हिंदुस्तान के लिए उपयुक्त नहीं है। आज़ादी की और लोकतंत्री सरकार कायम करने की हिंदुस्तान की मांग का, यह जवाब उन्होंने छोड़ा। इस उत्तर से यह बात भी साथ-साथ जान पड़ती है कि अंग्रेज़ ख़ुद उन दो बड़े मक़सदों में, जो उन्होंने अपने सामने रखे थे, नाकामयाब हुए हैं। इस बात के समझने में उन्हें डेढ़ सदी लग गई।

सांप्रदायिक समस्या का ऐसा हल पाने में जो सब पार्टियों को मंजूर होता, हम लोग नाकामयाब रहे, और चूंकि उस नाकामयाबी के नतीजे हमको भोगने हैं, इसलिए निश्चय ही, हम उसके दोष से बच नहीं सकते। लेकिन किसी अहम प्रस्ताव या रद्दो-बदल को कोई भी आदमी किस तरह से सबसे मनवा सकता है? हमेशा ही ऐसे सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी टुकड़े होते हैं, जो हर तरह की तब्दीली के ख़िलाफ़ होते हैं, और फिर वे लोग हैं जो राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रद्दो-बदल चाहते हैं। जिस वक़्त शासक-वर्ग की यह नीति हो कि ऐसे समुदायों को पैदा किया जाय, और उनको बढ़ावा दिया जाय, फिर चाहे उनका परिणाम आबादी का अणु-मात्र ही क्यों न हो, तब तब्दीली सिर्फ़ एक सफल क्रांति के ज़रिये ही हो सकती है। यह बात ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान में बहुत से सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी समुदाय हैं, जिनमें से कुछ तो हिंदुस्तान की ही उपज हैं, और कुछ अंग्रेज़ों की देन हैं। तादाद के लिहाज़ से चाहे वह छोटे ही क्यों न हों लेकिन उनके पास ब्रिटिश ताक़त की मदद है।

मुसलमानों में मुस्लिम लीग के अलावा और बहुत सी संस्थाएं उठ खड़ी हुईं। उनमें से एक पुरानी संस्था जमीयत-उल-उलेमा थी। जिसमें सारे हिंदुस्तान के मौलवी और पुराने ढंग के विद्वान् थे। उसका आम नज़रिया परंपरावादी और अनुदार था और ख़ास तौर से मज़हबी था, फिर भी राजनीतिक दृष्टिकोण से उसकी विचार-धारा उन्नत थी, और वह साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ थी। राजनीतिक स्तर पर उसने अक्सर कांग्रेस के साथ हाथ मिलाकर काम किया और उसके बहुत से मेंबर कांग्रेस के मेंबर थे और वे कांग्रेस-संगठन के ज़रिए काम करते थे। अहरार संस्था की स्थापना बाद में हुई और पंजाब में वह सबसे ज्यादा मज़बूत थी। समें ख़ास तौर से निचले मध्यम वर्ग के मुसलमान थे, और ख़ास हिस्सों में इसका आम जनता में भी काफ़ी असर था। हालांकि मोमिन लोगों की (जिसमें ख़ास तौर से जुलाहे थे) गिनती बहुत ज्यादा थी फिर भी वे लोग मुसलमानों में सबसे ज्यादा ग़रीब और पिछड़े हुए थे, कमज़ोर और असंगठित थे। उनकी कांग्रेस के साथ दोस्ती थी, और वे मुस्लिम लीग के ख़िलाफ़ थे। कमज़ोर होने की वजह से वे राजनीतिक कार्रवाई से बचते थे। बंगाल में कृषक सभा थी। जमीयत-उल-उलेमा के लोग और अहरारी, दोनों ही, अक्सर कांग्रेस के साधारण कार्यक्रम में और ब्रिटिश सरकार के साथ आक्रामक लड़ाइयों में साथ देते थे और तकलीफों का सामना करते थे। वह ख़ास मुसलमानी संस्था, जिसकी ब्रिटिश अधिकारियों के साथ लफ़्ज़ी लड़ाइयों के अलावा और कैसी भी लड़ाई नहीं हुई, मुस्लिम लीग है। इसमें जितने भी हेर-फेर और चढ़ाव-उतार हुए हैं, यहां तक कि उस वक़्त भी जब उसमें बहुत बड़ी तादाद में लोग शामिल हुए हैं, उसका उच्चवर्गीय सामंतवादी नेतृत्व बराबर बना रहा है।

इसके अलावा शिया मुसलमान थे जो अलग संगठित थे, पर सुसंगठित नहीं थे और उनका ख़ास मकसद राजनीतिक मांगें पेश करना था। अरब में इस्लाम के शुरू के दिनों में 'ख़िलाफ़त' के उत्तराधिकारी होने के सिलसिले में एक तीखी लड़ाई हुई, और मुसलमानों में एक दरार पड़ गई। जिसमें शिया और सुन्नी नाम के दो समुदाय या संप्रदाय बन गये। वह झगड़ा चिरजीवी हो गया और हालांकि उनकी उस दरार की अब काई राजनीतिक अहमियत नहीं रही है फिर भी दोनों समुदाय अब भी अलहदा हैं। हिंदुस्तान में, और ईरान के सिवाय और दूसरे मुसलमान मुल्कों में, सुन्नियों की तादाद ज्यादा है। ईरान में शिया बहु-संख्यक हैं। इन धार्मिक समुदायों में कभी-कभी धार्मिक झगड़े होते रहे हैं। हिंदुस्तान में शिया-संगठन, जैसा कुछ भी है, मुस्लिमलीग से अलहदा रहा है और उसका उससे मतभेद है। वह सबके लिए संयुक्त-निर्वाचन के पक्ष में है। वैसे बहुत से मशहूर शिया लोग लीग में भी हैं।

इन सब मुस्लिम संस्थाओं ने, और इसके अलावा कुछ दूसरी मुस्लिम संस्थाओं ने (और इनमें मुस्लिम लीग शामिल नहीं है) आज़ाद मुस्लिम कांफ्रेंस का काम बढ़ाने के लिए आपस में हाथ मिला लिये। यह कांफ्रेंस मुस्लिम लीग से बिलकुल अलग ढंग पर मुसलमानों के एक संयुक्त मोर्चे की तरह थी। इस कांफ्रेंस का पहला सफल जलसा दिल्ली में १६४० में हुआ, जिसमें सब जगह के और उक्त सब मुस्लिम संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

हिंदुओं की ख़ास सांप्रदायिक संस्था हिंदू महासभा है जो मुस्लिम लीग के बरअक्स है, और मुक़ाबले में कम महत्त्व की है। लीग की तरह वह भी आक्रामक रूप से सांप्रदायिक है, लेकिन वह अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता को कुछ अस्पष्ट राष्ट्रीय शब्दावली से छिपाने की कोशिश करती है। वैसे उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं है और वह फिर से बीते हुए युग को वापिस लाना चाहती है। उसे बदक़िस्मती से कुछ ऐसे नेता मिले हैं, जो मुस्लिम लीग के नेताओं की तरह बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार और उत्तेजक बहसें करते हैं। यह लफ़्ज़ी लड़ाई, जो दोनों तरफ़ से चलती रहती है, बराबर झुंझलाहट पैदा करती है। उनके लिए यह लड़ाई काम की जगह ले लेती है।

गुज़रे ज़माने में, मुस्लिम लीग का सांप्रदायिक रुख़ अक्सर दिक़्क़त डालने वाला और बेजा था, लेकिन हिंदू महासभा का रुख़ भी कुछ कम बेजा नहीं था। पंजाब और सिंध के अल्प-संख्यक हिंदू और, पंजाब का महत्त्वपूर्ण सिख समुदाय समझौते के रास्ते में अक्सर रोड़े अटकाता रहा। ब्रिटिश नीति बराबर यह थी कि इन फ़र्क़ों पर ज़ोर दिया जाय और उनको बढ़ावा दिया जाय, और उसने कांग्रेस के ख़िलाफ़ इन सांप्रदायिक संस्थाओं को ज्यादा अहमियत दी।

किसी समुदाय या पार्टी की अहमियत की, या कम-से-कम जनता पर उसके असर की एक जांच चुनाव है। १६३७ में हिंदुस्तान के आम चुनाव में हिंदू महासभा बिलकुल नाकामयाब रही। नक़शे में उसकी कोई भी जगह नहीं थी। मुस्लिम लीग ने, इसके मुकाबले में ज़्यादा कामयाबी पाई लेकिन कुल मिलाकर यह भी कोई बड़ी कामयाबी न थी, ख़ास तौर से उन सूबों में जहां मुस्लिम आबादी की प्रधानता थी। पंजाब और सिंध में तो वह बिलकुल नाकामयाब रही, बंगाल में उसे केवल आंशिक सफलता ही मिली। सरहदी सूबों में बाद में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाया। कुल मिलाकर मुस्लिम अल्प-संख्यक सूबों में लीग को ज्यादा कामयाबी मिली, लेकिन साथ ही दूसरे स्वतंत्र मुस्लिम समुदाय थे, और ऐसे भी मुसलमान थे जा कांग्रेसी की हैसियत से चुने गये थे।

तब मुस्लिम लीग की तरफ़ से प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों और ख़ुद

कांग्रेस-संस्था के ख़िलाफ़ एक खास लड़ाई शुरू हुई। रोज़-रोज़ और बार-बार यह दोहराया गया कि ये कांग्रेसी सरकारें मसलमानों पर 'जुल्म' कर रही थीं। इन सरकारों में मुसलमान मंत्री भी थे लेकिन वे मुस्लिम लीग के मेंबर नहीं थे। ये 'जुल्म' क्या थे, यह आम तौर पर नहीं बताया गया। छोटी-छोटी मुक़ामी घटनाओं को, जिनका सरकार से कोई ताल्लुक़ नहीं था, तोड़ा-मरोड़ा गया और उनको बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया। कुछ महकमों की कुछ छोटी-छोटी ग़लतियां, जिनको फ़ौरन ही ठीक कर दिया गया, 'जुल्म' बन गईं। कभी-कभी बिलकुल झूठी और बबुनियाद शिकायतें की गईं। यहां तक कि एक रिपोर्ट भी निकाली गई और उसमें बड़ी-बड़ी अजीब बातें थीं लेकिन जिनका सचाई से काई ताल्लुक़ नहीं था। जिन लोगों ने शिकायतें की थीं, कांग्रेसी सरकारों ने उन लोगों का न्यौता दिया कि वे जांच के लिए सबूत दें या खुद ही सरकारी मदद लेकर छान-बीन कर। इस सहयोग का किसी ने भी फ़ायदा नहीं उठाया। फिर भी लीग की लड़ाई बिना किसी रोक-टोक के चलती रही। सन् १६४० के शुरू में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के इस्तीफ़ा देने के कुछ ही बाद तत्कालीन कांग्रेस-सभापति डा० राजेंद्रप्रसाद ने मिस्टर एम० ए० जिन्ना को लिखा और साथ ही एक सार्वजनिक वक्तव्य दिया, और मुस्लिम लीग को कांग्रेस के ख़िलाफ़ फ़ैडरल कोर्ट में जांच और फ़ैसले के लिए शिकायतें और सबूत भेजने को निमंत्रित किया। मिस्टर जिन्ना ने इस प्रस्ताव से इंकार कर दिया, और इस सिलसिले में एक शाही जांच कमीशन तैनात करने की संभावना के बारे में इशारा किया। इस तरह के कमीशन को नियुक्त करने का कोई सवाल नहीं था और ऐसा तो सिर्फ ब्रिटिश सरकार ही कर सकती थी। कुछ ब्रिटिश गवर्नरों ने, जिन्होंने कांग्रेसी सरकारों के वक्त में काम किया था, सार्वजनिक रूप से यह कहा कि अल्प-संख्यकों के साथ व्यवहार के सिलसिले में उन्हें कोई भी आपत्तिजनक बात नहीं मिली थी। उन्हें सन् १६३५ के एक्ट के मुताबिक ज़रूरत पड़ने पर अल्प-संख्यकों की रक्षा के लिए विशेष अधिकार मिले हुए थे।

हिटलर के अपने हाथ में ताक़त कर लेने के बाद प्रचार के नाज़ी ढंग के बारे में मैंने गहरा अध्ययन किया था, और मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि कुछ वैसी ही चीज़ हिंदुस्तान में हो रही थी। एक साल बाद, १६३८ में, जब ज़ेकास्लोवेकिया को सूडेटनलैंड संकट का सामना करना पड़ा, तो वहाँ पर काम में लाये गए नाज़ी ढंग का अध्ययन किया गया, और मस्लिम लीग के खास आदमियों ने तारीफ़ के साथ उनका ज़िक्र किया। हिंदुस्तान के मुसलमानों और सुडेटेनलैंड के जर्मनों में मिलान किया गया। व्याख्यानों और कुछ अखबारों में उत्तेजना और लड़ाई के लिए उकसाव साफ़ ज़ाहिर होता था।

एक कांग्रेसी मुसलमान मंत्री को छुरे से मार दिया गया, लेकिन मुस्लिम लीग के किसी भी नेता की तरफ़ से इसकी निंदा नहीं की गई; बल्कि सच तो यह है कि उसको क़ाबिल माफ़ी समझा गया। जब-तब, हिंसा के और दूसरे प्रदर्शन भी हुए।

इन घटनाओं से और सार्वजनिक जीवन के मापदंड के गिर जाने से मुझे बहुत ज़्यादा नाउम्मीदी हुई। हिंसा, बेहूदगी और ग़ैर-ज़िम्मेदारी बढ़ रही थी, और ऐसा मालूम होता था कि मुस्लिम लीग के ज़िम्मेदार नेताओं की उसके लिए रज़ामंदी थी। इनमें से कुछ नेताओं को मैंने लिखा और उन से इस प्रवृत्ति को रोकने की प्रार्थना की, लेकिन कोई कामयाबी नहीं हुई। जहां तक कांग्रेसी सरकारों का सवाल है, यह साफ़ उनके हित में था कि वह हर अल्प-संख्यक समुदाय को अपने साथ ले लें और उन्होंने इसके लिए पूरी-पूरी कोशिश की। अस्ल में कुछ हल्कों से तो यह शिकायत हुई कि कांग्रेसी सरकारें मुसलमानों के साथ बेजा तरफ़दारी कर रही थीं, और उसकी वजह से दूसरे समुदायों को घाटे में रहना पड़ता था। लेकिन यह सवाल किसी ख़ास शिकायत का नहीं था, जिसका कि इलाज किया जा सके, और न वह किसी मामले पर तर्क से और जो ढंग से सोच-विचार करने का ही सवाल था। मुस्लिम लीग के मेंबरों और उससे हमदर्दी रखने वाले लोगों की तरफ़ से मुस्लिम जनता को यह इतमीनान दिलाने का ज़बर्दस्त आंदोलन चल रहा था कि बड़ी भयंकर घटनाएं घट रही हैं और उनके लिए कांग्रेस क़ुसूरवार थी। यह भयंकर बातें यह क्या थीं, यह किसी को भी नहीं मालूम था। लेकिन यह बात तै है कि इस चीख़ और हुल्लड़ के पीछे, यहां नहीं तो कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ ज़रूर होगा। उप-चुनावों के मौकों पर यह आवाज़ उठाई गई कि इस्लाम ख़तरे में है और मुस्लिम लीगी उम्मीदवार को वोट देने के लिए मतदाताओं से कुरान की क़सम खाने को कहा गया।

आम मुस्लिम जनता पर इस सबका बेशक़ असर हुआ। फिर भी यह देख कर ताज्जुब होता है कि कितने लोगों ने उसका मुक़ाबला किया। ज़्यादातर उप-चुनावों में लीग जीती, और कुछ में वह हारी, और उस वक़्त भी जब कि लीग जीती, अल्पसंख्यक मतदाताओं की ऐसी बहुत बड़ी तादाद थी, जो लीग के ख़िलाफ़ गई और उस पर कांग्रेस के खेतिहर कार्यक्रम का ज़्यादा असर था। लेकिन अपने इतिहास में मुस्लिम लीग को पहली बार आम जनता का सहारा मिला, और जन-संगठन के रूप में उसकी तरक़्क़ी शुरू हुई। जो कुछ हो रहा था वह मुझे नापसंद था, फिर भी एक ढंग से मैंने इस तब्दीली का स्वागत किया, क्योंकि मेरा ऐसा ख़्याल था कि शायद आख़िर में इसके फ़लस्वरूप सामंतवाद। नेतृत्व में तब्दीली आवे और ज़्यादा प्रगतिशील हिस्से

आगे आवें। अब तक जो असली मुश्किल थी वह यह थी कि मुसलमान राजनीतिक और सामाजिक नज़रिए से बहुत ज़्यादा पिछड़े हुए थे, और इसकी वजह से प्रतिक्रियावादी नेतागण उनका नाजायज़ फ़ायदा उठा सकते थे।

मुस्लिम लीग के अपने ज़्यादातर साथियों के मुक़ाबले में मिस्टर एम० ए० जिन्ना ज़्यादा आगे बढे हुए थे। अस्ल में मिस्टर जिन्ना और उसके साथियों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ था और इसलिए लाज़िमा तौर पर वे मुस्लिम लीग के एकमात्र नेता थे। कई बार उन्होंने सार्वजनिक मंच से अपने साथियों की अवसरवादिता और उससे भी बड़ी खामियों पर अपना बड़ा भारी असंतोष ज़ाहिर किया था। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मुसलमानों में निःस्वार्थ, प्रगतिशील और साहसी समुदाय का अधिकांश कांग्रेस में शामिल हो चुका और उसके ज़रिए काम करता था। फिर भी भाग्य ने या घटना-चक्र ने उनको उन लोगों के ही बीच में धकेल दिया था, जिनके लिए उनके दिल में कोई इज्ज़त नहीं थी। वह उनके नेता थे, लेकिन वह उनको अपने साथ सिर्फ़ उसी हालत में रख सकते थे जब कि उनकी प्रतिक्रियावादी विचार-धारा में वह खुद एक क़ैदी बन जाते। यह बात नहीं कि वह अनिच्छित क़ैदी हों। जहां तक विचार-धारा का सवाल है अपनी ऊपरी आधुनिकता के होते हुए भी वह पुरानी पीढ़ी के थे, जो आधुनिक राजनीतिक विचार-धारा से क़रीब-क़रीब बेख़बर थी। ऐसा मालूम होता है, कि अर्थ-शास्त्र से जिसकी आजकल सारी दुनिया पर छाया है, वे नावाक़िफ थे। ज़ाहिरा तौर पर उन असाधारण घटनाओं का जो दुनिया भर में पहले महायुद्ध के बाद हुई थीं उन पर कोई भी असर नहीं हुआ था। उन्होंने कांग्रेस को उस वक़्त छोड़ा जब कि उसने अपना राजनीतिक क़दम आगे बढ़ाया। ज्यों-ज्यों कांग्रेस का नज़रिया ज़्यादा आर्थिक और सार्वजनिक होता गया, यह खाई और भी चौड़ी होती गई। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि नज़रिया और विचार-धारा के लिहाज़ से मिस्टर जिन्ना ठीक उसी जगह बने रहे, जहां वह एक पीढ़ी पहले थे, या शायद वह अब कुछ और पीछे हट गए थे, क्योंकि अब वह दोनों चीज़ों की—हिंदुस्तान के एक्य और लोकतंत्र की—निंदा करते थे। उन्होंने कहा है कि, 'वे लोग शासन की किसी ऐसी प्रणाली में नहीं रहेंगे, जिसकी बुनियाद पच्छिमी लोकतंत्र के बेवकूफ़ी से भरे हुए ख़्यालों पर है।' उनको यह बात समझने मे एक लंबा अर्सा लगा कि अपनी ज़िंदगी के काफ़ी लंबे हिस्से में वे बराबर जिस बात के समर्थक रहे थे, वह बेवकूफ़ी से भरी हुई थी।

खुद मुस्लिम लीग में भी मिस्टर जिन्ना अकेले-से आदमी हैं, वे अपने आपको, अपने घनिष्टतम साथियों से भी अलग रखते हैं; उनकी इज्ज़त काफ़ी, लेकिन दूर से होती है; प्रेम करने के मुक़ाबले, लोग उनसे डरते ज़्यादा हैं।

एक राजनीतिज्ञ के नाते उनका योग्यता म कोई भी शक नहीं है लेकिन किसा तरह से वह योग्यता आजकल हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की कुछ अजीब शर्तों से बंधी हुई है। एक वकील-राजनीतिज्ञ और जोड़-तोड़ लगाने वाले की हैसियत से तो उनकी क़ाबलियत ज़ाहिर होती है; और वह उन लोगों में से हैं जो यह ख़याल करते ह कि राष्ट्रीय हिंदुस्तान और ब्रिटिश ताक़त का संतुलन उनके हाथों में है। अगर हालतें दूसरी हों और अगर उन्हें राजनीतिक और आर्थिक असली मसलों का सामना करना हो तो यह कहना मुश्किल है कि यह योग्यता उन्हें कितना दूर ले जायगी। शायद उन्हें खुद भी इस बारे में शक है, हालांकि उनकी अपने बारे में कोई विनम्र राय नहीं है। शायद यह शक उनके अंदर की उस उप-चेतन प्रवृत्ति की अंदरूनी सचाई हो जिसकी वजह से वह तब्दीली के ख़िलाफ़ हैं और चीज़ों को ज्यों-का-त्यों चलने देना चाहते हैं, और जिसकी वजह से उन लोगों के साथ-साथ, जिनसे वे पूरी-पूरी तरह सहमत नहीं है, वे तर्कपूर्ण विवाद और समस्याओं के गंभीर विवेचन से बचना चाहते हैं। इस मौजूदा सांचे में तो वह सही बैठते है; लेकिन वह या और कोई दूसरे आदमी सांचे में सही बैठेंगे या नहीं, यह कहना मुश्किल है। किस बात की लगन उन्हें चालू रखती है और किस मक़सद के लिए वे काम करते हैं? या कहीं ऐसी बात तो नहीं है कि उनमें किसी भी चीज़ का लगन नहीं है? और शायद उन्हें सिर्फ़ राजनीतिक शतरंज में मज़ा आता है, और उसमें कभी-कभी उन्हें यह कहने का मौक़ा मिलता है कि 'मैंने मात कर दिया।' ऐसा मालूम होता है कि कांग्रेस के लिए उनमें नफ़रत है, और वह दिन-ब-दिन बढ़ता गई है। उनकी नफ़रत और नापसंदगी ज़ाहिर है, लेकिन वह पसंद किस चीज़ को करते हैं? अपनी सारी मज़बूती और पक्केपन के होते हुए, वह एक विचित्र, नकारात्मक व्यक्ति हैं, जिनका उपयुक्त प्रतीक है 'न'। इसलिए उनके निश्चित-सत्तामय पक्ष को समझने की सारी कोशिशें नाकामयाब होती है, और कोई भी उसकी पकड़ नहीं कर पाता।

हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य क़ायम होने के बाद मुसलमानों में आधुनिक ढंग का प्रमख व्यक्तित्व शायद ही हुआ हो। उनमें कुछ ख़ास आदमी ज़रूर है, लेकिन आमतौर पर वे पुरानी संस्कृति और परंपरा के क्रम की नुमाइंदगी करते थे और वे मौजूदा प्रवाह से आसानी से मेल नहीं बिठा सके। बदलते हुए वक़्त के साथ चलने की, और नए वातावरण के साथ सांस्कृतिक या दूसरे ढंग से मेल बिठाने की असमर्थता का कारण कोई जन्मजात कमी नहीं है। उसकी कुछ ख़ास ऐतिहासिक वजहें हैं। उनम नए औद्योगिक मध्यम वर्ग की तरक्क़ी में देरी हुई, और साथ ही मुसलमानों की पृष्ठभूमि बहुत ज्यादा सामंतवादी थी, और इस वजह से तरक्क़ी के रास्ते रुक गए, और सारी प्रतिभा मंदी रही

बंगाल में मुसलमान ख़ास तौर से पिछड़े हुए थे, लेकिन इसकी दो साफ़ वजहें थीं : एक तो ब्रिटिश राज्य के शुरू में उनके उच्च वर्ग की बरबादी, और दूसरी यह कि उनमें से ज़्यादातर तादाद निचले दर्जे के उन हिंदुओं के धर्म-परिवर्त्तन से बनी थी जिनको बहुत अर्से से तरक्क़ी का मौक़ा देने से इंकार कर दिया था। उत्तरी हिंदुस्तान में सुसंस्कृत उच्चवर्गीय मुसलमान अपनी पुरानी प्रचलित परिपाटियों से और ज़मींदारी से बंधे हुए थे। इधर हाल के बरसों में काफ़ी तब्दीली हुई है, और हिंदुस्तानी मुसलमानों में एक नया मध्यमवर्ग काफ़ी तेज़ी से पैदा हो गया है। लेकिन अब भी विज्ञान और उद्योग में वे हिंदुओं और दूसरे लोगों से बहुत पिछड़े हुए हैं। हिंदू भी पिछड़े हुए हैं, और कभी-कभी तो वे काम-काज और सोच-विचार के पुराने ढर्रों से, मुसलमानों के मुक़ाबले ज़्यादा मज़बूती से, जकड़े हुए हैं। फिर भी उनमें कुछ लोग ऐसे पैदा हुए हैं जो विज्ञान, उद्योग और दूसरे क्षेत्रों में बहुत आगे बढ़े हुए थे। छोटी-सी पारसी जाति में आधुनिक उद्योग के कुछ प्रमुख आदमी पैदा हुए हैं। एक मजेदार ध्यान देने की बात यह है कि मिस्टर जिन्ना का घराना शुरू में हिंदू था।

बीते जमाने में, हिंदू और मुसलमान दोनों की ज़्यादातर प्रतिभा और योग्यता सरकारी नौकरियों में खप गई है, क्योंकि वही सबसे आकर्षक और खुला मैदान था। आज़ादी के राजनीतिक आंदोलन की तरक्क़ी के साथ यह आकर्षण कम होता गया, और लगन वाले, योग्य और साहसी आदमी उसमें से खिंच आये। इसी तरह मुसलमानों के बहुत से आला लोग कांग्रेस में आगये। ज़्यादा हाल के बरसों में, नौजवान मुसलमान समाजवादी और साम्यवादी पार्टियों में भी शामिल हो गए। इन सब सच्चे और प्रगतिशील आदमियों के होते हुए भी मुसलमानों के नेताओं का मापदंड बहुत नीचा था और उन लोगों में अपनी तरक्क़ी के लिए सिर्फ़ सरकारी नौकरियों की तरफ़ देखने का ही झुकाव था। मिस्टर जिन्ना दूसरी ही क़िस्म के थे। वह योग्य थे, दृढ़ थे, और उनमें ओहदे के लिए वह लोभ नहीं था जो और बहुत से लोगों में था। इस तरह मुस्लिम लीग में उनकी बेजोड़ जगह होगई थी और उन्हें वह इज्ज़त मिली जो लीग के और बहुत से मशहूर आदमियों को नहीं मिल सकी थी। बदक़िस्मती से उनकी दृढ़ता ने उनको नए विचारों के प्रति अपने दिमाग़ को खोलने से रोक दिया, और अपनी निजी संस्था पर निर्विवाद नेतृत्व के कारण उनमें अपनी या दूसरी संस्थाओं में मतभेद के लिए रवादारी जाती रही। वह ख़ुद मुस्लिम लीग थे। लेकिन एक सवाल उठा : जब कि लीग आम जनता की संस्था बनती जा रही थी, तब आखिर कब तक यह सामंतवादी नेतृत्व, जिसके विचारों का युग बीत चुका था, चलेगा?

जब मैं कांग्रेस का सभापति था तब मैंने कई बार मिस्टर जिन्ना को

लिखा और प्रार्थना की कि वह हमको निश्चित रूप से बता दें कि आखिर वह क्या चाहते हैं। मैंने उनसे पूछा कि लीग क्या चाहती है, और उसका निश्चित उद्दश्य क्या है। मैं यह भी जानना चाहता था कि कांग्रेसी सरकारों के ख़िलाफ़ लीग की क्या शिकायतें थीं। ख़याल यह था कि पत्र-व्यवहार से हम मामलों को साफ़ कर लें और तब उन अहम सवालों पर जो उठें ख़ुद मिलकर सोच-विचार कर लें। मिस्टर जिन्ना ने लंबे-लंबे जवाब भेजे लेकिन उन्होंने कोई चीज़ बताई नहीं। यह एक असाधारण-सी बात थी कि मुझको या किसी और को भी यह बताने से बचना चाहते थे कि वे ठीक-ठीक क्या चाहते हैं और लीग की क्या शिकायतें है। बार-बार हम लोगों में पत्र-विनिमय हुआ, फिर भी हमेशा ही अस्पष्टता और अनिश्चितता थी, और मुझे कोई चीज़ ठीक-ठीक पता नहीं लग सकी। इससे मुझे बेहद ताज्जुब हुआ और मैंने थोड़ी-सी बेबसी महसूस की। ऐसा मालूम होता था कि मिस्टर जिन्ना किसी निश्चित बात में फंसना नहीं चाहते, और वे समझौते के लिए बिलकुल भी उत्सुक नहीं हैं।

बाद में गांधीजी और हममें से और दूसरे लोग मिस्टर जिन्ना से कई बार मिले। उनमें घंटों बातें हुई, लेकिन वे लोग कभी भी प्रारंभिक बातों के आगे पहुंच ही नहीं पाये। हमारा प्रस्ताव यह था कि कांग्रेस और मुस्लिमलीग के प्रतिनिधि एक जगह मिलें और अपने सारे आपसी मसलों पर सोच-विचार करें। मिस्टर जिन्ना ने कहा कि ऐसा तो सिर्फ़ तभी किया जा सकता था जब हम पहले खुले तौर पर यह बात मंजूर कर लें कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की एक मात्र संस्था मुस्लिम लीग है, और साथ ही कांग्रेस अपने आपको विशुद्ध हिंदू-संगठन समझे। इस से साफ़ तौर पर एक दिक्क़त पैदा हुई। यह ठीक है कि हम लीग की अहमियत को मानते थे, और उसी वजह से हम उसके पास गये थे। लेकिन देश की दूसरी मुस्लिम संस्थाओं की, जिनमें से कुछ का तो हमारे साथ गहरा ताल्लुक़ था, हम किस तरह अवहेलना कर सकते थे ? साथ ही ख़ुद कांग्रेस में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी तादाद थी, और वे लोग हमारी सबसे बड़ी कार्य-कारिणी समितियों में भी थे। मिस्टर जिन्ना की मांग को मंजूर करने के अमली तौर पर यह माने थे कि हम अपने पुराने मुस्लिम साथियों को कांग्रेस के बाहर धकेल दें, और इस बात की घोषणा कर दें कि उनके लिए कांग्रेस का दरवाजा बंद है। उसके माने यह थे कि कांग्रेस के बुनियादी रूप को ही बदल दिया जाय, और उसको सबका स्वागत करने वाली राष्ट्रीय संस्था से, एक सांप्रदायिक संस्था में बदल दिया जाय। हम लोगों के लिए ऐसा सोचना नामुमकिन था। अगर कांग्रेस-संगठन ख़ुद पहले से नहीं होता, तो हमें एक ऐसी नई राष्ट्रीय संस्था बनानी होती जिसका दरवाज़ा हर हिंदुस्तानी के लिए खुला हो।

इस बात पर मिस्टर जिन्ना की ज़िद को, और किसी दूसरी चीज़ पर बात करने से इंकार को,.हम समझ नहीं सके। हम फिर यही नतीजा निकाल सकते थे कि वह कोई समझौता नहीं चाहते थे, और न वह अपने आपको किसी निश्चित बात में फंसाना ही चाहते थे। उन्हें चीज़ों को यों ही बहने देने में संतोष था और उन्हें उम्मीद थी कि वे ब्रिटिश सरकार से कुछ ज़्यादा बड़ी चीज़ पा सकेंगे।

मिस्टर जिन्ना की मांग की बुनियाद उस नये सिद्धांत पर थी, जिसकी उन्होंने हाल ही में घोषणा की थी, कि हिंदुस्तान में दो राष्ट्र थे, एक हिंदू, एक मुसलमान। सिर्फ़ दो ही क्यों, मैं नहीं जानता, क्योंकि अगर राष्ट्रीयता की बुनियाद मजहब पर हो तब तो हिंदुस्तान में बहुत से राष्ट्र थे। हिंदुस्तान के ज्यादातर गावों में कमोबेश ये दो राष्ट्र मौजूद थे। वे ऐसे राष्ट्र थे जिन की सीमाएं नहीं थीं। वे एक-दूसरे से गुंथे हुए थे। एक बंगाली हिंदू और बंगाली मुसलमान, जो दोनों एक साथ रहते थे, एक ही भाषा बोलते थे जिनकी परंपरा में और जिनके रिवाज बहुत कुछ एक से थे अलग-अलग राष्ट्र थे। यह सब समझना बहुत मुश्किल था; ऐसा मालूम होता था मानो यह किसी मध्यकालीन सिद्धांत की तरफ़ वापिस लौट रहे हों। राष्ट्र क्या है, इसकी परिभाषा देना मुश्किल है। शायद राष्ट्रीय चेतना की बुनियादी विशेषता, आपसीपन की और मिलकर बाक़ी सारी दुनिया का सामना करने की भावना है। हिंदुस्तान में यह चीज़ कुल मिलाकर किस हद तक है, यह एक विवादास्पद बात है। इस संबंध में तो यहां तक भी कहा जा सकता है कि गुज़रे जमाने में हिंदुस्तान एक बहु-राष्ट्रीय राजसत्ता की तरह विकसित हुआ, और उसमें धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना आई। लेकिन यह सब तो कोरी ख़याली बातें हैं जिनका हमसे शायद ही कोई ताल्लुक़ हो। आज सबसे ज्यादा ताक़तवर राजसत्ता बहु-राष्ट्रीय हैं, लेकिन साथ ही उनमें संयुक्त राष्ट्र या सोवियत् यूनियन की तरह राष्ट्रीय-चेतना बढ़ रही है।

मिस्टर जिन्ना के दो क़ौमियत के उसूल से पाकिस्तान का, या हिंदुस्तान के विभाजन का ख़याल पैदा हुआ। लेकिन उससे भी दो राष्ट्रों का सवाल हल नहीं हुआ, क्योंकि वे तो देश भर में हर जगह थे। लेकिन उससे एक विचार साकार हो गया। ख़ुद इसकी बहुत से लोगों में एक ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और वह हिंदुस्तान के एके की तरफ़दार थी। आम तौर पर राष्ट्रीय एका मानी हुई चीज़ है। सिर्फ़ उसी वक़्त, जब उसको चुनौती दी जाती है, या उस पर हमला किया जाता है, या उसके विच्छेद की कोशिश की जाती है, एके का ख़ास तौर से ख़याल उठता है, और उसको बनायें रखने की एक निश्चित प्रतिक्रिया होती है। इस तरह कभी-कभी विच्छेद की कोशिशों से

एका करने में मदद मिलती है।

कांग्रेस के और धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाओं के नजरिए में एक बुनियादी फ़र्क़ था। ऐसी संस्थाओं में मुस्लिम लीग, और दूसरी तरफ, हिंदुओं में, हिंदू महासभा खास हैं। ये सांप्रदायिक संस्थाएं, हालांकि अपने आपको हिंदुस्तान की आज़ादी का समर्थक कहती हैं, इनकी दिलचस्पी अपने-अपने समुदायों के लिए खास सुविधाएं और संरक्षण मांगने में ज़्यादा है। इस तरह लाज़िमी तौर पर इन सुविधाओं के लिए उन्हें ब्रिटिश सरकार का मुंह ताकना पड़ता है और इसका नतीजा यह हुआ कि वे उससे संघर्ष से बचते। कांग्रेस का दृष्टिकोण एक संयुक्त राष्ट्र की तरह समूचे हिंदुस्तान की आज़ादी से इस तरह बंधा हुआ था, कि उसके लिए हर दूसरी चीज़ गौण थी, और इसके मानी थे ब्रिटिश ताक़त से बराबर मुठभेड़। हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता ने, जिसकी नुमाइंदगी कांग्रेस करती थी, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया। इसके अलावा कांग्रेस के कृषि-संबंधी, आर्थिक और सामाजिक कार्य-क्रम थे। न तो मुस्लिम लीग ने और न हिंदू महासभा ने कभी ऐसे सवालों पर ग़ौर किया और न ऐसा कार्य-क्रम बनाने की कोशिश ही की। हां, समाजवादी और साम्यवादी, इन मामलों में बेहद दिलचस्पी लेते थे और उनके अपने कार्य-क्रम थे, जिनको उन्होंने कांग्रेस में लाने और साथ ही बाहर भी चलाने की कोशिश की।

कांग्रेस और इन धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाओं की नीति और काम में एक और खास फ़र्क़ था। आंदोलन के पहलू, और मौक़ा मिलने पर क़ानून-निर्माण की कार्रवाई से बिलकुल अलहदा, कांग्रेस आम जनता में कुछ खास रचनात्मक काम करने पर सबसे ज्यादा ज़ोर देती थी। इस कार्य-क्रम में, ग्रामोद्योगों की उन्नति और संगठन, दलित जातियों के उत्थान और बाद में बुनियादी शिक्षा के प्रचार का काम था। गांव के काम में सफ़ाई और मामूली तौर पर दवा-दारू की मदद का काम भी शामिल था। इन कामों को चलाने के लिए कांग्रेस ने अलग-अलग संस्थाएं बनाईं। ये संस्थाएं अपना काम राजनीतिक स्तर से हटकर करती थीं, और इनमें पूरा समय देकर काम करने वाले हज़ारों आदमी खप गए, और उनमें इससे भी ज़्यादा बड़ी तादाद में अपना आंशिक समय देकर काम करने वाले लोग थे। यह शांत, अराजनीतिक रचनात्मक काम तो उस वक़्त भी चालू रहता जब कि राजनीतिक कार्रवाई उतार पर होती। लेकिन जब-जब कांग्रेस के साथ सरकार की खुली लड़ाई होती तब-तब सरकारी मशीन इस काम को भी दबा देती। कुछ लोगों को इस काम के आर्थिक मूल्य पर शक हुआ, लेकिन उसकी सामाजिक अहमियत के बारे में कोई शक नहीं हो सकता था। इसकी वजह से पूरा समय देकर काम करने वाले लोगों की एक बहुत बड़ी जमात तैयार हो गई, जिसमें आम जनता के

बारे में पूरी जानकारी थी। इस जमात ने जनता में स्वावलंबन और आत्म-विश्वास की भावना भर दी। कांग्रेसी स्त्री और पुरुषों ने ट्रेड यूनियन व दूसरी खेतिहर संस्थाओं में भी अहम हिस्सा लिया, बल्कि बहुत-सी संस्थाओं को ख़ुद उन्हीं ने बनाया। सबसे बड़ी और सबसे ज्यादा सुसंगठित, अहमदाबाद के सूती कपड़े के उद्योग की ट्रेड यूनियन की शुरुआत कांग्रेसियों ने की और वे उसके साथ घनिष्ठ संपर्क रखते हुए काम करते थे।

इन कामों ने कांग्रेसी कार्य-क्रम को एक ठोस पृष्ठभूमि दे दी। धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाएं इस पृष्ठभूमि से बिलकुल ख़ाली थीं। ये संस्थाएं तो सिर्फ़ हलचल मचाती थी और चुनावों के दौरान में ही इनको काम करने की धुन समाती थी। सरकारी कार्रवाई से व्यक्तिगत डर और जोखिम की भावना, जो कांग्रेसियों के साथ हमेशा ही बराबर बनी रहती थी, इन लोगों के साथ नहीं थी। इस तरह इन संस्थाओं में अवसरवादी पद-लोलुप व्यक्तियों के घुसने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा थी। हां, दो मुस्लिम संस्थाओं को यानी जमीयत-उल-उलेमा और अहरार पार्टी को सरकारी दमन से बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। उसकी वजह यह थी कि राजनीतिक सतह पर वे अक्सर कांग्रेस की दिशा में ही चलती थीं।

कांग्रेस के ज़रिए सिर्फ़ उस क़ौमी उकसाव की ही नुमाइंदगी नहीं होती थी, जो कि नए बूर्ज़ुआ वर्ग की बढ़ती के साथ बढ़ गई थी, बल्कि बहुत हद तक उस प्रेरणा की भी जो कि मज़दूर-पेशा लोगों मे सामाजिक तब्दीलियों के लिए थी। कांग्रेस ख़ास तौर से किसानों से संबंध रखने वाली इन्क़लाबी तब्दीलियों की हामी थी। इसकी वजह से कभी-कभी ख़ुद कांग्रेस में अंदरूनी झगड़े हुए, और ज़मींदार और बड़े-बड़े उद्योगपति राष्ट्रीय होते हुए भी समाजवादी तब्दीली के डर से उससे दूर रहे। ख़ुद कांग्रेस म समाजवादियों और साम्यवादियों को जगह मिली, और वे कांग्रेसी नीति पर असर डाल सकते थे। सांप्रदायिक संस्थाएं, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, सामंतवादी और अनुदार दलों से मिली-जुली थीं, और वे हर तरह के क्रांतिकारी समाजी परिवर्तन के ख़िलाफ़ थीं। इसलिए असली झगड़े का ताल्लुक़ धर्म से क़तई नहीं था। हां अक्सर उस सवाल को धर्म का जामा पहना दिया जाता था। असलियत में झगड़ा तो उनमें था जिनमें एक तरफ़ वे थे जो राष्ट्रीय, लोक-तंत्री और सामाजिक दृष्टि से क्रांतिकारी नीति के समर्थक थे, और दूसरी तरफ़ वे लोग थे जो पुराने सामंतवादी ढांचे के खंडहरों को बनाये रखना चाहते थे। संकट के मौक़ों पर ये लोग लाज़िमी तौर पर विदेशी सहारे पर निर्भर रहते थे, और इस विदेशी ताक़त की दिलचस्पी चीज़ों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने में थी।

दूसरे महायुद्ध के शुरू से एक अंदरूनी संकट उठ खड़ा हुआ और

उसका नतीजा यह हुआ कि सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़े दे दिये। इससे पेश्तर ही कांग्रेस ने मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम लीग को साथ लेने की फिर कोशिश की। लड़ाई शुरू होने के बाद कांग्रेस-कार्य-कारिणी की पहली मीटिंग में शामिल होने के लिए मिस्टर जिन्ना को निमंत्रण भेजा गया। वह हमारा साथ नहीं दे सके। बाद में हम उनसे मिले और विश्व-संकट का ध्यान में रखते हुए एक परस्पर मान्य नीति पर पहुंचने की कोशिश की। हम कुछ ज्यादा आगे तो नहीं बढ़ पाए, फिर भी हमने बातों को जारी रखना तै किया। इसी बीच में कांग्रेसी सरकारों ने राजनीतिक सवाल पर इस्तीफ़े दिये, जिनका मुस्लिम लाग या सांप्रदायिक समस्या से कोई ताल्लुक़ नही था। जो भी हो, मिस्टर जिन्ना ने उस मौक़े पर, कांग्रेस पर एक ज़ोरदार हमला करना पसंद किया, और उन्होंने लीग को 'छुटकारे का दिन' मनाने के लिए कहा। यह छुटकारा सूबों में कांग्रेसी हुकूमत से था। इसके बाद उन्होंने कांग्रेस के राष्ट्रीय मुसलमानों के लिए और ख़ास तौर से कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के लिए, जिनकी हिंदू और मुसलमान दोनों ही बहुत इज्ज़त करते थे, बहुत अशोभनीय लफ़्ज़ इस्तैमाल किये। 'छटकारे का दिन' एक थोथी-सी चीज़ था और मुसलमानों ने ही इस 'छुटकारे का दिन' के ख़िलाफ़ हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में प्रदर्शन किये। लेकिन इससे तीखापन बढ़ गया और यह यक़ीन और ज्यादा पक्का हो गया कि मिस्टर जिन्ना और उनके नेतृत्व में मुस्लिम लीग का कांग्रेस से समझौता करने का या हिंदुस्तान की आज़ादी के आदर्श को आगे बढ़ाने का कोई इरादा नहीं था। उनको मौजूदा हालत पसंद था।[1]

६ : नेशनल प्लानिंग कमेटी

सन् १६३८ के अख़ीर में कांग्रेस के सुझाव पर नेशनल प्लानिंग कमेटी बनी। उसमें पंद्रह मेंबर थे और साथ ही प्रांतीय सरकारों और सहयोग के लिए प्रस्तुत हिंदुस्तानी रियासतों के प्रतिनिधि थे। उसके मेंबरों में सुपरिचित उद्योगपति, पूंजीपति, अर्थ-शास्त्री, प्रोफ़ेसर और वैज्ञानिक थे और

१ इस किताब का लिखना ख़त्म करने के बाद मैंने कनाडियन विद्वान् विलफ़्रिड काण्टवैल स्मिथ की, जिन्होंने हिंदुस्तान और मिश्र में कुछ बरस बिताये हैं, एक किताब पढ़ी। इस किताब का नाम है 'मौडर्न इस्लाम इन इंडिया—ए सोशल एनैलिसिस' और लाहौर से प्रकाशित हुई है। इसमें १८५७ के भारतीय विद्रोह के बाद भारतीय मुसलमानों की विचार-धारा के विकास की बड़ी योग्यता और सावधानी के साथ जांच और छान-बीन की गई है। सर सैयद अहमद खां के बाद से हर एक प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी हलचल की और मुस्लिम लीग के विभिन्न पक्षों की उसमें चर्चा की गई है।

साथ ही ट्रेड यूनियन, कांग्रेस और ग्रामोद्योग संघ के प्रतिनिधि थे। ग़ैर-कांग्रेसी प्रांतीय सरकार (बंगाल, पंजाब और सिंध) और साथ ही कुछ बड़ी-बड़ी रियासतें (हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, त्रावणकोर और भोपाल) इस कमेटी के साथ थीं। एक ढंग से इस कमेटी में हर तरह के प्रतिनिधि थे, और इसमें न तो राजनीतिक दीवारें थीं और न हिंदुस्तान की सरकारी और ग़ैर-सरकारी जमात की ऊंची दीवारें थीं। हां, इसमें हिंदुस्तान-सरकार का प्रतिनिधित्व नहीं था, उसका रुख़ तो असहयोग का था। उसमें बड़े-बड़े अनुदार व्यवसायी भी थे और ऐसे लोग भी थे जो आदर्शवादी या सिद्धांतवादी कहे जाते हैं और साथ ही उसमें समाजवादी और साम्यवादी भी थे। सूबों की सरकारों के विशेषज्ञ और उद्योग-धंधों के डायरेक्टर भी इसमें थे।

अलग-अलग क़िस्म का एक अजीब मिलाव था और यह बात साफ़ नहीं थी कि यह विचित्र मिश्रण किस तरह काम करेगा। मैंने इस कमेटी का सभा-पतित्व तो मंज़ूर किया लेकिन बड़ी झिझक और बड़े शक के साथ। काम मेरी तबियत का था और मैं उससे अलग नहीं रह सकता था।

हर क़दम पर मुश्किलें हमारे सामने थीं। सच्ची कारगर योजना बनाने के लिए काफ़ी मसाला नहीं था, और कुछ थोड़ी-सी ही बातों के बारे में आंकड़े मालूम थे। हिंदुस्तान-सरकार सहायक नहीं थी। यहां तक कि सूबे की सरकारें, जिनका रुख सहयोग और दोस्ती का था, अखिल भारतीय योजना-निर्माण के बारे में ख़ास तौर से उत्सुक नहीं मालूम देती थीं, और उन्होंने हमारे काम में दूर से ही दिलचस्पी ली। अपनी समस्याओं और परेशानियों में वे ख़ुद ही बहुत व्यस्त थीं। जिसकी ओर से यह कमेटी बनाई गई थी, उसी कांग्रेस के कुछ अहम हिस्से इसकी तरफ़ इस तरह देखते थे जैसे वह एक अनिच्छित बच्चा हो और जिसके बारे में यह पता न हो कि वह किस तरह पलेगा और साथही जिसकी भविष्य की कार्रवाइयों के बारे में शक हो। बड़े-बड़े व्यवसायी निश्चित रूप से सशंकित थे, और आलोचना करते थे। लेकिन वह शायद इसलिए शामिल हुए कि उन्होंने यह महसूस किया कि कमेटी से बाहर रहने के मुक़ाबले कमेटी मे अंदर आकर वह अपने हितों की ज्यादा देख-भाल कर सकते थे।

यह बात ज़ाहिर थी कि कोई भी बड़ी योजना ऐसी आज़ाद क़ौमी सरकार के मातहत ही चल सकती है जो खूब दृढ़ और लोक-प्रिय हो ताकि वह सामाजिक और आर्थिक ढांचे में बुनियादी तब्दीलियां कर सके। इस तरह योजना-निर्माण के सिलसिले म पहली बुनियादी बात यह थी कि क़ौमी आज़ादी हासिल का जाय और विदेशी नियंत्रण से छुटकारा पाया जाय। कई और रुकावटें भी थीं, मसलन हमारा सामाजिक पिछड़ापन, रीति-रिवाज और परं-

परावादी नज़रिया, आदि। लेकिन जो भी हो उनका सामना करना था। इस तरह योजना-निर्माण वर्तमान की नहीं बल्कि एक अनिश्चित, अपरिचित भविष्य की चीज़ थी, और उसमें आनुमानिकता की गंध थी। फिर भी उसकी बुनियाद वर्तमान पर करनी थी, और हमारी यह उम्मीद थी कि यह भविष्य बहुत दूर नहीं था। अगर हम उपलब्ध जानकारी को क्रम से एकत्रित कर देते, और उन योजनाओं के खाक़े तैयार कर देते तो भविष्य के सच्चे और कारगर योजना-निर्माण की नींव तैयार हो जाती। इसी बीच में हम सूबे की सरकारों और रियासतों को वह दिशा बता देते, जिस पर उन्हें बढ़ना चाहिए। मुख़्तलिफ़ क़ौमी—आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक—कार्रवाइयों को एक दूसरे के सामंजस्य और समन्वय के साथ देखने की योजना की कोशिश की हमारे लिए और आम जनता के लिए एक बहुत बड़ी तालीमी अहमियत थी। उसकी वजह से लोग सोच-विचार और काम-काज की संकरी लीक से बाहर आए और उन्होंने समस्याओं पर एक-दूसरे के संबंध में ध्यान रखते हुए सोचना शुरू किया और कम-से-कम कुछ हद तक उनका नज़रिया ज़्यादा चौड़ा और सहयोगपूर्ण हुआ।

प्लानिंग कमेटी के पीछे, शुरू में उद्योगों की रफ़्तार बढाने का ख्याल था। 'ग़रीबी और बेकारी, राष्ट्रीय सुरक्षा, और आर्थिक पुनर्जन्म के मसले कुल मिलाकर इसके बिना हल नहीं हो सकते। इसकी तरफ़ बढ़ने के लिए राष्ट्रीय योजना का विस्तृत ढांचा तैयार किया जाना चाहिए। इसमें बुनियादी बड़े उद्योगों की वृद्धि के लिए, बीच के पैमाने वाले उद्योगों के लिए और साथ ही घरेलू धंधों के लिए इंतज़ाम होना चाहिए।' लेकिन कोई भी योजना खेती का भुला नहीं सकता। क्योंकि वह तो लोगों का ख़ास सहारा था। समाज-सेवा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी। इस तरह हर एक चीज़ से दूसरी पर पहुंच जाते थे और किसी चीज़ को या एक दिशा में तरक्क़ी को दूसरी दिशाओं में मुनासिब तरक्क़ी से अलग करना नामुमकिन था। इस योजना बनाने के काम पर हमने जितना ज्यादा ग़ौर किया उतना ही उसका क्षेत्र बढ़ता गया यहां तक कि ऐसा मालूम पड़ा कि उसमें क़रीब-क़रीब हर एक कार्रवाई शामिल थी। इसके मानी यह नहीं थे कि हम हर चीज का नियंत्रण या संचालन करना चाहते थे लेकिन यह बात सही है कि योजना के किसी एक हिस्से के बारे में भी फ़ैसला करने के लिए हमको क़रीब-क़रीब हर एक चीज़ का ध्यान रखना पड़ता था। मेरे लिए इस काम का आकर्षण बढता गया, और मेरा ख़याल है कि हमारी कमेटी के दूसरे मेंबरों के साथ भी यही बात थी। लेकिन साथ ही एक तरह की अस्पष्टता और अनिश्चितता भी आई; योजना के कुछ बड़े पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने की जगह हममें बिखरने की प्रवृत्ति थी। इसी की वजह से हमारी कई उप-समितियों के काम में देरी हुई। उनमें किसी

निश्चित उद्देश्य के लिए सीमित समय में काम करने की फ़िक्र का अभाव था।

जिस तरह हमारी कमेटी बनी हुई थी, उसके लिहाज़ से किसी बनियादी सामाजिक नीति या समाज-संगठन के आधारभूत सिद्धांतों पर, हम सब के लिए एक राय हो जाना आसान नहीं था। इन उसूलों पर गहरे विवेचन का लाज़िमी नतीजा यह होता कि शुरू में ही बुनियादी फ़र्क उठ खड़े होते और शायद कमेटी टूट-फूट जाती। इस तरह की निर्देशक नीति का न होना एक बहुत बड़ी ख़ामी थी, फिर भी उसके लिए कोई चारा नहीं था। हमने योजना के आम मसले पर और हर अकेली समस्या पर क़यासी नहीं बल्कि अमली तौर पर सोचना तै किया और इस विचार-विमर्श से सिद्धांतों को अपने आप पनपने को छोड़ दिया। मोटे तौर पर समस्या को हल करने के लिए दो ढंग से आगे बढ़ा जा सकता था: एक तो समाजवादी ढंग था जिसके मुताबिक मुनाफ़े की भावना को मिटा देना था और जिसमें सम-विभाजन की महत्ता पर ज़ोर दिया जाता। दूसरा विशद व्यवसाय का ढंग था जिसमें मुक्त-उद्योग और मुनाफ़े की भावना को यथासंभव बनाये रखना था, और जिसमें अधिक उत्पादन पर ज़्यादा ज़ोर था। उन लोगों के नज़रिए में भी फ़र्क था जो बड़े उद्योगों की तेज़ी से तरक्क़ी चाहते थे और दूसरे वे जो ग्रामोद्योग और घरेलू धंधों की तरक्क़ी पर ज़्यादा ध्यान दिलाना चाहते थे ताकि बेकार और आधे बेकार लोगों की बहुत बड़ी तादाद को काम मिल जाय। आगे चलकर आख़िरी फ़ैसलों में फ़र्क होना लाज़िमी था। और अगर कमेटी की दो या और ज़्यादा रिपोर्टें भी होतीं, तो भी कोई ऐसी बात नहीं थी, बशर्ते कि सारा उपलब्ध मसाला इकट्ठा हो जाता, क्रमबद्ध हो जाता और तब परस्पर मान्य बातें एक तरफ़ आ जातीं, और मतभेदों को अलग जता दिया जाता। जब योजना को अमली शक्ल देने का वक़्त आता, तब जो भी लोकतंत्री सरकार होती वह अपनी बुनियाद नीति पसंद कर लेती। इस बीच में ज़रूरी तैयारी का एक बहुत बड़ा हिस्सा पूरा हो जाता और समस्या के मुख़्तलिफ़ पहलू जनता के, सूबों की और क़ौमी सरकारों के सामने रख दिये जाते।

यह बात साफ़ है कि किसी निश्चित मक़सद, या सामाजिक उद्देश्य के बिना हम किसी योजना पर ख़ास तौर पर सोच-विचार नहीं कर सकते थे। जिस मक़सद का ऐलान किया गया वह यह था कि जनता के रहन-सहन का एक उचित मापदंड हो, और वह निश्चित रूप से सुलभ हो, यानी दूसरे शब्दों में वह मक़सद यह था कि जनता को दर्दनाक ग़रीबी से छुटकारा मिले। रुपयों के पैमाने में अर्थ-शास्त्रियों ने जिस कम-से-कम आंकड़े का अंदाज़ किया है वह फ़ी आदमी फ़ी महीने १५) रुपए और २५) रुपए के बीच में है। (ये सारे आंकड़े लड़ाई के पहले के हैं)। पश्चिमी मापदंड की तुलना में यह बहुत कम

था। लेकिन हिंदुस्तान के मौजूदा मापदंड के लिहाज से यह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। यहां फ़ी आदमी सालाना आमदनी का औसत क़रीब ६५) रु० है। अमीर और ग़रीबों के बीच में बहुत बड़ी खाई होने की वजह से, और थोड़े से ही लोगों के हाथों में दौलत इकट्ठी हो जाने की वजह से, गांव वाले आदमी की आमदनी का अंदाज़ तो कहीं कम है—शायद फ़ी आदमी फ़ी साल ३०)रु० के क़रीब। इन आंकड़ों से लोगों की भयंकर ग़रीबी और जनता की हालत समझ में आती है। खाने की, कपड़े की, मकान की और इंसानी ज़िदगी की हर ज़रूरत की कमी थी। इस कमी को दूर करने और हर आदमी के लिए एक उचित मापदंड से रहना निश्चित रूप से सुलभ बनाने के लिए राष्ट्रीय आमदनी बहुत ज्यादा बढ़ाना थी, और इस अधिक उत्पादन के साथ-ही-साथ संपत्ति का ज्यादा सम-विभाजन करना था। हमने हिसाव लगाया और देखा कि रहन-सहन के सचमच प्रगतिशील मापदंड के लिए राष्ट्रीय संपत्ति का ५०० से लेकर ६०० फ़ीसदी तक बढ़ाना ज़रूरी था। हमारे लिए यह छलांग तो बहुत बड़ी थी और हमने दस साल में २०० से लेकर ३०० फ़ीसदी तक बढ़ाने का लक्ष्य बनाया।

हमने, योजना के लिए, दस बरस का वक़्त तै किया, और उसमें हर अर्से, और आर्थिक ज़िदगी के हर हिस्से के लिए नियंत्रित आंकड़े दिये। उद्देश्य के सिलसिले में कुछ कसौटियों की भी सलाह दी गई :—

(१) शरीर-पोषण में सुधार—एक ऐसी संतुलित ख़ूराक हो जिसमें हर पूरे आदमी को २४०० से लेकर २८०० कैलोरी की इकाइयां हासिल हों।

(२) उस वक़्त की मौजूदा, करीब १५ गज की, खपत से बढ़कर फ़ी आदमी, फ़ी साल कम-से-कम ३० गज़ कपड़ा हो।

(३) मकानियत बढ़कर फ़ी आदमी कम-से-कम १०० वर्ग फीट हो।

इसके अलावा कुछ और चीज़ों की तरक्क़ी को बराबर ध्यान में रखना था :—

(क) कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो।

(ख) औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हो।

(ग) बेकारी में घटती हो।

(घ) फ़ी आदमी आमदनी बढ़े।

(ङ) निरक्षरता का ख़ातमा हो।

(च) सार्वजनिक उपयोगिता की नौकरियों में बढ़ती हो।

(छ) फ़ी एक हज़ार की आबादी के लिए एक आदमी के हिसाब से डाक्टरी मदद का इंतज़ाम हो।

(ज) ज़िंदगी की औसत उम्मीद में बढ़ोत्तरी हो।

कुल मिलाकर देश के सामने जो उद्देश्य था वह यह था कि जहां तक मुमकिन हो राष्ट्र स्वयं-पर्याप्त हो। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अलग नहीं किया गया, लेकिन हम आर्थिक साम्राज्यवाद की भंवर में पड़ने से बचने के लिए चिंतित थे। न तो हम ख़ुद किसी साम्राज्यवादी ताक़त के शिकार होना चाहते थे और न हम ऐसी प्रवृत्तियों को अपने अंदर बढ़ाना चाहते थे। देश की उपज पर पहला हक़ खाने की, कच्चे और तैयार सामान की घरेलू ज़रूरतों को पूरा करने के लिए होगा। फ़ालतू पैदावार को विदेशों में बाज़ार में दर गिराने के लिए नहीं झोंका जायगा बल्कि उसका इस्तैमाल दूसरे देशों से उन चीज़ों के विनिमय के लिए होगा जिनकी हमको ज़रूरत हो सकती है। अपनी क़ौमी अर्थ-व्यवस्था को निर्यात बाज़ार पर अवलंबित करने से दूसरे देशों से हमारे झगड़े हो सकते थे, और उन बाज़ारों के हमारे लिए बंद होने से हमारी अर्थ-व्यवस्था चकनाचूर हो सकती थी।

हालांकि हमने किसी सुनिश्चित सामाजिक सिद्धांत से शुरूआत नहीं की, फिर भी हमारे सामाजिक उद्देश्य बहुत कुछ साफ़ थे और उनमें योजना-निर्माण के लिए परस्पर मान्य आधार था। इस योजना का गुर, नियंत्रण और समन्वय था। इस तरह जहां मुक्त-उद्योग के लिए मनाही नहीं थी, वहीं साथ ही उसका क्षेत्र खास तौर से सीमित कर दिया गया था। रक्षा विभाग से संबंधित उद्योगों के सिलसिले में यह तै किया गया कि उनका नियंत्रण राज-सत्ता करे और वही उनकी मालिक हो। दूसरे बुनियादी उद्योगों के सिलसिले में अधिकांश की यह राय थी कि उन पर राज-सत्ता का क़ब्ज़ा हो लेकिन एक काफ़ी बड़े अल्प-संख्यक समुदाय की यह राय थी कि राज-सत्ता का उन पर नियंत्रण ही काफ़ी होगा। हां, इन उद्योगों पर यह नियंत्रण बहुत सख्त होता। यह बात भी तै की गई कि सार्वजनिक उपयोगिताओं पर राज-सत्ता के किसी-न-किसी प्रतिनिधि—केंद्रीय सरकार, प्रांतीय सरकार, या स्थानिक बोर्ड—का कब्ज़ा हो। इस बात की राय दी गई कि लंदन ट्रांसपोर्ट बोर्ड जैसी किसी चीज़ का सार्वजनिक उपयोगिताओं पर नियंत्रण हो। दूसरे खास और अहम उद्योग-धंधों के बारे में कोई ख़ास नियम नहीं बनाया गया लेकिन यह बात साफ़ कर दी गई कि योजना-बद्ध कार्यक्रम की वजह से किसी-न-किसी अंश में नियंत्रण ज़रूरी था, और यह नियंत्रण अलग-अलग उद्योग पर अलग-अलग परिमाण में हो सकता था।

जिन उद्योग-धंधों पर सरकार का काबू था उनकी व्यवस्था के सिल-सिले में यह सलाह दी गई कि आम तौर पर एक स्वाधीन सार्वजनिक ट्रस्ट मुनासिब होगा। ऐसे ट्रस्ट की वजह से जनता की मिल्कियत और उसका काबू बराबर बना रहेगा और साथ ही वे परेशानियां और बद-इंतज़ामियां, जो प्रत्यक्ष

लोकतंत्री नियंत्रण में अक्सर पैठ जाती हैं, यहां पर नहीं होंगी। उद्योग-धंधों के लिए सहयोगपूर्ण मिल्कियत और काबू की सलाह दी गई। किसी योजना-निर्माण में उद्योग की हर शाखा में तरक्क़ी की पक्की जांच ज़रूरी होगी और थोड़े-थोड़े अर्से बाद जो कुछ तरक्क़ी हुई है उसका अंदाज करना होगा। साथ ही इसके यह भी मानी होंगे कि उद्योग के फैलाव के लिए टेकनीकल काम करने वालों को तैयार करना होगा, और राज-सत्ता उद्योगों से ही ऐसे काम करने वालों को तैयार करने के लिए कह सकता है।

ज़मीन के सिलसिले में नाति निर्धारित करन के लिए आम उसूल तै कर दिय गए : 'कृषि भूमि, खान, नदियां और जंगल राष्ट्रीय संपत्ति हैं, जिन पर हिंदुस्तान की आम जनता का सामूहिक रूप से पूरा-पूरा कब्ज़ा होना चाहिए।' ज़मीन का फ़ायदा उठाने के लिए सहयोग के सिद्धांत को बरतना चाहिए, और सामूहिक और सहयोगी खेता चालू करनी चाहिए। कम-से-कम शुरू में तो ऐसा प्रस्ताव नहीं किया गया, जिसके मुताबिक किसानों को छोटे-छोटे खेतों पर अकेले ही खेती करन की मनाही हो, लेकिन यह बात साफ थी कि ताल्लुक़ेदार या ज़मींदार जैसे किसी भी ढंग के बीच वालों को तब्दीली के अर्से के बाद बने रहने की मंजूरी नहीं होनी चाहिए। इन जमातों के पास जो हक़ और ख़िताब थे, उनको धीरे-धीरे ख़त्म कर देना चाहिए। खती के क़ाबिल बेकार पड़ा हुई ज़मीन पर सरकार की तरफ से सामूहिक कृषि तो फौरन शुरू होनी थी। सहयोगी खेती व्यक्तिगत या संयुक्त मिल्कियत से शुरू हो सकती थी। अलग-अलग किस्मों को पनपने के लिए कुछ गुंजाइश छोड़ दी दी गई थी, ताकि ज़्यादा तजुर्बा हासिल करके कुछ ख़ास किस्मों को दूसरों के मुक़ाबले ज़्यादा बढ़ावा दिया जा सके।

हम या यों कहिये हममें से कुछ लोग, लेन-देन का एक समाजवादी ढांचा बना सकने की उम्मीद करते थे। अगर बैंक, बीमा कंपनी वगैरह का राष्ट्रीयकरण नहीं करना था तो कम-से-कम उनका राज-सत्ता के नियंत्रण में तो लाना ही था, ताकि पूंजी और लेन-देन में घट-बढ़ की व्यवस्था राज-सत्ता ही करे। आयात और निर्यात व्यापार का नियंत्रण करना भी ज़रूरी था। इन साधनों से कुल मिलाकर ज़मीन और उद्योग के सिलसिले में बहुत काफ़ी हद तक सरकारी नियंत्रण हो जाता, हालांकि इस नियंत्रण का परिमाण अलग-अलग जगह पर बदलता रहता। साथ ही एक सीमित क्षेत्र में व्यक्तिगत प्रयत्न भी जारी रहता।

इस तरह ख़ास समस्याओं पर विवेचन के ज़रिये हमारी नीति और हमारे सामाजिक आदर्श का विकास हुआ। उनम खाली जगहें भी थीं, कहीं-कहीं अस्पष्टता भी थी, यहां तक कि कुछ मौक़ों पर उलटी बातें थीं। उसूली

तौर पर यह योजना पूर्ण होने से बहुत दूर थी। लेकिन मुझे इस बात पर एक ताज्जुब था कि कमेटी में इतने विषम हिस्सों के होते हुए भी हम इतनी हद तक एकराय के हो सके। व्यवसायियों का अकेला सबसे बड़ा दल था, और बहुत से मामलों पर, खास तौर से तिजारती और आर्थिक मामलों पर, उसका नजरिया निश्चित रूप से अनुदार था। तेज़ी से तरक्क़ी करने का प्रेरणा और यह यक़ीन कि सिर्फ इसी तरह हम ग़रीबी और बेकारी के मसलों को हल कर सकेंगे, यह दोनों बातें इतनी ज़बर्दस्त थीं कि हम लोगों को अपनी प्रचलित लीक छोड़नी पड़ी, और हमको नई धाराओं में सोचना पड़ा। हमने किताबी ढंग को अलग रखा था, और चूंकि प्रत्येक अमली मसला एक बड़े संदर्भ में देखा गया, इसलिए हम लोग लाज़िमी तौर से एक निश्चित दिशा में चले। प्लानिंग कमेटी के सदस्यों की सहयोग की भावना मेरे लिए तो एक विशेष कृतज्ञता और शांति का बात थी क्योंकि राजनाति के झगड़ों से मिलान करते हुए यह पहलू बहुत सुखद था। हम लोग अपने फ़र्कों को जानते थे। फिर भी हर एक नज़रिय का विवेचन करने के बाद, हम एक ऐसे समन्वयकारी नतीजे पर पहुंचने की कोशिश करते जो सबको या हममें से ज़्यादातर को मंजूर हो और इस कोशिश में हम अक्सर कामयाब होते थे।

हमारा जैसी स्थिति थी, उसमें सिर्फ़ अपनी कमेटी में ही नहीं बल्कि हिंदुस्तान के बड़े मैदान में हम उस वक़्त विशुद्ध समाजवादी योजना नहीं बना सकते थे। फिर भी मेरे सामने यह बात साफ़ हो गई कि जैसे-जैसे हमारी योजना बढ़ती गई, वैसे-ही-वैसे वह लाज़िमी तौर पर हमको एक ऐसी दिशा में ले जा रही थी, जिसमें हम समाजवादी ढांचे की कुछ बुनियादी बातों की जड़ जमाते जा रहे थे। समाज की शोषक प्रकृति कम कर दी गई थी, और तरक्क़ी की बहुत-सी रुकावटों को दूर कर दिया गया था, और इस तरह वह योजना हमको तेज़ी से फैलने वाले सामाजिक ढांचे की तरफ़ ले जा रही थी। उसकी बुनियाद जन-साधारण के फ़ायदे पर, उसके मापदंड को ऊंचा उठाने पर, उसको तरक्क़ी के लिए मौक़ा देने पर और इस तरह दबी हुई अटूट प्रतिभा और सामर्थ्य को छुटकारा देने पर थी। और इस सबकी कोशिश लोकतंत्री आज़ादी के संदर्भ में करनी थी, जिसम बहुत हद तक कम-से-कम ऐसे कुछ दलों का भी सहयोग हो जो आम तौर पर समाजवादी सिद्धांतों के खिलाफ़ थे। उस सहयोग की वजह से चाहे योजना में कुछ थोड़ी-सी कमी या कमज़ोरी ही क्यों न हो, लेकिन मुझे वह सहयोग ज़रूरी जंचा। शायद मैं ज़रूरत से ज़्यादा आशावादी था। लेकिन मैंने ऐसा महसूस किया कि जिस वक़्त सही दिशा में एक बड़ा क़दम उठाया जा रहा हो, उस वक़्त खुद परिवर्तन की प्रक्रिया के वेग से, आगे की प्रगति का काम और आपस में मेल बिठाना आसान हो

जायगा। अगर संघर्ष होना लाज़िमी था तो उसका भी सामना किया जाता। लेकिन यदि उसे हटाया जा सकता था या कम किया जा सकता था तो निश्चय ही वह एक बहुत बड़ा फ़ायदा था। ख़ास तौर से इसलिए कि राजनीतिक क्षेत्र में ही हम.े लिए काफ़ी झगड़ा था और भविष्य में डांवा-डोल हालतें भी पैदा हो सकती थीं। इस तरह योजना के लिए आम स्वीकृति एक बहुत क़ीमती चीज़ थी। किसी आदर्शवाद की बुनियाद पर योजना का ख़ाका खींचना आसान था। लेकिन किसी भी योजना को काफ़ी हद तक कारगर बनाने के लिए उसके पीछे जिस मंजूरी और आम रज़ामंदी की ज़रूरत थी वह कहीं ज्यादा मुश्किल चीज़ थी।

हालांकि योजना-निर्माण में बहुत काफ़ी नियंत्रण और संचालन होता है और कुछ हद तक व्यक्तिगत स्वतंत्रता में दख़ल दिया जाता है, फिर भी आज के हिंदुस्तान के संदर्भ में, असलियत में, उससे आज़ादी बहुत बढ़ जावेगी। हमारे पास आजादी है ही कहां, जो हम उसे खो देंगे। अगर हम लोकतंत्री राजसत्ता के ढांचे के साथ बने रहे, और यदि हमने सहयोग-उद्योग को बढ़ावा दिया, तो शक्ति के केंद्रीकरण के ज्यादातर ख़तरे टाले जा सकते हैं।

अपनी पहली बैठकों में ही हमने एक लंबी प्रश्नावली बनाई और वह मुख़्तलिफ़ सूबों की और रियासती सरकारों, सार्वजनिक संस्थाओं, विश्व-विद्यालियों, व्यापार-मंडलों, ट्रेड यूनियनों, अन्वेषक संस्थाओं आदि को भेजी गई। मुख़्तलिफ समस्याओं के बारे में छान-बीन करने और उन पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए उनतीस उप-कमेटियां नियुक्त की गई। इनमें से आठ उप-कमेटियां खेती की समस्याओं पर थीं; कुछ उद्योग-धंधों से ताल्लुक़ रखती थीं; पांच का व्यापार और अर्थ-व्यवस्था से संबंध था; दो का यातायात से; दो का शिक्षा से; दो का सार्वजनिक हित से; एक का योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था में स्त्रियों की जगह से; और दो का सामाजिक समुदाय और संस्थाओं से। कुल मिलाकर इन उप-कमेटियों के ३५० मेंबर थे और इनमें से कुछ लोग कई कमेटियों में थे। उनमें से ज्यादातर लोग अपने-अपने विषयों में विशेषज्ञ थे—व्यापारी; सरकारी और म्यूनिसिपल नौकर; विश्वविद्यालयों के अध्यापक; वैज्ञानिक; इंजीनियर; ट्रेड यूनियन के मेंबर; और सार्वजनिक जीवन के कार्यकर्त्ता। इस तरह देश की उपलब्ध प्रतिभा के एक बड़े हिस्से को हमने इकट्ठा किया। वे आदमी, जिनकी व्यक्तिगत रूप से हमारा साथ देने की तबियत थी, लेकिन जिनको इजाजत नहीं मिली, वे लोग हिंदुस्तान सरकार के हाकिम और नौकर थे। हमारे काम में इतने लोगों का साथ होने की वजह से हमें कई तरह की मदद थी। हम उनके विशेष ज्ञान और अनुभव का फ़ायदा उठा सकते थे और साथ ही वे अपने विशेष विषयों पर बड़ी समस्याओं को

ध्यान में रखते हुए सोचते थे। इसकी वजह से सारे देश में योजना-बद्ध काम के लिए ज्यादा दिलचस्पी हुई। लेकिन इस बड़ी तादाद का एक नुकसान भी था, क्योंकि उसकी वजह से काम में लाज़िमी तौर पर देर होती थी। कमेटी के मेंबर देश में अलग-अलग हिस्सों के थे और वे लोग कार्य-व्यस्त आदमी थे, और उनका बार-बार एक साथ मिलना मुश्किल होता था।

राष्ट्रीय काम-काज के मुख़्तलिफ़ विभागों में, इतने योग्य और उत्सुक लोगों के संपर्क में आने से मुझे तसल्ली हुई। इन संपर्कों से मैंने ख़ुद बहुत बड़ी जानकारी हासिल की। हमारे काम करने का ढंग यह था कि हर उप-कमेटी की एक अस्थायी रिपोर्ट प्लानिंग कमेटी के पास आती और वह उस पर अपनी सहमति या आंशिक आलोचना करके फिर उसी उप-कमेटी के पास भेज देती। तब एक निश्चित रिपोर्ट तैयार की जाती और उसकी बुनियाद पर उस विषय पर निर्णय किये जाते। इस बात की बराबर कोशिश होती रहती थी, कि हर विषय के फ़ैसलों का हर दूसरे विषय के फ़ैसलों के साथ सम-तौल हो। इस तरह सारी निश्चित रिपोर्टों पर ग़ौर करने के बाद प्लानिंग कमेटी सारी समस्या का उसके विस्तार और जटिलता का सिंहावलोकन करती, और ख़ुद अपनी एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार करती और उसके साथ उप-कमेटियों की रिपोर्ट परिशिष्ट की तरह दे दी जाती। असलियत में उपकमेटियों की रिपोर्टों पर ग़ौर करने के दौरान में ही उस आख़िरी रिपोर्ट की शक्ल भी धीरे-धीरे तैयार होती जा रही थी।

कभी-कभी झुंझलाहट पैदा करने वाली देर होती। उसका ख़ास वजह यह थी कि उप-कमेटियां उस वक़्त की पाबंदी नहीं करती थीं जो उन्हें दिया जाता था, लेकिन कुल मिलाकर हमने काफ़ी तरक्क़ी की और बहुत काफ़ी काम पूरा कर लिया। शिक्षा के सिलसिले में दो दिलचस्प बातें तै हुईं। हमने इस बात की सलाह दी कि शिक्षा की हर सीढ़ी के लिए लड़कों और लड़कियों के शारीरिक स्वास्थ्य का एक मापदंड ज़रूर तै हो, और सबकी तंदुरुस्ती कम-से-कम उतनी तो हो। साथ ही हमने इस बात की भी सलाह दी कि अठारह और बाईस बरस की उम्र के बीच में हर नौजवान लड़के या लड़की को एक साल तक सामाजिक या श्रमिक सेवा अनिवार्य रूप से करने की प्रणाली हो ताकि वह राष्ट्रीय उपयोगिता, खेती, उद्योग और सार्वजनिक उपयोगिता के काम में अपना हिस्सा अदा कर सके। यह काम सबके लिए लाज़िमी होता, और इसमें सिर्फ़ उन्हीं को छूट मिलती जो शारीरिक या मानसिक रूप से इसके लिए अयोग्य होते।

जब सितंबर १९३९ में दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ तो यह सलाह दी गई कि नेशनल प्लानिंग कमेटी को अपना काम स्थगित कर देना चाहिए।

नवंबर में सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़ा दे दिया और इससे हमारी परेशानी और भी बढ़ गई, क्योंकि सूबों में गवर्नरों के सर्वेसर्वा हो जाने पर हमारे काम में कोई दिलचस्पी नहीं ली गई। व्यवसायी, लड़ाई की जरूरत की चीज़ों से रुपया बनाने में पहले कभी के मुक़ाबले अब ज्यादा व्यस्त हो गए, और उनकी दिलचस्पी योजना-निर्माण में उतनी नहीं थी जितनी कि रुपया बनाने में। हालत दिन-ब-दिन बदलती जा रही थी। जो भी हो हमने काम को जारी रखना तै किया और ऐसा महसूस किया कि लड़ाई के लिहाज़ से यह और भी ज्यादा ज़रूरी था। लड़ाई की वजह से औद्योगीकरण ज़रूर बढ़ता, और जो काम हम कर चुके थे या कर रहे थे उससे इस प्रक्रिया में बहुत मदद मिल सकती थी। उस वक़्त हम इंजीनियरिंग उद्योग, यातायात, कैमिकल उद्योग आदि से ताल्लुक़ रखने वाली उप-कमेटियों की रिपोर्टों पर ग़ौर कर रहे थे, और इन सब उद्योगों की लड़ाई के लिए सबसे ज्यादा अहमियत थी। लेकिन सरकार की हमारे काम में दिलचस्पी नहीं थी, बल्कि असलियत में वह तो उसके बहुत ख़िलाफ़ थी। लड़ाई के शुरू के महीनों में उसकी नीति हिंदुस्तानी उद्योग को प्रोत्साहन देने की नहीं थी। बाद में घटनाओं ने उसको अपनी ज़रूरत की चीज़ें हिंदुस्तान से ख़रीदने के लिए मजबूर किया, लेकिन इतने पर भी वह इसके ख़िलाफ़ थी कि हिंदुस्तान में कोई भी बड़ा बुनियादी उद्योग चालू किया जाय। उसकी ग़ैर-रज़ामंदी के मानी थे रुकावटों का आना, क्योंकि बिना सरकारी मंजूरी के कोई भी मशीन बाहर से मंगाई नहीं जा सकती थी।

प्लानिंग कमेटी ने अपना काम जारी रखा, और उप-कमेटियों की रिपोर्टों पर विवेचन का काम उसने क़रीब-क़रीब ख़त्म कर लिया। जो कुछ काम बाक़ी बच रहा था, हम उसको ख़त्म करके अपनी विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने के काम को हाथ में लेते। लेकिन अक्टूबर १९४० में मुझे गिरफ़्तार किया गया, और एक लंबी मियाद के लिए जेल भेज दिया गया। मुझे इस बात की फ़िक्र थी कि प्लानिंग कमेटी का काम जारी रहे और मैंने अपने उन साथियों से जो बाहर थे काम को जारी रखने की प्रार्थना की। मैंने इस बात की कोशिश की कि प्लानिंग कमेटी के काग़ज़ात और उसकी रिपोर्टें मुझे जेल में मिल जायं, ताकि मैं उनको पढ़कर विस्तृत रिपोर्ट का मसविदा तैयार कर दूं। हिंदुस्तान-सरकार ने दख़ल दिया और रोक दिया। ऐसे काग़ज़ात न तो मुझ तक पहुंचने दिये गए और न इस सिलसिले में मुलाकातों की ही इजाज़त मिली।

इस तरह जिस वक़्त मैंने अपने दिन जेल में बिताये नेशनल प्लानिंग कमेटी मुरझाती रही : वह सारा काम जो हमने किया था, हालांकि अभी वह अधूरा था, फिर भी उससे लड़ाई की तैयारियों में बहुत बड़ा फायदा उठाया

जा सकता था, लेकिन वह हमारे दफ़्तर की दराजों में बंद रहा। दिसंबर १९४१ में मुझे छोड़ा गया और मैं कुछ महीनों के लिए जेल से बाहर रहा लेकिन और लोगों की तरह मेरे लिए भी यह वक़्त बड़ी उलझनों और परेशानियों का था। हर तरह की नई घटनाएं घट चुकी थीं, प्रशांत महासागर में लड़ाई चल रही थी और जब तक कि राजनीतिक हालत बहतर न होती पुराने सूत्रों को इकट्ठा कर प्लानिंग कमेटी के बाक़ी काम को आगे चलाना मुमकिन नहीं था। और तब मैं फिर जेल वापिस आ गया।

७ : कांगरेस और उद्योग-धंधे : बड़े उद्योग बनाम घरेलू उद्योग

गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने बहुत अर्से से ग्रामोद्योगों के फिर से उठाने की, ख़ास तौर से हाथ-कताई और हाथ-बुनाई की हिमायत की थी। वैसे किसी भी वक़्त कांग्रेस बड़े उद्योगों की तरक्क़ी के खिलाफ़ नहीं थी, और धारा-सभा में या दूसरा जगहों पर उसे जब भी मौक़ा मिला, उसने इस रुझान को प्रोत्साहन दिया। सूबों की कांग्रेसी सरकारें भी ऐसा करने के लिए उत्सुक थीं। सन् १९१० और १९२० के बीच, जिस वक़्त टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स मुसीबत में था, बहुत हद तक केंद्रीय असेंबली में पार्टी के ज़ोर देन की वजह से संकट-पूर्ण समय को पार करने के लिए सरकारा मदद दी गई। हिंदुस्तान में जहाज़ों के बनाने और हिंदुस्तानियों द्वारा समुद्री यातायात की तरक्क़ी का एक ऐसा मामला था जिस पर राष्ट्रीय मत और सरकार में झगड़ा होता रहता था। और हिंदुस्तानी मतों की तरह कांग्रेस भी इस बात के लिए उत्सुक थी कि जहाज़ बनाने के हिंदुस्तानी कार-बार को हर तरह की मदद दी जाय; सरकार भी उतनी ही तुली हुई थी कि बड़ी-बड़ी ब्रिटिश जहाज़ी कंपनियों के स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त की जाय। इस तरह सरकारी भद-भाव की नीति का वजह से हिंदुस्तानी जहाज़ी कार-बार बढ़ने से रोका गया; वैसे हिंदुस्तानी जहाज़ी कार-बार के पास पूंजी भी थी, और साथ ही इंतज़ाम करने की सामर्थ्य और टेकनीकल योग्यता भी थी। जब कभी किसी ब्रिटिश औद्योगिक, व्यावसायिक और आर्थिक हित का सवाल होता, इस तरह का भेद-भाव बराबर बरता जाता।

उस बड़ी संयुक्त संस्था, इम्पीरियल कैमिकल इंडस्ट्रीज़, का हिंदुस्तानी उद्योग को चोट पहुंचाते हुए भी हमेशा पक्षपात किया गया है। कुछ बरस पहले उसको पंजाब के खनिज पदार्थों का और दूसरी चाज़ों का फ़ायदा उठाने के लिए एक लंबे अर्से का पट्टा दिया गया था। जहां तक मुझे पता है इस पट्टे की शर्तें ज़ाहिर नहीं की गई थीं, शायद इस वजह से कि 'सार्वजनिक हित' के लिए उनको न ज़ाहिर करना ठीक समझा गया।

प्रांतीय कांग्रेसी सरकारें पॉवर-एलकोहल का उद्योग चालू करने के लिए उत्सुक थीं। कई नज़र से यह ज़रूरी था लेकिन सयुक्त प्रांत और बिहार में एक वजह और था। वहां पर चीनी के बहुत से कारख़ाने थे और उनमें चीनी बनाने के सिलसिले में बहुत बड़े पैमाने पर शीरा बनता था, जो बिलकुल बेकार जाता था। यह तजवीज़ हुई कि पावर-एलकोहल तैयार करने के लिए इसका फ़ायदा उठाया जाय। उसका तरीका भी आसान था और सिर्फ़ इस बात को छोड़कर कि शैल एण्ड बर्मा ऑयल कंपनी के हितों पर असर पड़ता, और कोई मुश्किल भी नहीं थी। हिंदुस्तान-सरकार ने इन हितों की हिमायत की और पॉवर-एलकोहल तैयार करने की इजाजत देने से इंकार कर दिया। मौजूदा लड़ाई के तीसरे साल में, जब बर्मा कब्ज़े से निकल गया, और वहां से तेल और पेट्रौल मिलना बंद हो गया तो सरकार को यह समझ आई कि पॉवर-एलकोहल ज़रूरी चीज़ थी, और उसको हिंदुस्तान में तैयार करना चाहिए। अमेरिकन ग्रेडी कमेटी ने १९४२ में इस पर बहुत ज्यादा ज़ोर दिया।

इस तरह कांग्रेस हमेशा ही हिंदुस्तान के औद्योगीकरण की हामी रही है और साथ ही वह घरेलू धंधों की तरक्क़ी की भी तरफ़दार रही है और उसके लिए उसने काम किया है। क्या इस नीति में कोई उलटापन है? शायद महत्त्व देने में अंतर है, और उसमें उन इंसानी और आर्थिक बातों का भी ख़याल रखा गया है, जिन्हें हिंदुस्तान में पहले नज़र-अंदाज़ कर दिया गया था। हिंदुस्तानी उद्योगपति और उनका समर्थन करने वाले राजनीतिज्ञ उन्नीसवीं सदी के यूरोप के पूंजीवादी उद्योग की तरक्क़ी के ढंग पर सोचते थे और उन्होंने उन बुरे नतीज़ों को, जो बीसवीं सदी में बिलकुल साफ़ शक्ल में सामने आए, भुला दिया। हिंदुस्तान में, जहां कि स्वाभाविक प्रगति १०० साल से रोक दी गई थी, ये बुरे नतीजे और भी ज्यादा सामने आते। जिस ढंग के बीच के पैमाने के उद्योग, हिंदुस्तान में चालू हो रहे थे, उनकी वजह से मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में मज़दूरों की खपत नहीं हो रही थी, बल्कि बेकारी बढ़ रही थी। जहां एक सिरे पर तो पूंजी इकट्ठी होती जा रही थी, दूसरे सिरे पर ग़रीबी और बेकारी बढ़ रही थी। किसी दूसरे ढांचे में, बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों पर ज़ोर देकर, जिनमें मज़दूरों की खपत हो, और क़ायदे के साथ अमली नक़्शा बनाकर, इन बुराइयों से बचा जा सकता था।

आम जनता की बढ़ती हुई ग़रीबी से गांधीजी पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। मेरा ऐसा ख़याल है कि यह सच है कि कुल मिलाकर उनके ज़िंदगी के नज़रिए में और उसमें जिसको आधुनिक नज़रिया कहा जाता है एक बुनियादी फ़र्क़ है। आध्यात्मिक और नैतिक चीज़ों पर चोट पहुंचाकर विलास की

चीज़ों की बढ़ती और दिन-ब-दिन बढ़ने वाले रहन-सहन की तरफ़ वे आकर्षित नहीं होते। आराम की ज़िंदगी के वे पक्ष में नहीं हैं; उनके लिए जो सीधा रास्ता है वह मेहनत का है; और विलास-प्रियता से विकृति होती है और गुणों का क्षय होता है। सबसे बड़ी बात यह है कि अमीरों और ग़रीबों के बीच में, उनके रहन-सहन के ढंग में और विकास के मौक़ों में जो बहुत बड़ी खाई है, उससे गांधी जी के दिल को बहुत चोट पहुंचती है। अपने निजी और मनोवैज्ञानिक संतोष के लिए उन्होंने उस खाई को पार किया, और ग़रीबों की तरफ़ चले गए, और सुधार की ऐसी चीज़ों को अपने काम में लाये जो ख़ुद ग़रीबों की बिसात के भीतर थीं--उन्हीं का जैसा रहने-सहने का ढंग, उन्ही की-सी पोशाक या उन्ही की तरह अधढकापन! थोड़े से अमीरों और ग़रीब जनता में जो बहुत बड़ा फ़र्क़ था उसकी उन्हें दो ख़ास वजहें मालूम हुई: विदेशी राज्य और उसके साथ होने वाला शोषण, और पच्छिम की पूजीवादी औद्योगिक सभ्यता, जिसकी प्रतीक बड़ी मशीनें थी। दोनों के ही ख़िलाफ़ उनकी प्रतिक्रिया हुई। उन्हें बड़े लालच के साथ गुज़रे ज़माने के वे दिन याद आए जब स्वाधीन और बहुत हद तक स्वयं-पर्याप्त ग्रामीण समुदाय थे, जहां अपने ही आप उत्पादन, विभाजन और उपभोग में संतुलन था, जहां राजनीतिक और आर्थिक सत्ता फैली हुई थी, और आजकल की तरह केंद्रित नहीं थी; जहां एक सादा लोक-तंत्र था; जहां ग़रीब और अमीर के बीच में बड़ी खाई नहीं थी; जहां बड़े शहरों की बुराइयां नहीं थीं, और लोग जीवन देने वाली ज़मीन के संपर्क में रहते थे और खुली जगह में ताज़ी और साफ़ हवा की सांस लेते थे।

गांधी जी में और दूसरे लोगों में जीवन के मानों के बारे में ही यह सब बुनियादी फ़र्क़ था, और यही फ़र्क़ उनकी भाषा में और उनके काम-काज में ज़ाहिर था। उनकी भाषा साफ़ और ज़ोरदार थी और उसकी प्रेरणा ख़ासतौर से हिंदुस्तान की, लेकिन साथ ही दूसरे देशों की भी, प्राचीन नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं में थी। नैतिक मूल्य बराबर बना रहना चाहिए; उद्देश्य अनुचित साधनों को न्याय नहीं बना सकता; नहीं तो व्यक्ति और जाति मिट जाती हैं।

और फिर भी वह कोई स्वप्न देखने वाले आदमी नहीं थे जिनका ध्यान किसी काल्पनिक छाया-चित्र में हो और जो ज़िंदगी और उसकी समस्याओं से अलग हो। वे गुजरात के रहने वाले थे, जहां कि ऊंचे दर्जे के व्यापारियों का घर है। हिंदुस्तानी गांवों की और वहां की ज़िंदगी की हालत की उनको अद्वितीय जानकारी थी। अपने उस निजी तजुर्बे से ही उन्होंने चर्खे और ग्रामोद्योग का अपना कार्य-क्रम तैयार किया। अगर बेकार और अध-बेकार लोगों की बहुत बड़ी तादाद को फौरन ही कुछ राहत पहुंचानी थी, अगर उस सड़ांध को,

जो सारे हिंदुस्तान में फैल रही थी और जनता को निकम्मी बना रही थी, रोकना था, अगर गांव वालों के रहन-सहन के दर्जे को सार्वजनिक रूप से उठाना था, अगर बेबसों का तरह दूसरों का मुंह ताकने की जगह, उन्हें आत्म-निर्भरता सिखाना थी और अगर इस सबको थोड़ी-सी ही पूंजी के सहारे करना था तो और कोई रास्ता नहीं था। विदेशा राज्य की जन्म-जात बुराइयों और शोषण के अलावा, और सुधार की बड़ी योजनाओं को शुरू और कारगर करने की आज़ादी के अभाव में, जो हिंदुस्तान के सामने मसला था वह यह था कि पूंजी कम थी और श्रम की बहुतायत थी। उस निरर्थक श्रम को, उस जन-शक्ति को, जा कुछ भी उत्पादन नहीं कर रही थी, किस तरह काम में लाया जाय। जन-शक्ति में और यंत्र-शक्ति में तुलना करने की बेवकूफ़ी की जाती है; यह ठीक है कि एक बड़ी मशीन हज़ारों आदमियों का काम कर सकती है। लेकिन अगर वे दस हज़ार व्यक्ति बेकार बैठे रहें और भूखों मरें तो उस मशीन का इस्तैमाल सामाजिक हित में नहीं है। वह तो सिर्फ़ उस व्यापक दृष्टिकोण में ही संभव होगा, जिसमें खुद सामाजिक हालतों में रद्दो-बदल होना ज़रूरी है। जब वहां बड़ी मशीन बिलकुल है ही नहीं तो तुलना का कोई सवाल ही नहीं उठता; व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों ही नज़र से उत्पादन के लिए जन-शक्ति का इस्तैमाल एक निश्चित लाभ है। इसमें और बड़े-से-बड़े पैमाने पर मशीनों का इस्तैमाल करने में, कोई अनिवार्य संघर्ष नहीं है। बस उसके लिए ज़रूरी बात सिर्फ़ यही है कि मशीन के इस्तैमाल में पहला उद्देश्य श्रम को खपाने के लिए हो न कि बेकारी बढ़ाने के लिए।

परिश्रम के छोटे लेकिन उद्योग की दृष्टि से बहुत बढ़े-चढ़े देशों का या उन बड़े देशों का जिनकी आबादी बहुत कम और छितरो हुई है, मसलन, अमेरिका और रूस का हिंदुस्तान से मिलान करना, ग़लतफ़हमी पैदा करता है। पच्छिमी यूरोप में औद्योगीकरण सौ साल से चालू रहा है, और धीरे-धीरे वहां की आबादी ने उससे अपना मेल बिठा लिया है; आबादी पहले तो बड़ी तेज़ी से बढ़ी, फिर उसकी तरक्क़ी रुक गई और अब घट रही है। अमेरिका और रूस मे विस्तृत प्रदेश है, जिनमें थोड़ी लेकिन बढ़ती हुई आबादी है। वहां खेती के लिए ज़मीन का फ़ायदा उठाने के लिए ट्रैक्टर बिलकुल ज़रूरी हैं। लेकिन गंगा नदी के घने बसे हुए प्रदेश में भी ट्रैक्टर की उतनी ही ज़रूरत है, यह बात ज़ाहिर नहीं होता, और कम-से-कम उस वक़्त तक तो यह सच है ही जब तक कि बहुत बड़ी तादाद में आबादी गुज़र के लिए ज़मीन का सहारा लेती है। दूसरे मसले भी उसी तरह सामने आते हैं, जैसे वह अमेरिका में सामने आए है। हिंदुस्तान में हज़ारों वर्षों से खेती होती आई है, और ज़मीन का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया गया है। क्या ट्रैक्टर की मदद से ज़मीन को ज्यादा

गहरा जोतने से यह ज़मीन कमज़ोर और ख़राब होगी ? जब हिंदुस्तान में रेलें बनीं और उनके लिए ऊंचे बांध बनाये गए तो देश के स्वाभाविक ढाल पर कोई ध्यान नहीं दिया गया । इन बांधों ने स्वाभाविक बहाव में दख़ल दिया है और उसका नतीजा यह हुआ है कि बार-बार बढ़ी-चढ़ी बाढ़े आई हैं, ज़मीन में खादर होगए हैं, और मलेरिया फैल गया है ।

मैं तो ट्रैक्टर और बड़ी मशीनों का बिलकुल तरफ़दार हूं और मेरा यह पक्का यक़ीन है कि धरती का भार घटाने के लिए हिंदुस्तान का तेज़ी से औद्योगीकरण ज़रूरी है । साथ ही ग़रीबी का मुक़ाबला करने के लिए रहन-सहन की हैसियत को उठाने के लिए, हिफ़ाज़त के लिए, और बहुत से दूसरे कामों के लिए यह औद्योगीकरण ज़रूरी है । लेकिन मुझे इस बात में भी इतना ही पक्का यकीन है कि अगर हमको औद्योगीकरण का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाना है, और उसके बहुत से ख़तरों से बचना है, तो हमको बड़ी सावधानी के साथ योजना-बद्ध होकर चलना होगा । उन सब देशों में जहां तरक्क़ी रुक गई है, मसलन चीन और हिंदुस्तान में, जिनमें अपनी निजी मज़बूत परंपराएं हैं, ऐसा योजना-निर्माण बहुत ज़रूरी है ।

मैं चीन के इंडस्को आंदोलन से, जिसमें उद्योग सहयोग संस्थाओं के हाथों में है, बहुत आकर्षित हुआ, और मुझे ऐसा लगता है कि कुछ ऐसा ही ढंग का आंदोलन हिंदुस्तान के लिए भी ख़ास तौर से मुनासिब होगा । वह हिंदुस्तानी पृष्ठभूमि के अनुरूप होगा, छोटे उद्योगों की बुनियाद लोकतंत्री होगी, और उसमें सहयोग की आदत बढ़ेगी । बड़े उद्योग में भी उसका फ़ायदे के साथ इस्तैमाल किया जा सकता है । यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान में बड़े उद्योग की वृद्धि कितनी ही तेज़ी से क्यों न हो, छोटे और घरेलू धंधों के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र बराबर खुला रहेगा । ख़ुद सोवियत् रूस में मालिक-उत्पादक सहयोग-संस्थाओं ने भी औद्योगिक बढ़वार में एक अहम हिस्सा लिया है ।

छोटे कार-बार में, बिजली की ताक़त के इस्तैमाल से उसकी तरक्क़ी में आसानी होती है, और वह ऐसी आर्थिक स्थिति में आ सकती है, कि बड़े पैमाने के उद्योगों से मुक़ाबला कर सके । विकेंद्रीकरण के पक्ष में अब लोग झुक रहे हैं, यहा तक कि हैनरी फ़ोर्ड भी उसके पक्ष मे हैं । वैज्ञानिक भी उन मनोवैज्ञानिक और जीव-विज्ञान संबंधी ख़तरों की तरफ़ इशारा करते हैं, जो बड़े कार-बारी शहरों की ज़िंदगी में ज़मीन से नाता छूट जाने पर पैदा होते हैं । कुछ लोगों ने तो यहां तक कहा है कि मानव अस्तित्व के लिए यह ज़रूरी है कि फिर ज़मीन और गांव से नाता जोड़ा जाय । ख़ुश किस्मती से आज विज्ञान ने यह मुमकिन कर दिया है कि आबादी फैली हुई रहे और

ज़मीन के संपर्क में हो, और साथ ही वह आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की सारी सुविधाओं का फ़ायदा उठा सके।

जो भी हो पिछले बीसियों बरसों में हिंदुस्तान में हमारे सामने जो समस्या रही है वह यह है कि मौजूदा परिस्थितियों में, विदेशी राज्य और उससे उत्पन्न स्थापित स्वार्थों की वजह से सीमित होते हुए भी हम किस तरह जनता की ग़रीबी कम कर सकते हैं और उसमें आत्म-निर्भरता की भावना भर सकते हैं? वैसे तो हमेशा घरेलू धंधों को बढ़ाने के पक्ष में बहुत-सी दलीलें हैं लेकिन जिस विशेष स्थिति मे हम थे उसमें निश्चित रूप से वही सबसे ज्यादा कारगर चीज़ थी। जिन रास्तों को अपनाया गया, ऐसा हो सकता है, वे सबसे ज़्यादा मौज़ूं न हों। समस्या बड़ी थी, मुश्किलें थीं, उलझनें थीं और हमको अक्सर, सरकारी दमन का सामना करना पड़ता था। हमको धीरे-धीरे तजुर्बे और ग़लती करके सीखना होता था। मेरा ऐसा खयाल है कि हमको सहयोग-संस्थाओं को शुरू से ही प्रोत्साहन देना चाहिए था, और घर और गांव के लिए उपयुक्त छोटी मशीन के सुधार के लिए विशेषज्ञों की टेकनीकल और वैज्ञानिक जानकारी का इस्तैमाल करना चाहिए था। अब इन संस्थाओं में सहयोग-सिद्धांत लागू किया जा रहा है।

अर्थ-शास्त्री जी. डी. एच. कोल ने कहा है कि, 'खद्दर-उद्योग को बढ़ाने का गांधीजी का आंदोलन, किसी शौकीन तबियत आदमी का गुज़रे हुए जमाने को लौटा लाने के लिए सिर्फ़ एक खिलवाड़ नहीं है, बल्कि गांव की हालत को सुधारने और ग़रीबी को दूर करने के लिए एक अमली कोशिश है।' बेशक यही बात थी, बल्कि उससे भी कुछ ज़्यादा। उस योजना ने हिंदुस्तान को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि ग़रीब किसान भी इंसान हैं, उसने हिंदुस्तान को यह महसूस कराया, कि थोड़े से शहरों की जगमगाहट के पीछे ग़रीबी और तक़लीफ़ की कीचड़ थी, और इससे लोग इस बुनियादी सचाई को जान पाए, कि हिंदुस्तान की आज़ादी और तरक्क़ी की सच्ची कसौटी, कुछ करोड़पतियों के या समृद्धिशाली वकीलों के या ऐसे ही लोगों के बनने में नहीं थी और न वह कौंसिल या असेंबली बना देने में थी, बल्कि वह किसान की ज़िंदगी की हालत और हैसियत बदल देने में थी। अंग्रेजों ने हिंदुस्तान मे एक नई जमात या जाति पैदा कर दी थी, और वह थी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की जमात, जो अपनी निजी दुनिया में रहती थी, आम जनता से अलहदा थी और जो हमेशा ही, यहां तक कि विरोध के मौक़ों पर भी अपने शासकों के मुंह की तरफ़ देखती थी। गांधीजी ने कुछ हद तक उस खाई को पाटा, और उनको अपनी दिशा बदलकर अपनी निजी जनता की तरफ़ देखने को मजबूर किया।

मशीन के इस्तैमाल के सिलसिले में गांधीजी का रुख धीरे-धीरे बद-

लता हुआ मालूम दिया। उन्होंने कहा, 'जिस चीज़ के मैं खिलाफ़ हूं वह है मशीन के लिए पागलपन; खुद मशीन के मैं खिलाफ़ नहीं हूं।' 'अगर गांव के हर घर में बिजली हो, और अगर गांव वाले अपने औज़ारों को बिजली से चलाएं तो उसमें मुझे कोई एतराज़ नहीं होगा।' कम-से-कम वर्तमान परिस्थितियों में, उनके लिहाज़ से, बड़ी मशान से लाज़िमी तौर पर ताक़त और दौलत का केंद्रीकरण होता था। 'मैं इसे एक पाप और अन्याय समझता हूं कि कुछ थोड़े में लोगों के हाथों में ताक़त और दौलत के केंद्रीकरण के लिए मशीन का इस्तैमाल किया जाय। आज मशीन का इस्तैमाल, इसलिए होता है।' कई किस्म के बड़े उद्योगों, वड़े पैमाने पर बुनियादी उद्योगों, और सार्वजनिक उपयोगिताओं की ज़रूरत को भी उन्होंने मंज़ूर कर लिया। लेकिन इसके बारे में उनकी शर्त यह ज़रूर थी कि उन पर सरकारी कब्ज़ा हो, और ये धंधे उन घरेलू धंधों में दखल न दें जिनको वे ज़रूरी समझते थे। अपनी तजवीज़ों के बारे में ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा : 'अगर इस कार्य-क्रम को आर्थिक बराबरी की ठोस बनियाद पर नहीं खड़ा किया गया तो वह बालू पर बनी इमारत की तरह होगा।

इस तरह घरेलू और छोटे धंधों के उत्साही पक्षपाती भी इस बात को मानते हैं कि कुछ हद तक बड़े पैमाने का उद्योग ज़रूरी और लाज़िमी है। बस, इतनी बात ज़रूर है कि जहां तक मुमकिन हो वह इसको सीमित कर देना चाहेंगे। इस तरह सवाल मोटे तौर पर यह रह जाता है कि इन दो तरीक़ों में किसे ज़्यादा अहमियत दी जाय और किस तरह दोनों में समतौल क़ायम किया जाय। इस बात के शायद ही कोई खिलाफ़ हो कि मौजूदा दुनिया के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय अंतर्निर्भरता के ढांचे में भी कोई देश तबतक राजनीतिक और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकता, जबतक कि उसके उद्योग-धंधे खूब बढे हुए न हों, और जबतक उसके शक्ति-स्रोत पूरी-पूरी तरह विकसित न हों। जीवन के क़रीब-क़रीब हर क्षेत्र में, आधुनिक औद्योगिक हुनर के बिना वह देश रहन-सहन के ऊंचे मापदंड पर न तो पहुंच ही सकता है और न उस मापदंड को बनाये रख सकता है, और न ग़रीबी को मिटा सकता है। उद्योगों में पिछड़े हुए देश से दुनिया का संतुलन बराबर बिगड़ता रहेगा और दूसरे उन्नत देशों की आक्रामक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। अगर राजनीतिक आज़ादी हुई तो वह सिर्फ़ नाम के लिए होगी और आर्थिक नियंत्रण धीरे-धीरे दूसरों के हाथों में चला जायगा। इस नियंत्रण से खुद उसकी छोटे पैमाने की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ जायगी, जिसको अपनी ज़िंदगी के नज़रिए के माफ़िक बनाये रखने की उसने कोशिश की थी। इस तरह घरेलू और छोटे उद्योग-धंधों की बुनियाद पर किसी देश की अर्थ-व्यवस्था बनाने की कोशिश कामयाब नहीं हो

सकती। देश के बुनियादी मसलों को न तो वह हल कर सकती है, और न आज़ादी को क़ायम रख सकती है, और सिवाय एक नौ-आबादी की शक्ल में, उसका दुनिया के ढांचे में मेल भी नहीं बैठ सकता।

क्या किसी देश में बिलकुल दो ढंग की अर्थ-व्यवस्था मुमकिन है—एक वह जिसकी बुनियाद बड़ी मशीन और औद्योगीकरण पर हो और दूसरी वह जिसमें घरेलू धंधों की प्रधानता हो? यह बात मुमकिन नहीं मालूम देती, क्योंकि उनमें से किसी एक की जीत होगी, और इसमें कोई शक नहीं है कि जीत बड़ी मशीन की होगी। हां, अगर उसे ज़बर्दस्ती रोक दिया जाय तो बात दूसरी है। इस तरह यह दो ढंग के उत्पादन और दो ढंग की अर्थ-व्यवस्था के समतौल का सवाल नहीं है। उनमें एक की प्रधानता और महत्ता होगी और उसमें जहां मुमकिन होगा पूरक की तरह दूसरी जुड़ी होगा। वह अर्थ-व्यवस्था जिसकी बुनियाद नई-से-नई टेकनीकल जानकारी पर होगी, लाज़िमी तौर पर आधिपत्य उसी का होगा। अगर औद्योगिक हुनर के लिहाज़ से आजकल की तरह बड़ी मशीन की ज़रूरत हो तो उसकी सारी ज़िम्मेदारियों के साथ बड़ी मशीन को अपना लेना चाहिए। उस हुनर के लिहाज़ से जहां कहीं उत्पादन में विकेंद्रीकरण मुमकिन हो, वहां वह वांछनीय होगा। लेकिन हर सूरत म नये-से-नये चलन को बनाये रखना होगा, क्योंकि उत्पादन के बीते हुए और पुराने ढर्रों से चिपके रहने पर (सिवाय किसी ख़ास वजह से और वह भी अस्थायी रूप से ही) तरक्क़ी रुक जायगी।

छोटे और बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों के अपने गुणों के बारे में कोई दलील देना अब ख़ास तौर से बेमानी मालूम देता है, जब कि दुनिया ने और उसके सामने आने वाली हालत की प्रधान सचाइयों ने बड़े धंधों के पक्ष में फ़ैसला दे दिया है। ख़ुद हिंदुस्तान में भी इन्हीं सचाइयों की वजह से फ़ैसला हो गया है, और किसी को इसमें शक नहीं है कि नज़दीक भविष्य में हिंदुस्तान में तेज़ी से औद्योगीकरण होगा। उस दिशा में हिंदुस्तान ख़ुद काफ़ी आगे जा चुका है। बिना नियंत्रण और योजना-निर्माण के औद्योगाकरण की बुराइयां अब मानी जाती हैं। ये बुराइयां बड़े उद्योग के साथ लाज़िमी तौर से लगी हुई हैं, या ये सामाजिक और आर्थिक ढांचे की वजह से हैं, यह एक दूसरी बात है। अगर उनकी ज़िम्मेदारी आर्थिक ढांचे पर ही है तो निश्चय ही हमको उस ढांचे को बदलने की कोशिश करनी चाहिए, न कि हम उस पद्धति के वांछनीय और लाज़िमी नतीजों को दोष दें।

असली सवाल यह नहीं है कि दो मुख़्तलिफ़ तत्वों और पैदावार के तरीक़ों के बीच मिक़दार का समतौल किया जाय, बल्कि यह कि एक नये तरीक़े को कसे अख़्तियार किया जाय, जिसके कि अनेक सामाजिक नतीजे हो सकते हैं।

इस प्रकारात्मक परिवर्तन के आर्थिक और राजनीतिक पहलू महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू भी उतने हा महत्त्वपूर्ण हैं। खास तौर से हिंदुस्तान में जहां हम सोच-विचार और काम-काज के पुराने तरीक़ों से बहुत अर्से से बंधे रहे ह, नये तजुर्बे और नई प्रक्रियाएं, जो नये विचारों और नये क्षितिज की तरफ़ ले जावें, ज़रूरी हैं। इस तरह हम अपने जीवन के गति-हीन स्वभाव को बदल देंगे और उसको गतिशील और सजीव बना देंगे, और हमारे मस्तिष्क क्रियाशील और साहसपूर्ण हो जावेंगे। जब दिमाग़ को मजबूरी तौर पर नई हालतों का सामना करना पड़ता है, तो नये तजुर्बे होते हैं।

अब यह बात आम तौर पर मानी जाती है कि बच्चों की शिक्षा का किसी दस्तकारी या हाथ के काम से क़रीबी ताल्लुक़ होना चाहिए। उससे दिमाग़ को उत्तेजना मिलती है और दिमाग़ के और हाथ के काम में समतोल पैदा होता है। उसी तरह मशीन से भी बढ़ती उम्र में लड़के या लड़की के दिमाग़ को उत्तेजना मिलती है। मशीन से वास्ता पड़ने पर वह विकसित होता है (हां उचित व्यवस्था के ही अंदर न कि उस हालत में जब कि कारखाने में दुखी मज़दूर की तरह उसे पीसा जाता है) और नया क्षिनिज सामने आता है। मामूली वैज्ञानिक प्रयोग जैसे अन्वीक्षण यंत्र से देखना और प्रकृति की साधारण-सी प्रक्रिया की व्याख्या से एक तरह की उत्तेजना आती है, ज़िंदगी की किसी प्रक्रिया की समझ आती है और इस बात की ख़्वाहिश जगती है कि पुरानी बातों पर निर्भर रहने की जगह हम ख़ुद तजुर्बे करें और जान-कारी हासिल करें। अपने पर भरोसा करने और सहयोग की भावना की वृद्धि होती है और वह मायूसी, जो पुरानी सड़न से पैदा होता है, कम होती है। ऐसा सभ्यता, जिसकी बुनियाद सदा परिवर्तनशील और प्रगतिशील यांत्रिक पद्धति पर होती है, इसी दिशा में ले चलती है। ऐसी सभ्यता पुराने ढंग से बिलकुल जुदा है और उसका आधुनिक औद्योगीकरण से गहरा ताल्लुक़ है। लाज़िमी तौर से उससे नई समस्याएं और नई परेशानियां सामने आती हैं। लेकिन उसमें उनको पार करने की तरक़ीब का भी पता लगता चलता है।

शिक्षा के साहित्यिक पहलू के लिए मुझमें एक पक्षपात है, और में प्राचीन साहित्य का प्रशंसक हूं। लेकिन मुझे इस बात का विश्वास है कि बच्चों को भौतिक और रासायनिक विज्ञान में और खास तौर से जीव-विज्ञान में प्रारंभिक शिक्षा देना और विज्ञान के उपयोगों की जानकारी करना ज़रूरी है। सिर्फ इसी तरह वे आधुनिक दुनिया को समझ सकते हैं, उसके साथ मेल बिठा सकते हैं और कम-से-कम कुछ हद तक वैज्ञानिक स्वभाव बना सकते

हैं। विज्ञान और आधुनिक औद्योगिक हुनर की ऊंची उपलब्धियों में एक आश्चर्यजनक चीज़ है (निकट भविष्य में ये उपलब्धियां और भी उन्नत हो जायंगी)। उसी तरह वैज्ञानिक यंत्रों के कौशल में, आश्चर्यजनक रूप से कोमल किंतु शक्तिशाली मशीनों में, उस सब में जिसका जन्म विज्ञान की साहसपूर्ण खोज से हुआ है, प्रकृति की प्रक्रियाओं में और कारखाने की आकर्षक झलक में, अपने अनगिनित काम करने वालों के ज़रिए विज्ञान के सुंदर विस्तार में, विचार और व्यवहार के क्षेत्र में, और सबसे अधिक इस बात में कि यह सब मानव-मस्तिष्क की ही देन है, एक आश्चर्य भरा हुआ है।

८ : औद्योगिक तरक्क़ी पर सरकारी रोक : युद्ध के ज़माने का उत्पादन और स्वाभाविक उत्पादन

हिंदुस्तान में भारी उद्योग की नुमाइंदगी टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स जमशेदपुर में होती थी। उस ढंग की कोई और दूसरी चीज़ नहीं थी, और दूसरे इंजीनीयरिंग कारखाने तो असलियत में दुकानें थीं। सरकारी नीति की वजह से खुद टाटा-कार-बार की तरक्क़ी बहुत धीमी हुई थी। पहले महा-युद्ध के दौरान में जब रेल के एंजिनों और डिब्बों की कमी पड़ी थी तो टाटा कार-बार ने एंजिन बनाने का इरादा किया, और मेरा ऐसा ख़याल है कि उसके लिए उन्होंने बाहर से मशीनें तक मंगा लीं। लेकिन जब लड़ाई ख़त्म हुई तो हिंदुस्तान-सरकार और रेलवे बोर्ड ने (जो केंद्रीय सरकार का एक महकमा है), ब्रिटिश एंजिनों को ही लेना तय किया। यह ज़ाहिर है कि उनके लिए ज़ाती तौर पर तो कोई बाज़ार है नहीं क्योंकि रेलों पर या तो सरकारी कब्ज़ा है या ब्रिटिश कंपनियों का; और इसलिए टाटा कंपनी को अपना इरादा छोड़ना पड़ा।

अगर हिंदुस्तान को औद्योगिक ढंग से या दूसरे ढंग से बढ़ना है तो उसकी तीन बुनियादी ज़रूरतें हैं : भारी इंजीनीयरी-धंधे और मशीन बनाने वाले उद्योग-धंधे, वैज्ञानिक खोज की संस्थाएं और बिजली की ताक़त। सारी योजना की बुनियाद इन पर होनी चाहिए, और नेशनल प्लानिंग कमेटी ने उन पर ज़्यादा-से-ज़्यादा ज़ोर दिया। हमारे यहां तीनों की ही कमी थी, और औद्योगिक फैलाव में बराबर रुकावटें थीं। एक प्रगतिशील नीति से ये रुका-वटें तेज़ी से हट सकती हैं, लेकिन सरकारी नीति तो प्रगति के ख़िलाफ़ थी और वह साफ़ तौर से हिंदुस्तान में भारी उद्योग-धंधों की तरक्क़ी को रोकना चाहती थी। उस वक़्त भी जब दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ, बाहर से ज़रूरी मशीनें मंगाने की इजाज़त नहीं दी गई; बाद में जहाज़ी मुश्किलों का बहाना किया गया। हिंदुस्तान में न तो पूंजी की कमी थी और न होशियार

हुनरदार आदमियों की ही कमी थी। सिर्फ़ मशीनों की कमी थी और उद्योग-पति उनके लिए हल्ला मचा रहे थे। अगर बाहर से मशीनें मंगाने का मौक़ा दिया गया होता तो सिर्फ़ हिंदुस्तान की आर्थिक हालत ही बेहद बेहतर नहीं हुई होती, बल्कि सुदूर पूर्व के युद्ध-क्षेत्र का तमाम नक़शा ही बदल गया होता। बहुत-सी चीजें जो बाहर से लाई जाती थीं, और जिनको हवाई जहाज़ से बहुत मुश्किलों में बहुत खर्च करके लाया जाता था, हिंदुस्तान में ही तैयार की जा सकती थीं। चीन और पूर्व के लिए हिंदुस्तान सचमुच ही एक तोपखाना बन गया होता और यहां की औद्योगिक उन्नति कनाडा या आस्ट्रेलिया की उन्नति की बराबरी करती। हालांकि लड़ाई की हालतों की ज़रूरत का अहम ख़याल था, लेकिन हमेशा ही ब्रिटिश उद्योग की भविष्य की ज़रूरतें ध्यान में रखी जाती थीं, और हिंदुस्तान में किसी ऐसे उद्योग को बढ़ाना अच्छा न समझा जाता था, जो युद्ध के बाद के वर्षों में ब्रिटिश उद्योग-धंधों का मुकाबला करे। यह कोई गुप्त नीति नहीं थी ब्रिटिश अख़बारों में उसको आमतौर पर जाहिर किया जाता था और हिंदुस्तान में बराबर उसका विरोध होता था।

टाटा कार-बार के दूरंदेश स्थापक, जमशेद जी टाटा में काफ़ी सूझ थी और उन्होंने बंगलौर में इंडियन इंस्टीटयूट अव् साइंस की शुरुआत की। इस खोज संबंधी संस्था के ढंग का हिंदुस्तान में बहुत ही कम संस्थायें थी। वे दूसरी संस्थायें सरकारी थीं और उनका कार्य-क्षेत्र सीमित था। इस तरह वैज्ञानिक औद्योगिक अन्वेषण के विस्तृत क्षेत्र की, जिसके सिलसिले में अमेरिका और रूस में हजारों संस्थायें, एकेडेमी और विशेष केंद्र हैं, हिंदुस्तान में क़रीब-क़रीब पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई थी। जो कुछ होता था वह सिर्फ़ बंगलौर में या कुछ हद तक विश्वविद्यालयों में। दूसरे महायुद्ध के शुरू होने के कुछ बाद अन्वेषण को प्रोत्साहन देने की कोशिश की गई और हालांकि उसका क्षेत्र सीमित था फिर भी उसके नतीजे अच्छे रहे हैं।

जहां पानी के जहाज और रेल के एंजिन बनाने के काम को निरुत्साहित किया गया, और रोका गया वहां साथ ही मोटरों का एक कारख़ाना चालू करने की कोशिश भी रद्द कर दी गई। दूसरे महायुद्ध के छिड़ने के कुछ बरस पहले इसके लिए तैयारियां शुरू की गई थीं, और एक मशहूर अमेरिकन मोटर बनाने की कंपनी के सहयोग से हर एक इंतज़ाम कर लिया गया था। अलग-अलग तैयार हिस्सों को जोड़कर मोटर बनाने का काम हिंदुस्तान में पहले से ही कई जगहों पर हो रहा था। अब खुद उन हिस्सों को ही हिंदुस्तान में, हिंदुस्तानी पूंजी और इंतज़ाम से, हिंदुस्तानी कारीगरों के ही हाथों, बनाने का इरादा था। उस अमेरिकन संस्था के साथ ऐसा इंतज़ाम कर लिया गया था कि उनकी पेटेंट चीज़ों को काम में लाया जा सकता था, और शुरू में उनकी टेक-

निकल देख-भाल हासिल होती। बंबई के सूबे का सरकार ने, जो उस वक़्त कांग्रेसी मंत्रि-मंडल के हाथों में थी, कितने ही ढंग से मदद देने का वायदा किया। प्लानिंग कमेटी की इस योजना में ख़ास तौर से दिलचस्पी थी। असल में हर एक चीज तै हो चुकी थी और सिर्फ बाहर से मशीनें मंगाना बाक़ी था। भारत-मंत्री ने इसको पसंद नहीं किया और अपना हुक्म मशीनें मंगाने के खिलाफ़ दिया। भारत-मंत्री के लिहाज़ से इस वक़्त इस कार-बार को चालू करने की किसी भी कोशिश से मजदूर और मशीन दोनों ही, जिनकी लड़ाई के लिए खास तौर से ज़रूरत है, बहक जायंगे। यह बात लड़ाई के शुरू के महीनों की है। यह बताया गया कि श्रम की, यहां तक कि कुशल श्रम की, भी बहुतायत थी, बल्कि अस्ल में वह तो काम की तलाश में था। लड़ाई की ज़रूरत भी एक अजीब दलील थी क्योंकि ख़ुद उस ज़रूरत के लिए ही मोटर यातायात की मांग था। लेकिन भारत-मंत्री जो सर्वोच्च अधिकारी थे, और लंदन में बैठे थे, इन दलीलों से प्रभावित नहीं हुए। यह बात भी सुनने में आई कि एक शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वा अमराका मोटर-कारपोरेशन ने, किसी दूसरे की ओर से हिंदुस्तान में मोटर-उद्योग शुरू करने की बात पसंद नहीं की।

हिंदुस्तान में लड़ाई के दौरान में, यातायात की एक अहम समस्या पैदा हो गई। मोटर ठेलों की कमी थी, पैट्रौल की कमी थी, रेल के एंजिनों की, डिब्बों की, यहां तक कि कोयले की भी कमी थी। क़रीब-क़रीब सभी मुश्किलें आसानी से हल होगई होतीं, अगर लड़ाई से पहले के हिंदुस्तान के प्रस्ताव नामंज़ूर न कर दिये गए होते। एंजिन, रेल के डिब्बे, मोटर, ठेले और साथ ही फौलादी गाड़ियां भी हिंदुस्तान में बनतीं। पैट्रौल की कमी से जो परेशानी हुई थी, वह पावर एलकोहल से बहुत हद तक कम हो जाती। जहां तक कोयले का सवाल है हिंदुस्तान में कोई कमी नहीं थी; कोयला बहुत तादाद में था लेकिन इस्तैमाल के लिए बहुत थोड़ा निकाला जाता था। लड़ाई के दौरान में कोयले की ज्यादा मांग के होते हुए भी, उसकी निकासी कम हो गई है। कोयले की खानों में हालतें इतनी खराब थीं और मज़दूरी इतनी कम थी, कि मज़दूरों को इस काम के लिए कोई कशिश न होती थी। आगे चलकर औरतों के लिए ज़मीन के अंदर काम करने पर जो रोक थी, वह हटा ली गई, क्योंकि उसी मज़दूरी पर औरतें काम करन के लिए तैयार थीं। कोयले के उद्योग का ठीक करने और मज़दूरी व हालतों को सुधारने की कोशिश नहीं की गई जिससे कि मजदूरों को आकर्षण होता। कोयले की कमी की वजह से, उद्योग-धंधों की तरक्क़ी को बहुत नुकसान पहुंचा यहां तक कि कुछ मौजूदा कारखानों को अपना काम बंद कर देना पड़ा।

कई सौ एंजिन और कई हज़ार डिब्बे हिंदुस्तान से मध्य-पूर्व भेज दिये

गए, और इस तरह हिंदुस्तान में यातायात की मुश्किलें बढ़ गईं। यहां तक कि, कुछ रास्तों की पटरियां भी उखाड़ कर बाहर भेज दी गईं। आगे के नतीजों पर बिना ध्यान दिये जिस बेलोंसी से यह सब किया गया, उस पर आश्चर्य होता है। योजना और दूरदर्शिता का बिलकुल अभाव था, और एक समस्या के आंशिक हल से फौरन ही दूसरी बड़ी और ज़्यादा गंभीर समस्याएं सामने आती थीं।

सन् १९३९ के आख़िर में या १९४० के शुरू में हिंदुस्तान में हवाई जहाज़ बनाने के उद्योग को शुरू करने की कोशिश की गई। एक अमेरिकन कार-बार के साथ हर एक चाज़ तै कर ली गई और हिंदुस्तान-सरकार और हिंदुस्तान में फ़ौजी प्रधान केंद्र को, उनकी मंज़ूरी के लिए समुद्री तार भेजे गए। कोई जवाब नहीं मिला। कई बार याद दिलाने पर एक जवाब आया और उसमें योजना को नापसंद किया गया। जब जहाज़ इंग्लैंड और अमेरिका से ख़रीदे जा सकते हैं, तो उन्हें हिंदुस्तान में बनाने की क्या ज़रूरत है?

लड़ाई के पहले बहुत-सी दवाइयां जर्मनी से हिंदुस्तान को आती थीं। लड़ाई की वजह से उनका आना बंद हो गया। फ़ौरन ही यह सलाह दी गई कि कुछ ज़्यादा ज़रूरी दवाइयों को हिंदुस्तान में बनाना शुरू कर दिया जाय। कुछ सरकारी संस्थाओं में यह इंतज़ाम आसानी से किया जा सकता था। हिंदुस्तान सरकार ने इसको पसंद नहीं किया, और कहा कि अब हर जरूरी चीज इंपीरियल कैमिकल इंडस्ट्रीज के ज़रिए मिल सकती थी। जब यह सलाह दा गई कि वही चीज हिंदुस्तान में बहुत सस्ते दामों में बन सकती है और उसका आम जनता और फ़ौज में बिना किसी ज़ाती मुनाफ़े के फ़ायदा उठाया जा सकता है तो ऊंचे अधिकारी इस बात पर नाराज़ हुए कि राज-सत्ता की नीति के मामले में ऐसे ओछे ख़यालों से दख़ल दिया गया। यह कहा गया, 'सरकार कोई व्यापारिक संस्था नहीं है।'

सरकार व्यापारिक संस्था तो नहीं थी लेकिन व्यापारिक संस्थाओं में उसकी बहुत ज़्यादा दिलचस्पी थी, और इनमें से एक इंपीरियल कैमिकल इंडस्ट्रीज थी। इस विशाल संस्था को हिंदुस्तान में बहुत-सी सुविधाएं दी गई थीं। बिना सुविधाओं के ही इसके पास इतने ज़्यादा साधन थे कि संभवतः कुछ हद तक टाटा को छोड़कर और कोई भी हिंदुस्तानी कार-बार उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था। इन सुविधाओं के अलावा उसको हिंदुस्तान और इंग्लैंड दोनों ही जगह ऊंचे अधिकारियों की मदद हासिल थी। हिंदुस्तान के वाइसराय का पद छोड़ने के कुछ ही महीनों बाद लार्ड लिनलिथगो इंपीरियल कैमिकल्स के डायरैक्टर की हैसियत से एक नये रूप में सामने आए। इससे हिंदुस्तान की सरकार और इंग्लैंड के बड़े व्यवसाय का क़रीबी रिश्ता ज़ाहिर

हो जाता है, और यह भी कि लाज़िमी तौर पर इसका सरकारी नीति पर क्या असर होगा। शायद उस वक़्त भी जब कि लार्ड लिनलिथगो हिंदुस्तान के वाइसराय थे वे इंपीरियल कैमिकल्स के एक बहुत बड़े हिस्सेदार रहे हों। जो भी हो वाइसराय की हैसियत से उन्हें जो विशेष जानकारी थी, उसे और हिंदुस्तान के रिश्ते की अपनी शान को अब उन्होंने इंपीरियल कैमिकल्स की सेवा के लिए सौंप दिया है।

दिसम्बर १९४२ में वाइसराय की हैसियत से लार्ड लिनलिथगो ने कहा : "हमने सामान देने के सिलसिले में बड़े काम किये हैं। हिंदुस्तान ने एक असाधारण अहमियत और क़ीमत की सहायता दी है।…लड़ाई के पहले छै महीनों में ठेकों का क़ीमत क़रीब २९ करोड़ रुपए थी। १९४२ में अप्रैल से अक्टूबर तक यह १३७ करोड़ रुपए थी। लड़ाई के कुल दौरान में, अक्टूबर १९४२ के आख़िर तक यह ४२८ करोड़ रुपए से भी ज्यादा थी और इन आंकड़ों में उस काम की क़ीमत शामिल नहीं है जो आर्डिनेंस फैक्टरियों में हुआ और जिसका ख़ुद का ही परिमाण बहुत ज्यादा है।" यह बिलकुल सच है और इस कथन के बाद हिंदुस्तान की लड़ाई की तैयारियों में सहायता बेहद बढ़ गई है। इससे ऐसा ख़याल होगा कि औद्योगिक काम में बड़ी भारी तरक़्क़ी हुई है और उत्पादन बहुत बढ़ गया है। फिर भी ताज्जुब की चीज़ यही है कि ज्यादा फ़र्क़ नहीं हुआ। सन् १९३८-३९ में हिंदुस्तान के औद्योगिक काम-काज का माप १११.१ था (सन् १९३५ का माप १०० माना गया है)। सन् १९३९-४० में यह ११४-० था; १९४०-४१ में यह ११२.१ और १२७.० के बीच में घटता-बढ़ता रहा; मार्च १९४२ में यह ११८.९ था; अप्रैल १९४२ में यह गिरकर १०९.२ रह गया और तब फिर जुलाई १९४२ तक बढ़कर ११६.२ हो गया। य आंकड़े पूरे नहीं हैं क्योंकि इनमें कुछ कैमिकल उद्योग और हथियारों (गोरा-बारूद) के उद्योग शामिल नहीं हैं। फिर भी वे महत्त्वपूर्ण हैं।

इससे यह आश्चर्यजनक सचाई जाहिर होती है कि कुछ चीजों (गोला-बारूद) को छोड़कर जुलाई १९४२ में हिंदुस्तान का कुल औद्योगिक काम लड़ाई के पहले के वक़्त से कुछ थोड़ा-सा ही ज्यादा था। दिसंबर १९४१ में कुछ वक़्त के लिए थोड़ा-सा ही चढ़ाव आया, और उस वक़्त माप १२७.० हो गया और फिर घटने लगा। फिर भी उद्योग-धंधों को दिये हुए सरकारी काम की क़ीमत बराबर बढ़ रही थी। पहले छै महीनों में यानी अक्टूबर १९३९ से लेकर मार्च १९४० तक, इसकी क़ीमत २९ करोड़ रुपए थी, और जैसा कि लार्ड लिनलिथगो ने कहा १९४२ में अप्रैल से अक्टूबर तक के छै महीनों में यह १३७ करोड़ थी।

लड़ाई के सिलसिले में इस लंबे-चौड़े काम से कुल औद्योगिक उत्पादन में कोई खास तरक्की नहीं ज़ाहिर होती बल्कि उससे असलियत में इस बात का पता लगता है कि बहुत बड़े पैमाने पर स्वाभाविक उत्पादन की जगह लड़ाई के लिए खास चीज़ों के उत्पादन ने ले ली। उस वक्त उन्होंने लड़ाई की ज़रूरतों को तो ज़रूर पूरा किया, लेकिन उसकी क़ीमत नागरिक आवश्यकताओं के उत्पादन को बेहद घटाकर दी। लाज़िमी तौर पर इसका बहुत गहरा असर हुआ। जिस वक्त लंदन में हिंदुस्तान के पक्ष में स्टलिंग बैलेंस बढ़ा और हिंदुस्तान में थोड़े से लोगों के हाथों में दौलत इकट्ठी हुई, कुल मिलाकर देश, ज़रूरत की चीज़ों के लिए तरसता रहा। देश में काग़ज़ी रुपया चल रहा था और वह दिन-ब-दिन बढ़ रहा था। क़ीमतें बढ़ गईं, और कभी-कभी तो ये इस दर्जे तक पहुंचीं कि उन पर यक़ीन नहीं होता। सन् १९४२ के ही बीच में खाद्य-संकट ज़ाहिर होने लगा। १९३९ के हेमंत में बंगाल में और हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में अकाल ने लाखों जानें लीं; लड़ाई का और सरकारी नीति का बोझ हिंदुस्तान के उन करोड़ों आदमियों पर पड़ा जो उसको उठाने के क़ाबिल न थे और बहुत बड़ी तादाद में लोगों का, कुचले जाने की वजह से, भूखे रहने की वजह से, धीमी रफ़्तार से एक अत्यंत निर्दय ढंग से अस्तित्व ही मिट गया।

जो आंकड़े मैंने दिये हैं वे १९४२ तक के ही हैं। बाद के आंकड़े मुझे उपलब्ध नहीं हैं। शायद तब से बहुत-सी तब्दीलियां हो चुकी हैं और हिंदुस्तान के औद्योगिक काम का माप अब कुछ ज़्यादा हो।[1] लेकिन जो तस्वीर सामने आती है उसका बुनियादी पहलू बदला नहीं है। वही प्रक्रियाएं काम

---

१ लेकिन ऐसा नहीं है। कलकत्ते के 'कैपीटल' ने ९ मार्च १९४४ के अंक में औद्योगिक काम के माप के बारे में ये आंकड़े दिये हैं:—

(१९३५-३६ = १००) १९३८-३९···१११·१
१९३९-४०···११४·०
१९४०-४१···११७·३
१९४१-४२···१२२·७
१९४२-४३···१०८·८
१९४३-४४···१०८·०
जनवरी १९४४···१११·७

इनमें हथियारों का उत्पादन शामिल नहीं है। इस तरह चार साल लड़ाई के बाद कुल मिलाकर औद्योगिक काम-काज लड़ाई के पहले के वक़्त से कुछ कम ही है।

कर रही है, एक के बाद दूसरा संकट पहले की ही तरह सामने आता है, वही पेबंद लगाये जाते हैं, वही अस्थायी इलाज किया जाता है, विस्तृत और योजना-बद्ध दृष्टिकोण की कमी अब भी दिखाई देती है, ब्रिटिश उद्योग-धंधों के वर्तमान और भविष्य के लिए अब भी वही पक्षपात है—और इसी बीच में लोग खाने की कमी से और महामारियों से बराबर मरते जा रहे हैं।

यह सच है कि कुछ मौजूदा उद्योग-धंधे मसलन, सूती कपड़े की मिलें, लोहे और जूट के धंधे बहुत ज्यादा खुशहाल हो गए हैं। उद्योगपतियों में, लड़ाई के ठेकेदारों में, और मुनाफाखोरों में करोड़पतियों की तादाद बढ़ गई है और हिंदुस्तान की ऊपरी सतह के छोटी-सी तादाद के हाथों में बहुत बड़ी रक़में इकट्ठी हो गई हैं, वैसे हालांकि सुपर टैक्स लागू है। लेकिन आम तौर से मजदूरों की जमात को फ़ायदा नहीं हुआ और मज़दूरों के नेता मि० एन० एम० जोशी ने केंद्रीय असबली में यह कहा कि 'लड़ाई के दौरान में हिंदुस्तान में मज़दूरों की हालत बदतर हो गई है। ज़मीन के मालिक और बीच के दर्जे के किसान, ख़ास तौर से पंजाब और सिंध के किसान, खुशहाल हो गए हैं, लेकिन खेतिहर आबादी के ज़्यादातर हिस्से को लड़ाई की वजह से चोट पहुंची है, और उसको काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा है। पैसे की दर घटने से और बढ़ती हुई क़ीमतों की वजह से, आम तौर पर ख़रीदार पिस गये हैं।

सन् १९४२ के बीच में ग्रेडा कमेटी नाम से परिचित अमेरिकन टेकनीकल मिशन हिंदुस्तान आया। हिंदुस्तान के मौजूदा धंधों का निरीक्षण करके वह उत्पादन बढ़ाने की सलाह देने के लिए आया था। स्वाभाविक है उनका केवल युद्ध-उत्पादन से ही ताल्लुक़ था। उनकी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की गई, शायद इस वजह से कि हिंदुस्तान-सरकार ने उसके लिए इजाज़त नहीं दी। हां उनकी कुछ सिफ़ारिशों को ज़रूर ज़ाहिर कर दिया गया। उन्होंने पॉवर एलकोहल तैयार करने की, फ़ौलाद के धंधों को, विद्युत्-उत्पादन को, एल्यूमिनियम और शोधे हुए गंधक के उत्पादन को बढ़ाने की सलाह दी और साथ ही उन्होंने अनेक उद्योगों में समझदारी बरतने की भी सलाह दी। सरकारी मशीन के अलावा और उससे बिलकुल स्वतंत्र रूप में अमरीकी नमून पर उच्च सत्ता द्वारा उत्पादन नियंत्रण की भी उन्होंने सलाह दी। ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान-सरकार के काहिल और फूहड़ ढंग के लिए ग्रेडी कमेटी के दिल में कोई इज्ज़त नहीं हुई। सरकारी ढर्रे पर घमासान लड़ाई का भी कोई ख़ास असर नहीं हुआ था। टाटा स्टील वर्क्स के उस बृहत् संगठन से, जिसका शुरू से आख़िर तक हिंदुस्तानी ही संचालन करते थे, और उस संगठन की कुशलता से, वे, प्रभावित हुए। ग्रेडी कमेटी की प्रारंभिक रिपोर्ट में, आग यह भी कहा गया कि 'मिशन पर हिंदुस्तानी श्रम की ऊंचे दर्जे की सामर्थ्य और उसके बढ़ियापन की अच्छी

छाप पड़ी है। हिंदुस्तानी हाथ के काम में होशियार हैं, और काम करने की हालतों के सुधारने और नौकरों की तरफ़ से बेफ़िक्री होने पर वह और भी ज़्यादा मेहनत कर सकते हैं और उनका भरोसा किया जा सकता है।'[१]

पिछले दो तीन बरसों में हिंदुस्तान में रासायनिक उद्योग बढ़ा है, पानी के जहाज़ बनाने के काम में भी कुछ तरक्क़ी हुई है, और एक छोटा-सा हवाई जहाज़ बनाने का धंधा भी शुरू कर दिया गया है। सुपरटैक्स के होते हुए भी लड़ाई के काम के सारे धंधों ने, जिनमें कपड़े और जूट की मिलें भी शामिल हैं, बहुत मुनाफ़ा उठाया है, और बहुत बड़ी पूंजी इकट्ठा हो गई है। नये औद्योगिक कार-बार के लिए पूंजी लगाने पर हिंदुस्तान-सरकार ने रोक लगा दी है। इधर हाल में इस सिलसिले में कुछ ढील दे दी गई है; हालांकि लड़ाई खत्म होने तक इस सिलसिले में कोई बात निश्चित रूप से नहीं की जा सकती। इस ढील की ही वजह से बड़े व्यापार में शक्ति फटी पड़ती है और लंबी-चौड़ी औद्योगिक योजनाएं बन रही हैं। ऐसा मालूम होता है कि हिंदुस्तान में, जिसकी तरक्क़ी बहुत अर्से से रोक दी गई थी, अब बहुत बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण होने वाला है।

---

१ कमेटी की रिपोर्ट पर आलोचना करते हुए, बंबई के 'कॉमर्स' ने २८ नवंबर १९४२ में लिखा:—यह तथ्य स्पष्ट है कि इस देश में औद्योगिक उन्नति का गला घोंटने के लिए शक्तिशाली स्वार्थ बाहर काम कर रहे हैं ताकि लड़ाई के बाद पच्छिम के कार-बार का पूर्व के कार-बार से मकाबले का ख़तरा न रहे।

: ६ :

आखिरी पहलू (३)

दूसरा महायुद्ध

१ : कांगरेस विदेशी नीति बनाती है

बहुत अर्से तक, हिंदुस्तान की और दूसरी राजनीतिक संस्थाओं की तरह कांग्रेस भी देश की अंदरूनी राजनीति में फंसी रही, और उसने विदेशों की घटनाओं पर बहुत कम ध्यान दिया। सन् १९२० के बाद के सालों में उसने दूसरे देशों के मामलों में कुछ दिलचस्पी लेना शुरू किया। समाजवादियों और कम्युनिस्टों के छोटे दलों के अलावा, ऐसा और किसी संस्था ने नहीं किया। मुसलमान संस्थाओं की दिलचस्पी फ़िलस्तीन में थी और वह कभी-कभी वहां के मुस्लिम अरबों से हमदर्दी रखने वाला प्रस्ताव पास कर देती थी। तुर्क़ी, मिस्र और ईरान की कट्टर राष्ट्रीयता पर उनकी नज़र ज़रूर रहती थी; लेकिन एक डर के साथ, क्योंकि वह राष्ट्रीयता ग़ैर मज़हबी थी, और उसके सबब से कुछ ऐसे सुधार हो रहे थे जो उनकी समझ में इस्लामी प्रथा से पूरी तरह मेल नहीं खा रहे थे। धीरे-धीरे कांग्रेस की विदेशी नीति बनी, जिसकी बुनियाद, सब जगह से राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद को मिटाने, और आज़ाद राष्ट्रों के सहयोग पर थी। यह हिंदुस्तान की आज़ादी की मांग के अनुकूल पड़ती थी। सन् १९२० में ही, कांग्रस ने विदेशी नीति पर प्रस्ताव पास किया, जिसमें दूसरे देशों से मेल-जोल की अपनी इच्छा, और खास तौर पर अपने पड़ौसी देशों से दोस्ताना रिश्ता पैदा करने पर जोर दिया गया था। बाद में दूसरी बड़ी भारी लड़ाई की संभावना पर विचार किया गया, और दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से बारह बरस पहले, १९२७ में कांग्रेस ने पहली बार उस सिलसिले में अपनी नीति ज़ाहिर की।

यह बात हिटलर के ताक़त में आने के पांच या छै बरस पहले, और मंचूरिया में ज़ापानियों का हमला शुरू होने के पहले हुई थी। मुसोलिनी इटली में अपनी जड़ मज़बूत कर रहा था, लेकिन उस वक़्त उससे दुनिया की शांति

को कोई भारी खतरा मालूम होता था। फ़ासिस्ट इटली के इंग्लैंड से दोस्ताना ताल्लुक़ात थे, और ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ इटली के तानाशाह की तारीफ़ करते थे। यूरोप में छोटे-छोटे कई तानाशाह थे और आम तौर पर उनका भी .इंग्लैंड से दोस्ताना व्यवहार था। हां, इंग्लैंड और सोवियत् रूस के बीच पूरा विरोध था; आर्कोस पर छापा मारा जा चुका था और कूटनीतिज्ञ नुमाइंदे वापिस बुला लिये गए थे। लीग अव् नेशंस में, और अंतर्राष्ट्रीय मजदूर ऑफिस में ब्रिटिश और फ्रांसीसी नीति निश्चित रूप से अनुदार थी। निःशस्त्रीकरण के सिलसिले में जो लगातार बहसें हुईं उनमें सभी देश, जो लीग अव् नेशंस के मेंबर थे, और जिनमें संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी था, हवाई बमबाजी को बिलकुल बंद कर देने के पक्ष में थे, लेकिन ब्रिटेन ने कुछ बड़ी शर्तें इसम भी लगा दीं। कितने ही बरसों तक ब्रिटिश सरकार ने ईराक़ के गांवों और क़स्बों पर, हिंदुस्तान में उत्तरी-पच्छिमी सरहद पर, बम बरसान के लिए हवाई जहाज़ इस्तैमाल किये थे। कहा यह जाता था कि यह इस्तैमाल 'पहरा देने या देख-भाल करने' के लिए था। इस अधिकार को बनाये रखने के लिए ज़ोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि लीग में इस सिलसिले में कोई आम समझौता नहीं हुआ और उसी वजह से बाद में निःशस्त्रीकरण कांफ्रेंस में भी।

वाईमार के प्रजातंत्र-विधान का जर्मनी लीग अव् नेशंस का एक मेंबर था, और यूरोप में स्थायी शांति के पूर्व-सूचक के रूप में लोकार्नो का स्वागत किया गया, और ब्रिटिश नीति की जीत समझी गई। इन घटनाओं का एक दूसरा पहलू भी था वह यह कि सोवियत् रूस को अलहदा किया जा रहा था, और यूरोप में उसके खिलाफ़ एक संयुक्त मोरचा कायम किया जा रहा था। रूस ने कुछ ही वक़्त पहले अपनी क्रांति की दसवीं वर्ष-गांठ मनाई थी, और उसने मुख़्तलिफ़ पूर्वी देशों से दोस्ताना रिश्ते जोड़े थे। पर ये देश थे--तुर्की, ईरान, अफ़गानिस्तान और मंगोलिया।

चीनी क्रांति ने भी लंबे डग भरे थे; राष्ट्रवादी फ़ौजों ने आधे चीन पर कब्जा कर लिया था और बंदरगाहों और भीतरी मुक़ामों पर विदेशी ख़ास तौर पर ब्रिटिश हितों से उनका संघर्ष हुआ था। बाद में अंदरूनी झगड़े हुए और कुओमिंटाग प्रतिद्वंद्वी दलों में बंट गया।

इधर दुनिया की स्थिनि बिगड़ कर एक भीषण संघर्ष की ओर बढ़ती जारही थी, जिसमें कि यूरोपीय राष्ट्रों के अगुआ इंग्लैंड और फ्रांस थे, और दूसरी तरफ़ सोवियत् रूस था, जिसके साथ कुछ पूर्वीय क़ौमें थीं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इन दोनों दलों से अलहदा था। रूस से अलग तो वह इसलिए था कि उसे साम्यवाद से बेहद नफ़रत थी; और ब्रिटिश दल से वह इसलिए अलग था कि एक तो उसे ब्रिटिश नीति पर विश्वास नहीं था दूसरे वह ब्रिटिश पूंजी,

उद्योग और धंधों का प्रतिद्वंद्वी था। इसके अलावा अमेरिका के भीतर अलग-अलग रहने की प्रवृत्ति रखने वाला था और उसे डर था कि वह कहीं यूरोप के झगड़ों में न फंस जाय।

ऐसी हालत में, हिंदुस्तानी मत लाज़िमी तौर पर सोवियत् रूस और पूर्वी क़ौमों की तरफदारी में था। इसके मानी यह नहीं कि आमतौर पर साम्यवाद को मंजूर कर लिया गया था। हां यह सच है कि समाजवादी विचारों की तरफ़ बहुत लोगों का झुकाव था। चीनी क्रांति की कामयाबी पर बड़े जोश से खुशियां मनाई गईं और इसको हिंदुस्तान की आती हुई आज़ादी, और एशिया में यूरोप के आधिपत्य के मिटाने का सूचक माना गया। डच ईस्ट इंडीज़, हिंद चीन, एशिया के पच्छिमी देशों और मिस्र के राष्ट्रीय आंदोलनों में हमारी दिलचस्पी बढ़ी। सिंगापुर को एक बहुत बड़ा समद्री अड्डा बनाना और सीलोन (लंका) में ट्रिंकोमाली बंदरगाह का बढ़ाना, इन दोनों ही बातों को आने वाली लड़ाई की आम तैयारी का ही एक हिस्सा समझा गया—उस लड़ाई का जिसमें ब्रिटेन अपनी साम्राज्यवादी हालत को ज्यादा मज़बूत और पक्का बनाने की कोशिश करेगा, और पूरब के उठते हुए क़ौमी आंदोलन और सोवियत् रूस को कुचल डालेगा।

इस पृष्ठभूमि में, सन् १९२७ में कांग्रेस ने अपनी विदेशी नीति बनानी शुरू की। उसने घोषणा की कि हिंदुस्तान किसी भी साम्राज्यवादी लड़ाई में साथ नहीं देगा, और यह कहा कि किसी भी हालत में बिना हिंदुस्तानियों की मंज़ूरी के उसको किसी भी लड़ाई में मजबूरन हिस्सा न लेना पड़े। उसके बाद के बरसों म यह घोषणा अक्सर दुहराई गई और उसी के मताबिक चारों तरफ़ जोरों से प्रचार किया गया। कांग्रेसी नीति की और बाद में जैसा आम तौर पर माना गया, हिंदुस्तानी नीति की भी यह घोषणा एक नींव बन गई। हिंदुस्तान म किसी आदमी या संस्था ने इसका विरोध नहीं किया।

इस बीच में यूरोप में तब्दीलियां हो रही थीं, और हिटलर और नात्सी मत उठ चुके थे। इन तब्दीलियों के खिलाफ़ कांग्रेस में फ़ौरन ही एक प्रतिक्रिया हुई, और उसने उनकी निंदा की क्योंकि हिटलर और उसका मत तो उस साम्राज्यवाद और जातिवाद के सुदृढ़ और साकार-स्वरूप मालूम हुए, जिनके खिलाफ़ कांग्रेस लड़ रही थी। मंचूरिया में जापानी आक्रमण ने तो और भी ज़ोरदार प्रतिक्रिया पैदा की क्योंकि उसकी चीन के साथ सहानुभूति थी। एबीसीनिया, स्पेन, चान, जापान–युद्ध, चेकोस्लोवाकिया और म्यूनिख की बातों से यह भावना और भी मजबूत होगई, और आने वाली लड़ाई के लिए तनाव बढ़ गया।

हिटलर के ताक़त में आने से पहले, जिस लड़ाई का ख़याल किया जा रहा था, उससे यह आने वाला लड़ाई शायद कुछ दूसरे ढंग की थी। यह होते

हुए भी ब्रिटिश नीति बराबर नात्सियों और फ़ासिस्टों की तरफ़दारी में थी और यह यक़ीन करना कठिन था कि यह एक रात में ही अचानक बदल जायगी, और आज़ादी और जनतंत्र की हिमायत करने लगेगी । उसके खास साम्राज्यवादी नज़रिये और साम्राज्य को बनाये रखने की उसकी इच्छा में दोनों ही बातें, चाहे जो कुछ हो, बराबर बनी रहेंगी । यह भी यक़ीन था कि रूस और उसके आदर्शों के लिए उसकी बुनियादी मुखालिफ़त बनी रहेगी । लेकिन यह बात दिन-ब-दिन ज्यादा साफ़ होती गई कि हिटलर को खुश करन की हर कोशिश के बावजूद वह यूरोप की सबसे ज्यादा मज़बूत ताक़त बनता जा रहा था । उससे पुराना संतुलन बिलकुल बदल गया और ब्रिटिश साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण हितों के लिए संकट बढ़ गया । इंग्लैंड और जर्मनी के बीच अब लड़ाई की संभावना पैदा हो गई । और अगर यह लड़ाई हुई तो हमारी नीति क्या होगी ? अपनी नीति की दो खास धाराओं म हम कैसे मेल करेंगे: यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध, और नात्सी मत और फ़ासिज्म का विरोध ? तब हम किस तरह अपनी राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता को साथ-साथ रख सकेंगे ? उस वक़्त की हालतों में हमारे लिए यह एक मुश्किल सवाल था, लेकिन अगर ब्रिटिश सरकार हमें यह यक़ीन दिलाने के लिए कि हिंदुस्तान में उसने साम्राज्यवादी नीति छोड़ दी, और अब वह जनता के सहयोग का सहारा चाहती है, कुछ कर दिखाए, तो यह सवाल मुश्किल भी नहीं था ।

राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता का मुक़ाबला होने पर जीत लाज़िमी तौर पर राष्ट्रीयता की होती । ऐसा हर एक देश में और हर संकट के मौक़े पर हुआ है । फिर एक ऐसे देश में जहां पर परदेसियों का क़ब्ज़ा हो, कशम-कश और तक़लीफ़ों की एक तीखी याद बनी हो, ऐसा फ़ैसला होना बिलकुल क़ुद-रती और लाज़िमी था । इंग्लैंड और फ्रांस ने प्रजातंत्रवादी स्पेन और चेको-स्लोवाकिया को धोखा दिया, और जिसे उन्होंने ग़लती से (जैसा बाद में साबित हो गया) क़ौमी हित समझ रखा था उसके लिए अंतर्राष्ट्रीयता की क़ुरबानी की । और अगर्चे उसकी इंग्लिस्तान, फ्रांस और चीन से हमदर्दी थी और नात्सी मत, जापानी सैन्यवाद और उग्र नीति से वह नफ़रत करता था, फिर भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अपनी अलग-थलग रहने की नीति पर डटा रहा । और यह तो पर्ल हारबर पर जापानी हमले की वजह थी कि वह एकदम पूरे जोर-शोर से लड़ाई में शामिल होगया । सोवियत् रूस ने भी, जो कि अंत-र्राष्ट्रीयता का प्रतीक माना जाता था, एक कट्टर राष्ट्रीय नीति अपनाई, और इसका नतीजा यह हुआ कि उसके बहुत से दोस्त और हमदर्द साथी एक उलझन में पड़ गये । लेकिन जर्मन फ़ौजों के अचानक, बेखबर हमले से सोवि-यत् रूस भी लड़ाई में आगया । इस बेमानी उम्मीद में कि वह अपने आपको

बचा लें और अलग रहें, स्कैंडिनेविया के देशों, हालैंड और बेलजियम ने लड़ाई से बचने की कोशिश की, लेकिन वह भी इसके ज़ोरदार चक्कर में आगए। तुर्की पांच वर्षों से एक बदलती हुई ग़ैर जानिबदारी की पतली धार पर, अपने क़ौमी हितों का लिहाज़ रखते हुए टिका है। मिश्र की, जो ज़ाहिरा तो आज़ाद मालूम होता है लेकिन जो असलियत में अध-गुलाम नौ-आबादी की हैसियत रखता और जो खुद लड़ाई के क्षेत्रों में आजाता है, एक अजीब स्थिति है। अमली तौर पर वह भी लड़ने वालों में से एक है और वह संयुक्त राष्ट्रों की फौज़ों के पूरी तरह कब्ज़े में है, लेकिन ज़ाहिरा तौर पर वह लड़ने वालों में नहीं है।

अलग-अलग सरकारों और देशों की इन नीतियों के लिए बहाने या सबब हो सकते हैं। जब तक कि जनता तैयार न हो जाय और पूरी तरह साथ न दे, कोई भी लोकतंत्र आसानी से लड़ाई में नहीं शामिल हो सकता, यहां तक कि तानाशाही सरकार को भी बुनियाद बनानी पड़ती है। इनके लिए चाहे कोई भी सबब हो या कोई भी सफ़ाई हो, यह बात साफ़ है कि जब कभी कोई उलझन आई है, तो राष्ट्रीय विचारों की या उन विचारों की जो इनके मुआफिक समझे गए, हमेशा जीत हुई है और बाक़ी सब विचार, जो उससे मेल नहीं खाते थे, रद्द कर दिये गए हैं। यह एक असाधारण बात थी कि म्यूनिख के संकट के वक़्त, सैकड़ों अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, फ़ासिस्ट--विरोधी--पार्टियां आदि सब-की-सब यूरोप में बिलकुल चुप थीं; न उनमें कोई ताक़त थी, न उनका कोई असर था। कुछ आदमियों या छोटे-छोटे दलों के विचारों में, अंतर्राष्ट्रीयता आ सकती है, और वे अपने निजी या राष्ट्रीय हितों को किसी और बड़े आदर्श के लिए बलिदान करने को तैयार भीं हो सकते है; लेकिन राष्ट्रों के साथ यह मुमकिन नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय हितों के लिए तब जोश होता है जब उनका राष्ट्रीय हितों से कोई संघर्ष नहीं होता। कुछ ही महीने पहले लंदन के अख़बार 'इकॉनामिस्ट' ने, ब्रिटेन की विदेशी-नीति पर बहस करते हुए लिखा था: "ऐसी विदेशी नीति, जो बराबर बनाई रखी जा सकती है, वह सिर्फ़ वही है, जिसमें राष्ट्रीय हितों की साफ़ तौर पर और पूरी तरह हिफ़ाज़त की गई हो। कोई भी राष्ट्र, अंतर्राष्ट्रीय जाति के फ़ायदे को अपने निजी फ़ायदे के मुक़ाबले में पहली जगह नहीं देता। सिर्फ़ उसी वक़्त जब कि यह दोनों बिलकुल एक हों, हम किसी कारगर अंतर्राष्ट्रीयता की उम्मीद कर सकते हैं।"

अंतर्राष्ट्रीयता तो सचमुच सिर्फ़ एक आज़ाद देश में ही पनप सकता है। उसकी वजह यह है कि किसी भी ग़ुलाम देश का सारा दिमाग़ और सारी ताक़त अपनी आज़ादी पाने की कोशिश में लगी रहती है। ग़ुलामी की हालत तो उस ज़हरीले फोड़े की तरह है, जो बदन के हिस्से को तंदुरुस्त होने से

सिर्फ़ रोकता ही नहीं है, बल्कि जो बराबर दिमाग़ को बेचैन किये रहता है, और जिसका असर हर काम और हर ख़याल पर दिखाई पड़ता है। झगड़े की तो उसमें जड़ ही है और उसकी वजह से सारा दिमाग़ उधर लग जाता है और ज्यादा बड़े सवालों पर सोच-विचार करने में रुकावट आती है। पिछली लगातार लंबी लड़ाई और तकलीफ़ों की याद व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मस्तिष्क में बराबर बनी रहती है। एक चिड़चिड़ापन पैदा होता है, एक ज़बर्दस्त ज़िद पड़ जाती है, और जब तक कि बुनियादी वजह को न हटा दिया जाय वह मिट नहीं सकती। और उस वक़्त भी जब कि ग़ुलामी की भावना चली गई हो, घाव धीरे-धीरे ही भरता है, क्योंकि बदन की चोटों के मुक़ाबले में, दिमाग़ की चोटों के ठीक होने में ज्यादा वक़्त लगता है।

बहुत अर्से से हिंदुस्तान की यह पृष्ठभूमि थी, लेकिन गांधी जी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया रुख दिया, और उससे नाउम्मीदी और तीखेपन की भावना कम हो गई। क़ौमी भावनायें बनी रहीं लेकिन जहां तक मेरा ख़याल है और किसी दूसरे क़ौमी आंदोलन में इतनी कम नफ़रत नहीं थी। गांधी जी कट्टर राष्ट्रवादी थे, लेकिन साथ-ही-साथ उन्होंने महसूस किया कि उनके पास जो संदेश था वह सिर्फ़ हिंदुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिए था, और वह दिल से दुनिया भर में शांति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता में दुनिया भर का ख़याल था, और उसमें किसी दूसरे पर हमला करने की बू नहीं थी। हिंदुस्तान की आज़ादी चाहते हुए भी, वह यह विश्वास करने लगे थे कि दुनिया भर के राष्ट्रों का एक संघ ही सही आदर्श था; मेरी राष्ट्रीयता का विचार तो यह है कि मेरा देश आज़ाद हो जाय, और ज़रूरत हो तो सारा देश मिट जाय, ताकि मानव जाति जीवित रह सके। जातीय विद्वेष के लिए यहां जगह नहीं है। यही हमारी राष्ट्रीयता होनी चाहिए और फिर 'मैं सारी दुनिया का ख़याल रखते हुए सोचना चाहता हूं। मेरी देशभक्ति में मानव-मात्र का हित शामिल है। इसी वजह से हिंदुस्तान की सेवा में मानव-मात्र की सेवा आ जाती है·········बिलकुल अलग होकर आज़ादी बनाये रखना, दुनिया की बड़ी क़ौमों का मक़सद नहीं है, वह उद्देश्य तो खुद-ब-खुद एक दूसरे से मिलकर और एक दूसरे पर भरोसा करते हुए रहना है। आज दुनिया के ज्यादा समझदार विचारक बिलकुल आज़ाद और एक दूसरे के ख़िलाफ़ लड़ती हुई सरकारें नहीं चाहते। वह तो दोस्ताना और एक दूसरे पर भरोसा रखने वाली सरकारों का संघ बनाना चाहते हैं। यह बात, शायद, बहुत आगे चलकर भविष्य में संभव हो। लेकिन आज़ादी की जगह, दुनिया भर की आपस की मिली-जुली आज़ादी के लिए अपनी तत्परता दिखाने में न तो मुझे कोई बहुत बड़ी बात ही महसूस होती है, और न ऐसा करना नामुमकिन

ही है। आज़ादी का दावा किये बग़ैर मैं तो पूरी तरह आज़ाद बनने की योग्यता चाहता हूं।

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन में शक्ति और विश्वास बढ़ा, लोगों के दिमाग़ आज़ाद हिंदुस्तान का बाबत सोचने लगे—उसे कैसा होना चाहिए; उसे क्या करना होगा, और दूसरे देशों से उसका क्या और कैसा नाता होगा। देश के बड़े होने, उसकी बड़ी ताक़त और उसके बहुत ज़्यादा फलने-फूलने की गुंजाइश से लोग बड़ी-बड़ी बातों को ही सोचने लगे। हिंदुस्तान किसी देश या राष्ट्र-समूह के पीछे चलने वाला नहीं हो सकता था। उसकी आज़ादी और उन्नति से एशिया में और उसकी वजह से सारी दुनिया में एक बहुत बड़ा फ़र्क़ होगा। उसकी वजह से इंग्लैंड और उसके साम्राज्य से जो कड़ी हमें बांधे हुए थी, उसको तोड़कर पूरा आज़ादी का ख्याल हमारे सामने आया। डोमीनियन स्टेट्स, चाहे वह आज़ादी के कितने ही नज़दीक़ क्यों न हो, हमारी पूरी तरक्क़ी के लिए एक बिलकुल वाहियात रुकावट मालूम दिया। डोमीनियन स्टेट्स के पीछे का ये विचार कि आदि देश अपनी नौ-आबादियों से मिला हुआ है और उन सबके लिए एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, हिंदुस्तान पर बिलकुल लागू नहीं था। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए, जो कि एक अच्छी चीज़ थी, यहां एक ज़्यादा बड़ा मौक़ा था, यह सही है; लेकिन उसके ये मानी ज़रूर थे कि साम्राज्य और कॉमनवेल्थ के बाहर के देशों के साथ खुलकर या पूरी तरह सहयोग नहीं होगा। इस तरह यह एक बड़ी रुकावट मालूम हुई। हमारे विचार, जिनमें भविष्य की समृद्धि का चित्र था, इन सीमाओं को पार कर आगे बढ़े, और हमने ज़्यादा व्यापक सहयोग की बात सोची। हमने ख़ास तौर से पूरब और पच्छिम के अपने पड़ौसी देशों, चीन, अफ़गानिस्तान, ईरान, और सोवियत् रूस से गहरे रिश्ते की बातें सोचीं। सुदूर अमेरिका से भी हम बहुत अच्छा नाता रखना चाहते थे। उसकी वजह थी और वह यह कि जैसे हम सोवियत् रूस से बहुत कुछ सीख सकते थे, उसी तरह हम संयुक्त राष्ट्र से भी सीख सकते थे। ऐसी धारणा होती जा रही थी कि इंग्लैंड से अब और कुछ सीखने का गुंजाइश नहीं थी। और कम-से-कम यह बात तो तै थी, कि उसके साथ से फ़ायदा तभी उठाया जा सकता है जब वह बेड़ियां, जो हमें बांधे हुए थीं, टूट जायं और हम बराबरी के दर्जे पर मिलें।

ब्रिटिश डोमीनियनों और उपनिवेशों में जातीय भेद-भाव और हिंदुस्तानियों के साथ बुरा बर्ताव, इन दोनों बातों ने उस दल से अलहदा होने के हमारे फ़ैसले पर काफ़ी असर डाला। ब्रिटेन की नौ-आबादियों की नीति की ही निगरानी में पूर्वी अफ्रीका और केनिया और दक्खिनी अफ्रीका थे। इनकी और ख़ास तौर पर दक्खिनी अफ्रीका की हरकतें बराबर उत्तेजना देने वाली

थीं। कुछ अजीब-सी बात ह कि कनाडा वालों, आस्ट्रेलिया वालों और न्यूजीलैंड वालों से हमारी अपन आप ही अच्छा पटती रही। शायद उसकी वजह यह थी कि उनका एक अपना नया ढर्रा था और वे ब्रिटन का सामाजिक रूढ़ियों और पक्षपातों से बिलकुल अलग थे।

जब हमन हिंदुस्तान की आज़ादी की बात की, तो उसमें एकदम अलग रहने का ख़याल नहीं था। बहुत से दूसरे मुल्कों के मुक़ाबले हमने ज़्यादा साफ़ तौर पर यह महसूस किया कि पुराने ढंग की पूरी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कोई भविष्य नहीं था, और अब दुनिया भर के सहयोग के एक नये युग का होना ज़रूरी था। इसीलिए हमने इस बात का बार-बार दुहराकर साफ़ किया कि अंतर्राष्ट्रीय ढांचे से मेल बनाय रखने के लिए, दूसरे राष्ट्रों के साथ हम अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने को पूरी तरह तैयार थे। उस ढांचे में, जहां तक मुमकिन हो, सारी दुनिया या कम-से-कम उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा आ जाय। या दूसरा तरफ़ वह कुछ हलकों में बांट दिया जाय। हालांकि इस ज्यादा बड़ ढांचे में ब्रिटिश कॉमनवेल्थ खप सकती थी, लेकिन अपनी मौजूदा हालत म वह इन विचारों से मेल नहीं खाती थी।

यह एक अचंभे की बात है कि अपनी जोरदार राष्ट्राय भावनाओं के होते हुए भी, हमारे विचारों में अंतर्राष्ट्रीयता नहीं आई। ये दूसरे देश तो आम तौर से किसी भी अंतर्राष्ट्राय ज़िम्मेदारी में नहीं फंसना चाहते थ। हिंदुस्तान में भी ऐसे लोग थे जिन्होंने हमारे प्रजातंत्र स्पेन, चीन, एबीसीनिया और चेकोस्लोवाकिया की तरफ़दारी करने का विरोध किया। उनका कहना था कि इटली, जर्मनी और जापान जैसे ताक़तवर देशों से क्यों दुश्मनी की जाय; राजनीति में इस चीज़ का कोई आदर्श नहीं हो सकता कि ब्रिटेन के हर दुश्मन को दोस्त समझा जाय। उनकी निगाह में राजनीति का ताक़त से ताल्लुक़ था और मौक़ा पड़ने पर उस ताक़त से फ़ायदा उठाना था। लेकिन कांग्रस ने जनता में जो विचार भर दिये थे, उनकी वजह से इन विरोधियां की हिम्मत नहीं पड़ी, और उन्होंने शायद ही अपने विचारों को सार्वजनिक रूप में रखा हो। मुस्लिम लीग बराबर होशियारी के साथ चुप रही, और किसी ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मामले पर उसने कभी भी कोई ज़िम्मेदारी नहीं ली।

सन् १९३८ में कांग्रेस ने एक डॉक्टरी जत्था, और डॉक्टरी सामान चीन में मदद के लिए भेजा। जिस वक़्त इस जत्थ का संगठन किया गया, सुभाष बोस, कांग्रेस के सभापति थे। उन्होंने इसका विरोध नहीं किया, और न उन दूसरी बातों का ही जो कांग्रेस ने चीन से सहानुभूति दिखाने के लिए कीं या नाज़ी आक्रमण के विरोध में कीं। हमने एसे बहुत से प्रस्ताव पास किये

और ऐसे बहुत से प्रदर्शन किये जिनको अपने सभापतित्व-काल में वे ठीक नहीं समझते थे। लेकिन बिना किसी विरोध के उन्होंने इन चीज़ों को मंजूर कर लिया, क्योंकि इन भावनाओं के पीछे छिपी सार्वजनिक शक्ति का उन्हें पता था। कांग्रेस-कार्यकारिणी में उनके और उनके साथियों के दृष्टिकोण में काफ़ी फ़र्क़ था। यह फ़र्क़ देश के अंदरूनी मामलों और दूसरे देशों के मामलों, दोनों में ही था। नतीजा यह हुआ कि १९३९ में एक दरार पड़ गई, और तब उन्होंने खुले आम कांग्रेस की नीति का ज़ोरों से विरोध किया, और तब १९३९ की अगस्त की शुरूआत में कांग्रेस-कार्यकारिणी ने एक असाधारण क़दम उठाया। वह क़दम यह था कि भूतपूर्व सभापति सुभाष बाबू के ख़िलाफ़ डिसिप्लिन (अनुशासन) बिगाड़ने के सिलसिले में कार्रवाई की जाय।

२ : कांगरेस और युद्ध

इस तरह कांग्रेस ने लड़ाई के सिलसिले में अपनी दुहरी नीति तै की और उसको अक्सर दोहराया। एक तरफ़ तो फ़ासिज़्म, नाज़ीज़्म और जापानी सैन्यवाद का विरोध था। इसकी दो वजहें थीं, एक तो उनकी अंदरूनी नीति और दूसरी और मुल्कों पर उनकी हमला करने की नीति। जो हमले के शिकार थे, उनके लिए बहुत हमदर्दी थी, और इस हमले को रोकने के लिए लड़ाई या किसी और दूसरी कोशिश में साथ देने की तत्परता थी। दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए ज़ोर दिया जाता था—सिर्फ़ इसीलिए नहीं कि हमारा वह ख़ास मक़सद था, और उसके लिए हम बराबर मेहनत करते रहे थे, बल्कि इसलिए भी कि आने वाली लड़ाई से उसका ताल्लुक़ था। हमने इस बात को बार-बार दुहराया कि सिर्फ़ आज़ाद हिंदुस्तान ही ऐसी लड़ाई में सही ढंग से शामिल हो सकता है, सिर्फ़ आज़ादी से ही हम इंग्लैंड से अपने पुराने रिश्ते की तीखी विरासत को मिटा सकते थे, और अपनी पूरी-पूरी ताक़त को संगठित कर सकते थे। उस आदमी के बिना यह लड़ाई, पुरानी लड़ाइयों की ही तरह होगी, जिसमें दो प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादों में टक्कर होगी और ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने और ज्यों-का-त्यों बनाये रखने की कोशिश होगी। हमारे लिए यह बात बिलकुल नामुमकिन और वाहियात मालूम दी कि हम उसी साम्राज्यवाद की हिफ़ाज़त के लिए साथ दें, जिसके ख़िलाफ़ कि हम इतने अर्से से लड़ रहे थे। और अगर हम में से कुछ लोग, दूर की बातों का ध्यान रखते हुए, इसे मुक़ाबले में कम बुरी बात समझते, तो यह बात हमारी ताक़त के बिलकुल बाहर थी कि हम अपने देशवासियों को इसके लिए तैयार कर लेते। सिर्फ़ आज़ादी से ही सामूहिक शक्ति मुक्त हो सकती थी और सिर्फ़ उसी से तीखेपन की भावना मिटकर, एक आदर्श के लिए जोश आ सकता था।

इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं था।

कांग्रेस ने खास तौर पर यह मांग की कि बिना हिंदुस्तानियों या उनके प्रतिनिधियों की मर्जी के हिंदुस्तान का किसी लड़ाई से गठ-बंधन न किया जाय। और बिना ऐसी राय के हिंदुस्तानी फौज किसी भी काम के लिए देश से बाहर न भेजी जाय। केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली ने भी, जिसमें विभिन्न दल और पार्टियां शामिल थीं, यही मांग पेश की। बहुत अर्से से हिंदुस्तानियों की यह शिकायत थी कि हमारी फ़ौजें देश से बाहर, अक्सर साम्राज्यवादी मक़सद से भेजी जाती हैं, और उनसे उन आदमियों को जीतने या कुचलने या दबाये रखने का काम लिया जाता है, जिनसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है और जिनकी आजादी की कोशिशों के लिए हमारे दिल में हमदर्दी है। हिंदुस्तानी फ़ौज को, किराये के आदमियों की तरह, ऐसे ही कामों में बर्मा, चीन, ईरान और मध्यपूर्व और अफ्रीका के हिस्सों में इस्तैमाल किया गया था। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक बन गई थीं, और उसी सबब से वहां के रहने वालों के दिलों में हिंदुस्तान के खिलाफ़ भावनाएं पैदा हुई। मुझे एक मिस्री का यह तीखा आक्षेप याद है, "तुमने सिर्फ़ अपनी ही आजादी नहीं खोई है, बल्कि तुम ब्रिटेन को दूसरों का ग़ुलाम बनाने में मदद करते हो।"

इस दुहरी नीति के दोनों हिस्से अपने-आप एक दूसरे से मेल नहीं खा सके। वे दानों आपस में एक दूसरे से उलटे थे। लेकिन इस उलटेपन के लिए हम जिम्मेदार नहीं थ। वह उलटापन उन परिस्थितियों में ही था, और उन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किसी भी नीति में उसका जाहिर होना लाजिमी था। बार-बार हमने इस बात का ध्यान दिलाया कि फ़ासिस्ट और नात्सी मतों की निंदा और साम्राज्यवाद का समर्थन, ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। यह सच है कि फ़ासिज्म और नात्सीज्म भयंकर अत्याचार कर रहे थे। लेकिन हिंदुस्तान में व दूसरी जगहों पर साम्राज्यवाद अपने आपको सुदृढ़ कर चुका था। उनमें फ़र्क़ किसी किस्म का नहीं था; वह तो सिर्फ़ दर्जे या वक़्त का फ़र्क़ था। इसके अलावा पहली चीज सुदूर देशों में थी लेकिन पिछली चीज़ तो हमारे ही घर में थी और उससे हम सब घिरे हुए थे और उसका असर सारे वातावरण में छाया हुआ था। हमने इस उलटी बात का मज़ाक उड़ाया कि सब जगह तो लोकतंत्र का झंडा ऊंचा रखा जाय और उसी को हिंदुस्तान में रोक रखा जाय।

हमारी दुहरी नीति म चाहे जो विषमता रही हो, लेकिन सशस्त्र युद्ध और आक्रमण से रक्षा के सिलसिले में अहिंसा के सिद्धांत का कोई सवाल नहीं उठा।

सन् १६३८ की गर्मियों में मैं यूरोप के महाद्वीप में था, और व्याख्यानों

लेखों और बातचीत में मैंने अपनी इस नीति को समझाया। साथ ही मैंने इस बात की तरफ़ भी इशारा किया कि इन मामलों को यों ही छोड़ देने में क्या ख़तरा छिपा था। सुडेटनलैंड के सवाल पर नाज़ुक हालत के समय मुझसे कुछ परेशान चेकोस्लोवाकिया के निवासियों ने पूछा कि लड़ाई की हालत में हिंदुस्तान का क्या इरादा है। ख़तरा उनके बहुत नज़दीक आ पहुंचा था और फिर ख़तरा बहुत बड़ा था। अब ज्यादा बारीक बातों या पुरानी शिकायतों का मौक़ा नहीं था। लेकिन फिर भी उन्होंने मेरी बातों को समझा और मेरे तर्कों से सहमत हुए।

सन् १९३९ के मध्य में यह पता लगा कि हिंदुस्तानी फ़ौज देश से बाहर भेजी गई—शायद सिंगापुर को और मध्य पूर्व को। तुरंत ही बड़ी जोरदार आवाजें उठीं कि यह हिंदुस्तान के प्रतिनिधियों की सलाह लिये बिना ही किया गया है। यह बात तो मानी गई कि संकट-काल में फ़ौज का प्रोग्राम अक्सर गुप्त रखना पड़ता है। लेकिन फिर भी प्रतिनिधि नेताओं का साथ और सलाह लेने के लिए बहुत से तरीक़े हो सकते थे। केंद्रीय असेंबली की पार्टियों के नेता थे, और हर प्रांत में जनता द्वारा चुनी हुई सरकारें थीं। मामूली तौर पर केंद्रीय सरकार को इन प्रांतीय मंत्रियों से बहुत से मामलों में सलाह-मशवरा करना पड़ता था, और उन्हें राज़ की बातें बतानी पड़ती थीं। लेकिन इस मौक़े पर राष्ट्र के खुले ऐलान के होते हुए भी जनता के प्रतिनिधियों से नाम मात्र को भी सलाह नहीं ली गई। ब्रिटिश पार्लमेंट के ज़रिए गवर्नमेंट अव् इंडिया एक्ट (सन् १९३५) में संशोधन के लिए क़दम उठाये जा रहे थे। इस समय प्रांतीय सरकारें इसी एक्ट के अनुसार काम कर रही थीं। अब यह कोशिश की गई कि लड़ाई के सिलसिले में केंद्रीय सरकार को विशेषाधिकार दे दिये जायं, और सारी शक्ति केंद्र के हाथ में आ जाय। आम तौर पर एक लोकतंत्र राज्य में यह बात बिलकुल स्वाभाविक और तर्क-संगत होती, अगर इस बारे में मुख़्तलिफ़ पार्टियों की राय ले ली जाती। यह तो एक आम जानकारी की बात है, संघ में शामिल होने वाले राज्य, प्रांत या स्वशासक प्रदेश अपने अधिकारों को मज़बूती से पकड़े रहते हैं, और उनको किसी संकट या विशेष अवसर पर भी, केंद्रीय सरकार को सौंपने को आसानी से तैयार नहीं होते हैं। ऐसी रस्साकशी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बराबर चलती रहती है, और जिस वक़्त मैं लिख रहा हूं आस्ट्रेलिया में कॉमनवेल्थ सरकार के, शक्ति और अधिकार बढ़ाने के प्रस्ताव को, सार्वजनिक सम्मति ने अस्वीकार किया है। इस प्रस्ताव के अनुसार उसके विभिन्न सदस्य राज्यों के अधिकार सिर्फ़ लड़ाई के दौरान के लिए, केंद्र को दिये जा रहे थे। यह बात ध्यान में रखने की है कि संयुक्त राष्ट्र और आस्ट्रेलिया दोनों ही जगह केंद्रीय सरकार और लेजिस्ले-

टिव असेंबली जनता द्वारा चुने हुए लोगों की है, और उसमें उन मेंबर राज्यों के नुमाइंदे काम करते हैं। हिंदुस्तान में केंद्रीय सरकार बिलकुल ग़ैर-ज़िम्मेदार है। वह चुने हुए जनता के प्रतिनिधियों की नहीं है, और किसी भी रूप में जनता या प्रांतों के लिए उसकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है। प्रांतीय सरकारों या परिषदों के अधिकारों को छीनकर केंद्र के अधिकार बढ़ाने के मानी यह थे कि जनतंत्र को और भी दुर्बल बना दिया जाय और प्रांतीय स्वाधीनता की बुनियाद को ही कमज़ोर कर दिया जाय। इस पर बहुत नाराज़ी फैली। ऐसा अनुभव किया गया कि यह नीति उस आश्वासन के खिलाफ़ थी जो कांग्रेस-सरकारों को शुरू में दिया गया था। साथ ही यह बात ज़ाहिर होने लगी कि पहले की तरह बिना हिंदुस्तानियों के प्रतिनिधियों का ख़याल किये ही, उन पर लड़ाई का बोझ लाद दिया जायगा।

कांग्रेस-कार्य-कारिणी ने बहुत ज़ोरदार शब्दों में इस नीति का विरोध किया। उसके लिहाज़ से यह तो कांग्रेस और केंद्रीय असेंबली दोनों की ही घोषणाओं की जान-बूझकर खुल्लम-खुल्ला अवहेलना थी। उसने ऐलान किया कि वह इस तरह की जबर्दस्ती को रोकेगी और वह उसके निवासियों की सहमति के बिना ही हिंदुस्तान को गहरा असर रखने वाली नीतियों के लिए ज़िम्मेदार बनाने पर राज़ी नहीं हो सकती। फिर (१६३६ के अगस्त में) उसने कहा कि, "इस संसार-व्यापी संकट में कार्य-कारिणी की सहानुभूति उन लोगों के लिए है जो लोकतंत्र और स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं। और कांग्रेस ने यूरोप, अफ्रीका, सुदूर एशिया में फ़ासिस्ट हमले की बार-बार निंदा की है। साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा स्पेन और चेकोस्लोवाकिया में लोकतंत्र के प्रति विश्वास-घात की भी निंदा की है। लेकिन यह कहा गया, "ब्रिटिश सरकार की पिछली नीति और इधर हाल की घटनाओं न यह बात पूरी तरह दिखा दी है कि यह सरकार आज़ादी और लोकतंत्र की हिमायत नहीं करती और किसी समय भी इन आदर्शों के साथ दग़ा कर सकती है। हिंदुस्तान ऐसी सरकार से अपना कोई नाता नहीं रख सकता, और उससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह उस लोकतंत्रात्मक स्वतंत्रता के लिए अपना सहयोग दे, जो कि स्वयं उसे नहीं दी जा रही है और जिसको धोखा दिया जा सकता है।' इस नीति के विरोध में पहला क़दम यह था कि केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली के कांग्रेसी सदस्यों से कहा जाय कि वह असेंबली के अगले अधिवेशन में भाग न लें।

यह पिछला प्रस्ताव यूरोप में लड़ाई शुरू होने के ठीक तीन सप्ताह पहले पास किया गया। ऐसा मालूम पड़ा कि हिंदुस्तान की सरकार और उसका समर्थन करने वाला ब्रिटिश सरकार लड़ाई के सिलसिले में बड़े-बड़े मामलों में ही नहीं, बल्कि छोटे-छोटे मामलों में भी हिंदुस्तान के आम लोगों

की भावनाओं का तिरस्कार करने पर तुली हुई है। सूबों में गवर्नरों के रुख में स नीति की झलक दिखाई दी। साथ ही सिविल सर्विस के हाकिमों का कांग्रेस-सरकार से असहयोग बढ़ता जा रहा था। सूबों की कांग्रेसी सरकारों की दिन-ब-दिन मुश्किलें बढ़ती जा रही थीं, और लोकमत के गरम दल ज्यादा उत्तेजित होते जा रहे थे और उनकी शंकायें बढ़ रही थीं। उनको डर यह था कि ब्रिटिश सरकार उसी ढंग से पेश आयगी, जैसे कि उसने पच्चीस बरस पहले सन् १९१४ में किया था; वह सूबों की सरकारों और लोकमत का ख़याल न कर लड़ाई को जबर्दस्ती सिर मढ़ देगी; वह उस थोड़ी-सी आज़ादी 'को जिसे हिंदुस्तान ने हासिल किया था, लड़ाई के नाम पर कुचल देगी; और वह मनमाने ढंग से अपने साधनों का नाजायज़ फ़ायदा उठायगी।

लेकिन इन पच्चीस बरसों म बहुत कुछ हो चुका था, और लोगों के तेवर अब बहुत बदले हुए थे। यह ख़याल कि हिंदुस्तान को एक जायदाद की तरह इस्तैमाल किया जाय, और उसके निवासियों की नफ़रत के साथ बिलकुल परवाह न की जाय, बहुत ज्यादा बुरा लगा। क्या पिछले बीस बरसों की आज़ादी की लड़ाई और तकलीफ़ों की क़ीमत ही नहीं थी? क्या हिंदुस्तानी इस बेइज्ज़ती और अवहेलना के सामने सिर झुकाकर जन्मभूमि के लिए एक शर्म की चीज़ बनेंगे? उनमें से बहुत से लोगों ने बुराई का मुक़ाबला करना सीख लिया था, और वे उस चीज़ के सामने जिसे वह शर्मनाक समझते थे सिर झुकाने के लिए हरगिज़ तैयार नहीं थे। और वे अपनी तबियत से इस सिर न झुकाने के नतीजे को भुगतने के लिए भी तैयार थे।

इसके अलावा ऐसे लोग भी थे——–—नई पीढ़ी वाले, जिनको क़ौमी लड़ाई का कोई ज़ाती अनुभव नहीं था, न वे उसको पूरी तरह समझते थे; और उनके लिए, १९२० यहां तक कि १९३० के सविनय अवज्ञा आंदोलन की बातें सिर्फ़ इतिहास की ही चीजें थीं और इससे ज्यादा और कुछ नहीं। वे तजुर्बों और तकलीफ़ों की आग में तपे हुए नहीं थे और बहुत-सी चीज़ों को यों ही मान लेते थे। वे पुरानी पीढ़ी वालों की कड़ी आलोचना करते थे, उनको कमज़ोर समझते थे और यह समझते थे कि लोग तो छोटी बातों पर समझौता करने के लिए झुक सकते हैं। उनके लिहाज़ से सक्रिय प्रोग्राम की जगह सिर्फ़ उत्तेजक और ज़ोरदार भाषा ही ले सकती थी। वे आपस में नेताओं की शख्सियत या राजनीतिक और आर्थिक उसूलों की बारीकियों पर झगड़ते थे। वे दुनिया की बातों पर बहस तो करते थे, लेकिन उन मामलों की उनकी कोई ख़ास जानकारी नहीं थी; वे अभी पक नहीं पाए थे, और उनमें कोई टिकाव नहीं था। उनमें अच्छी बातें थीं, अच्छे आदर्शों के लिए बड़ा जोश था, लेकिन कुल मिलाकर उनसे नाउम्मीदी होती थी, और हिम्मतें पस्त होती थीं। शायद यह एक वक़्ती पहलू

था, जिसको वह पार कर लेंगे; या जिसे उन्होंने अपने कड़वे तजुर्बों के बाद पार भी कर लिया हो।

और चाहे जो मतभेद हों लेकिन राष्ट्रवादियों के भीतर इन सभी दलों में, इस संकट-काल में हिंदुस्तान के प्रति ब्रिटेन की नीति से एक-सी ही प्रतिक्रिया हुई। उन सबको उससे नाराज़ी हुई और उन्होंने कांग्रेस से उसका विरोध करने के लिए कहा। कोई भी स्वाभिमानी सजग चेतन राष्ट्रीयता, इस तरह के अपमान के आगे सिर नहीं झुकाना चाहती। उसके सामने और सब बातें गौण हो गईं।

यूरोप में युद्ध का ऐलान हुआ और फ़ौरन ही हिंदुस्तान के वाइसराय ने ऐलान किया कि हिंदुस्तान भी लड़ाई में आगया। एक आदमी—एक विदेशी और वह भी एक ऐसी हुकूमत का नुमाइंदा जिससे लोगों को नफ़रत थी, चालीस करोड़ आदमियों को, बिना उनकी रत्ती भर मर्जी के, लड़ाई में उलझा दे! ज़ाहिर है, कि उस ढांचे में बुनियादी तौर पर कोई ग़लती है, कोई सड़न है, जिसमें कि इस ढंग से चालीस करोड़ आदमियों की क़िस्मत का फ़ैसला किया जाता है। डोमीनियनों (उपनिवेशों) में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा पूरी तरह सलाह-मशविरा और हर पहलू से सोच-विचार के बाद यही फ़ैसला किया गया। लेकिन हिंदुस्तान में ऐसा नहीं हुआ और उससे हिंदुस्तानियों के दिलों को चोट पहुंची।

३ : युद्ध की प्रतिक्रिया

जिस वक़्त यूरोप में लड़ाई शुरू हुई, मैं चुंगकिंग में था। कांग्रेस के सभापति न तार द्वारा मुझसे तुरंत लौटने को कहा, और मैं जल्दी वापिस आया। जिस वक़्त मैं आया, कांग्रेस-कार्य-कारिणी की बैठक हो रही थी। इस मीटिंग में भाग लेने के लिए मि० जिन्ना को भी बुलाया गया था, लेकिन उन्होंने असमर्थता ज़ाहिर की। वाइसराय ने हिंदुस्तान को लड़ाई में शामिल ही नहीं किया, बल्कि कई आर्डिनेंस भी जारी कर दिये थे। ब्रिटिश पार्लमेंट ने गवर्नमेंट अव् इंडिया ऐक्ट में संशोधन कर दिया था। इन कानूनों में सूबों की सरकारों के अधिकार और कार्य-क्षेत्र को सीमित किया गया था, और वे अच्छे नहीं मालूम हुए, और ख़ास तौर पर इस वजह से कि जनता के नुमाइंदों से इस बारे में कोई सलाह नहीं ली गई थी। बल्कि अस्ल में उनकी अक्सर दुहराई हुई ख़्वाहिशों और ऐलानों की पूरी तरह अवहेलना कर दी गई थी।

१४ दिसम्बर १९३९ को, लम्बी बहस के बाद कांग्रेस-कार्य-समिति ने युद्ध-संकट के सिलसिले में एक लंबा बयान जारी किया। इसमें वाइसराय के उठाये हुए क़दमों और नये कानूनों का ज़िक्र था, और यह कहा गया कि 'कार्य-

समिति को इन घटनाओं को बड़े गम्भीर रूप में लेना चाहिए।' फ़ासिस्ट और नात्सी मतों की निंदा की गई और ख़ास तौर पर नात्सी जर्मन सरकार के सबसे ताजे हमले की, जो उसने पोलंड पर किया था, और उन लोगों के लिए जो ऐसी चीज़ों का विरोध करते थे, हमदर्दी ज़ाहिर की।

हालांकि सहयोग के लिए हम तैयार थे, लेकिन यह बात साफ़ कर दी गई कि 'जबर्दस्ती सिर मढ़े हुए फ़ैसलों का......लाज़िमी तौर पर विरोध किया जायगा। अगर किसी ऊंचे आदर्श के लिए सहयोग की ज़रूरत है तो यह बात ज़ाहिर है कि वह सहयोग दबाव या ज़बर्दस्ती से नहीं मिल सकता। और न कार्य-समिति इस बात के लिए तैयार हो सकती है कि हिंदुस्तानी उन हुक्मों की पाबंदी करें जो विदेशी शक्ति द्वारा दिये गए हैं। सहयोग तो बराबर वालों में होना चाहिए, और उसमें आपसी रज़ामंदी होनी चाहिए। और वह उस आदर्श के लिए जिसको दोनों ही बड़ी चीज़ समझते हों। इधर हाल ही में हिंदुस्तानियों ने बड़े ख़तरों का सामना किया है, और अपने आप ही आज़ादी हासिल करने और हिंदुस्तान में लोकतंत्र स्थापित करने के लिए बड़े-बड़े बलिदान किये हैं। उनकी हमदर्दी पूरी तरह लोकतंत्र और आज़ादी के लिए है। लेकिन हिंदुस्तान किसी ऐसी लड़ाई में शामिल नहीं हो सकता था, जिसके लिए कहा तो यह जाय कि वह लोकतंत्र की आज़ादी के लिए है लेकिन यह आज़ादी ख़ुद उसे हासिल नहीं है, और यही नहीं बल्कि जो कुछ थोड़ी-बहुत आज़ादी उसके पास है वह भी उससे छीनी जा रही है।

"समिति इस बात से परिचित है कि ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने यह घोषणा की है कि वह लोकतंत्र और आज़ादी के लिए लड़ रही है, और हमलों का रोकना चाहती है। लेकिन इधर हाल का इतिहास ऐसी बातों से भरा हुआ है और उसमें ऐसी मिसालें हैं कि कही हुई बातों में, जताए हुए आदर्शों में, और असली नीयत और मक़सद में, बराबर फ़र्क़ है।" पहले महा-युद्ध के दौरान की, और उसके बाद की कुछ घटनाओं का उनमें ज़िक्र था। उस सिलसिले में यह कहा गया कि, "बाद के इतिहास से यह बात फिर तरो-ताज़ा हो गई है कि जोश भरे, भरोसा दिलाने वाले ऐलानों को किस तरह बेशर्मी से पलटा जा सकता है.........फिर यह जोर दिया गया है कि लोक-तंत्र ख़तरे में है, और उसकी रक्षा करनी है। और इस वक्तव्य से समिति पूरी तरह सहमत है। समिति यक़ीन करती है कि पच्छिमी लोग इस आदर्श और उद्देश्य के लिए आगे बढ़ रहे हैं; और वे उनके लिए बलिदान करने के लिए तैयार हैं। लेकिन कितनी ही बार जनता के और उन लोगों के, जिन्होंने ऐसे संघर्षों में बलिदान किये हैं, आदर्शों और उनकी भावनाओं की अवहेलना की गई है, और उनके साथ ईमानदारी नहीं बरती गई है।"

"यदि लड़ाई सारी चीजों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने के बचाव के लिए है—यानी साम्राज्यवादी क़ब्ज़े, उपनिवेश, स्थापित स्वार्थ और रियासतों के बचाव के लिए है—तो हिंदुस्तान का उससे कोई वास्ता नहीं हो सकता। लेकिन, अगर इस वक़्त सवाल लोकतंत्र और लोकतंत्र पर बने एक दुनिया भर के ढांचे का है, तो हिंदुस्तान की उसमें बेहद दिलचस्पी है। समिति को पूरी तरह इतमीनान है कि हिंदुस्तानी लोकतंत्र और ब्रिटिश लोकतंत्र के या दुनिया के लोकतंत्र के हितों में कोई विरोध नहीं है। लेकिन साम्राज्यवाद और फ़ासिस्टवाद का हिंदुस्तान में या और जगह लोकतंत्र से एक बुनियादी और अमिट झगड़ा है। यदि ग्रेट ब्रिटेन लोकतंत्र को बनाये रखने और आगे बढ़ाने के लिए लड़ाई लड़ रहा है तो लाज़िमी तौर पर उसे अपने साम्राज्यवाद को ख़त्म कर देना चाहिए............एक आज़ाद लोकतंत्र हिंदुस्तान ख़ुशी से दूसरी आज़ाद क़ौमों का, हमलों से आपसी हिफ़ाज़त के लिए, साथ देने को तैयार है, और वह तैयार है आर्थिक सहयोग के लिए। आज़ादी और लोकतंत्र की नींव पर दुनिया भर का एक संघ बनाने के लिए वह काम करने को तैयार है, जिसमें कि इंसान की तरक़्क़ी के लिए दुनिया के सारे ज्ञान और साधनों को काम में लाया जाय।"

कांग्रेस-कार्य-समिति ने, राष्ट्रीय होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय नज़रिये को अपनाया और उसकी निगाह में लड़ाई सिर्फ़ हथियारबंद फ़ौजों की लड़ाई से कहीं ज्यादा बड़ी चीज़ थी। "जिस संकट ने यूरोप को आ घेरा है वह सिर्फ़ यूरोप का ही नहीं बल्कि सारी दुनिया का है। दूसरे संकटों या लड़ाइयों की तरह वह यों ही नहीं टलेगा और आज की दुनिया का ढांचा भी जैसा-का-तैसा नहीं बचेगा। उससे दुनिया का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नक़्शा बिलकुल बदल जायगा। वह बदला हुआ नक़्शा बेहतर होगा या बदतर यह बिलकुल दूसरी चीज़ है। यह संकट पिछली बड़ी लड़ाई के बाद तेज़ी से बढ़ने वाले विरोधों, सामाजिक और राजनीतिक झगड़ों का लाज़िमी नतीजा है। यह संकट आख़िरी तौर पर उस वक़्त तक नहीं टलेगा जब तक यह झगड़े और विरोध हट न जायं और जब तक कि एक नया समझौता क़ायम न हो जाय। इस संतुलन की बुनियाद है इस पर कि एक देश का दूसरे देश पर आधिपत्य और शोषण का ख़ात्मा हो जाय, और आर्थिक रिश्तों को एक नये सिरे से ऐसे ढर्रे पर लाया जाय जिसमें सबके फ़ायदे और सबके साथ इंसाफ़ का ध्यान हो। सारे सवालों की कसौटी है हिंदुस्तान। वह मौजूदा ज़माने के साम्राज्यवाद की ख़ास मिसाल है, और दुनिया का कोई भी ढांचा, इस बड़े और ख़ास सवाल को यों ही छोड़कर कामयाब नहीं हो सकता। अपने बड़े साधनों की वजह से दुनिया के नये ढांचे, और नये नक्शे में उसका बहुत बड़ा हिस्सा

होगा। लेकिन ऐसा तो वह एक आज़ाद राष्ट्र की हसियत से ही कर सकता है जिसमें कि इस बड़े मक़सद के लिए शक्ति फूटी पड़ती हो। आज़ादी का आज बंटवारा नहीं हो सकता। दुनिया के किसी भी हिस्से में साम्राज्यवादी कब्ज़ा बनाये रखने की कोशिश का लाज़िमी नतीजा एक ख़ौफ़नाक विध्वंस होगा।

इसी सिलसिले में समिति ने हिंदुस्तानी रियासतों के शासकों के सहयोग की चर्चा की। उन्होंने यूरोप में लोकतंत्र की रक्षा के लिए अपने आपको सौंपा था: समिति ने सलाह दी कि यह ज़्यादा मुनासिब होगा कि वे अपनी रियासतों में ही लोकतंत्र की शुरूआत करें।

समिति ने फिर हर ढंग से मदद देने की उत्सुकता का ज़िक्र किया, ब्रिटिश नीति के रवैये पर अपना शक ज़ाहिर किया। उस नीति में उसे लोकतंत्र या आत्म-निर्णय की मदद के लिए कोई कोशिश दिखाई नहीं दी, और न उसे कोई ऐसा सबूत ही मिला कि मौजूदा लड़ाई के ऐलानों पर अमल किया जा रहा है, या आगे अमल किया जायगा। फिर भी उसने यह कहा कि, "अवसर के गंभीर होने के नाते से और इस सचाई से कि पिछले कुछ दिनों की घटनाओं की तेज़ी आदमी के दिमाग़ की तेज़ी से भी ज़्यादा है, समिति इस वक़्त कोई अख़ीरी फ़ैसला नहीं देना चाहती ताकि इस बात के साफ़ होने का मौक़ा रहे, कि कौन-सी बातों पर इस वक़्त दांव लग रहा है, क्या असली मक़सद है, और हिंदुस्तान की, मौजूदा मौक़े पर, और फिर आगे चलकर क्या हैसियत होगी।" इसीलिए उसने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए आमंत्रित किया, "कि वह बिलकुल साफ़ लफ़्ज़ों में कहे कि लोकतंत्र और साम्राज्यवाद और विचाराधीन सारी दुनिया के एक नये नक़्शे के बारे में उसकी लड़ाई के मक़सद क्या हैं; और ख़ास तौर से यह बात कि यह युद्धोद्देश्य किस तरह अमल में लाये जायंगे और उनको मौजूदा वक़्त में हिंदुस्तान में किस तरह लागू किया जायगा। क्या उनमें साम्राज्यवाद को मिटाने और हिंदुस्तान के साथ एक आज़ाद राष्ट्र की तरह व्यवहार करने की बात शामिल है—उस आज़ाद हिंदुस्तान के साथ, जिसकी नीति जनता की इच्छाओं से तै होगी? किसी भी ऐलान की कसौटी उसको मौजूदा वक़्त में लागू करना है, क्योंकि मौजूदा वक़्त से न सिर्फ़ आज की ही बातें तै होंगी बल्कि आने वाले दिनों का भी नक़्शा तैयार होगा।······यह तो एक अपार दुःख की बात होगी कि यह भयंकर लड़ाई साम्राज्यवादी नीयत से लड़ी जाय, और उसी ढांचे को बनाये रखने का मक़सद बना रहे जो कि ख़ुद लड़ाई की जड़ है और इंसान के नीचे गिरने की वजह है।"

इस बयान में, जो कि गहरे सोच-विचार के बाद निकाला गया था,

हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के बीच से उन अड़ंगों को हटाने की कोशिश थी, जो कि उनके आपसी रिश्तों को, डेढ़ सौ बरसों से ख़राब कर रहे थे। इसमें कोशिश थी कि कोई ऐसा रास्ता निकल आवे कि आज़ादी के लिए हमारी बेचैनी और दुनिया के इस संघर्ष में आम जोश और सहयोग के साथ हमारी शामिल होने की दिली तबियत, ये दोनों बातें एक साथ चल सकें। हिंदुस्तान की आज़ादी के हक़ का दावा कोई नई बात न था; यह दावा लड़ाई या लोक-व्यापी संकट का नतीजा नहीं था। बहुत अर्से से हमारे काम और हमारे विचारों की बुनियाद में यही हक़ था और कितनी हीं पीढ़ियों से हम इसी के चारों तरफ़ चक्कर काट रहे थे। हिंदुस्तान की आज़ादा का साफ़ ऐलान करने और लड़ाई की ज़रूरतों का ख़याल रखते हुए नई हालत के लिए हेर-फेर करन में कोई मुश्किल न थी। अगर इंग्लिस्तान की तबियत और नीयत हिंदुस्तान को आज़ादी को मानने को तैयार होती, तो बड़ी-से-बड़ी मुश्किलें मिट जातीं। सच तो यह है कि यह तब्दीलियां लड़ाई की ज़रूरतों में मददगार होतीं। उसके बाद तो जिस बात की ज़रूरत रहती, उसे सभी पार्टियों की रज़ामंदी से, आसानी से, ठीक किया जा सकता था। हर सूबे में, सूबेवार सरकारें काम कर रही थीं। लड़ाई के दौरान के लिए, मरकज़ी सरकार के लिए ऐसा ढांचा बनाना आसान था जिसमें आम जनता का यक़ीन हो। यह ढांचा लड़ाई की कोशिशों का संगठन करता और उसमें जनता का सहयोग होता वह हथियार-बंद फ़ौजों का पूरी तरह साथ देता। वह ढांचा एक तरफ़ ब्रिटिश सरकार और दूसरी तरफ़ जनता और सूबों की सरकारों के बीच एक कड़ी की तरह होता। दूसरी वैधानिक समस्याएं लड़ाई के बाद के लिए मुल्तवी कर दी जातीं, हालांकि मुनासिब यही था कि उनको हल करने की जल्दी ही कोशिश हो। लड़ाई के बाद जनता के चुने हुए नुमाइंदे एक स्थायी विधान बनाते और आपसी हितों की बाबत इंग्लिस्तान से समझौता करते।

कांग्रेस की कार्य-समिति के लिए ऐसी तजवीज़ इंग्लिस्तान के सामने रखना कोई आसान बात नहीं थी। इस वक़्त ज्यादातर लोगों की अंतर्राष्ट्रीय मसलों के बारे में, जानकारी नहीं के बराबर थी, और वे हाल की ब्रिटिश नीति के लिए नाराज़ी ज़ाहिर करते थे। हम जानते थे कि एक-दूसरे पर शक, और आपस में भरोसे का कमी लफ़्ज़ों के जादू से नहीं मिट सकती थी। फिर भी हमें उम्मीद थी कि घटनाओं की मार से इंग्लिस्तान के नेता अपने साम्राज्य-वादी गड्ढों से बाहर आकर, दूर की चीज़ों को ध्यान में रखते हुए, हमारे प्रस्ताव का मंजूर करेंगे। इस तरह इंग्लिस्तान और हिंदुस्तान के झगड़े ख़त्म हो जायेंगे, और लड़ाई के लिए हिंदुस्तान का जोश और उसके साधन दोनों ही रुके बांध की तरह फूट पड़ेंगे।

लेकिन ऐसा नहीं होना था, और उन्होंने जवाब में हमारी मांग को नामंजूर कर दिया। यह बात साफ़ हो गई कि वे हमारा साथ दोस्तों और बराबर वालों की तरह नहीं चाहते थे। उनकी तबियत तो यह थी कि हम ग़ुलामों की तरह उनका हुक्म बजायें। हम दोनों ने 'सहयोग' शब्द का इस्तेमाल किया, लेकिन दोनों ने ही उस लफ़्ज़ के अलग-अलग मानी लगाये। हमारे लिए सहयोग के मानी थे—साथी होना, बराबर वाला होना, और उनके लिए उसके मानी थे कि उनका हुक्म हो और बिना चूं किये उसको हम बजा लावें। इस हालत को मंजूर करना हमारे लिए नामुमकिन था। इसके लिए तो ज़रूरी यह था कि हम उस सबको छोड़ दें, और उस सबसे मुंह मोड़ें जिसे हमने अपनी ज़िंदगी में एक अहमियत दे रक्खी थी, और जिसकी हम अब तक हिमायत करते रहे थे। और अगर हममें से कुछ इसके लिए राज़ी भी थे, तो कम-से-कम हम अपने साथ जनता को नहीं ले चल सकते थे। हम लोग राष्ट्रीयता की धारा से कटकर एक तरफ़ फिक जाते, और यही नहीं बल्कि उस अंतर्राष्ट्रीयता से भी जिसका हम बराबर सपना देख रहे थे।

हमारे सूबों की सरकारों की दिक्क़तें बढ़ गई, और उन्हें दो चीज़ों में से एक चुन लेना था। या तो वे वाइसराय और गवर्नर की दस्तंदाज़ी के सामने सिर झुकातीं या उनका मुक़ाबला करतीं। बड़े-बड़े सरकारी नौकर गवर्नर के साथ थे, और वे मंत्रियों और असेंबलियों की तरफ़ इस तरह देखते थे, मानो वे उसके रास्ते में रोड़ा हों। फिर वही पुराना झगड़ा सामने आया जिसमें एक तरफ़ मनचाही करने वाला बादशाह था, और दूसरी तरफ़ पार्लमिंट थी। यहां एक बात और थी; वह यह कि बादशाह परदेशी था और उसकी हुकूमत हथियारों और फ़ौज की बुनियाद पर थी। तब यह तै किया गया कि हिंदुस्तान के ग्यारह सूबों में से जिन आठ सूबों में कांग्रेसी सरकारें थीं (यानी बंगाल, सिंध और पंजाब को छोड़कर) वे विरोध में इस्तीफ़ा दे दें। कुछ लोगों की राय थी कि वे इस्तीफ़ा न दें और काम करते रहें ताकि गवर्नर को उन्हें बर्ख़ास्त करने की नौबत आए। यह बात ज़ाहिर थी कि बुनियादी झगड़ों की वजह से, जो दिन-ब-दिन ज़्यादा साफ़ होते जा रहे थे, उन सरकारों में और गवर्नरों में झगड़े होने लाज़िमी थे। और अगर वे सरकारें इस्तीफ़ा न देतीं तो उनको बर्खास्त कर दिया जाता। उन सरकारों ने बिलकुल वैधानिक रास्ता अपनाया, यानी इस्तीफ़ा दिया, और असेंबली को रद्द कर फिर से चुनावों के लिए न्यौता दिया। चूंकि असेंबली में उनके पीछे बहुमत था इसलिए कोई नया मंत्रिमंडल क़ायम नहीं हो सकता था। लेकिन गवर्नर नये चुनावों से बचना चाहते थे, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि उसमें कांग्रेस की बड़ी भारी जीत होगी। उन्होंने असेंबली को रद्द नहीं किया, बल्कि उसके

काम को मुल्तबी कर दिया, और, असेंबली और मंत्रिमंडल दोनों के ही सारे अधिकारों को अपने हाथों में ले लिया। सूबों के वे बिलकुल निरंकुश मालिक हो गए। वे क़ानून बनाते, हुक्म जारी करते और जो चाहते करते, और उसमें जनता की या उसके नुमाइंदों की राय का रत्ती भर भी ख़याल न होता।

ब्रिटेन के हिमायतियों ने अक्सर इस बात पर ज़ोर दिया है कि कांग्रेस ने सूबों की सरकारों से इस्तीफ़ा देने को कहकर एक हुकूमती ढंग अपनाया। यह तो उल्टा इल्ज़ाम लगाना है? क्योंकि यह बात उन लोगों की तरफ़ से कही जाती है, जो नात्सियों और फ़ासिस्टों को छोड़कर, सबसे ज्यादा निरकुंश और हुकूमत-परस्त लोग हैं। सच तो यह है कि कांग्रेस-नीति की बुनियाद ही आज़ाद ढंग से काम करना है। वाइसराय और गवर्नर के यह भरोसा दिलाने पर ही कि सूबों के मैदान में कोई दख़ल नहीं दिया जायगा, ये असेंबलियां और सूबवार सरकारें काम करने लगी थीं। अब यह दस्तंदाज़ी आय दिन की चीज़ थी, और १९३५ के एक्ट के वैधानिक अधिकार अब और भी कम हो गये थे। जैसा कि कहा जा चुका है, इन वैधानिक अधिकारों के ऊपर अब ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा संशोधित एक्ट था। यह बात कि कब, कहां और कितना दख़ल दिया जायगा, मरकज़ी सरकार, यानी वाइसराय, के लिए तै करने को छोड़ दी गई थी। कोई ऐसा रास्ता नहीं था कि सूबों की सरकारों के अधिकारों की हिफ़ाज़त की जा सके। इस हालत में तो वह सिर्फ़ सिर झुकाकर ही काम कर सकती थीं। वाइसराय और गवर्नर जनरल, अपनी तैनात की हुई कार्य-कारिणी की मदद से—उस कार्य-कारिणी की मदद से जिसने साथ देने का इतमीनान दिला दिया था, लड़ाई की ज़रूरत की आड़ में सूबों की सरकारों के हर फ़ैसले को उलट-पुलट सकते थे। कोई ज़िम्मेदार मंत्रिमंडल ऐसी हालत में काम नहीं कर सकता था। उसकी किसी एक से लड़ाई ज़रूर होता चाहे वह गवर्नर और सिविल सर्विस के आदमी हों, या वे असेंबली में जनता के नुमाइंदे हों। हर असेंबली में, उन सूबों में, जहां कांग्रेसी सरकारें थीं, लड़ाई शुरू होने के बाद कांग्रेस की मांग को मंजूर कर लिया गया था। और अब वाइसराय द्वारा इस मांग के रद्द होने के मानी थे इस्तीफ़ा या झगड़ा। आम जनता में सिर्फ़ एक भावना थी कि ब्रिटिश ताक़त के साथ लड़ाई छेड़ दी जाय। लेकिन जहां तक मुमकिन हो सकता था, कार्य-समिति इसकी नौबत नहीं आने देना चाहती थी और इसीलिए उसने नरम नीति को अपनाया। ब्रिटिश सरकार के लिए यह आसान था कि वह यहां की जनता की भावनाओं की जांच कर ले। यह बात आम चुनावों से साफ़ हो जाती। उन्होंने इस चीज़ से बचने की कोशिश की, क्योंकि उन्हें कोई शक़ नहीं था कि चुनावों में कांग्रेस की बड़ी भारी जीत होगी।

बंगाल और पंजाब के बड़े सूबों में, और सिंध के छोटे से सूबे में, इस्तीफ़े नहीं दिये गए। बंगाल और पंजाब दोनों ही में गवर्नर और सिविल सर्विस का पहले से ही बोल-बाला था, इसलिए वहां कोई झगड़ा नहीं उठ सकता था। इतने पर भी बंगाल में बाद में गवर्नर और प्रधान मंत्री की नहीं बनी और गवर्नर ने मंत्रि-मंडल को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया। आगे चलकर सिंध के प्रधान मंत्री ने वाइसराय को एक ख़त लिखा और उसमें ब्रिटिश नीति की बुराई-भलाई का और उसके विरोध में उन्होंने वह सरकारी ख़िताब जो उन्हें दिया गया था छोड़ दिया। उन्होंने इस्तीफ़ा नहीं दिया। लेकिन वाइसराय ने इस ख़त की वजह से, गवर्नर के हाथों, उन्हें प्रधान मंत्री के ओहदे से बर्ख़ास्त कराया, क्योंकि यह ख़त वाइसराय की शान के ख़िलाफ़ था।

कांग्रेसी सूबा-सरकारों को इस्तीफ़ा दिये हुए, अब क़रीब पांच वर्ष हो चुके हैं। इस दौरान में हर सूबे में एक आदमी का—गवर्नर का—राज्य रहा है। और लड़ाई की ओट में, और उसके बहाने से हम उन्नीसवीं सदी के बीच की ख़ूंरेज निरंकुशता पर पहुंच गए हैं। सिविल सर्विस और पुलिस का बोल-बाला है। और उनमें से कुछ, चाहे वे अंग्रेज हों या हिंदुस्तानी, अगर ब्रिटिश सरकार की निर्दय नीति के अनुसार काम करने में जरा नाख़ुशी जताते हैं तो उन्हें सरकार की ज्यादा-से-ज्यादा नाखुशी का नतीजा भोगना पड़ता है। कांग्रेसी सरकारों का किया हुआ बहुत-सा काम मिट्टी में मिला दिया गया है, और उनकी स्कीमों पर पानी फेर दिया गया है। ख़ुशकिस्मती से कुछ किसानी कानून अभी बने हुए हैं, अगर्चे उसके भी अक्सर ऐसे मानी लगाये जाते हैं, जिनमे किसानों को नुकसान पहुंचता है।

पिछले दो सालों में, आसाम, उड़ीसा, और सरहद के छोटे से सूबे में, फिर से सूबों की सरकारें क़ायम कर दी गई हैं। उसमें एक चाल है; असेंबली के कुछ मेंबरों को गिरफ़्तार कर लिया गया है, और इस तरह अल्प मत दलों को बहुमत वाला बना दिया गया है। बंगाल की मौजूदा सरकार, एक काफ़ी बड़े यूरोपियन दल के सहारे पर टिकी हुई है। उड़ीसा का मंत्रि-मंडल ज्यादा दिनों तक काम नहीं कर सका, और उस सूबे में फिर एक आदमी का, गवर्नर का, राज्य वापिस आ गया है। सरहदी सूबे में मंत्रि-मंडल काम करता रहा, लेकिन उसके साथ बहुमत नहीं था। इसी वजह से असेंबली की बैठक नहीं बुलाई जाती थी। पंजाब और सिंध में ख़ास तौर पर हुक़्म जारी किये गए जिनकी मदद से असेंबली के कांग्रेसी मेंबर (जो जेल से बाहर थे) असेंबली के अधिवेशन और दूसरी सार्वजनिक कार्रवाइयों में हिस्सा लेने से रोक दिये गए।[1]

---

[1] १९४५ के शुरू में सरहदी धारा-सभा को आख़िरकार, बजट पर

४ : कांगरेस की एक और तजवीज़ और ब्रिटिश सरकार द्वारा उसकी नामंजूरी : मि० विंस्टन चर्चिल

इन आठ सूबों में एक आदमी के निरंकुश शासन क़ायम होने के मानी चोटी के आदमियों का तब्दीली ही नहीं थी, जैसा कि मंत्रि-मंडल के बदलने पर होता है। वह तो एक ऐसी तब्दीली थी जिसका असर शुरू से अख़ीर तक पूरी सरकारी मशीन पर, उसकी भावना, उसकी नीति और उसके काम करने के ढंग पर था। स्थायी नौकरी वाले बड़े अफ़सरों पर से अब असेंबली की निगरानी हट गई, और गवर्नर से लेकर नाचे के अदना-से-अदना आदमी तक, सिविल सर्विस और पुलिस वालों का जनता की तरफ़ रुख़ बिलकुल बदल गया। यहां सिर्फ़ कांग्रेस के ताक़त में आने के पहले की-सी हालत ही नहीं लौटी; बल्कि हालत कहीं ज्यादा बिगड़ गई। क़ानूनी हालत से तो हम उन्नीसवीं सदी की निरंकुश स्वेच्छाचारिता पर पहुंच गए थे। अमली तौर पर यह बहुत खलने वाली चीज़ थी, क्योंकि पुराना आपसी भरोसा हट चुका था। सरकार के ब्रिटिश सदस्यों में, लंबे अर्से से स्थापित स्वार्थों के मिट जाने का डर और शक़ समाया हुआ था। कांग्रेसी सरकार के सवा दो साल बड़ी मुश्किल से बर्दाश्त हुए थे। उन्हीं लोगों के हुक्म की तामील करना, जिन्हें थोड़ी-सी शिकायत पर भी जेल भेजा जा सकता था, कुछ खुशगवार नहीं मालूम हुआ। अब पुराने धागों को जोड़ने की ही तबियत नहीं थी बल्कि इन फ़िसादियों को मुनासिब जगहों पर पहुंचा देने की ख्वाहिश थी। हर एक को, चाहे वह खेत का किसान हो, कारख़ाने का मज़दूर हो, कारीगर हो, दुकानदार हो, कारखानेदार हो, नौकरी पेशा हो, कालेज की नौजवान लड़की हो या लड़का हो, छोटी नौकरी वाला हो या कितनी ही ऊंची नौकरी वाला हिंदुस्तानी हो, और जिसने जनता की सरकार के लिए जोश दिखाया हो, उसको यह जताना था कि ब्रिटिश राज्य अब भी क़ायम है और उसका ख़याल रखना होगा। यही राज्य उनके निजी भविष्य को और उनके तरक्क़ी के मौक़ों को तै करेगा न कि ये थोड़े से आदमी, जो कुछ वक़्त के लिए दखल देने को आ घुसे थे। जिन लोगों ने मंत्रियों के सेक्रेटरियों की हैसियत से काम किया था वे अब मालिक थे। उनके और गवर्नर के बीच में अब कोई नहीं था, और अब वे फिर पुराने साहबी ढंग से बात करने लगे; जिलाधीश फिर अपने हलकों के सर्वेसर्वा हो गए; पुलिस को अब फिर अपनी पुरानी हरकतें करने की आज़ादी थी, क्योंकि उनको

विचार करने वाली बैठक बुलानी पड़ी। अविश्वास के प्रस्ताव से मंत्रि-मंडल हटा दिया गया और उसने इस्तीफ़ा दिया। तब डाक्टर खां साहब की सदारत में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल ने वह पद ग्रहण किया।

भरोसा था कि उनकी ग़लती होने पर भी, उनके दुर्व्यवहार करने पर भी ऊपर के अफ़सर उनकी मदद करेंगे और उनकी हिफ़ाज़त करेंगे। लड़ाई के कुहरे में तो हर एक चीज़ ढकी जा सकती थी।

कांग्रेसी सरकारों के बहुत से नुक्ताचीनों को भी इस नये ढर्रे को देखकर हैरत हुई। अब उनको इन कांग्रेसी सरकारों की ख़ूबियां याद आने लगीं और उन्होंने उनके इस्तीफ़े पर सख़्त नाराज़गी ज़ाहिर की। उनके मुताबिक कांग्रेसी सरकारों को आगे बढ़े चलना था, चाहे नतीजा कुछ भी होता। कुछ अजीब-सी बात तो है, लेकिन मुस्लिम-लीग के मेंबर भी सहम गये थे।

जब ग़ैर कांग्रेसियों और कांग्रेस-सरकार के आलोचकों में यह प्रतिक्रिया हुई, तो आसानी से अंदाज़ हो सकता है कि कांग्रेसियों, उनसे हमदर्दी रखने वालों, और असेंबली के मेंबरों की क्या हालत हुई होगी। मंत्रियों ने अपने ओहदों से इस्तीफ़ा ज़रूर दिया था, लेकिन असेंबली की मेंबरी से नहीं; और न इन असेंबलियों के मेंबरों और स्पीकरों ने ही इस्तीफ़े दिये। फिर भी वह हटा दिये गए, और उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई। और न कोई नये चुनाव ही हुए। विशुद्ध वैधानिक दृष्टिकोण से भी इसे बर्दाश्त करना आसान नहीं था, और किसी भी देश में उससे एक विकट संकट खड़ा हो सकता था। कांग्रेस जैसी शक्तिशाली, अर्ध-क्रांतिकारी संस्था, जिसमें देश की राष्ट्रीय भावना की नुमाइंदगी होती थी, और जिसका आज़ादी की लड़ाई का एक अपना इतिहास था, चुप होकर इस एक आदमी के निरंकुश राज्य को मंजूर नहीं कर सकती थी। जो कुछ हो रहा था उसके लिए वह सिर्फ़ दर्शक ही नहीं हो सकती थी, और ख़ास तौर से इसलिए कि यह सब उसी के ख़िलाफ़ था। और हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी नीति, सार्वजनिक और असेंबली के कामों के इस तरह कुचले जाने के ख़िलाफ़, बार-बार ज़ोरदार कार्रवाई करने की मांग की गई।

ब्रिटिश सरकार ने अपने लड़ाई के मक़सद को साफ़ करने, और हिंदुस्तान में आगे क़दम उठाने से इंकार कर दिया। इसके बाद कांग्रेस-कार्य-समिति ने ऐलान किया : "(कांग्रेस की) इस मांग का जो जवाब मिला है वह बिलकुल नाक़ाबिल इतमीनान है और ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से ग़लतफ़हमी पैदा करने की कोशिश की गई है, और साथ ही ख़ास नैतिक सवाल को धुंधला करने की कोशिश की गई है············लड़ाई के मक़सद के बारे में और कांग्रेस की आज़ादी के बारे में कुछ न बताने की कोशिश को जिसमें बेकार की बातों की आड़ ली गई है, समिति यही मानी लगाती है कि इस देश के और प्रतिक्रियावादी हिस्सों से मिलकर हिंदुस्तान में साम्राज्यवाद को क़ायम रखने की इच्छा बाक़ायदा बनी हुई है। कांग्रेस ने इस युद्ध-संकट और उस सिलसिले की सारी समस्याओं को तो एक नैतिक दृष्टिकोण से देखा है, और उसने इस

युद्ध-संकट से फ़ायदा उठाकर सादा करने के ख़याल से कुछ नहीं सोचा। हिंदुस्तान की आज़ादी और लड़ाई के मक़सद के बारे में (जो नैतिक और बड़े सवाल हैं उनका) पहले ठीक ढंग से फ़ैसला हो जाना ज़रूरी है। इसके बाद ही और दूसरी छोटी चीज़ों पर ग़ौर किया जा सकता है। किसी भी हालत में कांग्रेस सरकारी इंतज़ाम की जिम्मेवारी के लिए मंज़ूरी नहीं दे सकती, जब तक कि सच्ची ताक़त जनता के नुमाइंदों को न सौंप दी जाय। बिना इस ताक़त के वह थोड़े से बीच के ज़माने के लिए भी ज़िम्मेदारी लेने को तैयार नहीं है।"

समिति ने आगे चलकर यह कहा कि ब्रिटिश सरकार के नाम पर किये हुए ऐलानों की वजह से ही कांग्रेस को मजबूर होकर ब्रिटिश-नीति से अलग होना पड़ा है : और उसके असहयोग का पहला कदम यह था कि सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़ा दिया। असहयोग की आम नीति जारी रही है, और जबतक कि ब्रिटिश सरकार अपनी नीति नहीं बदलती, यह आगे भी जारी रहेगी। "लेकिन कार्य-समिति कांग्रेसियों को याद दिलायेगी कि हर सत्याग्रह में यह बात बुनियादी तौर पर शामिल है कि विपक्षी से संमानपूर्ण समझौता करने के लिए कोई कसर न बाक़ी रहे।...............इसलिए कार्य-समिति संमानपूर्ण समझौते पर पहुंचने के लिए ज़रिया पाने की बराबर कोशिश करती रहेगी हालांकि कांग्रेस की आंखों के सामने ही ब्रिटिश सरकार ने अपना दरवाजा बंद कर दिया है।"

देश में चारों तरफ़ फैली उत्तेजना को ध्यान में रखते हुए और इस संभावना को सोचकर कि नौजवान हिंसात्मक दंगे के तरीक़े को न अपना लें, समिति ने देश को अहिंसा की बुनियादी नीति की याद दिलाई, और उसे तोड़ने के ख़िलाफ़ चेतावनी दी। अगर कोई सविनय अवज्ञा भी हो तो उसके लिए भी यह ज़रूरी था कि वह पूरी तरह शांतिपूर्ण हो। इसके अलावा "सत्याग्रह के मानी हैं सबके लिए शुभ कामनायें—और वह ख़ास तौर पर मुख़ालिफ़ों के लिए। अहिंसा के इस ज़िक्र का लड़ाई से या हमले के वक़्त देश की रक्षा से कोई ताल्लुक़ नहीं था। उसका ब्रिटिश हुकूमत से, हिंदुस्तान की आज़ादी पाने की हर कोशिश से ही ताल्लुक़ था।

ये वह महीने थे, जब यूरोप में लड़ाई, पोलेंड के कुचले जाने के बाद, एक ख़ामोशी की हालत में थी। उस वक़्त ऊपरी तौर पर शांति मालूम देती थी और हिंदुस्तान के आम लोगों के ख़याल में लड़ाई अभी काफ़ी दूर थी, और ख़ास तौर से हिंदुस्तान के ब्रिटिश अफ़सरों की निगाह में भी शायद यही बात थी। हां उन्हें सामान जुटाने, और उसे भेजने की फ़िक्र ज़रूर थी। हिंदुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी उस वक्त और बाद में भी, जब तक जून १९४१ में जर्मनी ने रूस पर हमला किया, बराबर इस बात के ख़िलाफ़ थी कि इंग्लैंड को लड़ाई

में मदद दी जाय। उनकी संस्था ग़ैर कानूनी कर दी गई थी। उनका असर बहुत थोड़ा था। जो कुछ असर था वह कुछ नौजवान दलों में था। लेकिन इस वजह से कि वह व्यापक भावना को उग्र शब्दों में व्यक्त करते थे, उन पर रोक लगा दी गई।

इस दौरान में मरकज़ी और सूबों की असेंबलियों के लिए चुनाव करना आसान होता। लड़ाई की वजह से उसमें कोई रुकावट नहीं थी। ऐसे चुनाव से सारा वातावरण साफ हो जाता और देश की असली स्थिति सतह पर आ जाती। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को इस असलियत का ही तो डर था, क्योंकि तब उनकी बहुत-सी झूठी दलीलें आगे नहीं चल पातीं। इन दलीलों में वे बराबर अलग-अलग संस्थाओं और पार्टियों के असर का ज़िक्र करते थे। लेकिन सभी चुनावों से बचने की कोशिश की गई। सूबों में एक आदमी की हुकूमत चलती रही। मरकज़ी असेंबली, जिसके मेंबर तीन साल के लिए, बहुत थोड़े निर्वाचकों द्वारा चुने जाते हैं, दस साल से बराबर चल रही है। उस वक़्त भी जब सन् १९३९ मे लड़ाई शुरू हुई थी, उसकी मियाद के दो बरस ख़त्म हो चुके थे। हर साल बाद उसकी एक साल की मियाद और बढ़ा दी जाती है। उसके मेंबर बूढ़े होते जाते हैं, उनकी इज्ज़त बढ़ती जाती है, कभी-कभी वे मर जाते हैं और यह याद भी धुंधला होती जाती है कि कभी चुनाव भी हुए थे। चुनाव ब्रिटिश सरकार को पसंद नहीं है। उनसे ज़िंदगी का ढर्रा बिगड़ जाता है और आपस में लड़ने वाले मज़हबी फ़िर्क़ों व सियासी पार्टियों के हिंदुस्तान की तसवीर गंदी हो जाती है। बिना चुनाव के किसी आदमी या किसी समुदाय को, जिस पर इनायत करनी है, अहमियत देना बहुत ज्यादा आसान है।

वैसे तो सारे देश में ही, लेकिन ख़ास तौर पर उन सूबों में, जहां एक आदमी का राज्य था, दिन-ब-दिन हालत में तनाव ज्यादा बढ़ता गया। अपने आम काम-काज के लिए भी कांग्रेसियों को एक-एक करके जेल भेजा गया। छोटे-छोटे अफ़सरों और पुलिस की नई ज्यादतियों से राहत पाने के लिए किसान ज़ोरों से आवाज़ उठा रहे थे। इन पुलिस वालों और छोटे अफ़सरों पर बड़ों की इनायत थी; वे लड़ाई के नाम पर हर तरह की वसूलयाबी कर रहे थे। इस हालत के ख़िलाफ़ कुछ कार्रवाई करने के लिए मांग लाज़िमी हो गई। और तब कांग्रेस ने मार्च १९४० में बिहार सूबे की रामगढ़ नाम की जगह में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की सदारत में, अपने सालाना जलसे में यह तै किया कि सिर्फ़ सविनय अवज्ञा आंदोलन ही अब अकेला रास्ता है। इतने पर भी कोई नया कदम उठाने से बचने की कोशिश की, और जनता से तैयारी करने के लिए कहा गया।

अंदरूनी संकट दिन-ब-दिन ज्यादा विकट होता जा रहा था, और यह

महसूस हुआ कि संघर्ष टल नहीं सकेगा। लड़ाई के सिलसिले में एहतियात के लिए भारत-रक्षा-कानून पास हुआ था, और आम काम-काज को कुचलने के लिए उसका चारों तरफ़ इस्तेमाल हो रहा था; और बिना जुर्म लगाए ही लोग गिरफ़्तार कर जेल में भरे जा रहे थे।

लड़ाई की हालत में अचानक तब्दीली से, जिसकी वजह से डेनमार्क और नार्वे पर हमला हुआ, और उसके कुछ ही बाद फ्रांस की अचंभे में डालने वाली हार हुई, लोगों पर काफ़ी गहरा असर हुआ। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियायें हुईं, और यह कुदरती बात थी। लेकिन फिर भी फ्रांस के लिए और डन्कर्क और हवाई हमलों के बाद इंग्लैंड के लिए बड़ी भारी हमदर्दी की लहर आई। जिस वक़्त आज़ाद इंग्लैंड की हस्ती ही ख़तरे में थी, कांग्रेस, जो सविनय अवज्ञा के लिए बिलकुल तैयार थी, किसी ऐसे आंदोलन को नहीं सोच सकी। हां, कुछ ऐसे भी आदमी थे, जिनके ख़याल में इंग्लिस्तान की मुश्किलों और उसके ख़तरे म, हिंदुस्तान के लिए मौक़ा था। लेकिन कांग्रेस के नेता इस चीज़ के बिलकुल ख़िलाफ़ थे कि ऐसी हालत का, जिसमें ख़ुद इंग्लिस्तान का भविष्य ख़तरे मे भरा हुआ हो, फ़ायदा उठाया जाय और यह ख़याल उन्होंने खुले तौर पर ज़ाहिर किया। उस वक़्त के लिए सविनय अवज्ञा का विचार छोड़ दिया गया।

कांग्रेस की तरफ़ से एक और कोशिश की गई कि ब्रिटिश सरकार से समझौता हो जाय। पहली कोशिश में हिंदुस्तान में तब्दीली के अलावा, लड़ाई के मक़सद और साथ ही कितनी ही दूसरी बड़ी-बड़ी बातों के बारे में ऐलान की मांग की गई थी। लेकिन इस बार प्रस्ताव छोटा और निश्चित था और उसमें सिर्फ़ हिंदुस्तान का ही ज़िक्र था। उसमें हिंदुस्तान की आज़ादी को मंज़ूर करने की मांग की गई और कहा गया कि केन्द्र में एक क़ौमी सरकार क़ायम की जाय, जिसके मानी थे कि मुख़्तलिफ़ पार्टियों का सहयोग हो। उस वक़्त ब्रिटिश पार्लमेंट ने किसी नये क़ानून की बात नहीं सोची। सुझाव यह था कि जो मौजूदा क़ानूनी ढांचा है, उसी में वाइसराय के ज़रिये क़ौमी सरकार बना ली जाय। जिन तब्दीलियों का ज़िक्र किया गया था वह बड़ी तो ज़रूर थीं, लेकिन आपसी समझौते और ढंग से उनको ठोस शक्ल दी जा सकती थी। क़ानूनी और वैधानिक तब्दीलियों का बाद में होना ज़रूरी था, लेकिन वह कुछ वक़्त के लिए रुक सकती थीं, ताकि उन पर फ़ुरसत के मौक़े से और ज़्यादा सोच-विचार हो सके। लेकिन शर्त यह थी कि हिंदुस्तान की आज़ादी के हक़ को मंज़ूर कर लिया जाय। इस हालत में लड़ाई की तैयारियों में पूरी तरह साथ देने का भरोसा दिलाया गया।

इन प्रस्तावों ने, जिनकी शुरुआत श्रीराजगोपालाचार्य ने की, कांग्रेस

की अक्सर दुहराई गई मांगों को घटा दिया। उनकी यह मांग, उस मांग से जो हमारी बहुत अर्से से थी, बहुत कम थी। बिना किसी क़ानूनी परेशानी के इन चीज़ों को फ़ौरन ही अमली शक्ल दा जा सकती थी। उनमें और दूसरे बड़े समुदायों और दलों से मिलकर चलने की कोशिश थी, क्योंकि यह बात ज़ाहिर थी कि क़ौमी सरकार लाज़िमी तौर पर मिली-जुली सरकार हो। इतना ही नहीं बल्कि उनमें ब्रिटिश सरकार की हिंदुस्तान में अनोखी स्थिति का भी ध्यान रखा गया था। वाइसराय बराबर बना रहता, लेकिन यह उम्मीद की गई थी कि क़ौमी सरकार के फ़ैसलों को वह अपने 'वीटो' के अधिकार से रद्द नहीं करेगा। लेकिन सरकार के नेता की हैसियत से उसकी मौजूदगा के लाज़िमी तौर पर मानी यह थ कि उस सरकार से काफ़ी गहरा नाता होगा। लड़ाई का सारा ढांचा कमांडर-इन-चीफ़ के कब्ज़े में बना रहता, और सिविल शासन का जो जाल अंग्रेज़ों ने बिछाया था वह भी बना रहता। असल में इस रद्दो-बदल का जो ख़ास असर होता वह यह था कि शासन में एक नई भावना आती, एक नया नज़रिया क़ायम होता, एक नई ताक़त होती और लड़ाई की तैयारियों में और देश के सामने जो गंभीर समस्याएं थीं उनको हल करने में जनता का सहयोग होता। यह रद्दो-बदल और साथ ही लड़ाई के बाद हिंदुस्तान की आज़ादी का निश्चित आश्वासन—इन सबसे हिंदुस्तान में एक एसी जहनियत बनती जिसके सबब से लड़ाई में पूरी-पूरी मदद मिलती।

अपने पिछले ऐलानों और तजुर्बों के बाद कांग्रेस के लिए इस तजवीज़ को रखना कोई आसान बात नहीं थी। एसा महसूस किया जाता था कि ऐसे घेरे में बनी हुई क़ौमी सरकार बेबस होगी और उसका कुछ असर नहीं होगा। कांग्रेसी हलकों में इस पर काफ़ी विरोध हुआ और मैं ख़ुद भी बड़ी मुश्किल से, बहुत सोच-विचार के बाद ही इसके लिए राज़ी हो सका। मैं इसके लिए ख़ास तौर पर ज़्यादा बड़े अंतर्राष्ट्रीय सवालों को सोचकर ही राज़ी हुआ, और मेरी तबियत यह थी कि अगर सम्मानपूर्ण ढंग से यह मुमकिन हो, तो हमको फासिज़्म और नात्सीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहिए।

लेकिन हमारे सामने एक और ज़्यादा बड़ी मुश्किल थी और वह था गांधीजी का विरोध। उनका यह विरोध तो सिर्फ़ शांति और अहिंसा की वजह से था। लड़ाई में मदद देने के हमारे पिछले प्रस्तावों का उन्होंने विरोध नहीं किया था, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उन्हें बहुत बेचैनी रही होगी। लड़ाई के ठीक शुरू में ही, उन्होंने वाइसराय से कहा था कि कांग्रेस तो सिर्फ़ नैतिक सहायता दे सकती है, लेकिन कांग्रेस का यह रुख़ नहीं था, और यह बात बाद में कई बार साफ़ कर दी गई थी। अब तो उन्होंने निश्चित रूप से

आया और उनमें पुराने ढंग के ब्रिटिश रईसों की खूबियां और कमियां थीं। उन्होंने ईमानदारी से पूरी तरह इस उलझन से निकलन की कोशिश का। लेकिन उनके साथ बहुत-सी कमियां थीं; उनका दिमाग़ पुराने ढर्रे पर ही चलता था और किसी नये ढर्रे से उन्हें झिझक थी; जिस शासक-वर्ग के वह नुमाइंदे थे, उसकी परिपाटी से उसका नज़रिया महदूद था। जो कुछ वह देखते और सुनते थे वह सिविल सर्विस की आंखों और कानों से, या उन लोगों की मदद से, जो उन्हें घेरे रहते थे। जो लोग बुनियादी राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की सलाह देते थे, उन पर उन्हें भरोसा नहीं था; वह उन लोगों को नापसंद करते थे जो ब्रिटिश साम्राज्य, और हिंदुस्तान में उसके खास नुमाइंदे के ऊंचे मक़सदों की पूरी-पूरी तरह इज्ज़त नहीं करते थे।

उन संकट के दिनों में जब पश्चिमी यूराप में जर्मनी हवाई जहाज़ों से बम बरसा रहा था, इंग्लैंड में कुछ तब्दीली हुई। मि० नेविल चैंबरलेन हट गए थे, और कई लिहाज़ से यह एक चैन की बात थी। जेटलैंड के लाट, जो उनकी शाही हुकूमत के एक ख़ास रत्न थे, अब भारत-मंत्री के दफ़्तर से हट गए थे। उनके हटने पर किसी को अफ़सोस नहीं हुआ। और अब उनकी जगह आये मि० एमरी, जिनकी बाबत हमें क़रीब-क़रीब कुछ भी नहीं मालूम था, लेकिन जो कुछ पता था उसके खास मानी थे। हाउस ऑफ़ कामंस में, चीन पर जापान के हमले की, उन्होंने ज़ोरों से हिमायत की। उनकी दलील यह थी कि जापान ने चीन में जो कुछ किया, अगर हम उसकी निंदा करें तो हमको उसी तरह हिंदुस्तान और मिस्र में ब्रिटेन ने जो कुछ किया था उसकी भी निंदा करनी पड़ेगी। यह एक ज़ोरदार दलील थी, जिसको तोड़-मरोड़ कर एक ग़लत मक़सद के लिए इस्तैमाल किया गया था।

लेकिन वह शख़्स जिसकी सचमुच कुछ अहमियत थी, वह थे मि० विंस्टन चर्चिल। वह ब्रिटेन के नये प्रधान मंत्री थे। हिंदुस्तान की आज़ादी के सिलसिले में उनके ख़याल बिलकुल निश्चित और स्पष्ट थे और कई बार दोह-राये जा चुके थे। उसकी आज़ादी के वह कट्टर विरोध में थे, और उसके लिए किसी तरह झुकने या समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। जनवरी १९३७ में उन्होंने कहा था : "कभी-न-कभी तुम्हें गांधी, कांग्रेस, और उनके आदर्शों को कुचलना पड़ेगा।" उस साल दिसंबर में उन्होंने कहा : "ब्रिटिश राष्ट्र का हिंदुस्तान की आज़ादी और तरक्क़ी पर से अपना नियंत्रण हटाने का कोई इरादा नहीं है······बादशाह के ताज के सबसे ज़्यादा क़ीमती और सबसे ज़्यादा चमकीले उस हीरे को फेंक देने का हमारा क़तई इरादा नहीं है। वह अकेला ही और सब डोमीनियनों और अधिकृत प्रदेशों के मुक़ाबले ब्रिटिश साम्राज्य की ताक़त और शान को क़ायम रखता है।"

बाद में उन्होंने समझाया कि 'डोमीनियन स्टेटस' नाम के उन जादू-भरे लफ़्ज़ों के, जो अक्सर हमसे कहे गये, हिंदुस्तान के सिलसिले में, क्या मानी थे। जनवरी १९३१ में उन्होंने कहा : "हमने उसको (डामीनियन स्टेटस को) हमेशा ही आख़िरी मक़सद माना है। लेकिन रस्मी तौर को छोड़कर, किसी ने यह नहीं सोचा, कि हिंदुस्तान के नुमाइंदे लड़ाई की कांफ्रसों म उस तरह भाग लें जिस तरह कि वे लेते हैं; और न यह सोचा कि हिंदुस्तान के लिए उसूलों और नीतियों को आग चलकर कभी कम-से-कम जहां तक हमें मनासिब तौर पर नज़र आता है, कोई अमली शक्ल द। जायगी। और फिर दिसंबर १९३१ में, "बहुत से बड़े-बड़े सार्वजनिक नेताओं ने व्याख्यान दिये और उन लोगों में से मैं भी था और मैंने भी डोमीनियन स्टेटस पर व्याख्यान दिया था, लेकिन मैंने यह कभी नहीं साचा था कि हिंदुस्तान को आगे चलकर वही वैधानिक्र अधिकार मिलेंगे जो कनाडा को प्राप्त हैं।......हिंदुस्तान में अपने साम्राज्य को छोड़ने के बाद, इंग्लैंड एक बड़ी ताक़त नहीं रह पायेगा।"

यही तो विकट समस्या थी। हिंदुस्तान ही साम्राज्य था। उस पर अधिकार और उसके शोषण से ही इंग्लैंड को वह शान और ताक़त हासिल थी जिसने उसे एक बड़ी ताक़त बना दिया। मि० चर्चिल किसी ऐसे इंग्लैंड की नहीं सोच सकते थ जिसमें वह एक बड़े साम्राज्य का मालिक न हो और इस तरह वह एक आज़ाद हिंदुस्तान की सोच ही नहीं सकते थे। और डोमीनियन स्टेटस का जो बहुत अर्से से हमारी पहुंच के अंदर बताया जाता था, अब राज़ खुला। वह तो एक शब्द-जाल था और महज़ एक रस्म पूरी करने के लिए था। वह हमारी आज़ादी और ताक़त से बहुत दूर था। अपने पूरे-पूरे मानी में भी जो कुछ डोमीनियन स्टेटस हो सकता था, हमको तो वह भी मंजूर नहीं था। हम तो चाहते थे आज़ादी। मि० चर्चिल और हमारे बीच में सचमुच एक बहुत बड़ी खाई थी।

हमको उनके लफ़्ज याद आए, और हम जानते थे कि वह बहुत ज़िद्दी और न झुकने वाले शख़्स हैं। उनकी नेतागिरी में हमको इंग्लैंड से बहुत कम उम्मीद हो सकती थी। हिम्मत और नेतागिरी की बहुत-सी खूबियों के होते हुए भी वह उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यवादी, अनुदार, प्रगति-विरोधी इंग्लैंड के नुमाइंदे थे। ऐसा मालूम होता था, कि नई दुनिया, उसकी जटिल समस्याएं, उसकी ताकतों को समझ सकने में वह असमर्थ हैं---और उससे भी कम उस भविष्य को समझ सकते हैं, जो अब बन रहा था। फ्रांस के साथ एक होने के प्रस्ताव में (हालांकि वह प्रस्ताव एक ख़तरे के मौक़े पर किया गया था) एक दूरदर्शिता दिखाई दी और उसमें परिस्थितियों के अनुकूल होने के आसार दिखाई दिये। उससे हिंदुस्तान पर काफ़ी असर हुआ। शायद जिस नये पद पर

वह पहुंचे थे, उसने और उस पद की ज़िम्मेदारियों ने उनकी निगाह को फैला दिया था। शायद अब वह अपने पहले ख़यालों और अपनी पहली आदतों का पार कर आगे बढ़ गए थे। शायद लड़ाई की ज़रूरतें ही, जिनकी अब सबसे ज्यादा अहमियत थी, उन्हें यह मंजूर करने के लिए मजबूर करें, कि हिंदुस्तान की आज़ाद। लाज़िमी ही नहीं बल्कि लड़ाई के लिहाज़ से भी ज़रूरी और मुनासिब है। जब अगस्त १६३६ में मैं चीन जा रहा था तो मुझे यह सब याद आया। क्योंकि जब मैं लड़ाई के मारे उस देश को देखने जा रहा था, तो एक दोस्त के ज़रिये उन्होंने मेरे इस दौरे के लिए शुभ-कामनायें भेजीं।

इसीलिए जब हमने अपने प्रस्ताव को पेश किया तो हम उम्माद से खाली नहीं थे। लेकिन हमें उम्मीद बहुत ज़्यादा भी नहीं थी। जल्दी ही ब्रिटिश सरकार का जवाब आया। उस जवाब में बिलकुल साफ़ इंकार था, और यही नहीं उसके लफ़्ज़ भी ऐसे थे कि हमको यह इतमीनान होगया कि इंग्लैंड का हिंदुस्तान पर से अपनी ताक़त उठा लेने का कोई इरादा नहीं है। वह फूट बढ़ाने और मध्य-कालीन विचार-धारा वाले और प्रतिक्रियावादी हिस्सों को मज़बूत बनाने पर तुला हुआ था। हिंदुस्तान में अपना साम्राज्यवादी काबू छोड़ने से ज्यादा बेहतर बात तो उन्हें यह लगती थी कि यहां आपसी लड़ाई शुरू होजाय और हिंदुस्तान बरबाद हो जाय। हालांकि हम इस तरह के बर्ताव के आदी हो गए थे, फिर भी हमें एक धक्का लगा, और नाउम्मीदी की भावना बढ़ी। मुझे याद है, मैंने उस वक्त एक लेख लिखा था, जिसे मैंने शीर्षक दिया था 'अलग-अलग रास्ते'। बहुत अर्से से मैं हिंदुस्तान की आज़ादी का हामी था क्योंकि मुझे पूरा यक़ीन था, कि उसके बिना न तो हम सामूहिक रूप में पूरी तरह उन्नति हो कर सकते हैं, और न हमारा इंग्लैंड से दास्ताना रिश्ता या साथ ही हो सकता ह। फिर भी मैंने इस दोस्ताना रिश्ते की उम्मीद की। अब अचानक ही मुझे यह महसूस हुआ कि जबतक ईंग्लैंड पूरी तरह न बदले, हमारे लिए कोई एक रास्ता नहीं था। हमारे रास्ते बिलकुल अलग थे।

५ : व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा

इस तरह अज़ादी के खयाल के उस नशे की जगह जिससे हमारी शक्तियों का स्रोत खुलता, और हम एक क़ौमी उत्साह के साथ दुनिया के संघर्ष में कूदते, हमको उस आज़ादी की इंकारी की तकलीफ़देह मायूसी का तजुर्बा हुआ। इस इंकार के साथ घमंड का बात कही गई, ब्रिटिश राज्य और नीति की अपने मुंह तारीफ़ की गई और उसमें उन शर्तों का ज़िक्र किया गया जिनके पूरा होने पर ही हिंदुस्तान आज़ादी की मांग कर सकता था। वे ऐसी शर्तें थीं जिनमें से कुछ का पूरा होना नामुमकिन था। यह बात ज़ाहिर हो

ाई कि सारी बात, और इंग्लैंड में पार्लामेंट की बहस, चिकनी-चुपड़ी भाषा और शानदार ऐलान सिर्फ़ राजनीतिक चालें थीं, जिनसे असली नीयत पर परदा डाला जाता था। इस नीयत के लिहाज़ से, जब तक मुमकिन हो सके, हिंदुस्तान पर साम्राज्यवादी कब्ज़ा बनाये रखना था। हिंदुस्तान के सजीव शरीर में साम्राज्यवाद का पंजा गहरा गड़ाये रखना था। और यह नमूना था उस आज़ादी और लोकतंत्र का, जिसके लिए ब्रिटेन लड़ने का दावा कर रहा था।

इसके अलावा एक और बात से खास इशारा मिला। बर्मा न एक बहुत मामूली-सी मांग पेश की थी, कि उसे यह आश्वासन दिया जाय कि लड़ाई के बाद उसे डोमीनियन स्टेटस दे दिया जायेगा। यह बात प्रशांत महासागर की लड़ाई शुरू होने से बहुत पहले की है, और किसी भी सूरत से इससे लड़ाई में किसी तरह का हर्ज नहीं होता था, क्योंकि लड़ाई के खत्म होने के बाद ही, उसको अमली शक्ल देनी थी। बर्मा ने आज़ादी नहीं, सिर्फ़ डोमीनियन स्टेटस की मांग की थी। जो बात हिंदुस्तान के साथ हुई, वही वहां हुई। उससे बार-बार कहा गया था कि ब्रिटिश नीति का आखिरी मक़सद डोमीनियन स्टेटस है। हिंदुस्तान के बर-अक्स वहां बहुत कुछ एकसापन था और वे सब सच्ची और झूठी दलीलें, जो अंग्रेजों द्वारा हिंदुस्तान के सिलसिले में दी जाती थीं, वहां लागू ही नहीं होती थीं। 'डोमीनियन स्टेटस' एक सुदूर भविष्य में होता। वह एक धुंधला, महज़ दिमाग़ी नक़्शा था जिसका ताल्लुक़ किसी दूसरी दुनिया से और किसी दूसरे युग से था। वह तो, जैसा कि मि० विंस्टन चर्चिल ने जताया था, सिर्फ़ थोथी, दिखावटी बात थी जिसका वर्तमान या निकट भविष्य से कोई संबंध नहीं था। इसी तरह वे आपत्तियां जो हिंदुस्तान की स्वाधीनता के विरुद्ध उठाई गई थीं, सिर्फ़ थाथी बातें ही थीं जिनमें न कोई सचाई थी और न कोई मतलब ही था। जो सचाई थी वह तो यह थी कि इंग्लैंड का हर मुमकिन ढंग से हिंदुस्तान को जकड़े रखने का पक्का इरादा है और दूसरी तरफ़ जैसे भी बन पड़े इस बंधन को तोड़ने का हिंदुस्तान का पक्का इरादा है। इसके अलावा बाकी सब बातें गप्पें थीं या वकीली बातें थीं या कूटनीतिज्ञों की चालबाज़ियां थीं। इन दो कट्टर विरोधियों के झगड़े का क्या परिणाम होगा यह तो सिर्फ़ भविष्य ही बता सकता था।

भविष्य ने फ़ौरन ही बर्मा के प्रति ब्रिटिश नीति का नतीजा दिखाया। हिंदुस्तान में भी धीरे-धीरे वह भविष्य खुलने लगा और उसके साथ झगड़ा, तीखापन और तकलीफ़ आई।

ब्रिटिश सरकार के असभ्य आघात के बाद हिंदुस्तान में जो कुछ हुआ उसके लिए सिर्फ़ दर्शक बनकर, जिसके हाथ-पांव बंधे हों, रहना नामुमकिन हो गया। जब एक भयंकर लड़ाई के बीच उस सरकार का यह रुख था, तो इस

संकट के टल जाने पर और लोकमत के दबाव के कम हो जाने पर क्या रुख होता ? दुनिया के करोड़ों आदमी आज़ादी के आदर्श में विश्वास करके ही तो उसके नाम पर बड़ी-बड़ी कुर्बानी कर रहे थे : इस बीच में हमारे आदमियों को देश भर में एक-एक करके, चुनकर जेलों में भेजा गया। हमारे मामूली काम-काजों में दख़ल दिया जाने लगा और उन पर पाबंदिया लगा दी गई । यहां यह बात याद रखने की है कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार, राष्ट्रीय और मजदूर आंदोलनों से बराबर लड़ाई लड़ती रही है; वह सविनय अवज्ञा के शरू होने का तो इंतज़ार ही नहीं करती । कभी-कभी उस लड़ाई की लपटें बाहर आ गई हैं और उसमें सरकार ने सब मोर्चों पर चारों तरफ़ से हमला किया है, या वह कभी-कभी कुछ घट गई है, लेकिन हमेशा वह बनी ज़रूर रही है ।[1] हां, प्रांतों म कांग्रेसी सरकारों की हुकूमत के छोटे से अर्से में, उसमें कुछ ख़ामोशी आगई थी । लेकिन उसके इस्तीफ़े के बाद फ़ौरन ही यह फिर शुरू हो गई । स्थायी नौकरी वालों को कांग्रेसियों और असेंबली के मेंबरों को गिरफ़्तार करने के लिए हुक्म देने या जेल भेजने में एक अजीब तरह की ख़ुशी हुई ।

अब सीधी कार्रवाई लाज़िमी हो गई, क्योंकि कभी-कभी नाकामयाबी काम न करने की वजह से ही होती है । वह कार्रवाई हमारी निश्चित नीति के मुताबिक, सविनय अवज्ञा की तरह ही हो सकती थी। लेकिन इस बात की सावधानी रखी गई कि जनता का उभार न हो, और वह सविनय अवज्ञा कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित कर दी गई । सामूहिक सविनय अवज्ञा के मुक़ाबले में यह तो वह चीज़ थी, जिसे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा कहा जा सकता था । यह दर-अस्ल एक बड़े नैतिक विरोध की शक्ल में था । राजनीतिज्ञ के नज़रिये से यह मुनासिब नहीं मालूम होता कि हम जान-बूझकर

---

१ लड़ाई के शुरू होने के पहले से ही बहुत से आदमी बराबर जेल में रहे हैं । मेरे कुछ नौजवान साथियों के जेल में १५ बरस बीत चुके हैं, और वे अब भी वहीं हैं । जब उनको सज़ा दी गई थी तो वे लड़के थे, शायद ही बीस बरस से ऊपर रहे हों । अब उनके बाल सफ़ेद पड़ने लगे हैं, और वे प्रौढ़ हो गये हैं, बार-बार यू० पी० की जेलों में पहुंचने की वजह से मुझे उनसे मिलने का मौक़ा मिला है । मैं जेल में पहुंचा, कुछ वक़्त रहा और फिर बाहर आगया; लेकिन वह वहीं बने रहे हैं । हालांकि वे लोग यू० पी० के हैं, और कुछ सालों से यू० पी० में रह रहे हैं, लेकिन उन लोगों को सज़ा पंजाब में दी गई थी और इसीलिए पंजाब सरकार के हुक्म से यहां हैं । यू० पी० की कांग्रेसी सरकार ने उनके छोड़ने की सिफ़ारिश की, लेकिन पंजाब सरकार को यह बात मंजूर नहीं हुई ।

हुकूमत को पलट देने की कोशिश से बचें और उसके लिए यह आसान कर दें कि वह उत्पात मचाने वालों को जेल भेज दें। इन्क़लाब या झगड़ा करने वाली राजनीतिक कार्रवाई का यह रवैया और कहीं नहीं रहा है। लेकिन यह गांधी जी का ढंग था, कि इन्क़लाबी राजनीति को, नैतिकता से मिला दिया जाय, और जब कभी ऐसा आंदोलन हुआ, वे लाज़िमी तौर पर उसके नेता हुए। यह दिखाने का, उनका यह अपना ढंग था, कि हालांकि हमारा मक़सद झगड़ा करने का नहीं है फिर भी ब्रिटिश नीति के आगे हम सिर नहीं झुका सकते, और इस सिलसिले में अपनी नाराज़ी और पक्का इरादा दिखाने के लिए हम अपने आप, तकलीफ़ों को गले लगायेंगे।

यह व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन एक बहुत छोटे पैमाने पर शुरू हुआ। उसमें हिस्सा लेने से पहले हर सत्याग्रह करने की ख़ाहिश रखने वाले को इजाज़त लेनी पड़ती थी और उसके लिए एक तरह का इम्तिहान पास करना पड़ता। जो छांटे जाते थे, वे किसी मामूली से कानून को तोड़ते थे, गिरफ़्तार होते थे और जेल भेज दिये जाते थे। जैसा हमारा तरीक़ा है चोटी के आदमी सबसे पहले छाटे गए, यानी कांग्रेस-कार्य-समिति के अध्यक्ष, भूतपूर्व सरकारी मंत्री, असेंबली के मेंबर, कांग्रेस महासमिति के और प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मेंबर। धीरे-धीरे यह घेरा बढ़ता गया। यहां तक कि पच्चीस और तीस हज़ार के बीच में आदमी और औरत जेलों में पहुंच गए। इन लोगों में सूबों की धारा-सभाओं के स्पीकर और बहुत से मेंबर, जिनको सरकार ने काम से रोक दिया था, शामिल थे। इस तरह हमने यह बात जताई, कि अगर हमारी चुनी हुई धारा-सभाओं के सदस्यों को काम नहीं करने दिया जाता तो वे मनमाने राज्य के आगे सिर न झुकाकर जेल जाना पसंद करेंगे। उन लोगों के अलावा (जिन्होंने महज़ नाम के लिए कोई आज्ञा शांतिपूर्वक तोड़ी), और कई हज़ार आदमी व्याख्यान देने के नाम पर या और किसी वजह से गिरफ़्तार करके जेल भेज दिये गए, और बिना किसी जुर्म लगाए ही उनको रोक रखा गया। क़रीब-क़रीब शुरू में ही मैं भी गिरफ़्तार हुआ, और एक व्याख्यान देने के नाम पर मुझे चार साल जेल की सज़ा हुई।

अक्तूबर १९४० से ये सब लोग एक साल से ऊपर जेलों में रहे। जो कुछ ख़बरें हमको मिल सकती थीं, उनकी मदद से हम लड़ाई का रुख़, हिंदुस्तान की और सारी दुनिया की घटनाओं को समझने की कोशिश करते रहे। हमने प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट की चार आज़ादियों की बात पढ़ी, एटलांटिक चार्टर की बात सुनी और फिर कुछ ही वक़्त बाद मि० चर्चिल की यह शर्त जानी कि यह चार्टर हिंदुस्तान पर लागू नहीं होता।

जून १९४१ में, सोवियत् रूस पर हिटलर के अचानक हमले से हम

लोग हिल गय, और हम चिंता और उत्सुकता के साथ लड़ाई की हालत म तेज़ी से होने वाली तब्दीलियों पर आंख लगाए रहे।

४ दिसंबर १९४१ को हममें से बहुत से लोग छोड़ दिये गए। उसके तीन दिन बाद ही पर्ल हारबर पर हमला हुआ, और प्रशांत महासागर की लड़ाई शुरू हो गई।

६ : पर्ल हारबर के बाद : गांधीजी और अहिंसा

जिस वक़्त हम जेल से बाहर आए, राष्ट्रवादियों का रुख तथा हिंदुस्तान और इंग्लैंड के झगड़े का सवाल ज्यों-का-त्यों था। जेल का लोगों पर तरह-तरह का असर होता है; कुछ कमज़ोर हो जाते हैं, या कुचले जाते हैं; कुछ दूसरे लोग पक्के हो जाते हैं, और अपनी धारणाओं के बारे में कट्टर हो जाते हैं। आम तौर पर पिछली बात ही होती है और उसका आम जनता पर बहुत असर होता है हालांकि क़ौमी नज़रिये से हम जहां-के-तहां थ, फिर भी पर्ल हारबर के बाद एक नया तनाव आया, और उसमें एक दूसरा नज़रिया पैदा हुआ। इस तनाव के नये वातावरण में, कार्य-समिति की बैठक फ़ौरन ही हुई। उस वक़्त तक जापानी बहुत आगे नहीं बढ़ पाये थे। लेकिन जो कुछ बड़ा और सदमा देने वाला विध्वंस हो चुका था, वही क्या कम था। लड़ाई अब दूर की चीज़ नहीं थी, और वह हिंदुस्तान के ज्यादा नज़दीक आने लगी, और उस पर गहरा असर डालने लगी। इस ख़तरे की हालत में अपना-अपना पार्ट अदा करने की हर कांग्रेसी की ख्वाहिश तेज़ हुई, और इस नई हालत में जेल जाना एक बेकार-सी बात मालूम दी लेकिन जब तक सम्मानपूर्ण सहयोग के लिए दरवाजा न खुले, हम कर ही क्या सकते थे? इस तरह के सहयोग के समय ही जनता में काम करने के लिए निश्चित प्रेरणा हो सकती थी। मंड-राते हुए ख़तरे का डर काफ़ी नहीं था।

पिछले इतिहास और पिछली घटनाओं के बावजूद हम लड़ाई में साथ देने और ख़ास तौर से हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त करने के ख़ाहिशमंद थे। लेकिन उसके लिए लाज़िमी शर्त यह थी कि सरकार क़ौमी हो। मुल्क के दूसरे हिस्सों के साथ मिलकर काम करने में हमें उससे मदद मिलती। वह सरकार जनता को यह महसूस करा देती कि यह कोशिश सचमुच क़ौमी है, न कि उन परदेशियों के हुक्म से, जिन्होंने हमें ग़ुलाम बना रक्खा है। इस नज़रिये में, कांग्रेसियों और उनके अलावा और बहुत से आदमियों में कोई फ़र्क़ नहीं था, लेकिन अचानक एक बहुत बड़ा उसूली सवाल उठ खड़ा हुआ। दूसरे देशों से लड़ाई के वक़्त भी गांधीजी अहिंसा के बुनियादी उसूल को छोड़ने को तैयार नहीं थे। लड़ाई के नज़दीक होने पर भी उन्हें एक चुनौती हो गई, और अब उनके

विश्वास की जांच का मौक़ा था। अगर इस नाजुक घड़ी में वह फिसलते तो उसके दो ही मानी हो सकते थे——या तो अहिंसा वह बुनियादी और व्यापक सिद्धांत और कार्य-प्रणाली ही नहीं जिसे, उन्होंने समझ रखा है, और या उसे छोड़ने या उससे समझौता करने में वह ग़लती कर रहे हैं। अपने ज़िंदगी भर के विश्वासों को वह छोड़ नहीं सकते थे। उसकी बुनियाद पर ही उन्होंने सारे काम-काज किये थे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि उनका अहिंसा के नतीजों और उसका परेशानियों का सामना करने को तैयार होना चाहिए।

एक इसी ढंग की मुश्किल और ऐसा ही झगड़ा, पहली बार उस वक़्त उठा जब कि १९३८ में म्यूनिख-संकट के साथ लड़ाई के आने के आसार दिखाई दिये। मैं उस वक़्त यूरोप में था और बहस के वक़्त मौजूद नहीं था। लेकिन संकट के टलने और लड़ाई के मुल्तबी होने के साथ ही, यह मुश्किल भी हट गई। जब सितम्बर १९३९ में लड़ाई शुरू हुई तो न तो कोई ऐसा सवाल ही उठा और न उस पर बहस हुई। यह तो १९४० की गर्मियों के अख़ीर की बात है कि गांधीजी ने फिर इस बात को स्पष्ट किया कि वह हिंसात्मक लड़ाई में साथ नहीं दे सकते, और वह कांग्रेस को भी यही सलाह देना चाहेंगे कि उस सिलसिले में उसका भी यही रुख़ हो। वह नैतिक और हर दूसरे ढंग की मदद के लिए राज़ी थे, लेकिन हिंसात्मक, हथियारबंद लड़ाई में ख़ुद शामिल होने के लिए वह तैयार नहीं थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस आज़ाद हिंदुस्तान में भी अहिंसा बनाये रखने का अपना ऐलान करे। हां, उन्हें यह मालूम था कि देश में, यहां तक कि ख़ुद कांग्रेस में भी, ऐसे लोग हैं जिनका अहिंसा में भी इतना विश्वास नहीं है। वह इस बात का अनुभव करते थे कि जब आज़ाद हिंदुस्तान में, फ़ौजी, समुद्री और हवाई ताक़त का सवाल उठेगा, या जब रक्षा का सवाल होगा, तो उसकी सरकार अहिंसा को एक तरफ़ हटा देगी। लेकिन वह चाहते थे कि अगर मुमकिन हो सके तो कम-से-कम कांग्रेस तो अहिंसा के झंडे को ऊंचा उठाए रखे, और इस तरह आदमियों को सिखाए, और उनके ऐसे विचार बनाए कि वह दिन-ब-दिन ज़्यादा शांतिपूर्ण उपायों को सोचें। हथियारबंद हिंदुस्तान का ध्यान कर वे सहम जाते थे। वे उस हिंदुस्तान का सपना देखते थे जो अहिंसा का नमूना और प्रतीक होगा और जो अपनी मिसाल से बाक़ी दुनिया को लड़ाई और हिंसा से ऊपर उठा देगा। अगर पूरे हिंदुस्तान ने इस विचार को नहीं अपनाया, तो कम-से-कम इस परख के मौक़े पर कांग्रेस को उसे छोड़ नहीं देना चाहिए।

बहुत अर्से पहले, कांग्रेस ने अहिंसा के उसूल और अमल को अपनाया था, कि उससे अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ी जायगी और क़ौम के एके को बनाये रखा जायगा। किसी वक़्त भी वह इस हद से आगे नहीं बढ़ी थी, और

उसे बाहर के हमले या अंदरूनी अराजकता के लिए कभी लागू नहीं किया था। सच तो यह है कि हिंदुस्तानी फ़ौज के मामलों में उसन बहुत दिलचस्पी ली थी, और अक्सर यह मांग की थी कि उसमें अफ़सरों की जगहें भारतीयों को ही दी जायं। केंद्रीय असेंबली की कांग्रेस पार्टी ने अक्सर इस मामले में तजवीज़ पेश की थी या उस पर बहस के मौक़ों में हिस्सा लिया था। १९२०-३० के बीच में पार्टी के नेता की हैसियत से, मेरे पिताजी ने स्कीन कमेटी की मेंबरी को मंजूर किया। इस कमेटी को हिंदुस्तानी फ़ौज के पुनः संगठन और भारतीय-करण पर विचार करने के लिए बनाया गया था। उन्होंने बाद में उससे इस्तीफा दिया। लेकिन उसकी वजह राजनीतिक थी और उसका अहिंसा से कोई ताल्लुक़ नहीं था। १९३७-३८ में सूबों की सरकारों से सलाह लेकर कांग्रेस पार्टी ने केंद्रीय असेंबली में एक प्रस्ताव रखा। इसमें हिंदुस्तानी फौज को बढ़ाने, उसको ज्यादा-से-ज्यादा वैज्ञानिक ईजादों का फायदा उठाकर हथियारबंद बनाने, और उसकी न के बराबर हवाई और समुद्री ताकत को बढ़ाने और जल्दी-से-जल्दी ब्रिटिश फ़ौजों की जगह हिंदुस्तानी फ़ौजों को रखने की बाबत कहा गया था। चूंकि हिंदुस्तान में ब्रिटिश फ़ौजियों पर हिंदुस्तानी फ़ौजियों के मुक़ाबिले चौगुना खर्च था, इसलिए ऊपर के प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए किसी बाहरी खर्च की ज़रूरत न होती। म्यूनिख़ के संकट के दौरान में फिर हवाई ताक़त को बढ़ाने की अहमियत बताई गई लेकिन सरकारी जवाब मे कहा गया कि विशेषज्ञों की इस मामले में अलग-अलग रायें थीं। १९४० में कांग्रेस-पार्टी ने ख़ास तौर पर केंद्रीय असेंबली की कार्रवाइयों मे हिस्सा लिया, और ऊपर की मांगों को फिर दुहराया, और बताया कि हिंदुस्तान का हिफ़ाज़त के लिए इंतज़ाम करने में सरकार और फ़ौजी महकमे कितने निकम्मे थे।

जहां तक मुझे याद पड़ता है, फ़ौज, समुद्री और हवाई ताक़त के सवाल पर, या पुलिस के सवाल पर भी अहिंसा को ध्यान में रखते हुए कभी भी नहीं सोचा गया। यह बात तो मानी हुई थी कि वह तो सिर्फ़ हमारी आज़ादी की लड़ाई के दायरे में ही लागू थी। यह सच है कि हमारे सोच-विचार करने के ढंग पर उसका काफ़ी असर था, और इसी वजह से कांग्रेस दुनिया भर के निःशस्त्रीकरण की ज़ोरों से हामी थी और चाहती थी कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का शांतिपूर्वक हल किया जाय।

जिस वक़्त सूबों में कांग्रेसी सरकारें काम कर रही थीं, उस वक्त उनमें से ज्यादातर यूनीवर्सिटी और कॉलेजों में फ़ौजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए ख़ाहिशमंद थी। इस मामले में भारत-सरकार ने अड़चनें डालीं; उसने इस चीज़ को नामंजूर किया।

इसमें शक़ नहीं कि गांधीजी इस बहाव को पसंद नहीं करते थे, लेकिन उन्होंने कोई दख़ल नहीं दिया। उनको तो दंगे दबाने के लिए भी हथियार-बंद पुलिस का इस्तैमाल पसंद न था। और उस सिलसिले में उन्होंने अपनी परेशानी ज़ाहिर की। लेकिन मुक़ाबले में कम बुरी बात समझकर उन्होंने उसे बर्दाश्त किया, और उम्मीद ज़ाहिर की कि उनकी सीख धीरे-धीरे हिंदुस्तान में अपनी जड़ जमा लेगी। कांग्रेस के ऐसे झुकावों को नापसंद करने की ही वजह से उन्होंने १९३४ में कांग्रेस की सदस्यता से भी नाता तोड़ दिया। हालांकि इसके बाद भी वे कांग्रेस के सलाहकार और उसके निर्विवाद अगुआ बने रहे। हम सब के लिए यह एक अजीब-सी, एक असंतोष की स्थिति थी, लेकिन शायद इससे उन्होंने यह महसूस किया कि निजी तौर पर कांग्रेस के विभिन्न फ़ैसलों के लिए वे ज़िम्मेदार नहीं थे—उन फ़ैसलों के लिए जो उनके उसूल और उनके ख़यालों से मेल नहीं खाते थे। उनके दिल में बराबर एक द्वन्द्व चलता रहा है। हमारा क़ौमी राजनीति भी हिंदुस्तान तक सीमित नहीं रही, बल्कि वह दुनिया के लिए, सारे मानव-समाज के लिए रही है। उसके सामने गांधीजी के दो स्वरूप रहे हैं; एक राष्ट्रीय नेता का रूप और दूसरा दुनिया को संदेश देने वाले का रूप। इसीलिए यहां क़ौमी राजनीति में भी एक द्वन्द्व चलता रहा है। पूर्ण सत्य के अक्षरशः पालन में और जीवन में उसके व्यवहार में मेल करना कभी भी आसान नहीं है, और वह भी खास तौर पर राजनीतिक जीवन में। आम तौर पर लोगों को इस बारे में कोई परेशानी नहीं होती। अगर सच कुछ थोड़ा बहुत हो भी, तो उसे वे दिमाग़ के एक कोने में रख देते हैं, और और रास्ता अख़्तियार करते है जिससे कामयाबी हासिल हो सके। राजनीति में तो यह आम रवैया है। उसकी वजह सिर्फ़ यही नहीं है कि बदक़िस्मती से राजनीतिज्ञ एक अजीब ढंग के मौक़ापरस्त होते हैं, बल्कि इसलिए कि वे सिर्फ़ ज़ाती तौर पर कुछ नहीं कर सकते। उनको दूसरों से काम लेना होता है इसलिए उन्हें दूसरों की कमियों, और उनकी सचाई को समझ सकने की ताक़त का ख़याल रखना पड़ता है। इसकी वजह से उन्हें थोड़ा-सा सच छोड़कर भी, समझौता करना पड़ता है और परिस्थितियों के अनुकूल बनना पड़ता है। यह चीज़ लाज़िमी हो जाती है, लेकिन उसके साथ हमेशा ख़तरा मिला रहता है। सच को छोड़ सकने की बात बढ़ती जाती है, और आगे चलकर सिर्फ़ कामयाबी ही अकेली कसौटी रह जाती है।

कुछ उसूलों में चट्टान जैसा दृढ़ विश्वास होते हुए भी गांधीजी में, दूसरे आदमियों के या बदलती हालतों के अनुकूल होने की, उनकी ख़ास तौर से आम जनता की ताक़त और कमज़ोरियों का ख़याल रखने की, और यह देख

है। लेकिन समय-समय पर वे सावधान हो जाते हैं मानो उन्हें यह डर हुआ हो कि समझौते में वे जरूरत से ज्यादा आगे निकल गए हैं, और फिर वे अपनी जगह वापिस आ जाते हैं। काम के बीच में भी वे जनता के दिमाग़ के सुर को पहचान सकते हैं, उसकी उचित प्रतिक्रिया उनमें होती है और इस तरह कुछ हद तक उसके अनुकूल हो सकते हैं, और अमली बातों से दूर मालूम होते हैं। उनके कामों और उनके लेखों में भी वही फ़र्क़ दिखाई पड़ता है। इससे उनके अपने आदमी ही उलझन में पड़ जाते हैं। यह उलझन उन लोगों के लिए और भी ज्यादा होती है, जो बाहर के हैं, और हिंदुस्तान की पृष्ठभूमि को नहीं समझते।

एक अकेला आदमी, एक क़ौम के विचारों को, और उसके आदर्शों को कितना बदल सकता है, यह कहना मुश्किल है। इतिहास में कुछ लोगों ने बहुत ज़ोरदार असर डाला है, लेकिन यह हो सकता है कि जो कुछ उन्होंने कहा वह वहां पहले से मौजूद था, या हो सकता है कि उन्होंने उस युग के धुंधले विचारों को स्पष्ट और निश्चित रूप में रख दिया। वर्तमान युग मे हिंदुस्तान के दिमाग़ पर गांधीजी का बहुत बड़ा असर हुआ है; किस शक्ल मे और कब तक यह असर रहेगा यह तो भविष्य ही बता सकता है। यह असर उन लोगों तक ही सीमित नहीं है, जो उनसे सहमत हैं, या उनको क़ौमी नेता मानते हैं। यह असर तो उन लोगों में भी फैला हुआ है जो उनसे मतभेद रखते हैं, और उनकी नुक्ताचीनी करते हैं। हिंदुस्तान में बहुत कम लोग ही उनकी अहिंसा के उसूल या उनकी आर्थिक विचार-धारा से पूरी तरह सहमत हैं, लेकिन किसी-न-किसी शक्ल में ज्यादातर लोगों पर उनका असर ज़रूर है। आम तौर पर धार्मिक भाषा में बोलते हुए उन्होंने रोजमर्रा की ज़िंदगी के सवालों और राजनीतिक सवालों पर नैतिक ढंग से सोचने के लिए जोर दिया है। धार्मिक पृष्ठभूमि का उन पर असर ख़ास तौर पर हुआ, जिनका इस तरफ झुकाव था लेकिन नैतिक ढंग का असर और लोगों पर भी हुआ। बहुत से लोगों के कामों में नैतिकता का दर्जा ऊंचा उठ गया है और उससे भी ज्यादा लोग उसे निगाह में रखते हु सोच-विचार करते हैं और उन ख़यालों का अपने आप ही, काम में और व्यवहार में कुछ-न-कुछ असर होता है। राजनीति सिर्फ़ मौक़ापरस्ती और कामयाबी ही नहीं रह जाती, जैसी कि वह आम तौर पर सब जगह रही है। और हर काम और ख़याल के पहले एक नैतिक द्वन्द्व रहता है। कामयाबी या जल्दी से सफलता पाने की बात कभी भी भुलाई नहीं जा सकती, लेकिन दूर की और चारों तरफ़ की बातों को ध्यान में रखकर उसमें मलायमियत ज़रूर आ जाती है।

छाप मौजूद है। लेकिन यह अहिंसा का उसूल या आर्थिक विचार-धारा की वजह नहीं है, कि वह हिंदुस्तान के सबसे बड़े और प्रमुख नेता हो गए हैं। हिंदुस्तान का बहुत बड़ा आबादी के लिए वह, हिंदुस्तान के आज़ाद होने के पक्के इरादे के, उसकी प्रबल राष्ट्रीयता के, अक्खड़पन के आगे सिर न झुकाने के, और राष्ट्रीय अपमान से मिली हुई किसी चीज़ के लिए राज़ी न होन के प्रताक हैं। सैकड़ों मामलों में बहुत से लोग उनसे सहमत न हों, वे उनकी आलोचना करें और किसी ख़ास सवाल पर उनसे अलग हो जायं, लेकिन जब लड़ाई का वक़्त आता है और जब हिंदुस्तान की आज़ादी का दांव लगा होता है तो लोग उनके पास दौड़कर आते हैं और उन्हें माना हुआ अपना नेता स्वीकार करते हैं।

जब १९४० में लड़ाई और आज़ाद हिंदुस्तान के सिलसिले मे गांधीजी ने अहिंसा का सवाल उठाया, तो कांग्रेस-कार्य-समिति ने झिझक छोड़कर बहस की। समिति ने उनसे आम तौर पर कह दिया कि वह उनके साथ उस हद तक जाने में असमर्थ है, और न समिति बाहरी मामलों में इस उसूल को लागू करने के लिए हिंदुस्तान को या कांग्रेस को फंसा सकती है। इस सवाल पर खुले और निश्चित रूप में उनसे नाता टूट गया। दो महीने बाद, और ज्यादा बहस का नतीजा यह हुआ कि दोनों को मान्य, एक नीति निकल आई और वह कांग्रेस-महासमिति के प्रस्ताव में पास हो गई। उस नीति में गांधीजी का रुख़ पूरी तरह से नहीं आया था। उसमें तो सिर्फ़ उतनी ही बात थी जिसको गांधीजी ने कांग्रेस को आगे बढ़ने देने के लिए आधे मन से, मंजूर कर लिया था। उस वक़्त ब्रिटिश सरकार ने, राष्ट्रीय सरकार की बुनियाद पर कांग्रेस के लड़ाई म साथ देने के सबसे ताज़े प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। किसी-न-किसा ढंग की लड़ाई नज़दीक आता जा रही थी, और वह लाज़िमी हो गई थी। गांधीजी और कांग्रेस, दोनों एक-दूसरे की तरफ देख रहे थे, और उनकी बराबर यह ख्वाहिश थी कि उनके बीच की अड़चन को दूर करने का कोई रास्ता निकल आए। इस आपसी समझौते में लड़ाई का कोई ज़िक्र नहीं था, क्योंकि लड़ाई में साथ देने के हमारे प्रस्ताव को हाल हा में पूरी तरह ठुकरा दिया गया था। उसमें अहिंसा के सिलसिले में कांग्रेस के विचारों की बाबत ज़िक्र था, और उसमें पहली बार यह कहा गया था कि भविष्य में आज़ाद हिंदुस्तान के बाहरी मामलों में उसे किस तरह लागू करना होगा। नीचे उस प्रस्ताव का एक हिस्सा दिया जाता है :

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, "पूरी तरह अहिंसा की नीति और अमल म विश्वास करती है, आज़ादी की लड़ाई में ही नहीं, बल्कि जहां तक

है और हाल की दुनिया की घटनाओं ने यह बात साफ़ कर दी है कि दुनिया भर का निःशस्त्रीकरण ज़रूरी है । और साथ ही अगर दुनिया को अपने-आपको बरबाद होने से बचाना है और फिर जहालत की हालत को नहीं पहुंचना है, तो यह भी ज़रूरी है कि एक नया, इंसाफ़-पसंद राजनीतिक और आर्थिक ढांचा सारी दुनिया भर के लिए क़ायम हो । इसलिए आज़ाद हिंदुस्तान दुनिया भर के निःशस्त्रीकरण की हिमायत में अपना पूरा ज़ोर लगायेगा और दुनिया को इस दिशा में बढ़ाने के लिए उसे सबसे पहले आगे बढ़ने को तैयार रहना चाहिए । लाज़िमी बात है कि आगे क़दम उठाना, बाहरी बातों और अंदरूनी हालतों पर निर्भर होगा, लेकिन सरकार इस निःशस्त्रीकरण की नीति को अमल में लाने के लिए बस-भर कोशिश करेगी । सफल निःशस्त्रीकरण, और दुनिया में शांति की स्थापना के लिए क़ौमी लड़ाइयां ख़त्म होंगी, और उसके लिए असली ज़रूरत इस बात की है कि लड़ाई की जड़ और झगड़ों के कारण हट जायं । एक मुल्क या एक समुदाय पर दूसरे मुल्क या दूसरे समुदाय का कब्ज़ा और शोषण ख़त्म करके इन कारणों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए । उस उद्देश्य के लिए हिंदुस्तान शांतिपूर्वक काम करेगा, और इसी चीज़ को ध्यान में रखते हुए हिंदुस्तान की जनता स्वतंत्र और स्वावलंबी होना चाहती है । दुनिया की शांति और तरक़्क़ी के लिए आज़ाद राष्ट्र संघ के अंदर और देशों से मिल-जुल कर काम करने के लिए पहले ऐसी आज़ादी का होना ज़रूरी है ।" इस ऐलान से यह ज़ाहिर होगा कि कांग्रेस ने शांतिपूर्ण काम और निःशस्त्रीकरण की ज़ोर से तरफ़दारी करते हुए, कई ज़रूरी बातों और शर्तों पर भी ज़ोर दिया था ।

कांग्रेस का अंदरूनी संकट १९४० में मिट गया । उसके बाद हम में से बहुत से लोगों के लिए एक साल जेल का आया । १९४१ के दिसंबर में फिर वह संकट खड़ा होगया जब गांधीजी ने पूरी अहिंसा के लिए ज़ोर दिया । फिर फूट हुई और खुला मतभेद हुआ, और कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद, और दूसरे लोग गांधीजी के नज़रिये को स्वीकार नहीं कर सके । यह बात साफ़ हो गई कि कुल मिलाकर कांग्रेस और खुद गांधीजी के कुछ विश्वास-पात्र अनुयायी भी इस मामले में गांधीजी से इत्तिफ़ाक न करते थे । परिस्थितियों के बहाव और घटनाओं के तेज़ तांते ने हम सब पर (गांधी-जी भी हम सब में शामिल थे) असर डाला, और वे (गांधीजी) कांग्रेस पर अपने नज़रिये के लिए ज़ोर देने में बचते रहे । अगर्चे उन्होंने कांग्रेस के मत को पूरी तरह नहीं क़बूल किया । गांधीजी ने इस सवाल को कांग्रेस में और किसी दूसरे मौक़े पर नहीं उठाया था । बाद में, जब अपनी तजवीज़ों को लेकर सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स आये, अहिंसा का कोई सवाल ही नहीं था । उनके प्रस्ताव तो

सिर्फ़ राजनीतिक नज़रिये से देखे गए। बाद के महीनों में, धीरे-धीरे अगस्त १९४२ तक गांधीजी की राष्ट्रीय भावनाओं और स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा ने गांधीजी से यह भी मंजूर करा लिया कि अगर हिंदुस्तान को आज़ाद देश की तरह काम करने की हैसियत हो, तो कांग्रेस लड़ाई में शामिल हो सकती थी। उनके लिए एक बहुत बड़ा आश्चर्य-जनक परिवर्त्तन था, जिसमें मानसिक पीड़ा थी, और आत्मिक कराह थी। एक तरफ़ अहिंसा का सिद्धांत था जो उनकी रग-रग में समाया हुआ था, और ज़िंदगी में जिसे वह पकड़े हुए थे। और दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान की आज़ादी थी, जो उनकी प्रबल और प्रमुख कामना था। इन दोनों की आपसी खींचा-तानी में पलड़ा आज़ादी की तरफ़ झुक गया। इसके मानी यह नहीं हैं कि अहिंसा में उनकी निष्ठा कम हो गई। लेकिन इसके मानी यह ज़रूर थे कि वह इस बात के लिए तैयार हो गए कि कांग्रेस उसे इस लड़ाई में लागू न करे। यथार्थवादी राजनीतिज्ञ ने कट्टर पैग़ंबर पर जीत हासिल की।

गांधीजी के मन में जब-तब होने वाली इस कशम-कश को मैंने देखा है, और उस पर सोचने की कोशिश की है। उसमें बहुत-सी आपस में उलटी बातें दिखाई देती हैं। मुझ पर और मेरे काम पर उसका गहरा असर पड़ा है। और तब मुझे लिड्डेल हार्ट की एक किताब का उद्धरण याद आया है, "जहां एक दिमाग़ का दूसरे दिमाग़ पर असर डालने का मौक़ा होता है, वहां घुमा-फिरा-कर हल पेश करने का ख़याल बरबस आता है, और इंसान के इतिहास में यह एक बहुत बड़ा असर रखने वाली बात है। लेकिन इसका एक दूसरे ख़याल से मेल बिठाना मुश्किल हो जाता है, और वह यह कि सही नतीजे उसी वक़्त मुमकिन हैं, जब सच की तलाश नतीजों की तरफ़ से लापरवाह होकर की जाय।

"इंसान की तरक्क़ी के लिए जो बड़े-बड़े काम पैग़ंबरों ने किये हैं, इतिहास उनका गवाह है। यह गवाही असली व अमली, अहमियत रखती है, जिसमें सच को बिला झिझक सामने रखा गया है। फिर भी यह बात बिलकुल साफ़ हो जाती है कि उस दिमाग़ी नक़्शे को मानने और फैलाने का काम एक दूसरी क़िस्म के लोगों पर निर्भर रहा है, जिनको नेता कहा जाता है। इनको दार्शनिक होते हुए अपनी लड़ाई लड़नी थी। इनको आदमी की ग्राह्य-शक्ति और सच दोनों का ध्यान रखते हुए सफलता पानी थी। अक्सर उसका असर उनकी सच को देख पाने की अपनी कमियों, और उस सच का प्रचार करने वाली व्यवहार-बुद्धि पर निर्भर होता था।

"पैग़ंबरों पर पत्थर फेंके जाने चाहिए; उनकी क़िस्मत में यही लिखा है, और उनकी निजी तरक्क़ी की यही कसौटी है। लेकिन अगर किसी नेता पर

पत्थर पड़ें, तो उससे सिर्फ़ यही साबित होता है कि वह अक़्ल की कमी से, अपने काम को पैग़ंबरी से उलझा लेने की वजह से, नाकामयाब रहा है। यह तो वक़्त ही बता सकता है कि ऐसी क़ुर्बानी के असर से वह ज़ाहिरा नाकामयाबी से आज़ाद हो जाता है। यह नाकामयाबी उसकी एक नेता की हैसियत से है, नहीं तो एक आदमी के नाते तो उसकी इज़्ज़त हुई है। कम-से-कम नेताओं की आम ग़लती से वह बचता है, यानी उस ग़लती से जिसमें मक़सद को अख़ीर में कोई फ़ायदा पहुंचाए बिना ही सच को उसी वक़्त की कामयाबी के लिए क़ुर्बान कर दिया जाता है। क्योंकि मसलहत के लिए जो सच को आदतन कुचलता ह , उसके विचार-गर्भ से एक विकृत पदार्थ का सृजन होगा।

"क्या कोई ऐसा अमली रास्ता है जिससे सच को पाने और उसके मानने में मेल हो सके? और उसूलों पर सोच-विचार करने से समस्या का हल दिखाई पड़ता है। यह उसूल इस बात के महत्त्व का इशारा करता है कि मक़सद को बराबर एक सिलसिले म रखा जाय, और उसके लिए कोशिश करते हुए, परिस्थितियों के अनकूल रखा जाय। सच की ख़िलाफ़त होना लाज़िमी है, और ख़ास तौर पर उस वक़्त जब वह एक नये ख़याल की शक़्ल में आता है। लेकिन इस ख़िलाफ़त की तेज़ी कम की जा सकती है—मक़सद पर ध्यान देकर ही नहीं बल्कि उसको पाने के ढंग पर भी ध्यान देकर। एक लंब अर्से से क़ायम हालत पर सामन से हमला नहीं करना चाहिए, बल्कि उसकी जगह, बग़ल से हमला होना चाहिए ताकि सच को अंदर ले जाने के लिए एक ऐसा रास्ता खुल जाय जिसमें कम-से-कम रुकावट हो। लेकिन किसी भी ऐसी कोशिश में जो घुमा-फिरा कर की गई है, इसकी सावधानी रखनी है, कि कहीं सच से विछोह न हो जाय। क्योंकि उसकी असली तरक्क़ी में झूठ से ज़्यादा ख़तरनाक और कोई चीज़ नहीं है। उन रास्तों पर ख़याल करते हुए जिनसे नये ख़याल चालू होते हैं, यह देखा जा सकता है कि जब वह पेश किये गए ढंग कुछ मुलायम कर दिया जाता था। उनमें कोई बिलकुल नई चीज़ नहीं होती थी, बल्कि बहुत अर्से से इज़्ज़त पाए उसूलों और रिवाजों को, जो नज़र से हट गए थे, मौजूदा ज़माने का लिबास पहना दिया जाता था। इसमें ज़रूरत धोख की नहीं थी, बल्कि ज़रूरत थी संबंधों को सावधानी से खोज निकालने की क्योंकि 'सूरज के नीचे कोई चीज़ नई नहीं है'।"[1]

७ : खिंचाव

१९४२ के उन शुरू के महीनों में हिंदुस्तान में खिंचाव बढ़ा। युद्ध-क्षेत्र दिन-ब-दिन ज़्यादा नजदीक आरहा था, और अब हिंदुस्तान के शहरों पर हवाई

१ लिडेल हार्ट, 'स्ट्रेटजी अव् इनडाइरेक्ट एप्रोच' (१९४१) भूमिका।

हमलों की संभावना थी। जहां लड़ाई पूरे जोरों से चल रही थी, उन पूर्वी देशों में क्या होगा ? हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के रिश्ते में क्या नया फ़र्क़ आवेगा ? क्या हम एक दूसरे की तरफ़ घूरते हुए, पुराने ही ढंग से बढ़े चलेंगे ? क्या हम पिछले इतिहास की तीखी याद से लिपटे हु एक दूसरे से अलहदा रहेंगे; क्या हम एक ऐसी बदकिस्मती के शिकार बने रहेंगे जिसको कोई मिटा नहीं सकता ? क्या आपस का ख़तरा हमारे बीच की खाई को पाट देगा ? यहां तक कि बाजारों में भी उत्तेजना की एक लहर दौड़ गई और तरह-तरह की अफ़वाहें फैलने लगीं। पैसे वाले लोगों को भविष्य से, जो तेज़ी से उनकी तरफ़ बढ़ता आरहा था, डर मालूम होता था, क्योंकि चाहे और जो कुछ हो, उस भविष्य में सामाजिक तख़्ता पलट जायगा, यह बात बहुत मुमकिन थी। उस ढांचे के वे आदमी थे। उसके पलटते ही उनके स्वार्थ उनकी खास हैसियत ख़तरे में पड़ जाती। किसान या मज़दूर को ऐसा कोई डर नहीं था, क्योंकि उसके पास खोने को था ही क्या। अपनी मौजूदा दुःखभरी हालत में उसके लिए हर एक तब्दीली अच्छी ही होती।

हिंदुस्तान में चीन के लिए बराबर हमदर्दी रही थी और इसीलिए जापान से नाराज़ी रही थी। शुरू में यह ख़याल किया गया कि प्रशांत महासागर की लड़ाई से चीन को कुछ राहत मिलेगी। साढ़े चार साल से चीन जापान से अकेला ही लड़ रहा था; अब उसके साथ बहुत ताक़तवर देश थे और लाज़िमी था कि इससे उसका बोझ कुछ हलका होता और उसका ख़तरा कम होता। लेकिन उन साथियों पर एक के बाद दूसरी भारी चोटें हुईं और एक आश्चर्य-जनक तेज़ी से, बढ़ती हुई जापानी फ़ौजों के सामने ब्रिटिश साम्राज्य तहस-नहस होने लगा। तब क्या यह शानदार ढांचा सिर्फ़ एक कागज़ी इमारत थी जिसमें न कोई बुनियाद थी, न कोई अंदरूनी मज़बूती ? लाज़िमी तौर से इसके साथ, क़रीब-क़रीब आजकल का लड़ाई के साधनों के अभाव में एक लंबे अर्से तक जो चीन ने जापान की मुक़ाबला किया था उसका ध्यान आया। लोगों की निगाह में चीन की क़द्र बढ़ गई और हालांकि जापान के लिए कोई हमदर्दी नहीं थी फिर भी, एशियाई हथियार-बंद ताक़त के सामने पुराने, जमे हुए, यूरोपी ढंग के साम्राज्य के ढांचे को टूटते देखकर संतोष हुआ। जातीय भेद-भाव या पूर्वी और एशियाई का ख़याल ब्रिटिश लोगों में था। हार और विध्वंस एक तो वैसे ही बुरे लगते, लेकिन इस वाक़ये से कि एक पूर्वी और एशियाई ताक़त ने उन पर जीत पाई, उस हार और बेइज्ज़ती का कड़आपन और तीखापन बढ़ गया। एक ऊंचे ओहदे वाले अंग्रेज ने कहा कि अगर 'प्रिंस ऑफ़ वेल्स' और 'रिपल्स' को डुबोने वाले इन पीले जापानियों की जगह जर्मन होते तो उसे कहीं कम मलाल होता।

चीनी नेताओं—जनरलिसिमो और मैडम च्यांग काइ-शेक का हिंदुस्तान में दौरा एक महत्त्व की बात थी। सरकारी रवैये से और हिंदुस्तान-सरकार की मर्ज़ी की वजह से, वे आम जनता से मिल-जुल नहीं सके। लेकिन इस संकट के मौक़े पर हिंदुस्तान में उनकी मौजूदगी और हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए उनकी ज़ाहिरा हमदर्दी ने हिंदुस्तान को राष्ट्रीय खोल के बाहर आने में मदद दी और इस वक्त जिन अंतर्राष्ट्रीय सवालों पर दांव लग रहा था उनकी जानकारी बढ़ी। हिंदुस्तान और चीन को एक करने वाले धागे और ज्यादा मज़बूत हुए। और इसी तरह चीन और दूसरे मुल्कों के साथ मिलकर, उससे, जो सभी का दुश्मन था—लड़ने की ख्वाहिश भी तेज़ हो गई। हिंदुस्तान पर छाए हुए इस ख़तरे ने राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता को पास-पास ला दिया, और अब जो कुछ फ़र्क़ बाक़ी था उसकी वजह थी ब्रिटिश सरकार की नीति।

हिंदुस्तान की सरकार आने वाले ख़तरों को पूरी तरह समझती थी; उसके दिमाग़ में जल्दी से कुछ-न-कुछ करने की परेशानी और फ़िक्र रही होगी लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों का ऐसा रवैया था, वे अपनी आदतों के चक्कर में ऐसे फंसे थे, सरकारी लाल फ़ीते से ऐसे बंधे हुए थे कि उनके नज़रिये या कामों में कोई ख़ास फ़र्क़ दिखाई नहीं पड़ा। उनके ढर्रे में किसी तनाव की किसी जल्दी की या कुछ करने की बात ही महसूस नहीं होती थी। जिस ढांचे के वे नुमाइंदे थे, वह किसी दूसरे युग का था, और किसी दूसरे मक़सद के लिए था। चाहे वह अंग्रेज़ों की फ़ौज हो या सिविल सर्विस, उनका मकसद तो हिंदुतान में बने रहने, और हिंदुस्तानियों की आज़ादी की लड़ाई को कुचलने का था। उस काम के लिए वह काफ़ी होशियार थे। लेकिन एक ताक़तवर दुश्मन के साथ आधुनिक ढंग से लड़ाई एक बिलकुल ही दूसरी चीज़ थी। उनके लिए अपने-आपको उसके अनुकूल बनाना बहुत मुश्किल मालूम हुआ। दिमाग़ी सतह पर इसके लिए वे नाकाबिल ही नहीं थे बल्कि उनकी ज्यादातर शक्तियां हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता को दबाने में ख़त्म हो जाती थीं। बर्मा और मलाया की हुकूमतों का ख़त्म होना एक बहुत बड़ी और आंखें खोलने वाली बात थी, लेकिन उससे इन्होंने कोई सबक़ नहीं सीखा। बर्मा पर भी हिंदुस्तान की तरह सिविल सर्विस की हुकूमत थी। असलियत तो यह है कि कुछ साल पहले तक वह हिंदुस्तान की हुकूमत का ही हिस्सा था। वहां की सरकार का ढर्रा बिलकुल वही था जो हिंदुस्तान की सरकार का था और बर्मा ने यह साफ़ बता दिया था कि इस तरीक़े में अब बिलकुल दम नहीं रहा है। फिर भी बिना किसी परिवर्तन के वह ढर्रा चालू रहा; वाइसराय और बड़े-बड़े अफ़सर पहले की तरह काम करते रहे। उन्होंने अपने दल में उन कितने ही बड़े अफ़सरों को शामिल कर लिया जो बर्मा में बुरी तरह नाकामयाब साबित हुए थे; हिज़ एक्सलेंसी

शिमला में पहाड़ की चोटियों पर थे। लंदन में निर्वासित सरकारों की तरह हम पर भी एक ऐसी सरकार की इनायत की गई जो ब्रिटिश नौ-आबादियों के निर्वासित अफ़सरों से बनी थी। हाथ के दस्ताने की तरह, वे हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार के ढांचे पर चुस्त हो गए।

रंगमंच की छायाओं की तरह ये बड़े अफ़सर अपने पुराने तौर-तरीक़ों पर चलते रहे। अपने लंबे-चौड़े शाही ढर्रे, दरबारी रस्मों, दरबारों, कवायदों दावतों और लंबी चौड़ी बातों से उन्होंने हम पर रौब डालने की कोशिश की। नई दिल्ली में वाइसराय का घर वह ख़ास मंदिर था जहां सबसे बड़ा पुजारी बैठा था, लेकिन उसके अलावा कई मंदिर और कई पुजारी और थे। यह सारी शान और शाही दिखाव रौब डालने के लिए था। हमारी हिंदुस्तानी जनता पर पहले वक़्तों में इसका असर हुआ क्योंकि खुद हिंदुस्तानी रस्म और सजावट के आदी हैं। लेकिन नया मापदंड हो गया था, चीज़ों की हैसियत में फ़र्क आ गया था और अब यह सरकारी तमाशा एक हंसी की, एक मज़ाक की चीज़ मालूम दी। हिंदुस्तानियों को धीरे-धीरे बदलने वाला, तेज़ी और झपट को नापसंद करने वाला कहा जाता है, लेकिन उनमें भी अपने काम के लिए एक तेज़ी और ताक़त आ गई थी और उसकी वजह यह थी कि काम को पूरा करने की उनकी ख्वाहिश बेहद तेज़ हो उठी थी। कांग्रेसी सूबा-सरकारों में, चाहे उनकी कमियां कुछ भी रही हों, कुछ करने की फिक्र थी और उन्होंने बराबर मेहनत से काम किया और पुराने ढर्रा की परवाह नहीं की। हिंदुस्तान की सरकार और उसके एजेंटों को, भयंकर संकट और ख़तरे को सामने देखकर, सुस्ती और चुप्पी से बड़ी झुंझलाहट होती थी।

और तब अमेरिकन लोग आए। वे काफ़ी जल्दी कर रहे थे, और काम को पूरा करने की फ़िक्र में थे। वे हिंदुस्तान-सरकार के रवैये और र्रों से अपरिचित थे, और साथ ही उनको सीखने के लिए उनकी तबियत भी नहीं थी। देर को बर्दाश्त न कर सकने की वजह से उन्होंने अड़चनों और चापलूसियों को एक तरफ हटा दिया, यहां तक कि नई दिल्ली की ज़िंदगी का बहाव भी बिलकुल बदल गया। उन्हें इस बात के लिए फ़ुर्सत नहीं थी कि किस वक़्त कौन-सी पोशाक पहना जाय, और कभी-कभी सरकारी ढंग में और अंदाज में इससे बहुत बड़ा धक्का पहुंचा, और उससे शिकायतें हुईं। जो मदद वे दे रहे थे उसका तो बहुत स्वागत था, लेकिन सबसे ऊपर के अफ़सरी हलकों में उनसे चिढ़ थी और इस तरह रिश्तों में कुछ तनाव आ गया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानियों को उनकी बातें पसंद थीं। काम के लिए उनका जोश और उनकी कुव्वत तो बेहद असर डालने वाली चीज थी। इसका मिलान हिंदुस्तान के ब्रिटिश पदाधिकारियों में इसके अभाव से किया गया। उनके खुले और

सीधे ढंग को और ग़ैर-हुक्क़ामी तरीक़ों को पसंद किया गया। सरकारी हल्कों और इन आगंतुकों के बीच इस तनाव पर मन-ही-मन मुस्कराहट थी, और इस बारे म बहुत-सी झूठी और सच्ची कहानियां दुहराई गईं।

लड़ाई के नज़दीक आने से गांधीजी भी बहुत परेशान हुए। उनकी अहिंसा की नीति और उसके कार्यक्रम में इन नई घटनाओं का मेल बिठाना आसान नहीं था। यह बात साफ़ थी कि देश पर हमला करने वाली फ़ौज की मौजूदगी में या आपस में लड़ती हुई फ़ौजों की हालत में सविनय अवज्ञा का कोई सवाल ही नहीं था। निष्क्रियता या हमले के लिए सिर झुकाना भी मुमकिन नहीं था। तब क्या हो? उनके निजी साथी भी और कांग्रेस ख़ास तौर से, इस मौक़े के लिए या हमले की सशस्त्र ख़िलाफ़त की जगह अहिंसा को नामंज़ूर कर चुकी थी। और तब आख़िरकार उन्होंने इस बात को माना कि कांग्रेस को ऐसा करने का अधिकार था। लेकिन फिर भी वे परेशान थे और निजी तौर पर किसी हिंसात्मक कार्रवाई में साथ नहीं दे सकते थे। लेकिन वह सिर्फ़ एक व्यक्ति ही नहीं थे। राष्ट्रीय आंदोलन में क़ानूनी तौर पर उनका कोई पद न हो लेकिन उनकी स्थिति सबसे ऊपर और सबसे ज्यादा असर रखने वाली थी और उनके शब्दों का बहुत लोगों पर बड़ा असर था।

गांधीजी हिंदुस्तान को, ख़ास तौर से उसकी जनता को, जानते थे—इतनी अच्छी तरह जितना शायद ही कोई और आदमी पिछले वक़्त में या मौजूदा वक़्त में उसे समझता हो। सिर्फ यही बात नहीं थी कि वह सारे हिंदुस्तान में बहुत घूमे थे और करोड़ों आदमियों के संपर्क में आए थे बल्कि कुछ और भी ऐसी बात थी कि जिसकी वजह से वह जनता की भावनाओं के संपर्क में आ सके। वह अपने-आपको जनता में घुला-मिला सकते थे, और उसके दुःख-सुख को महसूस कर सकते थे और चूंकि जनता इस बात को जानती थी, इसलिए उसकी श्रद्धा और सहयोग गांधीजी को हासिल थे। फिर भी हिंदुस्तान की बाबत, उनके दिमाग़ के नक़्शे में, उस नज़रिये की भी झलक थी, जो उन्होंने शुरू के दिनों में गुजरात में बना लिया था। गुजराती ख़ास तौर से शांति-पूर्वक व्यापार करने वाले सौदागर लोग थे, और उन पर जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धांत का असर था। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों पर उसका बहुत कम असर था और कुछ पर तो बिलकुल ही नहीं था। चारों तरफ़ क्षत्रियों में इसका बिलकुल असर नहीं था और लड़ाई में, या जंगली जानवरों के शिकार में कोई रुकावट नहीं थी। और दूसरे समुदायों में जिनमें ब्राह्मण भी शामिल थे, कुल मिलाकर बहुत कम असर हुआ। किंतु गांधीजी ने हिंदुस्तान के इतिहास और विचार-धारा का वह नज़रिया अपनाया जिसमें अच्छी चीज़ों को छांट लिया गया था और बुरी चीज़ों को छोड़ दिया गया था। उनका विश्वास

था कि अहिंसा का सिद्धांत इस नज़र से बुनियादी था, हालांकि उसमें बहुत-से अपवाद थ। कुछ लोगों को यह नतीजा एक खींचातानी से निकाला हुआ नतीजा मालूम दिया, और वे इसको मानने को तैयार नहीं हुए। आदमी के अस्तित्व की मौजूदा हालत में इस अहिंसा की जगह का सवाल नहीं था। लेकिन हां उससे यह पता ज़रूर लगता था कि गांधीजी के दिमाग़ में क्या ऐतिहासिक तरफ़दारी थी।

भूगोल के इत्तिफ़ाकों ने क़ौमी इतिहास और विशेषताएं निश्चित करने में काफ़ी असर डाला है। यह वाक़या, कि हिंदुस्तान हिमालय की बड़ी भारी दीवार से और समुद्र की वजह से बाहर से कटा रहा, एक ख़ास असर लाया। उसकी वजह से इस लंबे-चौड़े प्रदेश में एक इकाई की, एक अलग सत्ता की, भावना पैदा हुई। इस विस्तृत प्रदेश में एक सजीव और मिली-जुली सभ्यता फली-फूली और जिसमें फैलाव और तरक्क़ी के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश थी, और जिसमें एक सुदृढ़ सांस्कृतिक एका बराबर बना रहा। फिर भी उस एके में भूगोल ने विभिन्नता ला दी। उत्तर में और मध्य हिंदुस्तान के मैदानों में और दक्खिन के पठारी इलाकों में एक फ़र्क था। और अलग-अलग हिस्सों में रहने वाले आदमियों में अलग-अलग विशेषताएं पैदा हुईं। इतिहास का बहाव भी उत्तर और दक्षिण मे अलग-अलग रहा। हां, कभी-कभी, वे एक दूसरे से मिल गए और एक हो गए। रूस की तरह उत्तरी हिंदुस्तान में ज़मीन के सपाट होने की वजह से और खुली जगह होने से, एक ताक़तवर मरकज़ी सरकार की ज़रूरत हुई, ताकि बाहरी दुश्मनों से हिफ़ाजत हो सके। उत्तर और दक्खिन, दोनों ही में, साम्राज्य रहे, लेकिन असलियत में साम्राज्य का केंद्र, उत्तर में रहा और उसकी हुकूमत दक्खिन में भी रही। पुराने वक़्तों में ताक़तवर मरकज़ी सरकार के मानी थे एक आदमी की हुकूमत। यह सिर्फ़ इतिहास म एक संयोग की ही बात नहीं है कि मुग़ल साम्राज्य को कुछ और वजहों के साथ, ख़ास तौर से मराठों ने तोड़ दिया। मराठे, दक्खिन के पठारी प्रदेशों में रहने वाले थे, और उनमें उस वक़्त भी कुछ आज़ादी की बू बचा हुई थी, जब कि उत्तर के मैदानों में रहने वाले ग़ुलाम हो चुके थे और सिर झुकाने लगे थे। अंग्रेज़ों की बंगाल में आसानी से जीत हुई और उन उपजाऊ मैदानों के आदमी एक असाधारण दब्बूपन के साथ सिर झुकाने लगे। अंग्रेज़ अपने आपको वहां जमाकर, और तरफ़ फैलने लगे।

भूगोल का असर अब भी है और आगे भी रहेगा। लेकिन अब कुछ और ऐसी चीज़ें हैं जिनका बहुत ज्यादा असर होता है। पहाड़ और समुद्र अब रुकावटें नहीं हैं। लेकिन उनसे वहां के निवासियों की विशेषताओं और देश की राजनीतिक और आर्थिक हसियत का फैसला अब भी होता है। बंट-

वारे, अलहदा होने या एक होने की योजनाओं में हम उन्हें आंखों से ओझल नहीं कर सकते, जब तक कि योजनाएं सारी दुनिया के पैमाने पर न बनें।

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान के आदमियों की बाबत गांधीजी की जानकारी बहुत गहरी और बहुत ज्यादा है। हालांकि मामूली तौर पर उन्हें इतिहास म कोई दिलचस्पी नहीं और न इतिहास के लिए या उसे जांचने और समझने के लिए, उनमें वह भावना ही है जो कुछ लोगों में होती है, लेकिन उन बुनियादी इतिहास की बातों को, जिनका हिंदुस्तानियों पर असर है, वे पूरी तरह से और अच्छी तरह से जानते हैं। मौजूदा घटनाओं के बारे में उन्हें बहुत अच्छी जानकारी रहती है, और उन पर उनका ध्यान बराबर रहता है, लेकिन लाज़िमी तौर पर मौजूदा हिंदुस्तान के सवालों पर, उनका सारा ध्यान रहता है। किसी सवाल का, किसी उलझन का, बेकार की बातों को छोड़कर तत्त्व छांट लेने की उनमें बड़ी सूझ है। जिसे वह नैतिक पहलू कहते हैं उसकी कसौटी पर जांच कर वह चीज़ को चारों तरफ़ से देख पाते हैं और उसकी असलियत को पकड़ पाते हैं। बर्नाड शॉ ने कहा है कि वह (गांधीजी) चाल में चाहे कैसी ही ग़लती कर बैठें लेकिन उनका असली तरीक़ा बराबर सही बना रहा है। हां, कुछ लोगों की दूर का चीज़ों में दिलचस्पी नहीं होती; उनकी ख़ास नज़र वक़्ती फ़ायदे पर रहती है।

८ : सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स का हिंदुस्तान में आना

पेनांग और सिंगापुर के पतन के बाद, और ज्यों-ज्यों जापानी मलाया में बढ़ते गये, वहां से हिंदुस्तानी और दूसरे लोग भागे और सब हिंदुस्तान में आए। उनको एकदम ही भागना पड़ा था और इसलिए अपने बदन के कपड़ों के अलावा उनके पास कुछ नहीं था। फिर बर्मा से हिफ़ाज़त के लिए भागे हुए आदमियों की बाढ़ आई, और उनके लाखों आदमी थे--ज़्यादातर हिंदुस्तानी। यह कहानी, कि किस तरह से सिविल अधिकारियों ने और दूसरे अफ़सरों ने उनका ऐन मौक़े पर साथ छोड़ दिया और न उनके लिए भागने और वहां से हटने का कोई इंतज़ाम था, हिंदुस्तान में चारों तरफ़ फैल गई। उन्होंने सैकड़ों मीलों का पहाड़ों का घने जंगलों का रास्ता पार किया। दुश्मन से वे घिरे हुए थे। रास्ते में बहुत-से लोग मर गये कुछ छुरों से, कुछ बीमारी से और कुछ भूख से। लड़ाई का यह भयानक नतीजा था और कोई चारा नहीं था। लेकिन यह वजह लड़ाई की नहीं थी कि हिंदुस्तानी भागने वालों में और ब्रिटिश भागने वालों में भेद-भाव किया गया। ब्रिटिश लोगों की जितनी मुमकिन हो सकती थी, मदद की गई और उनके लिए रेल और जहाज़ी सफ़र का इंतज़ाम किया गया। बर्मा की एक जगह से, जहां बहुत से लोग इकट्ठे थे, हिंदुस्तान के लिए

दो सड़कें थीं । जो ज्यादा अच्छी थी ब्रिटिश लोगों और यूरोपियनों के लिए कर दी गई और उसका नाम 'व्हाइट रोड' (गोरे लोगों की सड़क) पड़ गया ।

जातीय भेद-भाव, और लोगों की तकलीफ़ की दर्दभरी कहानियां हम लोगों तक आईं और जो ज़िंदा बचे, वहां से भागे लोग हिंदुस्तान भर में फैले तो उनके साथ ही वे कहानियां थीं, और हिंदुस्तानी दिमाग़ पर उसका गहरा असर था ।

ठीक उसी मौक़े पर सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स हिंदुस्तान में ब्रिटिश वार कैबिनेट (ब्रिटिश युद्ध-समिति) के प्रस्ताव लेकर आए । उन प्रस्तावों पर पिछले ढाई साल में पूरी तरह बहस हो चुकी है, और वे प्रताव एक बीते ज़माने की-सी चीज मालूम पड़ते हैं । एक ऐसे आदमी के लिए जिसने उस समझौते की कोशिश में काफ़ी हिस्सा लिया, उस पर कुछ विस्तार से चर्चा करते हुए, कुछ बातों को न कहना और किसी आगे के मौक़े के लिए छोड़ देना आसान नहीं है । पर असलियत में उस सिलसिले के ख़ास-ख़ास सवाल और ख़यालात आम जनता के सामने आ चुके हैं ।

मुझे याद है, जब मैंने इन प्रस्तावों को पहली बार पढ़ा, तो मुझे बहुत मायूसी हुई । उस मायूसी की ख़ास वजह यह थी कि मैंने सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स से उस वक़्त की नाज़ुक हालत देखते हुए कुछ ज्यादा तत्त्व की चीज़ की उम्मीद की थी । लेकिन जितनी बार मैंने उन प्रस्तावों को पढ़ा, और न पर गहराई से सोच-विचार किया, मेरी मायूसी उतनी ही ज्यादा होती गई । हिंदुस्तान की हालत से बेख़बर आदमी को तो ऐसा मालूम होता कि उन प्रस्तावों में हमारी मांगों को पूरा करने की काफ़ी कोशिश की गई है । लेकिन जब उनका छान-बीन की गई, उसकी ख़ामिया नज़र आई और शर्तों को देखा तो उसमें आत्म-निर्णय के अधिकार की स्वीकृति इस तरह जकड़ी हुई थी, और संकुचित घेरे में दबी हुई थी कि सारे भविष्य को ख़तरे में डालने वाली थी ।

उन प्रस्तावों में भविष्य का, लड़ाई ख़त्म होने के बाद के वक़्त का, ही ख़ास तौर से ज़िक्र था । हां बाद में एक ऐसा टुकड़ा और था, जिसमें बहुत अस्पष्ट रूप में मौजूदा वक़्त में सहयोग मांगा गया था । उस भविष्य में आत्म-निर्णय के सिद्धांत पर सूबों को हिंदुस्तानी संघ से अलग एक नया आज़ाद संघ क़ायम कर सकने का अधिकार था । इसके अलावा हिंदुस्तानी सघ से अलहदा हो सकने का हक़ हिंदुस्तानी रियासतों को भी दिया गया था । यह बात ख़याल रखने की है कि हिंदुस्तान में ६०० से ज्यादा ऐसी रियासतें है । इनमें कुछ तो बड़ी हैं; लेकिन ज्यादातर तो बहुत छोटी हैं । ये रियासतें और ये सूबे विधान

बनाने में हिस्सा लेते, विधान पर असर डालते और बाद में उससे बाहर निकल सकते थे। सारी पृष्ठभूमि में अलहदा होने की बू होती, और राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को एक गौण स्थान मिलता। प्रतिक्रियावादी हिस्से, जिनमें बहुत-से आपसी फ़र्क़ होते, एक बार मिलकर मज़बूत, उन्नतिशील और एक क़ौमी सरकार की तरक्क़ी को कुचल देते। अलहदा होने की लगातार धमकियों की वजह से विधान में बहुत-सी बेजा पाबंदियां लग जातीं। केंद्रीय सरकार कमज़ोर, निकम्मी बना दी जाती, लेकिन इतने पर भी वे फिर अलग हो सकते थे, और तब बाक़ी रियासतों और सूबों के लिए फिर एक अमली आईन बनाना मुश्किल होता। विधान बनाने वाली संस्था के लिए चनाव, मौजूदा सांप्रदायिक क्षेत्रों से होते। वह एक बदक़िस्मती की चीज़ थी, क्योंकि उसम पुरानी, बंटवारे की, भावना बनी रहती, लेकिन फिर भी उन परिस्थितियों में वह लाज़िमी थी, लेकिन रियासतों में चुनाव की बाबत कोई ज़िक्र नहीं था, और उनकी नौ करोड़ की आबादी का बिलकुल भी ख़याल नहीं किया गया था। रियासतों के सामंतवादी शासक अपनी आबादी के अनुपात से अपने नुमाइंदों को नियुक्त कर देते। इन आदमियों में कुछ क़ाबिल मंत्री हो सकते थे, लेकिन कुल मिलाकर उनमें लाज़िमी तौर पर जनता का जगह, सामंतवादी, स्वेच्छाचारी राजा के नमाइंदे होते। विधान बनाने वाली सभा की क़रीब एक चौथाई जगहों पर वे कब्ज़ा करते, और अपनी संख्या से उसके फ़ैसलों पर काफ़ी असर डालते। इस असर में एक चीज़ और उनकी मदद करती, वह थी उनकी सामाजिक-प्रगति के लिहाज़ से पिछड़ी हुई हालत और उनकी अलहदा होने की धमकी। विधान बनाने वाली संस्था चने हुए और ग़ैर चुने लोगों की एक अजाब खिचड़ी होती। चुने हुए आदमी सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों से आते, और उनम कुछ स्थापित स्वार्थों वाले लोग भी होते, और दूसरे लोग रियासती राजा और नवाबों के तैनात किये हुए होते। इसमें भी एक चीज़ और थी कि आपस में मिलकर तै की हुई बातों को भी मनवाने के लिए बाद में कोई दबाव नहीं डाला जा सकता था। वह असलियत और समझ जो आपस में मिल-जुलकर फ़ैसला करने में होती है, ग़ायब होती। उसके बहुत से मेंबरों का झुकाव, बिलकुल ग़ैर ज़िम्मेदार होकर काम करने की तरफ़ होता, क्योंकि उन्हें यह लगता कि वे कभी भी अलग हो सकते हैं, और मिल-जुलकर किये हुए फ़ैसलों की भी जिम्मेदारी लेने से इंकार कर सकते हैं।

हिंदुस्तान को हिस्सों में बांटने का कोई भी सुझाव सोचने दुःखद होता। यह तो उन सारी भावनाओं और धारणाओं के ही खिलाफ़ होता जो जनता में एक प्रबल प्रेरणा करती हैं। हिंदुस्तान की सारी क़ौमी तहरीक हिंदुस्तान के एके की बुनियाद पर थी, हालांकि यह एके की भावना, राष्टीयता के

मौजूदा पहलू से बहुत ज्यादा पुरानी और गहरी थी। उसकी जड़ तो हिंदुस्तान के इतिहास के एक बहुत पुराने वक़्त में थी। वह यक़ीन वह भावना मौजूदा घटनाओं से और ज्यादा मजबूत हो चुकी थी। इस तरह होते-होते वह हिंदुस्तान एक बहुत बड़ी जनता के लिए विश्वास की एक बुनियादी बात हो गई—एक ऐसी चीज़ जिसको न कोई चुनौती दी जा सकती थी, और न जिस विषय में कोई दो रायें हो सकती थीं। मुस्लिम लीग की तरफ़ से एक चुनौती दी गई थी, लेकिन उस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। इसके अलावा मुसलमानों की खुद एक बहुत बड़ी तादाद थी, जो उनके खिलाफ़ थी। उस चुनौती की बुनियाद भी कोई प्रादेशिक नहीं थी। हां, उसमें कुछ धुंधला-सा, अनिश्चित इशारा उन हिस्सों के बंटवारे की तरफ़ था। उनकी बुनियाद तो मध्यकालीन विचारों पर थी, जिसम राष्ट्र का आधार धर्म पर था। इस तरह हिंदुस्तान के हर गांव में दो या उससे भी ज्यादा क़ौमें बसता थीं। हिंदुस्तान के बंटवारे से भी, चारों तरफ़ फैले हुए, एक दूसरे से लिपूटे हुए, धार्मिक भेद-भाव को पार नहीं किया जा सकता था। बंटवारे से तो मुश्किलें बढ़ जातीं। उससे तो वे सवाल भी, जिनका हल बंटवारा बताया जाता था, बढ़ जाते।

भावना के अलावा, बंटवारे के खिलाफ़ ठोस दलीलें थीं। हिंदुस्तान की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं की उलझन हद दर्जे पर पहुंच गई थी। इसकी ख़ास वजह थी ब्रिटिश सरकार का नाति। और अब अगर भयंकर से भयंकर सर्वनाश से बचना था, तो उसके लिए ज़रूरत थी कि चौतरफ़ा प्रगति का कदम उठाया जाय, और तरक्क़ी की जाय। यह तरक्क़ी उसी वक़्त मुमकिन था जब सारे और साबित हिंदुस्तान के लिए, अखण्ड भारत के लिए, अमली और कार-आमद योजनायें बनाई जावें। सारे-समूचे हिंदुस्तान के लिए—क्योंकि अलग-अलग हिस्से एक दूसरे की कमियों को पूरा करते थे। कुल मिलाकर हिंदुस्तान बहुत हद तक एक ताक़तवर और स्वावलंबी इकाई था। लेकिन अलग-अलग करके उसके हिस्से कमज़ोर थे और दूसरों पर निर्भर थे। अगर ये और इनके साथ दूसरी दलीलें पहले वक़्तों में लागू थीं, और काफ़ी थीं, तो मौजूदा राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं की वजह से उनकी अहमियत अब दुगुनी हो गई थी। सभी जगह छोटी सरकारों की व्यक्तिगत हैसियत ख़त्म होती जा रही थी। वे बड़ी-बड़ी सरकारों में या तो शामिल होती जाती थीं या उनसे आर्थिक रूप में जुड़ गई थीं। बड़े-बड़े संघ बनाने का या सरकारों के आपस में मिलकर काम करने का झुकाव बढ़ता जा रहा था। क़ौमी सरकार के विचार की जगह अब अनेक क़ौमों वाली सरकार ने ले ली थी और दूर भविष्य में दुनिया भर में एक संघ का नक़्शा नज़र आ रहा था। ऐसी हालत में हिंदुस्तान के बंटवारे की सोचना, सारी आर्थिक और ऐतिहासिक घटनाओं के बहाव के

खिलाफ़ था। असलियत से बेहद दूर मालूम होता था।

फिर भी सख्त जरूरत की मार से, या विध्वंस के दबाव से, आदमी बहुत-सी नापसंद चीजों के लिए रजामंद हो जाता है। हालतों की मजबूरी से उस चीज़ का बंटवारा हो सकता है, जिसको क़ायदे से या सही ढंग से एक बनाये रखना चाहिए। लेकिन ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से पेश किये हुए प्रस्तावों में हिंदुस्तान के किसी खास बंटवारे का जिक्र न था। उसमें सूबों और रियासतों के अनगिनित बंटवारों के लिए सिर्फ़ रास्ता खुला हुआ था। उन्होंने सारे प्रतिक्रियावादी, सामंतवादी और समाज-प्रगति के लिहाज़ से पिछड़े हुए लोगों को बंटवारे के हक़ के लिए उकसाया। शायद उनमें से कोई भी बटवारा नहीं चाहता था, क्योंकि वे अपने पैरों पर, अकेले खड़े नहीं रह सकते थे। लेकिन वे काफ़ी उत्पात मचा सकते थे और हिंदुस्तान की आज़ाद सरकार के बनने में रोड़ा अटका सकते थे, देर करा सकते थे। अगर उनको ब्रिटिश नीति से मदद मिलती, जैसा कि शायद होता भी, तो उसके मानी यह होते कि बहुत वक़्त तक रत्ती-भर भी आज़ादी न हासिल होती। उस नीति का हमारा अनुभव बहुत कड़आ था, और हर मौक़े पर हमने यह पाया था कि वह फूट डालने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है। इस बात की क्या गारंटी थी कि वह आगे भी ऐसा नहीं करेगी, या आगे चलकर यह कह दे कि वह अपना वायदा पूरा नही कर सकता; क्योंकि उसकी शर्तें पूरी नहीं हुई। अस्ल में इसी की संभावना थी, कि वह नीति आगे भा उसी तरह जारी रहे।

इसलिए इस प्रस्ताव का मतलब सिर्फ़ पाकिस्तान या किसी खास बंटवारे को मंजूर करना नहीं था (हालांकि यह चीज भी कोई कम बुरी न होती) बल्कि वह उससे भी बदतर था। उसके लिहाज से दरवाज़ा खोल दिया जाता, और उसमें अनगिनित बंटवारों की संभावना रहती। हिंदुस्तानी आज़ादी के लिए वह बराबर एक संकट बना रहता और खास उस वायदे को, जो कि किया गया था, अमल में लाने के लिए एक अड़ंगा खड़ा होता।

हिंदुस्तानी रियासतों के भविष्य के बारे में फैसला उन रियासतों की जनता से नहीं होता। यह फैसला जनता के नुमाइंदों की जगह वहां के मनमाने शासक करते। इस उसूल को क़ुबूल करने के मानी यह होते कि हम अपनी पक्की, और बार-बार दुहराई गई नीति को पलट देते और रियासतों की जनता से दग़ा करते। उस हालत में उन लोगों को बहुत अर्से के लिए मनमाने शासन में ढकेल दिया जाता। हम राजाओं से ज्यादा-से-ज्यादा मुलायमी से व्यवहार करने को तैयार थे ताकि लोकतंत्र के लिए रद्दो-बदल में उनका सहयोग मिल सके। और अगर उस मौक़े पर ब्रिटिश ताक़त—एक तीसरी पार्टी—न होती, तो हमें शक नहीं है कि हम कामयाब हो गये होते। लेकिन रियासतों के मनमाने

शासन को ब्रिटिश सरकार का सहारा मिलने पर यह संभावना थी कि राजा लोग हिंदुस्तानी संघ से बाहर रहें, और अपनी जनता के खिलाफ़ लड़ाई में अपने बचाव के लिए ब्रिटिश फ़ौज का सहारा लें। असल मे हमें यह बता दिया गया था कि अगर ऐसी हालत पैदा हुई तो रियासत में विदेशी हथियार-बंद फ़ौज रहेगी। और चूंकि इस बात की संभावना थी कि ये रियासतें हिंदुस्तानी संघ के क्षेत्र में बीच-बीच में टापुओं की तरह होंगी, इसलिए यह सवाल उठा कि ये विदेशी फ़ौजें वहां कैसे पहुंचेंगी और किस तरह अलग-अलग रियासतों में मौजूद विदेशी फ़ौजें अपना आना-जाना क़ायम रखेंगी। उसके मानी यह होते कि भारतीय संघ का ज़मीन पर होकर विदेशी फ़ौज को आने-जाने का रास्ता दिया जाता।

गांधीज़ी ने बराबर ऐलान किया था कि वह राजाओं के कोई दुश्मन नहीं ह। यह सच है कि राजाओं से बराबर उनका व्यवहार दोस्ताना रहा, हालांकि अक्सर उन्होंने उनके सरकारी ढंग की आलोचना की, और इस बात की भी आलोचना की कि उनकी जनता को मामूली अधिकारों की भी आज़ादी नहीं थी। कितने ही वर्षों से उन्होंने कांग्रेस को रोक रखा था कि वह रियासती मामलों में सीधे तौर पर दखल न दे। उनकी यह ख़ाहिश थी कि रियासत की जनता खुद आगे बढ़े और इस तरह अपने अंदर आत्म-विश्वास और ताक़त बढ़ाये। हममें से बहुत से लोगों को उनकी यह नीति नापसंद थी। लेकिन इस सबके पीछे एक पक्का विश्वास था। उन्ही के शब्दों में—"मेरी नीति की एक बुनियादी बात यह है कि रियासती जनता के अधिकारों को बेच देने में मैं साथ नहीं दूंगा (चाहे) इससे ब्रिटिश हिंदुस्तान की जनता को आज़ादी ही क्यों न मिलती हो।" प्रोफ़ेसर बैरीडेल कीथ, जो ब्रिटिश कॉमन-वेल्थ और हिंदुस्तान के विधान पर अधिकारी और प्रामाणिक माने जाते हैं, गांधीजी के दावे का (जो दावा खुद कांग्रेस का भी है) समर्थन करते हैं। कीथ ने लिखा है—"सम्राट् के सलाहकारों का यह सोचना नामुमकिन है कि रियासती जनता को वे अधिकार नहीं दिये जायंगे जो हिंदुस्तानियों को ब्रिटिश सूबों में हासिल हैं। सम्राट् को यह सलाह देने का उनका फ़र्ज़ है कि राजा लोगों को विधान में इसलिए शामिल किया जाय कि अपनी रियासतों में वे जनता की सरकार जल्दी ही क़ायम करें और इसके लिए सम्राट् को अपने अधिकारों का उपयोग करना चाहिए। कोई भी संघ हिंदुस्तान के हित में नहीं होगा अगर उसमें सूबों के नुमाइंदे ग़ैर-जिम्मेदार राजाओं के तैनात किये हुए आदमियों के साथ काम करने का मजबूर किये गए। असल में गांधीजी के दावे का यह जवाब नहीं है कि जनता को अधिकार हस्तांतरित करने के बाद, राजा लोग लाज़िमी तौर पर सम्राट् के मुताबिक चलेंगे।" प्रो. कीथ ने अपनी यह राय

ब्रिटिश सरकार के एक पहले प्रस्ताव के सिलसिले में दी थी जिसमें संघ की चर्चा थी। लेकिन सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स के प्रस्तावों पर तो यह और भी ज्यादा लागू थी।

जितना ज्यादा इन प्रस्तावों पर सोचा गया, उतने ही वे असलियत से दूर मालूम हुए। हिंदुस्तान एक शतरंज का तख़्ता जैसा बन गया, जिसमें नाम-मात्र के लिए आज़ाद या आधी आज़ाद बासियों रियासत थीं, जिनमें से ज्यादातर अपने स्वेच्छाचारी शासन को चलाने या अपनी हिफ़ाज़त के लिए ब्रिटिश फौज पर निर्भर थीं। इस तरह इन छोटी-छोटी रियासतों के ज़रिये जिन पर वह क़ाबू रखता, ब्रिटेन राजनीतिक और आर्थिक दोनों तरह का ही नियंत्रण जारी रखता।[1]

ब्रिटिश वार कैबिनेट के दिमाग़ में हिंदुस्तान के भविष्य के बारे में क्या ख़याल था, मुझे नहीं मालूम। मेरे ख़याल से सर स्टैफ़ोर्ड हिंदुस्तान का भला चाहते थे, और हिंदुस्तान की आज़ादी और क़ौमी एकता की उम्मीद करते थे। लेकिन यह ज़ाती विचारों या रायों या शुभ-कामनाओं का मामला नहीं था। हमको एक सरकारी मसविदे पर साच-विचार करना था। उसमें चीज़ें जान-बूझकर साफ़ नहीं की गई थीं, लेकिन उसे बड़ी सावधानी से लिखा गया था और उसमें हर लफ़्ज़ के मानी थे। हमको बताया गया कि हम उसे या तो ज्यों-का-त्यों मान लें या उसे रद्द कर दें। उसके पीछे ब्रिटिश सरकार की एक शताब्दी पुरानी नीति बराबर छिपी हुई थी--हिंदुस्तान में फूट डालना, और क़ौमी तरक्क़ी और आज़ादी के रास्ते में आने वाली हर चीज़ को बढ़ावा देना। गुज़रे वक़्त मे जब कभी कोई क़दम आगे बढ़ाया गया, तो उसके साथ कुछ शर्तें कुछ पाबंदियां हमेशा इस तरह लगी हुई थीं कि शुरू में तो वह बिलकुल नाचीज़ और मामूला मालूम होती थीं, लेकिन आगे चलकर वे बड़ी भारी रुकावटों और झगड़े की जड़ बन गईं।

ऐसा हो सकता था, शायद इसका बहुत इमकान था कि प्रस्ताव में मालूम देने वाले झगड़े या ख़तरे भविष्य म साकार न हों। बुद्धि, देशभक्ति,

---

१ ब्रिटिश ताकत और बचाव पर हिंदुस्तानी रियासतों की पूरी निर्भरता पर सर ज्योफ्रे डि मौंटमौरेंसी ने अपनी पुस्तक 'दि इंडियन स्टेट्स एंड इंडियन फ़ैडरेशन' में जोर दिया है। रियासतें, "हिंदुस्तान में इतनी ज्यादा हैं कि वे हिंदुस्तान की तरक्क़ी के लिए एक विकट पहेली हैं और उसके लिए अभी कोई हल नहीं दिखाई देता···जहां तक हिंदुस्तान का सवाल है, ब्रिटन का कब्ज़ा हटने के बाद, उनका मिटना या दूसरे बड़े हिस्से से मिलना लाज़िमी हो जायगा।"

हिंदुस्तान और दुनिया के भले का व्यापक नज़रिया बहुत से लोगों पर असर डालेगा, और उनमें हिंदुस्तान के राजा लोग या उनके मंत्रीगण हो सकते हैं। अगर हम अकेले ही छोड़ दिये जाते तो एक-दूसरे का हम सामना कर सकते थे। आपसी भरोसा होता, अलग-अलग दलों की मुश्किलों, उलझनों और समस्याओं पर विचार हाता, और चीज़ों पर हर पहलू से सोच-विचार करने के बाद एक समझौता निकल सकता था, जो सबको मंजूर होता। लेकिन इस इशारे के होते हुए भी कि हमको आत्म-निर्णय का अधिकार होगा, हमको अकेले नहीं छोड़ना था। ब्रिटिश सरकार बराबर वहां थी। ख़ास निशाने की जगहों पर उसका कब्ज़ा था और वह कई ढंग से दख़ल दे सकती थी, रुकावटें डाल सकती थी। सरकारी मशीन की सारी नौकरियों पर ही सिर्फ़ उसका कब्ज़ा नहीं था, बल्कि रियासतों में उसके रेज़ीडेंट, पोलिटिकल एजेंट अहम और असर रखने वाली हैसियत रखते थे। अस्ल में ख़ुद स्वेच्छाचारी राजा लोग, वाइसराय के अधीन पोलिटिकल विभाग के पूरे-पूरे नियंत्रण में थे। उन में बहुत से प्रधान-मंत्री उन लोगों पर जबर्दस्ती लाद दिये गए थे और वे ब्रिटिश नौकरशाही के मेंबर थे।

अगर हम ब्रिटिश प्रस्तावों के बहुत से ख़तरों से बच भी सकते, तब भी हिंदुस्तान की आज़ादी को दबा देने के लिए बहुत-सी चीज़ें थीं; उसकी तरक्क़ी को रोका जा सकता था, नई और ख़तरनाक समस्याएं उठाई जा सकती थीं, जिनसे मुश्किलें बेहद बढ़ जातीं। सांप्रदायिक चुनावों ने, जो क़रीब एक पीढ़ी पहले लागू किये गए थे, बहुत कुछ शैतानी की थी। अब हर अड़चन डालने वाले दल के लिए रास्ता साफ किया जा रहा था। और हिंदुस्तान में बराबर बंटवारे के डर का दरवाजा खुला था। एक अनिश्चित भविष्य के लिए इस इंतज़ाम पर हमसे साथ के लिए वायदा कराया जा रहा था। वह एक ऐसा भविष्य था जिसमें झगड़े के अंकुर फूटते। कांग्रेस ने ही नहीं बल्कि राजनीतिक नज़र से नरम-से-नरम दल वाले राजनीतिज्ञों ने भी, जिन्होंने हमेशा ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था, ऐसा करने से अपनी लाचारी ज़ाहिर की।

हिंदुस्तान के एके के लिए सारे जोश और ख़्वाहिश के होते हुए भी, कांग्रेस ने, अल्प-संख्यकों और दूसरे दलों का सहयोग लेने की दिल से कोशिश की, और वह यहां तक आगे बढ़ गई कि उसने ऐलान किया कि कोई भी प्रादेशिक इकाई, हिंदुस्तानी संघ में, उसकी जनता की घोषित इच्छा के ख़िलाफ़, मजबूरन नहीं रखी जायगी। अगर और कोई चारा न हो, तो बंटवारे के उसूल को उसने मान लिया। लेकिन किसी तरह वह इस चीज़ को बढ़ावा नहीं देना चाहती थी। कांग्रेस-कार्य-समिति ने क्रिप्स-प्रस्तावों के सिलसिले पर अपने

प्रस्ताव में कहा : "कांग्रेस हमेशा से हिंदुस्तान की आज़ादी और उसके एके के टूटने से और ख़ास तौर से आज की दुनिया में, जब आदमी लाज़िमी तौर पर बड़े-बड़े संघों की बाबत सोचते हैं, सभी को बहुत नुक़सान होगा और इसलिए उसके ख़याल से ही बेहद तकलीफ़ होती है। फिर भी कमेटी यह नहीं सोच सकती कि वह किसी ख़ास हिस्से के लोगों को उनकी ऐलान की हुई ख़ाहिश के ख़िलाफ़, हिंदुस्तान के संघ में रहने को मजबूर करे। इस उसूल को मानते हुए भी कमेटी यह चाहती है कि ऐसी हर कोशिश की जाय जिससे ऐसी हालत पैदा हो कि अलग-अलग हिस्सों के आदमी मिल-जुलकर एक क़ौमी ज़िंदगी बना सकें। इस उसूल को मानने के लाज़िमी मानी यह हैं कि अब ऐसी कोई रद्दो-बदल न की जाय कि नये झगड़े पैदा हों या उन हिस्सों के दूसरे बड़े-बड़े समुदायों पर ज़बर्दस्ती की जाय। देश के हर हिस्से को संघ के अंदर ज़्यादा-से-ज़्यादा स्थानीय आज़ादी होनी चाहिए और साथ ही एक मज़बूत क़ौमी सरकार होनी चाहिए। ब्रिटिश वार कैबिनेट की मौजूदा तजवीज़ें ऐसा बढ़ावा दे रही हैं, कि उनकी वजह से बंटवारे की पूरी कोशिश होगी। यह सब, संघ स्थापित करने के मौक़े पर हो रहा है। इस तरह तो आपसी झगड़े होंगे, ठीक ऐसे मौक़े पर जब कि ज़्यादा-से-ज़्यादा सहयोग और सद्भावनाओं की ज़रूरत है। यह प्रस्ताव शायद सांप्रदायिक मांग को पूरा करने के लिए है, और इसके दूसरे नतीजे भी होंगे। राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी, और अलग संप्रदायों के अड़ंगा डालने वाले लोग, झगड़ा शुरू करेंगे और इस तरह देश की बड़ी-बड़ी समस्याओं की तरफ़ से जनता का ध्यान हट जायगा।"

कमेटी ने आगे चलकर कहा कि, "आज की संकट की हालतों में तो सिर्फ़ मौजूदा वक़्त के ही कुछ मानी हैं। भविष्य के प्रस्तावों का सिर्फ़ उतना ही महत्त्व है जितना कि उनका मौजूदा वक्त पर असर है।" हालांकि भविष्य के इन प्रस्तावों को वह मंज़ूर नहीं कर सकी, फिर भी किसी-न-क़िसी समझौते पर वह पहुंचने को बहुत उत्सुक थी, ताकि, जैसा वह कहती थी, हिंदुस्तान अपनी हिफ़ाज़त के भार को उचित रूप से अपने कंधों पर ले सके। इसमें अहिंसा का कोई सवाल नहीं था और न किसी जगह उसका कोई ज़िक्र ही किया गया था। हां, एक सवाल, जिस पर बहस हुई, वह यह था कि रक्षा-विभाग का मंत्री हिंदुस्तानी हो।

इस मौक़े पर कांग्रेस की स्थिति यह थी कि हिंदुस्तान पर मंडराते हुए युद्ध-संकट के कारण वह भविष्य की चीज़ों को एक तरफ़ रख देने के लिए तैयार थी। उसकी सारी निगाह एक क़ौमी सरकार बनाने की तरफ़ थी, जो लड़ाई में पूरी तरह साथ दे सके। वह भविष्य के सिलसिले में ब्रिटिश

सरकार के उक्त प्रस्तावों को मानने को तैयार नहीं थी, क्योंकि इसमें हर तरह की खतरनाक पाबंदियां थीं। जहां तक उनका सवाल था, ये प्रस्ताव वापिस लिये जा सकते थे, और इसके साथ ही ब्रिटिश नीयत को दिखाने के लिए क़ायम रखे जा सकते थे। लेकिन यह बात बिलकुल साफ़ थी कि कांग्रेस को वह मंजूर नहीं थे। लेकिन इसकी वजह से मौजूदा वक़्त में सहयोग का रास्ता निकालने के लिए कोई रुकावट नहीं था।

जहां तक कि वर्तमान का सवाल था, ब्रिटिश वार कैबिनेट के प्रस्ताव अस्पष्ट थे, अधूरे थे। हां उनमें एक चीज़ ज़रूर साफ़ थी, कि हिंदुस्तान की रक्षा पूरी तरह से ब्रिटिश सरकार की जिम्मेदारी रहेगी। सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स के बार-बार के बयानों से ऐसा मालूम होता था कि रक्षा विभाग को छोड़कर बाक़ी सब विषयों का इंतज़ाम हिंदुस्तानी हाथों में दे दिया जायगा। इसका भी ज़िक्र था कि वाइसराय सिर्फ़ वैधानिक प्रमुख की तरह होगा, ठीक उसी तरह जैसे इंग्लैंड का बादशाह था। इससे हमने यह समझा कि अब सिर्फ़ रक्षा के प्रश्न पर ही सोच-विचार करना है। हमारी दलील यह थी कि लड़ाई के ज़माने में अक्सर ऐसा होता है, और बाद में ऐसा हुआ भी, कि उसके (रक्षा के) अंदर ज्यादातर क़ौमी काम-काज समा जाते हैं। अगर रक्षा को राष्ट्रीय सरकार के कार्य-क्षेत्र से बिलकुल अलहदा कर दिया जाय, तो शायद ही कुछ बाक़ी बचे। यह बात मंजूर थी कि ब्रिटिश सेनापति हथियारबंद फ़ौज पर और फ़ौजी कार्रवाइयों पर अपना पूरा क़ाबू बनाये रहे। यह बात भी मंजूर थी कि लड़ाई की नीति, सम्राट् के अधिकारियों द्वारा तै हो। लेकिन इसके अलावा यह मांग की गई थी कि रक्षा-मंत्री का काम राष्ट्रीय सरकार के हिंदुस्तानी सदस्य को मिलना चाहिए।

कुछ बहस के बाद सर स्टैफ़ोर्ड तैयार हो गये कि एक हिंदुस्तानी मेंबर के अधीन रक्षा विभाग हो। लेकिन जो काम इस विभाग के जिम्मे सौंपे गए वह यह थे : सार्वजनिक संबंध, पेट्रौल, लिखाई और छपाई का सामान, विदेशी शिष्ट-मंडलों के लिए सामाजिक प्रबंध, फ़ौजों के आराम का इंतज़ाम, फ़ौज के नाश्ते और मन बहलाव का इंतज़ाम। यह एक ध्यान देने लायक सूची थी और उससे रक्षा-मंत्री का पद एक मज़ाक की चीज़ बन गया। आगे बहस से एक दूसरा ही पहलू सामने आया। इन दोनों नज़रियों में अब भी काफ़ी फ़र्क था। लेकिन ऐसा महसूस हुआ कि हम एक दूसरे के क़रीब आते जा रहे हैं। पहली बार मुझे ऐसा लगा और यही बात दूसरों को महसूस हुई कि अब समझौता मुमकिन है। लड़ाई की हालत में बढ़ता हुआ संकट बराबर एक अंकुश था कि हम सभी किसी समझौते पर पहुंचना चाहते थे।

करना था। फिर भा कई तरीक़े हो सकते थे। लेकिन मौजूदा वक़्त के लिए और उससे भी ज्यादा भविष्य के लिए सिर्फ़ एक ही कारगर तरीक़ा हो सकता था। हमको ऐसा मालूम पड़ा कि मनोवैज्ञानिक अवसर हाथ से निकल सकता है और उसके बाद मौजूदा खतरे ही नहीं आयंगे बल्कि भविष्य के बड़े भारी खतरे और भी ज्यादा बढ़ जायंगे। पुराने और नये सभी हथियारों की ज़रूरत थी। और ज़रूरत थी उनको इस्तैमाल करने के लिए एक नये ढंग की, नये जोश का, नये क्षितिज की, भविष्य म--भूतकाल से बिलकुल भिन्न भविष्य में--एक नये विश्वास की। आर उसका सबूत मौजूदा वक़्त की तब्दीलियों में था। शायद हमारी उत्सुकता से हमारा आशावादिता बढ़ गई और हम कुछ देर के लिए भूल गए और यह चीज़ धुंधली हो गई कि ब्रिटिश शासकों के और हमारे बीच की खाई बहुत चौड़ी थी, और बहुत गहरी थी। ख़तरे और विध्वंस के होते हुए भी सदियों पुराने झगड़े का हल हो जाना ऐसा आसान नहीं था। किसी भी शाही ताक़त के लिए, साम्राज्य को जकड़े हुए अपने पंज को ढीला करना कभी भी आसान नहीं होता। ऐसा सिर्फ़ जबर्दस्ती ही कराया जा सकता था। क्या परिस्थितियों में वह ताक़त या दृढ़ता आ गई थी। हमें पता नहीं था लेकिन हमने मनाया कि ऐसा ही हो।

और तब, ठीक उस वक़्त जब मुझे सबसे ज्यादा उम्मीद थी, अजीब चाजें होने लगीं। लार्ड हैलीफ़ेक्स ने संयुक्त राष्ट्र में कहीं व्याख्यान देते हुए, कांग्रेस पर ज़ोरदार आक्षेप किये। दूर अमेरिका में ठीक उसी वक्त उन्होंने यह क्यों किया, यह समझ में नहीं आया। लेकिन यह साफ़ था कि कांग्रेस के साथ समझौते की बात-चीत चल रही थी, यह ऐसा उस वक़्त तक नहीं कर सकते थे जब तक कि वह ब्रिटिश सरकार का नीति और विचारों को ही प्रकट न कर रहे हों। यह बात दिल्ली म अच्छी तरह मालूम थी कि वाइसराय लार्ड लिनलिथगो और सिविल सर्विस के बड़-बड़े अफ़सर समझौते के सख़्त ख़िलाफ़ थे। वे अपनी ताक़तों को घटाने के लिए तैयार नहीं थे। बहुत-सी बातें गुप-चुप ढंग से हुई और उनके बारे में पूरी जानकारी नहीं हुई।

जब हम स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स से, रक्षा-मंत्री के काम-काज की बाबत एक नया समझौता निकालने और सोच-विचार करने के लिए फिर मिले, तो यह बात ज़ाहिर हुई कि हमारी पिछली बातों का असली चीज़ से कोई ताल्लुक़ नहीं था। न कोई नये मंत्री बनने थे और न उन्हें कोई अधिकार ही दिये जाने थे। वाइसराय की मौजूदा एक्जीक्यूटिव कौंसिल बदस्तूर बनी रहेगी, और इरादा सिर्फ़ यह था कि राजनातिक दलों के कुछ और हिंदुस्तानियों को उसमें नियुक्त कर दिया जाय। यह कौंसिल किसी भी मानी में कैबिनेट नहीं हो सकती थी। उसके मेंबर तो अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष या मंत्री होते; लेकिन सारी

ताक़त वाइसराय के हाथों में ही रहती। हमने महसूस किया कि क़ानून के रद्दो-बदल में वक़्त लगता है और इसलिए हमने उनके लिए ज़ोर नहीं दिया था। लेकिन हमने इस बात पर ज़रूर जोर दिया था कि वाइसराय एक ऐसा ढर्रा अपनाये कि अमली तौर पर कौंसिल कैबिनेट की तरह हो और वाइसराय उसके फ़ैसलों को माने। अब हमको बताया गया कि यह मुमकिन नहीं था, और वाइस-राय की ताक़त ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी—क़ानूनी तौर से भी और अमली तौर से भी। यह एक अजीब तब्दीली थी, जिस पर यक़ीन करना मुश्किल था; क्योंकि पहले मौक़ों पर हमारी बातों की बुनियाद ही बिलकुल दूसरी थी।

हमने सोच-विचार किया कि हमले को रोकने के लिए किस तरह हिंदुस्तान की ताक़त को बढ़ाया जा सकता है। हम हिंदुस्तानी फ़ौज को यह महसूस कराना चाहते थे कि वह एक क़ौमी फ़ौज है और इस तरह हम लड़ाई में देश-भक्ति की भावना को मिलाना चाहते थे। इसके साथ ही नई फ़ौज बनाते, और होम गार्ड आदि तेज़ी से बनाते ताकि हमले के मौक़े पर घर-घर में बचाव हो सके। वह ठीक है कि यह सब चीज़ें सेनापति के अधीन होतीं। हमसे कहा गया था कि हमको ऐसा नहीं करने दिया जायगा। हिंदुस्तानी फ़ौज तो अस्ल-में ब्रिटिश फ़ौज का ही एक हिस्सा थी और उसे किसी भी मानी में क़ौमी फ़ौज नहीं कहा जा सकता था। इस में शक़ है कि होम गार्ड, या मिलीशिया जैसे नये हथियारबंद दस्तों और जत्थों के संगठन की हमको इजाज़त मिलती।

इस तरह इस सबके मानी यह निकले कि मौजूदा ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, वाइसराय के मनमाने अधिकार बराबर बने रहेंगे और हममें से कुछ उनके वर्दीपोश अनुयायी होकर नाश्ते और चाय-पानी या इससे मिलती-जुलती चीज़ों की देख-भाल कर सकते थे। इस प्रस्ताव में और अठारह महीने पहले के मि० एमरी के प्रस्ताव में रत्ती-भर भी फ़र्क़ नहीं था। मि० एमरी का प्रस्ताव उस वक़्त हिंदुस्तान की बे ज्ज़ती करता हुआ मालूम दिया। यह ठीक है, कि इस सबसे एक मनोवैज्ञानिक अंतर होता, और कुछ व्यक्तियों के परिवर्तन का भी असर होता है। वाइसराय के सिंहासन को चारों तरफ़ घेरे रखने वाले जी हुजूरों की जगह, इरादे वाले और क़ाबिल लोग, एक दूसरे ही ढंग से काम करते।

हमारे लिए किसी भी मौक़े पर ख़ास तौर से इस वक़्त, इस स्थिति का मंजूर करना, ख़याल के बाहर था, नामुमकिन था। अगर हमने ऐसा करने की हिम्मत की होती तो हमारे ही आदमी हमारा साथ छोड़ देते, हमारे ख़िलाफ़ हो जाते। सच तो यह है कि बाद म जब सारी बातें जनता के सामने आईं तो उन रियायतों के लिए, जो समझौते के दौरान में हमने मंजूर कर ली थीं, बड़ी भारी नाराज़ी हुई।

सर स्टैफोर्ड क्रिप्स से बातचीत के सारे दौरान में अल्प-संख्यकों के मामले पर या सांप्रदायिक कहे जाने वाले सवालों पर न तो कोई सोच-विचार हुआ और न उनका ज़िक्र ही उठा। असल में उस वक़्त यह सवाल ही नहीं उठा। भविष्य के वैधानिक परिवर्तन के सिलसिले में यह एक सवाल था, लेकिन ब्रिटिश प्रस्तावों पर हमारी पहली प्रतिक्रिया के बाद सबको जान-बूझकर एक तरफ हटा दिया गया था। अगर क़ौमी सरकार को असली हुकूमती ताक़त सौंप देन का उसूल मान लिया था, तो यह बात लाज़िमी तौर से उठती कि मुख़्तलिफ़ दलों के नुमाइंदे किस औसत में होंगे। और चूंकि हम उस स्थिति तक ही नहीं पहुंचे, इसलिए दूसरा सवाल न तो उठा और न उस पर सोच-विचार ही किया गया। जहां तक हमारा ताल्लुक़ है, हम ख़ास पार्टियों के विश्वास पर बनी एक सच्ची क़ौमी सरकार के लिए इतने उत्सुक थे कि हमको ऐसा महसूस होता था कि आपसी अनुपात के सवाल पर कोई ख़ास परेशानी नहीं होगी। कांग्रेस-सभापति, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने सर स्टैफोर्ड क्रिप्स के लिए एक ख़त में लिखा : "हम इस बात पर आपका ध्यान दिलायंगे कि जो प्रस्ताव हमने पेश किये हैं वे सिर्फ़ हमारी ही नहीं बल्कि हिंदुस्तान की जनता की एकमत मांग, कहे जा सकते हैं। इन मामलों पर अलग-अलग समुदायों और पार्टियों में कोई मतभेद नहीं है; फ़र्क तो कुल मिलाकर हिंदुस्तानी जनता और ब्रिटिश सरकार में है। हिंदुस्तान में जो कुछ मतभेद है, वह तो सिर्फ़ भविष्य के वैधानिक परिवर्तन के बारे में है। हम इस सवाल को मुल्तबी करने के लिए तैयार हैं, ताकि हिंदुस्तान की रक्षा के लिए, मौजूदा संकट में ज़्यादा-से-ज़्यादा एका हो सके। इस वक़्त जब हिंदुस्तान में इस बारे में सिर्फ़ एक ही राय है कि एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो, जो हिंदुस्तान के आदर्श के लिए काम करते हुए, उन करोड़ों आदमियों की भी सेवा करे जो आज मौत और तकलीफ़ का सामना कर रहे हैं, यह तो बिलकुल सर्वनाश की ही बात होगी अगर ब्रिटिश सरकार ऐसी सरकार की स्थापना को रोक रखे।"

बाद में कांग्रेस-सभापति के आख़िरी ख़त में यह कहा गया था : "हमारी दिलचस्पी इसमें नहीं है कि सिर्फ़ कांग्रेस को ही ताक़त मिले; बल्कि हमारी दिलचस्पी इसमें है कि हिंदुस्तान की सारी जनता को आज़ादी और ताक़त मिले।......हमको विश्वास है कि अगर ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालने वाली नीति को बढ़ावा न दे, तो हम सब, चाहे हम किसी पार्टी या दल के हों, आपस में मिल सकते हैं और काम करने का ऐसा रास्ता निकाल सकते जो सबको मंजूर होगा। लेकिन अफ़सोस कि इस भारी ख़तरे के मौक़े पर भी ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालने वाली नीति को छोड़ने को तैयार नहीं

है। इससे हमको मजबूर होकर इस नतीज पर पहुंचना पड़ा है, कि हिंदुस्तान की, मंडराते हुए हमले से हिफ़ाजत की जगह, हिंदुस्तान में जब तक मुमकिन हो सके, अपना राज्य क़ायम रखने की उसके दिमाग़ में ज्यादा अहमियत है और उसी मक़सद से वह यहां फूट और झगड़ा बढ़ाये जाती है। हमारे लिए और सभी हिंदुस्तानियों के लिए हिंदुस्तान की हिफ़ाजत और रक्षा का ही खास खयाल है और उसी कसौटी को हम सबसे ऊपर मानते हैं।"

इस खत में रक्षा के बारे में हमारी स्थिति को भी उन्होंने साफ़ कर दिया। "किसी ने भी सेनापति की आम ताक़तों को कम करने का सुझाव नहीं किया। यही नहीं, हम तो और भी आगे बढ़े, और युद्ध-मंत्री के नाम से और भी नई ताक़त देने को तैयार थे। लेकिन ज़ाहिर है कि रक्षा के मामले में ब्रिटिश सरकार के और हमारे खयाल में बहुत बड़ा फ़र्क़ है। हमारे लिए तो उसके मानी यह हैं कि उसको राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया जाय, और हिंदुस्तान के हर मर्द और औरत से उसमें हिस्सा लेने को कहा जाय। उसके मानी हैं अपनी जनता का विश्वास करना, और इस बड़ी भारी कोशिश में उनका पूरा-पूरा साथ लेना। ब्रिटिश सरकार के नज़रिये की बुनियाद हिंदुस्तानियों का बिलकुल विश्वास न करने पर है, और वह उनसे असली ताक़त को रोक रखना चाहती है। आपने रक्षा के मामले में शाही सरकार के अहम कर्त्तव्य और जिम्मेदारी का जिक्र किया है। उस कर्त्तव्य और जिम्मेदारी का पूरा-पूरा पालन पूरे ढंग से नहीं हो सकता, जब तक कि हिंदुस्तानियों को खुद जिम्मेदारी न मिले और उन्हें उसका अनुभव न हो। इधर हाल की ही बातें उसकी गवाह हैं। हिंदुस्तान-सरकार इस बात को महसूस नहीं करती कि लड़ाई जनता के सहयोग से ही लड़ी जा सकती है।"

कांग्रेस-सभापति के इस आखिरी खत के कुछ ही बाद सर स्टैफोर्ड क्रिप्स हवाई जहाज़ से इंग्लैंड वापिस लौट गए। लेकिन इससे पहले और फिर इंग्लैंड पहुंचने के बाद उन्होंने जनता के सामने ऐसे बयान दिये जो असलियत से उलटे थे। उनसे हिंदुस्तान में बेहद नाराज़ी हुई। हिंदुस्तान में ज़िम्मेदार आदमियों के विरोध और शिकायत के बाद भी सर स्टैफ़ोर्ड और दूसरे आदमी उन बयानों को दुहराते रहे।

ब्रिटिश प्रस्तावों को सिर्फ़ कांग्रेस ने ही रद्द नहीं किया था बल्कि हर पार्टी और दल ने उन्हें रद्द कर दिया था। हमारे यहां के बड़े उदार और राज-नीतिज्ञों ने उन्हें नामंजूर किया था। मुस्लिम-लीग को छोड़कर और सबकी वजहें भी क़रीब-क़रीब वही थीं। अपने ढर्रे के मुताबिक़ मुस्लिम-लीग ने इंतजार किया कि और लोग अपनी राय जाहिर करें, तब उसने अपनी अलग वजहें देकर प्रस्तावों को रद्द कर दिया।

ब्रिटिश पार्लमेंट में और दूसरी जगहों पर यह कहा गया कि कांग्रेस की रद्द करने की वजह तो गांधीजी का वह रुख था जो समझौता चाहता ही नहीं था। यह बात बिलकुल ग़लत है। गांधीजी ने और लोगों के साथ इस बात को नापसंद किया था कि प्रस्ताव की वजह से भविष्य में, अनगिनित बंटवारे करने पड़ते और साथ ही हिंदुस्तानी रियासतों की नौ करोड़ जनता की अवहेलना की गई थी उन्हें अपने भविष्य के बारे में कुछ कहने का अधिकार नहीं दिया गया था। समझौते की सारी बात-चीत, जिसमें भविष्य की नहीं बल्कि मौजूदा हालत में रद्दो-बदल का ही ज़िक्र था, गांधी जी की ग़ैरहाजिरी में हुई। अपनी पत्नी की बीमारी की वजह से उन्हें लौट जाना पड़ा था। उनका इस सबसे कोई ताल्लुक़ ही नहीं था। पिछले कितने ही मौक़ों पर कांग्रेस-कार्य-समिति अहिंसा के मामले में उनसे असहमत रही है। वह तो लड़ाई म और ख़ास तौर से हिंदुस्तान की रक्षा में साथ देने के लिए, क़ौमी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए बहुत उत्सुक थी।

लोगों के दिमागों में लड़ाई का ख़याल था और वही अहम सवाल था। हिंदुस्तान पर हमला साफ़ दिखाई पड़ रहा था। समझौते ने लड़ाई में रुकावट नहीं पेश की; क्योंकि उसका नियंत्रण तो विशेषज्ञ ही करते, न कि आम आदमी। लड़ाई की नीति के सिलसिले में किसी फैसले पर पहुंचना मुश्किल नहीं था। असली सवाल तो क़ौमी सरकार को ताक़त सौंपने का था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता का यह पुराना झगड़ा था। उस मामले में चाहे लड़ाई हो या न हो, हिंदुस्तान और इंग्लैड का निश्चय किये हुए था। इन सबके पीछे मि० विंस्टन चर्चिल की बड़ी हस्ती काम कर रही थी।

६ : मायूसी

क्रिप्स संधि-चर्चा का अचानक ख़ात्मा और सर स्टैफ़ोर्ड की यकायक वापसी, इन दोनों बातों से अचंभा हुआ। जहां तक मौजूदा वक़्त का सवाल था, क्या इसी तुच्छ तजवीज़ के लिए, जैसी कि वह आगे चलकर साबित हुई और जिसमें पहले कई बार कही बातों को ही दुहराया गया था, ब्रिटिश वार-कैबिनेट का एक मेंबर हिंदुस्तान आया था? या यह सब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की जनता में प्रचार के ख़याल से किया गया था? उसकी प्रतिक्रिया तेज़ और तीखी हुई। ब्रिटेन के साथ समझौते की कोई उम्मीद नहीं थी। हिंदुस्तानियों को, जैसी कि उनकी तबियत थी, अपने देश को बाहरी हमलों से बचाने का भी मौक़ा नहीं दिया जाना था।

इस बीच उस हमले की संभावना बढ़ रही थी, और भूखे हिंदुस्तानी

शरणार्थियों के झुंड-के-झुंड, हिंदुस्तान की पूर्वी सीमा से अंदर आ रहे थे। पूर्वी बंगाल में, घबराहट में, हमले के डर की वजह से, दसियों हज़ार नावों को बरबाद कर दिया गया। (बाद में यह कहा गया कि एक सरकारी हुक्म के ग़लत मानी लगाने की वजह से ऐसा किया गया था)। उस विस्तृत प्रदेश में जल-मार्ग बहुत हैं, और वहां आना इन्हीं नावों के सहारे मुमकिन था। उनके बरबाद कर देने की वजह से बड़े-बड़े समुदाय एक दूसरे से अलहदा हो गए। उनकी रोजी छिन गई। एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने का सहारा नहीं रहा, और वह बंगाल के अकाल की एक काफ़ी बड़ी वजह हुई। एक बड़े पैमाने पर वहां से हटने की तैयारियां की गईं। दक्खिन बर्मा में और रंगून में जो कुछ हुआ था उसके दुहराए जाने के आसार दिखाई पड़ने लगे। मद्रास शहर में एक अस्पष्ट और अनिश्चित अफ़वाह उड़ी (बाद में यह झूठी निकली)। इसमें कहा यह गया कि एक जापानी जहाज़ी बेड़ा आ रहा है। उसका नतीजा यह हुआ कि बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर वहां से अचानक हटे और साथ ही कुछ हद तक वहां का बंदरगाह भी बिगाड़ दिया गया। ऐसा मालूम होता था कि हिंदुस्तान की सिविल हुकूमत की हिम्मत टूट रही थी। हिंदुस्तान की क़ौमियत कुचलने में ही उसकी बहादुरी थी।

हमको क्या करना था? हम इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि हिंदुस्तान का कोई भी हिस्सा हमले के सामने चुपचाप सिर झुका दे। जहां तक कि हथियारबंद विरोध का सवाल है, उससे (जैसी कुछ वह थी) फ़ौज का और हवाई ताक़त का ताल्लुक़ था। अमेरिका से मदद आ रही थी—ख़ास तौर से हवाई जहाज़ों की शक्ल में मदद थी, और उससे सारी फ़ौजी स्थिति धीरे-धीरे बदल रही थी। जिन ढंग से हम मदद कर सकते थे वह था घरेलू मोर्चे के सहारे वातावरण में परिवर्तन। लोगों में जोश पैदा करते, किसी भी सूरत से हमला रोकने की तीव्र इच्छा जगा देते। इसके लिए नागरिकों का संगठन करते और गृह-रक्षक जत्थे बनाते। ब्रिटिश नीति ने हमारे लिए यह चीज़ बेहद मुश्किल बना दी थी। ख़ास हमले के मौक़े पर फ़ौज के बाहर किसी भी हिंदुस्तानी पर इतना भरोसा नहीं था कि उसे बंदूक़ दी जाती। यही नहीं बल्कि गांवों में निजी हिफ़ाज़त के लिए ग़ैर-हथियारबंद जत्थों को तैयार करने की कोशिश भी नापसंद की गई, और अक्सर वह दबा दी गई। ब्रिटिश अधिकारी जन-रक्षा-संगठन को बढ़ावा देने की जगह उससे डरते थे। उसका वजह थी। वे इन सार्वजनिक रक्षा के संगठनों में, ब्रिटिश राज्य के लिए विद्रोह और ख़तरा देखने के आदी हो गए थे। उनको अपनी पुरानी नीति पर ही चलना था। उसकी जगह दूसरा रास्ता सिर्फ़ यही था, कि हिफ़ाजत के लिए सार्वजनिक संगठन पर भरोसा करने वाली क़ौमी सरकार क़ायम हो। इस रास्ते

को उन्होंने पहले ही साफ़ तौर पर नामंजूर कर दिया था। अब बीच का कोई रास्ता नहीं था। लाज़िमी तौर पर वह जनता को जायदाद की तरह इस्तैमाल करना चाहते थे। आदमियों की अपनी निजी प्रेरणा या सूझ नहीं होती। अधिकारी वर्ग बिलकुल अपनी इच्छा के मुताबिक उनसे काम लेना या फायदा उठाना चाहता था। कांग्रेस-महासमिति ने अपनी अप्रैल १६४२ की बैठक में, इस नीति और व्यवहार पर अपनी भारी नाराज़गी का ऐलान किया। उसने कहा कि वह किसी ऐसी स्थिति को मंजूर करने को तैयार नहीं थी, जिसमें जनता को विदेशी सत्ता के ग़ुलाम की हैसियत से काम करना पड़े।

फिर भी इस आने वाले सर्वनाश के लिए हम मौन और बेबस तमाशबीन होकर नहीं रह सकते थे। हमें जनता को सलाह देनी थी—उस बड़ी भारी आबादी को सलाह देनी थी कि हमले की हालत में उन्हें क्या करना था। हमने उससे कहा कि ब्रिटिश नीति के लिए नफ़रत होते हुए भी उन्हें ब्रिटिश या संयुक्त राष्ट्रों की फौजों के काम में कैसा भी दख़ल नहीं देना चाहिए, क्योंकि इस तरह तो हम हमला करने वाले दुश्मन की ही मदद करेंगे। लेकिन साथ ही किसी भी सूरत में उन्हें आक्रमणकारी के आगे न तो सिर झुकाना चाहिए, और न उसकी किसी इनायत को ही मंजूर करना चाहिए। अगर आक्रमणकारी सेनाएं, उनके घरों और खेतों पर कब्ज़ा करें तो उन्हें मरते दम तक उसको रोकना चाहिए। यह विरोध शांतिपूर्वक हो। दुश्मन से सोलहों आने पूरा असहयोग होना चाहिए।

बहुत से लोगों ने काफ़ी व्यंग के साथ इसकी आलोचना की। आक्रमणकारी फ़ौज का इस अहिंसात्मक असहयोग से विरोध करना एक बिलकुल वाहियात ख़याल मालूम दिया। लेकिन वाहियात होने की जगह, जनता के पास यही एक कारगर रास्ता बाक़ी था। यह तो एक बहुत बहादुराना ढंग था। हथियारबंद फ़ौजों को यह सलाह नहीं दी गई थी, और न यही कहा गया था कि सशस्त्र विरोध से काम चल जायगा। यह सलाह निहत्थी नागरिक जनता को दी गई थी। सशस्त्र फौजों के हट जाने या हार जाने पर यह जनता हमेशा ही आक्रमणकारी के आगे सिर झुका देती है। खास हथियारबंद फ़ौज के अलावा, दुश्मन को परेशान करने के लिए छोटे-छोटे छापा मारने वाले जत्थों का संगठन किया जा सकता है। लेकिन हमारे लिए यह मुमकिन नहीं था। इसके लिए शिक्षा की और हथियारों की ज़रूरत होती है। इसमें फ़ौज का पूरा साथ चाहिए। और अगर कुछ छापा मारने वाले जत्थों को शिक्षा भी दे दी जाती, तब भी सारी जनता बाकी बच रहती। आम तौर पर यह उम्मीद की जाती है कि सारी नागरिक जनता, दुश्मन के कब्ज़े के बाद सिर झुका देगी। यही नहीं ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उन हिस्सों में हिदायतें जारी

की गई थीं, जहां खतरा था, कि बड़े-बड़े अफ़सरों के हटने के बाद वहां की जनता और यहां तक कि छोटे अफ़सर और अहलकार दुश्मन की मातहती मान लें।

हम अच्छी तरह जानते थे कि शांतिपूर्वक असहयोग से, आगे बढ़ती हुई दुश्मन की फ़ौज रोकी नहीं जा सकती। हम यह भी जानते थे कि ज्यादा-तर जनता के लिए, तबियत होते हुए भी, उस फ़ौज का रोकना मुश्किल होगा। फिर भी हमें उम्मीद थी कि दुश्मन से जीते हुए गांवों और क़स्बों में ऐसे प्रमुख व्यक्ति निकल आयंगे जो न उनका हुक्म मानेंगे और न उन्हें खाने-पीने के इंतज़ाम में मदद देंगे। उसकी वजह से उन्हें फौरन सज़ा मिलती—बहुत मुमकिन था मौत की सजा मिलती, वरना उनका सब कुछ ज़ब्त तो हो ही जाता। हमारा ख़याल था कि कुछ गिने-चुने आदमियों द्वारा भी सिर न झुकाने और जीते दम तक, विरोध करने का आम आबादी पर, सिर्फ़ उन हिस्सों में ही नहीं बल्कि सारे हिंदुस्तान में ज़ोरदार असर होता। इस तरह हमे उम्मीद थी कि विरोध के लिए राष्ट्रीय भावना बढ़ाई जा सकती थी।

पिछले कुछ महीनों से हम संगठन कर रहे थे—खाने का इंतज़ाम करने वाली कमेटियों का, और गांवों और क़स्बों में स्व-रक्षा-संघों का। अक्सर यह हमें सरकारी विरोध होते हुए भी करना पड़ा। खाने-पीने की चीज़ों की समस्या हमें परेशान कर रही थी। लड़ाई की वजह से यातायात की दिन-ब-दिन बढ़ती हुई मुश्किल से और लड़ाई के सिलसिले में और दूसरी बातों से हमें खाने-पीने की चीज़ों के संकट का डर था। इस मामले में सरकार क़रीब-क़रीब कुछ भी नहीं कर रही थी। हमने स्वयं-पर्याप्त इकाइयों की सभी जगह और खास तौर से गांवों में संगठन करने की कोशिश की। हमने नये साधनों के अभाव में, आने-जाने के पुराने साधनों-बैलगाड़ी आदि के लिए बढ़ावा दिया। इस बात की भी बहुत संभावना थी कि अगर पूर्व की तरफ़ से हमला हुआ तो, बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थी और भागे हुए लोग एकदम पच्छिम की ओर दौड़ेंगे। यही बात चीन में हुई थी। हमने अपने-आप इस बात की तैयारी की कि उस वक़्त उन लोगों के खाने और रहने का इंतजाम हो सके। सरकारी मदद के बिना यह बहुत मुश्किल था, शायद मुमकिन भी नहीं था, फिर भी हमने हर मुमकिन कोशिश की। स्वरक्षा दलों का उद्देश्य इस काम में मदद करना था। उन्हें अपने-अपने हलकों में व्यवस्था रखनी थी और घबरा-हट को रोकना था। काफ़ी दूर, किसी भी जगह फ़ौजी हमले या हवाई हमले की खबर से यह घबराहट या भगदड़ हो सकती थी, और इसे रोकना बहुत ज़रूरी था। इस मामले में सरकार की तरफ़ से इंतज़ाम बिलकुल नाकाफ़ी था। वहां जनता पर अविश्वास था। गांवों में चोरियां और डकैतियां दिन-ब-दिन बढ़ रही थीं।

हमने यह लंबी-चौड़ी योजनायें बनाईं और कुछ हद तक उन्हें अमल में लाने की कोशिश की। लेकिन ज़ाहिर था कि हमारे सामने जो बहुत बड़ी समस्या थी, उसमें हम सिर्फ़ थोड़ा काम कर पा रहे थे। सरकारी ढांचे और जनता के पूरे-पूरे सहयोग से ही, इस समस्या का हल हो सकता था। लेकिन सहयोग असंभव पाया गया। इस हालत को देखकर दिल टूटता था। जिस समय संकट में हमारी जरूरत थी, और काम करने के लिए हमारा जोश उमड़ा पड़ता था, कुछ कर दिखाने के लिए रुकावट थी, इजाज़त नहीं थी। संकट और विध्वंस लंबे आगे बढ़ते आ रहे थे और हिंदुस्तान, बेबस और हाथ-पर-हाथ रक्खे बैठा हुआ था, उसमें नाराज़ी और गुस्सा था और वह डग भरते हुए प्रतिद्वंद्वी विदेशी शक्तियों का रण-स्थल बना हुआ था।

लड़ाई के लिए नफ़रत होते हुए भी, हिंदुस्तान पर जापानी हमले के खयाल से मुझे किसी तरह का डर नहीं हुआ। हिंदुस्तान पर आती हुई लड़ाई की बाबत सोचकर मेरे मन में एक तरह का आकर्षण पैदा हुआ। यह ठीक है कि लड़ाई एक भयंकर चीज़ है। ब्रिटेन न हमारे ऊपर क़ब्र की शांति लाद रखी थी। मैं चाहता था कि हमारे करोड़ों आदमी उससे बाहर खींच लिये जायं, उन्हें निजी अनुभव और साथ ही उन्हें अच्छी तरह झकझोर दिया जाय। यह एक ऐसा बात होती जो उन्हें गुज़रे ज़माने की चीज़ों से, जिनसे वे बरी तरह चिपटे हुए थे, ऊपर उठा देती और जो उन्हें ज़बर्दस्ती मौजूदा असलियत के सामने ला देती। इससे वे छोटी-छाटी राजनीतिक समस्याओं, बढ़-चढ़कर दीखने वाले छोटे-छोटे झगड़ों से, जो उनके दिमाग़ में घर किये हुए थे, बाहर निकल आते। उससे उनकी ज़िंदगी की लय बदल जाती और उनका सुर मौज़दा वक़्त और भविष्य से मिल जाता। लड़ाई की गहरी क़ीमत चुकानी पड़ती, उसके नतीजे का कुछ ठीक भी नहीं था। हमने नहीं चाहा था। कि लडाई हो, लेकिन अब, जब वह आ गई थी, उससे राष्ट्र की रगें मजूबत की जा सकती थीं। उससे एसे महत्त्वपूर्ण अनुभव हो सकते थे जिनसे नये जीवन का अंकुर फूटे। बहुत बड़ी तादाद में लोग मरेंगे, यह बात साफ़ थी, लेकिन अकाल से मरने से लड़ाई में मरना बहतर है। दुःखभरी, बेकार ज़िंदगी से मर जाना बेहतर ह। मौत से नई जिंदगी आती है। वे व्यक्ति और राष्ट्र, जो मरना नहीं जानते वे जीना भी नहीं जानते। 'सिर्फ़ वहीं, जहां कब्र है, पुनरुत्थान होता है।'

हालांकि लड़ाई हिंदुस्तान तक आ पहुंची थी, लेकिन उससे हममें कोई जोश नहीं आया था, किसी बड़ी कोशिश में हमारी ताक़त खुशी से फूटी नहीं पड़ती थी--किसी ऐसी कोशिश में जिसमें तकलीफ़ और मौत का ध्यान नहीं होता, जहां खद अपनी अहमियत भुला दी जाती ह, जिसमें आजादी के

निशाने की ओर दूसरी पार भविष्य के नक्शे की ही क़ीमत होती है। हमारे लिए तो सिर्फ़ तकलीफ़ और मुसीबतें ही थीं । इसके अलावा उस आते हुए सर्वनाश का होश होता था जिसको हम टाल नहीं सकते थे, जिससे हमारे दर्द की तेज़ी बढ़ती, और हमारी चेतना सजग होती । अनिवार्य दुर्दशा की चिंता बढ़ती गई। यह दुर्दशा ज़ाती भी थी और क़ौमी भी।

इसका लड़ाई की हार-जीत से कोई ताल्लुक़ नहीं था या इस बात से कि कौन हारे और कौन जीते। हम धुरी राष्ट्रों की जीत नहीं चाहते थे क्योंकि उससे लाजिमी तौर पर सर्वनाश होता। हम नहीं चाहते थे कि जापानी हिंदुस्तान में घुसें और उसके किसी हिस्से पर कब्ज़ा करें । उसको जैसे भी हो सके, रोकना था और हमने बार-बार इस बात पर जनता का ध्यान दिलाया। लेकिन यह सब नकारात्मक कोशिश थी । लड़ाई का निश्चित सत्तात्मक उद्देश्य क्या था ? उससे कैसे भविष्य का नक्शा बनेगा। क्या यह पहली ग़लतियों और पहले विध्वंसों को दुहराना भर था जिसमें प्रकृति की अचेतन शक्तियां काम करती थीं और वे इंसान की ख़्वाहिशों और आदर्शों का कोई ख़याल ही नहीं करती थीं ? हिंदुस्तान का भविष्य क्या होना था ?

पिछले ही साल, अपनी मृत्यु-शय्या से दिये हुए, श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के आख़िरी संदेसे का ध्यान आया।......"बर्बरता के पिशाच ने सारे आवरण हटा दिये हैं। संहार के तांडव में मानवता को चीरकर फेंकने के लिए वह अपने, बड़े-बड़े दांतों को खोले हुए बाहर आया है । दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, नफ़रत के जहरीले धुंए ने सारे वातावरण को काला कर दिया है। हिंसा की भावना, जो शायद पश्चिम की मनोवृत्ति में छिपी पड़ी थी, अब आख़िरकार बाहर आई है और उसने मानव-आत्मा को कलंकित कर दिया ह।

"किसी दिन भाग्य-चक्र, अंग्रेज़ों को हिंदुस्तानी साम्राज्य छोड़ने के लिए मजबूर करेगा। लेकिन वह कैसा हिंदुस्तान छोड़कर जायंगे, कितना दुःखभरा ? जब उनकी हुकूमत की सदियों पुरानी धारा सूख जायगी, तो कितनी दलदल, कितनी कीचड़ वे छोड़ जायंगे ! किसी समय मेरा विश्वास था कि यूरोप के हृदय से विभिन्न संस्कृतियों के स्रोत फूटेंगे। किंतु जब, आज मैं दुनिया को छोड़ने वाला हूं, इस विश्वास का बिलकुल दिवाला पिट गया है।

"चारों तरफ़ देखने पर मुझे एक गर्वीली सभ्यता के भग्न अवशिष्ट दिखाई दे रहे हैं, मानो एक बहुत बड़ा, बिलकुल बेकार का ढेर तितर-बितर पड़ा हो। फिर भी मानव में विश्वास खोने का भारी पाप नहीं करूंगा। मैं उसके इतिहास में एक नये अध्याय को देखना चाहूंगा जो इस तूफ़ान के बाद वायु-मंडल साफ़ होने के बाद, सेवा और बलिदान की भावना से शुरू होगा।

शायद वह प्रभात, इसी क्षितिज पर होगा---पूर्व में जहां कि सूर्योदय होता है। एक ऐसा दिन आयगा जब अपराजित मानव सारी रुकावटों के होते हुए अपने विजय-मार्ग पर वापस लौटेगा ताकि वह अपनी खोई हुई मानवीय पैतृक संपत्ति को पा सके।

"आज हम उन ख़तरों को देख रहे हैं जो शक्ति की उद्दंडता के साथ होते हैं। एक दिन ऋषियों द्वारा घोषित, पूर्ण सत्य प्रकट होगा।"

"असत्याचरण से मनुष्य की समृद्धि होती है, शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है, चाही हुई चीज़ मिलती है लेकिन जड़ में उसका नाश हो जाता है।"

नहीं, मानव में किसी का विश्वास नष्ट न हो। ईश्वर को हम अस्वीकार कर सकते हैं लेकिन अगर हम मानव में विश्वास मिटा दें तब हमारे लिए क्या आशा रहेगी, क्योंकि तब, सभी कुछ बेकार हो जायगा। फिर भी, किसी चीज़ में या इसमें कि सत्याचरण हमेशा ही विजयी होगा, विश्वास करना मुश्किल था। थके तन और बेचैन मन से, अपने इस वातावरण से बचने के लिए, मैंने हिमालय की भीतरी घाटियों में स्थित, कुल्लू के लिए यात्रा की।

१० : चुनौती : 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

एक पखवारे की ग़ैर हाज़िरी के बाद, कुल्लू से लौटने पर, मैंने अनुभव किया कि देश की अंदरूनी हालत तेज़ी से बदल रही थी। समझौते की पिछली कोशिश की असफलता की प्रतिक्रिया बढ़ गई थी, और अब ऐसी धारणा थी कि उस तरफ़ कोई उम्मीद नहीं है। पार्लमेंट में ब्रिटिश अधिकारियों के बयानों ने इस धारणा को पक्का कर दिया था, और लोगों में उसकी वजह से नाराज़ी थी। हिंदुस्तान में अधिकारियों की नीति हमारे राजनीतिक और सार्वजनिक कामों को दबाने का पक्का इरादा कर रही थी, और चारों तरफ़ दबाव बढ़ता जा रहा था। हमारे बहुत से साथी क्रिप्स संधि-चर्चा के दौरान में जेल में थे। अब मेरे सबसे क़रीबी और ख़ास, दोस्त और साथी भारत रक्षा क़ानून के मातहत गिरफ़्तार कर जेल भेज दिये गए थे। शुरू मई में रफीअहमद किदवई गिरफ़्तार हुए। उसके कुछ ही बाद संयुक्त-प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सभापति श्रीकृष्णदत्त पालीवाल का नंबर आया और इसी तरह और बहुत से लोगों का भी नंबर आया। ऐसा मालूम होता था कि हममें से ज्यादातर को इस तरह छांटकर गिरफ़्तार कर लिया जायगा और कार्य-क्षेत्र से हटा दिया जायगा। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का इस तरह काम रोका जायगा और धीरे-धीरे वह आंदोलन छिन्न-भिन्न हो जायगा। क्या हम

इसे चुपचाप सिर झुकाकर सह लेंगे ? हमको ऐसी शिक्षा नहीं मिली थी। इस बर्ताव के खिलाफ़ विद्रोह करने को हमारा व्यक्तिगत और राष्ट्रीय अभिमान उठ खड़ा हुआ।

गंभीर युद्ध-संकट और हमले की संभावना का ख़याल करते हुए, आखिर हम क्या कर सकते थे ? लेकिन हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने से इस मक़सद को मदद न मिलती। उसकी वजह से ऐसी भावनाएं बढ़ रही थीं कि उनको सोचकर चिंता होती, डर होता। इतने बड़े देश में और ऐसे संकट के समय, जैसा कि कुदरती था, जनता में बहुत-सी तरह की रायें थीं। जापानियों की तरफ़दारी की भावनाएं क़रीब-क़रीब बिलकुल नहीं थीं। कोई भी नहीं चाहता था कि एक विदेशी मालिक की जगह दूसरा आ जाय। चीनियों का तरफ़दारी में चारों तरफ़ बहुत ज़ोरदार भावनाएं थीं। लेकिन एक ऐसा छोटा-सा दल भी था जो एक लिहाज़ से जापानियों के पक्ष में था। उसका अंदाज़ था कि जापानी हमले का हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए फ़ायदा उठाया जा सकता है। उन पर सुभाषचंद्र बोस के ब्रॉडकास्ट का असर था। बोस पिछले साल गुप्त रूप से हिंदुस्तान से बाहर निकल गए थे। हां, ज़्यादातर आदमी तो सिर्फ़ निष्क्रिय थे और चुपचाप घटनाओं को देख रहे थे। अगर बदक़िस्मती से हालत ऐसी बदलती कि हिंदुस्तान के किसी हिस्से पर आक्रमणकारी का कब्ज़ा हो जाता, तो उसको ऐसे आदमी, खास तौर से बड़ी आमदनी वाले आदमी मिलते जो उसका साथ देते। उनकी सबसे बड़ी ख्वाहिश अपनी जायदाद को और अपने को बचाने की थी। इस नस्ल के और इस मनोवृत्ति के साथ देने वालों को, हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बहुत चाहती थी, और पिछले वक़्त में अपना काम लेने के लिए उसने उनको बहुत बढ़ावा दिया था। बदलती हुई हालतों के साथ ये लोग भी बदल सकते थे, और हमेशा अपने निजी लाभ को ध्यान में रखते। फ्रांस, बेलजियम, नार्वे और यूरोप के और बहुत से अधिकृत देशों में, विरोध के जोरदार आंदोलनों के होते हुए भी, आक्रमणकारी का साथ देने वालों की भी बाढ़ हमने देखी थी। हमने देखा था कि किस तरह (पार्टीनैक्स के शब्दों में) विची के आदमियों ने, "अपने दिमाग़ को धोखा देकर, शर्म को इज्ज़त बताया, कायरता को हिम्मत बताया, खोखलेपन और बखबरी को अक्लमंदी बताया, अपमान को गुण बताया और जर्मनी की जीत को दिल से मंजूर कर लेने को, नैतिक पुनर्जन्म बताया।" अगर यह चीज़ क्रांतिकारी, देशभक्ति से प्रज्वलित फ्रांस में हुई, तो उसी किस्म के लोगों में हिंदुस्तान में ऐसा होना नामुमकिन नहीं था, क्योंकि यहां ऐसा साथ देने की मनोवृत्ति बहुत अर्से से फल-फूल रही थी। उस पर ब्रिटिश सरकार की इनायत थी, और उसको तरह-तरह के इनाम मिले थे। असलियत में इस बात की

ही ज्यादा संभावना थी कि दुश्मन का साथ देने वाले लोग ज्यादातर वही होंगे जो ब्रिटिश राज्य का साथ दे रहे थे, और उस राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का गला फाड़-फाड़कर ऐलान कर रहे थे। इस साथ देने के हुनर में वह बहुत मंज गए थे और अब ऊपरी ढांचा बदलने के बाद ठीक उसी ढंग से काम करने में उन्हें कोई मुश्किल नहीं होती। और बाद में अगर फिर ऊपरी ढांचा दुबारा बदलता, तो वे फिर दुबारा बदल सकते थे, ठीक उसी तरह जैसे यूरोप में उनकी नस्ल के आदमी कर रहे थे। जब ज़रूरत होती, तो क्रिप्स समझौते की नाकामयाबी से बढ़ी हुई ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं का वे फ़ायदा उठा सकते थे। ऐसा ही और लोग भी करते, मौक़ापरस्ती और ज़ाती फ़ायदे के लिए नहीं बल्कि और दूसरी प्रेरणाओं से। उसमें न चारों तरफ़ का ही ख़याल होता और न बड़े-बड़े और अहम सवालों का। इन घटनाओं से हम भौंचक्के रह गए, और हमें महसूस हुआ कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश नीति के लिए जबर्दस्ती और चुपचाप सिर झुकाने से हर तरह के ख़तरनाक नतीजे हो सकते हैं और उससे यहां की जनता का पूरी तरह अध:पतन होगा।

चारों तरफ़ काफ़ी हद तक यह ख़याल था कि अगर हमला हुआ और देश के पूर्वी हिस्सों पर दुश्मन का कब्ज़ा हुआ, तो दूसरी जगहों में ज्यादातर हिस्सों में सिविल हुक़ूमत टूट जायगी और उसके सबब से अराजकता फैल जायगी। मलाया और बर्मा में जो कुछ हुआ था हमारे सामने था। इस बात का शायद ही किसी को ख़याल था कि देश के बहुत बड़े हिस्से पर दुश्मन कब्ज़ा करेगा, चाहे लड़ाई उसके माफ़िक ही क्यों न हो। हिंदुस्तान बहुत बड़ा देश था और हम चीन में देख चुके थे, कि विस्तार से एक लाभ है। लेकिन विस्तार से लाभ उसी समय होता है, जब उसका फ़ायदा उठाने के लिए पक्का इरादा हो, और दबने या सिर झुकाने की जगह पूरी तरह रोकने की कोशिश हो। ज़ाहिरा विश्वसनीय ख़बरें थीं कि मित्र राष्ट्रों की हथियारबंद फ़ौजें शायद पीछे हटकर दूसरे रक्षा के मोर्चों पर रुकेंगी। बड़े-बड़े हिस्से दुश्मन के कब्ज़े के लिए खुले छोड़ दिये जायंगे हालांकि ज्यादा मुमकिन यह था कि चीन की तरह दुश्मन शायद यहां भी कब्ज़ा न करे। इस तरह यह सवाल उठे कि सिविल हुक़ूमत के ख़त्म होने के बाद इन हिस्सों में और दूसरे हिस्सों में, इस हालत का कैसे मुक़ाबला किया जाय। जहां तक मुमकिन था हमने दिमाग़ी तौर से या और दूसरे तरीक़ों से इस संकट का सामना करने के लिए कोशिश की। हमने ऐसी मुक़ामी संस्थाओं को बनाया और बढ़ावा दिया जो काम कर सकती थीं, अमन रख सकती थीं और साथ ही आक्रमणकारी को हर मुमकिन ढंग से रोकने के लिए ज़ोर दे सकती थीं।

पिछले बहुत से बरसों से चीनी किसलिए इतने जोरों से लड़ रहे

थे ? रूस के आदमी, और सोवियत् यूनियन की जनता, इतनी हिम्मत, इतनी मज़बूती और इतने जी-जान से किसलिए लड़ रही थी ? और दूसरी जगहों में भी लोग, बहादुरी से लड़ रहे थे क्योंकि उनको देश-प्रेम की प्रेरणा थी, हमले का डर था और उनमें अपनी जीवन-शैली को बनाये रखने की ख़्वाहिश थी। फिर भी रूस की लड़ाई के लिए जी-जान से कोशिश में और दूसरे देशों की कोशिश में एक फ़र्क़ मालूम होता था। दूसरे लोग भी, डनकर्क के मौक़े पर या दूसरे मौक़ों पर बड़े जोरों से लड़े थे, लेकिन संकट आने के कुछ ही बाद कोशिश में एक नैतिक ढीलापन आ गया है। ऐसा मालूम होता था कि भविष्य के बारे में लोगों के दिल में शक है। हां, यह बात ज़रूर थी कि किसी-न-किसी तरह लड़ाई जीती जानी चाहिए। जहां तक सोवियत् यूनियन का सवाल है, वहाँ भविष्य और मौजूदा वक़्त दोनों के ही बारे में पूरा विश्वास था और न वहां कोई शक था न कोई विवाद (हां, यह बात सच है कि वहां विवाद को बढ़ावा नहीं दिया जाता)। कम-से-कम, जो ख़बरें मिलती थीं, उनसे रूस के बारे में यही अंदाज़ होता था।

लेकिन हिंदुस्तान में ? मौजूदा हालत के लिए सख़्त नफ़रत थी, और भविष्य भी अंधेरे से पूरी तरह भरा मालूम देता था। जनता में देश-भक्ति की भावना की कोई प्रेरणा नहीं थी। सिर्फ़ हमले से हिफ़ाज़त की ख़्वाहिश थी। उससे भी शायद दुर्दशा बढ़ती। थोड़े से लोगों की प्रेरणा अंतर्राष्ट्रीय बातों को ध्यान में रखते हुए थी। इस सबके साथ, विदेशी साम्राज्यवादी ताक़त के हाथों शोषण के ख़िलाफ़, कुचले जाने के ख़िलाफ़ और हुक्म पाने के ख़िलाफ़ नाराज़ी की भावनाएं भरी हुई थीं। इस ढांचे में बुनियादी ग़लती थी। इसमें सारी बातें एक स्वेच्छाचारी की तबियत और सनक पर निर्भर थीं। आज़ादी सभी को प्यारी होती है और उन लोगों को तो ख़ास तौर से, जिनका आज़ादी छिन गई है, या जिनकी आज़ादी छिनने का डर है आज की दुनिया में आज़ादी पर बहुत-सी पाबंदियां हैं और उसके लिए कितनी ही शर्तें हैं। लेकिन जिनके पास आज़ादा नहीं है, वे इन पाबंदियों का ख़याल नहीं करते। आज़ादी उनका आदर्श बन जाती है, यहां तक कि उसकी भूख इतनी ज़बर्दस्त हो जाती है कि उस ख़्वाहिश के लिए सब कुछ क़ुर्बान किया जा सकता है। अगर कोई चीज़ इस इच्छा से मेल नहीं खाती या उसमें अड़चन डालती है, तो लाज़िमी बात है, कि उस चीज़ को नुकसान उठाना पड़ेगा। आज़ादा की ख़्वाहिश को, जिसके लिए हिंदुस्तान में बहुत से लोगों ने मेहनत की थी, और तकलीफ़ें सही थीं, सिर्फ़ धक्का ही नहीं पहुंचा, बल्कि ऐसा मालम हुआ कि उसकी गुंजाइश भी पीछे हटकर किसी सुदूर धुधले भविष्य में पहुंच गई थी। असलियत में दुनिया की आज़ादी की लड़ाई में उस ख़्वाहिश को

जोड़ने और उसकी शक्ति के विस्तृत भंडार का हिंदुस्तान और दुनिया की आज़ादी और हिंदुस्तान का हिफ़ाज़त के लिए फ़ायदा उठाने की जगह, हिंदुस्तान को लड़ाई से अलहदा कर दिया गया था और उस सिलसिले में अब कोई उम्मीद नहीं थो । किसी भी जन-समूह को, यहां तक कि दुश्मनों को भी नाउम्मीद छोड़ना कभी भी अक़्लमंदी नहीं है।

हिंदुस्तान में कुछ ऐसे लोग भी थे जिनकी निगाह में यह लड़ाई लड़ने वाले देशों के कूटनीतिज्ञों की छोटी-छोटी आकांक्षाओं से कहीं ज्यादा बड़ी चीज़ थी। उनको उसमें एक इन्क़लाबी सचाई दिखाई दी। वह ऐसा महसूस करते थे कि उसका आख़िरी नतीजा, राजनीतिज्ञों के बयानों, समझौतों और फ़ौजी जीत से कहीं ज़्यादा बड़ी चीज़ होगा, और दुनिया में कहीं ज़्यादा रद्दो-बदल होगी। ऐसे आदमी लाज़िमी तौर से गिनती में बहुत थोड़े थे। दूसरे देशों की तरह यहाँ भी ज़्यादातर लोगों का संकुचित दृष्टिकोण था। इसको वह असलियत कहते थे, और उन पर तात्कालिक नतीजों का ज़्यादा असर होता था। कुछ लोग जो मौक़ापरस्त थे उन्होंने अपने आपको ब्रिटिश नीति के अनुकूल बना लिया, और उसके मुताबिक चलने लगे। अगर ब्रिटेन की जगह और किसी की हुकूमत होती तो भी वह इसी तरह साथ देते और उस हुकूमत की नीति के मुताबिक चलते। कुछ लोगों में, इस नीति के ख़िलाफ़ बहुत ज़ोरों की प्रतिक्रिया हुई। उनको ऐसा मालूम पड़ा कि इस नीति के आगे सिर झुकाने के मानी हिंदुस्तान या दुनिया के उद्देश्य के साथ विश्वास-घात था। बहुत से आदमी तो सिर्फ़ निष्क्रिय थे, ख़ामोश थे—यह हिंदुस्तानियों की वही पुरानी कमी थी, जिसके ख़िलाफ़ हम इतने अर्से से लड़े थे।

जिस वक्त हिंदुस्तान के दिमाग़ में द्वन्द्व चल रहा था और नाउम्मीदी की भावना बढ़ रही थी, गांधीजी ने कितने ही लेख लिखे; जिनसे अचानक जनता के विचारों को एक नई दिशा मिली, या जैसा कि अक्सर होता है जनता के अस्पष्ट विचारों को उन्होंने एक शक्ल दे दी। उस नाज़ुक मौक़े पर निष्क्रियता, या उस वक्त की घटनाओं के सामने चुपचाप सिर झुकाने की बात उन्हें बर्दाश्त नहीं हुई। इस हालत का मुक़ाबला करने के लिए सिर्फ़ यही रास्ता था कि हिंदुस्तान की आज़ादी को मंजूर कर लिया जाय। तब मित्रराष्ट्रों के सहयोग के साथ आज़ाद हिंदुस्तान, हमले का मुक़ाबला करता। अगर यह मंजूरी नहीं मिलती, तो मौजूदा ढांचे को चुनौती देने के लिए कुछ कार्रवाई करनी चाहिए, और जनता को उस काहिली से जो उन्हें पंगु बना रही है, और उन्हें हर तरह के हमले का शिकार बना रही है, जगाना चाहिए।

इस मांग में कोई नई बात नहीं थी, क्योंकि इसमें सिर्फ़ इसी बात का दुहराया गया था जो हम बराबर कहते आए थे, लेकिन उनके लेखों और

व्याख्यानों म एक नया जोश था, और एक नई तेजी थी । और उसमें काम करन के लिए इशारा था । इसमें शक नहीं था कि उस वक़्त हिंदुस्तान में जो भावना चारों तरफ़ छाई हुई थी, उसे वह ज़ाहिर करते थे । दोनों की आपसी लड़ाई में राष्ट्रीयता ने अंतर्राष्ट्रीयता पर जीत पाई, और गांधीजी के नये लेखों ने सारे हिंदुस्तान में हलचल मचा दा । फिर भी इस राष्ट्रीयता का अंतर्राष्ट्रीयता से कभी भी विरोध नहीं था, और वह भरसक कोशिश कर रही थी कि व्यापक हितों से मेल खाने का कोई रास्ता निकल आए । लेकिन यह तभी मुमकिन था जब उसको, इसके लिए एक सम्मानपूर्ण और प्रभावपूर्ण मौका मिले । दोनों के बीच में कोई लाज़िमी झगड़ा नहीं था, क्योंकि यूरोप की आक्रामक राष्ट्रीयता की तरह, यहां की राष्ट्रीयता में दूसरों से छेड़खानी करने की कोशिश नहीं थी । यहां तो असली फ़ायदे के लिए सहयोग की ही कोशिश थी । सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता के लिए राष्ट्रीय आज़ादी ज़रूरी और बुनियादी मालूम होता थी और इसलिए अंतर्राष्ट्रीयता के लिए, और फासिज़्म और नाजीज़्म के ख़िलाफ़ मिलकर लड़ाई लड़ने के लिए उसको असली बुनियाद बताया गया । इस बीच में अंतर्राष्ट्रीयता, जिसके बारे में इतना शोर मचाया जा रहा था, साम्राज्यवादी शक्तियों की पुरानी नीति की तरह शक़ से भरी हुई, मालूम पड़ने लगी । बिलकुल नई तो नहीं, लेकिन हां कुछ हद तक उसकी पोशाक नई थी । असलियत में वह खुद आक्रामक राष्ट्रीयता थी, जो साम्राज्य, कॉमन वेल्थ या संरक्षकता के नाम पर अपनी तबियत को दूसरों पर ज़बर्दस्ती लादने की कोशिश करता थी ।

इस नई तब्दीली से, हममें से कुछ लोग परेशान हुए और विचलित हुए, क्योंकि कोई भी कार्रवाई फ़िज़ूल थी अगर वह कारगर न हो । ऐसी कोई भी कार्रवाई लड़ाई की तैयारियों के रास्ते में लाज़िमी तौर से अड़चन होती, क्योंकि इस वक़्त खुद हिंदुस्तान पर हमले का ख़तरा था । गांधी जी के आम नज़रिये में कुछ अहम अंतर्राष्ट्रीय बातों को छोड़ दिया गया था, और ऐसा मालूम होता था कि उसकी बुनियाद राष्ट्रायता के संकरे घेरे में है । लड़ाई के तीन साल के दौरान में हमने जान-बूझ कर परेशान न करने की नीति को अपनाया था, और जो कुछ भी कार्रवाई हमने की थी वह विरोध जता देने भर के लिए थी । जब १९४०-४१ में हमारे यहां के तीस हज़ार, खास-खास मर्द और औरत जेल भेज दिये गए, तो प्रतीक रूप विरोध का पैमाना बहुत बढ़ गया । लेकिन यह जेल जाना भी एक ज़ाती मामला था, जिसको छंटे हुए आदमी कर रहे थे । इसमें जनता को उभारने और सरकारी मशीन के काम में खुली छेड़-छाड़ का कोई इरादा न था । हम उसको दुहरा नहीं सकते थे । अगर हमें कुछ और करना था तो वह कार्रवाई दूसरे ढंग की होती और

ज्यादा कारगर पैमाने पर होता। क्या इससे लड़ाई के काम में जो हिंदुस्तानी सरहद पर ही थी कोई दखल न पड़ता और क्या इससे दुश्मन को बढ़ावा न मिलता।

जाहिरा मुश्किलें थीं, और इस सिलसिले में हमने गांधीजी से विस्तार पूर्वक बहस की। लेकिन हम एक-दूसरे की राय न बदल सके। मुश्किलें थीं, और सक्रियता और निष्क्रियता दोनों ही में ही खतरा था, जोखिम थी। अब सवाल उनमें समतौल लाने का था और उनमें से कम बुरी चीज को छांटना था। हमारी आपसी बहस से, बहुत-सी चीजें जो पहले धुंधली थीं, अनिश्चित थीं, अब साफ़ हो गई, और हमारे ध्यान दिलाने पर गांधीजी ने कई अंतर्राष्ट्रीय पेचों को मान लिया। उनके बाद के लेख बदले, और उन्होंने खुद उन अंतर्राष्ट्रीय पेचों पर जोर दिया, और हिंदुस्तान के सवाल पर, ज्यादा व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए सोचा। लेकिन उनका बुनियादी रुख बराबर बना रहा; हिंदुस्तान में ब्रिटिश स्वेच्छाचारी और कुचलने वाले शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाना उन्हें मंजूर नहीं था, और उसको चुनौती देने के लिए उनकी बहुत ज़ोरदार ख्वाहिश थी। उनके लिहाज़ से उस वक़्त सिर झुकाने के मानी यह थे कि हिंदुस्तान की आत्मा टूट जायगी, और लड़ाई की चाहे जो शक्ल हो, और उसका चाहे जो नतीजा हो, उसकी जनता ग़ुलामों की तरह काम करेगी, और बहुत अर्से तक उन्हें आज़ादी हासिल नहीं होगी। साथ ही उसके मानी यह होंगे कि आक्रमणकारी का भी विरोध नहीं होगा, और उसके सामने सिर झुका दिया जायगा और यह तो उस वक़्त भी होगा जब एक अस्थाया फ़ौजी हार हुई हो, या कुछ वक़्त के लिए पीछे हटकर नया मोर्चा बनाया गया हो। इसके मानी यह होंगे कि जनता का पूरा-पूरा नैतिक अधःपतन होगा, और पिछली एक चौथाई सदी से आजादी की लड़ाई बराबर लड़ते हुए जो ताक़त जनता ने हासिल की थी, वह उसे भी खो देगी। इसके मानी यह भी होंगे कि दुनिया हिंदुस्तान की आज़ादी की मांग को भूल जायगी, और लड़ाई के बाद समझौते में पुरानी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों का ही खास असर होगा। हिंदुस्तान की आजादी के वे जी-जान से इच्छुक थे। उनके लिए हिंदुस्तान, प्यारी जन्मभूमि से भी कहीं ज्यादा बड़ी चीज़ थी। दुनिया की सारी सताई हुई और ग़ुलाम जनता का हिंदुस्तान एक प्रतीक था और वह ही एक ऐसी अचूक कसौटी था जिस पर किसी भी सारी दुनिया के ताल्लुक़ रखने वाली नीति की सही जांच हो सकती थी। अगर हिंदुस्तान ग़ुलाम रहता तो सारी नौ-आबादियां और ग़ुलाम देश भी अपनी मौजूदा ग़ुलामी का हालत में बने रहते और तब तो यह लड़ाई बिलकुल ही बेकार लड़ी गई होती। यह जरूरी था कि लड़ाई की नैतिक बुनियाद को बदल दिया

जाय। फ़ौजें, समुद्री बेड़े और हवाई फ़ौजें अपने-अपने दायरों में काम करतीं और हिंसा के बेहतर तरीक़ों से वे लड़ाई जीत सकती थीं, लेकिन उस जीत का आखिर क्या नतीजा? और इसके अलावा ख़ुद हथियारों वाले युद्ध में भी नैतिक सहारे की जरूरत होती है; क्या नेपोलियन ने कहा था कि लड़ाई में, 'नैतिक और भौतिक में तीन और एक का अनुपात है?' दुनिया भर के करोड़ों ग़ुलाम और सताय हुए लोगों का यह भरोसा और यह यक़ीन कि यह लड़ाई आज़ादी के लिए है एक ऐसा नैतिक जोश लाता जो ख़ुद लड़ाई के संकरे नज़रिये से भी बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता और उसका उससे भी ज्यादा महत्त्व आने वाली शांति के लिए होता। इसी बात से कि लड़ाई की गति में एक संकट उठ खड़ा हुआ था, यह जरूरत जाहिर होती थी कि उसकी नीति और इसके नज़रिये में रद्दो-बदल होनी चाहिए, और इन करोड़ों सुस्त और शक से भरे लोगों को जोश के साथ मदद देने वाला बना लेना चाहिए। अगर यह जादू हो जाता तो धुरी राष्ट्रों के बहुत से लोगों पर दुनिया भर में छाई हुई इस जोरदार भावना का असर होता।

जनता की, काहिली से भरी इस निष्क्रियता को, मुक़ाबले की, सिर न झुकाने की, भावना में बदल देना हिंदुस्तान में एक बहुत अच्छी बात होती। हालांकि चुपचाप सिर न झुकाने की बात, ब्रिटिश अधिकारियों के मनमाने हुक्म के खिलाफ़ शुरू होती, लेकिन आगे चलकर उसे आक्रमणकारी के मुक़ाबले के लिए बदला जा सकता था। एक के सामने ग़ुलामी और दब्बूपन के मानी थे कि दूसरे के सामने भी वह। हालत होगी, और इस तरह अधःपतन होता, बेइज्ज़ती होती।

इन सब दलीलों को हम जानते थे। हम उनमें विश्वास करते थे और अक्सर उनसे हमने काम लिया था। लेकिन बड़े दुःख की बात तो यह थी कि ब्रिटिश सरकार ने यह जादू नहीं चलने दिया, यहां तक कि सिर्फ़ लड़ाई के दौरान के लिए हिंदुस्तान की समस्या को सुलझाने की हमारी सारी कोशिशें नाकामयाब रहीं, और लड़ाई के उद्देश्यों का ऐलान करने की हमारी सारी प्रार्थनाएं भी नामंजूर हुईं। यह बात तै थी कि इस ढंग की कोशिश आगे भी नाकामयाब रहेगी। तब क्या हो? अगर यह एक संघर्ष होता तो चाहे नैतिक और दूसरा बुनियादों से वह कितना ही जा क्यों न हो, इसमें कोई शक नहीं था कि हिंदुस्तान की लड़ाई की कोशिश में और वह भी खास तौर से ऐसे वक़्त में जब हमले का बहुत बड़ा ख़तरा हो, वह संघर्ष बहुत ज्यादा गड़बड़ करता। इस सचाई को हम भुला नहीं सकते थे। और फिर भी, एक अजीब-सी बात है, इस ख़तरे की ही वजह से तो हमारे दिमाग़ में यह संकट उठ खड़ा हुआ था। हमारे देश में बदइंतज़ामी होनी और वे लोग, जिनको हम

अयोग्य समझते थे और जो अवसर के अनुरूप, सार्वजनिक विरोध के संगठन का भारी बोझ संभालने के लिए बिलकुल भी क़ाबिल नहीं थे, हमारे देश को बरबाद करते। हम इस सब के लिए सिर्फ़ एक दर्शक की तरह चुप नहीं रह सकते थे। अपनी सारी रुकी हुई शक्ति और अपने सारे रुके हुए जोश के लिए हमको एक निकास की, कुछ सक्रियता की ज़रूरत थी।

गांधीजी की उम्र काफ़ी थी, वे सत्तर से ऊपर थ। एक लंबी और बराबर काम-काजी, मेहनत-भरी ज़िंदगी, शारीरिक और मानसिक काम-काज से भरी हुई ज़िंदगी ने, उनके बदन को कमज़ोर कर दिया था। लेकिन अब भी वे काफ़ी मज़बूत थे और ऐसा महसूस करते थे कि अगर उस वक़्त की हालतों के सामने उन्होंने सिर झुका दिया और अगर अपनी ज़्यादा-से-ज़्यादा क़ीमती चीज़ का बदला लेने के लिए उन्होंने कोई कार्रवाई नहीं की तो उनकी सारी ज़िंदगी की कमाई मिट्टी में मिल जायगी। हिंदुस्तान की और दूसरे सताये हुए राष्ट्रों और समुदायों की आज़ादी के लिए उनके प्रेम ने उनकी अहिंसा की दृढ़ निष्ठा को जीता। एक पहले मौक़े पर बहुत हिचकिचाते हुए, बिलकुल बे-मन से उन्होंने कांग्रेस को इस बात की मंज़ूरी दी थी कि रक्षा के मामले में या राज-सत्ता के लिए किसी विकट परिस्थिति में अहिंसा की नीति को छोड़ा जा सकता था। लेकिन वह ख़ुद उससे अलग थे। उन्होंने ऐसा महसूस किया कि इस मामले में हिचकिचाहट से ब्रिटेन या संयुक्त राष्ट्रों के साथ समझौते में भी बाधा पड़ सकती है। इसलिए वे आगे बढ़े और अपने-आप उन्होंने कांग्रेस का एक प्रस्ताव तैयार किया। इसमें ऐलान किया गया कि स्थायी आज़ाद हिंद सरकार का सब से पहला काम यह होगा कि वह आज़ादी की लड़ाई के लिए और हमले के ख़िलाफ़, अपने सारे साधनों का फ़ायदा उठाए, और हथियारबंद फ़ौज या हर मुमकिन संगठन से हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त के लिए संयुक्त राष्ट्रों का पूरा-पूरा साथ दे। उनके लिए अपने-आपको इस तरह सौंप देना कोई आसान चीज़ नहीं थी; लेकिन फिर भी उन्होंने इस कड़वी गोली को निगला। उसकी वजह यह थी, कि किसी तरह समझौते पर पहुंच कर हिंदुस्तान को एक आज़ाद क़ौम की तरह हमले का मुक़ाबले करने के लिए तयार करने की उनकी प्रबल इच्छा में अब सब-कुछ समा गया था।

बहुत से आपसी तार्किक फ़र्क़ जो हममें से कुछ को गांधीजी से अलहदा किये हुए थे अब मिट गये। फिर भी सबसे बड़ी मुश्किल अभी बाकी थी। हमारी किसी भी कार्रवाई से लड़ाई की तैयारियों में गड़बड़ होती। हमें आश्चर्य होता था कि गांधीजी अब भी इस यक़ीन से चिपटे हुए थे कि ब्रिटिश सरकार से समझौता मुमकिन था और उन्होंने कहा कि इसके लिए वे अपनी भरसक कोशिश करेंगे। और इस तरह, अगर्चे वह काम के बारे में बहुत बातें

कह रहे थे, फिर भी न तो उस काम की उन्होंने कोई रूप-रेखा ही बताई, और न यही बताया कि वह क्या करना चाहते हैं।

जिस वक़्त हम इन चीज़ों पर बहस कर रहे थे और शक कर रहे थे, देश का मिजाज़ बदला। काहिली से भरी निष्क्रियता की जगह उसमें उत्तेजना और उम्मीद आ गई। घटनाएं कांग्रेस के फ़ैसले और प्रस्ताव का इंतज़ार नहीं कर रहीं थीं। गांधीजी की बातों से वह आगे बढ़ गई थीं और अब उन का ख़ुद का बहाव उन्हें आगे बढ़ाए ले जा रहा था। यह बात ज़ाहिर थी कि चाहे गांधीजी सही हों या ग़लत उन्होंने जनता के उस वक़्त के मिजाज़ को एक रूप-रेखा दे दी। उसमें एक लाचारी भरी हुई थी, और उसमें एक ऐसी भावुकता का ज़ोर था कि तर्क, दलील, ठंडे दिमाग़ से सोच-विचार, या काम के नतीजे का ख़ास ख़याल नहीं था। उन नतीजों को आंखों से ओझल नहीं किया गया था। यह महसूस किया जाता था कि चाहे कुछ हासिल हो या न हो, इंसानी तकलीफ़ की शक्ल में बहुत भारी क़ीमत चुकानी होगी। लेकिन रोज़ाना, दिमाग़ की हद दर्जे की परेशानी की शक्ल में जो क़ीमत देनी पड़ रही थी वह भी बहुत ज्यादा थी और उससे छुटकारे की कोई उम्मीद नहीं थी। दुर्भाग्य के सामने चुपचाप सिर झुकाने की बनिस्बत यह ज्यादा बेहतर था कि सक्रियता के बड़े समुंदर में कूद पड़ा जाय। यह कोई राजनीतिज्ञों का फ़ैसला नहीं था, यह तो उस जनता का था जो लाचार हो चुका थी और अब जिसे नतीजों की परवाह नहीं थी। फिर भी हमेशा दलील का अपना असर था। आपस में विरोध रखने वाली भावनाओं के बीच से रास्ता निकालने की कोशिश थी, ताकि मानव स्वभाव की बुनियादी विषमताओं में कोई संतुलन हो सके। लड़ाई काफ़ी लंबी होती और कितने ही बरसों तक जारी रहती। कितने ही बार विनाश हो चुका था और आगे और भी ज्यादा होता। लेकिन इस सब के होते हुए भी लड़ाई जारी रहती जब तक कि ख़ुद वह जोश ही ख़त्म न हो जाता, जिसने इस लड़ाई को शुरू किया और अब जिस जोश को लड़ाई ने बढ़ा दिया था। लड़ाई में इस बार अधूरी कामयाबी नहीं होनी चाहिए थी। अक्सर नाकामयाबी से अधूरी कामयाबी ज्यादा तकलीफ़ देती है। लड़ाई की दिशा सिर्फ़ फौजी-क्षेत्र में ही ग़लत नहीं थी, बल्कि उससे भी ज्यादा ग़लती उन बुनियादी उद्देश्यों में थी, जिनके लिए लड़ाई लड़ी जा रही थी। शायद हमारी कार्रवाई से इस पिछली ग़लती की तरफ़ दुनिया का ध्यान जाता और शायद उसमें एक नई और वांछित दिशा में तब्दीली होती। और चाहे फ़ौरन सफलता न मिलती, लेकिन आगे चलकर मक़सद की हिफ़ाज़त होती, और इस तरह भविष्य में फ़ौजी काम में भी बहुत भारी मदद मिलती।

अगर एक तरफ़ जनता का मिजाज़ बिगड़ रहा था तो दूसरी तरफ़

सरकार का भी मिज़ाज बिगड़ रहा था। उसके लिए किसी भावुकता की या किसी मजबूरी की ज़रूरत नहीं थी। यह तो उसकी आदत थी, और इसी ढंग से सरकार काम करती थी। किसी ग़ुलाम देश पर कब्ज़ा करने के बाद विदेशी हुकूमत का यही ढंग होता है। ऐसा महसूस होता था कि दिल से वह एक ऐसा मौक़ा चाहती थी कि हमेशा के लिए देश में विरोध की हिम्मत करने वालों को कुचल दिया जाय। और इसके लिए उसने बाक़ायदा तैयारी की।

घटनाएं होती रहीं। फिर भी, अजीब-सी बात थी कि गांधीजी ने, जो हिंदुस्तान की इज्ज़त बचाने के लिए और उसकी आज़ादी के अधिकार पर ज़ोर देने के लिए (जिससे वह एक आज़ाद राष्ट्र की तरह लड़ाई में हमले के ख़िलाफ़ पूरा सहयोग दे सके), किसी-न-किसी कार्रवाई के लिए कह रहे थे, यह बात नहीं बताई कि वह कार्रवाई किस ढंग की हो। शांतिपूर्ण तो वह होती ही, लेकिन उसके आगे? उन्होंने ब्रिटिश सरकार से समझौते की संभावना पर ज्यादा ज़ोर दिया। उन्होंने अपना यह इरादा ज़ाहिर किया कि वह फिर सरकार से इस मामले पर बातचीत शुरू करेंगे और कोई-न-कोई रास्ता निकालने की भरसक कोशिश करेंगे। आल-इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक की उनकी आख़िरी स्पीच में समझौते के लिए दिली दरख़्वास्त थी, और इस मामले में वाइसराय से मिलने का उनका पक्का इरादा ज़ाहिर किया गया था। न तो सार्वजनिक रूप में और न आपसी बातचीत में ही उन्होंने कांग्रेस-कार्य-समिति को यह बताया कि उनके दिमाग़ में किस ढंग की कार्रवाई का ख़याल था। सिर्फ़ एक बात जरूर ज़ाहिर थी। बातचीत में उन्होंने इशारा किया था कि समझौते के नाकामयाब होने पर किसी ढंग के असहयोग की, विरोध में एक दिन की हड़ताल की, देश में सारे काम-काज को रोकने की प्रार्थना करेंगे। एक ढंग से वह एक दिन के लिए आम हड़ताल होगी और राष्ट्र के विरोध का प्रतीक होती। यह भी एक धुंधला-सा इशारा था, और इस पर उन्होंने विस्तार से कुछ नहीं कहा। जब तक समझौते की पूरी-पूरी कोशिश न कर ली जाय वह आगे कोई योजना भी नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए न तो उन्होंने, और न कांग्रेस-कार्य-समिति ने ही कोई हिदायतें जारी कीं—न सार्वजनिक रूप में और न आपसी तौर पर। हां, यह ज़रूर कहा गया कि जनता को हर नई परिस्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए, और हर हालत में उसका काम शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक होना चाहिए।

हालांकि स विकट उलझन से निकलने की गांधीजी को अब भी उम्मीद थी, लेकिन उनके अलावा और बहुत थोड़े से ही लोग थे जिन्हें अब उम्मीद बाक़ी बची थी। घटनाओं के बहाव से और सारे चढ़ाव-उतारों से यह बात लाज़िमी मालूम होती था कि झगड़ा होगा। जब ऐसी हालत आ

जाती है तो बीच की जगह का कोई महत्त्व नहीं रहता, और हर आदमी को यह तै कर लेना पड़ता है कि उसे किस तरफ़ रहना है। कांग्रसियों के लिए या, उन लोगों के लिए, जो इसी ढंग से सोचते थे, तै करने का कोई सवाल ही न था। यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी कि जब सरकार अपनी पूरी ताक़त से जनता को कुचलने की कोशिश करे तब हममें से कुछ लोग अलग खड़े हुए तमाशा देखते रहें। यह तो ऐसी लड़ाई थी जिसमें हिंदुस्तान की आज़ादी का सवाल मिला हुआ था। हां, बहुत से ऐसे लोग हैं, जो सहानुभूति के होते हुए भी एक तरफ खड़े रहते हैं। अपनी पिछली कार्रवाइयों के नतीजे से अपने-आपको बचाने की ऐसी कोई भी कोशिश, किसी भी मशहूर कांग्रेसी के लिए शर्म और बेइज़्ज़ती की बात होती। लेकिन इसके अलावा भी उनके सामने रास्ता तै करने का कोई सवाल नहीं था। हिंदुस्तान के सारे पुराने इतिहास ने, उसकी मौजूदा तकलीफ़ ने, भविष्य की आशा ने उनको आगे बढ़ाया और उनके लिए एक ही रास्ता रह गया। "गुज़रे वक़्त पर गुज़रे वक़्त की तरह अपने-आप बराबर जमती जाती है" यह बात बर्गसन ने अपने 'क्रियेटिव इवोल्यूशन' में कही है। साथ ही असलियत में 'भूतकाल तो स्वयं अपनी रक्षा करता है। पूरे मानों में तो वह हर मिनट हमारा पीछा करता है ..... बेशक अपने भूतकाल के थोड़े से हिस्से को ध्यान में रखकर हम सोचते हैं। इसमें हमारी आत्मा की, मन, वचन और कर्म की, बुनियादी प्रवृत्ति भी शामिल होती है।'

बंबई में ७ और ८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस कमेटी ने खुली सभा में उस प्रस्ताव पर, जो अब 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से मशहूर है, बहस की, और सोच-विचार किया। वह प्रस्ताव लंबा था, और उसमें बहुत-सी बातें थीं। हिंदुस्तान की आज़ादी की तुरंत मंजूरी और ब्रिटिश राज्य के हिंदुस्तान में खात्मे के लिए यह एक तर्क-संगत बहस की शक्ल में था, जो एक हिंदुस्तान के हितों और खुद संयुक्त-राष्ट्रों की कामयाबी का लिहाज़ रखते हुए पेश किया गया था। उस राज्य को कायम रखने की वजह से हिंदुस्तान दिन-ब-दिन कमज़ोर होता जा रहा था और गिरता जा रहा था। अपनी हिफ़ाज़त के लिए दिन-ब-दिन उसकी सामर्थ्य घटती जा रही थी। इस तरह वह दुनिया की आज़ादी के उद्देश्य में साथ दे सकने के लिए भी असमर्थ होता जा रहा था "साम्राज्य पर अधिकार से, शासक शक्ति की ताक़त नहीं बढ़ी बल्कि वह उसके लिए एक बोझ और एक अभिशाप हो गया है। हिंदुस्तान, जो आधुनिक साम्राज्य का खास शिकार है, अब इस सवाल की कसौटी बन गया है। हिंदुस्तान की आज़ादी से ही ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों की जांच होगी। इसीसे एशिया और अफ्रीका के आदमियों में उम्मीद और जोश आ सकता है।"

प्रस्ताव में यह सलाह दी गई कि अस्थायी सरकार की स्थापना हो, जो मिली-जुली होगी और जिसमें जनता के सभी खास दलों और वर्गों के प्रतिनिधि होंगे। इस सरकार का, "सबसे पहला काम यह होगा कि संयुक्त शक्तियों से मिलकर, अपनी सारी हथियारबंद फ़ौजों और ग़ैर-हथियारबंद सब संस्थाओं का फ़ायदा उठाकर हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त क. जाय और हमले को रोका जाय।" यह सरकार विधान बनाने वाली सभा की योजना तैयार करेगी और यह सभा हिंदुस्तान की जनता के सभी समुदायों को मान्य, एक विधान बनायेगी। विधान संघीय होगा और संघ में शामिल होने वाले हिस्सों को ज्यादा-से-ज्यादा आज़ादी होगी और कुछ खास बातों को छोड़कर सारे अधिकार उन हिस्सों की सरकारों को होंगे। "आज़ादी हिंदुस्तान को इस योग्य बनायगी, कि जनता के दृढ़ निश्चय और उसकी शक्ति के साथ वह हमले का प्रभावपूर्ण ढंग से मुक़ाबला कर सके।"

हिंदुस्तान की आज़ादी, दूसरी एशियाई क़ौमों की आज़ादी का प्रतीक और पेशक़दम होगी। इसके अलावा आज़ाद राष्ट्रों के एक दुनिया भर के संघ का प्रस्ताव था, जिसकी शुरूआत संयुक्त राष्ट्रों से हो सकती थी।

कमेटी ने कहा कि वह "चीन और रूस की हिफ़ाज़त के हक़ में किसी तरह परेशानी न पैदा करने के लिए उत्सुक थी। उनकी आज़ादी बहुमूल्य है, और उसे बनाए रखना है। और कमेटी संयुक्त राष्ट्रों की हिफ़ाज़त की ताक़त को छिन्न-भिन्न न करने के लिए भी उत्सुक थी।" (उस वक़्त चीन और रूस के लिए सबसे ज्यादा खतरा था।) "लेकिन हिंदुस्तान के लिए और इन राष्ट्रों के लिए खतरा बढ़ता जा रहा है। इस मौक़े पर निष्क्रियता और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाना हिंदुस्तान के लिए सिर्फ़ बेइज्ज़ती ही नहीं है बल्कि उससे अपनी रक्षा के लिए उसकी सामर्थ्य घट रही है, और न तो यह दब्बूपन उस खतरे का ही जवाब है और न इससे संयुक्त राष्ट्रों की जनता की ही सेवा हो सकती है।"

कमेटी ने, "दुनिया की आज़ादी के हित में" फिर ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से अपील की। लेकिन (और यहां प्रस्ताव की खास चोट थी) "अब, कमेटी साम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी सरकार के खिलाफ़, अपने अधिकार के लिए दबाव डालने की राष्ट्र की प्रवृत्ति को रोकना, न्याय-संगत नहीं समझती। यह सरकार उस अवसर पर कब्ज़ा किये हुए है, और उसको अपने और सारी दुनिया के फ़ायदे में काम करने से रोकता है। इसलिए हिंदुस्तान की आज़ादी के निर्विवाद अधिकार की पुष्टि के लिए, कमेटी इस बात की इज़ाज़त देना तय करती है कि गांधीजी के लाज़िमी नेतृत्व में अहिंसात्मक ढंग से एक व्यापक संघर्ष शुरू किया जाय।" यह इजाज़त उसी वक़्त लागू होगी

जब गांधीजी ऐसा फ़ैसला करें। आख़िर में कमेटी ने कहा कि "वह कांग्रेस के लिए ताक़त नहीं हासिल करना चाहती थी। जब ताक़त आयगी तो वह हिंदुस्तान की सारी जनता की होगी।"

अपने आखिरी व्याख्यानों में कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, और गांधाजी ने यह साफ़ कर दिया कि उनका अगला क़दम वाइसराय से, जो ब्रिटिश सरकार का नुमाइंदा है, मिलना है। इसके अलावा ख़ास-ख़ास संयुक्त राष्ट्रों के सबसे बड़े पदाधिकारियों से अपील की जायगी कि एक संमानपूर्ण समझौता हो। इससे हिंदुस्तान की आज़ादी को मंजूर करने के ही साथ, हमलावर धुरी राष्ट्रों के खिलाफ़ संयुक्त राष्ट्रों की लड़ाई का मक़सद भी आगे बढ़ेगा। ८ अगस्त १९४२ की रात में काफ़ी देर बाद यह प्रस्ताव आख़िरी तौर पर मंजूर हुआ। चंद घंटों बाद, ९ अगस्त को सुबह बंबई में और देश में और दूसरी जगहों से बहुत-सी गिरफ़्तारियां हुईं। और तब हम अहमदनगर के किले में आए।

: १० :

फिर अहमदनगर का किला

१ : घटनाओं का क्रम

अहमदनगर का किला : तेरह अगस्त : उन्नीस सौ चवालीस

हमें यहां आये हुए दो साल हो गए। एक सपने-सा जिंदगी के ये दो साल एक ही जगह बीते हैं--वही गिने-चुने आदमी, वही छोटा-सा पड़ोस, वही रोजमर्रा का ढर्रा। भविष्य में किसी वक़्त हम इस सपने से जग पड़ेंगे और जिंदगी और काम-काज की बड़ी दुनिया में जायंगे, और वह दुनिया हमको बदली हुई मिलेगी। आदमी और चीजें नई-सा मालूम पड़ेंगी। हमको फिर उनकी याद आवेगी पिछली स्मृतियां घेरेंगी, लेकिन फिर भी वह चीजें पहले जसी न होंगी, और न हम ही पहले जैसे होंगे, और शायद उनसे मेल खाना हमारे लिए मुश्किल हो। तब किसी वक़्त हमको ताज्जुब हो सकता है कि कहीं यह अनुभव और रोज़मर्रा की ज़िंदगी. ख़ुद एक नींद और सपना तो नहीं है, और शायद हम अचानक उस नींद और सपने से जाग पड़ें। इन दोनों में कौन-सी हालत जगने की है और कौन-सी सपने की? क्या ये दोनों ही सच हैं, क्योंकि हमको उनका पूरी तरह अनुभव होता है, और हम पर उनका असर होता है, या इन दोनों में ही कोई असलियत नहीं है, और ये दोनों ही सपने हैं, जो आते हैं और जाते हैं, और उनके पीछे धुंधली-सी याद बाक़ी रह जाती है?

जेल और उसके इकलेपन और बेकारी की वजह से सोच-विचार की तरफ़ झुकाव होता है और ज़िंदगी की खाली जगह को, अपनी ज़िंदगी और इंसान के काम-काजों के इतिहास के लंबे सिलसिले की पिछली स्मृतियों से भरने की कोशिश होती है। इस तरह पिछले चार महीनों में, लिखने के दौरान में मैंने अपने दिमाग़ को हिंदुस्तान के पिछले तजुर्बों और पिछले इतिहास से घेर रखा है: और विचारों के झुंड में से जो मेरे दिमाग़ में आया, मैंने कुछ विचारों को छांट लिया, और उनसे एक किताब तैयार कर दी। जो कुछ

मैंने लिखा है, उस पर नज़र डालते हुए, ऐसा महसूस होता है कि वह अधूरा है, बे-तरतीब है, और उस ें कोई ऐक्य नहीं है, और उसमें बहुत-सी चीज़ों का मिश्रण है। उसमें अपने नज़रिये की बहुत अहमियत है और इसकी वजह से सारी बातों में उसकी झलक दिखाई पड़ती है, हालांकि इरादा तो यह था कि सारी बातें एक विश्लेषण के रूप में होतीं और उसमें सारी चीज़ों को ज्यों-का-त्यों रख दिया जाता। मेरा व्यक्तिगत पक्षपात, बहुत हद तक मेरी तबियत के ख़िलाफ़ अपने-आप आ गया है। अक्सर मैंने उसे रोकने की कोशिश की, और उसे रोक रखा लेकिन कभी-कभी मैंने लगाम ढीली कर दी और उसे अपनी क़लम से बाहर आने की और कुछ हद तक अपने दिमाग़ का प्रतिबिंब डालने की इजाज़त दी।

गुज़रे ज़माने के बारे में लिखकर मैंने अपने-आपको गुज़रे ज़माने से आज़ाद करने की कोशिश की है। लेकिन मौजूदा वक़्त अपनी सारी उलझनों और बेतरतीबियों के साथ ज्यों-का-त्यों बना रहता है, उसी तरह वह अंधियारा भविष्य है जो सामने है और इन दोनों का बोझ गुज़रे वक़्त के बोझ से कुछ कम नहीं है। घुमक्कड़ दिमाग़ को कहीं ठहरने की जगह नहीं मिलती, और इसी वजह से यह अब भी बेचैनी से इधर-उधर घूम रहा है, और इससे उसके मालिक को और दूसरे लोगों को तकलीफ़ होती है। इन अछूते दिमाग़ों से, जिन पर विचारों का हमला नहीं हुआ, और जिन पर शक की छाया नहीं पड़ी है, और न कोई रेखा ही अंकित हुई है और जो किसी तरह मैले नहीं हुए हैं, एक तरह का हसद होता है। कभी-कभी होने वाली ज़िंदगी की चोट और दर्द के बावजूद, उनके लिए वह ज़िंदगी कितनी आसान है।

एक के बाद दूसरी बातें होती हैं और घटनाओं का अनंत और बेरोक प्रवाह जारी रहता है। किसी ख़ास घटना को समझने के लिए हम उनको अलग कर लेते हैं, और सिर्फ़ उसी को देखते हैं, मानो वही आदि और अंत दोनों हो, और उससे ठीक पहले की किसी बात का नतीजा हो। फिर भी उसका शुरू का कोई सिरा नहीं है, और वह एक अनंत क्रम में सिर्फ़ एक कड़ी है। और वह तो पहले की सारी बातों का नतीजा है, और अनगिनित आदमियों के इरादे, तबियत और झुकावों का आख़िरी नतीजा है। यह इरादे तबियतें और झुकाव आपस में लड़ते हैं, साथ देते हैं, और उनसे एक ऐसी बिलकुल नई चीज़ बनती है, जो किसी भी आदमी की चाही हुई चीज़ से अलग होती है, लेकिन साथ ही जो उन सबकी तबियत वग़ैरह का मिला-जुला नतीजा है। इन तबियतों, इरादों और झुकावों पर ख़ुद बहुत-सी पहली घटनाओं और पहले अनुभवों की पाबंदियां लगी हैं और यह नई घटना ख़ुद भविष्य पर पाबंदियां लगायेगी। ख़ुशक़िस्मत आदमी या ऐसा नेता जो बहुत

लोगों पर असर डालता है, इस क्रम में निस्संदेह एक बहुत बड़ा हिस्सा लेता है, लेकिन वह ख़ुद भी पिछली घटनाओं और पिछली ताक़तों की उपज है, और खुद उसके असर पर उनकी पाबंदियां लगी हुई हैं।

२ : दो भूमिकायें : हिंदुस्तानी और ब्रिटिश

हिंदुस्तान में, अगस्त १९४२ की सारी घटनायें, अचानक ही नहीं हुईं बल्कि वे पिछली सारी घटनाओं का नतीजा थीं। इनके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है:—कुछ हमले की शक्ल में, कुछ नुक्ताचीनी की शक्ल में, और कुछ बचाव और सफ़ाई के रूप में। फिर भी इन लेखों में बहुत हद तक असलियत ला-पता है। उसकी वजह यह है कि इन लेखों में एक चीज़ को सिर्फ़ राजनीतिक पहलू से देखा गया है, जब कि वह चीज़ राजनीति से कहीं ज्यादा गहरी है। सबके पीछे वह ज़ोरदार भावना थी कि अब आगे, विदेशी, मनमाने राज्य में रहना या उस राज्य को बर्दाश्त करना मुमकिन नहीं है। इसके सामने और सारे सवाल फीके पड़ गए। ऐसे सवाल, कि इस राज्य के अंदर किसी दिशा में कोई सुधार या कोई तरक्क़ी संभव है या नहीं, या चुनौती का नतीजा कहीं ज्यादा ख़तरनाक और नुकसानदेह न हो, अब गौण हो गए हैं। सिर्फ़, उस राज्य से छुटकारा पाने की बहुत ज़ोरदार ख्वाहिश थी, और उस छुटकारे के लिए कोई भी क़ीमत दी जा सकती थी। सिर्फ़ यही भावना थी कि और चाहे जो कुछ हो, यह राज्य अब बर्दाश्त नहीं किया जा सकता।

इस भावना में कोई नया अनुभव नहीं था; यह कितने ही सालों से थी। लेकिन पहले इसे कई ढंग से रोक रखा गया था, और घटनाओं के मुताबिक़ उस पर क़ाबू रखा गया था। लड़ाई के खुद दो असर हुए—रुकावट भी हुई, निकास भी मिला। उससे बड़ी-बड़ी घटनाओं, इन्क़लाबी तब्दीलियों के लिए हमारे दिमाग़ खुल गए। निकट भविष्य मे अपनी उम्मीदों के पूरे होने की संभावना दिखाई दी। मदद करने की ख्वाहिश की वजह से, और कम-से-कम धुरी राष्ट्रों के ख़िलाफ़ लड़ाई में कोई अड़चन न डालने की वजह से, बहुत से ऐसे कामों पर रोक लग गई जिन्हें हम करते।

लेकिन ज्यों-ज्यों लड़ाई आगे बढ़ी, यह बात दिन-ब-दिन ज्यादा साफ़ होती गई कि पच्छिमी लोकतंत्र सरकारें किसी रद्दो-बदल के लिए नहीं लड़ रही थीं, बल्कि वह पुराने ढर्रे को ही बनाए रखना चाहती थीं। लड़ाई से पहले उन्होंने फ़ासिज्म को खुश करने की कोशिश की थी, सिर्फ़ नतीजों के डर की ही वजह से नहीं बल्कि कुछ हद तक एक-से आदर्श होने के नाते, आपसी हमदर्दी की वजह से और इसके दूसरी तरफ़ जो मुमकिन रास्ते थे वह

उन्हें सख्त नापसंद थ। नात्सी और फ़ासिस्ट मत कुछ अचानक ही नहीं पैदा हुए। यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी वजह इतिहास का संयोग है। पिछली घटनाओं के तांते की वजह से यानी, साम्राज्यवाद के बहाव से, जातीय भेद-भाव से, राष्ट्रीय संघर्षों से, ताक़त के केंद्रीकरण से, वैज्ञानिक प्रणालियों की एसी तरक्क़ी से जिसको समाज के ढांचे में फलने-फूलने की जगह नहीं मिली, लोकतंत्री आदर्श और उसके खिलाफ़ समाज के ढांचे का आपसी लड़ाई से, नात्सी और फ़ासिस्ट मतों का जन्म, स्वाभाविक था। पच्छिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका में राजनीतिक लोकतंत्र ने क़ौमी और व्यक्तिगत तरक्क़ी का दरवाज़ा खोलकर, ऐसी नई ताक़तों और ऐसे नये ख़यालों का सोता खोल दिया, जिसका बहाव लाज़िमी तौर पर आर्थिक बराबरी की तरफ़ था। उस हालत के भीतर ही झगड़े की जड़ थी। या तो राजनीतिक लोकतंत्र का फैलाव बढ़ेगा, या उसको कुचलने और ख़त्म करने की कोशिश होगी। बराबर रुकावटों के होते हुए भी लोकतंत्र का फैलाव बढ़ा, और उसमें जनता की अहमियत धीरे-धीरे बढ़ी। आगे चलकर वह राजनीतिक संगठन का ऐसा आदर्श बन गया जो सबको मंज़ूर था। लेकिन एक ऐसा वक़्त आया जब उसके फैलाव से और ज़्यादा बढ़ने से सामाजिक ढांचे की बुनियाद को खतरा हुआ, और तब उस ढांचे के हिमायतियों ने शोर मचाना शुरू किया, वे लड़ने को तैयार हो गए, और रद्दो-बदल का विरोध करने के लिए उन्होंने अपना संगठन बनाया। उन मुल्कों में, जहां हालत ऐसी थी कि यह संकट ज़्यादा तेज़ी से बढ़ गया, लोकतंत्र को खुले तौर पर जान-बूझकर कुचल दिया गया, और नात्सी और फ़ासिस्ट मत सामने आए। पच्छिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका में भी यही ढर्रा चालू था, लेकिन कई और ऐसी वजहें थीं कि उस संकट में रुकावटें हुईं, और वह तेज़ी से नहीं बढ़ पाया। शायद शांतिपूर्ण और लोकतंत्र सरकार का रवैया भी एक ऐसी वजह थी कि जिसने संकट को टालने में मदद दी। इन लोकतंत्र सरकारों के कब्ज़े में साम्राज्य थे और वह बिलकुल भी लोकतंत्र नहीं था। वहां वही हुकूमतपरस्ती, जो फासिज़्म में होती है, चल रही थी। फ़ासिस्ट देशों की तरह वहां भी हुकूमत ने प्रतिक्रियावादियों, मौक़ा-परस्तों और सामंतशाही के बचे-खुचे लोगों से, आज़ादी की मांग का दबा देने के लिए मेल कर लिया। वहां उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि हालांकि लोकतंत्र एक अच्छा आदर्श है और उनके देश में वह वांछनीय था, फ़िर भी नौ-आबादी के कब्ज़ों की अपनी खास हालतों में वह मौज़ूं नहीं था। इस तरह यह एक क़ुदरती नतीजा था कि पच्छिमी लोकतंत्रों का फासिज़्म के साथ, आदर्श के नाते एक क़रीबी रिश्ता हो। हां, वह उसकी बेरहमी और बहुत-सी भद्दी बातों को नापसंद करते थे।

जब अपने बचाव के लिए उनको मजबूर होकर लड़ना पड़ा, तो उन्होंने उसी ढांचे को फिर से क़ायम करने का विचार किया जो, इस बुरी तरह नाकामयाब हुआ था। लड़ाई को इसी निगाह से देखा गया, और यही कहा गया कि यह बचाव की लड़ाई है, और एक तरह से यह सही था। लेकिन लड़ाई का एक दूसरा पहलू भी था। यह नैतिक पहलू था, और यह फ़ौजी मक़सद से कहीं ज़्यादा बड़ा था, और इसने फासिस्ट विचार-धारा और नज़रिये पर ज़ोरदार हमला किया। क्योंकि जैसा कहा गया था, यह लड़ाई दुनिया की जनता की आत्मा की हिफ़ाज़त के लिए थी। उसमें न सिर्फ़ फ़ासिस्ट मुल्कों के बल्कि संयुक्त राष्ट्रों के लिए भी रद्दो-बदल के बीज थे। लड़ाई के इस नैतिक पहलू को जोरदार प्रचार से ढंक दिया गया, और, बचाव पर और गुज़रे ढर्रे को क़ायम रखने पर ज़ोर दिया गया। एक नया भविष्य बनाने की बात का कोई ज़िक्र ही नहीं था। पच्छिम में भी ऐसे बहुत से लोग थे, जो इस नैतिक पहलू में दिल से यक़ीन करते थे और वे एक ऐसी नई दुनिया बनाना चाहते थे जिसमें इंसानी समाज की कामिल नाकामयाबी के खिलाफ़, जो महायुद्ध से ज़ाहिर हो गई थी, अब कोई बचाव हो। सभी जगह ऐसे लोगों की एक बहुत बडी तादाद थी। इनमें ख़ास तौर से वे लोग शामिल थे जो लड़ाई के मैदान में लड़े और मरे थे। इन लोगों को इस रद्दो-बदल की धुंधली-सी लेकिन पूरी उम्मीद थी। इसके अलावा करोड़ों ऐसे सताये हुए लोग थे, जो लुटे हुए थे और जिनके साथ जातीय भेद-भाव बरता गया था। ऐसे लोग यूरोप और अमेरिका में थे, लेकिन उनसे कहीं ज़्यादा एशिया और अफ्रीका में थे। ये लोग लड़ाई की पिछली यादों को मौजूदा तक्लीफ़ों से अलहदा नहीं कर सकते थे। चाहे उनकी उम्मीद बेजा ही क्यों न हो, फिर भी उन्हें बहुत भारी उम्मीद थी कि लड़ाई से किसी-न-किसी तरह से वह बोझ, जो उन्हें कुचल रहा था, हट जायगा।

लेकिन संयुक्त राष्ट्रों के नेताओं की आंखें, दूसरी तरफ़ थीं। उनकी निगाह, गुज़रे वक़्त की तरफ़ थी, आगे भविष्य की तरफ़ नहीं। कभी-कभी भविष्य के बारे में, लोगों का भूख मिटाने के लिए वे सुंदर व्याख्यान देते थे। लेकिन उनकी नीति का इन सुंदर शब्दों से कोई ताल्लुक़ नहीं था। मि० विंस्टन चर्चिल के लिए यह लड़ाई खोये हुए को फिर से पाने के लिए थी। चर्चिल के लिए लड़ाई में इससे ज़्यादा कुछ नहीं था। उनका मकसद इंग्लैंड के सामाजिक ढांचे को, और उसके साम्राज्य के साम्राज्यवादी ढांचे को, मामूली रद्दो-बदल के साथ जैसा-का-तैसा बनाये रखना था। प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट की बातें ज़्यादा भरोसा दिलाने वाली थीं, लेकिन उनकी नीति में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं था। फिर भी सारी दुनिया के लोगों का निगाह उनकी तरफ़ थी। उन्हें

उम्मीद थी कि इस आदमी में ऊंचे दर्जे की राजनीतिक योग्यता है, और उसका नज़रिया बड़ा और समझदारी का है।

इस तरह जहां तक ब्रिटिश राज्य के बस की बात थी, हिंदुस्तान का और बाक़ी दुनिया का भविष्य, गुज़रे ज़माने से मिलता-जुलता होता, और मौजूदा वक़्त को भी लाज़िमा तौर पर उसी के मुताबिक़ होना पड़ता। उसी मौजूदा वक़्त में इस भविष्य के बीज बोये जा रहे थे। क्रिप्स प्रस्तावों ने, सारी मालूम पड़ने वाली तरक्क़ी के होते हुए भी, हमारे लिए नये और ख़तरनाक मसले पैदा कर दिए। इन मसलों से हमारी आज़ादी के लिए अलंघ्य दीवारें बन जाने का बहुत बड़ा डर था। कुछ हद तक उनका यह असर हो चुका है। हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार की हुकूमत-परस्ती और सब कुछ समेटने वाला मनमानी लड़ाई की आड़ में और उसी दौरान में, आख़िरी हद-पर पहुंच गई और अत्यन्त साधारण नागरिक हक़ और आज़ादी दोनों ही चारों तरफ़ पूरी तरह कुचल दिये गए। मौजूदा पीढ़ी में किसी को भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। ये बातें बराबर हमारी ग़ुलामी की हालत और लगातार बेइज्ज़ती की याद दिलाने वालीं थीं। साथ ही ये बातें भविष्य की ओर आने वाली चीज़ों की शक्ल जताती थीं क्योंकि इस मौजूदा वक़्त से ही तो भविष्य का जन्म होता। इस अधः पतन के सामने सिर झुकाने के मुकाबले दूसरी हर एक चीज़ बेहतर मालूम दी।

हिंदुस्तान के करोड़ों आदमियों में से कितने इस तरह अनुभव करते थे? यह बताना नामुमकिन है। उन करोड़ों आदमियों में से ज़्यादातर के लिए सारे चेतन अनुभव, ग़रीबी और तकलीफ़ की वजह से जड़ हो गये हैं। दूसरे लोगों में वह आदमी थे, जिनको ओहदों, रियायतों, या स्थापित स्वार्थों ने बिगाड़ दिया था या वे लोग थे जिनका दिमाग विशेष अधिकारों की मांग की वजह से दूसरी तरफ़ लगा हुआ था। फिर भी उक्त भावना चारों तरफ थी—कहीं उसकी तेजी कम थी, कहीं ज़्यादा था और कहीं-कहीं पर वह दूसरी भावनाओं से ढकी हुई थी। उस भावना में बहुत से दर्जे थे। इसमें एक सिरे पर ऐसे लोग थे जिनका उसमें पक्का यक़ीन था और जिनमें सारी मुश्किलों का सामना करने की जोरदार ख़्वाहिश थी, और इसका लाज़िमी नतीज़ा कुछ-न-कुछ कार्रवाई होती। दूसरी तरफ़ ऐसे लोग भी थे जिनमें थोड़ी-सी, धुंधली-सी हमदर्दी थी, और वह महफ़ूज़ जगह पर रहना चाहते थे। इन दोनों के बीच में तरह-तरह के लोग थे। कुछ लोगों को इस कुचलने वाले वातावरण में, जो चारों तरफ था, आज़ादी की सांस लेना मुश्किल जान पड़ा और उनका दम-सा घुटने लगा; दूसरे लोग ऐसे थे जिनका दिमाग़ मामूली और उथली बातों पर रहता था और ग़ैर-पसंद हालतों के अनुरूप होने

की ज्यादा सामर्थ्य थी ।

हिंदुस्तान में हुकूमत करनेवाले ब्रिटिश लोगों की भूमिका बिलकुल दूसरी थी। असलियत में वह खाई, जो हिंदुस्तानियों और अंग्रेज़ों के दिमाग़ को अलग करती है, इतनी बड़ी है कि वह साफ़ ज़ाहिर हो जाती है और उनमें चाहे जो भी सही हो, हिंदुस्तान में ब्रिटिश लोगों की शासन करने की अयोग्यता का इस अकेली बात से ही पता लग जाता है। क्योंकि अगर कुछ तरक्क़ी करनी है तो सरकार में और प्रजा में, कुछ मेल, कुछ एक-सा नज़रिया होना ज़रूरी है, वरना सिर्फ़ झगड़ा ही होगा, चाहे वह खुला हो या छिपा हुआ हो। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ हमेशा ब्रिटेन के सबसे ज्यादा प्रगति-विरोधी दल के ही नुमाइंदे रहे हैं। उनमें और इंग्लैंड के उदार दल में शायद ही कुछ एकसा-पन हो। हिंदुस्तान में, उनके जितने ज्यादा साल बीतते जाते हैं, उनका नज़रिया उतना ही ज्यादा कठोर होता जाता है और जब नौकरी खत्म करने के बाद वे इंग्लैंड वापस जाते हैं तो वह विशेषज्ञ बन जाते हैं, और हिंदुस्तानी मसलों पर सलाह देते हैं। अपने सही होने का, हिंदुस्तान म ब्रिटिश राज्य की ज़रूरत और उसके फ़ायदे का उन्हें पूरा और पक्का यक़ीन है। उनको यह यक़ीन भी है कि साम्राज्यवादी तरीक़े के नुमाइंदे होने के नाते वे एक बहुत ऊंचे मक़सद के लिए काम कर रहे हैं। चूंकि राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस राज्य की सारी बुनियाद को ही चुनौती दी है, और वह हिंदुस्तान को उससे आज़ाद करना चाहती है, इसलिए वह उनकी निगाह में जनता की सबसे बड़ी दुश्मन बन गई। हिंदुस्तान-सरकार के उस वक़्त के गृहमंत्री सर रेजीनाल्ड मैक्सवैल ने १९४१ में केंद्रीय असेंबली में बोलते हुए, अपने दिमाग़ की साफ़ झलक दी। जिस शिकायत के खिलाफ़, अपने बचाव में वह रहे थे, वह यह थी, कि कांग्रेसियों, समाजवादियों, और कम्युनिस्टों के साथ, जो बिना मुक़द्मा चलाये ही जेल में बंद कर दिये गए थे, वैसा ग़ैर-इंसानी व्यवहार किया जा रहा था वह जर्मन और इटैलियन लड़ाई के कैदियों के साथ किये गए बर्ताव से भी बदतर था। उन्होंने कहा कि जर्मन और इटैलियन कम-से-कम अपने देश के लिए तो जा रहे थे, लेकिन ये लोग तो समाज के दुश्मन थे, और मौजूदा ढांचे को उलट देना चाहते थे। ज़ाहिर है, उन्हें यह बात बेजा मालूम दी, कि हिंदुस्तानी भी आपने मुल्क के लिए आज़ादी की ख्वाहिश करें, या हिंदुस्तान के आर्थिक ढांचे को बदलना चाहें। हालांकि उनका खुद का मल्क, जर्मन और इटैलियनों के खिलाफ़ एक भयंकर लड़ाई लड़ रहा था फिर भी हिंदुस्तानियों के मुक़ाबले उनकी हमदर्दी साफ़ तौर पर जर्मन और इटैलियनों के लिए थी। यह बात रूस के लड़ाई में शामिल होने से पहले की है और दुनिया का ढांचा बदलने की कोशिश की निंदा करने में कोई खतरा

नहीं था। दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से पहले फ़ासिस्ट हुकूमतों की अक्सर तारीफ़ की गई थी। क्या खुद हिटलर ने अपने 'माइन कैंफ़' में और फिर बाद में यह नहीं कहा कि वह चाहता है कि ब्रिटिश साम्राज्य कायम रहे ?

धुरी राष्ट्रों के खिलाफ़ लड़ाई में हर तरह से मदद करने के लिए हिंदुस्तान की सरकार सचमुच फ़िक्रमंद थी। लेकिन उसकी निगाह में वह जीत अधूरी रहती अगर साथ-ही-साथ एक जीत और न हो। और वह थी हिंदुस्तान के क़ौमी आंदोलन को (जिसकी नुमाइंदगी खास तौर से कांग्रेस करती थी) कुचल डालने की जीत। क्रिप्स संधि-चर्चा से उसको परेशानी हुई थी, और उसकी नाकामयाबी पर उसको खुशी हुई। अब कांग्रेस और उसका साथ देने वालों पर आखिरी चोट करने के लिए रास्ता साफ़ था। मौक़ा बहुत अच्छा था, क्योंकि पहले कभी भी केंद्र और सूबों, वाइसराय और उसके खास सहकारियों को, इतनी मनमानी और बेरोक ताक़त नहीं मिली थी। लड़ाई की हालत नाज़ुक थी, और यह दलील बहुत आसान थी कि किसी तरह का विरोध या झगड़ा बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। हिंदुस्तान में दिलचस्पी रखन वाले, इंग्लिस्तान और अमरीका के उदार दल वाले लोग क्रिप्स-चर्चा और उसके बाद के प्रोपैगेंडा से अब चुप कर दिये गए थे। हिंदुस्तान के संबंध में भले दिखने की हमेशा मौजूद रहने वाली भावना, इंग्लिस्तान में बढ़ गई थी। वहां पर ऐसा महसूस किया गया कि हिंदुस्तानी या उनमें से ज्यादातर लोग, जिद्दी और झगड़ालू क़िस्म के हैं, उनका नज़रिया संकरा है, वे इस मौक़े के खतरों को नहीं समझते और शायद उनकी जापानियों के साथ हमदर्दी है। यह कहा जाता था कि मि० गांधी के लेखों और बयानों ने साबित कर दिया है कि उनको खुश करना असंभव है और अब जो रास्ता बाक़ी बचा ह वह सिर्फ़ यही है कि एक बार, हमेशा के लिए गांधी और कांग्रेस को कुचल दिया जाय।

३ : आम इन्क़लाब और उसका दमन

९ अगस्त १९४२ को, तड़के ही, सारे हिंदुस्तान में बहुत-सी गिरफ़्तारियां हुईं। तब क्या हुआ ? कितने ही हफ़्तों बाद, धीरे-धीरे थोड़ी-सी खबरें हम तक पहुंच पाईं और हम आज भी, जो कुछ हुआ उसकी सिर्फ़ एक अधूरी तस्वीर बना सकते हैं। सारे प्रमुख नेता अचानक ही अलग हटा दिये गए थे, और जान पड़ता है किसी की समझ में न आता था कि क्या करना चाहिए। विरोध तो होता ही और अपने-आप ही उसके प्रदर्शन हुए। इन प्रदर्शनों को कुचला गया, उन पर गोली चलाई गई, टियर-गैस इस्तैमाल की गई, और सार्वजनिक भावना को प्रकट करने वाले सारे तरीक़े रोक दिये गए। और तब ये सारी दबी हुई भावनाएं फट पड़ीं, और शहरों में और देहाती हलकों में भीड़ें

इकट्ठी हुईं, और पुलिस और फ़ौज के साथ खुली लड़ाई हुई। उन्होंने खास तौर से उन चीजों पर जो ब्रिटिश हुकूमत और ताक़त का प्रतीक मालूम पड़ीं, हमला किया। ये चीजें थीं थाने, डाकखाने और रेल के स्टेशन। उन्होंने तार और टेलाफ़ोन के तारों को काट दिया। इन निहत्थे, बिना नताओं के झुंडों ने पुलिस और फ़ौजों का सामना किया। सरकारी बयानों के मुताबिक ५३८ मौक़ों पर गोलियां चलीं, और साथ ही नीचे उड़ने वाले हवाई जहाजों से, मशीन-गनों से भी गोलियां चलाई गईं। देश के अलग-अलग हिस्सों म एक या दो महीने या इससे भी ज्यादा वक़्त तक यह लड़ाई चलती रही, और तब वह धीरे-धीरे धीमी पड़ गई और उसकी जगह छुट-पुट घटनाएं होती रहीं। हाउस अव् कॉमंस में मि० चर्चिल ने कहा, "सरकार की पूरी ताक़त से ये उपद्रव कुचले गए।" उन्होंने, "बहादुर हिंदुस्तानी पुलिस की और साथ ही आम तौर पर सरकारी अफ़सरों की वफ़ादारी और दृढ़ता की" ताराफ़ की और कहा, "इनका बर्ताव ज्यादा-से-ज्यादा तारीफ़ के क़ाबिल है।" इसके अलावा, "काफी सहायक सेना हिंदुस्तान में पहुंच गई है, और उस देश में इस वक़्त जितनी गोरी फ़ौज है, उतनी ब्रिटिश इतिहास में हिंदुस्तान में पहले कभी नहीं थी।" इन विदेशा फ़ौजों ने और हिंदुस्तानी पुलिस ने निहत्थे किसानों के ख़िलाफ़ कितना ही लड़ाइयां लड़ी थीं, और जीती थीं और उनके विद्रोह को कुचला था; और, हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की एक खास बुनियाद (यानी अफसरों की जमात) ने, खले तौर पर या छिपे तौर पर, इस सारी कार्रवाई में मदद की।

देश में, गांवों और क़स्बों, दोनों में ही यह प्रतिक्रिया असाधारण रूप से व्यापक थी। क़रीब-क़रीब हर सूबे में और ज्यादातर हिंदुस्तानी रियासतों म, सरकारा रोक के खिलाफ़ भी अनिगिनित प्रदर्शन हुए। हड़तालें हुईं, दुकानें और बाजार बंद हुए, सभी जगह काम-काज रोक दिया गया। कुछ जगहों पर यह बातें कुछ दिनों तक रहीं, कहीं, कुछ हफ़्तों तक और थोड़ी-सा जगहों पर ये बातें एक महीने से भी ज्यादा चलती रहीं। इसी तरह मजदूरों ने भी काम बंद किया। वे लोग ज्यादा संगठित थे, मिलकर एक साथ काम करने का उनमें अनशासन था। इन कारखाने के मजदूरों ने बहुत-सी खास-खास जगहों में अपने-आप हड़ताल का एलान किया। यह सब सरकार द्वारा क़ौमी नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में हुआ। जमशेदपुर के लोहे और फ़ौलाद के बड़े शहर में इसकी एक खास मिसाल देखने को मिली। यहां के होशियार कारीगैर मुल्क के अलग-अलग हिस्सों के रहने वाले थे। वे एक हफ़्ते तक काम पर नहीं गए, और सिर्फ़ इस शर्त पर वापिस जाने को तैयार हुए कि कारखाने के व्यवस्थापक, कांग्रेसी नेताओं को छुड़ाने और क़ौमी सरकार क़ायम कराने के

लिए ज्यादा-से-ज्यादा कोशिश करने का वायदा करें। यह वायदा किया गया और तब वह वापस गए। सूती कारखानों के बड़े केंद्र अहमदाबाद में एकदम बिना ट्रेड यूनियन की ख़ास पुकार के, सारे कारखानों में पूरी तरह काम रोक दिया गया।[1] यह आम हड़ताल रोकने की सारी कोशिशों के होते हुए भ।

---

१ बड़े सरकारी अफ़सरों ने यह कहा है और यह बात दूसरे लोगों ने अक्सर दुहराई है कि इन हड़तालों को, ख़ास तौर से जमशेदपुर और अहमदाबाद की हड़तालों को, मिल-मालिकों ने बढ़ावा दिया। इस बात पर विश्वास करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि इन हड़तालों से मिल-मालिकों को बहुत भारी नुकसान हुआ। मुझे तो अभी ऐसे बड़े उद्योगपतियों से जानकारी करनी बाकी है जो अपने निजी लाभ के ख़िलाफ़ इस ढंग से काम करते हैं। यह सच है कि बहुत से उद्योगपति हिंदुस्तान की आज़ादी चाहते हैं, और उससे हमदर्दी रखते हैं। लेकिन लाज़िमी तौर से हिंदुस्तान की आज़ादी का उनके दिमाग़ में वही नक्शा है जिसमें उनके लिए हिफ़ाज़त की जगह हो। इन्क़लाबी कार्रवाई और सामाजिक ढांचे में कोई भी बड़ा परिवर्तन उन्हें नापसंद है। हां, यह मुमकिन है कि अगस्त और सितंबर १९४२ की, चारों तरफ छाई हुई गहरी सार्वजनिक भावनाओं का, उन पर असर हुआ और पुलिस के साथ मिलकर उन्होंने न मजदूरों को सजा दी और न कोई आक्रामक ढंग ही अपनाया। क्योंकि आम तौर पर हड़तालों के मौक़ों पर वह ऐसा नहीं करते हैं।

एक दूसरी बात अक्सर ज़ोर देकर कही जाती है। वह यह है कि बड़े उद्योगपतियों द्वारा कांग्रेस का आर्थिक प्रबंध होता है। यह बात ब्रिटिश हलकों में या ब्रिटिश अखबारों में करीब-करीब पूरी तरह मानी जाती है। यह बिलकुल ग़लत बात है। मैं कितने ही सालों तक उसका प्रधान मंत्री या सभापति रहा हूं और अगर ऐसी बात होती तो कम-से-कम मुझे उसका पता ज़रूर होता। कुछ उद्योगपतियों ने समय-समय पर गांधीजी की सामाज-सुधार की कार्रवाइयों में आर्थिक सहायता दी है। ये समाज-सुधार के काम, ग्रामोद्योग, प्रारंभिक या बुनियादी शिक्षा, दलित जातियों को उठाना, छूत-छात को मिटाना आदि बातों से ताल्लुक़ रखते हैं। कांग्रेस की राजनीतिक काम में वे उससे साधारण समय में भी अलग रहे हैं और फिर सरकार से कांग्रेस के झगड़े के दौरान में तो वह ख़ास तौर से अलग रहे हैं। उनकी कभी-कभी हमदर्दी भले ही रही हो लेकिन बहुत ज्यादा समझदार लोगों की तरह उन्हें अपनी हिफ़ाज़त का ज्यादा ख़याल है। कांग्रेस का काम तो करीब-करीब पूरी तरह से उसके मेंबरों के चंदे और दान से चलता है। इन मेंबरों की संख्या बहुत बड़ी है। उसका ज्यादातर काम सेवा के रूप में होता है और अवैतनिक हैं।

अहमदाबाद में तीन महीने तक शांतिपूर्वक चलती रही। मज़दूरों की यह प्रतिक्रिया अपने-आप हुई और इसकी बुनियाद सिर्फ़ राजनीतिक थी। मज़दूरों को बहुत भारी नुकसान हुआ क्योंकि इस वक़्त मज़दूरी पहले के मुक़ाबले में काफ़ी बढ़ी हुई थी। इस लंबे अर्से में उन्हें बाहर से कोई माली मदद न मिली। दूसरी जगहों में काम थोड़े अर्से के लिए रोका गया, और कहीं-कहीं पर तो सिर्फ़ कुछ दिनों के ही लिए। सूती कारख़ानों के दूसरे बड़े केंद्र कानपुर में, जहां तक मुझे पता है, कोई बड़ी हड़ताल नहीं हुई। उसकी वजह यह थी कि वहां कम्युनिस्ट नेता उस हड़ताल को हटवा देने में कामयाब हुए। रेलों में भी, जिन पर सरकार का काबू ह, कोई आम तौर पर काम नहीं रोका गया। हां, उपद्रवों की वजह से रेलों का काम जरूर रुका और बड़े पैमाने पर रुका।

सूबों में, शायद पंजाब में सबसे कम असर था, हालांकि वहां भी बहुत-सी हड़तालें हुई और बहुत जगह काम रोका गया। सरहदी सूबे में, जिसमें क़रीब-क़रीब सारी आबादी मुस्लिम है, एक अजीब बात हुई। अव्वल तो वहां बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियां ही नहीं हुईं, और न दूसरे सूबों की तरह वहां सरकार ने कोई दूसरी, उत्तेजित करने वाली छेड़खानी की। इसकी कुछ हद तक तो यह वजह थी कि सरहदी आदमी बहुत जल्दी उत्तेजित होने वाले समझे जाते थे, और कुछ हद तक यह वजह भी थी कि सरकारा नीति यह दिखाना चाहती थी कि क़ौमी उभार से मसलमान अलहदा थे। लेकिन जब हिंदुस्तान की और जगहों से, वहां की घटनाओं की खबरें, इस सूबे में पहुंचीं तो यहां भी बहुत से प्रदर्शन हुए और ब्रिटिश हुकूमत को एक ज़ोरदार चुनौती दी गई। प्रदर्शकों पर गोली चलाई गई और सार्वजनिक कामों को रोकने के सभी आम तरीक़े इस्तैमाल किये गए। हज़ारों लोगों को गिरफ़्तार किया गया। यही नहीं पठानों के महान् नेता बादशाह खान को (इसी नाम से अब्दुल गफ़्फ़ार खां मश-

---

कभी-कभी शहरों में व्यापारियों ने थोड़ी-सी मदद कर दी है। इसमें शायद एक ही अपवाद रहा है और वह मौक़ा था १९३७ के आम चुनाव। उस वक़्त उद्योगपतियों ने भी केंद्रीय चुनाव फंड में मदद की। हमारे सारे काम के फैलाव को देखते हुए, यह फंड भी बहुत छोटा था। यह एक ताज्जुब की बात है और पश्चिमी लोगों को तो शायद यक़ीन भी न हो कि हम बहुत थोड़े से रुपयों से पिछले पच्चीस बरसों से कांग्रेस का काम चला रहे हैं। इस दौरान में हिंदुस्तान को बार-बार राजनीतिक कार्रवाइयों के और आंदोलनों के झटके बर्दाश्त करने पड़े हैं। संयुक्त प्रांत में, जो हमारे देश का एक बहुत क्रियाशील और सुसंगठित सूबा है, जिसके बारे में मुझे ज्यादा जानकारी है, करीब-करीब हमारा सारा खर्च, हमारे चवन्नी वाले मेंबरों के चंदे पर चलता है।

हूर हैं) पुलिस की मार ने बुरी तरह घायल कर दिया। उत्तेजना के लिए यह बहुत बड़ी बात थी, फिर भी ताज्जुब की-सी बात है कि अब्दुल गफ्फ़ार खां ने अपने आदमियों को जो बढ़िया अनुशासन सिखाया था, वह इस वक़्त भी बना रहा। वहां पर देश की और बहुत-सी जगहों की तरह कोई हिंसात्मक कार्रवाई नहीं हुई।

जनता की तरफ़ से अचानक असंगठित प्रदर्शन, जिनका अंत हिंसात्मक झगड़ों और विनाश में हुआ, बहुत बड़ी और हथियार-बंद फौजों का विरोध होते हुए भी चलते रहे। इनसे जनता की भावनाओं की गहराई और तेजी का पता लगता है। नेताओं की गिरफ़्तारी से पहले भी वे भावनाएं वहां मौजूद थीं। लेकिन इन गिरफ़्तारियों ने और उसके बाद अक्सर होने वाले गोली-कांडों ने जनता के गुस्से को बढ़ा दिया और उन्होंने उसी रास्ते को अपनाया जो एक नाराज़ गिरोह अपनाया करता है। कुछ वक़्त तक इस बारे में एक अनिश्चितता-सी रही कि क्या किया जाना चाहिए। कोई हिदायतें नहीं थीं, कोई कार्य-क्रम नहीं था। कोई ऐसा मशहूर आदमी भी नहीं था, जा उन्हें बता सकता कि क्या करना चाहिए या जो उनकी रहनुमाई कर सकता। लेकिन वे इतने ज्यादा नाराज़ थे, इतने उत्तेजित थे कि ख़ामोश नहीं रह सकते थे। ऐसे मौक़ों पर जैसा अक्सर होता है, मुक़ामी नेता आगे आए और कुछ वक़्त तक उनका हिदायतों के मुताबिक काम हुआ। लेकिन जो कुछ हिदायतें उन्होंने दीं वह बहुत नाकाफ़ी थीं। लाज़िमी तौर से जनता का उभार तो अपने-आप हुआ था। सारे हिंदुस्तान में १९४२ म नई पीढ़ी न, खास तौर से विश्व-विद्यालय के विद्यार्थियों ने, उग्र और शांतिपूर्ण दोनों ही तरह की कार्रवाइयों में बहुत ज्यादा काम किया। बहुत से मुक़ामी नेताओं ने शांतिपूर्ण ढंग से कार्रवाई की, और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को चलाने की कोशिश की। लेकिन उस वक़्त के वातावरण में यह बात मुश्किल था। पिछले बीस बरसों से जो अहिंसा का पाठ पढ़ाया जा रहा था, जनता उसे भूल गई। फिर भी किसी तरह से सरासर हिंसा के लिए वह बिलकुल भी तैयार न थी। उस अहिंसात्मक ढंग की शिक्षा ने कुछ झिझक और कुछ शक पैदा किया और हिंसात्मक कार्रवाई के लिए हिचकिचाहट पैदा हुई। अगर अपनी धारणा के खिलाफ़, कांग्रेस ने पहले हिंसात्मक काम के लिए थोड़ा-सा भी इशारा कर दिया होता, तो इसमें शक नहीं कि जितनी हिंसा और उग्रता अस्ल में हुई, उससे कम-से-कम सौ गुनी ज्यादा हुई होती।

लेकिन इस ढंग का कोई इशारा नहीं दिया गया था। सच तो यह है कि कांग्रेस ने अपने अख़ीरी संदेसे में अहिंसात्मक कार्रवाई की ही अहमियत पर जोर दिया था। फिर भी एक बात का जनता के दिमाग़ पर

असर हुआ। अगर, जैसा कि हमने कहा था कि किसी हमलावर दुश्मन के खिलाफ़ हथियार के ज़रिए हिफ़ाज़त करना जा और वाजिब था, तो वही बात मौजूदा आक्रमण के लिए क्यों लागू नहीं थी ? हमले और बचाव के हिंसात्मक ढंग से एक बार रोक हटाने के अनिच्छित परिणाम हुए, और ज्यादातर लोगों के लिए उनके बारीक फ़र्कों को समझना आसान नहीं था। सारी दुनिया में हर दर्जे की हिंसा छाई हुई थी, और लगातार प्रोपैगेंडे से उसको बचावा मिल रहा था। उस वक़्त जल्दी कामयाबी का और गहरी भावना का सवाल था। इसके अलावा कांग्रेस में और कांग्रेस से बाहर ऐसे भी लोग थे, जिनका अहिंसा म कभी भी यक़ीन नहीं रहा था और हिंसात्मक कार्रवाई के सिलसिले में उन्हें कभी भी कोई दुविधा नहीं हुई थी।

लेकिन वक़्ती उत्तेजना में बहुत ही कम लोग सोचते हैं। वे तो बहुत अर्से से दबी हुई अपनी रुझान के मुताबिक काम करते हैं और यह बहाव उन्हें आगे बढ़ा ले जाता है। इस तरह १८५७ के ग़दर के बाद बहुत बड़ी जनता हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के ढांचे को चुनौती देने के लिए पहली बार बलपूर्वक उठ खड़ी हुई। (लेकिन इस शक्ति के पास हथियार नहीं थे)। यह चुनौती बेमानी और बेमौक़े थी क्योंकि दूसरी तरफ सुसंगठित हथियारबंद ताक़त थी। यह हथियारबंद ताक़त इतिहास के पहले किसी मौक़े पर इतनी ज्यादा नहीं थी। चाहे भीड़ में आदमियों का तादाद कितनी भी ज्यादा हो, शक्ति और सशस्त्र शक्ति के द्वंद्व में वह ठहर नहीं सकती। वह लाज़िमी तौर पर नाकामयाब होती। हां यह बात दूसरी थी कि खुद इन हथियारबंद फ़ौजों की वफ़ादारी ही पलट जाय। लेकिन इन भीड़ों ने न तो लड़ाई की तैयारी ही की थी और न उसके लिए मौक़ा ही तलाश किया था। यह लड़ाई तो उन पर अनजाने ही आ गई, और उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया में, चाहे वह कितनी ही ग़लत हो या नासमझी से भरी हो, उन्होंने हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए अपना प्रेम जताया, और साथ ही विदेशी सरकार के लिए अपनी नफ़रत ज़ाहिर की।

हालांकि उस वक़्त अहिंसा की नीति दब गई लेकिन उसके अनुसार उन्हें जो शिक्षा लंबे अर्से से मिली थी, उसका एक खास और अच्छा नतीजा हुआ। ग़ुस्से और जोश के होते हुए भी क़ौमी भेद-भाव की भावना अगर थी तो बहुत थोड़ी थी और कुल मिलाकर जनता ने खुद यह कोशिश की कि दुश्मनों को कोई जिस्मानी चोट न पहुंचे। सरकारी सामान की आमद-रफ़्त के साधनों की बहुत भारी बरबादी हुई थी, लेकिन इस बरबादी के बीच भी इस बात का खयाल रखा गया था कि लोगों की जानें न जावें। न तो यह हमेशा मुमकिन था और न हमेशा इसकी कोशिश की गई, खास तौर से उस वक़्त

जब पुलिस से और हथियारबंद फ़ौज से खुला हुई लड़ाई हुई। जहां तक मुझे याद आता है सरकारी बयानों के मुताबिक, सारे हिंदुस्तान में, और झगड़े के सारे दौरान में भीड़ों ने कुल १०० आदमियों की जानें लीं। झगड़े के क्षेत्रों का फैलाव और पुलिस के साथ लड़ाइयों को ध्यान में रखते हुए, यह संख्या बहुत कम है। एक घटना ख़ास तौर से बेरहमी की हुई, और उससे तकलीफ़ हुई। वह यह थी कि बिहार में किसी जगह पर भीड़ ने दो कनाडा देश के हवाई उड़ाकों को क़त्ल कर दिया। लेकिन उस वक़्त आम तौर पर जातीय भेद-भाव का अभाव, एक ख़ास चीज़ थी।[1]

१९४२ के झगड़ों में पुलिस और फ़ौज की गोलियों से मारे हुए और घायल किये हुए आदमियों की गिनता सरकारी अंदाज से यह है। १०२८ मरे और ३२०० घायल। ये आंकड़े निश्चय ही बहुत ज्यादा घटाकर रखे गए हैं, क्योंकि सरकारी बयानों के ही मुताबिक़ कम-से-कम ५३८ मौक़ों पर गोलियां चलीं। इसके अलावा पुलिस और फ़ौज की पहरा देने वाली लारियां अक्सर आदमियों पर गोली चला देती थीं। क़रीब-क़राब सही गिनता पर भी पहुंचना बहुत मुश्किल है। जनता के अंदाज से क़राब २५००० आदमी मारे गए लेकिन शायद यह गिनती भी बढ़ाकर दी गई है। शायद १०००० आदमियों के मारे जाने का अनुमान ज्यादा सही होगा।

यह एक असाधारण बात थी कि बहुत से हलकों में, गांवों और क़स्बों

---

१ क्लाइव ब्रैंसन के पत्रों में, जो 'ब्रिटिश सोल्जर लुक्स एट इंडिया' नाम से प्रकाशित हुए, एक खास घटना का उल्लेख है। ब्रैंसन एक कलाकार था और एक साम्यवादी था। अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में उसने स्पेन में काम किया। १९४४ में वह रायल आर्मर्ड कोर में शामिल हो गया और उसमें वह एक सार्जेंट था। अपनी रेजीमेंट के साथ १९४२ में उसको हिंदुस्तान भेजा गया। १९४४ में बर्मा में, अराकाम में, लड़ते हुए वह मारा गया। अगस्त १९४२ में वह बंबई में था। उस वक़्त नेताओं की गिरफ्तारी हो चुकी थी, और बंबई की जनता गुस्से और जोश से पागल हो रही थी, और उस पर गोली चलाई जा रही थी। ब्रैंसन नें एक मौक़े पर कहा है, "तुम्हारी राष्ट्रीयता कितनी स्वस्थ और अकलुष है। मैंने कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर के लिए रास्ता पूछा। में वर्दी में था। मुझ जैसे लोग निहत्थे हिंदुस्तानियों पर गोलियां चला रहे थे। क़ुदरती तौर पर मुझे फिक्र हुई। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि न मालूम मेरे साथ कैसा बर्ताव किया जायगा। लेकिन जिस किसी से मैंने पूछा वह मेरी मदद करने को तैयार था—किसी ने भी न तो मेरी बेइज्जती की और न किसी ने मुझे गलत रास्ता बताया।"

दोनों में, ब्रिटिश हुकूमत खत्म हो गई, और उन हिस्सों को 'दुबारा जीतने में' (आम तौर पर उसको यही कहा गया था), कई दिन और कहीं-कहीं तो कई हफ्ते लगे। यह बात खास तौर से बिहार में, बंगाल के मिदनापुर जिले में और संयुक्त प्रांत के दक्खिनी पूर्वी हिस्सों में हुई। यह बात ध्यान में रखने की है कि संयुक्त प्रांत के बलिया जिले में (जिसको 'दुबारा जीतना' पड़ा था) भीड़ों के खिलाफ़ किसी शारीरिक हिंसा या किसी तरह की चोटों की शिकायत नहीं है। बाद में जो बहुत से मुक़दमे चलाये गए और जो जांच हुई, कम-से-कम उससे तो ऊपर की ही बात ज़ाहिर होती है। उस हालत का मुक़ाबला करने में मामूली पुलिस निकम्मी साबित हुई। शुरू १९४२ में एक नया संगठन एस० ए० सी० (स्पेशल आर्म्ड कांस्टेबुलरी) तैयार किया गया था, और इसको खास तौर से सार्वजनिक प्रदर्शनों और उपद्रवों का मुक़ाबला करने की शिक्षा दी गई थी। इसने जनता को कुचलने और दबाने में एक खास काम किया, और अक्सर इसके काम करने का ढंग वही था जो आयर्लैंड में ब्लैक और टैंस का था। इस सिलसिले में कुछ खास समुदायों या वर्गों को छोड़कर हिंदुस्तानी फ़ौज आम तौर पर इस्तैमाल नहीं की गई। अक्सर ब्रिटिश सिपाहियों से या गुरखाओं से ही काम लिया जाता था। कभी-कभी हिंदुस्तानी फ़ौज या स्पेशल पुलिस अपनी जगह से बहुत दूर भेज दी जाती थी, और वहां वे क़रीब-क़रीब अजनबियों की तरह ही काम करते, क्योंकि वे लोग वहां की भाषा ही नहीं समझ पाते थे।

अगर भीड़ की प्रतिक्रिया क़ुदरती थी, तो उन हालतों में सरकार की प्रतिक्रिया भी क़ुदरती थी। उसे जनता के अचानक विस्फोट और उसकी शांतिपूर्ण कार्रवाई, दोनों को ही कुचलना था। अपने निजी बचाव के लिए, और अपने दुश्मनों को मिटा देने के लिए उसका ऐसा करना ज़रूरी था। अगर उसमें यह समझ होती या समझने की ख्वाहिश होती कि जनता में यह तेज़ी कैसी आ गई तो यह संकट आता ही नहीं, और हिंदुस्तान की समस्या हल हो सकती थी। सरकार ने अपनी हुकूमत के खिलाफ़ किसी भी चुनौती को हमेशा-हमेशा के लिए कुचल देने की, सावधानी से तैयारी की थी। उसने शुरूआत की, और पहली चोट के लिए उसने मौक़ा चुना। क़ौमी, मज़दूर और किसान आंदोलनों में खास काम करने वाले हज़ारों स्त्री-पुरुषों को उसने जेल भेज दिया था। लेकिन देश में जो अचानक उभार आया, उससे उसको अचंभा हुआ, और एक धक्का पहुंचा, और कुछ देर के लिए जनता को चारों तरफ़ कुचल सकने वाली मशीन अस्त-व्यस्त हो गई। लेकिन उसके पास तो बेहद साधन थे, और उसने विद्रोह के हिंसात्मक और अहिंसात्मक प्रदर्शनों को कुचल डालने के लिए उन सबका इस्तैमाल किया। बहुत से बड़े और माल-

दार आदमी, जिनमें क़ौम के लिए बहुत थोड़ी ही हिम्मत थी, और जो डरते-डरते सिर्फ़ कभी-कभी सरकार की आलोचना की हिम्मत करते थे, अखिल भारतीय पैमाने पर जनता की कार्रवाइयों का रूप देखकर सहम गए। इन कार्रवाइयों में स्थापित स्वार्थों की रत्ती-भर भी परवाह नहीं थी और इनमें राजनीतिक परिवर्तन की ही नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन की भी झलक दिखाई देती थी। ज्यों ही इस विद्रोह को कुचलने में सरकार की कामयाबी नज़र आने लगी ये डांवाडोल मौक़ापरस्त सरकार से मिल गए, और उन लोगों की, जो उसकी हुकूमत को चुनौती देने की हिम्मत करते थे, जी-भर कर बुराई की।

विद्रोह के बाहरी स्वरूप को कुचलने के बाद उसकी जड़ों को खोदना था और इसलिए सारी सरकारी मशीन को इस काम में लगा दिया गया, ताकि ब्रिटिश हुकूमत के सामने पूरी तरह सिर झुकवा लिया जाय। वाइस-राय के आर्डिनेंस या विशेष अधिकारों से रातों-रात नये क़ानून तैयार हो सकते थे लेकिन इनकी पाबंदियां भी कम-से-कम कर दी गई। फ़ैडरल कोर्ट के और हाईकोर्ट के (जो ब्रिटिश हुकूमत ने ही क़ायम किये थे, और जो उसी का प्रतीक थे) फैसलों की काम करनेवाले लोग परवाह ही नहीं करते थे या उन फ़ैसलों से बचाव के लिए एक नया आर्डिनेंस पास कर दिया जाता था। स्पेशल अदालतों में (जिनको बाद में न्यायालयों ने बेक़ायदा बताया) गवाही का या काम करने के आम तरीक़ों का कोई ख़याल ही नहीं था, और इन अदालतों ने हज़ारों आदमियों को लंबी सज़ायें दीं, और बहुतों को तो मौत की भी सज़ा दी। पुलिस (ख़ास-तौर से स्पेशल आर्म्ड कांस्टेबुलरी) और ख़ुफ़िया विभाग को तो पूरी आज़ादी थी और वे राज-सत्ता के खास अंग थे। वे हर ढंग की बेक़ायदा, बेरहमी की हरकतें कर सकते थे। उसके लिए न कोई रुकावट थी और न उसकी हरकतों की नुक्ताचीनी। बुराइयां बेहद बढ़ गईं। स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों की बहुत बड़ी तादाद को तरह-तरह से सज़ा दी गई। हज़ारों नौजवानों को पीटा गया। सरकार के मांफ़िक जो काम थे, उनको छोड़कर हर ढंग से सार्वजनिक कामों पर रोक लगा दी गई।

लेकिन सबसे ज़्यादा तकलीफ़, सरल-हृदय, ग़रीबी के मारे गांव वालों को भुगतनी पड़ी। पीढ़ियों से वे लोग तकलीफ़ का बिल्ला लगाये हुए थे। उन्होंने ऊपर की तरफ़, उम्मीद के साथ, अच्छे वक़्तों के सपने देखने की हिम्मत की और उन्होंने काम भी किया। इन्होंने बेवकूफ़ी या ग़लती की हो या न की हो, लेकिन हिंदुस्तान का आज़ादी के लिए अपनी वफ़ादारी जरूर साबित कर दी। वे नाकामयाब रहे और इस नाकामयाबी का बोझा उनके झुके हुए कंधों और टूटे हुए जिस्मों पर था। ऐसी बातों की खबर मिली

है कि कितनी ही जगह पूरे गांव को, सजा मिली और उसकी सारी आबादी की जानें कोड़ों से मारकर ले ली गईं, बंगाल सरकार की तरफ़ से यह बयान दिया गया था कि, "सरकार। फौजों ने १९४२ के समुद्री बवंडर से पहले और उसके बाद में तामलुक और कोन्ताई की तहसालों में १९३ कांग्रेसी डेरे या मकान जलाये" उक्त बवंडर से भयंकर विनाश हुआ था, और उस हिस्से में बहुत बरबादी हुई थी, लेकिन उससे सरकारी नीति में कोई फ़र्क नहीं पड़ा।

समूचे गांवों पर, सजा के तौर पर बड़ी-बड़ी रक़मों के जुर्माने किये गए। हाउस अव् कामंस में दिये गए मि० एमरी के बयानों के मताबिक़ जुर्मानों की रक़म कुल मिलाकर नब्बे लाख थी, और इसमें से ७८,५०,००० की रक़म वसूल की गई। इन भूखे ग़रीबों से यह बड़ी रक़में किस तरह वसूल की गईं, यह एक अलग बात है। १९४२ या उसके बाद की सारी बातों से पुलिस की गोलियों से और उसके गांवों में आग लगाने से इतन। ज्यादा तकलीफ़ नहीं हुई थी जितन। इस रक़म को वसूल करने में ज़बर्दस्ती से हुई। इसके अलावा सिर्फ़ यह जुर्माना ही वसूल नहीं किया गया बल्कि अक्सर, उससे बहुत ज्यादा रुपया वसूल किया गया और इस ज्यादा रक़म को, वसूल करने वाले लोग, हड़प कर गए।

वे सारे क़ायदे और बहाने जिनसे सरकारी कार्रवाइयां ढकी रहती हैं एक तरफ़ हटा दिये गए, और एक और हुकूमत की निशानी सिर्फ़ पाशविक शक्ति थी, जो नग्न रूप में सामने थी। इस वक़्त किसी बहाने की ज़रूरत नहीं थी क्योंकि ब्रिटिश ताक़त कामयाब हो चुकी थी। कम-से-कम उस वक़्त राष्ट्रीय शक्ति के ज़रिये उसकी जगह ले लेने की सारी हिंसात्मक और अहिंसात्मक कोशिशें कुचली जा चुकी थीं, और अब ब्रिटिश ताक़त का ही बोल-बाला था। इस अख़ीरी इम्तिहान में, जिसमें शक्ति और बल का ही मूल्य है, और बाक़ी सब चीजें सिर्फ़ बेकार की बातें हैं, हिंदुस्तान नाकामयाब हुआ था। उसकी नाकामयाबी की वजह ब्रिटिश हथियार-बंद ताक़त और लड़ाई की हालत से लोगों की दिमाग़ी उलझन ही नहीं थीं, बल्कि ज्यादातर आदमी, आज़ादी के लिए जरूरी, आखिरी क़ुर्बानी के लिए तैयार नहीं थ। इस तरह ब्रिटिश लोगों ने महसूस किया कि हिंदुस्तान में उनका राज्य फिर मज़बूती से जम गया, और फिर अपना चंगुल ढीला करने की उन्हें कोई वजह महसूस नहीं हुई।

४ : दूसरे देशों में प्रतिक्रिया

ख़बरों पर कड़ी रोक की वजह से हिंदुस्तान की घटनाओं पर एक बहुत मोटा पर्दा पड़ गया। जो कुछ हो रहा था, उसकी बाबत ख़बरें देने की

हिंदुस्तानी अखबारों को भी इजाज़त नहीं थी, और दूसरे देशों को जाने वाली खबरों पर और भी ज्यादा कहीं निगरानी और रोक थी। साथ ही सरकारी प्रोपैगेंडा विदेशों में ज़ोरों से काम कर रहा था, और झूठी और बे-बुनियाद बातों का प्रचार किया जा रहा था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह प्रोपैगेंडा खास तौर से किया गया। वहां की सार्वजनिक राय की अहमियत थी। इसलिए सैकड़ों व्याख्यानदाता और प्रचारक, जिनमें अंग्रेज़ भी थे और हिंदुस्तानी भी थे, उस देश में दौरा करने के लिए भेजे गए।

इस प्रोपैगेंडा के अलावा इंग्लैंड पर लड़ाई का दबाव था और उसकी फ़िक्र थी। इसलिए वहां पर हिंदुस्तानियों के खिलाफ़ और खास तौर से उन लोगों के खिलाफ़ जो इस संकट के मौक़े पर, उनकी परेशानियों को बढ़ा रहे थे, नाराज़गी होना क़ुदरती था। इस पर इकतरफ़ा प्रोपैगेंडा का असर हुआ, और इससे भी ज्यादा असर ब्रिटिश जनता का अपनी नेकनीयती में यक़ीन की वजह से हुआ। दूसरों की भावनाओं से बेखबरी ही तो उनकी मज़बूती की जड़ थी, और इसलिए इस सिलसिले में उन्होंने अपनी हर कार्रवाई का सही समझा, और उन्होंने किसी भी दुर्घटना या असाम्य का दोष उन लोगों पर डाल दिया, जो ब्रिटिश लोगों के स्पष्ट गुणों को भी नहीं देख सकते थे। हिंदुस्तान में जिन लोगों ने उन गुणों में शक किया, उनको कुचलने में ब्रिटिश ताक़त और हिंदुस्तानी पुलिस की कामयाबी ने फिर उन गणों को न्याय्य साबित कर दिया था। साम्राज्य ने ठीक किया था और मि० विंस्टन चर्चिल न खास तौर से हिंदुस्तान की बाबत ऐलान किया, "ब्रिटिश साम्राज्य को खत्म करने वाली कार्रवाई की सदारत करने के लिए मै बादशाह का प्रधान मंत्री नहीं बना हूं।" इसमें कोई शक नहीं कि यह कहते हुए मि० चर्चिल अपने देश की बहुत बड़ी आबादी के नज़रिये की नुमाइंदगी कर रहे थ। इस बड़ी आबादी में वह लोग भी शामिल थे जिन्होंने पहले साम्राज्यवाद के उसूलों और उसके काम की आलोचना की थी। ब्रिटिश मज़दूर दल के नेताओं ने जो साम्राज्यवादी ढंग के हिमायती थे, यह दिखाने के लिए कि उनकी वफ़ादारी और किसी दल के साथ नहीं थी, मि० चर्चिल के बयान का समर्थन किया और, "ब्रिटिश जनता के इस पक्के इरादे पर जोर दिया कि लड़ाई के बाद वह जनता अपने साम्राज्य को ज्यों-का-त्यों रखेगी।"

अमेरिका में जिन लोगों को सुदूर हिंदुस्तान की समस्याओं में दिलचस्पी थी, उनकी राय अलग-अलग थी। ब्रिटिश शासकों के गुणों पर उनको अंग्रेज़ों की तरह यक़ीन नहीं था और दूसरे लोगों के साम्राज्यों को वे अच्छी नज़र से नहीं देखते थे। वे हिंदुस्तान की सद्भावनाओं को हासिल करने के लिए फ़िक्रमंद थे। जापान के खिलाफ लड़ाई में वे उसके साधनों का पूरा-पूरा

फ़ायदा उठाना चाहते थे। फिर भी इकतरफ़ा और झूठे प्रोपैगेंडे का लाज़िमी असर हुआ और उनमें यह ख़याल जमने लगा कि हिंदुस्तान की समस्या तो बहुत ज्यादा उलझी हुई है, और उनके लिए उसको सुलझाना मुमकिन नहीं है। इसके अलावा अपने साथी ब्रिटेन के मामले में उनका दख़ल देना मुश्किल था।

रूस में सरकारी अफ़सरों के या आम जनता के हिंदुस्तान की बाबत क्या ख़याल थे, यह कह सकना नामुमकिन है। वे अपनी लड़ाई की बहुत ज़ोरदार तैयारियों में ही जुटे हुए थे। उनका ध्यान अपने देश से हमलावर को बाहर निकालने में लगा हुआ था। उस वक़्त उन मामलों पर, जिनका उनसे कोई क़रीबी ताल्लुक़ नहीं था, सोचने की उनके पास फ़ुर्सत नहीं थी। फिर भी वे चीज़ों पर काफ़ी दूरदर्शिता से सोचने के आदी थे और यह मुमकिन नहीं था कि सोच-विचार के वक़्त, हिंदुस्तान, जो उनका एशियाई सरहद से मिला हुआ था, उनकी आंखों से ओझल हो गया हो। भविष्य में उनकी क्या नीति होगी यह कोई नहीं बता सकता था। हां यह बात तै थी, कि उसमें असलियत का ख़याल होगा और सोवियत् यूनियन का राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को और भी मज़बूत बनाने का ख़ास ख़याल होगा। वे होशियारी से हिंदुस्तान की बाबत कुछ कहने से बचते रहे, लेकिन सोवियत् इन्क़लाब के पच्चीसवें सालाना जलसे पर स्टैलिन ने घोषणा की कि उनकी आम नीति यह थी कि, "जातीय भेद-भाव मिट जाय, राष्ट्रों की बराबरी की हैसियत हो, और उनके क्षेत्रों का एका बना रहे, ग़ुलाम क़ौमें आज़ाद हों, और उनको उनके सारे अधिकार वापिस हों, क़ौमों को अपने-अपने मामलों का अपनी तबियत के मुताबिक़ इंतज़ाम करने की आज़ादी हो, जिन क़ौमों ने नुकसान उठाया है उनकी माली मदद हो, और अपनी भौतिक समृद्धि पाने की उनकी कोशिश में उनको मदद दी जाय, लोकतंत्रीय आज़ादी वापिस आए और हिटलरी ढंग की सरकारों का ख़ात्मा हो।"

चीन में यह बात ज़ाहिर थी कि हमारे किसी ख़ास काम की चाहे जो प्रतिक्रिया हो, उनकी हमदर्दी पूरी तरह हिंदुस्तान की आज़ादी की तरफ़ थी। उस हमदर्दी की बुनियाद ऐतिहासिक था, लेकिन इससे भी ज्यादा गहरी बात यह थी कि जब तक हिंदुस्तान आज़ाद नहीं होगा, चीन की आज़ादी को भी ख़तरा बना रहेगा। यह बात सिर्फ़ चीन में ही नहीं थी बल्कि सारे एशिया में, मिस्र में और मध्य पूर्व में, हिंदुस्तान की आज़ादी, और दूसरे ग़ुलाम मुल्कों की भी आज़ादी का प्रतीक बन गई थी। उसकी आज़ादी की कसौटी पर मौजूदा वक़्त की या आने वाले वक़्त की जांच की जा सकती थी। अपनी किताब 'वन वर्ल्ड' में मि० वेंडेल विल्की ने कहा है, "बहुत से स्त्री-पुरुषों न

जिनसे मैंने अफ्रीका से लेकर अलास्का तक बातचीत की, एक सवाल पूछा जो एशिया में तो हर जगह ही किया गया और जो वहां व्यापक था, 'हिंदुस्तान का क्या होगा ?'...काहिरा के बाद हर जगह मेरे सामने यही सवाल था। चीन के सबसे ज्यादा अक़्लमंद आदमी ने मुझसे कहा, 'जब हिंदुस्तान की आज़ादी की ख़्वाहिश को भविष्य के लिए टाल दिया जाता है, तो सुदूर पूर्व में जनता की निगाहों में ग्रेट ब्रिटेन नहीं गिरता बल्कि संयुक्त राष्ट्र गिर जाता है।''

हिंदुस्तान में जो कुछ हुआ उसने युद्ध-संकट के होते हुए भी दुनिया को थोड़ी देर के लिए हिंदुस्तान की तरफ़ देखने को, और पूर्व के बुनियादी मसलों पर ग़ौर करने को मजबूर कर दिया। एशिया के हर देश में जनता का दिल और दिमाग़ हिल उठा। हालांकि उस वक़्त हिंदुस्तानी बेबस मालूम देते थे और वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मज़बूत पंजों में बुरी तरह फंसे हुए थे, लेकिन उन्होंने यह जता दिया था कि जब तक हिंदुस्तान आज़ाद नहीं होता, हिंदुस्तान में या एशिया में शांति नहीं हो सकती।

५ : हिंदुस्तान में प्रतिक्रिया

विदेशी हुकूमत को, किसी सभ्य जाति पर हुकूमत करने में बहुत-सी असुविधाएं होती हैं और साथ ही कितनी ही बुराइयां पैदा होती हैं। इनमें से एक नुकसान तो यह है कि आबादी के ख़राब हिस्सों पर उसको भरोसा करना पड़ता है। आदर्शवादी, स्वाभिमानी, सजग और गर्वीले लोग जो आज़ादी की काफ़ी परवाह करते हैं, जो विदेशी हुकूमत के सामने ज़बर्दस्ती सिर झुकाकर अपने-आपका गिराने के लिए तैयार नहीं हैं, या तो एक तरफ रहते हैं, या उनका उस सरकार से झगड़ा होता है। विदेशी हुकूमत के दल में मौक़ापरस्त या ऐसे ही लोगों की तादाद, आज़ाद देश के मुक़ाबले बहुत ज्यादा होती है। आजाद मुल्क में भी जहां पर एकतंत्री सरकार होती है, भले आदमी सरकारी कार्रवाइयों में साथ देने में अक्सर असमर्थ होते हैं और वहां किसी नई प्रतिभा के प्रकट होने का क़रीब-क़रीब बिलकुल मौक़ा नहीं होता। एक विदेशी सरकार में, जो लाज़िमी तौर पर हुकूमत-परस्त होगी, यह सब बुराइयां होती हैं और ये बढ़ती जाती हैं, क्योंकि उसको हमेशा, विरोध के और आतंक स्थापित करने के वातावरण में काम करना होता है। सरकार और जनता दोनों को ही हमेशा डर लगा रहता है और सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण सरकारी विभाग और ख़ुफ़िया विभाग बन जाते हैं।

जिस वक़्त सरकार और जनता में खुली लड़ाई होती है, जनता के इस बुरे हिस्से पर भरोसा करने और उसको बढ़ावा देने का रुझान और ज़्यादा

निगाह में इन लोगों का मुक़ाबला विची के आदमियों से या जर्मनों और जापा-नियों के ज़रिए क़ायम हुई कठपुतली सरकारों से किया जा सकता है। यह खयाल और ऐसी भावनाएं सिर्फ़ कांग्रेस में ही नहीं है बल्कि वह मुस्लिम लाग के मेंबरों में भी है, आर हमारे ज्यादा-से-ज्यादा नरम दली राजनीतिज्ञ भी इस बात को ज़ाहिर कर चुके हैं।[१]

लड़ाई ने काफ़ी बड़े बहाने का मौक़ा दिया और सरकार की ज़ोरदार अराष्ट्रीय कार्रवाइयों को और नये-नये प्रोपैगेंडे को एक आड़ मिल गई। 'मज़दूरों का चरित्र बनाये रखने के लिए', नये-नये क़ायम हुए मज़दूर-दलों का सरकार ने रुपए से मदद की, गांधी और कांग्रेस को गालियां देने वाले अखबार चलाये गए, और उनकी आर्थिक मदद की गई। अखबारी कागज़ की उस वक़्त कमी थी और पुराने अखबारों के काम म भी हर्ज होता था लेकिन ये अखबार चलाये गए। सरकारी विज्ञापन, जिनका लड़ाई की तैयारियों से संबंध बताया गया, इस काम में लाये गए। विदेशों में समाचार देने वाले केंद्र खोले गए, जो हिंदुस्तान-सरकार की तरफ़ से बराबर प्रोपैगेंडा करते थे। सर-कार द्वारा संगठित शिष्ट-मंडलों में, साधारण योग्यता के और अक्सर अपरि-चित व्यक्तियों के झुंड-के-झुंड खास तौर से संयुक्त राष्ट्र को भेजे गए। ये लोग केंद्रीय असेंबली के विरोध के होते हुए भेजे गए, और इनको वहां ब्रिटिश सरकार के प्रोपैगेंडा एजेंटों की तरह काम करने के लिए या उसके सिखाए हुए सबक़ों का दुहराने के लिए भजा गया था। किसी शख्स को, जिसकी स्वतंत्र विचार-धारा थी और जो सरकारी नीति का आलोचक था, बाहर जाने का कोई मौक़ा नहीं था। न तो उसको पासपोर्ट ही मिलता और न उसको सफ़र की ही सुविधा दी जाती।

---

१ हिटलर, जो अपने हुक्म की मातहती में दूसरों को जबर्दस्ती लाने में होशियार है, अपनी 'माइन कैंफ' में लिखता है, "हमको यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि यह चरित्र-हीन सिर झुकाने वाले आदमी, अचानक ही, दलील की वजह से या दुनिया के अनुभवों की वजह से पछताकर अपना पहला ढर्रा छोड़कर नये ढंग से काम करने लगेंगे। उसके खिलाफ़ यही लोग इस नतीजे को दूर रखेंगे जब तक कि या तो राष्ट्र खुद गुलामी का आदी नहीं हो जाता या जब तक ज्यादा श्रेष्ठ शक्तियां ऊपर आकर इन बदनाम चरित्र-हीनों से ही सत्ता को नहीं छीन लेतीं। पहली हालत में इन लोगों को कुछ भी बुरा नहीं मालूम देता, क्योंकि अक्सर विजेता उन्हें गुलाम निरीक्षक बना देता है। इस काम को ये चरित्र-हीन लोग, दुश्मन द्वारा तैनात किसी विदेशी हैवान के मुक़ाबले भी ज्यादा निर्दयता पूर्वक कर सकते हैं।"

पिछले दो बरसों में जनता को ख़ामोश करने के लिए सरकार ने ऐसी ही और दूसरी तरकीबों से भी फ़ायदा उठाया है । राजनीतिक और सार्वजनिक कामों म निष्क्रियता आ जाती है । एक देश में, जहां क़रीब-क़रीब फ़ौजी कब्ज़ा या फ़ौजी राज्य हो, यह निष्क्रियता लाज़िमी तौर पर आ जाती है । लेकिन इन लक्षणों को ज़बर्दस्ती दबाने से तो बीमारी सिर्फ़ बढ़ सकती है, और हिंदुस्तान बहुत बीमार मुल्क है । अनसार दल के हिंदुस्तानी जो हमेशा सरकार का साथ देते रहे हैं, इस ज्वालामुखी की वजह से, जिसका कि फिलहाल मुंह बंद कर दिया गया है, फ़िक्र में पड़ गए हैं । इसी वजह से वह कहते हैं, कि ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ इतना तीखापन, इतनी कटुता हमने कभी नहीं देखी या सुनी ।

जब तक कि मैं अपनी जनता से मिल न लूं, न तो मुझे यह मालूम ही होगा और न मैं बता ही सकता हूं कि इन दो साल के दौरान में उनमें क्या तब्दीलियां हुई हैं, और आज उनके दिल में क्या है । लेकिन मुझे कोई शक नहीं है कि इन हाल के अनुभवों ने उनको कई ढंग से बदल दिया होगा । मैंने, जब-तब, ख़ुद अपने दिमाग़ को परखने की कोशिश की है और इस बात की छान-बीन की है कि इन घटनाओं की ख़ुद-ब-ख़ुद क्या प्रतिक्रिया हुई । गुज़रे वक़्त में, मैं हमेशा इंग्लैंड जाने की सोचता था क्योंकि वहां मेरे बहुत से दोस्त हैं और पुरानी स्मृतियां मुझे वहां की तरफ़ खींचती हैं । लेकिन अब एसी कोई ख्वाहिश नहीं मालूम दी, और अब उसका ख़याल भी बुरा मालूम पड़ा । अब मैं इंग्लैड से ज्यादा-से-ज्यादा दूर रहना चाहता हूं और अंग्रेज़ों से हिंदुस्तान की समस्याओं पर बातचीत करने की भी कोई ख्वाहिश नहीं है । तब मुझे कुछ दोस्तों का ख़याल आया और मेरी सख़्ती कम हुई और मैंने अपने-आपको समझाया कि सारी जनता के बारे में इस तरह राय बनाना कितना ग़लत है, तब मुझे उन विकट अनुभवों का ख़याल आया जो लड़ाई के दौरान में अंग्रेज़ों को हुए । फिर उस खिचाव का ध्यान आया जिसमें वे बराबर इस बीच में रहे हैं और उनके बहुत से आत्मीयों की मौत का भी मझे ध्यान आया । इस सबसे, भावनाओं का तीखापन कुछ कम हुआ लेकिन बुनियादी प्रतिक्रिया बनी रही । शायद समय और भविष्य इसको कुछ कम कर दे, और एक नया नज़रिया पैदा हो सके । लेकिन, अगर मैं, जिसका इंग्लैंड और अंग्रेज़ों से इतना नाता था, इस तरह महसूस करता था, तब और लोगों में, जिनका उससे कोई संपर्क नहीं था, किस तरह की प्रतिक्रिया हुई होगी ?

६ : हिंदुस्तान की बीमारी : अकाल

हिंदुस्तान बहुत बीमार था—शरीर से भी, और मन से भी । हालांकि

कुछ लोग लड़ाई से खुशहाल हो गये थे, लेकिन दूसरे लोगों पर बोझ हद दर्जे पर पहुंच गया था, और इसकी डरावनी याद अकाल ने आकर दिलाई। इस अकाल का बड़ा विस्तार था। उसका मैदान बंगाल में, और हिंदुस्तान के पूर्वी हिस्से में और दक्खिनी हिस्से में था। ब्रिटिश हुकूमत के पिछले १७० बरसों में यह सबसे ज्यादा बड़ा और विनाशकारी अकाल था। इसकी तुलना १७६६ से १७७० के बंगाल और बिहार के भयंकर अकालों से ही की जा सकती है, जो ब्रिटिश राज्य के क़ायम होने के कुछ ही बाद हुए। महामारियां, खास तौर से हैजा और मलेरिया की बीमारियां फैलीं, और वे दूसरे सूबों में भी फैल गईं, और आज भी हज़ारों आदमी उनका शिकार हो रहे हैं। लाखों आदमी अकाल और बीमारी से मर चुके हैं फिर भी वही दृश्य हिंदुस्तान में चारों तरफ़ मंडरा रहा है, और जानें ले रहा है।[1]

इस अकाल ने, चोटी के थोड़े से आदमियों की खुशहाली के नीचे हिंदुस्तान में, ब्रिटिश राज्य की कई पीढ़ियों की हुकूमत से, जो ग़रीबी, इंसानी अधःपतन और बरबादी की तस्वीर तैयार हुई थी खोलकर रख दी। हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य का यह नतीजा था, और यही उसकी कामयाबी थी। यह कोई प्रकृति का कोप नहीं था कि अकाल पड़ा और न इसकी वजह लड़ाई की कार्रवाई थी और न यह दुश्मन के घेरे की वजह से ही हुआ। हर एक जानकार दर्शक इस बात से सहमत है कि यह अकाल आदमी का बनाया था। इसको पहले से देखा जा सकता था, और इसको टाला जा सकता था। हर एक शख़्स इस बात से सहमत है कि संबंधित अधिकारियों ने, आश्चर्य-जनक अवहेलना, निकम्मापन और बेफ़िक्री दिखलाई। आखिरी वक़्त तक, जब तक कि

---

१ १९४३-४४ के बंगाल के अकाल की मौतों के बारे में अलग-अलग अंदाज़ हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एंथ्रोपोलोजी विभाग ने वैज्ञानिक ढंग से अकाल के हिस्सों में नमूने के टुकड़े लेकर विस्तृत छान-बीन की। उनके लिहाज़ से बंगाल के अकाल में कुल ३४,००,००० मौतें हुईं। यह भी पाया गया कि १९४३-४४ के दौरान में बंगाल के ४६ फ़ीसदी आदमियों को बड़ी-बीमारियां हुईं। बंगाल सरकार की सरकारी खबरों के लिहाज़ से, जो ज्यादा-तर पटवारी, मुखिया आदि की अविश्वसनीय खबरों पर निर्भर थीं, मौतों की गिनती काफ़ी कम है। सरकारी अकाल जांच कमीशन, जिसकी सदारत सर जान वुडहेड ने की, इस नतीजे पर पहुंचा कि बंगाल में, 'अकाल और उससे संबंधित महामारियों के ही कारण' १५,००,००० मौतें हुईं। यह आंकड़े सिर्फ बंगाल के ही हैं। देश के और कई हिस्सों में भी अकाल की वजह से या उसके साथ आने वाली बीमारियों की वजह से बहुत बरबादी हुई।

हजारों आदमी रोज़ाना सड़कों पर नहीं मरने लगे, अकाल की मौजूदगी को माना ही नहीं गया, और उस सिलसिले में अख़बारों में चर्चा, सेंसर के ज़रिये दबा दी गई। जब कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' अख़बार ने, कलकत्ते की गलियों में भूख से मरती हुई औरतों, और बच्चों की दर्दनाक और डरावनी तस्वीरें छापीं तो हिंदुस्तान-सरकार के एक प्रतिनिधि ने सरकारी तौर पर केंद्रीय असेंबली में बोलते हुए परिस्थिति का 'नाटक' बनाने का विरोध किया। ज़ाहिर है, उसके लिए हिंदुस्तान में भूख से हज़ारों आदमियों का रोज़ाना मर जाना मामूली-सी बात थी। लंदन में इंडिया ऑफ़िस के मि० एमेरी ने अपने बयानों से और अपनी इंकारी से अपने-आपको बेजोड़ बना दिया। और जब इस व्यापक अकाल की मौजूदगी पर न तो कोई पर्दा ही डाला जा सका, और न उसकी मौजूदगी को नामंज़ूर ही किया जा सका, तो हर सरकारी दल ने किसी दूसरे दल को दोष दिया। हिंदुस्तान सरकार ने कहा कि क़सूर सूबे की सरकार का था। सूबे की सरकार ख़ुद एक कठपुतली सरकार थी जो गवर्नर के मातहत, सिविल अधिकारियों के ज़रिये काम करती थी। सभी का क़सूर था और लाज़िमी तौर पर सबसे ज्यादा उस हुकूमत-परस्त सरकार का, जिसका वाइसराय ख़ुद अकेला प्रतिनिधि था। वह हिंदुस्तान में किसी भी जगह जो चाहता, कर सकता था। किसी भी लोकतंत्री या अर्ध-लोकतंत्री देश में ऐसी बरबादी की वजह से, उससे संबंधित सारी सरकार मिट गई होती। लेकिन हिंदुस्तान में ऐसा नहीं हुआ और यहां सारी चीज़ें ज्यों-की-त्यों चलती रहीं।

लड़ाई के नज़रिए से देखते हुए भी यह अकाल ऐसी जगह पड़ा जो लड़ाई के सबसे ज्यादा क़रीब थी और जहां हमला होना मुमकिन था। व्यापक अकाल, और आर्थिक ढांचे की बरबादी से हिफ़ाज़त और बचाव की सामर्थ्य लाज़िमी तौर पर कुचल जावेगी और हमला करने की ताक़त तो और भी कम हो जावेगी। इस तरह हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त और जापानी आक्रमण-कारियों के ख़िलाफ़ लड़ाई की तैयारी के सिलसिले में हिंदुस्तान-सरकार ने अपनी ज़िम्मेदारी निबाही। सरकारी नीति का निशान, साधनों की बरबादी और फुंकी हुई जमीन नहीं थी (ताकि दुश्मन उसका कोई फ़ायदा न उठा सके) बल्कि लड़ाई के अहम हलके में लाखों की तादाद में फुंके हुए, भूखे और मरे हुए आदमी थे।

सारे देश में हिंदुस्तानी ग़ैर-सरकारी संस्थाओं और साथ ही मानवता के पुजारी इंग्लैंड के क्वेकरों ने सहायता पहुंचाने की काफ़ी कोशिश की। आख़िर में केंद्रीय और सूबों की सरकारें भी जगीं, और उन्होंने संकट की भयं-करता को महसूस किया और सहायता पहुंचाने के लिए फ़ौज की मदद ली गई। उस वक़्त अकाल के फैलाव को रोकने की और उसके बुरे नतीजों को

कम करन की कोशिश की गई। लेकिन सहायता अस्थायी थी, और उसके बुरे नतीजे अब भी चल रहे ह, और किसी को पता नहीं कि कब, फिर इससे भी बदतर पैमाने पर अकाल आ जाय। बंगाल तहस-नहस हो चका है, उसका आर्थिक और सामाजिक जीवन बरबाद हो चका है, और नई पीढ़ी के लिए कमज़ोर लोग बाकी बच रहे हैं।

जब यह घटनाएं हो रही थीं और कलकत्ते की सड़कों पर लाश बिछी हुई थीं, कलकत्ते के ऊपरी वर्ग के दस हज़ार आदमियों के सामाजिक जीवन में कोई फ़र्क नहीं आया। वहां नाच-गाने हो रहे थे, दावतें दी जाती थीं, विलास का बाज़ार गर्म था और जीवन विनोदमय था। काफ़ी अर्से बाद तक वहां कोई राशनिंग नहीं थी। कलकत्ते में घुड़दौड़ बराबर होती रही, और फ़ैशन-बिल लोग वहां पर जाते रहे। खाद्य सामग्रा के लिए यातायात का कोई इंत-ज़ाम नहीं था लेकिन घुड़दौड़ के घोडे रेल के डिब्बों में देश के दूसरे हिस्से से आते रहे। इस शानदार ज़िंदगा में अंग्रज़ और हिंदुस्तानी दोनों ही समृद्ध हुए थे और अब रुपए की बहुतायत थी। कभ।-कभी तो वह रुपया खान-पीने के पदार्थों पर बढ़े-चढे दामों की शक्ल में कमाया गया था। वही खाने की चीज़ें, जिनके अभाव से दसियों हज़ार आदमा रोजाना मर रहे थे।

अक्सर यह कहा जाता है कि हिंदुस्तान एक ऐसा देश है जहां बड़ी परस्पर विरोधी बातें हैं। कुछ लोग बहुत मालदार हैं, बहुत से लोग बहुत ज्यादा ग़रीब हैं; यहां आधुनिकता भी है, मध्यकालीनता भी है; शासक हैं, शासित हैं; ब्रिटिश हैं और हिंदुस्तानी हैं। १९४३ के पिछले छै महीनों में भयंकर अकाल के महीनों में, कलकत्ते में जितनी परस्पर विरोधी बातें देखने को मिलीं, इतनी पहले कभा नहीं दिखाई दीं। दो दुनियां——आम तौर से अलग-अलग रहने वाली, एक दूसरे से बेखबर——अचानक ही सामने आईं, और साथ-साथ एक ही जगह मौजूद थीं। यह असाम्य, हैरत-अंगेज़ था और इससे भी ज्यादा बड़ी बात यह थी कि बहुत से लोगों ने स भयंकरता को, इस आश्चर्य-जनक असाम्य को, महसूस भी नहीं किया, और वे अपनी पुरानी लाक पर ज्यों-के-त्यों चलते रहे। उनको क्या अनुभव हुआ यह नहीं कहा जा सकता, उनके बारे में राय तो उनके व्यवहार को देखकर ही दी जा सकती है। शायद ज्यादातर अंग्रेज़ों के लिए यह आसान था, क्योंकि उनका जीवन अलग बीतता था और उनमें वर्गीय भावना थी। चाहे उनमें से कुछ आदमियों का इस तरफ़ झुकाव ही क्यों न हुआ हो, लेकिन वे अपना पुराना ढर्रा बदल नहीं सकते थे। लेकिन वह हिंदुस्तानी जो इस ढंग से काम करते थे, उस बड़ी खाई को बताते थे, जो उनको बाकी जनता से अलग किये हुए थी और जिसको भद्रता या मानवता या किसी भी ख़याल से पाटा नहीं जा सकता था।

हर बड़े संकट की तरह अकाल में भी हिंदुस्तानी जनता के अच्छे गुण और उसकी कमज़ोरियां देखने को मिलीं। उनमें से बहुत से आदमी, जिनमें वे लोग भी थे, जिनकी सबसे ज़्यादा अहमियत थी, जेल में थे और किसी ढंग से मदद नहीं कर सकते थे। फिर भी ग़ैर-सरकारी ढंग से संगठित किये हुए, सहायता के काम म हर वर्ग के मर्द और औरत थे। इन्होंने जी तोड़ने वाली हालतों में मेहनत की, क़ाबलियत दिखाई, आपसी मदद की भावना दिखाई, और सहयोग और आत्म-बलिदान दिखाया। उन लोगों में, जो छोटी-छोटी बातों पर झगड़ों में फंसे हुए थे, जिनमें आपसी जलन थी, जो निष्क्रिय थे और जिन्होंने दूसरों की मदद के लिए कुछ नहीं किया, और उन थोड़े से आदमियों में जो इतने अराष्ट्रीय हो गए थे और जिनमें इंसानियत इतनी गायब हो गई थी कि उन्होंने इन सब घटनाओं की बिलकुल भी परवाह नहीं की, हमको उक्त कमज़ोरियां नज़र आईं।

अकाल, लड़ाई की हालतों का सीधा-सादा नतीजा था और उसकी दूसरी वजह थी हुकूमत में दूरंदेशी की कमी, और उसकी लापरवाही। देश की भोजन-समस्या के बारे में इन अधिकारियों की अवहेलना समझ में नहीं आती, क्योंकि हर समझदार आदमी को, जिसने इस मामले पर ध्यान दिया, यह मालूम था कि इस ढंग का संकट आ रहा है। लड़ाई के शुरू सालों से ही खाद्य-स्थिति का ठीक ढंग से इंतज़ाम करने से, अकाल टाला जा सकता था। हर दूसरे देश में जिस पर लड़ाई का असर हुआ, युद्ध-कालीन इंतज़ाम के इस पहलू पर पूरी तरह ध्यान दिया गया था। यह काम उन्होंने लड़ाई छिड़ने के पहले ही शुरू कर दिया था। हिंदुस्तान में हिंदुस्तान की सरकार ने यूरोप में लड़ाई छिड़ने के सवा तीन साल बाद और जापान से लड़ाई छिड़ने के एक साल बाद एक खाद्य-विभाग खोला। और इसके अलावा यह आम जानकारी की बात थी कि बर्मा पर जापानियों के कब्ज़े से बंगाल को खाद्य-सामग्री के मिलने पर असर हुआ था। खाने के सामान के बारे में हिंदुस्तान-सरकार की, १९४३ के छै महीने बाद तक कोई नीति नहीं थी, और उस वक़्त अकाल का भयंकर तांडव शुरू हो चुका था। यह एक बेहद असाधारण बात है कि हुकूमत को चुनौती देने वालों को कुचलने के अलावा, सरकार और दूसरे कामों में कितनी सुस्त और निकम्मी है। या शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि जिस ढंग से वह बना है उसके लिहाज़ से उसका दिमाग़ अपने-आपको बराबर क़ायम रखने के ख़ास काम में पूरी तरह घिरा रहता है। जब कोई संकट ख़ुद आ ही जाता है तब उसका ध्यान दूसरी बातों पर जाता है। और तब यह संकट हमेशा बने रहने वाले उस संकट से बढ़ जाता है जिसमें सरकार की अपनी योग्यता और

दृढ़ता में आत्म-विश्वास की कमी बराबर बनी रहती है।[1]

---

[1] अकाल-जांच कमीशन जिसके सर जान वुडहैड अध्यक्ष थे (जिसकी रिपोर्ट मई १६४५ में प्रकाशित हुई) दबी हुई सरकारी भाषा में, उन सरकारी ग़लतियों के तांते और ज़ाती लालच का ज़िक्र करता है जिनकी वजह से बंगाल का अकाल पड़ा। "हमारे लिए, बंगाल के अकाल की वजहों की छान-बीन करना, एक बहुत दुःख और दर्द से भरा काम रहा है। हमारे ऊपर भयंकर विनाश की गहरी भावना छाई रही है। बंगाल के अकाल के १५ लाख आदमी उन हालतों के शिकार हुए जिनके लिए वे ख़ुद जिम्मेदार नहीं थे। समाज अपने संगठन के होते हुए भी, अपने कमजोर मेंबरों की हिफ़ाजत करने में नाकामयाब रहा। असलियत में नैतिक, सामाजिक और साथ ही सरकारी ढांचा टूट गया।" सूबे की आर्थिक कमियों की तरफ, जमीन पर गुज़र करने वालों की तादाद की तरक्क़ी पर, जिसमें उद्योग-धंधों की तरक्क़ी से कोई कमी नहीं हुई, उन्होंने इशारा किया। उन्होंने यह भी बताया, कि आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा सिर्फ किसी तरह गुज़र ही कर रहा था और वह और ज्यादा आर्थिक तनाव बर्दाश्त नहीं कर सकता था; कि तन्दुरुस्ती की हालत बहुत बिगड़ी हुई थी और पोषण का मापदंड बहुत नीचा था; कि तंदुरुस्ती और आर्थिक दशा दोनों में ही हिफ़ाजत और बचाव की गुंजाइश नहीं थी। इसके बाद उन्होंने और ज्यादा क़रीबी वजहों पर गौर किया; उस मौसम की बुरी फसल, बर्मा की हार और उसकी वजह से बर्मा से आने वाले चावल का न आना, सरकार की 'नामंज़ूरी' की नीति जिससे कुछ ग़रीब जमातों की बरबादी होना, खाने के सामान और यातायात के लिए फौजी मांग और सरकार में विश्वास की कमी। उन्होंने हिंदुस्तान-सरकार की और बंगाल सरकार की नीति की, या अक्सर नीति के अभाव की या अक्सर बदलने वाली नीति की निंदा की; उनकी दूरदर्शिता की कमी और आने वाले ख़तरों के लिए इंतजाम की कमी की भी उन्होंने आलोचना की; अकाल के आजाने के बाद भी उसकी मौजूदगी को न मानने या उसकी बाबत ऐलान न करने के रवैये की भी उन्होंने आलोचना की; साथ ही परिस्थिति का सामना करने के लिए बिलकुल अधूरे इंतजाम की भी उन्होंने आलोचना की। आगे चलकर वह कहते हैं, "सारी हालतों पर गौर करते हुए हम इस नतीजे को टाल नहीं सकते कि बंगाल सरकार के लिए यह मुमकिन था कि वह हिम्मत से, पक्के इरादे से, ठीक वक़्त पर सोच-समझकर इंतजाम से अकाल की भयंकर बरबादी को बहुत हद तक रोक सकती थी, और अकाल इस हद तक न पहुंच पाता जैसा कि वह असलियत में पहुंच गया।" इसके अलावा हिंदुस्तान-सरकार ने काफ़ी

हालांकि अकाल निस्संदेह लड़ाई की हालतों की वजह से था और उसको राका जा सकता था, लेकिन साथ ही यह बात भी है कि उसकी ज्यादा गहरी वजह उस बुनियादा नीति में था जो हिंदुस्तान को दिन-ब-दिन ज्यादा ग़रीब बनाती जा रही थी और जिसकी वजह से करोड़ों आदमी क़रीब-क़रीब भूखे रहते थे। १९१३ में इंडियन मैडीकल सर्विस के डाइरेक्टर, मेजर जनरल सर जॉन मीगा न हिंदुस्तान म सार्वजनिक स्वास्थ्य पर अपनी रिपोर्ट में एक जगह लिखा है : "कुल मिलाकर हिंदुस्तान में, सरकारी अस्पतालों के डाक्टरों के लिहाज से ३९ फ़ीसदी का ठीक पोषण होता है, ४१ फ़ीसदी का पोषण पूरी तरह नहीं होता और २० फ़ीसदी का पोषण बहुत कम होता है। सबसे ज्यादा खराब हालत का जिक्र बंगाल के डाक्टरों ने किया है। उनके लिहाज़ से उस सूबे की आबादी के सिर्फ़ २२ फ़ी सदी भाग को पर्याप्त पोषण मिलता है और वहां ३१ फ़ी सदी का पोषण बहुत नाकाफ़ी है।"

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य पर, बंगाल की भयकर बरबादी ने उड़ीसा, मालाबार और दूसरा जगहों के अकालों ने, आखिरी फ़ैसला कर दिया है।

जल्दी ही यह बात महसूस नहीं की कि खाने के यातायात के लिए एक योजना और एक ढंग की जरूरत है ...।" "बंगाल सरकार के साथ ही हिंदुस्तान-सरकार भी मार्च १९४३ में कंट्रोल तोड़ने के लिए जिम्मेदार है। बाद में हिंदुस्तान-सरकार का हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से में मुक्त-व्यापार चालू करने का प्रस्ताव बिलकुल बेजा था और ऐसा प्रस्ताव होना ही नहीं चाहिए था। अगर बहुत से प्रांतों और रियासतों का विरोध कामयाब न हुआ होता तो आज उसके लागू करने से हिंदुस्तान के बहुत से हिस्सों में भारी बरबादी हुई होती।" केंद्र और सूबे में दोनों ही जगह सरकारी मशीन की बदइंतजामी और हृदय-हीनता की चर्चा के बाद, कमीशन ने कहा कि, "बंगाल की जनता या कम-से-कम उसके कुछ हिस्से भी कसूरवार हैं। हमने डर और लालच के उस वातावरण का जिक्र किया है जिसने कंट्रोल के हटने के बाद, मंहगाई को तेजी से बढ़ा दिया। इस भयंकर संकट के वक्त बेहद मुनाफ़ाखोरी हुई, और इन परिस्थितियों में कुछ लोगों के मुनाफे के मानी दूसरे लोगों की मौत थी। बहुत से लोगों के पास बहुतायत थी और दूसरी तरफ लाग भूखों मर रहे थे। तकलीफ को अपनी आंखों से देखकर भी बहुत से लोगों पर कोई असर नहीं हुआ और उनकी उपेक्षा बनी रही। सूबे में चारों तरफ रिश्वतखोरी थी और वह समाज के कितने ही हिस्सों में थी।" भूख और मौत के कार-बार में कुल मिलाकर १५० कराड़ रुपए का मुनाफा हुआ। इस तरह से अगर १५ लाख मौतें हुईं तो हर मौत के ऊपर १००० रुपए का मुनाफा किया गया।

ब्रिटिश लाजिमी तौर पर हिंदुस्तान छोड़ेंगे और उनके हिंदुस्तानी साम्राज्य की याद रह जायगी। लेकिन जब वह जायंगे तो वे क्या छोड़ेंगे--कितना मानव-अध:पतन और कितना संचित दुःख ? तीन साल पहले मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए श्री रवींद्र ठाकुर के सामने यह चित्र आया था : "लेकिन कैसा हिंदुस्तान वह छोड़ेंगे, कितना दुःखभरा ? जब सदियों पुरानी उनकी शासन की धारा अंत में सूख जायगी तो अपने पीछे वे कितनी कीचड़ और कितनी दलदल छोड़ेंगे !"

७ : हिंदुस्तान की सजीव सामर्थ्य

अकाल और लड़ाई चाहे हो या न हो, लेकिन अपने जन्म-जात परस्पर विरोधों से पूर्ण और उन्हीं विरोधों और उनसे प्रतिफलित विनाशों से पोषण पाती हुई, जीवन की धारा बराबर चालू रहती ह। प्रकृति अपना काया-कल्प करती है, और कल के लड़ाई के मैदान को आज फूलों और हरी घास से ढक देती है, और पहले जो खून गिरा था वह अब जमीन को सींचता है और नये जीवन को रंग, रूप और शक्ति देता है। इंसान, जिसमें याददाश्त का ग़ैर-मामूली गुण होता है, गुज़रे हुए जमाने की कहानियों और घटनाओं से चिपटा रहता है। वह शायद ही कभी मौजूदा वक़्त के साथ चलता हो, जिसमें वह दुनिया है जो हर रोज़ नई ही दिखाई देता है। मौजूदा वक़्त, इससे पहले कि हमको उसका पूरा होश हो, गुज़रे ज़माने में खिसक जाता है; आज, जो बीती हुई कल का बच्चा है, खुद अपनी जगह, अपनी सन्तान, आने वाली कल को दे जाता है। मार्के की जीत का खात्मा खून और दलदल में होता है; मालूम पड़ने वाली हार की कड़ी जांच में से, तब उस भावना का जन्म होता है जिसमें नई ताकत होती है और जिसके नज़रिये में फैलाव होता है। कमज़ोर भावना वाले झुक जाते हैं, और वे हटा दिये जाते हैं, लेकिन बाक़ी लोग प्रकाश-ज्योति को आगे ले चलते हैं और उसे आने वाले कल के मार्ग-दर्शकों को सौंप देते हैं।

हिंदुस्तान के अकाल ने हिंदुस्तान की समस्याओं के भयंकर और तेज़ बहाव को कुछ हद तक महसूस करा दिया। उसने देश पर मंडराते हुए भयंकर सर्वनाश की याद दिला दी। इंग्लैंड में लोगों ने उसके बारे में क्या महसूस किया, मुझे पता नहीं, लेकिन उनमें से कुछ लोगों ने अपनी आदत के मुताबिक सारा क़सूर हिंदुस्तान और उसकी जनता का बताया। खाने की कमी थी, डाक्टरों की कमी थी, सफ़ाई के इंतज़ाम की कमी थी, डाक्टरी सामान की कमी थी, आमद-रफ़्त के साधनों की कमी थी, इंसान को छोड़कर हर चीज़ की कमी थी। आबादी बढ़ गई थी और आगे भी बढ़ती हुई मालूम दे रही थी। क़सूरवार थी एक ग़ैर-दूरंदेश जाति की यह बढ़ती हुई आबादी, जो बग़ैर इत्तला दिये हुए

बढ़ रही थी और जो एक नेक सरकार की योजना या हीनता को उलट-पुलट देती थी, इस तरह आर्थिक मसलों की, अचानक ही अहमियत बढ़ गई। हमसे कहा गया राजनीति और राजनीतिक मसलों को एक तरफ़ रख देना चाहिए, मानो जब तक कि उस वक़्त के अन्य मसलों को वह सुलझा न सके, राजनीति का कोई महत्त्व ही न हो। दुनिया में 'लेसैज़ फ़ेअर' (उद्योग और व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप से स्वतंत्रता) की तरफ़दारी करने वाली गिनी-चुनी सरकारों में से हिंदुस्तान-सरकार भी एक थी; अब वह योजनाओं की सोचने लगी, लेकिन संगठित योजना के बारे में उसे कुछ भी पता नहीं था। वह तो अपने मौजूदा ढांचे को बनाये रखने की बाबत ही सोच सकती थी। वह स्थापित स्वार्थों या वैसी ही बातों को बनाये रखने के सिलसिले में ध्यान दे सकती थी।

हिंदुस्तान की जनता में प्रतिक्रिया ज़ोरदार और ज़्यादा गहरी हुई। लेकिन 'भारत रक्षा कानून' या उसके नियमों के चारों तरफ़ फैले हुए चंगुल की वजह से उसका कोई खुला इज़हार नहीं हुआ। बंगाल का आर्थिक ढांचा बिलकुल टूट गया था, और करोड़ों आदमी बिलकुल कुचल दिये गए थे। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में जो कुछ हो रहा था बंगाल की मिसाल उसमें एक हद पर पहुंच गई थी, और ऐसा मालूम होता था कि फिर अच्छा इंतज़ाम होना मुश्किल है। उद्योग-धंधों के मालिक भी जो लड़ाई के दौरान में मालामाल हो गए थे, झकझोर दिये गए और अपने संकरे घेरे के बाहर देखने को मजबूर हुए। कुछ राजनीतिज्ञों के आदर्शवाद से उन्हें डर तो लगता था, लेकिन वे अपने ढंग से यथार्थवादी थे, और उस यथार्थवाद से, वह जिन नतीजों पर पहुंचे, वे बहुत गहरे और व्यापक असर वाले थे। बंबई के उद्योगपतियों ने, खास तौर से ताता कारबार वालों ने, हिंदुस्तान की तरक्क़ी के लिए एक पंद्रह साल की योजना बनाई। वह योजना अभी पूरी नहीं हुई, और उसमें कई जगह खोखलापन है। लाज़िमी तौर पर बड़े-बड़े कारखाने वालों ने उस पर अपने ही ढंग से सोचा है, और उसमें इन्क़लाबी तब्दीलियों से बचने की ज़्यादा-से-ज़्यादा कोशिश की गई है। फिर भी हिंदुस्तान की घटनाओं के दबाव ने, उनको ज़्यादा बड़े पैमाने पर सोचने के लिए मजबूर किया, और जिस घेरे में सोचने के वे आदी थे उससे अब उन्हें बाहर आना पड़ा है। उस योजना के भीतर ही इन्क़लाबी तब्दीली है चाहे खुद योजना बनाने वाले उसे न पसंद करते हों, लेकिन फिर भी वह है। इस योजना के बनाने वालों में से कुछ नेशनल प्लानिंग कमेटी के मेंबर थे, और उन्होंने उस कमेटी के थोड़े से काम का फ़ायदा उठाया है। बेशक इस योजना में रद्दो-बदल करनी होगी, और उसमें कितनी ही बातें जोड़नी पड़ेंगी, और कई ढंग से उसका इंतज़ाम करना होगा। लेकिन यह बात ध्यान में रखते हुए कि वह योजना, अनुदार वर्ग की है, वह स्वागत के योग्य है, और उससे

बढ़ावा और इशारा मिलता है कि हिंदुस्तान को किधर जाना है। उसकी बुनियाद आज़ाद हिंदुस्तान और हिंदुस्तान के राजनीतिक और आर्थिक एके पर है। इस योजना में पूंजी के मामले में अनुदार साहूकार को महत्त्व या काबू नहीं दिया गया है और इस बात पर ज़ोर दिया है कि देश की असली पूंजी, उसके साधनों में, उसके सामान में और उसकी जन-शक्ति में है। इस योजना की या और किसी दूसरी योजना की कामयाबी लाज़िमी तौर पर सिर्फ़ उत्पादन पर ही नहीं निर्भर होगी बल्कि उसके लिए पैदा की हुई सारी राष्ट्रीय संपत्ति का उचित और समान वितरण ज़रूरी होगा। साथ ही खेती और ज़मीन में सुधार बुनियादी और सबसे पहली ज़रूरत है।

योजना-निर्माण और योजना-बद्ध समाज का ख़याल, अब कमो-बेश सभी लोग मानते हैं। लेकिन ख़ुद योजना के कोई मानी नहीं, और यह लाज़िमी नहीं है कि उससे अच्छे नतीजे हों। हर एक चीज़ योजना के उद्देश्य पर निर्भर होती है। किसका उस पर काबू होगा, सरकार का क्या रवैया होगा, इन दोनों बातों की भी बहुत अहमियत है। क्या उस योजना में सारी जनता की तरक्क़ी और बेहतरी का मक़सद लाज़िमी तौर पर है? क्या उस योजना में हर एक को, आज़ादी, सहयोग, संगठन और काम के लिए मौक़ा है? पैदावार को बढ़ाना ज़रूरी है लेकिन सिर्फ़ इतने ही से कोई फ़ायदा नहीं है, और शायद उससे हमारी उलझनें और बढ़ जायें। पुरानी जमी हुई रियायतों और स्थापित स्वार्थों को बनाये रखने की कोशिश, योजना की जड़ को काट देती है। सच्ची योजना को यह बात माननी होगी कि सारी जनता की बेहतरी के लिए किसी भी कार्य-क्रम में इन ख़ास रियायतों को अड़चन डालने का मौक़ा नहीं दिया जायगा सभी तरफ सूबों में कांग्रेसी सरकारों को इन बुनियादी बातों से रुकावट हुई कि वह ज्यादातर स्थापित स्वार्थों पर हाथ नहीं उठा सकती थीं। पार्लमेंट के स्टेचूट के मुताबिक़ उनकी हिफ़ाज़त होती थी। काश्तकारी कानून में थोड़ी-सी रद्दो-बदल करने की कोशिश और खेती पर की आमदनी पर इनकम टैक्स लगाने की उनकी कोशिश को भी अदालतों में फ़ैसले के लिए भेजा कि वह क़ानूनी हैं या नहीं।

अगर योजनाओं पर बड़े-बड़े उद्योगपतियों का ही क़ाबू हो तो क़ुदरती तौर पर उसका ढांचा वही होगा जिसके कि वे आदी हैं और लाज़िमी तौर पर उसकी बुनियाद मुनाफ़े की नीयत पर होगी जो इस अपने-अपने फ़ायदे की ही सोचने वाले समाज में चारों तरफ है। वे लोग कितने ही नेकनीयत क्यों न हों और उनमें कितने ही सचमुच बहुत नेकनीयत हैं, लेकिन बिलकुल नये ढंग से सोचना उनके लिए मुश्किल है। यहां तक कि जिस वक़्त वह उद्योग-धंधों पर सरकारी कब्ज़े की बात कहते हैं, तो सरकार की जो शक्ल उनके दिमाग़ में

होती है, उसमें और मौजूदा सरकार में क़रीब-क़रीब कोई फ़र्क नहीं है।

हमको कभी-कभी यह बताया जाता है, कि मौजूदा हिंदुस्तान-सरकार, जो रेलों की मालिक है, और उनका इंतज़ाम करती है, और जिसका उद्योग, पूंजी और आम ज़िंदगी पर दखल और काबू दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है, समाजवादी दिशा में आगे बढ़ रही है। इस बात को छोड़कर भी कि यह खास तौर से विदेशी नियंत्रण है एक बात और है, और वह यह है कि मौजूदा सरकार के नियंत्रण में और लोकतंत्र सरकार के नियंत्रण में बहुत बड़ा फ़र्क है। हालांकि कुछ पूंजीवादी कार्रवाइयों पर रोक है, लेकिन सारा ढांचा रियायतों की हिफ़ाज़त की बुनियाद पर खड़ा है। पुराने, हुकूमत-परस्त, ना-आबादियों के ढांचे में सिवाय कुछ खास स्वार्थों के, आर्थिक मसलों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता था। नई परिस्थिति का 'लेसैज फ़ेग्रर' ढंग से मुकाबला करने में अपनी असमर्थता को देखकर, अपनी हुकूमत-परस्ती को बनाये रखने के पक्के इरादे से वह लाज़िमी तौर पर वह नीति फ़ासिस्ट दिशा में जाती है। और आर्थिक जीवन पर फ़ासिस्ट ढंग से कब्ज़ा करने की कोशिश करती है, मौजूदा नागरिक अधिकारों को कुचल देती है और मामूली रद्दो-बदल के बाद नई हालत में अपना एकतंत्री सरकार और अपने पूंजीवादी ढांचे को जमा लेती है। इस तरह फ़ासिस्ट देशों के ढंग पर, एक आदमी की सरकार बनाने की कोशिश होती है। उद्योग-धंधों पर, राष्ट्रीय जिंदगी पर काफ़ी कब्ज़ा होता है और आज़ादी से व्यापार और काम-काज पर पाबंदियां होती हैं और पुरानी बुनियाद ज्यों-की-त्यों बनाई रखी जाती है। यह तो समाजवाद से बहुत दूर की चीज़ है; असलियत में, जहां विदेशी हुकूमत हो, वहां पर समाजवाद की बात ही बिलकुल बेमानी है। अस्थायी रूप में भी, ऐसी कोशिश कामयाब हो सकता है। इस बात में भी बहुत शक है क्योंकि उससे तो मौजूदा मसले और ज्यादा बढ़ते जाते हैं। लेकिन लड़ाई की हालत में उसे काम करने के लिए उपयुक्त वातावरण मिल जाता है। उद्योग-धंधों के पूरे राष्ट्रीयकरण से, जिसमें साथ-ही-साथ राजनीतिक लोकतंत्र नहीं है, एक दूसरे ढंग का शोषण शुरू हो जायगा। क्योंकि उस वक्त उद्योग-धंधे तो सरकार के ज़रूर होंगे लेकिन सरकार जनता की नहीं होगी।

हिंदुस्तान में हमारी बड़ी-बड़ी मुश्किलों की वजह यह है कि हम-- राजनीतिक, या सामाजिक या उद्योग-धंधों की, या सांप्रदायिक या खेती-बाड़ी की या हिंदुस्तानी रियासतों की--अपनी समस्याओं पर मौजूदा हालतों के ढांचे में ही सोच-विचार करते हैं। उसी ढांचे में, उन रियायतों और खास अधिकारों को जो उसमें चिपटे हुए है, बनाये रखकर, उन समस्याओं का हल करना नाममकिन है। अगर परिस्थिति के दबाव से कहीं छोटी-मोटी मरम्मत

कर दी जाय तो वह न ज्यादा रुक सकती है, और न रुकती ही है। पुराने मसले बने रहते हैं और नये मसले या पुराने ही मसले एक नई शक्ल में आकर खड़े हो जाते हैं। हमारा यह ढंग हमारी आदत और पुराने डर की वजह से है लेकिन उसकी सबसे बड़ी और खास वजह ब्रिटिश सरकार का वह 'फ़ौलादी ढांचा' है जो इस भग्न इमारत को संभाले हुए है।

लड़ाई ने हिंदुस्तान के मौजूदा विरोधों को—राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के विरोधों को—बढ़ा दिया है। राजनीतिक नज़र से हिंदुस्तान की आज़ादी की, पूरी स्वतंत्रता की बहुत चर्चा है, लेकिन शायद उसकी जनता, अपने इतिहास के किसी समय में भी इतने स्वेच्छाचारी शासन और, इतने व्यापक और गहरे दमन से दबी हुई नहीं रही, जितनी कि मौजूदा वक्त में और इस 'आज' से ही तो लाज़िमी तौर पर 'कल' का जन्म होगा। आर्थिक नज़र से भी, अभी अंग्रेज़ों का काबू है; फिर भी हिंदुस्तानी अर्थ-व्यवस्था म फैलाव ज़ाहिर है और वह बराबर अपने बंधनों को तोड़ देने की कोशिश कर रही है। अकाल है और चारों तरफ़ हाहाकार है, और साथ ही दूसरी तरफ़ कुछ लोगों के पास पूंजी बेहद बढ़ रही है। ग़रीबी और अमीरी, निर्माण और नाश, विच्छेद और ऐक्य, मृत विचार-धारा और नई विचार-धारा दोनों ही पहलू साथ-साथ मौजूद हैं। इन सब परेशान करने वाले पहलुओं के पीछे एक नई ताक़त है, जिसको कुचला या दबाया नहीं जा सकता।

ऊपरी तौर पर लड़ाई ने हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों और उसकी उत्पादन शक्ति को बढ़ाया है। फिर भी इसमें शक है कि इसकी वजह से कितने नये कार-बार चालू हुए हे, या सिर्फ़ पुराने कार-बार ही बढ़ गए हैं, और उन्हें ही किसी दूसरे काम मे लगा दिया गया है। लड़ाई के दौरान में हिंदुस्तानी उद्योग-धंधों के कार-बार को बताने वाले आंकड़ों से वही माप मालूम होता है, और उससे यह नतीजा निकलता है कि बुनियादी तौर पर कोई तरक्क़ी नहीं हुई। असलियत में कुछ योग्य आदमियों की यह राय ह कि लड़ाई ने, और उस दौरान में ब्रिटिश नीति ने हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की तरक्क़ी में रुकावट डाली है। डा० जान मथाई ने, जो एक प्रमुख अर्थ-शास्त्री हैं और ताता कार-बार में डाइरेक्टर हैं, हाल ही में कहा था : "यह आम खयाल···कि लड़ाई ने हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की तरक्क़ी की रफ़्तार के बेहद तेज़ कर दिया है, एक ऐसी बात है जिसके लिए अभी बहुत से प्रमाणों की आवश्यकता होगी। हां, पर सच है कि कुछ पुराने उद्योग-धंधों ने, लड़ाई की मांग की वजह से अपना उत्पादन बढ़ा दिया है, लेकिन कई नये उद्योग-धंध, जिनकी देश के लिए बुनियादी अहमियत है, और जिनको चालू करने की बाबत

लड़ाई से पहले इरादा किया जा रहा था, लड़ाई की हालतों की वजह से या तो अधूरे छोड़ दिये गए, या उनको चालू करने का इरादा ही छोड़ दिया गया। मेरी निजी राय यह है कि हिंदुस्तान में कैनाडा और आस्ट्रेलिया आदि दूसरे देशों की उलटी बात हुई है और लड़ाई का असर तेजी लाने के बजाय उसकी रफ़्तार को कम करने वाला हुआ है। हां, मैं इस बात से जरूर सहमत हूं··· कि हिंदुस्तान में अपनी बुनियादी कार-बारी ज़रूरत को पूरा करने की काफ़ी बड़ी सामर्थ्य है।" उद्योग-धंधों की कार्रवाई के बारे में जो कुछ आंकड़े मिलते हैं वह इस राय का समर्थन करते हैं और उनसे यह ज़ाहिर होता है कि लड़ाई से पहले जिस रफ़्तार से तरक्क़ी हो रही थी, अगर वह जारी रहती तो सिर्फ़ नये उद्योग-धंधे ही न क़ायम हुए होते बल्कि कुल मिलाकर यहां उत्पादन बहुत ज़्यादा बढ़ जाता।[१]

लड़ाई से एक बात ज़रूर ज़ाहिर हुई और इसमें कोई शक नहीं रहा कि अगर मौक़ा मिले तो हिंदुस्तान बहुत तेज़ी के साथ अपनी शक्ति और अपने साधनों से इस सामर्थ्य को व्यवहार में ला सकता है। एक आर्थिक इकाई की तरह से काम करते हुए, लड़ाई के इन पांच सालों में, सारी रुकावटों के होते

---

१ ३० मई १९४५ को लंदन में बोलते हुए मि० जे. आर. डी. ताता ने भी इस बात को नामंज़ूर किया कि हिंदुस्तान को अपने कार-बार या उनकी सामर्थ्य बढ़ाने में लड़ाई से काफी मदद मिली है। कहीं-कहीं पर किसी कार-बार में कुछ बढ़ती हुई हो, लेकिन कुल मिलाकर, अगर हथियारों के कार-खाने या कुछ खास कारखानों को छोड़ दिया जाय, तो कोई भी तरक्क़ी नहीं हुई। अगर लड़ाई न होती तो कई नये काम शुरू हो गये होते। मैं अपने निजी तजुर्बे से जानता हूं कि ये नये बड़े-बड़े काम सिर्फ इसलिए छोड़ दिये गए कि ईंट, फौलाद और मशीन हासिल करना नामुमकिन हो गया। जो लोग लड़ाई के दौरान में हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की और उसकी आर्थिक दशा की बेहतरी या तरक्क़ी की बात करते हैं, वे अस्लियत से बेखबर हैं।" इसके अलावा मि० ताता ने कहा, "मैं इस बुल्ले को फोड़ना चाहता हूं। यह कहना कि लड़ाई की वजह से हिंदुस्तान में काफी तरक्क़ी हुई है बिलकुल नासमझी है। किसी-न-किसी वजह से हिंदुस्तान में कोई खास तरक्क़ी या बढ़ती नहीं हुई है। बल्कि अस्लियत यह है कि हालत बदतर हो गई है। जो कुछ हुआ है, वह है कि लड़ाई की वजह से और उसमें हिंदुस्तान की मदद की वजह से बंगाल में अकाल में हमारे लाखों आदमी मर गये। हमारे यहां कपड़े का भी अकाल है। इस तरह यह जाहिर है कि आर्थिक उन्नति का भान तो उसकी अनुपस्थिति विशेष से ही होता है।"

हुए भी उसने बहुत बड़ी पूंजी और संपत्ति इकट्ठी कर ली है। उसकी यह संपत्ति 'स्टर्लिंग सिक्योरिटी' के रूप में है जो उसे मिल नहीं रहीं, और जो भविष्य में रोक दी जायगी। हिंदुस्तान-सरकार ने ब्रिटिश सरकार या संयुक्त राष्ट्र के लिए जो अपनी तरफ़ से खर्च किया, वही स्टर्लिंग सिक्योरिटी है। साथ ही यह स्टर्लिंग सिक्योरिटी हिंदुस्तान की भूख, अकाल, महामारी, कमज़ोरी, बुज़दिली, रुकी हुई बढ़वार, मौत--भूख और बीमारी से बड़ी तादाद में मौत--की निशानी है।

इस पूंजी और संपत्ति के इकट्ठे होने से, हिंदुस्तान ने इंग्लैंड का कर्ज़ चुका दिया और अब वह साहूकार देश बन गया है। बेहद लापरवाही और बद इंतज़ामी से हिंदुस्तान की जनता को बेहद तकलीफ़ हुई है लेकिन एक बात ज़रूर ज़ाहिर हुई है कि हिंदुस्तान बहुत थोड़े से वक़्त में इतनी बड़ी रक़में इकट्ठी कर सकता है। पिछले सौ से ज्यादा साल के दौरान में हिंदुस्तान में जितनी ब्रिटिश पूंजी लगी है उसके मुक़ाबले लड़ाई के पांच सालों में हिंदुस्तान का उस पर खर्च कहीं ज़्यादा है। इस तथ्य से यह बात साफ़ और सही तौर पर ज़ाहिर हो जाती है कि इन पिछले सौ बरसों में ब्रिटिश हुकूमत के दौरान में, रेल में, सिंचाई के साधनों में या और चीज़ों में, जिनके बारे में इतना हल्ला मचाया जाता है, कितनी कम तरक्क़ी हुई है। इससे यह बात भी ज़ाहिर होती है कि हिंदुस्तान में तेज़ी से चौतरफ़ा तरक्क़ी करने की कितनी ज़बर्दस्त ताक़त है। अगर इतनी ज़्यादा तरक्क़ी, जी तोड़ने वाली हालतों में हो सकती है, और वह भी एक विदेशी हुकूमत के मातहत, जो हिंदुस्तान में उद्योग-धंधों की तरक्क़ी नापसंद करती है, तो यह बात साफ़ है कि आज़ाद क़ौमी सरकार की देख-भाल में योजना-बद्ध तरक्क़ी से चंद बरसों में ही हिंदुस्तान की शक्ल बदल जायगी। मौजूदा हिंदुस्तान की आर्थिक और सामाजिक तरक्क़ी के बारे में, पिछले ज़माने की किसी भी जगह की सामाजिक तरक्क़ी की कसौटी पर उसे एक ढंग से जांचते हुए, ब्रिटिश लोगों में तारीफ़ करने की एक अजीब-सी आदत हो गई है। कई सदियों पहले, जो रद्दो-बदल की रफ़्तार थी उससे अपने पिछले सौ साल की रद्दो-बदल का मुक़ाबला करते हुए उन्हें खुद बड़ा संतोष होता है। लेकिन जिस वक़्त वह हिंदुस्तान की बाबत सोचते हैं यह बात कि औद्योगिक क्रांति ने, और खास तौर से पिछले पचास साल की ज़बर्दस्त वैज्ञानिक तरक्क़ी ने, ज़िंदगी की चाल और रफ़्तार बिलकुल बदल दी है, उनकी नज़र से किसी तरह हट जाती है। वे इस बात को भी भूल जाते हैं कि जिस वक़्त वे यहां आए थे, हिंदुस्तान बंजर उजड़ा हुआ या जंगली देश नहीं था बल्कि वह एक बहुत तरक्क़ी-याफ़्ता और सुसंस्कृत राष्ट्र था जो अस्थायी रूप से वैज्ञानिक प्रगति में निष्क्रिय या पिछड़ा हुआ हो गया था।

इस ढंग का मुक़ाबला करते हुए। हम किस तरह चीजों का मल्यांकन करें या हमारा क्या माप दंड हो ? जापानियों ने अपने फ़ायदे के लिए आठ साल में ही मंचूरिया में बेहद औद्योगिक उन्नति कर दिखाई । अंग्रेज़ों की पीढ़ियों कोशिश के बाद हिंदुस्तान में इतना कोयला नहीं निकाला जाता जितना कि इन आठ सालों के बाद मंचूरिया में । कोरिया में उनकी भौतिक तरक्क़ी की और उपनिवेश साम्राज्यों से तुलना देखने योग्य है ।[1] फिर भी इस हालत के पीछे ग़ुलामी, क्रूरता, बेइज्ज़ती, शोषण और जनता की आत्मा को मिटा देने की कोशिश है । नाज़ियों और जापानियों ने अधिकृत जनता और जातियों को बेरहमी के साथ कुचल देने के नय नमूने पेश किये हैं । हमको अक्सर इसकी याद दिलाई जाती है और हमसे कहा जाता है कि अंग्रेज़ों ने इतना बुरा बर्ताव तो नहीं किया । क्या मुक़ाबले के लिए और फ़ैसले के लिए यही मापदंड और नज़रिया होगा ?

आज हिंदुस्तान म बहुत ज़्यादा निराशा छाई हुई है; वहां एक ढंग की बेबसी है, और ये दोनों बातें समझ में आती हैं क्योंकि घटनाओं ने हमारी जनता को बुरी तरह कुचला है, और भविष्य आशापूर्ण नहीं है । लेकिन साथ

---

१ हैलेट एबेंड, जो सुदूर पूर्व में कई बरस तक 'न्यूयार्क टाइम्स' का संवाददाता था, अपनी किताब 'पैसिफिक चार्टर' में कहता है, "जापानियों के साथ इंसाफ करते हुए यह बात माननी होगी कि कोरिया में उन्होंने बहुत शानदार काम किया है । जब उन्होंने वहां पर कब्ज़ा किया था, तो वह जगह गंदी थी, अस्वास्थ्यकर थी, और वहां बेहद गरीबी थी । पहाड़ों पर जंगल उजड़ गये थे, घाटियों में बराबर बाढ़ आती रहती थी, अच्छी सड़कों का नाम-निशान भी नहीं था, चारों तरफ निरक्षरता थी, और हर साल मोतीझला, चेचक, हैजा, पेचिश, प्लेग की महामारी आती थी । आज वहां के पहाड़ों पर जंगल आबाद हैं । रेलवे, टेलीफोन और तार का इंतजाम बहुत बढ़िया है, अच्छी सड़कों की बहुतायत, बाढ़ की रोक और सिंचाई के माकूल इंतज़ाम से वहां की खाद्य पैदावार बेहद बढ़ गई है । बहुत बढ़िया बंदरगाह बन गए हैं, और उनका बहुत ही बढ़िया इंतजाम है । यह देश इतना समृद्ध और स्वास्थ्यकर हो गया है कि १९०५ में इसकी आबादी १,१०,००,००० थी और अब आबादी २,४०,००,००० है । पिछली सदी के अंत में, जो रहने की हैसियत थी, उसके मुकाबले आजकल का रहना-सहना बेहद बेहतर है ।" लेकिन मि० एबेंड ने बताया है कि यह भौतिक उन्नति कोरिया के निवासियों के फायदे के लिए नहीं हुई, बल्कि इसलिए कि जापानी उससे ज़्यादा-से-ज़्यादा मालामाल हो सकें ।

हा सतह के नीचे हलचल है, आगे बढ़ने की कोशिश है, नई जिंदगी और नई ताक़त के चिह्न हैं, और अज्ञात शक्तियां काम कर रही हैं। नेतागण चोटी पर काम करते हैं, लेकिन वे उस जगती हुई जनता का, जो भूतकाल को पार कर आगे बढ़ गई है, अस्पष्ट और अचेतन इच्छा की दिशा में बहे चले जाते हैं।

८ : हिंदुस्तान की बाढ़ मारी गई

आदमी की तरह राष्ट्र के भी कई व्यक्तित्व होते हैं; और जिंदगी के अनेक नज़रिये होते हैं। अगर इन मुख़ालिफ़ नज़रियों में एक आपस का गहरा संबंध होता है तो ठीक है, वरना ये व्यक्तित्व अलग-अलग हो जाते हैं और इससे बरबादी और परेशानी होती है। आमतौर पर एक ऐसी प्रक्रिया चलती रहती है कि उनमें आपस में मेल बैठ जाता है और सम-तोल पैदा हो जाता है। लेकिन अगर स्वाभाविक बाढ़ रोक दी जाय, या कोई रद्दोबदल इतनी तेजी से हो कि उसको आसनी से अपनाया न जा सके, तो इन अलग-अलग नजरियों म आपस में संघर्ष पैदा हो जाता है। हिंदुस्तान के दिल और दिमाग में, हमारे ऊपरी झगड़ों और भेद-भावों की सतह के नीचे बहुत अर्से से बाढ़ पर रोक की वजह से यह बुनियादा संघर्ष रहा है। अगर किसी समाज को मज़बूत और प्रगतिशील होना है तो उसकी एक कमोबेश निश्चित उसूली बुनियाद होनी चाहिए और साथ ही उसका एक जिंदा नज़रिया होना चाहिए। इस ज़िंदा नज़रिये के बग़ैर सड़न और बरबादी होती है। उसूलों की निश्चित बुनियाद के बिना, विच्छेद और विनाश का इमकान रहता है।

आदिकाल से ही हिंदुस्तान में उन बुनियादी उसूलों की—अपरिवर्तन-शील, विश्व-व्यापी और पूर्ण की खोज हुई। साथ ही गतिशील नज़र थी, और दुनिया की तब्दीली और ज़िंदगी की जानकारी था। इन दो बुनियादों पर हर एक मज़बूत और प्रगतिशील समाज बनाया गया, हालांकि हमेशा ही जोर मजबूती और हिफ़ाज़त और जाति को बनाये रखने पर दिया गया। बाद में गतिशील नज़र फीकी पड़ने लगी और सनातन उसूलों पर सामाजिक ढांचा एसा बनाया गया, जिसमें न तो लचीलापन था और न रद्दो-बदल की गुंजाइश। असलियत में वह बिलकुल सख़्त तो नहीं था, और उसमें धीरे-धीरे बराबर रद्दो-बदल हुई। लेकिन उसके पीछे जो आदर्श था, उसका ढांचा आम तौर से ज्यों-का-त्यों बना रहा। इस ढर्रे के ख़ास-ख़ास खंभे थे, सामूहिक स्वावलंबी ग्राम्य-जीवन, संयुक्त परिवार और करीब-क़रीब स्वाधीन जातियां। इन सब में वर्ग समुदाय की भावना थी। ये खंभे इतने अर्से तक इसलिए बने रहे कि कुछ खामियों के होते हुए भी, उनसे मानव-स्वभाव और समाज की कुछ खास ज़रू-रतें पूरी होती थीं। उस ढांचे में हर समुदाय की हिफ़ाज़त थी। मज़बूती

था, और साथ ही एक ढंग से सामुदायिक स्वतंत्रता थी। वर्ण-व्यवस्था इसलिए बनी रही कि उसमें समाज के साधारण शक्ति-संबंध का प्रतिनिधित्व होता रहा और वर्ग विशेषाधिकार इसलिए बने रहे कि न सिर्फ़ उस वक़्त का आदर्श हो उनके अनुकूल था बल्कि उनको ताक़त, अक़्ल, क़ाबलियत और इनके साथ ही आत्म-बलिदान का सहारा मिला। उस आदर्श की बुनियाद अधिकारों के संघर्ष पर नहीं थी, बल्कि उसकी बुनियाद एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य पर, उस कर्त्तव्य को पूरी तरह निभाने पर, उस समुदाय में सहयोग पर और अलग-अलग समुदायों के आपसी मेल पर और ख़ास तौर से लड़ाई पर नहीं, बल्कि शांति बनाये रखने पर, थी। हालांकि सामाजिक ढांचे में लचीलापन नहीं था, फिर भी दिमाग़ी आज़ादी पर किसी तरह की पाबंदी नहीं थी।

हिंदुस्तानी सभ्यता बहुत हद तक अपने मक़सद पर पहुंच गई, लेकिन उस तरक़्क़ी के दौरान में ज़िन्दगी ग़ायब होने लगी, क्योंकि ज़िंदगी तो इतनी ज़्यादा गतिशील है, कि वह बहुत अर्से तक ऐसे घेरे में नहीं रह सकती जो न तो लचीला हो और न जिसमें रद्दो-बदल की गुंजाइश हो, यहां तक कि अगर उन बुनियादी उसूलों को, जिन्हें अपरिवर्तनशील कहा जाता है, पूरी तरह मान लिया जाय और उनके लिए खोज बंद हो जाय, तो उनकी ताज़गी, उनकी सचाई ख़त्म हो जाती है। सच, ख़ूबसूरती, और आज़ादी के ख़याल भी मुरझाते हैं और किसी निर्जीव ढर्रे से चिपटे रहने से हम ग़ुलाम बन जाते हैं।

ठीक वही चीज़, जिसकी हिंदुस्तान के पास कमी थी, पच्छिम के पास मौजूद थी, और वहां वह मौजूद थी ज़रूरत से ज़्यादा तादाद में। उसका नज़रिया गतिशील था। बदलती हुई दुनिया में उसकी दिलचस्पी थी। न बदलने वाले और व्यापक आख़िरी उसूलों की उसे परवाह नहीं थी। उसने फ़र्ज़ और ज़िम्मेदारियों पर क़रीब-क़रीब बिलकुल ध्यान नहीं दिया, बल्कि उसने अधिकारों पर जोर दिया। वह सक्रिय थी, आक्रामक थी और वह ताक़त, हुकूमत और कब्ज़ा चाहती थी। मौजूदा वक़्त पर उसकी निगाह थी और भविष्य में उसके कार्यों का क्या नतीजा होगा, उसे इसकी परवाह नहीं थी। चूंकि वह गतिशील थी, इसीलिए उसमें प्रगति थी, ज़िंदगी थी लेकिन उस ज़िंदगी में एक बुख़ार था और उसका ताप-क्रम (टेम्परेचर) बराबर बढ़ता गया।

अगर हिंदुस्तानी सभ्यता इस वजह से मुरझाई कि उसमें गतिहीनता थी, उसका सारा ध्यान अपने में ही था और उसकी अपने-आपसे बहुत ममता थी, तो दूसरी तरफ़ आधुनिक पच्छिमी सभ्यता, कई दिशाओं में बहुत ज़्यादा तरक़्क़ी के होते हुए भी ख़ास तौर से कामयाब नहीं हुई और न वह अब तक ज़िंदगी के बुनियादी मसलों को ही हल कर पाई है। संघर्ष उसमें शुरू से है, और जब-तब बहुत बड़े पैमाने पर वह सभ्यता अपनी बरबादी के काम में जुट

जाती है। ऐसा महसूस होता है कि उसमें किसी ऐसी चीज़ की कमी है, जो उसे पायदारी दे। उसमें ज़िंदगी को सार्थक बनाने वाले किन्हीं बुनियादी उसूलों की कमी है। लेकिन वह उसूल कौन से हैं, मैं खुद नहीं कह सकता। फिर भी चूंकि वह गतिशील है, उसमें ज़िंदगी है, जिज्ञासा है, इसलिए उसके लिए कुछ उम्मीद है।

हिंदुस्तान और साथ ही चीन को पच्छिम से सबक सीखना चाहिए। आधुनिक पच्छिम के पास सिखाने को बहुत कुछ है, और इस युग की भावना की पच्छिम नुमाइंदगी करता है। लेकिन जाहिर है, पच्छिम को भी बहुत-कुछ सीखने की ज़रूरत है। अगर पच्छिम ज़िंदगी की गहरी बातों को, जिन पर हर युग में हर देश के विचारकों का दिमाग़ बराबर ग़ौर करता रहा है, नहीं सीखता तो उसको अपनी सारी वैज्ञानिक तरक्क़ी से भी कोई खास आराम नहीं मिलेगा।

हिंदुस्तान गति-हीन बन गया था, फिर भी यह ख़याल बिलकुल ग़लत होगा कि उसमें तब्दीली नहीं हुई। बिलकुल तब्दीली न होने के मानी हैं मौत। एक बहुत उन्नत राष्ट्र की हैसियत से उसका बना रहना यह बताता है कि उसमें अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की कोई-न-कोई प्रक्रिया बराबर चलती रही। जिस वक्त अंग्रेज हिंदुस्तान में आए, वह वैज्ञानिक तरक्की में कुछ पिछड़ा हुआ ज़रूर था, फिर भी दुनिया की बहुत बड़ी तिजारती कौमों में से एक था। यक़ीनी तौर पर वैज्ञानिक तब्दीलियां भी हुई होतीं, और पश्चिमी देशों की तरह हिंदुस्तान भी बदल जाता; लेकिन ब्रिटिश ताक़त से उसकी बाढ़ रुक गई। औद्योगिक तरक्क़ी रुकी, और उसकी वजह से सामाजिक तरक्क़ी में भी रुकावट आई। समाज के स्वाभाविक शक्ति-संबंध आपस में मेल नहीं खा सके, और सम-तौल नहीं हो सका, क्योंकि सारी ताकत तो विदेशी हुकूमत के हाथों में थी, और उसने अपनी बुनियाद ताक़त पर बनाई, और उसने उन वर्ग और समुदायों को, जिनकी अब कोई ख़ास अहमियत नहीं रह गई थी, बढ़ावा दिया। हिंदुस्तानी ज़िंदगी इस तरह दिन-ब-दिन ज़्यादा अस्वाभाविक हो गई, क्योंकि उन व्यक्तियों और समदायों के लिए, जिनका उसमें ख़ास हाथ था, अब कोई खास काम तो बाक़ी नहीं रहा, फिर भी विदेशी हुकूमत के सहारे वे बने रहे। इतिहास में उनका अभिनय तो बहुत पहले खत्म हो चुका था और अगर उन्हें विदेशी मदद न मिली होती तो नई ताक़तों ने उनको एक तरफ़ हटा दिया होता। वे विदेशी हुकूमत के निर्जीव प्रतीक बन गये, जो मशीन की तरह बिलकुल उसी के इशारों पर थे। इस तरह राष्ट्र की गतिशील धाराओं से वे और ज़्यादा अलहदा हो गये। आम हालत में तो इन्क़लाब के ज़रिये या क़िसी लोकतंत्री प्रक्रिया से, वे या तो जड़ से मिटा दिये जाते, या उनको मना-

सिब जगह पर पहुंचा दिया जाता। लेकिन जब तक विदेशी, हुकूमत-परस्त सरकार-मौजूद थी, ऐसी कोई तब्दीली नहीं हो सकती थी। इस तरह गुज़रे ज़माने की निशानियों का हिंदुस्तान में एक जमघट बना दिया गया और जो असली तब्दीली हो रही थी वह ऊपरी ग़ैर-क़ुदरती तह के नीचे दबा दी गई। कोई भी सामाजिक सम-तौल या समाज में आपस का शक्ति-संबंध, इस तरह न तो बढ़ सकता था और न प्रकट हो सकता था। झूठे मसलों की अहमियत बहद बढ़ गई।

आज हमारे ज्यादातर मसले इस रुकी हुई बाढ़ और ब्रिटिश हुकूमत द्वारा सहज स्वाभाविक व्यवस्था पर रोक की वजह से हैं। अगर बाहरी दखल न हो तो हिंदुस्तानी रजवाड़ों का मसला बहुत आसानी से हल हो सकता है। अल्प-संख्यकों का मसला और जगहों के अल्प-संख्यकों के मसले से बिलकुल अलग ढंग का है; अस्लियत में वह अल्प-संख्यकों का मसला ही नहीं ह। उसके कई पहलू हैं और बेशक गुजरे वक्त में या मौजूदा वक्त में हम उसके इलज़ाम से बच नहीं सकते। लेकिन इन मसलों के या और दूसरे मसलों के पीछे ब्रिटिश सरकार को, जहां तक मुमकिन हो सके, हिंदुस्तानी जनता के मौजूदा राजनीतिक संगठन और अर्थ-व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने की ख्वाहिश है। इसी ग़रज से वह समाज के पिछड़े हुए लोगों का उनकी मौजूदा हालत में बनाये रखना चाहती है, और इसके लिए बढ़ावा देती है। राजनीतिक और आर्थिक तरक्क़ी खुले तौर पर सिर्फ़ रोकी ही नहीं गई बल्कि उराके लिए यह लाज़िमी कर दिया गया है कि प्रतिक्रियावादी दलों और स्थापित स्वार्थों से पहले उसका समझौता हो। अगर भविष्य के इंतज़ाम में इन पिछड़े हुए लोगों को अहमियत दे दी जाय या उनके विशेषाधिकारों या रिआयतों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखा जाय, सिर्फ़ तभी यह तरक्क़ी खरीदी जा सकती है। इसके मानी यह होंगे कि असली रद्दो-बदल या तरक्क़ी के रास्ते में हम भयंकर अड़चनें खड़ा कर लें। एक नये विधान में मज़बूती और असर के लिए, सिर्फ़ अधिकांश जनता की इच्छाओं की ही नुमाइंदगी होना ज़रूरी नहीं है, बल्कि उसमें सामाजिक शक्तियों और उनके आपसी संबंधों की भी साफ़ झलक होनी चाहिए। हिंदुस्तान की ख़ास मुश्किल यह रही है, कि भविष्य के बारे में जो वैधानिक इंतज़ाम, अंग्रेज़ों या बहुत से हिंदुस्तानियों ने सुझाये हैं, उनम इन मौजूदा सामाजिक शक्तियों की और खास तौर से उन बड़ी शक्तियों की, जो बहुत अर्से से रोक दी गई हैं, और जो बाहर फूटी पड़ रही हैं, अवहेलना का गई है। इसके अलावा उस वैधानिक इंतजाम में एक ऐसे ढांचे को लादा जा रहा है, जिसमें लचीलापन नहीं है, जिसकी बुनियाद गुज़रे वक़्तों के संबंध पर है, जो अब ग़ायब होता जा रहा है, और जो अस्लियत में अब बेकार है।

हिंदुस्तान में जो बुनियादी सचाई है, वह यह है कि यहां ब्रिटिश फ़ौज है, और एक ऐसी नीति है, जो उस फ़ौज के सहारे चलती है। कई ढंग से उस नीति को बताया जा चुका है। अक्सर उसको अस्पष्ट शब्दावली की पोशाक पहनाई गई है लेकिन इधर एक फ़ौजी वाइसराय ने उसे साफ बताया है। जहां तक ब्रिटिश लोगों का बस चलेगा, यह फ़ौजी कब्ज़ा बना रहेगा। लेकिन हैवानी ताक़त के इस्तेमाल का भी आख़िर हद है। उससे न सिर्फ़ विरोधी ताक़तों की तरक्क़ी होती है, बल्कि उसके कई ऐसे नतीजे और होते हैं, जिनके बारे में उन लोगों ने, जो उस ताक़त के भरोसे रहते हैं, पहले कभी सोचा भी नहीं था।

हिंदुस्तान की तरक्क़ी को जबर्दस्ती कुचलने और रोकने के नतीजे हमारे सामने हैं। सबसे ज्यादा ज़ाहिर बात तो यह है कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन निर्जीव है, और उससे हिंदुस्तान की ज़िंदगी कुचल दी गई है। विदेशी राज्य, अधिकृत जनता की सृजनात्मक शक्ति से बिलकुल अलहदा रहता है। जिस समय इस विदेशी राज्य का आर्थिक और सांस्कृतिक केन्द्र, गुलाम देश से बहुत दूर होता है, और साथ ही अगर उसमें जातीय भेद-भाव मौजूद हो तो, यह परित्याग पूरा हो जाता है, और ग़ुलाम जनता की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मौत हो जाती है। राष्ट्र की रचनात्मक शक्ति को अगर कोई सच्चा मैदान मिलता है तो वह शासन के खिलाफ़ किसी विरोध के सिलसिले में होता है, फिर भी वह मैदान संकरा होता है, और नज़रिया इकतरफ़ा, और तंग होता है। वह विरोध तो उस चेतन या अचेतन कोशिश की निशानी है जो सीमित करने वाले खोल को तोड़ने के लिए हो रही है। इस तरह यह एक प्रगतिशील और अनिवार्य प्रवृत्ति है। लेकिन यह विरोध इतना नकारात्मक और इकतरफ़ा होता है कि हमारी जिन्दगी की सचाई के कई पहलू उससे अलग रहते हैं। भेद-भाव, तरफ़दारी, शक़, बढ़ जाते हैं और दिमाग़ पर अपनी छाया डालते हैं। असली मसलों के हल और उनकी छान-बीन की जगह वर्ग या जाति की भावना आ जाती है और ख़ास नारे या बंधे फ़िकरे दिमाग़ में घर कर लेते हैं। बंजर, विदेशी हुकूमत के ढांचे में कोई कारगर हल मुमकिन नहीं है। हल न किये जाने की वजह से राष्ट्रीय मसलों का तीखापन और भी ज्यादा हो जाता है। हम हिंदुस्तान में एक ऐसी हालत में पहुंच गये हैं कि अधूरे रद्दो-बदल से हमारे मसले हल नहीं हो सकते, और किसी एक पहलू की तरक्क़ी काफ़ी नहीं हो सकती। एक बहुत बड़ा क़दम उठाने की ज़रूरत है, और हर तरफ़ आगे बढ़ना होगा वरना इसका नतीजा होगा भयंकर सर्वनाश।

सारी दुनिया की तरह हिंदुस्तान में भी एक दौड़ चल रही है। यह दौड़ शान्तिपूर्ण प्रगति और निर्माण की शक्तियों में और विध्वंस और विनाश की शक्तियों में है। पिछली शक्तियों में हर बार विनाश, पहले के

अपेक्षा ज्यादा बड़े पैमाने पर होता है। अपने दिमाग़ी गठन या अपने स्वभाव के अनुसार हम इस दृश्य को आशावादी और निराशावादी की तरह देख सकते हैं। जिनको विश्व की घटनाओं के ईश्वरीय संचालन में विश्वास है, और जिनके लिहाज से अख़ीर में सत्य की ही जीत होगी तो वे सौभाग्य से, ईश्वर पर जिम्मेदारी डालकर दर्शक या सहायक हो सकते हैं। दूसरे लोगों को तो यह बोझ अपने कमज़ोर कंधों पर ढोना होगा, और पूरी आशा रखते हुए भी उन्हें हर नतीजे के लिए तैयार रहना होगा।

६ : धर्म, फ़िलसफ़ा और सायंस

हिंदुस्तान का बहुत हद तक बीते हुए जमाने से नाता तोड़ना होगा, और वर्तमान पर उसका जो आधिपत्य है उसे रोकना होगा। इस गुज़रे ज़माने का बेजान लकड़ी के बोझ से हमारी ज़िंदगी दबी हुई है; जो मुर्दा है और जिसने अपना काम पूरा कर लिया है उसे जाना होता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि गुज़रे ज़माने की उन चीज़ों से हम नाता तोड़ दें या उनको भूल जायं जो ज़िंदगी देने वाली हैं, और जिनकी अपनी अहमियत है। हम उन आदर्शों को नहीं भूल सकते जिन्होंने हमारी जाति को प्रेरित किया है। हिंदुस्तानी जनता के युगों से चले आने वाले सपनों को, पुराने लोगों के ज्ञान को, ज़िंदगी और प्रकृति में अपने पुरखों के प्रम और उमंग को, उनकी मानसिक खोज और जिज्ञासा की भावना को, उनके विचार की साहसिकता को, साहित्य, कला और संस्कृति में उनकी प्रतिभा को, सच, ख़ूबसूरती और आज़ादी के लिए उनकी मुहब्बत को, उनके बनियादा मूल्य-निर्धारण को, ज़िंदगी के रहस्य के उनके ज्ञान को, दूसरों के प्रति उनकी रवादारी को, दूसरे व्यक्ति और उनकी संस्कृति को अपनाने की सामर्थ्य को, उनका समन्वय कर एक बहु-अंगी मिली-जुली संस्कृति बनाने की क्षमता को, हम अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सकते। और न हम उन अन-गिनित अनुभवों को ही भुला सकते हैं जिन्होंने हमारी प्राचीन जाति को बनाया, और जो हमारे उपचेतन मन में जमे हुए हैं। हम उन्हें कभी नहीं भूलेंगे और अपनी इस ऊंची परंपरा के संबंध में हमारा गर्व हमेशा बना रहेगा। अगर हिंदुस्तान उन्हें भूल जायगा तो हिंदुस्तान वह चीज़ नहीं रहेगा जिससे हमें उस पर खुशी और शान महसूस होती है।

हमको नाता इससे नहीं तोड़ना है, बल्कि युगों पुरानी उस धूल और मिट्टी से जिसने उसे ढक दिया है और जिसने उसकी अंदरूनी ख़ूबसूरती और सचाई को छिपा दिया है; उस फालतू या विकृत हिस्से को, जिसने उसकी भावना को जड़ बना दिया, और उसे भ्रष्ट कर दिया है, सख़्त ढांचों में कस दिया है, और उसकी तरक्क़ी को रोक दिया है। हमको इन फालतू हिस्सों को

अलग करना है, पुरान ज्ञान को एक बिलकुल नये सिरे से अपनाना है और उसको मौजूदा हालतों से उसका मेल बिठाना है। सोचने और रहने के परंपरागत ढर्रों से हमें बाहर आना है। इन ढर्रों ने गजरे जमाने में जो भी फ़ायदा पहुंचाया हो, इन ढर्रों में सचमुच बहुत अच्छाई थी, लेकिन आज उनमें कोई अहमियत नहीं है। सारी मानव जाति की उपलब्धियों को हमें अपनाना है, दूसरों के साथ मानव के दिलचस्प अन्वेषण और साहसिक प्रयत्नों में शरीक होना है। शायद पुराने जमाने के मकाबले में ये अन्वेषण अब ज्यादा दिलचस्प हैं, क्योंकि यह याद रखना है कि अब उसमें क़ौमी सीमायें, या पुराने विभाजन नहीं रहे, और अब उस खोज में सभी जगह के आदमी शरीक हैं। सच, खूबसूरती और आज़ादी के लिए उस भूख को हमें फिर जगाना है, जिससे जिंदगी में सार्थकता होती है। हमें फिर से गतिशील नज़रिये और खोज की उस भावना को बढ़ाना है जिसने हमारी उस जाति को प्रमुख बनाया, जिसके सदस्यों ने पुराने जमाने में हमारी इमारत को मजबूत और स्थायी बनियाद पर खड़ा किया। हम लोग पुराने हैं, और मानव-इतिहास और प्रयत्न के आदि-काल तक हमारी स्मृतियां फैली हुई हैं। हमको मौजूदा वक्त के सुर-से-सुर मिलाते हुए, मौजूदा वक़्त में जवाना के उठते जोश और उल्लास के साथ, और भविष्य में यक़ीन के साथ, फिर से जवान बनना है।

अख़ीरी अस्लियत की शक्ल में अगर कोई सच है, तो वह सनातन, अमर और अपरिवर्तनशाल होगा; लेकिन उस अपरिवर्तन शील, शाश्वत और अनंत सत्य का, मनुष्य का सीमित मस्तिष्क पूरी तरह भान नहीं कर सकता। वह तो ज़्यादा-से-ज़्यादा उसके किसी ऐसे छोटे से पहलू को समझ सकता है जो समय आर स्थान से सीमित हो, और जिसे समझने में उसे दिमाग़ की तरक्क़ी के दर्जे और उस ज़माने के आदर्श के लिहाज़ से आसानी हो। ज्यों-ज्यों दिमाग़ तरक्क़ी करता जाता है और उसका मैदान फैलता जाता है, ज्यों-ज्यों आदर्श बदलता जाता है और सत्य को जताने के लिए नये प्रतीक आ जाते हैं, उसके नये पहलुओं पर रोशनी पड़ती जाती है। ऐसा मुमकिन है कि अब भी उसकी बुनियाद वही हो जो पहले थी। इसीलिए सच की हमेशा खोज करनी होती है, उसको नया करना होता है, उसको नई शक्ल देनी होती है, और उसे बढ़ाते रहना होता है, ताकि वह विचार-धारा की बढ़वार और इंसानी ज़िंदगी की रद्दो-बदल के अनुरूप रह सके। सिर्फ़ उसी वक्त वह मानवता के लिए सजीव सत्य बन सकता है और उसकी उस लाज़िमी जरूरत को पूरा कर सकता है जिसके लिए वह मानवता तड़पती है। तभी वह मौजूदा वक्त में या भविष्य में पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

अगर पुराने जमाने में किसी अंध-विश्वास से सच का कोई पहलू निर्जीव

बना दिया गया, तो न वह बढ़ता है और न वह मानवता की बदलती हुई ज़रूरतों के अनुरूप ही हो सकता है। उसके दूसरे पहलू छिपे रहते हैं; और वह बाद के ज़माने में अहम सवालों का जवाब नहीं दे पाता। अब वह गतिशील नहीं बल्कि गतिहीन हो जाता है, अब उसमें जिंदगी देने वाली ताक़त नहीं होती बल्कि वह एक मुर्दा ख़याल या मुर्दा रिवाज़ रह जाता है। दिमाग़ और समाज की तरक्क़ी के लिए वह अब एक रुकावट बन जाता है। शायद असलियत यह है कि जिस ज़माने में वह पैदा हुआ था और जिस ज़माने की भाषा और निशानियों की उसे पोशाक पहनाई गई थी उस ज़माने में यह जिस रूप में समझा जाता था अब नहीं समझा जाता। बाद के ज़माने में उसका संदर्भ बिलकुल अलग होता है, मानसिक वातावरण बदला हुआ होता है। नई सामाजिक रीतियां या परंपरायें पैदा हो जाती है, और अक्सर उस पुराने लेख के मतलब को और ख़ासतौर से उसकी भावना को समझने में मुश्किल होती है। इसके अलावा जैसा कि अरविंद घोष ने कहा है, हर सच, चाहे उसमें कितनी ही सचाई क्यों न हो, उन दूसरी सचाइयों से अलहदा करने पर जो उसे फ़ौरन ही सीमित कर देती हैं, और जो उसे पूरा करती हैं, दिमाग़ को ग़ुलाम बनाने वाला फंदा हो जाता है, और वह एक ऐसा यक़ीन होता है, जो ग़लत रास्ते पर ले जाता है। असलियत में वह अकेला सच, ताने-बाने के जटिल धागों मे से एक है, और उस ताने-बाने से किसी भी धागे को अलहदा नहीं निकालना चाहिए।

मानवता की तरक्क़ी में मजहबों ने बहुत मदद की है; उन्होंने चीज़ों की कीमत तै की है, मापदंड बनाये हैं और जिंदगी में रास्ता दिखाने वाले उसूलों को बताया है। लेकिन जो कुछ भलाई उन्होंने की है, उसके साथ ही ख़ास शक्ल या पक्के यक़ीनों में उन्होंने सच को क़ैद करने की भी कोशिश की है। उन्होंने ऊपरी रख-रखाव और ढर्रे को बढ़ावा दिया है। कुछ ही अर्से में इन ढर्रों का असली मतलब गायब हो जाता है और तब सिर्फ़ एक ढंग की खानापूरी बाकी रह जाती हैं। आदमी के चारों तरफ़ जो अज्ञात शक्ति है, मजहब ने उसके रहस्य और अचंभे की, आदमी को अहमियत जताई है। लेकिन साथ ही उसने न सिर्फ़ उस अज्ञात को समझने की कोशिश की बल्कि सामाजिक प्रयत्न को समझने की कोशिश को रोका भी है। जिज्ञासा और विचार को बढ़ावा देने की जगह उसने प्रकृति के सामने, स्थापित सम्प्रदाय के सामने, और सारी मौजूदा व्यवस्था के सामने सिर झुकाने की फिलासफी का प्रचार किया है। इस यक़ीन से कि कोई दवी ताक़त सारी चीज़ों का इंतज़ाम करती है, एक ढंग की ग़ैर-जिम्मेदारी-सी आ गई है। तर्क-संगत विचार और खोज की जगह भावुकता ने ले ली है। हालांकि इसमें शक नहीं कि अपने मूल्यांकन से धर्म ने अनगिनित आदमियों को आराम पहुंचाया है, और समाज को स्थायी बनाया

है लेकिन उसने मानव-समाज की जन्म-जात उन्नति और रद्दो-बदल की प्रवृत्ति को रोका है।

दर्शन इनमें से ज़्यादातर खाइयों से अलहदा रहा है और उसने खोज और विचार को बढ़ावा दिया है। लेकिन आम तौर से वह एक हवाई महल में रहा है। ज़िंदगी और उसके रोज़मर्रा के सवालों से उसका कोई नाता नहीं है। उसकी सारी निगाह अख़ीरी मकसद पर है, और आदमी की ज़िंदगी के और उसके बीच में कोई जोड़ने वाली कड़ी नहीं है। तर्क और बुद्धि उसके निर्देशक थे, और वे उसे कई दिशाओं में काफी दूर ले गये। लेकिन वह दलील, ज़रूरत से ज़्यादा दिमाग़ी थी और उसका असलियत से कोई ताल्लुक़ नहीं था।

विज्ञान ने अख़ीरी मक़सदों पर ध्यान नहीं दिया और सिर्फ असलियत पर ही ग़ौर किया। उसकी वजह से दुनिया लंबी छलांग भरकर आगे बढ़ गई, एक भड़कीली सभ्यता बन गई, जानकारी बढ़ाने के अनगिनित रास्ते खुल गये और उसने आदमी की ताक़त इस हद तक बढ़ा दी कि पहली दफ़ा यह सोचना मुमकिन हुआ कि अपने भौतिक वातावरण को इंसान जीत सकता है और उसमें रद्दो-बदल कर सकता है। आदमी एक ढंग से ऐसी भूगर्भिक शक्ति बन जाता है जो पृथ्वी-ग्रह की शक्ल, रासायनिक, भौतिक और कई दूसरे ढंग से बदल सकता है। लेकिन ठीक जिस वक़्त चाज़ों की यह दुखद योजना क़रीब-क़रीब उसके क़ाबू में मालूम हुई, और ऐसा महसूस हुआ कि वह दिली ख्वाहिश के मुताबिक़ चीज़ों को ढाल सकता है, किसी बुनियादी चीज़ की कमी, किसी खास चीज़ का ग़ैर-हाज़िरी खटकी। अख़ीरी मक़सद की कोई जानकारी नहीं थी, यहां तक कि मौजूदा मक़सद का भी कुछ पता नहीं था। विज्ञान ने ज़िंदगी के उद्देश्य के बारे में तो कुछ बताया ही नहीं था। साथ ही उस आदमी में, जिसमें क़ुदरत पर क़ाबू पाने की ज़बर्दस्त ताक़त थी, अपने पर क़ाबू करने की ताक़त नहीं थी, और अब वह राक्षस जिसको उसने तैयार किया था, चारों तरफ़ बरबादी करने लगा। शायद जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान या ऐसे ही और विज्ञान के नये विकास से और जीव-विज्ञान और भौतिक विज्ञान की व्याख्या से आदमी को अपने को समझने और अपने पर क़ाबू पाने में पहले के मुक़ाबले ज़्यादा मदद मिले। यह भी मुमकिन है कि इसके पहले कि ऐसी तरक्क़ियों से आदमी की ज़िंदगी पर काफ़ी असर पड़े, वह आदमी अपनी बनाई हुई सभ्यता को बरबाद कर डाले, और उसे फिर नये सिरे से शुरू करना पड़े।

अगर विज्ञान को आगे बढ़ने का मौक़ा दिया जाय तो ज़ाहिरा उसकी उन्नति की कोई हद नहीं दिखाई देती। फिर भी ऐसा हो सकता है कि चाज़ों को देखने का वैज्ञानिक ढंग हर तरह के मानव-अनुभव के लिए लागू न हो सके और वह हमारे चारों तरफ़ के अनजाने समुद्र को पार न कर सके। फ़िलसफ़े

की मदद से वह कुछ और आगे जा सकता है, और जब विज्ञान और दर्शन दोनों ही आगे न चल सकें तो हमको ऐसी दूसरी ज्ञान-शक्तियों का सहारा लेना होगा जो हमारे लिए मुमकिन हों। ऐसा मालूम होता है कि एक ऐसी आखिरी हद है जिसके आगे अक्ल (कम-से-कम जैसी कि वह आजकल है) नहीं जा सकती। पैस्कल कहता है कि "तर्क का आखिरी क़दम यह है कि वह जान ले कि उससे परे अनंत चीज़ें हैं। अगर वह उन तक नहीं पहुंच सकता तो वह कमजोर है।"

दलील और सायंस के तरीक़े की इन खामियों को जानते हुए भी, हमको उन्हें अपनी सारी ताक़त से पकड़े रहना है क्योंकि बिना उस मज़बूत पृष्ठ-भमि या बुनियाद के, हम किसी भी सच या असलियत को पकड़ नहीं सकते। सच के थोड़े से हिस्से को ही समझना और ज़िंदगी में उसे अमल मे लाना, कुछ न समझने और अस्तित्व के रहस्य को खोज पाने की बेकार कोशिश में इधर-उधर भटकने के मुक़ाबले में बेहतर है। हर देश के लिए और हर जाति के लिए, आज सायंस का इस्तमाल लाज़िमी और ज़रूरी है। वैज्ञानिक ढंग में साहसपूर्ण खोज है, फिर भी साथ ही आलोचना और छान-बीन है, उसमें सच की और नये ज्ञान की तलाश है, लेकिन बिना जांच के, विना प्रयोग के किसी चीज़ को मान लेने से इंकार है, उसमें नये प्रमाणों के मिलने पर पिछले नतीजों को बदल सकने की सामर्थ्य है। उसमें प्रत्यक्ष सच पर भरोसा है न कि दिमाग़ी या काल्पनिक बातों पर। इन सब चीज़ों की सिर्फ़ सायंस में ही ज़रूरत नहीं होती बल्कि खुद ज़िंदगी और उसके बहुत से मसलों को हल करने के लिए भी उनकी ज़रूरत है। बहुत से वैज्ञानिक, जो अपने आपको विज्ञान का पुजारी समझते हैं, अपने खास दायरों के बाहर, उसके बारे में सब-कुछ भूल जाते हैं। वैज्ञानिक ढंग या स्वभाव, जीवन का ढंग है या कम-से-कम उन्हें ऐसा होना चाहिए। वह तो सोचने का, काम करने का और अपने साथियों से सहयोग का एक ढंग है। यह एक बहुत बड़ी चीज़ है और निस्संदेह बहुत ही कम लोग शायद ऐसे निकल सकेंगे जो थोड़ी हद तक भी इस ढंग से काम कर सकें। लेकिन यह आलोचना तो पूरी तौर से या बहुत ज्यादा हद तक उन प्रवचनों या आदेशों के लिए लागू होती ह जो हमको दर्शन और धर्म ने दिये हैं। वैज्ञानिक स्वभाव उस मार्ग की ओर संकेत करता ह, जिसकी दिशा में आदमी को चलना चाहिए। वह एक आज़ाद आदमी का स्वभाव है। हम सायंस के युग में रहते हैं। कम-से-कम हमसे कहा यही जाता है। लेकिन उस स्वभाव की किसी भी जगह की जनता में या उनके नेताओं में भी थोड़ी-सी भी झलक दिखाई नहीं देती।

विज्ञान का निश्चित-सत्तामय ज्ञान के क्षेत्र से ताल्लक़ है, लेकिन जो स्वभाव उसे बनाना चाहिए वह इस क्षेत्र के भी आगे चला जाता है। इंसान के

आखिरी मक़सद, सत्य की अनुभूति, ज्ञान-प्राप्ति, भलाई और खूबसूरती की समझ कहे जा सकते हैं। प्रत्यक्ष छान-बीन का वैज्ञानिक ढंग इन सबमें लागू नहीं हो सकता। ऐसा मालूम होता है कि बहुत-सी चीज़ें, जिनका ज़िंदगी में अहमियत है, सायंस की पहुंच से बाहर हैं। कला और काव्य के प्रति चेतनता, उनसे उत्पन्न सौंदर्य और भावुकता, भलाई की अंदरूनी अनुभूति, उसके क्षेत्र के परे हैं। वनस्पति-विज्ञान के और जीव-विज्ञान के बहुत से आचार्य, ऐसा मुमकिन है, प्रकृति के सौंदर्य और आकर्षण को कभी भी अनुभव न कर पायं। समाज-विज्ञान के आचार्यों में मानवता के प्रति प्रेम का अभाव हो सकता है। लेकिन जहां सायंस के तरीक़े काम नहीं देते और जहां फ़िलसफ़ा है और ऊंचे दर्जे की भावुकता है और जहां हम आगे के विस्तृत प्रदेश का देखते हैं, उस जगह भी वैज्ञानिक स्वभाव और वैज्ञानिक प्रवृत्ति की ज़रूरत है।

धर्म का ढंग बिलकुल दूसरा है। प्रत्यक्ष छान-बीन की पहुंच के परे जा प्रदेश है, धर्म का मुख्यतः उसी से संबंध है और वह भावना और अंतर्दृष्टि का सहारा लेता है। संगठित धर्म, धर्म-शास्त्रों से मिलकर ज्यादातर स्थापित स्वार्थों से संबंधित रहता है और उसे प्रेरक भावना का ध्यान नहीं होता। वह एक ऐसे स्वभाव को बढ़ावा देता है जो विज्ञान के स्वभाव से उलटा है। उससे संकरापन, ग़ैर-रवादारी, भावुकता, अंध-विश्वास, सहज-विश्वास और तर्क-हीनता का जन्म होता है। उसमें आदमी के दिमाग़ को बंद कर देने का, सीमित कर देने का रुझान है। वह ऐसा स्वभाव बनाता है, जो ग़ुलाम आदमी का, दूसरों का सहारा टटोलने वाले आदमी का, होता है।

अगर यह भी माना जाय कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, तो उसका आविष्कार करना ज़रूरी होगा। यह बात वोल्टेयर ने कही थी। शायद यह सच है। असलियत में इंसान का दिमाग़ हमेशा ऐसी किसी मानसिक मूर्ति या विचार को बनाने की कोशिश करता रहा है, जिसकी दिमाग़ के साथ ही तरक्क़ी होती रही। लेकिन इसके उलटे विचार में भी कुछ असलियत है। अगर यह माना जाय कि ईश्वर है तो भी यह वांछनीय हो सकता है कि न तो उसकी तरफ़ ध्यान ही दिया जाय और न उस पर निर्भर ही रहा जाय। दैवी शक्तियों में ज़रूरत से ज्यादा भरोसा करने से ऐसा अक्सर हुआ भी है, और अब भी हो सकता है कि आदमी का आत्म-विश्वास घट जाय, और उसकी सृजनात्मक योग्यता और सामर्थ्य कुचल जाय। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि हमारे भौतिक जगत् की पहुंच के बाहर जो सूक्ष्म चीजें हैं उनमें किसी-न-किसी ढंग का विश्वास ज़रूरी है। नैतिक, आध्यात्मिक और आदर्शवादी विचारों पर कुछ भरोसा करना ज़रूरी है, वरना न तो जीवन में कोई उद्देश्य होगा, न कोई लक्ष्य होगा और न कोई स्थिरता होगी। हम ईश्वर में विश्वास करें या न करें,

लेकिन किसी-न-किसी चीज़ में विश्वास न करना नामुमकिन है। उसे सृजनात्मक ज़िंदगी देने वाली ताक़त कह सकते हैं या पदार्थ में अंतर्निहित वह प्रमुख शक्ति कह सकते हैं जो पदार्थ को सजीव बनाती है, उसको बदलने और बढ़ने की सामर्थ्य देती है। हम उसे चाहे कोई भी नाम दें लेकिन एक ऐसी चीज़ है जिसकी सत्ता है, हालांकि उसका प्रत्यक्ष पता उसी तरह नहीं लगता जैसे सजाव और निर्जीव शरीर में उसके पृथक् अस्तित्व का। हमको उसका होश हो या न हो हममें से ज्यादातर उस अदृश्य वेदी पर किसी-न-किसी ईश्वर की उपासना करते है, और उसे भेंट चढ़ाते हैं। वह कोई भी आदर्श हो सकता है—व्यक्तिगत, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय। वह कोई सुदूर लक्ष्य है जो हमको खींचे जाता है। हां बुद्धि को उसके समर्थन की सामग्री नहीं मिल सकती। वह पूर्ण मनुष्य और उन्नत संसार की एक अस्पष्ट धारणा है। पूर्णता पाना नामुमकिन हो सकता है लेकिन हमारे अंदर कोई शक्ति, कोई भूत हमको बलात् आगे बढ़ाता है और एक के बाद दूसरी पीढ़ी में हम उसी रास्ते पर चलते जाते हैं।

ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है, संकरे मानों में जो धर्म का क्षेत्र है वह सिकुड़ता जाता है। ज़िंदगी और प्रकृति को हम जितना ज्यादा समझते जाते हैं उतना ही दैवी शक्तियों की तरफ़ हम कम ध्यान देते हैं। जो कुछ हम समझ सकते हैं, और जिस पर हम नियंत्रण कर सकते हैं, वह रहस्य नहीं रह जाता। खेती का काम, हमारा खाना, हमारे कपड़े, हमारे सामाजिक रिश्ते, किसी वक्त ये सभी बातें धर्म के और उसके बड़े महंतों के दायरे में थीं। धीरे-धीरे वे उसके क़ाबू से बाहर निकल आई हैं, और वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई हैं। फिर भी इनमें से बहुत-सी बातों पर धार्मिक ख़यालों और उनसे चिपटे हुए अंध-विश्वासों का, अब भी जबर्दस्त असर होता है। अब भी आखीरी रहस्य आदमी के दिमाग़ की पहुंच से बहुत दूर हैं, और शायद इसी तरह आगे भी दूर बने रहेंगे। लेकिन ज़िंदगी के और बहुत से रहस्यों का हल हो सकता है, और उसकी सख़्त ज़रूरत है, इसलिए अंतिम रहस्य पर इस वक़्त ज़िद करना न तो जा ही मालूम देता है और न ज़रूरी। अब भी ज़िंदगी में सिर्फ़ दुनिया की खूबसूरती ही नहीं है, बल्कि उसमें ताज़ी, हिम्मतभरी, दिलचस्प, कभी ख़त्म न होने वाली खोजों की बराबर गुंजाइश है। अब भी ज़िंदगी में नया ढर्रा लाने वाले ऐसे नये दृश्य हैं जो दुनिया को ज्यादा धनी और ज्यादा भरा-पूरा बना सकते हैं।

इसलिए वैज्ञानिक ढंग और स्वाभाव को दर्शन से मिलाकर और जो कुछ परे है, उसके लिए श्रद्धा रखते हुए हमको ज़िंदगी का सामना करना चाहिए। इस तरह से हम ज़िंदगी का एक संगठित ढांचा तैयार कर सकते हैं

जिसके बड़े फैलाव में पिछला और मौजूदा शामिल हैं। उनकी सारी ऊंचाइयां और गहराइयां मौजूद हैं और तब हम शांति से, गंभीरता से भविष्य पर दृष्टि डाल सकते हैं। वहां गहराइयां हैं, और उन्हें भुलाया नहीं जा सकता, और उस खूबसूरती के साथ-ही-साथ, जो हमारे चारों तरफ़ है, दुनिया का दुख-दर्द भी है। ज़िदगी में, आदमी के सफ़र में, दुख-सुख का एक अजीब मिलाव है! सिर्फ इसी तरह वह सीख सकता है और आगे बढ़ सकता है। आत्मा की मेहनत एक दुखद और रूखा व्यापार है। बाहरी घटनाओं से और उनके नतीजों से हम पर जबर्दस्त असर होता है लेकिन हमारे दिमाग़ को सबसे बड़े धक्के अंदरूनी डर या द्वन्द से पहुंचते हैं। जिस वक़्त हम ऊपरी सतह पर आगे बढ़ते हैं (और अगर हमको बना रहना है तो यह ज़रूरी भी है). हमको अपने अंदर अपने पड़ौस और अपने बीच में शांति पाना है। यह एक ऐसी शांति होनी चाहिए जो हमारी भौतिक और पार्थिव ज़रूरतों को ही पूरा न करे बल्कि जो हमारी उन अंदरूनी कल्पनात्मक और साहसिक भावनाओं की भख को बुझावे, जिन्होंने आदमी को अपन यात्रा के आरंभ से दिमाग़ और काम-काज में प्रमुख बनाया है। उस यात्रा का कोई अख़ीरी उद्देश्य है या नहीं, हमको नहीं मालूम, फिर भी उसके अपने फ़ायदे हैं, और वह उन क़रीबी मक़सदों की तरफ इशारा करता है, जो पहुंच के अंदर मालूम होते हैं, और जहां से फिर आगे के लिए एक नई कोशिश शरू हो सकती है।

विज्ञान का पच्छिमी दुनिया पर आधिपत्य है और वहां सब उसको सिर झुकाते हैं लेकिन फिर भी पच्छिम ने असली वैज्ञानिक स्वभाव को करीब-करीब बिलकुल नहीं अपनाया। उसको आत्मा और शरीर में सृजनात्मक सम-तोल क़ायम करना अभी बाक़ी है। कई ज़ाहिरा तरीक़ों से, हमको हिंदुस्तान में, एक ज्यादा लंबी मंज़िल तै करनी है। लेकिन फिर भी हमारे रास्ते में बड़ी-बड़ी मुश्किलें, मुक़ाबले में कम होंगी, क्योंकि हिंदुस्तानी विचार-धारा की गुज़रे जमानों में लाज़िमी बुनियाद, वैज्ञानिक ढंग और स्वभाव, और साथ ही अंत-र्राष्ट्रीयता के अनुरूप है। इधर बाद की विकृतियों से हमको मतलब नहीं। जिस हिंदुस्तानी विचार-धारा की बाबत हम कह रहे हैं वह कई युगों तक शुरू में थी। उसकी बुनियाद सच की निडर खोज पर, आदमी की मज़बूती पर, हर जानदार ईश्वरीय अस्तित्व पर, व्यक्ति और समुदाय की स्वतंत्र और सामूहिक प्रगति पर और उत्तरोत्तर स्वतंत्रता-वृद्धि और मानव विकास पर थी।

१० : क़ौमी ख़याल की अहमियत : हिंदुस्तान के लिए ज़रूरी तब्दीलियां

पिछली बातों के लिए अंधी भक्ति बुरी होती है। साथ ही उनके लिए

नफ़रत भी उतनी ही बुरी है। उसकी वजह यह है कि इन दोनों में से किसी पर भविष्य की बुनियाद नहीं रखी जा सकती। वर्तमान का और भविष्य का लाज़िमी तौर से भूतकाल से जन्म होता है, और उन पर उसकी छाप होती है। इसको भूल जाने के मानी हैं, इमारत को बिना बुनियाद के खड़ा करना, और क़ौमी तरक्क़ी की जड़ को ही काट देना। उसके मानी हैं, इन्सान पर असर रखने वाली एक सबसे बड़ी ताक़त को भुला देना। राष्ट्रीयता असलियत में, पिछली तरक़्क़ी, परंपरा और अनुभवों की, एक समाज के लिए सामूहिक याद है। आज राष्ट्रीयता जितनी ताक़तवर है उतनी वह पहले कभी नहीं थी। बहुत से लोगों का खयाल था कि राष्ट्रीयता का ज़माना बीत गया और अब लाज़िमी तौर पर दिन-ब-दिन बढ़ती हुई दुनिया की अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति उसका जगह ले लेगी। समाजवाद ने, जिसकी पृष्ठभूमि में मज़दूरों का वर्ग है, क़ौमी संस्कृति का मज़ाक उड़ाया गया है, क्योंकि उसकी समझ में इस संस्कृति का ताल्लुक़ उस मध्यवर्ग से है जिसका ज़माना अब खतम हो गया है। पूंजीवाद खुद अधिकाधिक अंतर्राष्ट्रीय हो गया। उसमें कारटेल (पूंजीवादी कारबारों के संघ) और संयुक्त संस्थायें बनने लगीं और वह राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर गईं। व्यापार, आने-जाने में आसानी, और तेज़ रफ्तार की सवारियां, रेडियो, सिनेमा, इन सबने मिलकर एक अंतर्राष्ट्रीय वातावरण बनाने में मदद दी, और एक ऐसा ग़लत ख़याल पैदा कर दिया कि राष्ट्रीयता का अब कोई भविष्य नहीं है।

लेकिन जब कोई संकट आया है, राष्ट्रीयता उठ खड़ी हुई है और उसी का बोल-बाला रहा है और आदमियों ने पुरानी परंपराओं में ही ताक़त और आराम को ढूंढा है। मौजूदा ज़माने की एक बहुत अहम घटना यह है कि गुज़रे हुए ज़माने और राष्ट्र की दुबारा खोज हुई है, और उसका एक नया रूप सामने आया है। राष्ट्रीय परम्पराओं में वापस लौटने की बात मज़दूरों की जमात में, मेहनत का काम करने वालों में, ख़ास तौर से दिखाई दी है। और पहले यही लोग अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई के सबसे बड़े समर्थक माने जाते थे। लड़ाई या ऐसे ही किसी संकट से उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता गायब हो जाती है, और उन लोगों में दूसरे समुदायों के मुकाबले ज्यादा राष्ट्रीय घृणा और डर वग़ैरा आ जाते हैं। इसकी सबसे ज्यादा साफ़ मिसाल सोवियत् रूस की हाल की घटनाओं में है। उसका बुनियादी सामाजिक और आर्थिक ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहा है, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरों की पुकार के मुकाबले, जन्म-भूमि रूस की पुकार ज्यादा ज़ोरदार है, और वह आज ख़ास तौर से राष्ट्रीयता की भावना से भरा हुआ है। राष्ट्रीय इतिहास के महापुरुषों की फिर से इज़्ज़त हुई है, और सोवियत जनता के लिए वे आदर्श और साहस और वीरता की

प्रतिमा बन गए हैं। इस लड़ाई में सोवियत् जनता का शानदार काम उनकी मज़बूता और उनका एका, बेशक उस सामाजिक और आर्थिक ढांचे की वजह से है जिससे बेहद सामाजिक तरक्क़ी हुई है, योजना-बद्ध उत्पादन और उपभोग हुआ है, विज्ञान और उसके इस्तेमाल का क्षेत्र बढ़ा है, नई प्रतिभा और नये नेतृत्व को और शानदार नेतृत्व को मौक़ा मिला है। लेकिन कुछ हद तक उसकी वजह यह भी है, और उन पिछली चीज़ों की, जिनसे मौजूदा बातें मिली हुई हैं, एक नई जानकारी हुई है। यह सोचना ग़लत होगा कि रूस के इस क़ौमी नज़रिये में और पुराने क़ौमी नज़रिये में कोई फ़र्क़ नहीं है। ऐसा सोचना बिलकुल ग़लत होगा। क्रांति और उसके बाद के अनगिनित अनुभव भुलाये नहीं जा सकते। उसकी वजह से सामाजिक ढांचे और मानसिक गठन में जो रद्दो-बदल हुई वह बनी रहेगी। उस सामाजिक ढांचे से लाज़िमी तौर पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नज़रिया पैदा होता है। फिर भी राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ल में वापिस आई है कि वह नये वातावरण के अनुरूप हो सके, और जनता की ताक़त बढ़ा सके।

सोवियत् सत्ता की रद्दो-बदल और दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की क़िस्मत के चढ़ाव-उतार की तुलना से कुछ सबक सीखा जा सकता है। सोवियत् क्रांति के बाद ही सभी देशों में बहुत से आदमियों में ख़ास तौर से मज़दूरों की जमात में पहली बार जोश उमड़ा। उससे कम्युनिस्ट पार्टी या दल स्थापित हुए। तब इन दलों में और राष्ट्रीय मज़दूर दलों में झगड़े खड़े हुए। सोवियत् पंचवर्षीय योजना के दौरान में फिर दिलचस्पी बढ़ी और जोश उमड़ा और मज़दूरों के मुक़ाबले इसका ज्यादा असर बीच के दर्जे के पढ़े-लिखे लोगों में हुआ। फिर सोवियत् यूनियन की, विरोधी हिस्सों को मिटा देने की कोशिश के वक्त प्रतिक्रिया हुई। कुछ देशों में कम्युनिस्ट पार्टियां दबा दी गईं और कुछ देशों में उन्होंने तरक्क़ी की। लेकिन क़रीब-क़रीब हर जगह, संगठित राष्ट्रीय मज़दूर दलों से उनके झगड़े हुए। कुछ हद तक तो इसकी वजह यह थी कि ये दल प्रगति-विरोधी थे, लेकिन असली वजह यह थी कि ये कम्युनिस्ट पार्टियां एक विदेशी दल की प्रतिनिधि थीं, और उनकी नीति रूस से तय होती थी। मज़दूर दल की सहज राष्ट्रीयता को कम्युनिस्ट पार्टी का सहयोग लेने में अड़चन हुई; हालांकि वैसे उनमें से बहुत से लोगों का साम्यवाद की तरफ़ झुकाव था। सोवियत् नीति में बहुत-सी तब्दीलियां हुईं। रूस की हालतों को ख़याल में रखते हुए वह समझ में आती थीं, लेकिन जब और जगहों पर कम्यूनिस्ट पार्टियों ने उनको अपनाया तो वह समझ म नहीं आ सकीं। हां, इस बुनियाद पर कि जो कुछ रूस के भले में है वह सारी दुनिया के लिए भी भला होगा, वह शायद समझी जा सकती थीं। इन कम्युनिस्ट पार्टियों में हालांकि कुछ योग्य और सच्चे लगन वाले आदमी थे, लेकिन जनता की राष्ट्रीय भावनाओं

से संपर्क हट जाने की वजह से वह कमज़ोर होने लगीं। जिस वक्त राष्ट्रीय परंपरा से सोवियत् यनियन घुल-मिल रहा था, दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां उससे दूर हटती जा रही थीं।

और दूसरी जगहों में क्या हुआ उसके बारे में मुझे ज्यादा पता नहीं, लेकिन मैं जानता हूं कि हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट पा र्टी उस क़ौमी, परंपरा से, जो जनता के दिमाग़ में घर किये हुए है, बिलकुल अलग है, और उससे बेख़बर ह। उसका यह विश्वास है कि साम्यवाद में लाज़िमी तौर से पिछली चीजों के लिए नफ़रत होती है। जहां तक उसका ताल्लक़ है दुनिया का इतिहास सन् १९१७ के नवंबर से शुरू हुआ और इससे पहले जो कुछ हुआ वह तो इसके लिए तैयारी थी। आम तौर पर हिंदुस्तान जैसे देश में जहां आदमा बहुत बड़ी तादाद में भूखे रहते हैं और जहां आर्थिक ढांचा चटख़ रहा ह, लोगों का साम्यवाद क. तरफ़ झुकाव होना चाहिए। एक ढंग से धुंधला-सा झुकाव तो है, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी उसका फ़ायदा नहीं उठा सकती, क्योंकि उसने अपने-आपको क़ौमी भावना की धारा से अलहदा कर लिया है, और वह एक ऐसा भाषा बोलती है जिसको जनता के दिलों में कोई गूंज नहीं होती। वह एक मजबूत लेकिन छोटी-सी पार्टी है जिसकी अस्ल में कोई बुनियाद ही नहीं है।

हिंदुस्तान में सिर्फ़ यह कम्युनिस्ट पार्टी ही नहीं जो इस मामले में नाकामयाब रही है। ऐसे और लोग भी हैं, जो आधुनिकता, और आधुनिक ढंग के बारे म लंबी चौड़ी बातें करते हैं, लेकिन उनमें आधुनिक भावना और संस्कृति की असलियत की ज़रा भी समझ नहीं है। यही नहीं वे ख़ुद अपनी संस्कृति से भी बेख़बर हैं। कम्युनिस्टों के पास कम-से-कम एक आदर्श या प्ररक शक्ति तो है, लेकिन इन लोगों के पास न कोई आदर्श है और न कोई ऐसी शक्ति ह जो उन्हें आगे बढ़ाये। वे पश्चिम के ऊपरी ढर्रे और ऊपरी जाल को अपना लेते हैं। और उनमें अक्सर कम वांछनीय पहलू होते हैं। और यह समझते हैं कि वे एक प्रगतिशील सभ्यता के अगुआ हैं। वे नौसिखिया हैं, और फिर भी अपने-आपको बहुत क़ाबिल समझते हैं। वे कुछ बड़े-बड़े शहरों में ही ख़ास तौर से रहते हैं और उनका जीवन ऐसा अस्वाभाविक है कि पूर्व या पश्चिम की संस्कृति से उसका कोई सजीव संपर्क नहीं है।

इसीलिए राष्ट्रीय तरक्क़ी न तो गुज़री चीज़ों को दुहराने से हो सकती है, और न उनसे आंखें फेर लेने से ही हो सकती है। लाज़िमी तौर से अब नये नक़्शों की ज़रूरत है, लेकिन साथ ही उसमें पुराने का मेल होना भी ज़रूरी है। जो कुछ नया है, उसमें अगर्चे पहले के मुक़ाबले में बहुत फ़र्क़ मिलता है, फिर भी पुराने निशानात मिलते हैं और इस तरह एक तरक्क़ी का सिल-सिला बना रहता है और यह नयापन क़ौमी इतिहास की ज़ंजीर की एक कड़ी

जैसा होता है। हिंदुस्तानी इतिहास में इस तरह की तब्दीलियां खास तौर से मिलती हैं। पुराने विचारों का नई परिस्थितियों में मेल बिठाने और पुरान नक्शो का नये से सामंजस्य करने की बराबर कोशिश उसमें जाहिर होती है। इसकी वजह से उसमें कोई सांस्कृतिक विच्छेद नहीं मालूम देता। मोहन-जो दड़ो के अति प्राचीन समय से आज तक बराबर तब्दीलियों के होते हुए भी उसमें एक सिलसिला है। पुरानी चीजों और परंपराओं के लिए श्रद्धा थी, लेकिन साथ ही आज़ादी थी, दिमाग़ का लचीलापन था और रवादारी थी। इस तरह से ढांचे के बने रहने पर भी उसका अंदरूनी तथ्य बराबर बदलता रहा। किसा दूसरे ढंग से वह समाज हज़ारों बरस तक ज़िंदा नहीं रह सकता था। सिर्फ़ ज़िंदा, बढ़ता हुआ दिमाग़ ही, रिवाजों की ऊपरी शक्ल की सख़्ती को जीत सकता था। सिर्फ़ वही शक्ल बराबर कायम रह सकती थी।

फिर भी यह समतौल नाज़ुक हो सकता है और उसका एक पहलू दूसरे पहलू को ढक या कुचल सकता है। हिंदुस्तान में कुछ सख़्त सामाजिक ढांचों के साथ ही दिमाग़ की बेहद आज़ादी था। आगे चलकर इस ढांचे का असर हुआ और दिमाग़ी आज़ादी अमली तौर पर दिन-ब-दिन ज़्यादा सख़्त और महदूद होने लगी। पश्चिमी यूरोप में भी इतनी कड़ी पाबंदियां न थीं। दिमाग़ की आज़ादी के लिए यूरोप को एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी, और इस वजह से उसकी सामाजिक शक्ल भी बदलती रही।

चीन में दिमाग़ का लचीलापन हिंदुस्तान से भी ज़्यादा था। परंपरा के लिए मुहब्बत और मोह होते हुए भी उस दिमाग़ ने अपना लचीलापन या अपनी रवादारी, इन दोनों में से किसी का नहीं खोया। परंपरा की वजह से कभी-कभी रद्दो-बदल में देरी हुई, लेकिन उस दिमाग़ को रद्दो-बदल का डर नहीं था। हां उसके पुराने नक्शे बने रहे। चीनी समाज ने हिंदुस्तान से भी ज़्यादा संतुलन स्थापित किया। वह हजारों बरसों की रद्दो-बदल के बाद भी क़ायम है। दूसरे देशों के मुकाबले चीन को एक बात का खास फायदा रहा है। वह अंध-विश्वास से, संकरे छोटे धार्मिक नज़रिये से बिलकुल आज़ाद रहा है। उसने तर्क और सहज बुद्धि पर भरोसा किया। चीन में और देशों के मुक़ाबले संस्कृति की बुनियाद धर्म पर कम है। उसका आधार नैतिकता और औचित्य पर ज़्यादा है। उस संस्कृति में इंसान की जिंदगी के विभिन्न पहलुओं की समझदारी है।

हिंदुस्तान में इस दिमाग़ी आज़ादी को मान लेने से (चाहे वह अमली तौर पर कितनी ही कम क्यों न रही हो) नये विचारों का अपनाना बंद नहीं हुआ है। दूसरे देशों के मुक़ाबले जहां जीवन का नज़रिया ज़्यादा सख़्त और अंध-विश्वासी है, हिन्दुस्तान में इन विचारों पर ज़्यादा हद तक ग़ौर किया जा

सकता है, और उन्हें मंजूर भी किया जा सकता है। हिंदुस्तानी संस्कृति के असली आदर्शों की बुनियाद बहुत चौड़ी है और उनको किसी भी वातावरण के अनुरूप किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में, धर्म और विज्ञान के जिस भयंकर संघर्ष ने, यूरोप को झकझोर दिया, वह हिंदुस्तान में नहीं हो सकता और न यहां विज्ञान के उपयोग की बुनियाद पर, किसी रद्दो-बदल से ही उन आदर्शों का विरोध होगा। बेशक, ऐसी तब्दीलियां हिंदुस्तान के दिमाग़ को हिला देंगी, और ऐसा हो भी रहा है लेकिन हिंदुस्तान का दिमाग़ उनसे लड़ने या उन्हें नामंजूर करने की जगह, अपने आदर्श के नज़रिये में उन्हें तर्क-संगत रूप में मिला लेगा, और अपने मानसिक ढांचे में खपा लेगा। ऐसा मुमकिन है कि इस प्रक्रिया में, पुराने नजरिये में बहुत-सी अहम तब्दीलियां करनी पड़ें। लेकिन यहां एक फ़र्क़ होगा। ये तब्दीलियां बाहर से लादी हुई नहीं होंगी बल्कि वे समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में कुदरती तौर पर पैदा होती हुई मालूम देंगी। पहले के मुक़ाबले इस काम में अब ज़्यादा मुश्किल है। वजह यह है कि बहुत अर्से से तरक्क़ी रुकी रही है और अब बड़ी और बुनियादी तब्दीलियों की सख़्त ज़रूरत है।

हां, बुनियादी आदर्शों के चारों तरफ़ जो ऊपरी ढांचा खड़ा हो गया है, जो आज मौजूद है, और जो हमें तबाह कर रहा है, उस ढांचे से झगड़ा जरूर होगा। इस ढांचे को लाज़िमी तौर पर जाना ही होगा, क्योंकि एक तो ख़ुद उसका ज्यादातर हिस्सा ख़राब है, दूसरे वह इस ज़माने की भावना के ख़िलाफ़ है। जो उसको बनाये रखने की कोशिश करते हैं वे हिंदुस्तानी संस्कृति के बुनियादी आदर्शों की कुसेवा करते हैं क्योंकि भले और बुरे दोनों को मिलाकर, वह भले के लिए ख़तरा पैदा कर देते हैं। दोनों को अलग करना आसान नहीं है। उनका निश्चित विभाजन बहुत मुश्किल है, और इस बारे में रायें अलग-अलग हैं। लेकिन किसी ऐसी काल्पनिक या तार्किक रेखा के खींचने की ज़रूरत नहीं है। परिवर्तनशील जीवन और घटना-क्रम का तर्क धीरे-धीरे हमारे लिए यह रेखा खींच देगा। हर ढंग की तरक्क़ी (चाहे वह वैज्ञानिक हो या दार्शनिक) ख़ुद ज़िंदगी के साथ संपर्क ज़रूरी बना देती है। इस संपर्क की कमी से सड़न पैदा होती है, और रचनात्मक प्रतिभा और जीवन-शक्ति का नाश होता है। लेकिन अगर हम यह संपर्क बनाये रहें, और उनका स्वागत करें तो हम ज़िंदगी के मोड़ के साथ-साथ चल सकते हैं, और उन विशेषताओं को, जिनकी हमने क़द्र की है, हम नहीं खोयेंगे।

पिछले वक़्त में ज्ञान पाने की हमारी कोशिश में समन्वय था, लेकिन वह कोशिश हिंदुस्तान तक सीमित थी। वह सीमा बनी रही, और धीरे-धीरे समन्वय के स्थान पर विश्लेषण आने लगा। अब हमको समन्वयकारी पहलू को

ज्यादा अहमियत देनी है और सारी दुनिया ही हमारे अध्ययन का मैदान होगी। हर राष्ट्र के लिए और हर व्यक्ति के लिए, जिसको बढ़ना है, काम-काज और सोच-विचार के उन संकरे घेरों को, जिनमें ज्यादातर आदमी बहुत अर्से से रहते आये हैं, छोड़ना होगा, और समन्वय पर ख़ास ध्यान देना होगा। विज्ञान और उसके आविष्कारों की तरक्क़ी ने हमारे लिए यह मुमकिन बना दिया है। साथ ही इस नये ज्ञान की ज्यादती ने इस मुश्किल को बढ़ा भी दिया है। विशेषज्ञता ने अलग-अलग हल्कों में व्यक्तिगत जीवन को संकरा कर दिया है। मसलन, एक बहुत बड़े कारखाने में एक आदमी, उस लंबी प्रक्रिया के एक छोटे से काम में ही हाथ बंटाता है। ज्ञान और काम-काज में, विशेष जानकारी की कोशिश जारी रहेगी लेकिन अब इस बात की पहले के मुक़ाबले ज्यादा ज़रूरत है कि हर ज़माने के मानव-जीवन को और मानव-खोज को एक समन्वयकारी दृष्टिकोण से देखा जाय और उसको प्रोत्साहन दिया जाय। इस दृष्टिकोण में गुज़रे ज़माने और मौजूदा वक़्त का ख़याल होगा, और उसके अंदर सारे देश और सारे राष्ट्र होंगे। शायद इस ढंग से, अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और संस्कृति के अलावा, हमको दूसरों की भी सही जानकारी होगी, और इस तरह दूसरे देश के लोगों को समझने या उनके साथ काम करने की सामर्थ्य बढ़ेगी। इस तरह आज के ऐसे व्यक्तियों की जगह (जो किसी एक दिशा में तो बहुत क़ाबिल हैं और दूसरी दिशाओं में उनको साधारण ज्ञान भी नहीं है) हम कुछ हद तक सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले व्यक्तित्व बनाने में सफलता पायंगे। प्लेटो के शब्दों में हम शायद 'हर समय के हर प्राण। और हर पदार्थ के दृष्टा' बन सकें। हमारा पोषण उस भंडार से होगा जो मानवता ने एकत्रित किया है। हम उस भंडार को बढ़ायंगे, और भविष्य-निर्माण में उसका उपयोग करेंगे।

यह एक ख़ास लेकिन अजीब-सी बात है कि सारी आधुनिक वैज्ञानिक तरक्क़ी, और अंतर्राष्ट्रीयता की बातचीत के होते हुए भी जातीय भेद-भाव और दूसरी फ़र्क़ डालनें वाली बातें आज जितनी नज़र आ रही हैं, उतनी वे इतिहास में पहले कभी नहीं थीं। इस सारी तरक्क़ी में किसी एसी चीज़ की कमी है जिसकी वजह से आदमी की आत्मा में और अलग-अलग राष्ट्रों में मेल नहीं हो पाता। शायद समन्वय और पिछले ज़माने के ज्ञान के प्रति विनम्रता से (आख़िर यह ज्ञान, सारी मानव जाति का संचित अनुभव ही तो है) हमें एक नया दृष्टिकोण और ज्यादा सामंजस्य स्थापित करने में मदद मिले। इसकी ख़ास तौर से उन लोगों के लिए ज़रूरत है, जिनकी बीमार ज़िंदगी का सिर्फ़ मौजूदा वक़्त से ही ताल्लुक़ है और जो गुज़री हुई चीज़ों को क़रीब-क़रीब भूल गए हैं। लेकिन हिंदुस्तान जैसे देश के लिए, दूसरी चीज़ की ज़रूरत है। हमारे पास पिछला तो बहुत है, लेकिन हमने वर्तमान की अवहेलना की है।

हमको तो संकरे धार्मिक नज़रिए से छुटकारा पाना है, और दैवी कल्पनाओं, मज़हबी कारंवाइयों और रहस्यभरी भावुकता की वजह से बिगड़े हुए मानसिक अनुशासन से आज़ाद होना है। ये चीज़ें अपने-आपको समझने में, या दुनिया के समझने में हमारे लिए रुकावटें डालती हैं। हमको तो मौजूदा वक़्त से, इस ज़िंदगी से, इस दुनिया से, इस प्रकृति से, जो अनगिनित शक्लों में हमारे चारों तरफ है, मुक़ाबला करना है। कुछ हिंदू वेदों के युग को वापिस जाना चाहते हैं, और कुछ मुसलमान इस्लामी धार्मिक राज्य का सपना देखते हैं। यह व्यर्थ की कल्पनाएं हैं, क्योंकि पीछे लौटा नहीं जा सकता; अगर यह अच्छा भी होता तो भी ऐसा ममकिन नहीं है। समय के क्षेत्र में हम एक ही दिशा में चल सकते हैं।

इसलिए हिंदुस्तान को अपनी मज़हबी कट्टरता कम करनी चाहिए और विज्ञान की तरफ़ ध्यान देना चाहिए, और उसे अपने विचारों और सामाजिक स्वभावों की अलहदगी से छुटकारा पाना चाहिए। यह अलहदगा उसके लिए जेलखाना बन गई है, और यह हिंदुस्तान की भावना को कुचल रही है, और इसकी तरक्क़ी को रोक रही है। लोकाचार की पवित्रता के ख़याल ने सामाजिक संबंधों में दीवारें खड़ी कर दी हैं, और सामाजिक कारंवाइयों का क्षेत्र संकरा हो गया है। कट्टर हिंदू का रोज़ाना का ज़िंदगी की आध्यात्मिक बातों के मुकाबले इस बात से ज़्यादा ताल्लुक़ है कि क्या खाना चाहिए और किस को अलहदा रखना चाहिए। उसके सामाजिक जीवन में रसोईघर के नियम उपनियमों की हुकूमत है। ख़ुशकिस्मती से मुसलमान इन पाबंदियों से आज़ाद हैं, लेकिन उसके अपने संकरे रस्म-रिवाज हैं, और उसका अपना तरीक़ा है, जिसके मुताबिक़ वह बड़ी कट्टरता से काम करता है और उस भाई-चारे के सबक़ को, जो उसके मज़हब ने सिखाया, वह भूल जाता है। हिंदुओं के मुक़ाबले ज़िंदगी का उसका नज़रिया शायद और भी ज़्यादा संकरा और बंजर है। हां, आज का औसत हिंदू सही हिंदू नज़रिए का सच्चा नुमाइंदा नहीं है। वजह यह है, कि परंपरागत विचार-स्वातंत्र्य उसने खो दिया है, और अब वह पृष्ठभूमि, जो ज़िंदगी को कई ढंग से भरीं-पूरी बनाती है, ग़ायब हो गई है।

हिंदुओं की अलहदगी की साकार तस्वीर और उसका प्रतीक वर्ण-व्यवस्था है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का बुनियादी ख़याल बना रहे, और बाद में उसमें जो नई नुकसानदेह चीज़ें जुड़ गईं, वह हट जायं और उसका निश्चय जन्म से नहीं बल्कि योग्यता से हो। यह दलील बिलकुल बेतुका है और उससे सवाल ज़्यादा उलझ जाता है। ऐतिहासिक संदर्भ में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के अध्ययन का कुछ मूल्य है, लेकिन यह

बात साफ़ है कि हम उस ज़माने में वापिस नहीं जा सकते, जिस वक़्त कि वर्ण-व्यवस्था क़ायम हुई थी। मौजूदा सामाजिक ढांचे में उसके लिए कोई जगह बाक़ी नहीं है। अगर योग्यता ही कसौटी है, और हर एक को आगे बढ़ने का बराबर मौक़ा है तो वर्ण-व्यवस्था की कोई ख़ास शक्ल ही नहीं रहेगी और वह ख़त्म हो जायगी। पिछले वक़्त में वर्ण-व्यवस्था से सिर्फ़ कुछ समुदाय दबाये ही नहीं गये, बल्कि विद्वत्ता और खोज, और कारीगरी के मैदान से अलग हो गए; फ़िलसफ़े में और असली ज़िंदगी और उसके सवालों में कोई रिश्ता ही न रहा। यह तो ऊंचे वर्ग वालों का एक नज़रिया था जो कि परंपरा के आधार पर क़ायम था। इस नज़रिये को पूरी तरह बदलना होगा, क्योंकि वह मौजूदा हालतों और लोकतंत्र के आदर्श के बिलकुल ख़िलाफ़ है। हिंदुस्तान में सामाजिक समुदायों का पेशेवार संगठन जारी रह सकता है, लेकिन ज्यों-ज्यों आधुनिक उद्योग-धंधों में नये काम शुरू होंगे और पुराने काम ख़त्म होंगे, उसमें भारी रद्दो-बदल करनी होगी। सभी जगह आजकल पेशेवार संगठन की तरफ़ झुकाव है, और अव्यक्त अधिकारों की धारणा की जगह, अब काम या पेशे ने ले ली है। इस सबमें और पुराने हिंदुस्तानी आदर्श में मेल है।

इस युग की भावना बराबरी की तरफ़दार है, हालांकि अमली तौर पर उसको कहीं बरता नहीं जाता। इस तंग मानी में कि आदमी किसी दूसरे की जायदाद नहीं बन सकता, हम ग़ुलामी से छुटकारा पा गए हैं। लेकिन सारी दुनिया में उसकी जगह एक नई ग़ुलामी आ गई है, जो पहली ग़ुलामी से भी बदतर है। व्यक्तिगत आज़ादी के नाम से राजनीतिक और आर्थिक ढांचे आदमियों का नाजायज़ फ़ायदा उठाते हैं, और उनको इस तरह बरतते हैं मानो वह सौदे की चीज़ें हों। और फिर, हालांकि एक आदमी दूसरे आदमी की जायदाद नहीं हो सकता, लेकिन एक देश या राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की जायदाद हो सकता है, और इस तरह सामूहिक ग़ुलामी बर्दाश्त की जाती है। जातीय भावना भी हमारे युग की एक ख़ास चीज़ है और अधिपति राष्ट्रों की तरह अधिपति जातियां भी हैं।

फिर भी युग की भावना की जीत होगी। कम-से-कम हिंदुस्तान में, हमारा ध्यान बराबरी की ओर होना चाहिए। इसके यह मानी नहीं कि सब लोग, शरीर से, बुद्धि से और आध्यात्मिक दृष्टि से बराबर हैं। ऐसा हो भी नहीं सकता। हां, इसके यह मानी ज़रूर हैं, कि सबके लिए बराबर मौक़ा हो और किसी आदमी, या किसी समुदाय को राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक रुकावट का सामना न करना पड़े। उसके मानी हैं, मानवता में विश्वास और साथ ही इस बात में विश्वास, कि कोई ऐसी जाति या ऐसा समुदाय नहीं है जो तरक़्क़ी

नहीं कर सकता, और मौक़ा मिलने पर अपने ढंग से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके मानी हैं, इस सचाई को महसूस करना कि किसी समुदाय का पिछड़ापन या उसका अधःपतन उसकी निजी खामियों की वजह से नहीं है, बल्कि उसकी खास वजह यह है कि उसको बढ़ने का मौक़ा नहीं मिला और बहुत अर्से तक किसी दूसरे समुदाय का उस पर दबाव रहा। उससे यह समझ आनी चाहिए कि आधुनिक दुनिया में असली तरक्क़ी, चाहे वह राष्ट्रीय तरक्क़ी, हो या अंतर्राष्ट्रीय हो, बहुत हद तक एक मिला-जुला व्यापार है, और हर एक पिछड़ा हुआ समुदाय दूसरों को भी पीछे घसीटता है। इसलिए सबको सिर्फ़ बराबर मौक़ा ही नहीं मिलना चाहिए बल्कि पिछड़े हुए लोगों को पढ़ाई-लिखाई, आर्थिक और सांस्कृतिक तरक्क़ी के लिए ख़ास सुविधा देनी चाहिए, ताकि वह जल्दी से दूसरे लोगों के बराबर आ सकें। हिंदुस्तान में सबको तरक्क़ी के लिए इस तरह मौक़ा देने की किसी भी कोशिश से बेहद कार्य-शक्ति और योग्यता सामने आवेगी और बड़ी तेज़ी से देश का हुलिया बदल देगी।

अगर युग की भावना बराबरी चाहती है, तो उसके लिए लाज़िमी तौर पर ऐसे आर्थिक ढांचे की भी ज़रूरत होगी, जो उसके अनुरूप हो और उसको बढ़ावा दे। हिंदुस्तान में मौजूदा नौ-आबादियों का-सा तरीक़ा उससे बिलकुल उलटा है। निरंकुशता की बुनियाद सिर्फ़ ग़ैर-बराबरी पर ही नहीं होती, बल्कि वह उसको जीवन के हर क्षेत्र में स्थायी कर देता है। वह राष्ट्र की सृजनात्मक, और फिर से ज़िंदा करने वाली ताक़तों को कुचल देती है, प्रतिभा और सामर्थ्य पर ताला लगा देती है, और ज़िम्मेदारी की भावना को मिटा देती है। जो उसके अधीन रहते हैं, उनका स्वाभिमान और आत्म-विश्वास मिट जाता है। हिंदुस्तान के मसले बहुत उलझे हुए मालूम देते हैं, लेकिन उनकी ख़ास वजह यह है कि यहां पर राजनीतिक और आर्थिक ढांचे को ज्यों-का-त्यों रखते हुए तरक्क़ी की कोशिश की जाती है। राजनीतिक तरक्क़ी के साथ, मौजूदा ढांचे और स्थापित स्वार्थों को बनाये रखने की शर्त है। दोनों चीज़ें एक साथ नहीं चल सकतीं।

राजनीतिक तब्दीली तो होनी ही चाहिए लेकिन आर्थिक तब्दीली भी उतनी ही ज़रूरी है। यह तब्दीली लोकतंत्री योजना-बद्ध समष्टिवाद की दिशा में होगी। आर० एच० टौनी कहता है : "प्रतियोगिता और एकाधिकार में छांट का सवाल नहीं है, बल्कि वह छांट होगी उस एकाधिकार में जो ग़ैर-ज़िम्मेदार है और ज़ाती है, और उस एकाधिकार में जो ज़िम्मेदार और सार्वजनिक है।" पूंजीवादी राज-सत्ताओं में भी सार्वजनिक एकाधिकार बढ़ रहे हैं, और वे आगे भी बढ़ते रहेंगे। उनमें और ज़ाती एकाधिकार के विचार में, जो

झगड़ा है, वह उस वक़्त तक चलता रहेगा जब तक कि उनमें से एक यानी ज़ाती एकाधिकार का खात्मा नहीं हो जाता। एक लोकतंत्री समष्टिवाद के मानी यह नहीं हैं, कि व्यक्तिगत संपत्ति नहीं रहेगी, बल्कि इसके मानी हैं बड़े-बड़े और बुनियादी उद्योग-धंधों पर आम लोगों के अधिकार का होना। उसके मानी होंगे ज़मीन पर सामूहिक या मिला-जुला नियंत्रण हो। खास तौर से हिंदुस्तान में बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के अलावा, सहयोग-सभाओं द्वारा संचालित ग्रामोद्योगों की ज़रूरत होगी। इस ढंग के लोकतंत्री समष्टिवाद के लिए बराबर सावधानी से योजनाएं बनानी होंगी, और बराबर ऐसी कोशिश करनी पड़ेगी कि जनता की बदलती हुई ज़रूरतों के मुताबिक़ रद्दो-बदल हो। हर मुमकिन ढंग से राष्ट्र की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने का इरादा होना चाहिए। साथ ही यह कोशिश भी होनी चाहिए कि देश की सारी कार्य-शक्ति का उपयोग हो, हर एक आदमी किसी-न-किसी काम में लगा हुआ हो, और बेकारी न हो। जहां तक मुमकिन हो सके हर एक को अपना पेशा चुनने की आज़ादी होनी चाहिए। इसका नतीजा यह नहीं होगा कि सब की आमदनी बराबर हो जायगा लेकिन हर एक को अपना-अपना जा हिस्सा ज़रूर मिलेगा और बराबरी की तरफ़ रुझान होगा। हर हालत में आज जो बहुत ज्यादा फ़र्क़ दिखाई देता है वह बिलकुल ग़ायब हो जायगा, और वर्ग-भेद, जो खास तौर से आमदनी के फ़र्क़ की वजह से है, दिन-ब-दिन कम होने लगेगा।

ऐसी रद्दो-बदल से मौजूदा समाज, जो मुनाफ़े की नीयत पर बना है, बिलकुल अस्त-व्यस्त हो जायेगा। मुनाफ़े की भावना कुछ हद तक अब भी बनी रह सकती है, लेकिन न तो उसकी इतनी अहमियत ही होगी, और न उनका इतना बड़ा क्षेत्र ही होगा। यह कहना तो बिलकुल ग़लत होगा कि मुनाफ़े की भावना एक हिंदुस्तानी को अच्छी नहीं लगती। हां, यह ज़रूर सच है कि हिंदुस्तान में उसको इतनी अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता जितना पच्छिम में। मालदार आदमी से जलन हो सकती है, लेकिन उसकी कोई ख़ास इज्ज़त या तारीफ़ नहीं होती। इज्ज़त या तारीफ़ अब भी उसी स्त्री या पुरुष की होती है जो अच्छा या अक्लमंद समझा जाता है, और खास तौर से उन लोगों की, जिन्होंने आम भलाई के लिए अपनी या अपने माल की क़ुर्बानी की है। हिंदुस्तानी नज़रिये ने यहां तक कि आम जनता के नज़रिये ने भी बटोरने या क़ाबू में कर लेने की भावना को कभी पसंद नहीं किया।

समष्टिवाद में सामूहिक ज़िम्मेदारी होती है, मिल-जुल कर कोशिश होती है। इस बात में और पुरानी हिंदुस्तानी सामाजिक धारणाओं में यहां भी पूरा मेल है। वह धारणाएं सामुदायिक विचार की बुनियाद पर थीं। ब्रिटिश हुकूमत के दौरान में सामुदायिक प्रणाली की और खास तौर से खुद-मुख्तार

गांवों की बरबादी से हिंदुस्तान के लोगों को बहुत गहरी चोट आर्थिक तो है लेकिन उससे भी ज्यादा यह मनोवैज्ञानिक है। उसकी जगह कोई निश्चित चीज़ नहीं आई, और उनकी आज़ादी की भावना, उनकी जिम्मेदारी का ख़याल, और आपसी फ़ायदे के लिए उनकी सहयोग की सामर्थ्य, ये सब बातें नष्ट हो गईं। गांव, जो पहले एक सजीव, सुदृढ़ इकाई था, अब धीरे-धीरे उजड़ने लगा और सिर्फ़ कुछ मिट्टी की झोंपड़ियों और ग़लत ढंग के आदमियों की बस्ती बन गया। फिर भी किसी अदृश्य कड़ी से गांव बना हुआ है, और पुरानी बातों की याद आती है। सदियों पुरानी परंपराओं का आसानी से फ़ायदा उठाया जा सकता है, और खेती-बारी में और छोटे कार-बारों में सामूहिक, सहयोग संस्थाएं बनाई जा सकती हैं। गांव अब स्वावलंबी आर्थिक इकाई नहीं रह सकता (हां उसका सामूहिक या सहयोगी कृषि से बहुत करीबी रिश्ता रह सकता है।) लेकिन वह अब सरकारी इंतज़ाम की या चुनाव की इकाई बखूबी बन सकता है। बड़े राजनीतिक ढांचे में हर एक ऐसी इकाई ख़ुद-मुख़्तार रह सकती है, और वह गांव की ख़ास ज़रूरतों का इंतज़ाम करेगी। अगर कुछ हद तक उसको चुनाव की इकाई बना लिया जाय, तो उससे सूबों के और अखिल भारतीय चुनावों में काफ़ी सादगी और आसानी आजायगी। वजह यह है कि उससे प्रत्यक्ष मतदाताओं की संख्या कम हो जायगी। गांव के हर बालिग़ मर्द और औरतों की चुनी हुई गांव की पंचायत, ख़ुद बड़े चुनावों के लिए मतदाता का काम करेगी। परोक्ष चुनावों में कुछ नुकसान हो सकते हैं, लेकिन हिंदुस्तान की हालतों का ख़याल रखते हुए, मैं यही मुनासिब समझता हूं कि गांव को एक इकाई की तरह बरता जाय। इस तरह नुमाइंदगी ज्यादा सच्ची और ज्यादा ज़िम्मेदार होगी।

इस प्रादेशिक नुमाइंदगी के अलावा ज़मीन और उद्योग-धंधों की सहयोग सभा और संयुक्त संस्थाओं की भी प्रत्यक्ष नुमाइंदगी होनी चाहिए। इस तरह राज-सत्ता के लोकतंत्री संगठन में प्रादेशिक और पेशेवार दोनों तरह की नुमाइंदगी होगी, और उसकी बुनियाद मुक़ामी स्वराज पर होगी। इस तरह का इंतज़ाम, हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने, और साथ ही उसकी मौजूदा ज़रूरतों से पूरी तरह मेल खायगा। उसमें विच्छेद की भावना नहीं होगी (सिवाय उन हालतों के जो ब्रिटिश राज्य के दौरान में आईं) और जनता का दिमाग़ इसे उस अनवरत क्रम का ही अंग समझेगा जिसके सुंदर भूतकाल की उसे अब भी याद आती है, और जिसके लिए उसके दिल में मुहब्बत है।

हिंदुस्तान में इस ढंग की रद्दो-बदल राजनीतिक और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयता के अनुरूप होगी। उसमें दूसरे राष्ट्रों से झगड़े नहीं होंगे और एशिया में और दुनिया में शांति के लिए उसका जबर्दस्त असर होगा। वह उस 'एक ही

दुनिया' को साकार करने में मदद करेगा, जिसकी तरफ़ हम लाज़िमी तौर से बढ़ रहे हैं। हमारी बलवती प्रवृत्तियां हमको धोखे में डाले रहती हैं, और हमारा दिमाग़ उस बहाव को समझ नहीं पाता। दबाव और मायूसी के चंगुल से आज़ाद होकर हिंदुस्तानी जनता फिर अपना पूरा बड़प्पन हासिल करेगी और उनकी संकरी राष्ट्रीयता और अलहदगी मिट जायगी। अपनी हिंदुस्तानी विरासत पर गर्व करते हुए, वे दूसरे आदमियों और दूसरी क़ौमों के लिए अपना दिल और दिमाग़ खोल देंगे, और खूबसूरत और बड़ी दुनिया के नागरिक बन जायंगे, और दूसरे लोगों के साथ उस सनातन खोज में शरीक होंगे जिसमें उनके पुरखे सबसे आगे थे।

११ : हिंदुस्तान : विभाजन या मज़बूत क़ौमी सरकार या राष्ट्रोपरि संघ ?

जिस तरह किसी व्यक्ति की आशाओं और शंकाओं के बीच सही सम-तौल पा लेना मुश्किल है उसी तरह किसी आदमी के ख़यालों पर उसकी ख्वाहिशों का छाप रोकना भी मुश्किल है। हमारी ख्वाहिशें ऐसा दलीलों की तलाश में रहती हैं, जो उनके माफ़िक हों और वे उन सचाइयों या दलीलों की, जो उनसे मेल नहीं खाते, अवहेलना की कोशिश करती हैं। मैं उस सम-तौल को हासिल करने की कोशिश करता हूं, ताकि मैं चीज़ों को सही ढंग से देख सकूं, और काम के लिए सही बुनियाद पा लूं; फिर भी मैं जानता हूं कि मैं कामयाबी से कितनी दूर हूं, और मैं उन विचारों या भावनाओं से, जिन्होंने मुझे बनाया है और जो अपने अदृश्य सींखचों से मुझे घेरे हुए हैं; छुटकारा नहीं पा सकता। इसी तरह दूसरे लोग भी मुख़्तलिफ़ दिशाओं में ग़लती कर सकते हैं। दुनिया में हिंदुस्तान की क्या जगह है, इसके बारे में हिंदुस्तानी और अंग्रेज़ के नज़रियों में लाज़िमी तौर से बहुत फ़र्क़ होगा। उसकी वजह यह है कि दोनों की अपना अलग-अलग क़ौमी और शख़्सी तारीख़ है। व्यक्ति और राष्ट्र अपने-अपने कामों से अपना भविष्य बनाते हैं। उनकी मौजूदा हालत उनके पिछले कामों का नतीजा है, और आज वे जो कुछ करते हैं, उससे उनके भविष्य की बुनियाद तैयार होती हैं। हिंदुस्तान में इसको, कार्य-कारण नियम को, कर्म कहा गया है जिसमें हमारा काम हमारी क़िस्मत बनाता चलता है। ऐसा नहीं है कि यह क़िस्मत बदल नहीं सकती। और भी कई ऐसी बातें है जिनका इस पर असर होता है, और ऐसा ख़याल है कि व्यक्तिगत मनः शक्ति का भी कुछ असर होता है। अगर पिछले कामों के नतीजों को बदलने की यह आज़ादी न होती तब तो हम सब क़िस्मत के मज़बूत चंगुल में लाज़िमी तौर से सिर्फ कठ-पुतली होते। फिर भी व्यक्ति को या राष्ट्र को बनाने में पिछले कर्म का ज़बर्दस्त असर होता है

और राष्ट्रीयता खुद उसकी छाया है जिसमें कि गजरे जमाने का सारी अच्छी और बुरी स्मृतियां गुंथी हैं।

शायद इस पिछली विरासत का राष्ट्रीय समुदाय पर व्यक्ति के मुकाबले ज्यादा असर होता है, क्योंकि ज्यादातर तादाद में इंसान अचेतन और गैर-जाता बहावों में बहे जाते हैं। व्यक्ति के साथ यह चीज़ बहुत कम होती है। इसलिए लोगों के सामूहिक रुख को बदलना ज्यादा मुश्किल होता है। नैतिक खयालों का व्यक्ति पर असर होता है, लेकिन समुदाय पर उनका असर बहुत कम होता है; और वह समुदाय जितना ज्यादा बड़ा होता है, उस पर उतना ही कम असर हाता है। समुदाय पर परोक्ष रूप से प्रोपैगेंडे से असर डालना, (खास तौर से मौजूदा दुनियां में) आसान है। और फिर भी कभी-कभी (हालांकि एसे मौक़े बहुत कम होते हैं) समुदाय आप ही नतिक व्यवहार में ऊंचा उठता है, और व्यक्ति को अपने संकरे और स्वार्थी ढंग छोड़ने को मजबूर करता है। वैसे आम तौर पर समुदाय व्यक्तिगत नैतिक स्तर से बहुत नीचे रहता है।

लड़ाई से दोनों प्रतिक्रियायें होती हैं; लेकिन आधिपत्य उस झुकाव का होता है, जो नैतिक जिम्मेदारी से छुटकारा चाहता है और उन सारे आदर्शों को, जिन्हें सभ्यता ने बड़ी मेहनत से तैयार किया था, खत्म करना चाहता है। लड़ाई में कामयाबी और आक्रामक ढंग का नतीजा यह होता है, कि वह नीति जो बताई जाती है और उसे जारी रखा जाता है और फिर उसकी वजह से साम्राज्यवादी आधिपत्य और अधिपति-जाति की भावना पैदा होती है। हार से मायूसी होती है, और बदला लेने की भावना पनपती है। दोनों ही सूरतों में नफ़रत और हिंसा की आदत बढ़ती है। बेरहमी और बेदर्दी होती हैं, और दूसरे के नजरिये को समझने की कोशिश से भी इन्कार कर दिया जाता है। और इस तरह एक ऐसे भविष्य की नींव पड़ता है जिसमें लड़ाई और संघर्ष बराबर बढ़ते हैं और उनके अपने खतरनाक नतीजे होते हैं।

हिंदुस्तान और इंग्लड म, पिछले दो सौ बरसों के मजबूरी के रिश्ते ने, दोनों ही के लिए यह कर्म, यह क़िस्मत तैयार की है। उनके आपसी रिश्ते अब भी उसी से तै होते हैं। कर्म के जाल में हम फंसे हुए हैं। इस पिछली विरासत से छुटकारा पाकर एक नई बुनियाद की तलाश में हमारी अब तक की सारी कोशिशें बेकार हुई हैं। बदक़िस्मती से लड़ाई के पिछले पांच सालों ने इस पिछले कर्म की बुराई को बढ़ा दिया है, और इस वजह से समझौता और स्वाभाविक रिश्ता अब ज्यादा मुश्किल हो गया है। पिछले दो सौ बरसों के इतिहास म, जैसा कि हमेशा होता है, भलाई और बुराई दोनों की ही मिलावट है। अंग्रज के लिहाज से बुराई के मकाबले भलाई ज्यादा है, और हिंदुस्तानी की

निगाह में बुराई इतनी ज्यादा है कि दो सौ साल का सारा ज़माना बिलकुल काला है। भलाई और बुराई का कैसा भी संतुलन क्यों न हो, यह बात साफ़ है कि कोई भी रिश्ता, जो ज़बर्दस्ती लादा जाता है एक दूसरे के लिए सख्त नफ़रत और नापसंदगी पैदा करता है, और इन भावनाओं के सिर्फ़ बुरे नतीजे हो सकते हैं।

हिन्दुस्तान में राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही तरह की इन्क़लाबी तब्दीली ज़रूरी ही नहीं बल्कि लाज़िमी भी मालूम देती है। लड़ाई शुरू होने के कुछ वक़्त बाद, १९३९ के अख़ीर में, और फिर अप्रैल १९४२ में इस बात की थोड़ी-सी संभावना हुई कि शायद इंग्लैंड और हिंदुस्तान दोनों की रज़ामंदी से ऐसी तब्दीली हो जाय। चूंकि हर बुनियादी तब्दीली से डर था, इसलिए वे संभावनाएं और वे मौक़े बीत गए। लेकिन तब्दीली होगी। क्या रज़ामंदी का मौक़ा अब खत्म होगया? जब ख़तरा दोनों के ही लिए होता है तो गुज़रे ज़माने का तीखापन कुछ कम हो जाता है, और मौजूदा वक़्त पर भविष्य के लिहाज से गौर किया जाता है। अब गुज़री याद फिर आ गई है, और उसका तीखापन बढ़ गया है। उदारता की जगह अब सख्ती और कड़वापन आगया है। वैसे कोई-न-कोई समझौता होगा ज़रूर, चाहे जल्दी हो या देर में; चाहे ज्यादा संघर्ष के बाद हो या बिना संघर्ष के, लेकिन अब इस बात की गुंजाइश बहुत ही कम है कि वह समझौता सच्चा और दिली होगा। उसमें अब आपसी सहयोग की बहुत कम संभावना रह गई है। ज्यादा मुमकिन यह है कि हालतों की मजबूरी से दोनों ही बेमन से झुकेंगे और अविश्वास और दुर्भावनाएं बनी रहेंगी। किसी भी ऐसे दल के, जो हिंदुस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बनाये रखने के उसूल को मानता हो, मंजूर किये जाने का रत्ती-भर भी मौक़ा नहीं है। कोई भी हल, जिसमें हिंदुस्तान में सामंतवादी अवशिष्ट बनाये रखने का इरादा हो, चल नहीं सकता।

हिंदुस्तान में जिंदगी सस्ती है। इसके साथ ही, यहां ज़िंदगी खोखली है, भद्दी है, उसमें थेगड़ियां लगी हुई हैं और ग़रीबी का दर्दनाक खोल उसके चारों तरफ़ है। हिंदुस्तान का वातावरण बहुत कमजोर बनाने वाला हो गया है। उसकी वजहें कुछ बाहर से लादी हुई हैं, और कुछ अंदरूनी हैं, लेकिन वे सब बुनियादी तौर पर ग़रीबी और कमी का नतीजा हैं। हमारे यहां के रहन-सहन का दर्जा बेहद नीचा है, और हमारे यहां मौत की रफ़्तार बहुत तेज़ है। उद्योग-धंधों से सजे हुए और मालदार देश ग़रीब मुल्कों की तरफ़ ठीक उसी तरह से देखते हैं, जिस तरह मालदार आदमी ग़रीब और बदकिस्मत आदमियों की तरफ़ देखते हैं। अपने विस्तृत साधनों और मौक़ों की वजह से धनी आदमी अपना मापदंड ऊंचा कर लेते हैं और उनके बड़े खर्चीले शौक़ होते हैं। वे ग़रीबों

को उनकी आदतों के लिए, उनकी असभ्यता के लिए, दोष देते हैं। अपने-आपको बेहतर बनाने के लिए एक तो उन्हें मौक़ा नहीं दिया जाता, और फिर ग़रीबी और उससे लगी हुई बुराइयों को, आगे भी उन्हें महरूम रखने के लिए उनके ख़िलाफ़ दलील बनाया जाता है।

हिंदुस्तान ग़रीब देश नहीं है। किसी देश को धनी बनाने वाली जितनी चीज़ें होती हैं, उनकी उसके पास बहुतायत है, फिर भी उसके निवासी बहुत ग़रीब हैं। संस्कृति के विविध अंगों की हिंदुस्तान के पास ऊंची विरासत है, और उसकी सामर्थ्य, संस्कृति की दिशा में बहुत बड़ी है; लेकिन कई नई बातों की, और संस्कृति के उपकरणों की कमी है। इस कमी की भी कई वजहें हैं, लेकिन उसकी ख़ास वजह यह है, कि उसको उन उपकरणों से ज़बर्दस्ती वंचित किया गया है। जब ऐसा होता है, तो जनता की जीवन-शक्ति को इन अड़चनों को पार करना चाहिए, और कमियों को पूरा करना चाहिए। हिंदुस्तान में आज यही हो रहा है। अब यह सच बिलकुल स्पष्ट हो गया है कि हिंदुस्तान के पास तरक्क़ी करने के लिए साधन हैं, अक़्ल है, चतुराई है, और सामर्थ्य है। उसके पास कितने ही युगों के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अनुभवों की निधि है। वह वैज्ञानिक सिद्धांत और व्यवहार्य विज्ञान दोनों ही में तरक्क़ी कर सकता है, और एक बड़ा औद्योगिक राष्ट्र बन सकता है। हालांकि उसके सामने कितनी ही मुश्किलें हैं, और उसके नौजवान स्त्री-पुरुषों को वैज्ञानिक काम करने के मौक़े नहीं मिलते, फिर भी उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियां महत्त्व-पूर्ण हैं। इस देश का फैलाव और उसकी संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए वह उपलब्धियां बहुत नहीं हैं, लेकिन उनसे यह पता ज़रूर लगता है, कि मौक़ा दिया जाने पर और राष्ट्र की शक्तियों का सोता खोल देने पर क्या होगा।

रास्ते में सिर्फ़ दो अड़चनें हो सकती हैं: अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और हिंदुस्तान पर बाहरी दबाव, और देश के ही अंदर एक आम मक़सद की कमी। अख़ीर में पिछली बात का ही अहमियत होगी। अगर हिंदुस्तान को दो या इससे ज़्यादा हिस्सों में तोड़ दिया जायगा, और अगर वह एक आर्थिक और राजनीतिक इकाई की तरह काम न कर सकेगा तो उसकी तरक्क़ी पर ज़बर्दस्त असर होगा। एक तो ख़ुद ही कमज़ोरी आयेगी लेकिन इससे बदतर चीज़ वह मनोवैज्ञानिक लड़ाई होगी जो हिंदुस्तान को अखंड बनाये रखने वालों और उसके विरोधियों में होगी। नये स्थापित स्वार्थ पैदा हो जायंगे जो रद्दो-बदल और तरक्क़ी को रोकेंगे। नये दुष्कर्म भविष्य में हमारा पीछा करेंगे। एक ग़लती से हम दूसरी पर जा पहुंचते हैं। यही बात पहले हुई है, और ऐसा ही भविष्य में हो सकता है। फिर भी कभी-कभी ज़्यादा बड़ी बुराई से बचने से

लिए छोटी बुराई को अपनाना पड़ता है, राजनीति की यही एक अजीब उलटी बात है। कोई भी आदमी यह नहीं कह सकता कि आगे चलकर मौजूदा ग़लती से, उस ख़तरे के मुक़ाबले में जिसका डर है, कम नुकसान होगा या ज्यादा। फूट के मुक़ाबले में एका हमेशा बहतर है, लेकिन ज़बर्दस्ती लादा हुआ एका एक धोखा है, और उसमें ख़तरा होता है, और वह विस्फोट की संभावनाओं से भरा होता है। एका तो दिल और दिमाग़ से होना चाहिए। उसके लिए अपनेपन की, संकट का मिलकर सामना करने की, भावना होनी चाहिए। मुझे पक्का यक़ीन है कि हिंदुस्तान में वह बुनियादी एका है, लेकिन इस वक़्त कुछ हद तक दूसरी ताक़तों की वजह से उस पर परदा पड़ गया है, वह छिपा दिया गया है। ये ताक़तें झूठी और अस्थायी हो सकती हैं, लेकिन आज उनकी अहमियत है, और कोई भी आदमी उन्हें नज़र-अंदाज़ नहीं कर सकता।

दर-अस्ल यह हमारा ही क़सूर है, और अपनी ग़लतियों का नतीजा हमको भुगताना पड़ेगा। लेकिन हिंदुस्तान में, इरादतन फूट डालने का ब्रिटिश अधिकारियों ने जो काम किया है, मैं उसके लिए उनको माफ़ नहीं कर सकता। और सारी चोटें अच्छी हो जायंगी लेकिन इसकी बेहद तकलीफ़ बहुत अर्से तक बना रहेगी। जब मैं हिंदुस्तान की बाबत सोचता हूं तो मुझे अक्सर चीन और आयर्लैंड की याद आ जाती है। गुज़री और मौजूदा समस्याओं की बाबत उनमें और हिंदुस्तान में बहुत फ़र्क़ है, फिर भी उनमें कई जगह एकसापन है। क्या भविष्य में हम सबका रास्ता एक-सा ही होगा ?

जिम फ़ेलां अपनी किताब 'जेल जर्नी' में मानव-स्वभाव पर जेल के असर की बाबत बताता है और हर एक आदमी, जिसने जेल में काफ़ी वक़्त गुज़ारा है, उसकी सचाई को जानता है : "जेल···मानव-स्वभाव के लिए उस शीशे की तरह काम करता है जिसमें चीज़ें बड़ी दिखाई देती हैं। हर छोटी-सी कमज़ोरी ज़ाहिर हो जाती है, उस पर ज़ोर दिया जाता है, उसको उकसाया जाता है, यहां तक कि आख़िर में वह क़ैदी नहीं रह जाता जिसमें कि कम-ज़ोरियां हैं, बल्कि सिर्फ़ कमज़ोरियां रह जाती हैं जो कि क़ैदी का जामा पहने हुए रहती हैं।" क़ौमी स्वभाव पर विदेशी हुकूमत का कुछ ऐसा ही असर होता है। सिर्फ़ यही असर नहीं होता। अच्छे गुण भी बढ़ते हैं और विरोध से धीरे-धीरे शक्ति भी जमा होती है। लेकिन विदेशी हुकूमत पहली चीज़ को बढ़ावा देती है और दूसरे असर को कुचलने की कोशिश करती है। जिस तरह जेल में क़ैदी चौकीदार होते हैं, जिनकी ख़ास क़ाबलियत अपने जेली साथियों पर खुफिया का काम करने में समझी जाती है, उसी तरह ग़ुलाम देश में ऐसे चापलूस और कठपुतले आदमियों की भी कमी नहीं होती जो हुकमत करने वालों की वर्दी पहन लेते हैं और उनके इशारों पर काम करते हैं। दूसरे लोग

ऐसे हैं जो जान-बूझ कर इस तरह तो काम नहीं करते लेकिन हुकूमत की नीतियों और जालसाजियों का उन पर असर जरूर होता है।

हिंदुस्तान के बंटवारे के उसूल को या यों कहा जाय कि एका ज़बर्दस्ती न लादा जाय, इस उसूल को मान लेने से उसके नतीजों पर ग़ैर-तरफ़दारी और गंभीरता से विचार करने का मौक़ा मिलता है, और इस तरह महसूस होगा कि एके से सभी को फायदा है। लेकिन यह बात जाहिर है कि अगर एक बार ग़लत क़दम उठा लिया जाय तो बहुत सी गलतियां इसके साथ ख़ुद-ब-ख़ुद हो जावेंगी। किसी मसले को ग़लत ढंग से हल करने की कोशिश से नये मसले पैदा हो सकते हैं। अगर हिंदुस्तान दो या इससे ज्यादा हिस्सों में बांटा जाता है तो बड़ी हिंदुस्तानी रियासतों को हिंदुस्तान में खपाना ज्यादा मुश्किल हो जायगा। उस वक्त उन रियासतों को अलग रहने की और अपनी निरंकुश हुकूमत बनाये रखने की एक और दलील मिल जायगी जो उन्हें वैसे नहीं मिल सकती।[1]

---

[1] यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रियासतें मज़बूत हिंदुस्तानी संघ बनायें रखने की ख्वाहिशमंद हैं। हां, अपनी अंदरूनी स्वाधीनता को वे बनायें रखनें के इच्छुक हैं। हिंदुस्तान के बंटवारे के प्रस्ताव का रियासतों के कुछ कूटनीतिज्ञों और मंत्रियों नें जोरदार विरोध किया है और उन्होंने यह बात साफ़ कह दी है कि अगर ऐसा बंटवारा होता है तो वह अलग ही रहना ज्यादा पसंद करेंगे, और विभाजित हिंदुस्तान के किसी भी हिस्से से वह अपने-आपको नहीं बांधेंगे। ट्रावनकोर के दीवान और रियासतों के सबसे ज्यादा क़ाबिल और तजुर्बेकार मंत्रियों में से एक सर सी० पी० रामास्वामी ऐयर रियासतों की अंदरूनी स्वाधीनता के कट्टर हिमायती हैं (हालांकि अपनी निरंकुश नीति और जिनको पसंद नहीं करते उनको कुचलनें की नीति की वजह से वे काफ़ी बदनाम हैं)। साथ ही पाकिस्तान या बंटवारे के किसी भी प्रस्ताव के वे ज़ोरदार और पक्के विरोधी हैं। इंडियन कौंसिल आफ़ वर्ल्ड एफेयर्स की बंबई की शाखा में ६ अक्टूबर १९४४ को व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा:—"रियासतों को ऐसी योजना में जाना चाहिए और मेरे लिहाज़ से वे ऐसी ही योजना में आवेंगी, जिसमें हिंदुस्तान की सारी राजनीतिक और हुकूमती इकाइयों को केंद्रीय लेजिस्लेटिव और एक्ज़ीक्यूटिव संस्था बनाने और उसको चलाने में सहयोग देंगी। ऐसा संगठन हिंदुस्तान में और विदेशों में क़ौमी और नुमाइंदा हैसियत से कारगर तौर पर काम करेगा। हिंदुस्तान के अंदर इकाइयों का आपसी रिश्ता बराबरी का होगा और उसमें किसी के बड़प्पन का सवाल नहीं होगा, हालांकि केंद्र के बचे हुए और अन्य सारे

मज़हबी बुनियाद पर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हिंदुस्तान का बटवारा, जैसा कि मुस्लिम लीग सोचती है, इन दो खास धर्मों के मानने वालों को अलग-अलग नहीं कर सकता, क्योंकि वे सारे देश में फैले हुए हैं। अगर उन हिस्सों को भी अलहदा किया जाय, जहां एक वर्ग का बहुमत है, तो उन हिस्सों में अल्प-संख्यक बहुत बड़ी तादाद में बाकी बच रहते हैं। इस तरह अल्प-संख्यकों की समस्या को हल करने मे हम एक की जगह कई समस्याएं खड़ी कर लेते हैं। दूसरे धार्मिक वर्ग, मसलन सिख अपनी तबियत के खिलाफ़ दो अलग सरकारों में बंट जायंगे। एक वर्ग, को अलग होने की आज़ादी देने से दूसरे वर्गों को, जो उन हिस्सों में अल्प-संख्यक हैं, अलग होने की आज़ादी नहीं मिलती। उनको उनकी तबियत के सख्त खिलाफ़ मजबूर किया जाता है कि वे अपने-आपको बाक़ी हिंदुस्तान से अलहदा कर लें। अगर यह कहा जाय

अधिकारों को पूरी तरह स्वीकार किया जायगा।" आगे चलकर वह कहते हैं, "मेरा विचार यह है कि पुराने समझौतों के अधिकार हों या न हों लेकिन किसी भी ऐसी हिंदुस्तानी रियासत को बने रहने का अधिकार नहीं होगा जो ऐसी योजना में शामिल नहीं होती जिससे हिंदुस्तानी रियासतों और ब्रिटिश हिंदुस्तान का उन सभी से ताल्लुक रखने वाले मामलों में केंद्रीय नियंत्रण या इंतज़ाम हो, या, जो ईमानदारी से उस राजनीतिक इंतज़ाम के मुताबिक अमल नहीं करतीं, जिसको सबने बराबरी की हैसियत से मिलकर, सोच-विचार कर आपस में तै किया हो।" "मैं इस बात पर खास तौर से ज़ोर देना चाहता हूं और मैं जानता हूं यह एक विवादास्पद बात होगी कि किसी भी हिंदुस्तानी रियासत का बने रहने का अधिकार नहीं है अगर वह जनता की खुशहाली के मामले में ब्रिटिश भारत से आगे नहीं तो कम-से-कम उसके बराबर भी नहीं है।"

एक दूसरी बात, जिस पर रामास्वामी ऐयर ने ज़ोर दिया है, यह है कि ६०१ रियासतों से बराबरी दर्जे पर बर्ताव नामुमकिन है। उनका खयाल है कि हिंदुस्तान के नये विधान में ६०१ रियासतें घटाकर १५-२० कर दी जायेंगी और वे बाकी प्रांतों या बड़ी रियासतों की इकाइयों में मिला ली जायेंगी।

रामास्वामी ऐयर जाहिरा तौर पर रियासतों में अंदरूनी राजनीतिक तरक्की को कोई खास अहमियत नहीं देते हैं या कम-से-कम उसे एक गौण बात समझते हैं। लेकिन इसकी कमी से रियासतों में चाहे और दिशा में कितनी ही तरक्की क्यों न हो, जनता में और हुकमत में बराबर संघर्ष चलता रहेगा।

कि जहां तक अलहदगी का सवाल है हर हिस्से म (धार्मिक) बहु-संख्यकों की ही बात मानी जाय, तो फिर कोई वजह नहीं कि समूचे हिंदुस्तान के सवाल को भी बहु-संख्यकों के नज़रिये से क्यों न तै किया जाय। या हर छोटा-सा हिस्सा अपनी निजी हैसियत को अपने-आप तै करे और इस तरह छोटी-छोटी रियासतों की एक बहुत बड़ी तादाद हो जायगी—यह एक अजीब और मज़ाक की बात होगी। इसके अलावा किसा ढंग से यह हो ही नहीं सकता, क्योंकि सारे देश में अलग-अलग मज़हब के आदमी हर जगह फैले हुए हैं, और हर हिस्से की आबादी में घले-मिले हुए हैं।

जहां कि क़ौमों का सवाल है इस तरह के मामलों को बंटवारे से हल करना बहुत मुश्किल होता है, लेकिन जहां कसौटी मज़हब की हो, वहां इंसाफ़ की बुनियाद पर उसको हल करता नाममकिन है। यह ता मध्यकालीन धारणाओं की तरफ़ वापिस लौटना है, और आज की दुनिया में उसका मेल नहीं बिठाया जा सकता।

अगर बंटवारे के आर्थिक पहलू पर गौर किया जाय तो यह बात साफ़ है कि अखंड हिंदुस्तान मज़बूत और बहुत हद तक एक अपने में पूरी आर्थिक इकाई होगा। किसी भी बंटवारे से क़ुदरती तौर पर वह कमज़ोर होगा, और एक हिस्से को दूसरे हिस्से का सहारा लेना होगा। अगर बंटवारा इस तरह से किया जाय कि बहु-संख्यक हिंदू या मस्लिम हिस्से अलग-अलग कर दिये जायं तो हिंदुओं के पास ज्यादातर खनिज साधन के और उद्योग-धंधों के हिस्से पहुंच जायंगे। दूसरी तरफ़ मुसलमान हिस्से आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए होंगे, और अक्सर उनके पास ज़रूरतों के लिहाज़ से चीज़ों की कमी बनी रहेगी, और बिना बाहरी मदद के वह अपना अस्तित्व भा नहीं रख सकेंगे। इस तरह से यह कड़वी सचाई सामने आती है कि आज जो लोग बंटवारा चाहते हैं वही सबसे ज्यादा नुक़सान में रहेंगे। कुछ हद तक इस सचाई को महसूस करने की वजह से अब वह यह कहने लगे हैं कि बंटवारा इस ढंग से हो और उन्हें ऐसा हिस्सा मिले कि आर्थिक सम-तौल हो सके। मुझे नहीं मालूम कि किन्हीं परिस्थितियों म एसा मुमकिन भी हो सकता है, लेकिन मुझे उस पर ज़रूर शक ह। हर सूरत में ऐसा कोशिश के मानी यह होंगे कि विभाजित भाग से हिंदू और सिखों की बहुत बड़ी आबादी को जबरन बांध दिया जाय। आत्म-निर्णय के उसूल को अमल में लाने का यह एक अजीब तरीक़ा होगा। मुझे उस आदमी की कहानी याद आती है जिसने अपने मां-बाप को मार डाला, और फिर अदालत के सामने यह फ़रियाद की कि वह अनाथ है।

एक और अजीब उलटापन सामने आता है। आत्म-निर्णय के उसूल का दुहाई दी जाता है, लेकिन इसका तै करने के लिए वहां की जनता का मत लेने

फ़ी बात नहीं मानी जाती। यह कहा जाता है कि अगर राय लेनी है तो सिर्फ़ उन हिस्सों के मुसलमानों की ही राय ली जाय। बंगाल और पंजाब में मुसलमानी आबादी ५४ फ़ीसदी या इससे भी कम है। उनकी राय के मानी यह हुए कि ५४ फ़ीसदी के वोट से बाकी ४६ फ़ीसदी या इससे भी ज्यादा लोगों की क़िस्मत का फैसला हो और इन ४६ फ़ीसदी आदमियों को उस मामले में कुछ भी कहने का हक़ नहीं होगा। इसका नतीजा यह हो सकता है कि हिंदुस्तान के २८ फ़ीसदी आदमी बाकी ७२ फ़ीसदी आदमियों की भी किस्मत का फ़ैसला करें।

समझ में नहीं आता कि किस तरह कोई समझदार आदमी ऐसा प्रस्ताव पेश कर सकता है और यह उम्मीद कर सकता है कि दूसरे लोग उसे मान लेंगे। मुझे नहीं मालूम, और जब तक इस सवाल पर वोट नहीं लिये जाते किसी को मालूम हो भी नहीं सकता कि उन हिस्सों के कितने मुसलमान बंटवारा चाहते हैं। मेरा ऐसा खयाल है कि बहुत काफी लोग, शायद ज्यादातर लोग, उसके ख़िलाफ वोट देंगे। कई मुसलमान संस्थायें, उसके ख़िलाफ़ है। हर एक ग़ैर मुस्लिम, चाहे वह हिंदू, सिख, ईसाई या पारसी हो, उसके ख़िलाफ़ है। ख़ास तौर से बंटवारे की भावना उन हिस्सों में पैदा हुई है, जहां मुसलमानों की आबादी बहुत कम है—ऐसे हिस्सों में जो हर सूरत में बाक़ी हिंदुस्तान से अलहदा नहीं होंगी। जिन हिस्सों में मुसलमान बहु-संख्यक हैं वहां, इसका कोई असर नहीं है; कुदरती बात है कि वे खुद अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं, और उन्हें दूसरे समुदायों का डर नहीं है। सरहदी सूबे में उसका असर सबसे कम है जहां मुसलमान ९५ फ़ीसदी हैं। वहां के पठान बहादुर हैं, उन्हें अपने ऊपर भरोसा है, और उन्हें किसी तरह का डर नहीं है। इस तरह यह एक अजीब-सा बात है कि मुस्लिम लीग के प्रस्ताव का समर्थन उन हिस्सों में बहुत कम है और उसका असर तो सिर्फ़ उन हिस्सों में है जहां मुसलमान अल्प-संख्यक हैं, और जहां बंटवारे का कोई भी असर नहीं होगा। फिर भी यह वाक़या जरूर है कि उसके नतीजे पर ग़ौर किये बिना, मुसलमान काफ़ी बड़ी तादाद में, इस बंटवारे के ख़याल की तरफ़ भावुकता से खिच गए हैं। अस्ल में अभी तो यह प्रस्ताव बहुत धुंधली शक्ल में सामने आया है और बार-बार पूछने पर भी अब तक उसकी रूप-रेखा निश्चित करने की कोशिश नहीं की गई।

मेरे ख़याल से यह भावना अस्वाभाविक तौर पर पैदा की गई है, और मुस्लिम जनता के दिमाग़ में इसकी कोई जड़ नहीं है। लेकिन घटनाओं पर असर डालने के लिए और नई हालत पैदा करने के लिए, एक अस्थायी भावना भी काफ़ी ताक़तवर हो सकती है। आम तौर पर, समय-समय पर सुलझाव

और समझौता होता रहता है लेकिन आज हिंदुस्तान जिस अजीब स्थिति में है और जब सारी ताक़त विदेशी हाथों में है, यहां कुछ भी हो सकता है। पर बात साफ है कि असली समझौता तभी होगा जब उसकी बुनियाद समझौता करने वालों की सद्भावनाओं पर हो, और सब जमातों में एक आम मक़सद के लिए मिलकर काम करने की ख्वाहिश हो। इसको हासिल करने के लिए कोई भी वाजिब क़ुर्बानी की जा सकती है। हर समुदाय क़ानूनन या अमली तौर पर सिर्फ़ आज़ाद ही न हो, और उसकी तरक्क़ी के लिए सिर्फ़ बराबर मौक़ा ही न मिले, बल्कि उसको आज़ादी और बराबरी की चेतना भी होनी चाहिए। अगर जोश को और बेक़ायदा भावनाओं को एक तरफ़ रख दिया जाय, तो सूबों और रियासतों को ज्यादा-से-ज्यादा स्वाधीनता देते हुए और साथ ही मज़-बूत केंद्र बनाते हुए, ऐसी आज़ादी का इंतज़ाम किया जा सकता है। बड़े-बड़े सूबों और रियासतों में भी, सोवियत् रूस की तरह, और छोटी-छोटी स्वाधीन इकाइयां हो सकती हैं। इसके अलावा अल्प-संख्यकों के अधिकारों के बचाव और हिफ़ाज़त के लिए आईन में क़ायदे बनाये जा सकते हैं।

यह सब किया जा सकता है, फिर भी मैं नहीं जानता कि बहुत-सी अनजानी ताक़तों और बातों की भी वजह से, खास तौर से ब्रिटिश नीति की वजह से, आगे क्या सूरत पदा होगी। ऐसा हो सकता है कि हिंदुस्तान पर जबर्दस्ती कोई बंटवारा लाद दिया जाय, और अलहदा हिस्सों को एक कमज़ोर बंद से मिला दिया जाय। अगर ऐसा हो भी जाय, तो भी मुझे पक्का यक़ीन है कि एके की बुनियादी भावना और दुनिया की रद्दो-बदल से ये विभाजित हिस्से एक दूसरे के क़रीब आ जायंगे और उनमें सच्चा एका होगा।

यहां एका भौगोलिक है, ऐतिहासिक है और सांस्कृतिक है। लेकिन उसके पक्ष में जो सबसे बड़ी ताक़त है वह है दुनिया की घटनाओं का रुझान। हममें से बहुत से लोगों की राय में हिंदुस्तान एक राष्ट्र है। मि० जिन्ना ने दो राष्ट्रों का सिद्धांत पेश किया है, और बाद में अपने सिद्धांत में और राज-नीतिक शब्द-कोष में कुछ नई चीजें और जोड़ दी हैं। उनके लिहाज से यहां के और दूसरे धार्मिक समुदाय उपराष्ट्र हैं। उनके खयाल में, धर्म और राष्ट्र में कोई फ़र्क़ नहीं है। आजकल आम तौर से ऐसी विचार-धारा नहीं है। लेकिन अब इसकी कोई खास अहमियत नहीं कि हिंदुस्तान को एक राष्ट्र कहना सही होगा या दो राष्ट्र। आजकल-राष्ट्रीयता का और राज-सत्ता के अस्तित्व का कोई नाता नहीं है। आजकल राष्ट्रीय राज-सत्ता की इकाई बहुत छोटी है और छोटी-छोटी राज-सत्ताओं का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता। यहां तक कि कुछ बड़ी राष्ट्रीय सरकारों की अलग और स्वतंत्र सत्ता होगी, अब इसम भी शक है। राष्टीय सरकारों की जगह अब बहु-राष्टीय सरकार या बडे-बडे

संघों को मिल रही है। सोवियत् यूनियन इसका एक खास नमूना है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, हालांकि वह मजबूत राष्ट्रीय बंधनों से बंधा हुआ है, असिलयत में एक बहुराष्ट्रीय सरकार है। यूरोप में हिटलर के हमलों के पीछे, नास्तिकों की विजय-लालसा के अलावा भी कुछ और बात थी। नई ताक़तें यूराप में छोटी-छोटी सरकारों का ढांचा खत्म करना चाहती थीं। हिटलर की फ़ौजें अब तेज़ी से वापस लौट रही हैं, या खत्म हो रही हैं, लेकिन बड़े-बड़े संघों का खयाल बना हुआ है।

पुराने पैग़म्बरों के-से उत्साह के साथ मि० एच० जी० वेल्स सारी दुनिया को बताते रहे हैं कि मानवता का एक युग खत्म हो रहा है। यह वह युग है जिसमें चीज़ों का इतज़ाम टुकड़ों में होता है। राजनीतिक नज़र से ये टुकड़े अलग-अलग बिलकुल स्वतंत्र सरकारें हैं, और आर्थिक नज़र से वह निरंकुश व्यापारी संस्थायें हैं, जिनमें मुनाफ़े के लिए प्रतियोगिता चल रही है। वेल्स का कहना है कि राष्ट्रीय व्यक्तिवाद और पृथक्, स्वतत्र उद्योग का ढांचा ही दुनिया की बीमारी है। हमको राष्ट्रीय सरकार को खत्म करना होगा और एक ऐसा समष्टिवाद चालू करना होगा जिसमें न तो ग़ुलामी है और न जिससे अधःपतन होता है। पैग़म्बरों की, उनके जीवन-काल में अवहेलना होती है, और कभी-कभी तो उनको पत्थर खाने पड़ते हैं। इसी तरह मि० वेल्स की या और लोगों की चेतावनी नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह है, और जहां तक हुकूमतों का सवाल है उन पर कोई भी असर नहीं है। फिर भी वे अनिवार्य प्रवृत्तियों की तरफ़ तो इशारा करती ही हैं। इन प्रवृत्तियों की रफ़्तार या घटाई जा सकती है या जिन लोगों के हाथ में ताक़त है अगर वे बिलकुल अंधे हैं तो शायद उन्हें एक और बड़े विध्वंस का इंतज़ार करना पड़े, और तब शायद इन प्रवृत्तियों को सफलता मिले।

दूसरी जगहों की तरह, हिंदुस्तान में भी हम लोग पिछली घटनाओं या आदर्शों से पैदा हुए नारों और उद्घोषों के बंधन में बंधे हैं। वे आजकल बिलकुल बेतुके हैं, और उनका खास काम मौजूदा मसलों पर ग़ैर-तरफ़दारी के और तर्क-संगत विचार को रोकना है। धुंधले आदर्शों और धुंधली कल्पनाओं की तरफ़ भी एक झुकाव है। इनसे भावुकता पैदा होती है, जो अपने ढंग से अच्छी हो सकती है, लेकिन उससे भी दिमाग़ में एक ढंग की काहिली आती है, और हमारे सामने एक ग़लत नक़्शा आता है। पिछले कुछ सालों में, हिंदुस्तान के बंटवारे और एके के बारे में बहुत-कुछ लिखा और कहा जा चुका है। फिर भी यह हैरत-अंगेज वाक़या हमारे सामने है कि जिन लोगों ने पाकिस्तान या बंटवारे का प्रस्ताव पेश किया है, उन्होंने, अपना मतलब समझाने, या उसके नतीजों पर ग़ौर करने से इंकार कर दिया है। वे सिर्फ़ भावुकता की ही सतह

पर काम करते हैं। यही हाल उनके ज्यादातर विरोधियों का भी है। जिस सतह पर वह रहते हैं वह ख़याला है, धुंधली-सी ख्वाहिशों की है, और इन सबके पीछे कुछ कल्पित फ़ायदे हैं। लाजिमी तौर से, भावकता या ख़याली बातों पर निर्भर, इन दो दलों के बीच कोई भी समझौते का रास्ता नहीं निकल सकता। और इस तरह 'पाकिस्तान' और 'अखंड हिंदुस्तान' के नारे सब जगह एक दूसरे के मुक़ाबले में उठाये जा रहे हैं। यह बात साफ़ है कि सामुदायिक भावनाओं और चेतन और अचेतन प्रवृत्तियों की अहमियत है, और उनका ख़याल रखना होगा। उसी तरह यह बात भी साफ़ है कि भावना की चादर से ढक देने या छिपा देने से अस्लियत या सचाई ग़ायब नहीं हो सकती; वह बेमौक़ और अन-जाने ढंग से बाहर फूट पड़ती है। इन भावनाओं की ही बुनियाद पर अगर कोई फ़सले किये जावें या इन फ़ैसलों में समझ के मुक़ाबले भावना का ही ज्यादा जोर हो, तो इस बात की संभावना है, कि वे ग़लत होंगे, और उनके नतीजे ख़तरनाक होंगे।

यह बात बिलकुल साफ़ है कि हिंदुस्तान का भविष्य चाहे जो हो, और चाहे बंटवारा ही क्यों न हो, लेकिन हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों को सैकड़ों बातों में मिल-जुल कर काम करना पड़ेगा। बिलकुल आज़ाद राष्ट्रों को भी एक दूसरे के साथ मिल-जुल कर काम करना पड़ता है। फिर हिंदुस्तान के सूत्रों को या उन हिस्सों को, जो बंटवारे से बनेंगे, और भी ज्यादा हद तक आपसी सहयोग की ज़रूरत होगी। वजह यह है, कि इन सबका एक आपसी क़रीबी रिश्ता है, और अगर उनकी आज़ादी जायगी या उनकी बरबादी होगी तो ये सभी बातें दोनों के लिए एक ही साथ होंगी। इसलिए सबसे पहला और अमली सवाल यह है कि, अगर हिन्दुस्तान को आज़ाद रहना है और तरक्क़ी करनी है तो उसके विभिन्न हिस्सों को जोड़े रखने वाले बंधन कौन-से होंगे, जिनकी ज़रूरत खुद उन हिस्सों की स्वाधीनता और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी होगी। हिफ़ाज़त की बात सबसे बड़ी है और ज़ाहिर है। उस हिफ़ाज़त के पीछे उसको ज़िंदगी देने वाले बड़े-बड़े कारख़ाने हैं, आने-जाने के ज़रिय हैं और कुछ हद तक आर्थिक योजना भी है। इसके अलावा समुद्री टैक्स, विनिमय और हिन्दुस्तान को अन्दरूनी तौर पर मुक्त व्यापार का क्षेत्र बनाये रखने के सवाल हैं; क्योंकि देश के अंदर तिजारती टैक्स लगने से तिजारती तरक्क़ी में ज़बर्दस्त रुकावट होगी। इसी तरह और भी सवाल हैं जिनका समूचे हिंदुस्तान और उसके हिस्सों, दोनों ही के लिहाज़ से, मिल-जुल-कर, केंद्रीय नियंत्रण होना जरूरी है। चाहे हम पाकिस्तान की तरफ हों या न हों, लेकिन हम इन बातों से अलग नहीं हो सकते। हां यह बात दूसरी है, कि हम वक़्ती जोश में आकर और सब चीज़ों की तरफ़ से आंखें बन्द कर लें।

हवाई सफ़र की बहुत ज्यादा बढ़ता की वजह से, उसके अंतर्राष्ट्रीकरण की या उसमें किसी ढंग के अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण की मांग की गई है। मुखालिफ़ मुल्क इसको मानने की अक्लमंदी दिखायेंगे, इसके बारे में अभी शक है। लेकिन यह बात बिलकुल तै है कि हिंदुस्तान में हवाई तरक्क़ी सिर्फ़ अखिल हिंदुस्तान की बनियाद पर हो सकती है, यह बात तो खयाल के भी बाहर है, कि विभाजित हिंदुस्तान के हिस्से उस सिलसिले में अलग-अलग तरक्क़ी करें। यही बात कई और ऐसी कारंवाइयों के लिए लागू होती है जिनके लिए राष्ट्रीय सीमाओं का क्षेत्र बहुत छोटा है। कुल मिलाकर हिंदुस्तान काफ़ी बड़ा है, और उसमें तरक्क़ी के लिए जगह है, लेकिन यह बात, विभाजित हिस्सों में नहीं होगी।

इस तरह हम इस लाज़िमी नतीजे पर पहुंचते है कि चाहे पाकिस्तान हो या न हो, सरकार के कई अहम और बुनियादी काम अखिल हिंदुस्तानी बनियाद पर करने होंगे। कम-से-कम, अगर हिंदुस्तान को एक आज़ाद सरकार की तरह रहना है और अगर उसे तरक्क़ी करनी है तो यह बात ज़रूरी होगी। दूसरी तरफ़, सड़न, बरबादी और राजनीतिक और आर्थिक आज़ादी का नुकसान सिर्फ हिंदुस्तान का ही नहीं होगा बल्कि उसके सभी विभाजित हिस्सों का होगा। एक मशहूर और क़ाबिल आदमी ने कहा है, 'ज़माना मुल्क के सामन दो बिलकुल अलग रास्ते पेश करता है: एका और आज़ादी का, या बंटवारे और ग़लामी का।' उस एके की क्या शक्ल होगी उसको क्या नाम दिया जायगा, इसकी कोई खास अहमियत नहीं है। वैसे नामों का अपना असर होता है। और उसका एक मनोवैज्ञानिक मूल्य होता है। असली बात यह है कि बहुत से काम कारगर तौर पर सिर्फ़ कुल-हिंदुस्तानी बुनियाद पर हा हो सकते हैं। शायद इनमें से बहुत से कामों पर जल्दी ही अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का नियंत्रण हो जावेगा। दुनिया सिकुड़ती जाती है, और उसके मसले सभी जगहों के लिए एक होते जा रहे हैं। हवाई जहाज़ से दुनिया को पार करने में और किसी एक जगह से दूसरी जगह जाने में अब पूरे तीन दिन भी नहीं लगते और भविष्य में स्ट्रटौस्फ़ीयर (ज़मीन से दस मील से ज़्यादा ऊंचाई पर हवा के पर्त) में आने-जाने के विज्ञान में तरक्क़ा होने पर और भी कम वक़्त लगेगा। हिंदुस्तान को दुनिया के हवाई सफ़र का एक बड़ा केंद्र बनना चाहिए। रेल के ज़रिये, हिंदुस्तान एक तरफ़ तो पच्छिमी एशिया और यूरोप से और दूसरी तरफ़ चीन और बर्मा से मिलेगा। हिमालय के दूसरा तरफ़ हिंदुस्तान से कुछ दूर, सोवियत् एशिया में एक बहुत उन्नत औद्योगिक प्रदेश है, और भविष्य में उसके बेहद बढ़ने की गुंजाइश है। हिंदुस्तान पर इसका असर होगा और उसमें कई प्रतिक्रियाय होंगी।

इसलिए एके या पाकिस्तान का समस्या पर हमारी निगाह भावुकता से

भरी हुई नहीं होनी चाहिए, बल्कि उस पर अमली बातों को निगाह में रखते हुए, मौजूदा दुनिया को निगाह में रखते हुए, ग़ौर करनी चाहिए। इस ढंग से हम कुछ निश्चित और स्पष्ट नतीजों पर पहुंचते हैं : कुछ अहम कामों या मामलों के लिए, सारे हिंदुस्तान को साबित बनाये रखना ज़रूरी है। इसके अलावा शामिल होने वाली इकाइयों को पूरी आज़ादी हो सकती है, और होनी चाहिए। इसके अलावा कुछ चीज़ें हो सकता है, जिनमे केंद्र और ये इकाइयां, दोनों ही मिलकर काम करें। इस मामले में अलग-अलग रायें हो सकती हैं कि हमारा कार्य-क्षेत्र कहां खत्म होता है, या कहां शुरू होता है, लेकिन अमली तौर से इन फ़र्कों को, काफ़ी आसानी से समझौता करके दूर किया जा सकता है।

लेकिन एक बात लाज़िमी है। वह यह है कि इस सबकी बुनियाद रज़ामंदी से मिल-जुलकर काम करने की भावना पर हो; उसमे दबाव या ज़बर्दस्ती की भावना न हो; और उसमे हर इकाई और हर आदमी आज़ादी महसूस करे। पुराने स्थापित स्वार्थ मिटेंगे और यह बात भी साफ़ है कि नये स्वार्थ पैदा भी नहीं किये जायंगे। कुछ ऐसे प्रस्ताव हैं जो वर्गों की आधिभौतिक धारणाओं की बुनियाद पर हैं, और वे वर्ग के व्यक्तियों को भुलाकर, एक आदमी को दूसरे के दो या तीन आदमियों के बराबर राजनीतिक अधिकार दिलाना चाहते हैं और इस तरह नये स्वार्थों की स्थापना करते हैं। ऐसी बातों से बेहद असंतोष होगा, और उनमें पायेदारी नहीं होगी।

हिंदुस्तानी संघ या राष्ट्र से किसी सुनिर्मित हिस्से के अलहदा होने के अधिकार की बात अक्सर पेश की गई है, और उस सिलसिले में समर्थन के लिए सोवियत् यूनियन की दलील अस्ल में लागू ही नहीं होती, क्योंकि वहाँ की हालतें बिलकुल दूसरी हैं, और उस अधिकार की अमली तौर पर कोई क़ीमत नहीं है। हिंदुस्तान के मौजूदा भावुक वातावरण में भविष्य के लिए इसको मान लेना वांछनीय हो सकता है, ताकि दबाव से आज़ादी की भावना, जो बहुत ज़रूरी है, बनी रहे। अमली तौर पर कांग्रेस ने उसे मान लिया है। लेकिन उस अधिकार को इस्तेमाल करने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले ऊपर कही हुई उन सारी समस्याओं पर ग़ौर कर लिया जाय, जिनका सभी से ताल्लुक़ है। साथ ही शुरू में या अलहदगी की संभावना से एक बड़ा भारी खतरा है। वजह यह है कि ऐसी कोशिश से खुद आज़ादी की शुरूआत और आज़ाद राष्ट्रीय सरकार के निर्माण को चोट पहुंचेगी। दुश्वार मसले उठ खड़े होंगे और सारे असली सवालों पर परदा पड़ जायगा। चारों तरफ़ विच्छेद का ही वातावरण होगा। हर ढंग के समुदाय, जो वैसे तो मिलकर रहने को तैयार हैं, अलग-अलग अपनी सरकार क़ायम करने की मांग करेंगे, या ऐसे खास

अधिकार मांगेंगे जिनसे दूसरों के अधिकारों पर हमला होता हो। हिंदुस्तानी रियासतों का मसला हल करना बेहद मुश्किल हो जायगा, और मौजूदा रियासती ढांचे को एक नई ज़िंदगी हासिल हो जायगी। सामाजिक और आर्थिक मसलों को हल करना, और भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। अस्लियत में ऐसी अशांति में किसी आज़ाद सरकार का क़ायम करना ममकिन नहीं होगा और अगर कोई ऐसी सरकार बन भी गई, तो वह दयनीय और उपहास्य होगी, और वह भीतरी विरोधों और उलझनों से भरी हुई होगी।

इससे क़ब्ल कि अलहदा होने के अधिकारों को इस्तैमाल किया जाय, यह ज़रूरी है कि एक ठीक ढंग से बनी हुई आज़ाद सरकार पूरी तरह काम करने लगे। जब बाहरी असर हट जायंगे और देश के असली मसले सामने होंगे तो उस वक़्त मौजूदा भावकता से हटकर, ग़ैर-तरफ़दारी के साथ, इन मसलों पर असली नज़रिये से ग़ौर करना मुमकिन होगा। उस भावुकता से तो बहुत खतरनाक नतीजे होंगे, जिनसे आगे चलकर हम सभी को मलाल हो सकता है। इसलिए आज़ाद हिंदुस्तानी सरकार के क़ायम होने के बाद (मसलन दस बरस बाद) कोई वक़्त तै कर देना, ज्यादा मुनासिब हो सकता है। उस अर्से के बाद उचित, वैधानिक ढंग से, संबंधित हिस्सों की साफ़ ज़ाहिर की हुई ख्वाहिश के बमूजिब ही, अलग होने के अधिकार का इस्तैमाल हो सकता है।

हम में से बहुत से लोग हिंदुस्तान की मौजूदा हालतों से बेहद परेशान हो गए हैं और कोई-न-कोई रास्ता निकालने के लिए जी-जान से ख्वाहिशमंद हैं। कुछ लोग तो इस धुंधली आशा से कि उन्हें कुछ थोड़ी-सी राहत मिलेगी, दम घोटने वाले ढाचे से बाहर कुछ सांस लेने का मौक़ा मिलेगा, उस दिशा में बहने वाले तिनके को भी पकड़ने के लिए तैयार हैं। यह बहुत क़ुदरती है। लेकिन इस ढंग की कोशिशों में, हमेशा खतरा होता है। ये मसले बहुत अहम हैं और उनका असर करोड़ों आदमियों की खुशहाली पर और भविष्य में दुनिया की शांति पर होता है। हिंदुस्तान में हम बराबर, विध्वंस के नज़दीक रहते हैं, और कभी-कभी विध्वंस हमको कुचल डालता है। हिंदुस्तान में, बंगाल में, और दूसरी जगहों में, हम पिछली साल यह देख चुके हैं। बंगाल के अकाल और उसके बाद जो कुछ हुआ वह कोई दुःखद अपवाद नहीं था। उसकी कोई असाधारण या अचानक वजह नहीं थी, जिसका नियंत्रण या इंतज़ाम न किया जा सकता हो। हिंदुस्तान पीढ़ियों से तकलीफ़ पा रहा है। उसकी बीमारी उसके शरीर में गहरी पैठी हुई है, और उसके बदन के हिस्सों को खाये जा रही है। उस अकाल में इस हिंदुस्तान की भयंकर और साफ़ तस्वीर सामने आई। अगर हम अपनी सारी शक्तियों को इस बीमारी की जड़ खोदने और उस बीमारी को दूर करने में न लगावें, तो यह बीमारी दिन-ब-दिन ज्यादा

खतरनाक और विध्वंसकारी होता जायगी। बंट हुए हिंदुस्तान से, जिसमें हर हिस्सा सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र करेगा, और उसे न दूसरों की परवाह हागी और न वह दूसरों से मिल-जुल कर काम करेगा, यह बीमारी बढ़ जावेगी, और हम नाउम्मीदी, बेबसी और तकलीफ़ का दलदल में फंस जावेंगे। इस वक़्त भी हम बहुत ज्यादा पिछड़े हुए हैं, और हमें खोये हुए वक़्त की कमी को पूरा करना है। क्या बंगाल के अकाल के सबक़ का भी हम पर असर नहीं होगा? अब भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो आबादी की राजनीतिक संस्थाओं, हिफाज़त समतोल, रोक, और विशेषाधिकारी दलों या ऐसे ही नये दलों के क़ायम करने की बातों में फंसे हुए हैं। वे लोग दूसरे लोगों को आगे बढ़न से रोकना चाहते हैं, क्योंकि या तो वे ख़ुद बढ़ना नहीं चाहते या खुद बढ़ ही नहीं सकते। उनका दिमाग़ स्थापित स्वार्थों को, और मामूली रद्दो-बदल को छोड़कर मौजूदा हिंदुस्तान की तस्वीर को ज्यों-का-त्यों बनाये रखन की ही बातें सोचता है। वे लोग, व्यापक सामाजिक और आर्थिक तब्दालियों को टालना चाहते हैं। ऐसा करना बड़ी भूल होगी।

वक्ती मसले बड़े मालूम देते हैं, और हमारा सारा ध्यान उधर ही है। लेकिन मुमकिन है कि ज्यादा दूरंदेशी से काम लेने पर उनकी खास अहमियत न रहे, और इन ऊपरा घटनाओं की सतह के नीचे ज्यादा बड़ी ताक़तें काम कर रही हों। मौजूदा मसलों को कुछ देर के लिए एक तरफ़ रखकर, आगे ध्यान देने पर, मजबूत, साबित हिंदुस्तान की तस्वीर सामने आती है, जिसमें आज़ाद इकाइयों का संघ होगा, जिसके अपने पड़ोसियों से बहुत गहरे रिश्ते होंगें, और जिसकी दुनिया के मामलों में एक अहमियत होगी। ऐसे बहुत ही कम मुल्क हैं, और हिंदुस्तान उनमें से एक है, जो अपने साधनों और अपनी सामर्थ्य के बल पर अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। आज शायद ऐसे देश सिर्फ़ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और सोवियत् यूनियन हैं। ग्रेट ब्रिटेन की भी उन देशों में गिनती हो सकती है, बशर्ते कि उसके अपने साधनों के साथ उसके साम्राज्य के साधन हों, फिर भी दूर तक फैला हुआ और असंतुष्ट साम्राज्य कमज़ोरी की जड़ होता है। चीन और हिंदुस्तान में, उस दल में शामिल होने की बहुत बड़े साधन-सामर्थ्य हैं। दोनों ही भौगोलिक दृष्टि से सुगठित हैं, दोनों ही सम हैं, और दोनों ही प्राकृतिक संपत्ति, जन-शक्ति, कारीगरी और सामर्थ्य से भरपूर हैं। शायद हिंदुस्तान के औद्योगिक वसीले चीन से भी ज्यादा हैं, उसका फैलाव भी ज्यादा है। इसी तरह हिंदुस्तान की निर्यात की चीजें भी ज्यादा हैं और आवश्यक आयात के लिए इसकी ज़रूरत होगी। इन चार देशों के अलावा, अकेले किसी और देश के वसीले ऐसे नहीं हैं। हां, यह मुमकिन है कि यूरोप में, और दूसरी जगहों में, राष्ट्र-समुदाय या बड़े संघ

मिलकर बहुत बड़ी बहु-राष्ट्रीय सरकार बनावें और उनकी स्थिति भी ऐसी ही हो।

भविष्य में दुनिया का संचालन-केंद्र एटलांटिक से हटकर पैसिफ़िक (प्रशांत महासागर) में आ जायगा ऐसा संभावना है। हालांकि हिंदुस्तान पैसिफ़िक तट की राज-सत्ता नहीं है, फिर भी लाज़िमी तौर पर उसका वहां बहुत अहम असर होगा। हिंद महासागर, दक्खिनी-पूर्वी एशिया और मध्य पूर्व के इलाकों में हिंदुस्तान आर्थिक और राजनीतिक कार्रवाइयों का बहुत बड़ा केंद्र हो जायगा। भविष्य में, दुनिया का जो हिस्सा तेजी से तरक़्क़ी करेगा, उसमें हिंदुस्तान की स्थिति का एक आर्थिक और फ़ौजी महत्त्व है। अगर हिंद महासागर के किनारे के देशों का प्रादेशिक संघ बने, तो उसमें ईरान, ईराक़, अफ़ग़ानिस्तान, हिंदुस्तान, सीलोन (लंका), बर्मा, मलाया, स्याम, जावा आदि होंगे और मौजूदा अल्प-संख्यकों का सवाल ग़ायब हो जायगा या कम-से-कम उस पर एक बिलकुल दूसरे संदर्भ में ग़ौर करना पड़ेगा।

मि० जी० डी० एच० कोल के ख़याल से हिंदुस्तान ख़ुद एक राष्ट्रोपरि क्षेत्र है और उनका ख़याल है कि आगे चलकर वह एक शक्तिशाली राष्ट्रोपरि सरकार का केंद्र बन जायगा। इसमें पूरा मध्य पूर्व होगा और यह क्षेत्र चीन, जापान, रूस संघ और मिस्र-अरब-तुर्किस्तान संघ के बीच में होगा। यह सब अभी कोरी कल्पना है, और कोई आदमी अभी यह नहीं कह सकता कि इस ढंग की तब्दीली होगी। जहां तक मेरा सवाल है, मुझे यह पसंद नहीं है कि दुनिया को कुछ बड़ी-बड़ी राष्ट्रोपरि सरकारों में बांट दिया जाय। अगर वे सब, सारी दुनिया के संघ से मज़बूती से बंधी हों तो बात दूसरी है लेकिन अगर लोग दुनिया के एके को और दुनिया के संघ को अपनी बेवक़ूफ़ी से क़ायम नहीं होने देंगे, तो यह बड़ी-बड़ी सरकारें, जिनमें स्थानीय स्वाधीनता होगी, बन जायंगी। छोटी राष्ट्रीय सरकार का कोई भविष्य नहीं है। सांस्कृतिक रूप से वह एक स्वाधीन इकाई रह सकती है, लेकिन अब वह स्वतंत्र राजनीतिक इकाई नहीं रह सकती।

चाहे जो हो, लेकिन अगर हिंदुस्तान अपना असर महसूस करा सके तो यह बात दुनिया की भलाई के हक़ में होगी। वजह यह है कि वह असर हमेशा सुलह के हक़ में और जबर्दस्ती के ख़िलाफ़ होगा।

१२ : यथार्थवाद और भू-राजनीति : दुनिया पर विजय या दुनिया का सहयोग : संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और सोवियत् यूनियन

यूरोप में लड़ाई अब अपनी आख़ीरी मंजिल पर पहुंच गई है, और

पूरब और पच्छिम से बढ़ती हुई फ़ौजों के सामने नात्सी ताक़त चकनाचूर हो रही है। वह खूबसूरत और शानदार शहर पेरिस, जिसका कि आज़ादी की लड़ाई से इतना ताल्लुक़ रहा, अब खुद आज़ाद हो गया है। शांति की समस्यायें, जो लड़ाई की समस्याओं से ज्यादा मुश्किल होती हैं, अब उठ रही हैं, और आदमियों के दिमाग़ों को परेशान कर रही हैं। उनके पीछे, पहले महायुद्ध के बाद के सालों की भारी नाकामयाबी की छाया है। कहा जाता है—अब फिर यह बात न होनी चाहिए। लेकिन १९१८ में भी तो यही कहा गया था।

पंद्रह साल पहले १९२९ में मि० विंस्टन चर्चिल ने कहा था: "यह एक कही हुई कहानी है, जिससे भविष्य के लिए जरूरी ज्ञान और सबक निकाला जा सकता है। राष्ट्रों के झगड़ों में, और उन झगड़ों की वजह से लड़ाइयों की तकलीफ़ में बेहद नामुनासिब अनुपात है। रणभूमि के ऊंचे प्रयत्नों में और उनके छोटे और निस्तत्त्व पुरस्कारों में भी वैसा ही भेद है। लड़ाई की जीत जल्दी से ग़ायब हो जाता है; पुनर्निर्माण धीरे-धीरे होता है और उसमें बहुत वक़्त लगता है; मेहनत, तकलीफ़ और ख़तरे की बातें ही इस सिलसिले में होती हैं; कभी-कभी सर्वनाश सिर्फ़ बाल बराबर दूरी पर ही रह जाता है, जो किसी संयोग से ही टल जाता है। इन सब बातों से मानव-समाज का सारा ध्यान आगे किसी दूसरे महायुद्ध को रोकने में लग जाना चाहिए।"

लड़ाई और अमन दोनों ही के ज़माने में मि० चर्चिल ने बड़ा काम किया है; ख़तरे और परेशानी के मौक़े पर अपने देश का असाधारण हिम्मत से नेतृत्व किया है, और जीत के मौके पर बड़े हौसले पेश किये हैं। इसलिए मि० चर्चिल को सब पता होना चाहिए। पहले महायुद्ध के बाद ब्रिटिश फ़ौजें सारे पच्छिमी एशिया पर कब्ज़ा किये हुए थीं। वे हिंदुस्तान की सीमा से लेकर ईरान, ईराक, फ़िलिस्तीन और सीरिया होते हुए कुस्तुंतुनियां तक सब जगह मौजूद थीं। उस वक्त मि० चर्चिल को ब्रिटेन के एक नये मध्यपूर्वी साम्राज्य का नक़्शा दिखाई दिया। लेकिन क़िस्मत ने कुछ दूसरा ही फ़ैसला किया। अब भविष्य के लिए मि० चर्चिल क्या सपने देखते हैं? मेरे एक बहादुर और प्रमुख साथी ने, जो अब जेल में है, लिखा है, "लड़ाई एक विचित्र रसायन-शास्त्री है, और उसके छिपे हुए कमरों में ऐसी ताक़तें तैयार होती हैं कि वे जीतने वालों और हारने वालों, दोनों की योजनाओं को तहस-नहस कर देती हैं। पिछली लड़ाई के बाद किसी शांति-सम्मेलन ने यह नहीं तै किया कि यूरोप और एशिया के चार ताकतवर साम्राज्य—रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, और तुर्किस्तान के साम्राज्य—मिट्टी में मिला दिया जावें। और न लायड जार्ज, विलसन या क्लीमैंश्यो ने रूस, जर्मनी या तुर्की की क्रांतियों को ही मंजूर किया।"

लड़ाई में जीत के बाद, अपनी कोशिशों में कामयाबी के बाद, जीते

हुए राष्ट्रों के नेता जब एक साथ मिलेंगे तो क्या कहेंगे ? उनके दिमाग़ों में भविष्य की क्या शक्ल बन रही है; और आपस में उनमें कितनी सहमति या कितना मतभेद है ? जब लड़ाई का जोश ख़त्म हो जायगा, और लोग फिर शांति के भूले हुए ढंग को अपनायंगे तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी? यूरोप के गुप्त विरोधी आंदोलनों और उनसे ताक़त का जो सोता फूटा है, उसका क्या होगा ? दिमाग़ और तजुर्बे में बढ़े हुए, और जिनमें लड़ाई ने मजबूती ला दी है, ऐसे सिपाही जब घर लौटेंगे तो वे क्या कहेंगे और क्या करेंगे ? उस जिंदगी से, जो उनकी ग़ैरहाज़िरी में बदलती रहती है, वह किस तरह अपना मेल बिठायेंगे ? यूरोप के देश-प्रेम पर क़ुर्बान और बरबाद हिस्सों का क्या होगा, और साथ ही एशिया और अफ्रीका में क्या होगा ? मि० वेण्डेल विल्की के शब्दों में, 'एशिया के करोड़ों आदमियों की आज़ादी की भूख और तड़प' का क्या होगा? इन सब बातों पर और दूसरी बातों पर क्या रुख होगा? इन सबके ऊपर, उस चाल का, जो क़िस्मत अक्सर चला करती है और हमारे ेताओं के सारे नक़्शों को उलट-पुलट देती है, क्या होगा ?

ज्यों-ज्यों लड़ाई आगे बढ़ती गई और फ़ासिस्ट शक्तियों की जीत की संभावना कम होती गई, सम्मिलित राष्ट्रों के नेताओं का रुख उतना ही कड़ा और उतना ही ज़्यादा अनुदार होता गया है। एटलांटिक चार्टर और चार आज़ादियां, जो पहले ही धुँधली थीं, और जिनका दायरा सीमित था, अब पृष्ठ-भूमि में खिसक गई हैं, और भविष्य में पिछली चीज़ों को ज्यों-का त्यों बनाये रखने का इरादा है। लड़ाई का हुलिया अब सिर्फ़ फ़ौजी रह गया है, और उसमें पाशविक बल का पाशविक बल से मुक़ाबला है। उसमें नाज़ियों और फासिस्टों के उसूलों की ख़िलाफ़त अब नहीं रहीं। जेनरल फ़्रैंको और दूसरे छोटे और होनहार तानाशाहों को यूरोप में बढ़ावा दिया गया है। मि० चर्चिल अब आलीशान साम्राज्य की सोचते हैं। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने हाल ही में कहा कि "दुनिया में कोई भी ऐसी ताक़त नहीं है जो ब्रिटिश साम्राज्य की तरह पूरी तौर से अपनी हुकूमत के ख़याल से भरी हुई हो। यहां तक कि जब मि० चर्चिल 'साम्राज्य' शब्द कहते हैं तो वह हर बार उनके गले में अटक जाता है।"[1]

---

१ यह बात साफ है कि ब्रिटिश शासक वर्ग, साम्राज्यवाद के युग को ख़त्म करने की नहीं सोचता। ज़्याद-से-ज़्यादा वह औपनिवेशिक राज्य के ढांचे को नई शक्ल दे सकता है। उनके लिए उपनिवेशों का कब्ज़ा 'बड़प्पन और सम्पत्ति के लिए ज़रूरी' है। लंदन का 'इकॉनॉमिस्ट' ब्रिटेन की प्रभावशाली जनता का नुमाइंदा है। १६ सितम्बर १९४४ के अंक में उसने लिखा, 'साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ अमरीकी तरफ़दारी से चाहे वह साम्राज्य अंग्रेजी

इंग्लैंड, अमेरिका और दूसरी जगहों में ऐसे बहुत से लोग हैं जो भविष्य का एक बिलकुल नया नक़्शा चाहते हैं। उनको डर है कि अगर ऐसा नहीं हुआ तो मौजूदा लड़ाई के बाद नई लड़ाइयां और नई बरबादी और भी ज्यादा बड़े पैमाने पर होंगी। लेकिन जिनके पास ताक़त या हुकूमत है उनपर इन ख़यालों का असर नहीं मालूम होता। या शायद वे ख़ुद ऐसी ताक़तों के चंगुल में फंसे हैं, जो उनके क़ाबू से बाहर हैं। इंग्लैंड अमेरिका और रूस में राज-शक्ति की पुरानी शतरंज फिर बड़े पैमाने पर नजर आ रही है। उसको यथार्थवाद या व्यवहार्य राजनीति कहा जाता है। भ-राजनीति के एक अमरीकी विद्वान् प्रोफ़ेसर एन० जे० स्पाइकमैन ने अपनी एक हाल की किताब में लिखा है, "वह कूटनीतिज्ञ, जो विदेशी नीति का संचालन करता है, न्याय, औचित्य और सहिष्णुता से उसी हद तक संबंधित है जहां तक वे उसके शक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य के लिए सहायक होते हैं या कम-से-कम उसके लिए विघ्न नहीं होते हैं। ताक़त हाथ में करने के लिए, नैतिक समर्थन की नजर से उनको औज़ारों की तरह इस्तैमाल किया जा सकता है, लेकिन जिस मिनट यह महसूस हो कि उनके इस्तैमाल से कमज़ोरी आ रही है उनको फ़ौरन एक तरफ़ हटा देना चाहिए। ताक़त की तलाश नैतिक मूल्य को पाने के लिए नहीं की जाती। ताक़त हाथ में करने की सहूलियत के लिए ही, नैतिक मूल्य का इस्तैमाल किया जाता है।"[1]

अमेरिका की विचार-धारा की इससे नुमाइंदगी न होती हो, लेकिन

फ़्रांसीसी या डच हो, बहुत से युद्धोत्तर योजना बनाने वाले इस धारणा पर पहुंचे हैं कि दक्खिनी पूर्वी एशिया में फिर से पुरानी हुकूमतें क़ायम नहीं होंगी, और किसी शक्ल में या तो अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण होगा, या अधिकार वहीं की स्थानीय आबादी को सौंप दिये जावेंगे और पच्छिमी राष्ट्रों से पुरानी हुकूमतें ले ली जावेंगी चूंकि यह रुख बराबर बना हुआ है और कुछ प्रमुख अमरीकी अख़बार उसका समर्थन करते हैं, इसलिए अभी तो वक्त हैं कि ब्रिटिश, फ्रेंच और डच अपने इरादों को पूरी तौर से और साफ़ तौर से ज़ाहिर कर दें। चूंकि उनमें से किसी का भी इरादा अपने औपनिवेशिक साम्राज्य को छोड़ने का नहीं है बल्कि उसके विपरीत जापान के सह-समृद्धि क्षेत्र को पूरी तरह कुचलने के लिए वह यह ज़रूरी समझते हैं कि मलाया ब्रिटिश को, हिंद-चीन-फ्रेंच को, और पूर्वी हिंदेशिया डच को वापस करना ज़रूरी है। इसलिए इससे बहुत ख़तरनाक ग़लतफ़हमी फैलेगी और यह एक विश्वासघात होगा, अगर ये तीन राष्ट्र अपने अमरीकी साथी के दिमाग़ में इस तरह का शक बना रहने दें।"

१. एमेरिकाज़ स्ट्रैटेजी इन वर्ल्ड पोलिटिक्स।

निश्चित रूप से उसके एक ताक़तवर हिस्से की नुमाइंदगी जरूर होती है। मि० वाल्टर लिपमैन की सारी दुनिया की तीन चार परिधियों की तस्वीर में—अटलांटिक, रूसी, चीनी और दक्खिन एशिया में हिंदू-मुस्लिम, परिधियों की तस्वीर में—ज्यादा बड़े पैमाने पर राज-शक्ति हाथ में करने की नीति दिखाई देती है, और यह समझना मुश्किल है कि उससे किस तरह सहयोग होगा और किस तरह दुनिया में शांति होगा। अमेरिका अनुदार यथार्थवाद और धुंधले से आदर्शवाद और मानवतावाद का एक अजीब सम्मिश्रण है। इनमें से आगे चलकर कौन-सी प्रवृत्ति जीतेगी, या उन दोनों के मेल का क्या नतीजा होगा ? अधिकांश जनता चाहे जो सोचे, लेकिन विदेशी नीति तो विशेषज्ञों के हाथ में रहेगी, और वे आम तौर से पुरानी परंपराओं को बनाये रखना चाहते हैं, और किसी ऐसे नये इंतज़ाम से, जिससे उनका देश किसी नई जिम्मेदारी में पड़ जाय, उन्हें डर लगता है। पदार्थवाद तो होना चाहिए क्योंकि कोई भी देश अपनी विदेशी या घरेलू नीति सद्भावनाओं पर या कल्पित आशंकाओं पर नहीं बना सकता। लेकिन यह तो एक अजीब यथार्थवाद है, जो पुराने खोखले खोल से चिपटा हुआ है और जो मौजूदा वक़्त की उन कड़वी सचाइयों को समझने से इंकार कर देता है, जो सिर्फ़ राजनीतिक या आर्थिक ही नहीं हैं बल्कि जो जनता की एक बहुत तादाद की भावनाओं और प्रवृत्तियों को ज़ाहिर करती हैं। इस तरह का यथार्थवाद ख़याली ज्यादा है, और आज की और आगे की समस्याओं से, बहुत से लोगों के कहे जाने वाले आदर्शवाद के मुकाबले बहुत ज्यादा अलग है।

भू-राजनीति अब यथार्थवादी के लिए लंगर की तरह हैं, और ऐसा ख़याल किया जाता है कि उसके 'हृदय-देश' और 'तटवर्ती देश' के जंजाल से राष्ट्रीय तरक़्क़ी और बरबादी के रहस्य पर रोशनी पड़ेगी। इंग्लैंड में (या स्काटलैंड मे ?) उसकी पैदायश हुई और बाद में वह नात्सियों के लिए मार्ग-दर्शक बन गई। उसने नात्सियों के दुनिया जीतने के सपनों और इरादों का पाला, और उन्हें बरबादी की तरफ ले गई। कभी-कभी झूठ के मुक़ाबले आंशिक सत्य ज्यादा ख़तरनाक होता है। एक ऐसा सच, जिसका ज़माना ख़त्म हो गया, बने रहने पर मौजूदा असलियत के लिए आंखें बंद कर देता है। एच० जे० मैकिंडर के भू-राजनीति के उसूल की बाद में जर्मनी में तरक़्क़ी हुई। उस की बुनियाद इस बात पर थी कि सभ्यता की तरक़्क़ी महाद्वीपों के (यूरोप और एशिया के) समुद्र-तटों पर हुई, और इनकी मैदानी हमलावरों से हिफ़ाज़त करनी थी। ये लोग 'हृदय देश' से आय, जो यूरेशियनों का आदि-स्थान था। इस हृदय देश पर काबू के मानी थे दुनिया की हुकूमत। लेकिन अब सभ्यता सिर्फ समुद्र-तटों पर ही सीमित नहीं है, और वह अपने फैलाव और

तत्त्व में दिन-ब-दिन ज्यादा विश्व-व्यापी होती जा रही है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की बढ़ती से यह बात कट जाती है कि यूरेशियन 'हृदय देश' की दुनिया पर हुकूमत होगी, और हवाई ताक़त से अब जल-शक्ति और थल-शक्ति का समतोल बिलकुल मिट गया है।

जर्मनी के सपने सारी दुनिया को जीतने के थे, लेकिन चारों तरफ से घिर जाने का डर भी छाया हुआ था। सोवियत् रूस को यह डर था कि उसके दुश्मन आपस में एक हो जायंगे। बहुत अर्से से इंग्लैंड की राष्ट्रीय नीति की बुनियाद यूरोप के शक्ति-संतुलन पर रही है। वह नीति यूरोप की सबसे ज्यादा बढ़ती हुई ताक़त के खिलाफ़ रही है। वहां हमेशा ही दूसरों का डर रहा है और इस डर की वजह से आक्रामक ढंग रहा है, और हमेशा जालसाजियां होती रही हैं। मौजूदा लड़ाई के बाद एक बिलकुल नई स्थिति होगी--संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और सोवियत् रूस दुनिया की दो अहम ताक़तें होंगी, और बाक़ी सब ताक़तें उनसे बहुत पिछड़ी हुई होंगी। हां, अगर वे मिलकर संघ बना लें तो बात दूसरी होगी। अब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से भी प्रोफेसर स्पाइकमैन, अपने सबसे नये वसीयतनामे में कहते हैं कि उसको भी घिर जाने का खतरा है, और उसको किसी तटवर्ती देश से मिल जाना चाहिए और हर सूरत में उन्हें हृदय देश को (जो अब सोवियत् यूनियन है) तटवर्ती देश से मिलने से नहीं रोकना चाहिए।

यह सब बड़ी चतुराई की और यथार्थवादी बात मालूम देती है लेकिन यह हद दर्जे की बेवकूफ़ी से भरी है। वजह यह है कि इसकी बुनियाद, फैलाव, साम्राज्य, शक्ति-संतुलन की पुरानी नीति पर है, और उससे लाज़िमी तौर पर संघर्ष और लड़ाई होती हैं। चूंकि दुनिया गोल है, हर एक देश दूसरे देशों से घिरा हुआ है। राज-शक्ति के ऐसे घेरों से बचने के लिए समझौते हों, जीत हो या फैलाव हो। लेकिन किसी भी देश का राज्य या असर का हलका कितना ही बड़ा क्यों न हो, घिरने का ख़तरा हमेशा बना रहता है। जो ताक़तें बाहर बच रही हैं, वह घेर सकती हैं। लेकिन ये बची ताक़तें इस प्रतिद्वंद्वी, बेहद बड़ी सरकार की तरफ से सशंकित रहती हैं। इस खतरे से बचने का रास्ता सिर्फ़ यही है कि या तो सारी दुनिया को जीत लिया जाय या सारी प्रतिद्वंद्वी ताक़तों को ही मिटा दिया जाय। दुनिया को जीतने की सबसे ताज़ी कोशिश हमारे सामने नाक़ामयाब हो रही है। क्या यह सबक़ सीखा जायगा या अभी ऐसे और लोग भी होंगे जो ख़्वाहिश, जाति या ताक़त के घमंड से इस खतरनाक हलके में अपनी किस्मत आज़मायंगे?

असलियत में दुनिया को जीतने और दुनिया के सहयोग के बीच, कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। पुराने बंटवारे या राज-शक्ति हथियाने की कोशिशों

का आज कोई क़ीमत नहीं है। और वह हमारे वातावरण से बेमेल है, फिर भी वे जारी हैं। सरकारों के स्वार्थ और उनकी कारंवाइयां, उनकी सीमाओं को पार कर गई हैं; और वे अब सारी दुनिया में फैली हुई हैं। कोई भी राष्ट्र न तो अपने-आपको दूसरे राष्ट्रों से अलहदा ही कर सकता है और न उनकी आर्थिक और राजनीतिक क़िस्मत की अवहेलना ही कर सकता है। अगर सहयोग नहीं होता तो संघर्ष होगा और उसके लाज़िमी नतीजे होंगे। सहयोग की बुनियाद बराबरी और पारस्परिक भलाई पर होगी। उस बुनियाद के लिहाज़ से पिछड़ी हुई जातियों को दूसरी जातियों की सांस्कृतिक तरक़्क़ी और ख़ुशहाली की सतह तक आना होगा। उस बुनियाद के लिहाज़ से जातीय भेद-भाव या कब्ज़ा ख़त्म हो जायगा। चाहे उसको कितना ही ख़ूबसूरत नाम क्यों न दे दिया जाय, कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की हुकूमत या उसके हाथों अपने शोषण को बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिस वक़्त दुनिया के दूसरे हिस्से फल-फूल रहे हों, उस वक़्त भी राष्ट्र अपनी ग़रीबी और अपनी तकलीफ़ की अवहेलना नहीं कर सकता। यह तो सिर्फ़ उसी वक़्त मुमकिन था जब दूसरी जगह के परिवर्तनों के बारे में बेख़बरी हो।

यह सब बिलकुल साफ़ ज़ाहिर होता है, फिर भी पिछली घटनाओं के लंबे इतिहास से यह पता लगता है कि आदमी का दिमाग़ तब्दीलियों से बहुत पीछे रहता है और वह बहुत धीरे-धीरे ही अपने-आपको उनसे मिला पाता है। भविष्य में तबाही से बचने के लिए, और अपने लाभ की नज़र से भी राष्ट्रों को इस व्यापक सहयोग के लिए तैयार होना चाहिए। लेकिन पिछले यक़ीनों और पिछली धारणाओं की वजह से यथार्थवादी का, निजी लाभ का नज़रिया बहुत संकरा होता है। उसके लिहाज़ से एक युग के लिए उपयुक्त, विचार का सामाजिक ढांचा, मानव-स्वभाव और मानव-समाज के लिए स्थायी और अपरिवर्तनशील है। वह इस बात को भूल जाता है कि मानव-प्रकृति और मानव-स्वभाव से ज्यादा परिवर्तनशील और कोई चीज़ नहीं है। मज़हबी बात और सवाल जड़ पकड़ लेते हैं, सामाजिक संस्थाएं मूर्त्तिवत् हो जाती है, लड़ाई को ज़िंदगी के लिए ज़रूरी समझा जाता है, साम्राज्य और फैलाव को उन्नतिशील और सजीव राष्ट्र की विशेषता समझा जाता है, मुनाफ़े की नीयत को इंसानी रिश्तों की एक खास चीज़ समझा जाता है, राष्ट्रीय अहम्मन्यता को जातीय बड़प्पन का ख़याल समझा जाता है, और उस पर धीरे-धीरे विश्वास जमता जाता है, और कुछ समय में वह स्वयं-सिद्ध जान पड़ने लगता है। ऐसे विचार पूर्व और पच्छिम दोनों की ही सभ्यता में थे। उनमें से कितने ही विचार उस आधुनिक पच्छिमी सभ्यता की पृष्ठभूमि में हैं, जिनसे फासिस्ट और नात्सी मतों का जन्म हुआ है। नैतिक दृष्टि से उनमें और फ़ासिस्ट उसूलों में कोई फ़र्क़ नहीं है, हालांकि

यह सच है कि मानव-जीवन और मानवता के लिए, फ़ासिस्ट उसूलों में बहुत ज़्यादा नफ़रत थी। असलियत में मानववाद, जिसका यूरोप में बहुत अर्से तक असर रहा, अब धीरे-धीरे ग़ायब हो रहा है। पच्छिम के राजनीतिक और आर्थिक ढांचे में फ़ासिज्म के बीज मौजूद थे। अगर पिछला आदर्श छोड़ा नहीं जाता, तो लड़ाई की जात से कोई ख़ास तब्दीली नहीं आवेगी अगर पुरानी बातें ज्यों-की-त्यों चलती रहीं, तो हमको फिर उसी चक्र में पड़ना होगा।

इस लड़ाई से दो ख़ास बातें सामने आई हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और सोवियत् की ताक़त बहुत ज़्यादा बढ़ गई है। इसके अलावा दोनों देश प्रकट संपत्ति और निहित साधन-संपत्ति से भरपूर हैं। वैसे लड़ाई से पहले के मुक़ाबले में सोवियत् यूनियन अब कुछ निर्धन हो गया है। वजह यह है कि उसकी बेहद बरबादी हुई है। लेकिन उसकी साधन-सामर्थ्य विराट है। इसी कारण वह जल्दी ही कमी पूरी कर लेगा और आगे बढ़ जायगा। यूरेशिया महाद्वीप में भौतिक और आर्थिक ताक़त में उसे कोई चुनौती नहीं दे सकेगा। फैलाव की तरफ़ उसका झुकाव ज़ाहिर हो रहा है और क़रीब-क़रीब ज़ार के साम्राज्य की ही बुनियाद पर, वह अपना क्षेत्र बढ़ा रहा है। यह सिलसिला किस हद तक जायगा, यह कहना मुश्किल है। उसकी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के लिए फैलाव ज़रूरी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं पर्याप्त हो सकता है। लेकिन दूसरी ताक़तें और पुराने शक काम कर रहे हैं, और फिर वही घिर जाने का डर नज़र आ रहा है। हां, फ़िलहाल कई साल तक सोवियत् यूनियन, लड़ाई की बरबादी को दूर करने, और पुर्ननिर्माण में लगा रहेगा। फिर भी फैलने का झुकाव, (प्रादेशिक फैलाव न हो, और ढंग का हो) ज़ाहिर हो रहा है। सोवियत् यूनियन के अलावा और किसी देश में राजनीतिक दृष्टि से ठोस, और आर्थिक दृष्टि से संतुलित तस्वीर नहीं दिखाई देती। हां, इधर हाल की उसकी कारंवाइयों से, उसके बहुत से पुराने प्रशंसकों को भी धक्का पहुंचा है। उसके मौजूदा नेताओं की हैसियत पर वहां कोई अंगुली भी नहीं उठाई जा सकती और भविष्य की हर चीज़ उनके दृष्टिकोण पर निर्भर है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अपने विराट उत्पादन, और अपनी संगठन-शक्ति से दुनिया को हैरत में डाल दिया है। इस तरह उन्होंने सिर्फ़ लड़ाई में ही ख़ास हिस्सा नहीं लिया बल्कि उन्होंने अमरीकी अर्थ-व्यवस्था की जन्म-जात प्रक्रिया को तीव्रतर कर दिया है, और अपने लिए एक ऐसी समस्या खड़ी कर ली है, जिसमें भविष्य में उनको अपनी पूरी ताक़त और अक़्ल लगानी पड़ेगी। बिना ज़बर्दस्त, अंदरूनी और बाहरी कशम-कश के अपने मौजूदा आर्थिक ढांचे को बनाये रखते हुए, वह उसको किस तरह हल करेंगे, यह समझ में नहीं आता। यह कहा जाता है कि अब उसका अलग रहने का (यूरोप या

दूसरा जगह के झगड़ों से अलग रहने का) खयाल नहीं है। यह लाज़िमी है, क्योंकि अब उसे कुछ हद तक विदेशों में निर्यात पर निर्भर रहना होगा। लड़ाई से पहले उनकी अर्थ-व्यवस्था में जो एक मामूली-सी बात थी, यहां तक कि उसकी अवहेलना की जा सकती थी, अब वह बहुत अहम बात हो गई है। लड़ाई की तैयारियों के खत्म होने के बाद, शांति के जमाने की, उद्योग-धंधों की उत्पत्ति, बिना कशम-कश कहां को निर्यात रूप में जावेगी? करोड़ों हथियार-बंद आदमी जब घर लौटेंगे तो उन्हें किस तरह काम में लगाया जायगा? हर लड़ने वाले देश के सामने यह समस्या होगी; लेकिन जिस हद तक यह अमेरिका के सामने होगी, उस हद तक यह और किसी के सामने नहीं होगी। जो बहुत बड़े वैज्ञानिक परिवर्तन हुए हैं, उनकी वजह से उत्पादन बेहद बढ़ जावेगा, और जनता में बेकारी फैलेगा या शायद दोनों ही बातें होंगी। बड़े पैमाने पर बेकारी से जनता में सख्त नाराज़ी होगी और संयुक्त राष्ट्र की सरकार की एलानिया नीति यह है कि ऐसा मौक़ा नहीं आवेगा। लौटते हुए सिपाहियों को काम देने के लिए काफ़ी सोच-विचार किया जा रहा है। इस पर ग़ौर किया जा रहा है कि किस तरह काम फायदेमंद हो और बेकारी दूर रहे। इसका अमेरिका के लिए अंदरूनी पहलू कुछ भी हो, (और अगर बुनियादी रद्दो-बदल न हुई तो वह काफ़ी गंभीर हालत होगी) लेकिन इसका अंतर्राष्ट्रीय पहलू भी उतना ही अहम है।

इस बिराट-उत्पादन की, मौजूदा अर्थ-व्यवस्था की, ऐसा अजीब हालत है कि सबसे ज्यादा मालदार और सबसे ज्यादा ताक़तवर मुल्क, अमेरिका भी उन दूसरे देशों पर निर्भर है, जो उसके ज़रूरत से ज्यादा उत्पादन को खपाते हैं। लड़ाई के बाद कुछ सालों तक, यूरोप में, चीन में और हिंदुस्तान में मशीनों की और तैयार माल की बहुत मांग होगा। अपनी फ़ालतू पैदावार की व्यवस्था करने में इससे अमेरिका को बहुत मदद मिलेगी। लेकिन हर एक देश तेज़ी से, अपनी ज़रूरत का चीज़ों को खुद ही तैयार करने की अपनी सामर्थ्य को बढ़ायेगा, और धीरे-धीरे निर्यात में ऐसी खास चीज़ें रह जायंगी जो उन देशों में पैदा नहीं की जा सकतीं। जनता की क्रय-शक्ति को बढ़ाने के लिए बुनियादी आर्थिक तब्दीलियों की ज़रूरत होगी। यह बात समझ में आती है कि दुनिया भर में रहन-सहन का माप काफी उठ जाने पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और वस्तु-विनिमय बढ़ेगा, और खूब तरक्क़ी करेगा। लेकिन खुद इस माप को ऊंचा उठाने के लिए नौ-आबादियों और पिछड़े हुए देशों के उत्पादन से राजनीतिक और आर्थिक बेड़ियों को हटाना ज़रूरी है। लाज़िमी तौर पर इसके मानी हैं बहुत बड़ी रद्दो-बदल; जिसमें सारी चीज़ें उलट-पुलट जावेंगी, और एक नये ढांचे से मेल बिठाना होगा।

गुजरे जमाने में इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद बहुत बड़े निर्यात-व्यापार पर, विदेशों में लगी हुई पूंजी पर रही है। लंदन शहर का आर्थिक नेतृत्व था, और साथ ही समुद्री यातायात का व्यापार भी था। लड़ाई से पहले इंग्लैंड की लगभग ५० फ़ीसदी खाद्य-सामग्री बाहर से मंगानी पड़ती थी। शायद अब इतने बड़े खाद्य-आयात के लिए वह निर्भर नहीं होगा, क्योंकि वहां पर खाद्य-उत्पादन बढ़ाने की बड़ी जबर्दस्त कोशिश हुई है। खाने के सामान या कच्चे माल के आयात का तैयार माल के निर्यात से, पूंजी से, व्यापारी माल के यातायात से, आर्थिक सेवाओं से और उन चीज़ों से जिन्हें 'अदृश्य' निर्यात कहा जाता है, भुगतान होता है। इस तरह से विदेशी व्यापार और खास तौर से बहुत बड़ा निर्यात ही, ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था की खासियत, और अहम बात थी। नई आबादियों में एकाधिकार पर क़ाबू से, या साम्राज्य में किसी-न-किसी ढंग का संतुलन बनाये रखने के इंतज़ाम से वह अर्थ-व्यवस्था क़ायम रखी जाती थी। उस एकाधिकार नियंत्रण से और उन इंतज़ामों से नौ-आबादियों को या ग़ुलाम देशों को बहुत नुकसान था, और भविष्य में उन्हें इन पुरानी शक्लों में बनाये रखना मुमकिन नहीं है। ब्रिटेन की विदेशों में लगी हुई पूंजी अब गायब हो गई है और उसकी जगह उस पर बहुत बड़ा क़र्ज़ है, और लंदन की आर्थिक प्रधानता अब ख़त्म हो गई है। इसके मानी यह हैं कि लड़ाई के बाद ब्रिटेन को पहले से भी ज्यादा हद तक निर्यात-व्यापार और यातायात-व्यापार पर निर्भर रहना होगा। लेकिन निर्यात बढ़ाने की, यहां तक कि उसको ज्यों-का-त्यों रखने की संभावना भी अब बहुत कम है।

लड़ाई से पहले १९३६-३८ में इंग्लैंड का आयात (पुनः निर्यात घटाकर) औसत ८६,००,००,००० पौंड था। उनका इस तरह भुगतान किया गया।

निर्यात···	४७८० लाख पौंड
विदेशी पूंजी से आमदनी···	२०३० लाख पौंड
यातायात का काम···	१०५० लाख पौंड
आर्थिक सेवा···	४०० लाख पौंड
घाटा···	४०० लाख पौंड
	कुल ८६६० लाख पौंड

विदेशी पूंजी से बहुत बड़ी आमदनी की जगह अब विदेशी कर्ज़े का बहुत बड़ा बोझ होगा। यह विदेशी कर्ज़ हिंदुस्तान, मिस्र, अर्जेंटाइना और दूसरे देशों से (अमरीकी उधार-पट्टे के अलावा) सामान और काम उधार लेने की वजह से है। लॉर्ड कींस का अंदाज़ है कि लड़ाई के खात्मे पर यह

क़र्ज़ इकट्ठा होकर ३०,००० लाख पौंड हो जायगा। ५ फ़ीसदी के लिहाज़ से इसका सालाना पड़ता १५,०० लाख पौंड होगा। इस तरह अगर लड़ाई से पहले के सालों का औसत लिया जाय तो ब्रिटेन को हर साल ३०,०० लाख पौंड से ज्यादा का घाटा रहेगा। अगर निर्यात से या और दूसरे ज़रियों से आमदनी न बढ़ी और इस घाटे को पूरा न किया गया तो रहन-सहन की हैसियत काफ़ी गिर जायगा।

ब्रिटेन की युद्ध के बाद की नीति की यह सबसे अहम बात मालूम होती है, और अगर उसे मौजूदा आर्थिक दर्जा बनाये रखना है तो वह यह महसूस करता है कि ऐसा छोटी-मोटी रद्दो-बदल को छोड़कर, जिसे टाला ही नहीं जा सकता, उसे अपने औपनिवेशिक साम्राज्य पर कब्ज़ा बनाये रखना चाहिए। सिर्फ़ कई देशों (नौ-आबादियों और ग़ैर-नौ-आबादियों) के दल का नेता बनकर ही उसे अपनी हैसियत बनाये रखने की उम्मीद है और उसी सूरत में राजनीतिक दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से वह दो विराट ताक़तों (संयुक्त राष्ट्र और सोवियत् यूनियन) के बेहद बड़े साधनों का संतुलन कर सकेगा। इसलिए साम्राज्य को —जो कुछ है उसको बनाये रखने की इच्छा है और साथ ही नये हल्कों पर, मसलन थाइलैंड पर, अपना असर बढ़ाने की कोशिश है। इसलिए ब्रिटिश नीति का इरादा डोमिनियनों से और पच्छिमी यूरोप के छोटे-छोटे देशों से क़रीबी रिश्ता बनाये रखने का है। आमतौर से फ्रांसीसी और डच औपनिवेशिक नीति, नौ-आबादियों और ग़ुलाम देशों के प्रति ब्रिटिश नज़रिये का समर्थन करती है। डच साम्राज्य असलियत में एक उपग्रह साम्राज्य है, और वह ब्रिटिश साम्राज्य के बिना टिक नहीं सकता।

ब्रिटिश नीति के इस रुख़ को समझना आसान है, क्योंकि उसकी बुनियाद गुज़रे हुए नज़रिये से और पैमाने पर है, और यह नीति उन लोगों की बनाई हुई है जो गुज़रे ज़माने से बंधे हुए हैं। फिर भी उन्नीसवीं सदी की अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में भी आज ब्रिटेन के सामने जो मुश्किलें हैं, वह बहुत बड़ी है। भविष्य के लिहाज़ से उसकी स्थिति कमज़ोर है, उसकी अर्थ-व्यवस्था मौजूदा हालतों के लिए अनुपयुक्त है, उसके आर्थिक साधन बहुत सीमित हैं, और उसकी फ़ौजी और औद्योगिक ताक़त पहले जैसी नहीं रह सकती। उस पुरानी अर्थ-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जो ढंग बताये जाते हैं, उनमें एक बुनियादी नापायदारी है, क्योंकि उनकी वजह से तो बराबर झगड़े होते रहेंगे, हिफ़ाज़त की कमी होगी, ग़ुलाम देशों में दुर्भावनायें बढ़ती रहेंगी, जिनकी वजह से ब्रिटेन का भविष्य और भी ज्यादा ख़तरनाक हो सकता है। अंग्रेज़ों की ख़्वाहिश समझी जा सकती है। वे अपने रहन-सहन का माप पुरानी सतह पर बनाये रखना चाहते हैं; अगर हो सके तो उसे उठाना चाहते हैं। लेकिन इसकी बुनियाद

ब्रिटिश निर्यात के संरक्षित बाज़ारों पर, सस्ता खाने का सामान और कच्चा माल देने वाले औपनिवेशिक या दूसरे गुलाम प्रदेशों पर है। इसके मानी यह हैं, कि चाहे करोड़ों आदमियों के लिए एशिया और अफ्रीका में ज़िंदगी की ज़रूरतें भी पूरी न हों, उनके लिए ज़िंदा रहना भी मुश्किल हो, लेकिन उन्हीं के साधनों के सहारे अंग्रेजों की रहन-सहन की हैसियत ऊंचा बनी रहे। कोई भी यह नहीं चाहता कि ब्रिटिश मापदंड गिरा दिया जाय, लेकिन यह बात साफ़ है कि एशिया और अफ्रीका की जनता इस बात के लिए राज़ी नहीं हो सकती कि उनको इंसान से भी बदतर हालत में रखकर, यह औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था क़ायम रखी जाय। (लड़ाई से पहले) इंग्लैंड में, फ़ी आदमी की सालाना क्रय-शक्ति ९७ पौंड बताई जाती है (अमेरिका की इससे भी अधिक है); हिंदुस्तान में ६ पौंड से भी कम है। इस बहुत बड़े अंतर को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। असलियत यह है औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था के क्रियागत ह्रास से अंत में अधिकारी शक्ति के लिए भी बुरा असर होता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह बात साफ तौर पर महसूस की जाती है, और इसी वजह से उन लोगों की ख्वाहिश यह है कि उद्योग-धंधे ब ाकर और साथ ही खुद-मुख्तारी देकर औपनिवेशिक आबादी की क्रय-शक्ति को बढ़ा दिया जाय। यहां तक कि ब्रिटेन में भी कुछ हद तक हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों के बढ़ाने की ज़रूरत महसूस की जाती है और बंगाल के अकाल की वजह से बहुत से लोगों ने इस विषय पर ख़ासतौर से ध्यान दिया है। लेकिन ब्रिटिश नीति का इरादा यह है कि हिंदुस्तान में उद्योग-धंधों की तरक्क़ी तो हो लेकिन उस पर ब्रिटिश नियंत्रण हो, और साथ ही उसमें ब्रिटिश कार-बार के विशेषाधिकार हों। एशिया के और दूसरे देशों की तरह हिंदुस्तान का भी औद्योगीकरण ज़रूर होगा। सवाल सिर्फ़ रफ़्तार का है। लेकिन इस बात में बेहद शक है कि औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था से या विदेशी नियंत्रण से उसका मेल बैठ सकता है।

मौजूदा हालत में ब्रिटिश साम्राज्य, भौगोलिक इकाई नहीं है और न वह कारगर आर्थिक या फ़ौजी इकाई है। वह तो एक ऐतिहासिक और भावुकता-मय इकाई है। भावुकता और पुराने बंधनों की अब भी अहमियत है, लेकिन यह मुमकिन नहीं है कि आगे चलकर और ज्यादा बड़ी बातों से भी उनकी अहमियत ज्यादा हो जावेगी। और फिर यह भावुकता तो उन कुछ जगहों तक ही सीमित है जहां ब्रिटिश जनता जैसी जातीय आबादियां हैं। निश्चित रूप से वह हिंदुस्तान में या बाक़ी गुलाम औपनिवेशिक आबादियों में बिलकुल भी लागू नहीं होती—असल में यहां तो इससे उल्टी बात है। जहां तक बोअरों का सवाल है, वह दक्खिनी अफ्रीका में भी लागू नहीं होती। बड़े-बड़े डोमिनियनों में ऐसा बारीक तब्दीलियां हो रही हैं, जिनका झुकाव ब्रिटेन से परंपरागत

रिश्तों को कमज़ोर करन की तरफ़ है। कैनेडा जो लड़ाई के दौरान में अपने औद्योगिक क़द में बेहद बढ़ गया है अब एक बड़ी ताक़त है और वह संयुक्त राष्ट्र से कुछ क़रीबी तौर पर बंधा हुआ है। उसकी अर्थ-व्यवस्था ऐसी हो गई है, जो दिन-ब-दिन फैलती जावेगी, और यह बात ब्रिटिश उद्योग-धंधों के रास्ते में अड़चन डालेगी। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ालैंड की भी अर्थ-व्यवस्था फैलती जा रही है, और वे महसूस कर रहे हैं कि वे ग्रेट ब्रिटेन की यूरोपीय परिधि में नहीं हैं, बल्कि वे प्रशांत महासागर की एशिया-अमरीका की परिधि में हैं, जहां पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का एक खास हिस्सा होगा। जहां तक संस्कृति का सवाल है कैनडा और आस्ट्रेलिया दोनों ही दिन-ब-दिन संयुक्त राष्ट्र से ज्यादा प्रभावित होते जा रहे हैं।

आज का ब्रिटेन का नौ-आबादियों का नज़रिया, अमेरिका की नीति और फैलाव की प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाता। संयुक्त राष्ट्र अपने निर्यात के लिए खुला बाज़ार चाहता है और दूसरी ताक़तों की उन बाज़ारों को सीमित करने या उन पर नियंत्रण रखने की कोशिशें उसे पसंद नहीं है। वह चाहता है कि एशिया की करोड़ों का जनता में उद्योग-धंधे खूब बढ़ें, और सभी जगह रहन-सहन की हैसियत से ऊंची उठें। इसकी वजह भावुकता नहीं है; अपने फ़ालतू माल को खपाने के लिए अमेरिका को इसकी ज़रूरत है। अमरीकी और ब्रिटिश निर्यात-व्यापार में और समुद्री यातायात में संघर्ष लाज़िमा मालूम देता है। अमेरिका दुनिया भर में हवाई मामले में अपनी बड़ाई क़ायम रखना चाहता है और इसके लिए उसके पास अटूट साधन हैं। लेकिन यह बात इंग्लैंड में खलती है। शायद अमेरिका थाइलैंड को आज़ाद रखना पसंद करे, लेकिन अंग्रेज़ों की ख्वाहिश उसे अर्ध-उपनिवेश बनाने की है। ये बातें एक दूसरे के खिलाफ़ हैं। इनकी बुनियाद अपनी-अपनी वांछित अर्थ-व्यवस्था पर है और ये बातें सारे नौ-आबादियों के हलकों में दिखाई देती हैं।

उन अजीब हालतों में, जिनमें आज ब्रिटेन आगया है, ब्रिटिश नीति का रादा कॉमनवेल्थ और साम्राज्य को ज्यादा सुगठित करने का है, और यह बात समझ में आती है। लेकिन सचाइयों की, दुनिया के झुकावों का, दलील उसके खिलाफ़ है। साथ ही डोमिनियनों में राष्ट्रीयता की तरक्क़ी और औपनिवेशिक साम्राज्य को तोड़ने वाली प्रवृत्तियां भी उसके खिलाफ़ हैं। पुरानी बुनियाद पर इमारत खड़ी करने की कोशिश, एक गुज़रे ज़माने के ढांचे की ही सोचना, अब भी दुनिया भर में फैले हुए साम्राज्य और विशेषाधिकारों की बातें करना या उनके सपने देखना, ये सब बातें दूसरे देशों के मुक़ाबले, ब्रिटेन के लिए और भी ज्यादा गलत और अदूरदर्शी नीति से भरी हुई हैं; क्योंकि वह कारण, जिन्होंने उसे राजनीतिक, औद्योगिक, और आर्थिक

प्रधानता दी, अब गायब हो गये हैं। फिर भी गुज़रे ज़माने में और अब भी ब्रिटेन में कुछ खास खूबियां हैं—हिम्मत के साथ और मिलकर काम करने का गुण, वैज्ञानिक और रचनात्मक योग्यता, और परिस्थिति के अनुकूल होने की सामर्थ्य। ये गुण और दूसरे गुण, जो उसके पास हैं, किसी भी क़ौम को बहुत हद तक बड़ा बनाते हैं और उसको इस योग्य बनाते हैं कि वह अपने खतरों और संकटों को जीतकर पार कर जाय। इसलिए ऐसा हो सकता है कि वह इन बड़ी और अहम समस्याओं का सामना कर सके, और वह किसी दूसरे ज्यादा संतुलित आर्थिक ढांचे से अपना मेल बिठा ले। अगर वह अपने पुराने ढंग से चलने की कोशिश करता है और उसका साम्राज्य उसके साथ बंधा हुआ उसकी मदद करता है, तो उसकी कामयाबी की संभावना बहुत ही कम है।

लाज़िमी तौर से ज्यादातर बात अमरीकी और सावियत् नीति पर, और उन दोनों के ब्रिटेन से संघर्ष या सहयोग पर निर्भर होगी। हर एक आदमी ज़ोर-ज़ोर से कहता है कि दुनिया की शक्ति और उसमें सहयोग के लिए यह ज़रूरी है कि तीनों बड़े (संयुक्त राष्ट्र, सोवियत् रूस और ब्रिटेन) मिल-जुल कर काम करें। फिर भी हर मौक़े पर यहां तक कि लड़ाई के दौरान में भी मतभेद दिखाई देते हैं। चाहे भविष्य में कुछ भी हो, यह बात साफ़ मालूम देती है कि लड़ाई के बाद अमरीकी अर्थ-व्यवस्था खास तौर से विस्तारवादी होगी और उसके नतीजे क़रीब-क़रीब विस्फोट-भरे होंगे। क्या इससे किसी नये ढंग का साम्राज्यवाद पैदा होगा? अगर ऐसा हुआ तो यह एक और सर्वनाश की बात होगी, क्योंकि भविष्य का ढर्रा ठीक करने के लिए अमरीका के पास ताक़त है, और मौक़ा है।

सोवियत् यूनियन की भविष्य-नीति अभी एक रहस्य बनी हुई है, लेकिन उसकी कुछ साफ झलक मिल गई है। उसका इरादा अपनी सरहद के किनारे ज्यादा-से-ज्यादा देशों को दोस्त, गुलाम या आधा-गुलाम बनाने का है। हालांकि वह और ताक़तों के साथ मिलकर सारी दुनिया के संगठन के लिए काम कर रहा है, फिर भी उसे अपनी ताक़त को मज़बूत बुनियाद पर खड़ा करने में भरोसा है। जहां तक दूसरे राष्ट्रों का बस चल सकता है, वे भी इसी तरह ही काम करते हैं। सारी दुनिया के सहयोग की यह शुरूआत आशापूर्ण नहीं है। सोवियत् यूनियन या दूसरे देशों में निर्यात बाजार के लिए उस तरह लड़ाई नहीं है, जैसी ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र के बीच में है। लेकिन फ़र्क़ों की गहराई ज्यादा है, मुक़ाबले में उनके नज़रियों में ज्यादा फ़र्क़ है, और लड़ाई में मिलकर काम करन के बाद भी उनके आपसी शक कम नहीं हुए। अगर ये फ़र्क़ ज्यादा बढ़ते गए तो संयुक्त राष्ट्र और ब्रिटेन एक दूसरे के ज्यादा करीब आते जायंगे और सोवियत् यूनियन के दल के खिलाफ़ एक-दूसरे की मदद करेंगे।

इस नक़्शे में एशिया और अफ्रीका के करोड़ों आदमियों की जगह कहां होगी ? उनको अपने-आपका और अपनी क़िस्मत का ज्यादा होश हो गया है, और साथ ही उन्हें दुनिया का भी होश है। उनमें से बहुत बड़ा तादाद में लोगों की दुनिया की घटनाओं में दिलचस्पी है। लाज़िमी तौर पर उन सबके लिए हर घटना की एक कसौटी है : क्या इससे हमारी आज़ादी को मदद मिलेगी? क्या इससे एक देश का दूसरे देश पर कब्ज़ा खत्म होगा ? क्या इससे राष्ट्रों को और उनके अंतर्गत समुदायों को बराबरी के अवसर मिलेंगे ? क्या इसमें ग़रीबी और निरक्षरता के जल्दी खत्म होने की उम्मीद है ? क्या इससे रहने की हालतें बेहतर होंगी ? उनमें राष्ट्रीयता न दूसरों पर क़ाबू चाहती है और न किसी तरह की छेड़खानी करना चाहती है। वे दुनिया के सहयोग और अंतर्राष्ट्रीय ढांचा क़ायम करने की हर कोशिश का स्वागत करते हैं, लेकिन उन्हें ताज्जुब होता है और शक होता है कि कहीं पुराने क़ाबू को बनाये रखने की यह कोई नई तरक़ीब न हो। एशिया और अफ़्रीका के ज्यादातर हिस्से जग गये हैं, असंतुष्ट हैं, बेचैन हैं और मौजूदा हालतों को अब और ज्यादा बर्दाश्त नहीं कर सकते। एशिया के विभिन्न देशों में हालतों और समस्याओं में बहुत फ़र्क़ है, लेकिन इस सारे विस्तृत क्षेत्र में, चीन और हिंदुस्तान में, दक्खिनी पूर्वी एशिया में, पच्छिमी एशिया में, और अरब में भावनाओं के एक से धागे फैले हुए हैं, और ऐसी अदृश्य कड़ियां हैं जो उन्हें एक साथ मिलाये हुए हैं।

एक हज़ार वर्ष या इससे कुछ ज्यादा वक़्त तक, जिस वक़्त यूरोप पिछड़ा हुआ था और अंधकार-युगमें फंसा हुआ था, एशिया मनुष्य की प्रगतिशील आत्मा की नुमाइंदगी करता था। शानदार संस्कृति के एक के बाद दूसरे युग फलते-फूलते रहे, और सभ्यता और शक्ति के बड़े-बड़े केंद्र पैदा हुए। क़रीब पांच सौ वर्ष पहले यूरोप संभला और धीरे-धीरे पूर्व और पच्छिम की तरफ़ फैला, और इन सदियों के दौरान में, दुनिया की ताक़त, संपत्ति और संस्कृति का प्रमुख महाद्वीप बन गया। क्या इस तब्दीली का कोई चक्र था, और क्या अब वह प्रक्रिया उलट रही है ? वह निश्चय ही अमरीका की तरफ़ ज्यादा हट गई है जो बहुत दूर पच्छिम में है और साथ ही वह यूरोप के उस पूर्वी हिस्से में पहुंच गई है जो यूरोपीय विरासत का हिस्सा नहीं था। पूर्व में भी साइबेरिया में बेहद तरक्क़ी हो गई है। पूर्व के दूसरे देश भी रद्दो-बदल के लिए और तेज़ी से आगे बढ़ने के लिए तैयार हो चुके हैं। क्या भविष्य में संघर्ष होगा, या पूर्व और पच्छिम में एक नया समतौल क़ायम होगा ?

सुदूर भविष्य ही इसका फ़ैसला कर सकेगा, और इतनी ज्यादा दूर की बातों पर सोचने से कोई फ़ायदा नहीं। फ़िलहाल हमको बोझ को ढोना है, और उन मसलों का सामना करना है जो हमारे सामने हैं। दूसरे देशों की

तरह हिंदुस्तान में भी इन मसलों के पीछे असली सवाल है। हमें उन्नीसवीं सदी के यूरोप के नमूने का सिर्फ़ लोकतंत्र ही नहीं कायम करना है, बल्कि एक गहरी सामाजिक क्रांति की भी हमें ज़रूरत है। इन मालूम पड़ने वाली लाज़िमी रद्दो-बदल में लोकतंत्र खुद फंस गया है इसलिए जो लोग उस तब्दीली को नापसंद करते हैं उन्हें लोकतंत्र के कारगर होने में शक है, और इसकी वजह से फ़ासिस्ट मनोवृत्ति पैदा होती है और साम्राज्यवादी नज़रिया बना रहता है। हिंदुस्तान में हमारे सारे मौजूदा मसले—साम्प्रदायिक या अल्प-संख्यक समस्या, हिंदुस्तानी रजवाड़े, धार्मिक संस्थाओं या बड़े जमींदारों के स्थापित स्वार्थ, और हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत और कार-बार के जमे हुए स्वार्थ——अंत में सामाजिक तब्दीली का विरोध करते हैं। चूंकि असली लोकतंत्र से ऐसी तब्दीली की संभावना है, इसलिए खुद लोकतंत्र का विरोध होता है, और कहा जाता है कि हिंदुस्तान की अपनी परिस्थितियों में वह अनुपयुक्त है। इस तरह चाहे उनमें कैसे ही फ़र्क मालूम पड़ते हों, लेकिन हिंदुस्तान के मसलों की भी बुनियाद वही है जो चीन, स्पेन, या दुनिया के और दूसरे देशा के मसलों की है, और जिसको लड़ाई ने ऊपर सतह पर ला दिया है। यूरोप के बहुत से नात्सी-विरोधी आंदोलनों में इन झगड़ों की झलक दिखाई देती है। हर जगह सामाजिक शक्तियों का पुराना संतुलन बिगड़ गया है और जब तक एक नया संतुलन कायम नहीं हो जाता, कशम-कश होगी और संघर्ष चलता रहेगा। इन मौजूदा समस्याओं से हम अपने ज़माने की केंद्रीय समस्याओं पर पहुंच जाते हैं, यानी लोकतंत्र और समाजवाद को किस तरह मिलाया जाय; राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सतह पर जनता के योजनाबद्ध आर्थिक जीवन को रखते हुए, और साथ ही केंद्रित सामाजिक नियंत्रण रखते हुए किस तरह व्यक्तिगत आज़ादी और व्यक्तिगत प्रयत्न को बनाये रखा जाय।

१३ : आज़ादी और साम्राज्य

ऐसा मालूम होता है कि भविष्य में संयुक्त राष्ट्र और सोवियत् यूनियन का एक खास हिस्सा होगा। जितना फ़र्क किन्हीं दो उन्नत देशों में हो सकता है, उतना फ़र्क उन दोनों में है, यहां तक कि उनकी कमियां भी विरोधी दिशाओं में दिखाई देती हैं, राजनीतिक लोकतंत्र के अभाव की सारी बुराइयां सोवियत् रूस में मौजूद हैं। फिर भी उनमें बहुत-सी एक-सी बातें हैं—एक गतिशील नज़-रिया; बेहद साधन; सामाजिक लचीलापन; मध्यकालीन पृष्ठभूमि का अभाव; विज्ञान और उसके आविष्कारों में विश्वास; जनता के लिए व्यापक शिक्षा, और आगे बढ़ने का मौक़ा। आमदनी में बहुत बड़ा असाम्य होते हुए भी, अमेरिका में बहुत से दूसरे देशों की तरह वर्ग-भेद नहीं हैं और बराबरी की

नागरिकता है। रूस में पिछले बीस सालों की सबसे बड़ी घटना वहां की जनता में शिक्षा और संस्कृति की बेहद तरक्क़ी है। इस तरह दोनों ही देशों में प्रगतिशील, लोकतंत्री समाज की जरूरी बुनियाद मौजूद है, क्योंकि ऐसे किसी समाज की बुनियाद, अपढ़ और उदासीन जनता पर, थोड़े से मेधावियों के राज्य पर, नहीं हो सकती। सौ साल पहले, उस वक़्त के अमरीकियों के बारे में बहस करते हुए डीटाकविल ने कहा था, "अगर एक तरफ़ लोकतंत्री सिद्धांत विज्ञान को, महज़ इल्म की ख़ातिर अपनाने के लिए प्रेरित नहीं करता तो दूसरी तरफ़ वह उन लोगों की तादाद को, जो उसे अपनाते हैं, बेहद बढ़ा देता है।......जब कि लोगों के रहन-सहन की हालतों में लगातार ग़ैर-बराबरी होती है तो आदमी विशुद्ध सचाई की गुस्ताख़ाना और बेसूद खोज में घिर जाते हैं, लेकिन लोकतंत्र की संस्थायें और सामाजिक हालतें उपयोगी, व्यवहार्य और तात्कालिक नतीजों को तलाश करने के लिए तैयार कर देती हैं। यह रुझान क़ुदरती और लाज़िमी है।" तब से अमेरिका बदल गया है, और तरक्क़ी कर गया है और उसमें कई जातियां घुल-मिल गई हैं लेकिन उसकी बुनियादी विशेषताएं वैसी ही हैं।

अमरीकी और रूसियों की एक और, समान विशेषता है। उन पर गुज़रे जमाने का वह भारी बोझ नहीं है, जिससे एशिया और यूरोप दबा हुआ है, और जिसकी वजह से बहुत हद तक उनके काम-काजों और झगड़ों पर पाबंदियां हैं। लेकिन जिस तरह और लोग नहीं बच सकते उसी तरह मौजूदा पीढ़ी के बोझ से वह भी नहीं बच सकते। लेकिन दूसरों के मुक़ाबले में उनका गुज़रा हुआ ज़माना ज्यादा साफ़ और कम बोझिल है और भविष्य की यात्रा भार से कम दबी हुई है।

इसकी वजह से वे दूसरे लोगों के पास इस तरह पहुंच सकते हैं कि उनके पीछे आपसी शक की वह पृष्ठभूमि नहीं होती जो सुस्थापित साम्राज्यवादी राष्ट्रों में और दूसरों में हुआ करती है। यह बात नहीं कि उनका गुज़रा हुआ ज़माना धब्बों और शक-शुबह से पाक और साफ़ है। अमरीकियों की अपनी नीग्रो समस्या रही है, जो उनके लोकतंत्र और बराबरी के दावे के लिए शर्मनाक चीज़ है। रूसियों को पूर्वी यूरोप में पुरानी नफ़रतों की याद को हटाना है, लेकिन मौजूदा लड़ाई उस याद को बढ़ा रही है। फिर भी अमरीकियों की दूसरे देशों से आसानी से दोस्ती हो जाती है। रूसियों में जातीय भेद-भाव क़रीब-क़रीब बिलकुल नहीं है।

यूरोप के ज्यादातर राष्ट्र आपसी नफ़रत, और पुराने झगड़ों और बइंसाफ़ियों के ख़याल से भरे हैं। लाज़िमी तौर से साम्राज्यवादी ताक़तों ने शासित जनता की सख़्त नफ़रत को इस में और जोड़ दिया है। लंबे अर्से से साम्राज्यवादी हुकूमत की वजह से इंग्लैंड का बोझ सबसे ज्यादा है। इसकी

वजह से या जातीय विशेषताओं की वजह से अंग्रेज़ एक तरफ़ अलग रहते हैं और वे आम तौर पर दूसरों से आसानी मे दोस्ती करते। बद-क़िस्मती से उनके बारे में हम राय उन सरकारी नुमाइंदों को देखकर क़ायम करते हैं जो आम तौर पर उनकी उदारता और संस्कृति के सही अलम-बरदार नहीं होते और अक्सर अहम्मन्यता और बनावटी चरित्र-शीलता के भाव दिखाई देते हैं। दूसरे लोगों का विरोध करने का, इन सरकारी अधिकारियों म एक अजीब हुनर होता है। कुछ महीने पहले हिंदुस्तान-सरकार के एक मंत्री ने श्री गांधीजा का (जब वह नज़रबंद थे) एक ख़त लिखा। वह ख़त इरादतन बदतमीज़ी का नमूना था और बहुत बड़ी तादाद में लोगों ने उसे हिंदुस्तान की जनता की बेइज्जती समझा। क्योंकि गांधीजी हिंदुस्तान के प्रतीक हैं।

भविष्य में कौन-सा दूसरा युग—साम्राज्यवाद का दूसरा युग, दुनिया की कॉमनवेल्थ का युग या अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का युग—शुरू होगा? पलड़ा सबसे पहले युग की तरफ़ झुका हुआ है। पुराना दलीलें दुहराई जाता हैं, लेकिन अब उनमें पुरानी साफ़गोई नहीं मिलती। इंसान की नैतिक रुझानें और उसकी क़ुर्बानियां, ओछे कामों के लिए इस्तैमाल की जाती हैं और हुकूमत करने वाले आदमी की अच्छाई और भलमनसाहत का नाजायज़ फ़ायदा उठाते ह, और जनता के शक, डर और उसकी झूठी आकांक्षाओं का उपयोग करते हैं, पुराने वक़्त में साम्राज्य के बारे में उन्हें इतनी झिझक नहीं थी। एथेंस (यूनान) के साम्राज्य के बारे में ज़िक्र करते हुए थ्यूमीडाइडिस ने लिखा था: "साम्राज्य के अपने अधिकार के लिए हमको सफ़ाई पेश नहीं करना है, क्योंकि जंगलियों को हमने अकेले ही हराया और अपनी प्रजा के लिए, अपनी सभ्यता के लिए हमने अपनी जान जोखिम में डाली। व्यक्ति की तरह राज-सत्ता को अपनी माक़ूल हिफ़ाज़त का इंतज़ाम करने के लिए दोष नहीं दिया जा सकता।...यह डर है, जो हमको अपने यूनान के साम्राज्य से चिपटे रहने के लिए मजबूर करता ह; और यह डर ही हमको यहां लाया है, जहां हम अपने साथियों की मदद से सिसली के मामलों में हुक्म दे सकते हैं।" बाद में उसने एथेंस की नौ-आबादियों की देन का ज़िक्र किया है: "उसको जीतना बुरी बात मालूम हो सकती है, लेकिन अब हम अगर उसे हाथ से निकल जानें दे, तो निश्चय ही बहुत बड़ी ग़लती होगी।"

एथेंस का इतिहास लोकतंत्र और साम्राज्य के असामंजस्य की मिसालों से भरा हुआ है। उसमें उपनिवेशों पर लोकतंत्री सरकार के अत्याचार की कहानी है, और उस साम्राज्य के तेज़ी से अध:पतन की तस्वीर है। साम्राज्य और आज़ादी का कोई भी समर्थक अपनी बात को ऐसे ज़ोरदार लफ़्ज़ों में नहीं कह सकता जैसे कि थ्यूसिडाइडिस ने कहे है, "हम सभ्यता के नेता हैं

और मानव-जाति के अगुआ हैं। मनुष्य जो ज्यादा-से-ज्यादा बड़ा आशीर्वाद दे सकता है, वह हमारा समाज और संपर्क है। हमारे असर के हलके में आने के मानी गुलामी नहीं, खुशकिस्मती है। पूर्व की सारी संपत्ति मिलकर भी उस धन का, जो हम देते हैं, भुगतान नहीं कर सकतीं। इसलिए हम खुशी के साथ काम कर सकते हैं। सारा धन और सारे साधन जो हमारे पास हैं, हम उनका इस्तैमाल उस काम में कर सकते हैं और हमको यह भरोसा रखना चाहिए कि हालांकि हमारी इसमें जांच होगी लेकिन हम जीतेंगे। वजह वह है कि कोशिश से, कितनी ही जगहों पर तकलीफ़ से, हमने इंसान की ताक़त का रहस्य जान लिया है, और वही इंसान की खुशी का रहस्य है। लोगों ने अलग-अलग नामों से उसका अंदाज़ किया है, लेकिन सिर्फ़ हमने ही उसका जाना है, और उसका अपने शहर में आसानी से इस्तैमाल किया है। जिस नाम से हम उसे जानते हैं, वह है आज़ादी। उसने हमको सिखाया है कि सेवा करने के मानी आज़ाद होने के हैं। क्या तुम्हें इस बात पर ताज्जुब है कि मानव-जाति में हम ही अकेले ऐसे आदमी क्यों हैं जो अपने उपहारों को निज-लाभ की शर्त पर नहीं देते बल्कि उन्हें आज़ादी के निडर भरोसे पर देते हैं?"

आज जब लोकतंत्र और आज़ादी के बारे में इतना शोर है, हालांकि वह कुछ ही लोगों तक सीमित है, उक्त बातों की गूंज कुछ परिचित-सी मालूम देती है। उसमें सचाई है लेकिन उससे इंकार भी किया गया है। थ्यूसिडाइडिस का बाकी दुनिया के बारे में जानकारी नहीं थी, और उसकी नज़र तो सिर्फ़ भूमध्य सागर के देशों तक ही सीमित थी। उसको अपने मशहूर शहर की आज़ादी पर गर्व था। इस आज़ादी को उसने इंसान की ताक़त और खुशी का रहस्य बताया। फिर भी उसने यह महसूस नहीं किया कि और लोगों को भी इस आज़ादी की ख्वाहिश थी। आज़ादी के प्रेमी एथेंस ने मेलोस को हराया और बरबाद किया, वहां के सब बालिग़ आदमियों को कत्ल कर दिया और वहां की औरतों और बच्चों को ग़ुलाम की तरह बेच दिया। उस वक़्त भी जब कि थ्यूसिडाइडिस साम्राज्य और आज़ादी की बाबत लिख रहा था, वह साम्राज्य गिर चुका था, और उस आज़ादी का, जिसका वह ज़िक्र करता है, वजूद न था।

वजह यह है कि बहुत अर्से तक आज़ादी को हुकूमत और ग़ुलामी से मिलाना, मुमकिन नहीं है। एक चीज़ दूसरी को हरा देती है और साम्राज्य की शान और घमंड में और उसकी बरबादी में थोड़े से वक़्त का ही फ़र्क़ होता है। पहले किसी भी वक़्त के मुक़ाबले में, अब आज़ादी ज्यादा हद तक अविभाज्य है। पेरिक्लीज़ की, अपने प्रिय शहर की शानदार तारीफ़ के कुछ वक़्त बाद ही वह शहर बरबाद हो गया, और स्पार्टा की फ़ौजों ने एक्रोपोलिस

पर कब्ज़ा कर लिया। फिर भी उसके लफ़्ज़ों में ख़ूबसूरती, आज़ादी, अक्ल और हिम्मत के लिए वह मुहब्बत ज़ाहिर होती है जो हमको अब भी हिला देती है। वे उस वक़्त के एथेंस के लिए ही लागू नहीं होते बल्कि दुनिया के ज़्यादा बड़े संदर्भ में भी लागू होते हैं। "हम ख़ूबसूरती से मुहब्बत करते हैं लेकिन ज़्यादती के साथ नहीं; हम अक्ल के कद्रदां हैं लेकिन ग़ैर मर्दानगी के साथ नहीं। संपत्ति हमारे लिए महज़ शान की चीज़ नहीं है बल्कि उससे उपलब्धि के लिए अवसर मिलता है; ग़रीबी को मंज़ूर करने में हमारे लिहाज़ से शान नहीं घटती लेकिन उसको दूर करने की कोशिश के न होने को हम सचमुच अधःपतन समझते हैं। हमारी प्रेरणा सिर्फ़ उन दोहराई हुई दलीलों से नहीं होनी चाहिए कि लड़ाई में हिम्मत दिखाना एक बहुत ऊंची और बढ़िया चीज़ है, बल्कि वह प्रेरणा उस बड़े शहर के कार्य-व्यस्त जीवन से, जो हमारे सामने रोज़ाना आता है, होनी चाहिए। उसको देखते ही हम उस पर मुग्ध हो जाते हैं, और हमको याद आती है कि उसकी महानता का श्रेय, योद्धाओं की हिम्मत को, अक्लमंदों की समझ और कर्त्तव्य-निष्ठा को और भले आदमियों के स्व-अनुशासन को है। वह श्रेय उन आदमियों को है जो चाहे नाकामयाब ही रहे हों, लेकिन जिन्होंने इस शहर को अपनी सेवायें अर्पण कीं, और अपनी सबसे बड़ी भेंट अपनी ज़िंदगी बलिदान कर चढ़ाई। इस तरह उन्होंने कॉमन-वेल्थ के लिए अपना शरीर निछावर कर दिया और उसके बदले में उन्हें ऐसी याद, ऐसी तारीफ़ मिली है जो हमेशा बनी रहेगी। साथ ही उनको वह शान-दार मक़बरा मिला है—वह नहीं जिसमें उनकी पार्थिव अस्थियां रखी हुई हैं—बल्कि वह जो लोगों के दिमाग़ में है, और जहां उनका गौरव सजीव बना रहता है और अवसर के अनुसार, बड़े काम के लिए, बड़ी बातों के लिए, प्रेरणा करता है। महापुरुषों के लिए सारी दुनिया ही मक़बरा है, और उनकी कहानी उनकी जन्मभूमि में ही पत्थरों पर खुदी हुई नहीं है बल्कि इससे भी आगे जाती है; इस तरह कि उसका कोई दिखाई पड़ने वाला प्रतीक नहीं होता, वह तो दूसरे लोगों की ज़िंदगी में समाई हुई है। अब तुम्हारे लिए यह बाक़ी है कि तुम उनकी बराबर ऊंचे उठो। यह जान लो कि ख़ुशी की कुंजी आज़ादी है, और आज़ादी का रहस्य एक बहादुर दिल है जो दुश्मन को आते देखकर एक तरफ़ अलग नहीं रह सकता।"[१]

[१] थ्यूसिडाइडिस के उद्धरण अल्फ्रेड ज़िमर्न की पुस्तक 'दि ग्रीक कामन-वेल्थ' (१९२४) से लिये गए हैं।

१४ : आबादी का सवाल; पैदाइश की गिरती हुई औसत और राष्ट्रीय ह्रास

लड़ाई के पांच सालों में बहुत बड़ी तब्दीलियां हुई हैं, और उलट-फेर हुआ है। शायद पहले किसी ज़माने में इतने बड़े पैमाने पर ऐसा नहीं हुआ था। लड़ाई की वजह से ख़ास तौर पर चीन, रूस, पोलैंड और जर्मनी में होने वाली करोड़ों आदमियों की मौतों के अलावा, बहुत बड़ी तादाद में लोग अपने घरों से, अपने मुल्कों से अलहदा हो गए हैं। फ़ौजी ज़रूरतें रही हैं, मज़दूरों की मांग रही है, और साथ ही मजबूरी हालत में अपना घर और मुल्क छोड़कर भागना पड़ा है। हमलावर फ़ौजों के आने के पहले शरणार्थी बहुत बड़ी तादाद में अपनी जगहों को खाली कर गए हैं। लड़ाई से पहले भी, नात्सी नीति की वजह से, यूरोप में इन भागे हुए लोगों की समस्या काफ़ी बड़े पैमाने पर पहुंची हुई थी। लेकिन लड़ाई के वक़्त की इस समस्या के सामने लड़ाई से पहले की समस्या पीछे पड़ जाती है। लड़ाई की ज़ाहिरा वजूहात के अलावा यूरोप की रद्दो-बदल ख़ास तौर से, नात्सियों की जातीय नीति के सबब से हैं। उन्होंने खुले तौर पर लाखों यहूदियों को मार दिया, और उससे उन कई देशों की आबादी का, जहां यहूदी रहते थ नक्शा ही पलट गया। सोवियत् यूनियन में लाखों आदमी पूर्व की तरफ़ हट गए हैं, और उन्होंने यूराल पहाड़ के दूसरी तरफ़ बस्तियां बसा ली हैं, और शायद ये बस्तियां स्थायी हो जावेंगी। चीन के बारे में यह अंदाज़ है कि क़रीब पांच करोड़ आदमी अपनी जगह से हट गए हैं।

बेशक, इन आदमियों को, या लड़ाई से बचे हुए आदमियों को, वापिस लाने और फिर से बसाने की कोशिश होगी, हालांकि यह काम बेहद उलझा हुआ है। बहुत से लोग अपने पुराने घरों को वापिस आ जावेंगे और बहुत से लोग अपने नये पड़ोस में ही रहना पसंद करेंगे। साथ ही इसकी भी संभावना है कि यूरोप में राजनीतिक रद्दो-बदल की वजह से, आबादी की अदल-बदल और लौट-पौट और भी ज्यादा होगी।

इससे भी ज्यादा और गहरी अहमियत उन तब्दीलियों की है, जिनका जीव-विज्ञान और शरीर-विज्ञान से ताल्लुक़ है और जिनकी वजह से दुनिया की आबादी तेज़ी से बदल रही है। औद्योगिक क्रांति और आधुनिक आविष्कारों की वजह से यूरोप की आबादी तेज़ी से बढ़ गई। यह बात ख़ास तौर से उत्तरी पच्छिमी और मध्य यूरोप में हुई। ज्यों-ज्यों यह वैज्ञानिक जानकारी पूर्व की तरफ़, सोवियत् यूनियन की तरफ़ बढ़ी है, इन हिस्सों की आबादी और भी ज्यादा तेज़ी से बढ़ी है, और इसमें नये आर्थिक ढांचे का और कुछ दूसरी बातों

का भी असर रहा है । विज्ञान की जानकारी का, शिक्षा का, सफ़ाई का, सार्वजनिक स्वास्थ्य का, पूर्व की तरफ़ फैलाव अभी चल रहा है और उसमें एशिया के कई देश आ जायंगे । इनमें से कुछ देशों को, मसलन हिंदुस्तान को, आबादी की बढ़ती की जरूरत नहीं होगी, क्योंकि दर-अस्ल वह मौजूदा आबादी से कम में ही ज्यादा खुशहाल हो सकेगा ।

इस दौरान में, यूरोप में, आबादी के सिलसिले में एक उलटी प्रक्रिया चल रही है । वहां पैदाइश की औसत गिरने की समस्या ज्यादा अहम होती जा रही है । यह प्रवृत्ति चारों तरफ़ है और उसका असर दुनिया के बहुत से देशों पर है । इसमें कुछ खास अपवाद हैं, जैसे चीन, हिंदुस्तान, जावा और रूस । उद्योग-धंधों के लिहाज से उन्नत देशों में वह खास तौर से जाहिर होती है । कई साल पहले फ्रांस की आबादी की बढ़ती खत्म हो गई, और अब आबादी धीरे-धीरे कम होती जा रही है । पिछली सदी में १८८० के बाद में पैदाइश की रफ़्तार बराबर कम होती रही है, और फ्रांस को छोड़कर वह आजकल यूरोप में सबसे कम है । जर्मनी और इटली में पैदाइश की रफ़्तार बढ़ाने की हिटलर और मुसोलिनी की कोशिशों का नतीजा सिर्फ़ अस्थायी हुआ । उत्तरी, पच्छिमी और मध्य यूरोप में दक्खिनी, पूर्वी यूरोप के मुक़ाबले (सोवियत् यूनियन को छोड़कर) पैदाइश की रफ़्तार ज्यादा तेजी से गिर रही है लेकिन इन सभी हिस्सों में प्रवृत्ति एक-सी है । मौजूदा प्रवृत्तियों के लिहाज से (रूस को छोड़कर) यूरोप की आबादी सन् १९५५ में सबसे ज्यादा होगी, और उसके बाद फिर उसमें कमी आ जायगी । इसका लड़ाई की क्षति से कोई ताल्लुक़ नहीं है, लेकिन उस क्षति से गिराव की तरफ़ झुकाव बढ़ जायगा ।

दूसरी तरफ़, सोवियत् यूनियन की आबादी बराबर बढ़ती जा रही है । और यह संभावना है कि सन् १९७० तक वह २५ करोड़ से ज्यादा होजायगी । लड़ाई के नतीजे से जो प्रादेशिक रद्दो-बदल होगी, उसकी बढ़वार इसमें शामिल नहीं है । इस आबादी की बढ़वार से और साथ ही वैज्ञानिक तरक्क़ी से वह यूरोप और एशिया में लाजिमी तौर पर एक अहम ताकत बन जायगा । एशिया में ज्यादातर बातें, चीन और हिंदुस्तान की औद्योगिक तरक्क़ी पर निर्भर हैं । उनकी बड़ी आबादियां एक बोझ हैं और एक कमजोरी हैं । हां अगर उचित और उपयोगी ढंग से उनका संगठन हो सके तो दूसरी बात है । ऐसा मालूम होता है कि यूरोप की साम्राज्यवादी ताक़तों के विस्तारवादी और आक्रामक ढंग का जमाना निश्चित रूप से खत्म हो चुका । ऐसा हो सकता है कि राजनीतिक संगठन से और उनकी जनता की योग्यता और कुशलता की वजह से दुनिया के मामलों में उनकी अहम जगह हो । लेकिन अब धीरे-धीरे उनकी गिनती बड़ी ताक़तों में नहीं रहेगी । अगर वे सामुदायिक ढंग पर काम करें तो शक्ल दूसरी होगी ।

"ऐसी संभावना नहीं मालूम देती कि उत्तरी पच्छिमी या मध्य यूरोप का कोई राष्ट्र फिर दुनिया को चुनौती देगा। अपने पच्छिमी पड़ोसियों की तरह अब जर्मनी उस युग को पार कर गया है, जिससें वह दुनिया की प्रधान ताक़त हो सकता था। वजह यह है कि जनता में, जो बहुत तेज़ी से तरक्क़ी कर रही है, वैज्ञानिक सभ्यता समा गई है।"[1]

कई पच्छिमी देशों और क़ौमों को, वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति से बड़ी ताक़त हासिल हुई है। इसकी बहुत ही कम संभावना है कि ताक़त के इस सोते पर कुछ राष्ट्रों का ही एक-मात्र अधिकार रहेगा। इसलिए दुनिया के एक बहुत बड़े हिस्से पर यूरोप की आर्थिक और राजनीतिक हुकूमत, लाज़िमी तौर से तेजी से घटेगी और वह यूरेशियन महाद्वीप और अफ्रीका का संचालन-केंद्र नहीं रहेगा। इस बुनियादी सबब की वजह से, पुरानी यूरोपीय ताक़तें शांति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के बारे में अब ज्यादा सोच-विचार करेंगी, और जहां तक मुमकिन हो सकेगा लड़ाई को टालेंगी। जब ज़बर्दस्ती के तरीक़ों से महज़ तबाही दिखाई पड़ती हो तो उनमें कोशिश नहीं रह जाती। लेकिन उन दुनिया की ताक़तों में, जिनकी आज अहमियत है, दूसरों से सहयोग करने की प्रवृत्ति नहीं है। यह प्रवृत्ति नैतिक होनी चाहिए, लेकिन ताक़त और नैतिकता का साथ बहुत कम होता है।

चारों तरफ़ पैदाइश के औसत के गिरने की वजह क्या है? संतति-निग्रह उपायों के उपयोग और छोटे और सुनियंत्रित परिवार बनाये रखने की इच्छा का कुछ असर तो हो सकता है, लेकिन आम तौर पर यह बात मानी जाती है कि इसकी वजह से बहुत ज्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ा। आयर्लैंड एक कैथोलिक देश है और शायद वहां संतति-निग्रह के साधनों का उपयोग नहीं है। लेकिन वहां पर पैदाइश की रफ़्तार, दूसरे देशों से पहले ही कम होनी शुरू हुई थी। शायद पच्छिम में शादी को ज्यादा बड़ी उम्र में करने की आदत भी एक वजह है। आर्थिक बातों का कुछ असर हो सकता है, लेकिन कोई खास असर नहीं है। यह आम जानकारी है कि अमीरों के मुक़ाबले आम तौर पर ग़रीबों में सन्तानोत्पत्ति सामर्थ्य ज्यादा है। इसी तरह शहरी हलक़ों के मुक़ाबले यह सामर्थ्य देहाती हलकों में ज्यादा है। छोटे से समुदाय के लिए ऊंची हैसियत बनाये रखना आसान है, और व्यक्तिवाद की तरक्क़ी से, समुदाय या जाति को

---

१ अमेरिका के अप्रैल १९४४ के 'फारेन एफ़ेयर्स' पत्र में फ्रैंक डबल्यू० नोट्स्टीन, 'पोपूलेशन एंड पावर इन पोस्ट वार यूरोप' लेख। इंटरनेशनल लेबर आफिस ने ई० एम० कुलिशेर का लिखा हुआ एक अध्ययन 'दि डिस्प्लेसमेंट अव् पापुलेशन इन यूरोप' (१९४३) प्रकाशित किया है।

अहमियत कम हो जाती है। प्रोफ़ेसर जे० बी० एस० हाल्डेन का कहना है कि आम तौर पर बहुत से सभ्य समाजों में ऐसे लोगों में, जिन्हें इज्ज़त हासिल है, आम जनता के मुकाबले, उत्पादन-सामर्थ्य कम होती है। इस तरह ऐसा मालूम होता है कि जाव-विज्ञान के लिहाज से ऐसे समाज पायदार नहीं हो सकते। बड़े परिवार में अक्सर अपेक्षाकृत नीचे दर्जे की वृद्धि पाई गई है। आर्थिक कामयाबी भी जीव-विज्ञान के लिहाज से कामयाबी की उलटी समझी जाती है।

गिरती हुई पैदाइश का रफ़्तार की बुनियादी वजहों के बारे में कोई ख़ास जानकारी नहीं है। हां कुछ वजहों का अंदाज़ किया जाता है। ऐसा मुमकिन है कि उसके पीछे कुछ शरीर-विज्ञान के और जीव-विज्ञान के सबब हों। साथ हा उद्योग-धंधों से उन्नत जातियां जिस ढंग की ज़िंदगी बिताती हैं और जिस वातावरण में उन्हें रहना होता है, इन दोनों बातों का भी असर मालूम देता है। अपूर्ण भोजन, नशा बुरी शारीरिक और मानसिक तंदुरुस्ती, अस्वास्थकर परिस्थितियां, इन सबका जनन-शक्ति पर असर होता है। फिर भी बीमार और अधभूखी जातियों में, मसलन हिंदुस्तान में, पैदायश की रफ़्तार बहुत ज्यादा है। शायद आधुनिक ज़िंदगी की लगातार कशम-कश, फ़िक्र और प्रतियोगिता से भी उत्पादन-सामर्थ्य कम होती है। ज़िंदगी देने वाली भूमि के छोड़ने से शायद काफ़ी असर पड़ता है। अमेरिका में भी खेती से ताल्लुक़ रखने वाले लोगों की उत्पादन-सामर्थ्य, पेशेवर लोगों के मुकाबले दूने से भी ज्यादा है।

ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक सभ्यता से, जो पच्छिम में पैदा हुई और जो बाद में और जगहों में फैल गई, और साथ ही उस शहरी ज़िंदगी की वजह से जो इस सभ्यता की विशेषता है, एक ग़ैर पायदार समाज बनता है, और उसमें धीरे-धीरे शक्ति कम होती है। ज़िंदगी कई हलकों मे तरक्क़ी करती है, लेकिन उसकी बुनियाद ग़ायब होती जाती है; वह ज्यादा अस्वाभाविक हो जाती है, और उसमें उतार आने लगता है। दिन-ब-दिन उत्तेजक चीज़ों की ज़रूरत बढ़ती जाती है। सोने के लिए या और दूसरे मामूली कामों के लिए दवाइयों की ज़रूरत होती है। ऐसी खाने-पीने की चीज़ों का शौक़ होता है जो जीभ को अच्छी महसूम होती हैं और थोड़ी देर को तबियत खुश हो जाती है, लेकिन जिनसे शरीर का ढांचा कमजोर होता जाता है। क्षणिक उत्तेजना और खुशी की तरक़ीबों को काम में लाया जाता है, लेकिन बाद में उनकी प्रतिक्रिया होती है और खोखलापन महसूस होता है। चाहे उसकी कितनी ही शानदार शक्ल क्यों न हो और उसके कारनामे जो भी हों, लेकिन जो सभ्यता हमने बनाई है वह जाली-सी मालूम देती है। हम उत्तेजक दवाओं से पैदा किये हुए खाने को खाते हैं; हम उत्तेजक भावनाओं में डूबे रहते हैं, और

हमारे इंसानी रिश्ते ऊपरी सतह के नीचे शायद ही जाते हों। विज्ञापक हमारे युग के प्रतीकों में से एक हैं, और उनकी लगातार और कर्कश कोशिशों से हम धोखे में पड़ जाते हैं। वे कोशिशें हमारी चेतना-शक्ति को धुंधला कर देती हैं, और हमको बेज़रूरी और कभी-कभी नुकसानदेह चीज़ों को खरीदने के लिए फुसलाती है। इस हालत के लिए मैं दूसरों को दोष नहीं दे रहा हूं। हम सब इसी युग की उपज हैं और हममें इस पीढ़ी की विशेषतायें हैं। हम सब पर इस दोष या श्रेय की जिम्मेदारी है। यक़ीनी तौर पर मैं खुद इस सभ्यता का एक हिस्सा हूं, जिसकी मैं आलोचना या तारीफ़ करता हूं, और दूसरे लोगों की तरह मेरे ख़यालों और कामों पर इसका असर है।

इस आधुनिक सभ्यता में ऐसी क्या ग़लती है, जिसकी वजह से जड़ में जातियों के ज़वाल और बांझपने के चिन्ह दिखाई देते हैं? लेकिन यह कोई नई चीज़ नहीं है। ऐसा पहले भी हुआ है, और इतिहास ऐसी मिसालों से भरा हुआ है। अपने पतन के समय शाही रोम की हालत कहीं बदतर थी। क्या इस भीतरी ज़वाल का कोई चक्र है? क्या हम उसका कारण खोजकर, उसका उपाय कर सकते हैं? आधुनिक उद्योगवाद, और समाज का पूंजीवादी ढांचा, यही उसके एक मात्र कारण नहीं हो सकते, क्योंकि उनसे पहले अक्सर ज़वाल आया है। हां यह मुमकिन है कि उनकी मौजूदा शक्ल से एक उपयुक्त वातावरण बनता हो; एक ऐसी दुनियवी और दिमाग़ी आब-हवा बनती हो, जिसमें इन कारणों को पनपने में आसानी होती हो। अगर बुनियादी कारण आध्यात्मिक हो या ऐसा हो जिसका ताल्लुक़ आदमी की आत्मा और उसके मन से होता हो, तो हालांकि हम उसे समझने की कोशिश कर सकते हैं, लेकिन उसका पकड़ पाना मुश्किल है। हां उसका एहसास ज़रूर हो सकता है। लेकिन एक बात ज़रूर ज़ाहिर है: ज़मीन से रिश्ता तोड़ना व्यक्ति और जाति दोनों के ही लिए बुरा है। ज़मीन और सूरज दोनों ज़िंदगी के सोते हैं, और अगर ब त अर्से तक हम उनसे अलहदा रहें, तो ज़िंदगी ढलने लगती है। आधुनिक, उद्योग-धंधों में उन्नत जातियों का ज़मीन से कोई लगाव नहीं रहा है और वे उस आनंद को महसूस नहीं करतीं जो प्रकृति देती है, और न उन्हें वह खूबसूरत तंदुरुस्ती ही हासिल होती है जो पृथ्वी-माता के संपर्क से मिलती है। लोग प्रकृति की खूबसूरती की बातें करते हैं और हफ़्ते के, अख़ीर में कभी-कभी फ़ुरसत निकालकर उसकी तलाश में जाते हैं, और अपनी अस्वाभाविक ज़िंदगी की देन को देहातों में बिखेर आते हैं, लेकिन वह प्रकृति से घुल मिल नहीं सकते और न वे अपने-आपको उसका हिस्सा ही महसूस कर सकते हैं। क्योंकि उनसे ऐसा कहा जाता है, इसलिए प्रकृति ऐसी चीज़ है जिसको देखना चाहिए और जिसकी तारीफ़ करनी चाहिए। उसे देखकर, वह एक चैन की

सांस लेते हुए अपने रोजमर्रा के ढर्रे पर आ जाते हैं। यह सब ठीक उसी तरह होता है जैसे कि वह किसी सनातन-साहित्य के कवि या लेखक की तारीफ़ करने की कोशिश करें, और फिर उस कोशिश से थककर अपनी तबियत के उपन्यास या जासूसी कहानी पर वापिस आ जावें, जहां दिमाग़ को मेहनत नहीं करनी पड़ती। पुराने हिंदुस्तानियों या यूनानियों की तरह वह प्रकृति की संतान नहीं हैं, बल्कि वह तो ऐसे अजनबी हैं जो दूर के किसी रिश्तेदार के न्योते की बला टालते हों। इसी वजह से उन्हे प्रकृति के संपन्न जीवन और अनंत रूप का आनंद अनुभव नहीं होता। और न उनको उस सजीव जीवन की ही अनुभूति होती है जो हमारे पुरखों के लिए सहज थी। तब, क्या इसमें कोई ताज्जुब है कि प्रकृति उनको सौतेली संतान की तरह बरतती है ?

हम उस पुराने नजरिये पर, जो इस सारे संसार को ब्रह्ममय जानता है, वापिस नहीं जा सकते। फिर भी हम प्रकृति के रहस्य का अनुभव कर सकते हैं, उसके जिंदगी और खूबसूरती के गाने को सुन सकते हैं, और उससे शक्ति-संचय कर सकते हैं। वह गाना सिर्फ़ किन्हीं खास जगहों पर ही नहीं गाया जा सकता है और अगर हममें योग्यता हो तो हम उस गाने को हर जगह सुन सकते हैं। लेकिन कुछ ऐसी जगहें हैं, जहां प्रकृति उन लोगों को भी मुग्ध कर देती है, जिनमें उनकी योग्यता नहीं है, और उसका स्वर किसी दूर के साज-संगीत की गंभीर ध्वनि जैसा लगता है। ऐसी इनी-गिनी जगहों में से काश्मीर एक है, जहां खूबसरती बसी हुई है, और जहां चेतना-शक्ति पर चुपचाप मोहिनी पड़ जाती है। फ्रांसीसी विद्वान् एम० फ़ूचर ने काश्मीर के बारे में अपने लेख में कहा है, "मेरी दृष्टि में, काश्मीर की विशेष मोहिनी की जो असली वजह है, मैं उसे कहना चाहता हूं—उस मोहिनी की, जिसकी हर एक को तलाश है, यहां तक कि उसको भी जो उसका विश्लेषण नहीं करता। वह मोहिनी सिर्फ़ इस वजह से नहीं हो सकती कि वहां के जंगल खूबसूरत हैं, वहां की झीलें निर्मल जल से भरी हुई हैं, उसकी बर्फ़ीली पहाड़ी चोटियां शानदार हैं या वहां की ठंडी धीमी हवा में उसके अनगिनित झरनों की प्यारी आवाज समाई हुई है। न उसकी पुरानी इमारतों की शान या उनका वैभव है। हां करेवा की अग्रभूमि पर मार्तंड के खंडहर उसी गर्व के साथ खड़े हुए हैं, जिस तरह पहाड़ी के अग्रभाग पर वह प्रसिद्ध यूनानी मंदिर है, और दस पत्थरों के कटाव पर बना हुआ पयार का छोटा-सा मंडप है जिसमें लाइसिक्रेटीज़ की प्रमुख मूर्तियों में सर्वोच्च श्रेणी का अनुपात है। कोई यह भी नहीं कह सकता कि इस मोहिनी की वजह, कला और वातावरण का मिलाप है, क्योंकि कई दूसरे देशों में भी सुरम्य स्थानों में खूबसूरत इमारतें बनी हुई हैं। लेकिन जो चीज सिर्फ़ काश्मीर में ही मिलती है वह यह है कि ये दोनों सुषमायें एक साथ एक ऐसी जगह पाई जाती

है जहां प्रकृति में अब भी रहस्यमयी जीवन की प्रेरणा है, जहां प्रकृति हमारे अंतरंग से बात करना जानती है, हमारे नास्तिक तंतुओं को भी हिला देती देती है और चेतन या अचेतन रूप में हमें उस विगत काल में ले जाती है जब दुनिया का शैशव था और जिसकी अनुपस्थिति का रवि को मलाल था और "जब कि देवभूमि में स्वर्ग और धरती साथ-साथ विचरण करते थे और सांस लेते थे।"

लेकिन काश्मीर की तारीफ़ करना मेरा मक़सद नहीं है। हां कभी-कभी मेरा पक्षपात मुझे बहका देता है। न मेरा इरादा दुनिया के ब्रह्ममय होने की तरफ़दारी में दलील पेश करने का है। हां मैं इस हद तक नास्तिक ज़रूर हूं कि मैं यक़ीन करता हूं कि नास्तिकता का संपर्क, शरीर और मन के फ़ायदे में होता है। मैं ऐसा ज़रूर सोचता हूं कि वह ज़िंदगी, जो ज़मीन से पूरी तरह अलहदा है, आख़िरकार मुरझा जायेगी। ठीक है, इस ढंग से पूरी तरह विच्छेद कभी नहीं होता और प्रकृति की प्रक्रियाओं में समय लगता है। लेकिन आधुनिक सभ्यता की यह कमज़ोरी है कि वह दिन-ब-दिन ज़िंदगी देने वाले सोतों से अलहदा होती जा रही है। आधुनिक पूंजीवादी समाज की प्रतियोगिता और अपहरण की विशेषताओं से संपति को सब चीज़ों से ऊपर जगह देने की वजह से, दिमाग़ी तंदुरुस्ती ख़राब होती है, और एक ऐसी हालत हो जाती है कि नाड़ियों में एक अस्वाभाविक उत्तेजना आ जाती है। एक ज्यादा अक्लमंद और समतोल वाले आर्थिक ढांचे से, इन हालतों में सुधार होगा। फिर भी यह ज़रूरी होगा कि ज़मीन और प्रकृति से ज्यादा जीता-जागता संपर्क हो। इस के मानी यह नहीं कि पुराने संकरे मानों में हम ज़मीन और खेती पर वापिस आवेंगे, या हमारी ज़िंदगी का ढर्रा वैसा ही हो जायगा जैसा कि आदि-काल में था। उस ढंग का इलाज तो बीमारी से भी बदतर होगा। आधुनिक उद्योग का संगठन इस ढंग का होना चाहिए कि मर्द और औरत, ज़मीन के ज्यादा-से-ज्यादा निकट संपर्क में हों, और साथ ही देहाती हलकों का सांस्कृतिक दर्जा ऊंचा हो। शहर और देहात दोनों में ही ज़िंदगी की सहूलियतें होनी चाहिए ताकि दोनों में ही शारीरिक और मानसिक तरक्क़ी का पूरा मौक़ा हो, और दोनों ही जगह ज़िंदगी के हर पहलू की तरक्क़ी हो।

मुझे इसमें शक नहीं है कि यह किया जा सकता है। बस ज़रूरत इस बात की है कि लोगों में करने की ख़्वाहिश हो। मौजूदा वक़्त में, ज्यादा लोगों में इस ढंग की ख़्वाहिश नहीं है। हमारी ताक़त (एक दूसरे की जान लेने के अलावा) उत्तेजक पदार्थ और उत्तेजक मनोरंजन की चीज़ें बनाने में लगी हुई हैं। इनमें से ज़्यादातर के ख़िलाफ़ मुझे कोई बुनियादी एतराज नहीं है और कुछ को तो मैं अच्छा भी समझता हूं, लेकिन उनमें जो वक़्त लगता है उसका

बेहतर इस्तैमाल हो सकता है। हां एक बात और है कि उन चीजों से जिंदगी का मजरिया ग़लत बन जाता है। कारखाने में बने हुए खादों की बहुत मांग है, और मेरा ख्याल है कि अपने ढंग से वह फ़ायदेमंद भी है। लेकिन यह बात मुझे अजीब-सी मालूम होती है कि इन खादों के जोश की वजह से लोग क़ुदरती खाद को भुला दें, यहां तक कि उसे बरबाद कर दें, और फेंक दें। जहां तक कि राष्ट्र का सवाल है सिर्फ चीन ने ही इतनी समझ दिखाई है और क़ुदरती खाद का पूरा-पूरा इस्तैमाल किया है। कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि बने हुए खाद से असर बहुत तेज़ी से दिखाई देता है, लेकिन उससे ज़मीन कमज़ोर हो जाती है और इस तरह वह बंजर हो जाती है। जो बात हमारी व्यक्तिगत जिंदगी के साथ है वह ज़मीन के साथ है। हम मोमबत्ती को दोनों सिरों से जला रहे हैं। हम उसकी दौलत को तेज़ी से ले रहे हैं और बदले में क़रीब-क़रीब कुछ नहीं दे रहे हैं।

रासायनिक प्रयोगशाला में क़रीब-क़रीब हर एक चीज़ को बनाने की हमारी योग्यता बढ़ती जा रही है और हमको इसका गर्व है। भाप के युग से हम बिजली के युग पर आये, और अब हम प्राणदा-प्रक्रिया और अणु-स्थित विद्युत्-शक्ति के युग पर आये हैं। सामाजिक-विज्ञान का युग भविष्य में दिखाई देता है, और हमें एसी उम्मीद मालूम पड़ती है कि वह उन घनिष्ठ समस्याओं को जो हमें परेशान कर रही हैं, हल कर सकेगा। हमको यह भी बताया जाता है कि हम लोग मैगनेशियम-एल्युमिनियम युग के प्रवेश द्वार पर हैं और चूंकि ये दोनों धातुएं हर जगह बेहद तादाद में पाई जाती हैं, इसलिए इनकी किसी को भी कमी न होगी। नया रसायन-शास्त्र मानव-जीवन के लिए एक नया जीवन तैयार कर रहा है। हम एक ऐसे युग में हैं जब मानव जाति का शक्ति-स्रोत, बेहद बढ़ने वाला है। हर ढंग के युगान्तरकारी आविष्कार निकट भविष्य में प्रकट होने के लिए मंडरा रहे हैं।

इस सबसे बड़ी तसल्ली होती है, लेकिन मेरे दिमाग़ में एक शक पैदा होता है। हमारी तकलीफ़, ताक़त की कमी की वजह से नहीं है, बल्कि वह उस ताक़त के, जो हमारे पास है, इस्तैमाल की वजह से है। विज्ञान ताक़त देता है लेकिन उसका ख़ुद कोई मक़सद नहीं है, वह अव्यक्तिगत है और उसका इस बात से कोई ताल्लुक़ नहीं कि हम उसके दिये हुए ज्ञान का किस तरह इस्तैमाल करते हैं। उसकी जीत आगे भी जारी रह सकती है, लेकिन अगर वह क़ुदरत की बहुत ज्यादा अवहेलना करता है, तो क़ुदरत उससे बदला ले सकती है। जिस वक़्त जिंदगी बाहरी क़द में बढ़ता मालूम देती है, वह अंदर-ही-अंदर किसी ऐसी चीज की कमी की वजह से मुरझा सकती है जिसकी खोज विज्ञान अभी तक नहीं कर पाया है।

१५ : एक पुरानी समस्या के लिए नई कोशिश

इस ज़माने का दिमाग़ यानी ऊंचे दर्जे का दिमाग़ यथार्थवादी है और कौशल-युक्त है, नैतिक है और सामाजिक है, परोपकारी है और मानववादी है। उसका संचालन सामाजिक उन्नति के अमली आदर्शवाद से होता है। उसके पीछे काम करने वाले आदर्श ज़माने की रविश की, 'जिरगीस्त' या युगधर्म की नुमाइंदगी करते हैं। पुराने लोगों के दार्शनिक ढंग को, उनकी अंतिम सत्य की खोज को बहुत हद तक छोड़ दिया गया है। साथ ही मध्यकालीन युग का भक्तिवाद और रहस्यवाद भी छोड़ दिया गया है। उसका ईश्वर है मानवता, और उसका धर्म है समाज-सेवा। यह धारणा भी अपूर्ण हो सकती है क्योंकि हर युग का मस्तिष्क अपने वातावरण से सीमित रहता है, और हर युग ने आंशिक सत्य को ही संपूर्ण सत्य की कुंजी समझा है। हर पीढ़ी में, हर जनता में, यह झूठा खयाल रहा है कि सिर्फ़ उसी का नज़रिया बिलकुल सही है या ज्यादा-से-ज्यादा सही है। हर संस्कृति का एक अपना मूल्यांकन होता है, जो उस संस्कृति से सीमित होता है और उससे बंधा हुआ होता है। उस संस्कृति को मानने वाले लोग, इस क़ीमत को पत्थर की लकीर समझने लगते हैं, और उसको एक स्थायी महत्ता दे देते हैं। इसी तरह शायद हमारी वर्तमान संस्कृति का मूल्यांकन स्थायी और अंतिम न हो। फिर भी हमारे लिए उसकी एक ख़ास अहमियत है, क्योंकि वह हमारे युग की भावना की नुमाइंदगी करता है। कुछ दूरदर्शी और मेधावी लोगों के सामने, मानव जाति का और विश्व का ज्यादा पूरा नक्शा हो सकता है। वे उस तत्व के बने हुए होते हैं जिससे सारी सच्ची तरक्क़ी होती है। जनता का अधिकांश मौजूदा मूल्यांकन को समझ नहीं पाता। हालांकि वह उसके बारे में उस वक़्त की हवा की वजह से बातें बहुत करता है लेकिन वह गुज़रे जमाने की बातों में फंसा रहता है।

इसलिए हमको अपने युग के सबसे ऊंचे आदर्शों के बमूजिब काम करना चाहिए। हां हम उनमें अपने राष्ट्रीय संस्कारों को जोड़ सकते हैं; या उन आदर्शों को उनके अनुरूप बना सकते हैं। उन आदर्शों का वर्गीकरण दो शीर्षकों में हो सकता है—मानववाद और वैज्ञानिक स्वभाव। इन दोनों के बीच में ज़ाहिर काफ़ी झगड़ा रहा है लेकिन आज कल विचारों की उस ज़बर्दस्त उथल-पुथल से, जिसमें सारे मूल्यांकन कसौटा पर कसे जा रहे हैं, इन दोनों की पुरानी सरहदें हट रही हैं। इसी तरह विज्ञान की बाहरी दुनिया में और अंतर्दृष्टि की अंदरूनी दुनिया में उस उथल-पुथल की वजह से सीमायें टूट रही हैं। मानव-वाद और वैज्ञानिक स्वभाव दोनों में ही समन्वय बढ़ रहा है, और एक ढंग का वैज्ञानिक मानववाद पैदा हो रहा है। विज्ञान, हालांकि वह प्रकट सचाइयों से

चिपटा हुआ है, दूसरे क्षेत्रों में भी घुसने की तैयारी में है। कम-से-कम अब विज्ञान अवहेलना के साथ उनको नामंजूर नहीं करता। हमारी पांच इन्द्रियां और उनके ज्ञान-क्षेत्र में जाहिर है कि सारा विश्व नहीं आता। पिछले पच्चीस बरसों में, भौतिक दुनिया के बारे में, वैज्ञानिक के दिमाग़ी नक्शे में काफ़ी तब्दीली हुई है। विज्ञान की दृष्टि में, मनुष्य और प्रकृति, क़रीब-क़रीब दो अलग चीजें थीं। लेकिन अब सर जेम्स जीन्स बताते हैं, कि विज्ञान का तत्त्व यह है कि "मनुष्य अब प्रकृति को अपने से पृथक् नहीं देखता।" और तब वही पुराना सवाल जो, उपनिषद् के विचारकों के मन में उठा था, सामने आता है: ज्ञाता को किस तरह जाना जा सकता है? बाह्य जगत् को देखने वाली आंखें अपने-आप को कैसे देख सकती हैं? बाह्य, आंतरिक का ही हिस्सा है, और जो कुछ हम देखते हैं या सोचते हैं वह सब हमारे मस्तिष्क का ही प्रकटीकरण है और विश्व और प्रकृति और आत्मा और मन और शरीर, अंतरंग और बहिरंग सब बुनियादी तौर पर एक ही चीज़ हैं, तो हम अपने दिमाग़ के संकरे घेरे में इस विशाल योजना को किस तरह समझेंगे! विज्ञान ने इन समस्याओं पर ध्यान देना शुरू कर दिया है और हालांकि वे उससे हल न हो पावें फिर भी आज का जिज्ञासु वैज्ञानिक पुराने युग के दार्शनिक और धार्मिक व्यक्तियों की ही प्रतिमूर्ति है। प्रोफ़ेसर एलबर्ट आइंस्टीन कहते हैं, "हमारे इस जड़वाद के युग में सिर्फ जिज्ञासु, वैज्ञानिक अन्वेषकों में ही, गहरी धार्मिकता है।"[१]

इस सबसे विज्ञान में एक पक्का विश्वास मालूम देता है, फिर भी यह ज़रूर है कि उद्देश्यहीन, और प्रकट सचाइयों से ही संबंधित, विज्ञान काफ़ी नहीं है। क्या जीवन के उपकरण देते समय विज्ञान जीवन के लक्ष्य की अवहेलना कर रहा था? प्रकट सचाइयों की दुनिया में, सामंजस्य पाने की कोशिश हो रही है, क्योंकि धीरे-धीरे यह बात ज़्यादा साफ़ होती जा रही थी कि पहली चीज़ पर ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान देने की वजह से आदमी की आत्मा कुचली जा रही थी। जिस सवाल ने पुराने दार्शनिकों को परेशान किया था, वह एक नई शक्ल में और एक नये संदर्भ में, फिर सामने आ गया है दुनिया के बाह्य जीवन का व्यक्ति के आंतरिक आध्यात्मिक जीवन से किस तरह मेल बिठाया जाय? अब चिकित्सक इस नतीजे पर पहुंच गये हैं कि व्यक्ति के या समूचे समाज के शरीर का इलाज ही काफ़ी नहीं है। इधर कुछ बरसों से, उन डाक्टरों ने, जो मानसिक-शरीर-विज्ञान से

---

१ पचास बरस पहले स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि आधुनिक विज्ञान, सच्ची धार्मिक भावना का प्रकटीकरण है, क्योंकि उसमें सच को सच्ची लगन से समझने की कोशिश है।

परिचित हैं, कायिक और कार्मिक बीमारियों का विषमता पर ज़ोर देना छोड़ दिया है और अब वह मनोवैज्ञानिक पहलू पर ज्यादा ज़ोर देते हैं।

सबसे ज्यादा मशहूर और बड़े वैज्ञानिक आइन्स्टीन हमको बताते हैं कि, "आज पहले युगों की अपेक्षा, आदमी का भाग्य, नैतिक शक्ति पर अधिक निर्भर है। हर जगह आनंद और आह्लाद का ज़रिया है त्याग और आत्म-संयम।" विज्ञान के इस गर्वीले युग से वह अचानक ही हमको पुराने दार्शनिकों के युग में ले पहुंचते हैं। शक्ति की कामना और मुनाफ़े की नीयत से वह हमको उस परित्याग की भावना पर पहुंचा देते हैं जिससे हिंदुस्तान सुपरिचित है। शायद आज के बहुत से वैज्ञानिक उनकी बात को नहीं मानेंगे। और न वे उनके इस कथन से ही सहमत होंगे कि, "मुझे पक्का यक़ीन है कि दुनिया की कोई भी दौलत मानवता को आगे नहीं बढ़ा सकती, चाहे वह दौलत, आदर्श के लिए जी-जान से काम करने वालों के ही हाथों में क्यों न हो। पवित्र और महान् व्यक्तित्वों के उदाहरण से ही सुंदर विचारों या श्रेष्ठ कामों की प्रेरणा हो सकती है। धन तो सिर्फ़ स्वार्थ को रुचता है और वह मालदार आदमियों में उसके दुरुपयोग का ज़बर्दस्त लोभ जगाता है।"

यह सवाल सभ्यता के सामने आदिकाल से रहा है। आज इसका सामना करने में विज्ञान को कई ऐसी सहूलियतें है, जो पहले दार्शनिकों को नहीं थीं। उसके पास संग्रहीत ज्ञान का भंडार है, और एक ऐसा ढंग है जो उचित रूप से कारगर है। उसने कई ऐसे प्रदेशों का नक़्शा बनाया है और उनकी खोज की है जिनसे पुराने लोग परिचित नहीं थे। चूंकि उसने आदमियों की समझ को और चीज़ों पर उसके नियंत्रण को बढ़ा दिया है, इसलिए वे अब उसके लिए रहस्य नहीं रह गई, और उनकी वजह से धर्म के पुजारी उनका नाजायज फ़ायदा नहीं उठा सकते। लेकिन उसके लिए कई कमियां भी हैं। संग्रहीत ज्ञान के ही बाहुल्य के कारण मनुष्य के लिए संपूर्ण का समन्वयकारी दृष्टिकोण बनाना कठिन हो गया है, और वह खुद अपने-आप को उनके किसी हिस्से में खो बैठता है। वह उसका विश्लेषण करता है, उसका अध्ययन करता है, कुछ हद तक उसे समझता है लेकिन संपूर्ण से उसका संबंध देख पाने में नाकामयाब रहता है। विज्ञान ने जो बेहद ताकत व्यक्त की है उसकी वजह से मनुष्य घबरा जाता है; वह ताक़त उसे आगे बढ़ाये ले जाती है, और अक्सर वह अपनी अनिच्छा से अनजाने किनारे पर पहुंच जाता है। आधुनिक जिंदगी की रफ़्तार से लगातार एक के बाद दूसरे संकट से, सत्य के शांत अनुसंधान में रुकावट होती है। अक़्ल खुद इधर-उधर धकेल दी जाती है, और वह आसानी से उस गंभीरता को और उस अनासक्त दृष्टिकोण को नहीं खोज पाती, जो सच्ची समझ के लिए बहुत ज़रूरी है। "क्योंकि

ज्ञान का मार्ग गंभीर है और उसके स्वभाव में उद्वेग नहीं है ।"

शायद हम मानव जाति के एक महायुग में रह रहे हैं, और उस सौभाग्य की हमको कीमत देनी होगी । महायुग में संघर्ष और अस्थिरता की भरमार होती है; पुरानी व्यवस्था को छोड़कर नई के लिए कोशिश होती है। पायदारी, हिफ़ाजत, अपरिवर्तनशीलता जैसी कोई चीज़ नहीं है, क्योंकि तब तो खुद जिंदगी ही ख़त्म हो जावेगी । ज़्यादा-से-ज़्यादा हम एक सापेक्षिक स्थिरता और गतिशील संतुलन की तलाश कर सकते हैं। ज़िंदगी, आदमी की आदमी के खिलाफ़, आदमी की अपने वातावरण के खिलाफ़, लगातार लड़ाई है । यह लड़ाई भौतिक, बौद्धिक और नैतिक सतह पर है और इसमें नई चीज़ों का नक़्शा बनता है और नये विचार उगते हैं। रचना और बरबादी साथ-साथ चलते हैं और प्रकृति के दोनों पहलू हमेशा दिखाई देते हैं । जिंदगी तो तरक्क़ी का ही सिद्धांत है निश्चलता का नहीं । उसमें गतिशीलता बराबर बनी रहती है और उसमें गतिहीन हालत का मौक़ा नहीं है ।

आज राजनीति और अर्थ-शास्त्र की दुनिया मे ताक़त की तलाश है, लेकिन जब ताक़त आ जाती है तो दूसरी चीज़ें, जिनकी बहुत कीमत है, हट जाती हैं। आदर्शवाद की जगह राजनीतिक चालें और दांव-पेच आ जाते हैं। निस्वार्थ हिम्मत की जगह बुज़दिली और खुद गरज़ी आ जाती हैं। तत्व की जगह ऊपरी शक्ल रह जाती है और ताक़त, जिसके लिए इतनी उत्सुक तलाश थी, अपने मक़सद पर पहुंचने में नाकामयाब होता है । वजह यह है कि ताक़त की अपनी खामियां है और शक्ति अपने ऊपर ही आ टूटती है । दोनों में से कोई आत्मा का नियंत्रण नहीं कर सकती। हां, वे उसे सख़्त या खुरदरा ज़रूर बना सकती हैं। चीनी विद्वान् कनफ्यूसियस का कहना है "तुम फ़ौज से सेना-पति को अलग कर सकते हो, लेकिन छोटे-से-छोटे आदमी को उसकी मनः-शक्ति से अलग नहीं कर सकते ।"

अपनी आत्म-कथा में जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा, 'मुझे अब पक्का यकीन है कि मानव-जाति की हालत में अब कोई खास सुधार मुमकिन नहीं है। अगर उनके खयाल के ढंग के बुनियादी ढांचे में कोई बड़ी तब्दीली हो जाय तो बात दूसरी है।' फिर भी सोचने के ढंग में बुनियादा तब्दीली जिंदगी की लगा-तार लड़ाई के साथ जो दर्द और तकलीफ़ होती है उससे, और बदलते हुए वातावरण से होती है। और इस तरह हालांकि हम इस सोचने के ढंग में सीधी तौर पर तब्दीली कर सकते हैं, लेकिन उससे भी ज्यादा जरूरी उस वातावरण में परिवर्तन है जिसमें वे ढंग पैदा हुए और पनपे। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं, और एक दूसरे पर असर डालते हैं। हर आदमी का दिमाग़ अलग-अलग ढंग का है, और हर एक दिमाग़ सच को अपने ढंग से देखता है,

और वह अकसर, दूसरे के नजरिये को समझ नहीं पाता। उसी वजह से झगड़ा होता है। उस आपसी रगड़ का एक दूसरा नतीजा भी है, और वह यह कि उससे ज्यादा भरा-पूरा और ज्यादा व्यवस्थित सत्य सामने आता है। वजह यह है कि हमको यह महसूस करना हैं कि सच के कई पहलू है, और उस सच पर किसी एक आदमी या किसी एक राष्ट्र का ही एक-मात्र अधिकार नहीं है। यही बात काम करने के ढंग के बारे में है। अलग अलग हालतों में अलग-अलग आदमियों के लिए अलग-अलग ढंग हो सकते हैं। हिंदुस्तान ने, चीन ने, और साथ ही कई दूसरे राष्ट्रों ने अपने जावन की अपनी शैली बनाई, और उसको एक मजबूत बुनियाद पर खड़ा किया। उनका ऐसा खयाल था और अब भी बहुत से लोगों का ऐसा निरर्थक खयाल है, कि सिर्फ उनकी शैली ही सही थी। आज यूरोप और अमेरिका ने अपने जीवन की एक निजी शैली बनाई है और यह शैली आज की दुनिया में प्रमुख है। वहां के लोगों का खयाल है कि सिर्फ यही सही ढंग है। शायद इनमें से कोई भी शैली अकेली ही सही या वांछनीय नहीं है और उनमें से हर एक शैली हर दूसरी से कुछ-न-कुछ सीख सकती है। यह बात तै है कि हिंदुस्तान को और चीन को बहुत कुछ सीखना है। वजह यह है कि वे गतिहीन हो गए थे; और पच्छिम सिर्फ युग-भावना का ही प्रतिनिधि नहीं है, बल्कि वह गतिशील है, परिवर्तनशील है और उसमें उन्नति की सामर्थ्य है। हां यह बात जरूर है, कि इस उन्नति का रास्ता, आत्म-विध्वंस और मानव-बलिदान के बीच में से होकर है।

हिंदुस्तान में और शायद दूसरे देशों में भी आत्म-वैभव और आत्म-दैन्य की प्रवृत्तियां क्रम से दिखाई देती है। दोनों ही अवांछनाय हैं और अधम हैं। भावुकता से जिंदगी को नहीं समझा जा सकता। उसके लिए जरूरी यह है कि बिना हिचकिचाहट के हिम्मत के साथ असलियत का मक़ाबला किया जाय। हम अपने-आपको ऐसे मसलों की तलाश में, जिनका ज़िंदगी से कोई ताल्लुक़ नहीं है, छोड़ नहीं सकते। वजह यह है कि घटनायें होंती जाती हैं, और वे हमारी फ़ुर्सत का इंतजार नहीं करती। न यह ही मुमकिन है कि हमारा नाता सिर्फ़ बाहरी चीजों से रहे और हम आदमी की अंदरूनी ज़िंदगी की अहमियत को भुला दें। एक सम-तोल की जरूरत है—एक ऐसी कोशिश की, जो दोनों में सामंजस्य स्थापित कर दें। सत्रहवीं सदी में स्पिनोजा ने लिखा "मन का सारी प्रकृति में जो सम्मिलन है, उसका ज्ञान ही सर्वोत्तम हित है।...उसको मन जितना ज्यादा जानता जाता है उतनी ही ज्यादा आसानी उसको अपनी ताक़तों और प्रकृति के ढर्रे को समझने में होती है; प्रकृति के ढर्रे को वह जितना ही ज्यादा समझता जाता है, उतनी ही ज्यादा आसानी उसे अपने-आप को बेकार की चीजों से आजाद करने में होगी। बस, सारी प्रक्रिया यही है।"

अपनी व्यक्तिगत जिंदगी में भी हमको शरीर और आत्मा में, और उस मनुष्य में जो प्रकृति का अंग है और उस मनुष्य में जो समाज का अंग है, संतुलन खोजना पड़ता है। श्री रवींद्र नाथ ठाकुर कहते हैं, "अपनी पूर्णता के लिए हमको सशक्त जंगली होना होता है और मन से परिष्कृत होना होता है; हममें यह कौशल होना चाहिए कि हम प्रकृति के साथ प्राकृतिक हो सकें और मानव-समाज में मानव हों।" पूर्णता हमसे परे की चीज़ है क्योंकि उसके मानी होते हैं अंत। हम तो बराबर सफ़र कर रहे हैं और हम बराबर ऐसी चीज़ तक पहुंचने की कोशिश कर रहे हैं जो बराबर पीछे हटती जा रही है। हममें से हर एक में कई मानव हैं—अलग-अलग और परस्पर-विरोध। सब अलग-अलग दिशाओं में खींचते हैं। ज़िदगी से मुहब्बत भी है, ज़िदगी से झुंझलाहट भी है। ज़िदगी की सारी चीजों की मंजूरी भी है और उसकी ज्यादातर चीजों से इंकार भी है। इन विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करना मुश्किल है, और कभी-कभी इनमें से एक का दूसरी पर आधिपत्य हो जाता है। लाओत्से ने कहा है: "अक्सर प्राणी जीवन का रहस्य देखने के लिए अपने-आपको कामना से पृथक् कर लेता है; और अक्सर कामना के बहु-अंगी परिणामों को देखने के लिए वह जीवन और कामना को मिला लेता है।"

संग्रहीत ज्ञान, अनुभव समझ और तर्क की सारी ताक़तों के होते हुए भी हम ज़िदगी के रहस्य के बारे में क़रीब-क़रीब कुछ नहीं जानते, और उस की रहस्यभरी प्रक्रियाओं की सिर्फ़ कल्पना ही किया करते हैं। लेकिन उसकी ख़ूबसूरती को हम समझ सकते हैं, और कला के जरिये हम ईश्वर के ही ढंग से सृजनात्मक काम कर सकते हैं। हम कमजोर और ग़लती करने वाले इंसान हो सकते हैं, जिनकी ज़िदगी का फैलाव छोटा और अनिश्चित है, फिर भी हममें अगर देवताओं का भी कुछ अंश है। इसलिए (यूनानी विद्वान्) अरस्तू कहते हैं "जो हमको इसलिए विवश करते हैं कि हम इंसान हैं, मर्त्यलोक के प्राणी हैं और हमारी विचार-धारा इंसानों की-सी है, तो हमको उनकी आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिए। जहां तक मुमकिन हो सके हमको अमरत्व बरतना चाहिए और अंतर्निहित सर्वोत्तम के अनुसार जीवन बिताने की कोशिश में कोई कसर बाक़ी नहीं रखनी चाहिए।"

१६ : उपसंहार

इस लेख-माला को शुरू किये हुए क़रीब पांच महीने हो गए और मैंने अपने दिमाग़ में भरे हुए खयालों से लिखावट के हज़ार सफ़े भर दिये हैं। पांच महानों में, मैंने गुज़रे ज़माने की सैर की है और भविष्य में झांका ह, आर कभी-कभी 'उस बिंदु पर जहां कि समय का अनंत से मेल होता है' मैंने अपने का टिकाने की कोशिश की है। इन महीनों में दुनिया में बड़ी-बड़ी

घटनाएं हुई हैं और जहां तक फ़ौजी जीत का सवाल है, लड़ाई जीत की मंजिल की तरफ़ तेज़ी से बढ़ गई है। मेरे अपने देश में भी काफ़ी घटनाएं हुई हैं, और मैं उनके लिए सिर्फ़ एक दर्शक बना था, और कभी-कभी दुःख की लहरें थोड़ी देर के लिए मेरे ऊपर आ गईं और फिर आगे ब गईं। विचार करने और अपने विचारों को किसी रूप में प्रकट करने के व्यापार की मदद से मैंने अपने-आपको मौजूदा वक़्त की चुभती हुई धार से अलहदा रखा है, और मैं भूत और भविष्य के विस्तृत क्षेत्र में घूमता रहा हूं।

लेकिन, इस सैर का कहीं ख़ात्मा होना चाहिए। चाहे इसके लिए कोई दूसरी वजह काफ़ी न होती लेकिन अब तो एक अमली दिक्क़त सामने है और उसको भुलाया नहीं जा सकता। बड़ी मुश्किल से जिस काग़ज़ का मैं इंतज़ाम कर पाया था, अब वह क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुका है और अब कागज़ मिलना आसान नहीं है।

हिंदुस्तान की खोज—मैं, क्या खोज कर पाया हूं? यह कल्पना करना कि मैं उसे परदे से बाहर ला सकूंगा और उसके वर्तमान और अति प्राचीन युग के स्वरूप को देख पाऊंगा, एक अनधिकार चेष्टा थी। आज उसमें चालीस करोड़ अलग-अलग स्त्री और पुरुष हैं। सब एक-दूसरे से भिन्न हैं और हर एक व्यक्ति, विचार और भावना की अपनी दुनिया में रहता है। जब मौजूदा ज़माने में ही यह बात है तब उस गुज़रे ज़माने की गिरफ़्त कर पाना तो कहीं ज्यादा मुश्किल होगा, जिसमें अनगिनित इंसानों और अनगिनित पीढ़ियों की कहानी है। फिर भी किसी चीज़ ने उन सबको एक साथ बांध रखा है, और वह उन्हें अब भी बांधे हुए है। हिंदुस्तान की भौगोलिक और आर्थिक सत्ता है, उसमें विभिन्नता में एक सांस्कृतिक ऐक्य है और बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें, सुदृढ़ किंतु अदृश्य धागों से एक साथ बंधी हुई हैं। बार-बार आक्रमण होने पर भी उसकी आत्मा कभी जीती नहीं जा सकी, और आज भी जब वह एक अहंकारी विजेता का क्रीड़ा-स्थल मालूम होता है, उसकी आत्मा अपराजित है, अविजित है। एक पुरानी किंवदंती की तरह उसमें एक पकड़ में न आने का गुण है। ऐसा मालूम होता है कि कोई जादू उसके दिमाग़ पर छाया हुआ है। वह तो अस्ल में एक विचार है और एक गाथा है, एक कल्पना-चित्र है और स्वप्न है, किंतु सच्चा, सजीव और व्यापक। कुछ गंदे पहलुओं की डरावनी झलक भी दिखाई देती है और हमको प्रारंभिक युग की याद आती है, लेकिन साथ ही, संपन्न और उजले पहलू भी हैं। उसका एक गुज़रा ज़माना है और कहीं-कहीं उससे शर्म महसूस होती है या नफ़रत होती है; उसमें ज़िद है और ग़लती भी है और कभी-कभी उसमें भावुक उद्विग्नता भी दिखाई देता है। फिर भी वह बहुत प्रिय है और उसके बच्चे, चाहे वे कहीं

भी हों और चाहे वे कैसी भी परिस्थितियों में क्यों न हों, उसको भुला नहीं सकते। वजह यह है कि वह उन सबसे संबंधित है, और उसकी महानता और खामियों का उससे ताल्लुक़ है। वे सब उसकी उन आंखों से प्रतिबिंबित होते हैं, जिन्होंने बेहद बड़े परिमाण में ज़िंदगी की कामना, खुशी और ग़लती को देखा है और जिन्होंने ज्ञान-कूप की थाह ली है। उनमें से हर एक उसकी ओर आकर्षित है, लेकिन हर एक के आकर्षण का सबब शायद जुदा है और कभी-कभी ता उनके पास इसका कोई खास सबब भी नहीं है। हर एक को उसके बहुअंगी व्यक्तित्व का एक अलग पहलू दिखाई देता है। हर युग में उसमें बड़े आदमी और बड़ी औरतें पैदा हुई हैं। सभी पुरानी परंपरा को आगे ले चले हैं, लेकिन साथ ही उन्होंने उसे समय के अनुरूप बना लिया है। इस महान् क्रम में श्री रवींद्रनाथ ठाकुर भी थे। हालांकि वे मौजूदा ज़माने के स्वभाव और प्रवृत्तियों से भरे हुए थे, लेकिन उनकी बुनियाद हिंदुस्तान के पुराने ज़माने में था। उन्होंने खुद अपने अंदर पुराने और नये का समन्वय किया। उन्होंने कहा : "मैं हिंदुस्तान से प्रेम करता हूं। इसलिए नहीं कि मैं भौगोलिक आकार की उपासना करता हूं, न इसलिए कि संयोग से मेरी उसकी ज़मीन में पैदाइश हुई, बल्कि इसलिए कि उसने अपनी श्रेष्ठ संतान को, ज्योतिर्मयी चेतना म निकले हुए सजीव शब्दों को, समय की उथल-पुथल से सुरक्षित रखा ह।" बहुत से लोग यही बात कहेंगे लेकिन दूसरे लोग उसके लिए अपने प्रेम का कोई दूसरा सबब बतायंगे।

ऐसा मालूम होता है पुराना जादू अब हट रहा है और हिंदुस्तान चारों तरफ़ देख रहा है, और मौजूदा वक़्त के लिए सजग हो रहा है। उसमें तब्दीली होगी। लेकिन चाहे जो तब्दीली हो पुराना जादू बना रहेगा, और उसके लोगों के दिलों पर अपना क़ाबू बनाये रहेगा। उसकी पोशाक बदल सकती है, लेकिन वह ज्यों-का-त्यों रहेगा। इस कड़ी, प्रतिकारवादी और फंसाने वाली दुनिया में जो कुछ अच्छा, खूबसूरत और सच्चा है, उसे अपनाने में उसको अपने ज्ञान भंडार से मदद मिलेगी।

आज की दुनिया ने बहुत कुछ हासिल किया है लेकिन मानवता के प्रति प्रेम की घोषणा के होते हुए भी, उसकी बुनियाद उन खूबियों की जगह, जो आदमी को इंसान बनाती हैं, नफरत और हिंसा पर ज्यादा रही है। लड़ाई, सच और मानवता से इंकार है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि लड़ाई का टालना मुमकिन न हो, लेकिन उसके नताजे बहुत खतरनाक होते हैं। उसमें सिर्फ़ आदमियों की जान ही नहीं ली जाता, बल्कि जान-बूझ कर लगातार नफ़रत और झूठ का प्रचार किया जाता है और धीरे-धीरे ये बातें

लोगों की आम आदत हो जाती हैं। अपनी ज़िंदगी के बहाव में नफ़रत और झूठ के इशारों पर चलना बहुत ख़तरनाक होता है। उससे ताक़त की बरबादी होती है, दिमाग़ संकरा और विकृत हो जाता है और सच को देखने में रुकावट होती है। दुःख की बात है कि आज हिंदुस्तान में बहुत सख़्त नफ़रत है। गुज़रा ज़माना हमारा पीछा करता है और मौजूदा ज़माना उससे भिन्न नहीं है। एक स्वाभिमानी जाति की शान पर जो बार-बार चोट की गई है, उसको भूलना आसान नहीं है। लेकिन ख़ुशकिस्मती से हिंदुस्तानियों में नफ़रत की आदत नहीं है, और जल्दी ही उनकी सद्वृत्तियां ऊपर आ जाती हैं।

जैसे ही आज़ादी से नये क्षितिज दिखाई देंगे, हिंदुस्तान फिर अपने स्वरूप में आ जायगा। उस वक़्त भविष्य का आकर्षण इतना होगा कि ये पिछली मायूसी और बेइज्ज़तियां निगाह से हट जायंगी। आत्म-विश्वास के साथ वह आगे बढ़ेगा, और अपने-आप में निष्ठा रखते हुए भी वह दूसरों से सीखने और उनके साथ मिल-जुल कर काम करने को उत्सुक होगा। आजकल वह पुराने रिवाजों की अंध-भक्ति और विदेशी शैली के अंध-अनुकरण के बीच में लटका हुआ है। इनमें से किसी भी ढंग से न तो उसे चैन ही मिल सकता है, और न तरक्क़ी या ज़िंदगी ही हासिल हो सकती है। यह बात साफ़ है कि उसे अपने खोल से बाहर आना होगा, और मौजूदा ज़माने की कार्रवाइयों में पूरा-पूरा हिस्सा लेना होगा। साथ ही यह बात भी बिलकुल साफ़ होनी चाहिए कि नक़ल की बुनियाद पर सच्चा आध्यात्मिक या सांस्कृतिक उन्नति नहीं हो सकती। यह नक़ल तो उन थोड़े से लोगों तक ही महदूद रहेगी जो क़ौमी ज़िंदगी के सोते से, और जनता से अलग हो जावेंगे। सच्ची संस्कृति, को दुनिया के हर कोने से प्रेरणा मिलती है, लेकिन वह अपनी ही जगह पर उगती है और उसकी जड़ें सारी जनता में समाई रहती हैं। बराबर विदेशी सांचों की सोचते रहने से कला और साहित्य निर्जीव हो जाते हैं। छोटे से समुदायों की संकरा संस्कृति का जमाना अब गुज़र चुका। अब हमको आम जनता के नजरिये से सोचना है। उनकी संस्कृति पिछले बहाव के क्रम में ही होनी चाहिए, और साथ ही उसमें उनके नये झुकावों की ओर उनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों की नुमाइंदगी होना चाहिए।

क़रीब सौ साल पहले इमर्सन ने अमेरिका के अपने देशवासियों को चेतावनी दी कि उनको सांस्कृतिक उन्नति के लिए न तो यूरोप का अनुकरण ही करना चाहिए। वे लोग एक नये राष्ट्र के सदस्य थे। इसीलिए इमर्सन चाहता था कि वे लोग यूरोप के अपने भूतकाल की ओर ज़्यादा ध्यान न दें, बल्कि वे अपने नये देश के संपन्न जीवन से प्रेरणा लें। "हमारी निर्भरता का दिन, दूसरे देशों की विद्या को सीखने की हमारी लंबी कोशिश का वक़्त, अब

खत्म होता है। हमारे चारों तरफ़ जो लाखों आदमी ज़िंदगी में दौड़-धूप कर रहे हैं, उनका पोषण विदेशी फसलों के सूखे हिस्से से नहीं हो सकता। ऐसी घटनाएं और ऐसे कर्म सामने आते हैं जिनको लयबद्ध करना चाहिए और जो स्वयं लयबद्ध होंग।······उनमें सृजनात्मक शैली है, सृजनात्मक कर्म है और सृजनात्मक शब्द है······अर्थात् वे किसी रिवाज या किसी शासन-सत्ता को नहीं जताते, बल्कि उनका जन्म स्वयं ही, मस्तिष्क की भली और सुंदर भावना से होता है।" फिर, 'आत्म-निर्भरता' शीर्षक अपने निबंध में इमर्सन कहता है : "स्व-परिष्कृति के अभाव की ही वजह से सारे पढ़े-लिखे अमरीकियों को उस घूमने के अंध-विश्वास में आकर्षण है, जिसके आदर्श, इटली इंग्लैंड और मिस्र हैं। जिन लोगों ने इंग्लैंड, इटली या यूनान को सम्माननीय बनाया, वे अपनी जगह पर दुनिया की कीली की तरह मज़बूती से जमे रहे। अपनी पुंस्त्व की घड़ियों में हम यह अनुभव करते हैं कि सिर्फ़ कर्त्तव्य ही हमारी जगह है। आत्मा कोई यात्री नहीं है : अक़्लमंद आदमी घर पर ही रहता है और जब ज़रूरत और फ़र्ज़ किसी मौक़े पर उसे घर से बाहर, विदेशी मैदान में बुलाते हैं तब भी वह घर पर ही बना रहता है। अपनी मुख-मुद्रा से, वह लोगों को समझा देता है कि वह ज्ञान और गुण के पुजारियों के मार्ग पर चलता है, और जब वह शहर और आदमियों को देखने जाता है तो वह नौकर या बिचौलिया की तरह नहीं बल्कि बादशाह की तरह जाता है।"

आगे चलकर इमर्सन ने कहा, "कला, अध्ययन और परोपकार के उद्देश्य से दुनिया की सैर करने के मैं ख़िलाफ़ नहीं हूं। शर्त यह है कि मानव को पहले व्यवस्थित कर दिया जाय और उसे यह बता दिया जाय कि उसे किसी नई चीज़ को पाने के लिए विदेश-यात्रा नहीं करनी है। जो मनोरंजन के लिए या किसी ऐसी चीज़ को पाने के लिए घूमता है, जो उसके पास नहीं है, वह अपने-आपसे दूर चला जाता है और पुराने वातावरण में, जवानी के वक़्त में ही बुड्ढा हो जाता है। थेबीज़ या पाल्माइरा शहरों में जब वह जाता है तो उसके दिमाग़ और उसकी मनःशक्ति में वही बुढ़ापा आ जाता है जो उन शहरों में है। वह खंडहरों में खंडहर ले जाता है।

"लेकिन घूमने की धुन एक गहरे खोखलेपन का लक्षण है, जिसका असर सारी दिमाग़ी कार्रवाइयों पर होता है।···हम नक़ल करते हैं···हमारे घर विदेशी रुचि पर बने हुए हैं। हमारी प्रतिभा दूर की चीज़ों का, गुज़रे ज़माने का अनुसरण करती है और उसका झुकाव उन्हीं की तरफ़ है। जहां कहीं कला की उन्नति हुई है, स्वयं आत्मा ने ही उस कला का सृजन किया है। कलाकार ने अपने सांचे को अपने ही दिमाग़ में तलाश किया है। जो चाज़ की जानी थी, और जिन नियमों का पालन करना था, उन पर उसने

अपने विचारों को ही इस्तैमाल किया। अपने-आप पर ही जोर दो; कभी अनुकरण न करो। जीवन के सारे संस्कारों की एकत्रित शक्ति से, तुम हर मिनट अपना उपहार भेंट कर सकते हो। लेकिन दूसरों की प्रतिभा के अनुकरण से तुम्हारे पास अधूरी चीज़ ही आती है और वह निखरी हुई नहीं होती।"

हम हिंदुस्तानियों को 'सुदूर' और 'प्राचीन' की तलाश में देश से बाहर नहीं जाना है। उसकी हमारे पास बहुतायत है। अगर हमें विदेशों को जाना है तो वह सिर्फ़ वर्तमान की तलाश में। वह तलाश ज़रूरी है, क्योंकि उससे अलहदा रहने के मानी हैं पिछड़ापन और क्षय। इमर्सन के वक्त की दुनिया बदल गई है और पुरानी दीवारें टूट रही हैं। ज़िंदगी अब ज्यादा अंतर्राष्ट्रीय होती जा रही है। इस आने वाली अंतर्राष्ट्रीयता में हमको भी अपना हाथ बंटाना है और इस गरज़ से सफ़र करना है, दूसरों से मिलना है, उनसे सीखना और समझना है। लेकिन सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता कोई हवाई चीज़ नहीं है जिसकी न बुनियाद हो और न जिसका कोई लंगर हो। उसे राष्ट्रीय संस्कृतियों को पार करना होगा, और आज वह सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता आज़ादी और बराबरी की बुनियाद पर ही हो सकती है। फिर भी इमर्सन की चेतावनी गुज़रे ज़माने की तरह आज भी लागू है, और हमारी कोशिश उसके बताए हुए नियमों के अनुसार चलने पर ही सफल हो सकती है। किसी भी जगह हम बिचौलियों की हैसियत में नहीं जायंगे। हम तो सिर्फ़ वहीं जायंगे जहां हम एक मिली-जुली कोशिश में साथी हों, बराबर के हों और जहां हमारा स्वागत हो। ऐसे देश हैं और खास तौर से एसे ब्रिटिश डोमिनियन हैं, जो हमारे देशवासियों की बेइज़्ज़ती करने की कोशिश करते हैं। उनका हमारा साथ नहीं हो सकता। फ़िलहाल विदेशी जुए के नीचे हमें ज़बर्दस्ती सिर झुकाकर तकलीफ सहनी पड़ती है, और गुलामी के भारी बोझ को ढोना पड़ता है, लेकिन हमारी आज़ादी का दिन दूर नहीं हो सकता। हम किसी मामूली देश के नागरिक नहीं हैं, और हमको अपनी जन्मभूमि पर, अपनी जनता पर, अपनी संस्कृति पर और अपनी परंपरा पर गर्व है। वह गर्व किसी ऐसे रोमांचकारी भूतकाल के लिए नहीं होना चाहिए जिससे हम चिपटे रहना चाहते हैं। न इससे अलहदगी को ही बढ़ावा मिलना चाहिए, और न इसकी वजह से और दूसरे लोगों के ढंग को समझने में रुकावट होनी चाहिए। उसकी वजह से हमें अपनी कमियां और खामियां भूल नहीं जानी चाहिए और न उससे छुटकारा पाने की हमारी तीव्र इच्छा में ही कुछ शिथिलता आनी चाहिए। हमें तो एक बहुत बड़ी मंज़िल तै करनी है और पहली कमी को पूरा करना है। हम मानव-सभ्यता और प्रगति के उस काफ़िले में, जो हमसे आगे निकल गया है, तेज़ी से बढ़कर ही अपनी सही जगह पर पहुंच सकते हैं। हमको बहुत फुर्ती करनी होगी,

क्योंकि हमारे पास वक़्त बहुत थोड़ा है, और दुनिया की रफ़्तार दिन-ब-दिन ज्यादा तेज़ होती जा रही है। गुज़रे जमाने में हिंदुस्तान दूसरी संस्कृतियों का स्वागत करता था, और उन्हें अपने में खपा लेता था। आज इसी बात की और भी ज्यादा ज़रूरत है। वजह यह है कि हम उस 'एक ही दुनिया' की तरफ़ बढ़ रहे हैं जहां मानव जाति की अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति में सारी राष्ट्रीय संस्कृतियां घुल-मिल जायंगी। इसलिए हमको जहां कहीं भी, ज्ञान, विज्ञान, मित्रता और सहयोग या इनमें से एक भी चीज़ मिलेगी हम उसको अपनायंगे, और साथ ही हम दूसरों के साथ मिलकर ऐसे कामों को करेंगे जिनसे सबका हित हो। लेकिन हम दूसरों की कृपा या इनायत के भिखारी नही हैं। इस तरह हम सच्चे हिंदुस्तानी और एशियाई होंगे और साथ ही हम भले अंतर्राष्ट्रीयतावादी होंगे और दुनिया के नागरिक होंगे।

हिंदुस्तान में और दुनिया में, मेरी पीढ़ी के लोगों को काफ़ी मुसीबतें उठानी पड़ी हैं। हम थोड़ी देर तक इसी तरह और चल सकते हैं, लेकिन हमारा वक़्त खत्म होगा, और हम अपनी जगह दूसरी पीढ़ी के लोगों को दे देंगे, और वे अपनी ज़िंदगी बितायंगे और सफ़र की दूसरी मंज़िल तक अपने बोझ को ढोवेंगे। अपने जीवन-युग में, जो समाप्ति की ओर बढ़ रहा है, हमने विश्व-रंगमंच पर कैसा अभिनय किया है? मैं नहीं जानता अगले युग के लोग इस का फ़ैसला करेंगे। लेकिन इस सफलता और असफलता को किस मापदंड से नापते हैं? वह भी मैं नहीं जानता। हम इस बात की शिकायत नहीं कर सकते कि ज़िंदगी बहुत ज्यादा परेशानी से भरी रही है क्योंकि जहां तक हमारा सवाल है, ऐसी ज़िंदगी हमने खुद ही पसंद की। इसके अलावा, ज़िंदगी कोई ऐसी बुरी भी तो नहीं रही। सिर्फ़ वही लोग ज़िंदगी का स्वाद ले सकते हैं जो उसके एक किनारे पर खड़े रहते हैं, वही लोग, जो मौत से खौफ़ नहीं खाते। चाहे जो भी ग़लतियां हमने की हों लेकिन हम ओछेपन, बुज़दिली और अंदरूनी शर्म से ज़रूर दूर रहे हैं। इसमें हमारे निजी व्यक्तित्व के लिए कुछ उपलब्धि ज़रूर हुई है। "आदमी की सबसे ज्यादा प्यारी दौलत ज़िंदगी है, और चूंकि आदमी को ज़िंदगी सिर्फ़ एक बार ही मिलती है, इसलिए उसको यह ज़िंदगी इस ढंग से बितानी चाहिए कि उसको ओछेपन और बुज़दिली से भरे हुए गुज़रे ज़माने की शर्म की तपन न हो। उसे इस तरह रहना चाहिए कि वर्षों तक उसे ज़िंदगी में उद्देश्य के अभाव की तकलीफ़ न हो, इस तरह रहना चाहिए कि मरते वक़्त यह कह सके: 'मैंने अपनी सारी ताक़त, अपनी सारी ज़िंदगी दुनिया के सबसे बड़े आदर्श—मानव जाति की आज़ादी—के लिए निछावर कर दी।'।[1]

---

१ लेनिन।

ताज़ा कलम

इलाहाबाद : उन्तीस दिसंबर : उन्नीस सौ पैंतालीस

अहमदनगर किले के जल में नज़रबंद, कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य सन् १९४५ की मार्च और अप्रैल में तितर-बितर कर दिये गए, और अपने-अपने सूबे भेज दिये गए। किला-जेल बंद कर दिया गया और शायद फ़ौजी अधिकारियों को लौटा दिया गया। हम तीनों आदमियों ने---गोविंदवल्लभ पंत और नरेंद्रदेव और मैंने------२८ मार्च को अहमदनगर का किला छोड़ा और हम लोग नैनी सेंट्रल जेल लाये गए। यहां हमें कई पुराने साथी मिले और उनमें रफ़ी अहमद किदवई भी थे। अगस्त १९४२ में अपनी गिरफ़्तारी के बाद यहां हमको पहली बार १९४२ की घटनाओं के कुछ आंखों-देखे बयान सुनने को मिले। वजह यह थी कि नैनी जेल के बहुत से आदमी, हमारी गिरफ़्तारी के कुछ बाद गिरफ़्तार किये गए थे। नैनी से हम तीनों बरेली के क़रीब इज्ज़तनगर सेण्ट्रल जेल ले जाये गए थे। तंदुरुस्ती खराब होने की वजह से गोविंदवल्लभ पंत को छोड़ दिया गया। इस जेल की एक बैरक में हम दोनों (नरेंद्रदेव और मैं) दो महीने से कुछ ज्यादा अर्से तक साथ-साथ रहे। जून के शुरू म हम दोनों अलमोड़ा के उस पहाड़ी जेल में भेज दिये गए, जिससे दस बरस पहले मेरी बहुत क़रीबी जानकारी हा गई थी। अगस्त १९४२ में अपनी गिरफ़्तारी के ठीक १०४१ दिन बाद हम दोनों १५ जून को छोड़ दिये गए। इस तरह मेरी नवीं बार की और सबसे लंबी क़ैद की मुद्दत खत्म हो गई।

तब से साढ़े छै महीने बीत चुके हे। जेल के लंबे एकांत से, मैं चहल-पहल में आया, और मैं बेहद काम-काज और लगातार सफ़र में लगा रहा। घर पर मैंने सिर्फ़ एक रात बिताई, और मै जल्दी से कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक के लिए बंबई चला गया। फिर वहां से शिमला काफ्रेंस में चला गया। जिसे कि वाइसराय ने बुलाया था, नये बदलते हुए वातावरण से अपना मेल बिठाने में मुझे दिक्क़त मालूम दी, और मैं उसके अनुरूप नहीं हो सका। हालांकि हर एक चीज़ जानी-पहचानी थी और पुराने दोस्तों और साथियों से मिलना अच्छा था, फिर भी मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं अजनबी हूं, बाहरी आदमी हूं और मेरा दिमाग़ पहाड़ों और हिमाच्छादित चोटियों की तरफ़ दौड़ने लगा। ज्यों ही शिमला का धंधा खत्म हुआ, मैं फ़ौरन ही काश्मीर चला गया। मै घाटी में नहीं ठहरा, बल्कि फ़ौरन ही सवारी के ज़रिये ज्यादा ऊंची जगहों और ज्यादा ऊंचे दर्रों के लिए रवाना हो गया। काश्मीर में मैं एक महीने रहा, और तब फिर मैं भीड़-भक्कड़ में, और रोज़मर्रा की उत्तेजना और क-से-पन से भरी हुई जिंदगी में वापिस आ गया।

धीरे-धीरे पिछले तीन सालों की थोड़ी-सी तस्वीर मेरे दिमाग़ में अपने-आप बनी। औरों की तरह मैंने भी देखा, कि जो खुद हुआ था, वह हमारी कल्पना से कहीं ज्यादा था। इन तीन सालों में हमारी जनता को बेहद तकलीफ़ उठानी पड़ी, और हर शख्स के चेहरे पर, जिससे हम मिले उस तकलीफ़ की छाप दिखाई दी। हिंदुस्तान बदल गया था। अपनी सतह का मालूम पड़ने वाली खामोशी के नीचे, शक था, मायूसी थी, नाराजी थी और दबा हुआ जोश और उफ़ान था। हमारे छुटकारे से और घटनाओं के घटने से, दृश्य परिवर्तन हुआ, चिकनी ऊपरी सतह घटने लगी और दरारें नजर आने लगीं। देश में उत्तेजना की लहरें दौड़ गईं और जनता अपने खोल को तोड़कर बाहर आई। पहले मैंने ऐसी भीड़ नहीं देखी था, ऐसा उन्मत्त उत्तेजना नहीं देखी थी और न जनता में अपने-आपको आज़ाद करने की ऐसी तेज़ ख्वाहिश ही देखी थी। नौजवान मर्द और औरत, लड़के और लड़कियां सभी कुछ-न-कुछ करने के इरादे से भरे हुए थे। लेकिन उन्हें क्या करना चाहिए, यह उनकी समझ में नहीं आता था।

लड़ाई खत्म हुई, और अणु-बम नये युग का प्रतीक बन गया। इस बम के इस्तैमाल से और राज-सत्ता हाथ में करने की चालों से आंखें और ज्यादा खुल गईं। पुराने साम्राज्यवाद अब भी काम कर रहे थे, और हिंदेशिया और हिंद चीन की घटनाओं से दृश्य की भयंकरता और बढ़ गई। इन दोनों देशों में अपनी आजादी के लिए लड़ती हुई जनता के खिलाफ़ हिंदुस्तानी फ़ौज के इस्तैमाल से हमको शर्मिंदा होना पड़ा, लेकिन तीखेपन और नाराज़गी के होते हुए भी हमारी बेबसी थी। देश का पारा बराबर चढ़ता रहा।

लड़ाई के सालों के दौरान में बर्मा और मलाया में बनी हुई आज़ाद हिंद फ़ौज की कहानी सारे देश म एकदम फैल गई और उससे आश्चर्य-जनक जोश पैदा हुआ। उसके कुछ अफ़सरों पर फ़ौजी अदालत में मुक़दमा चलाए जाने की वजह से देश इतना नाराज़ हो गया जितना कि पहले वह किसी बात पर नहीं नाराज़ हुआ था। वे अफ़सर हिंदुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का प्रतीक बन गए। साथ ही वह हिंदुस्तान के अलग-अलग धार्मिक समुदायों के एके का प्रतीत बन गए। क्योंकि उस फ़ौज में हिंदू, मसलमान, सिख, ईसाई सभी थे। उन्होंने आपस में साम्प्रदायिक समस्या का हल कर लिया था। तब हम भी वैसा ही क्यों न करें।

अब कुछ वक़्त में हिंदुस्तान में आम चुनाव होने वाले हैं, और सारा ध्यान इन चुनावों में लग गया है। लेकिन चुनाव तो कुछ वक़्त में खत्म हो जायंगे—तब ! संभावना यह है, कि आने वाला साल, तूफ़ान, उत्पात, संघर्ष और उथल-पुथल से भरा होगा। हिंदुस्तान में या और जगहों में आज़ादी के बिना, शांति नहीं हो सकती।